व्याकरण

(Grammar)

एम.ए. संस्कृत (पूर्वार्द्ध)
M.A. Sanskrit (Previous)

प्रश्न पत्र-4
Paper-4

nwjLFk f'k{kk funs'kky;
egf"kZ n;kuUn fo'ofo|ky;
jksgrd&124 001

विषय सूची

Sanskrit Grammar
M.A (Previous)
Paper-IV

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

यूनिट – I	लघुसिद्धान्त–कौमुदी (संज्ञा प्रकरण, स्त्रीप्रत्यय प्रकरण, समास प्रकरण)	20 अंक
यूनिट – II	लघुसिद्धान्त–कौमुदी (संधि, सुबन्त प्रकरण)	20 अंक
यूनिट – III	लघुसिद्धान्त–कौमुदी (तिङन्त प्रकरण) भ्वादिगण (सम्पूर्ण), अदादिगण (अद्, इन्, अस्, दुह्, इण् धातुएँ), जुहोत्यादिगण (हु, भी, डुदा), दिवादिगण (दिव, शो, जन्), स्वादिगण (षु, स्ता), तुदादिगण (तुद्, भ्रस्ज्, मुच्), रुधादिगण (रुध्, तह्, भुज्), तनादिगण (तन्, कृ), चुरादिगण (चुर, कथ, गण)।	20 अंक
यूनिट – IV	लघुसिद्धान्त–कौमुदी (कृदन्त और तद्धित प्रकरण) कृदन्त (सम्पूर्ण), तद्धित (अपत्याधिकार, रक्ताद्यर्थक, चातुरार्थक, शैषिक, मत्वर्थीय प्राग्दिशीय, प्रागिवीय)।	20 अंक
यूनिट – V	सिद्धान्त–कौमुदी (कारक प्रकरण)	20 अंक

Guide Line: **Question paper will be set in Sanskrit & English.**

(i) **Explanation of four sutras out of eight carrying 8 marks from each unit.** **8 x 5 = 40**

(ii) **Formation of three words out of six carrying 12 marks from each unit.** **12 x 5 = 60**

Note: **Question/questions worth 20 marks is/are required to be answered in Sanskrit.**

विषय-प्रवेश

संस्कृत व्याकरण की परम्परा

संस्कृत व्याकरण की परम्परा अत्यन्त सुदीर्घ है। वैदिक काल में ही संस्कृत व्याकरण एक स्वतंत्र वेदाङ्ग के रूप में स्थापित हो चुका था। वेदों की रचना और भाषा सौष्ठव के आधार पर यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि वेदमन्त्रों के रचनाकाल में अवश्य ही व्याकरण का अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था। ब्राह्मणग्रन्थों में स्पष्ट ही व्याकरण सम्बन्धी अनेक श्शब्दों का उल्लेख हुआ है। प्रातिशाख्य ग्रन्थ भी व्याकरण सम्बन्धी अध्ययन की ही देन है। अनेक सूत्र जो पाणिनि के व्याकरण में आज उपलब्ध हैं ज्यों कि त्यों प्रातिशाख्यों में उपलब्ध हैं। प्रातिशाख्यों के कुछ सूत्र पाणिनि के व्याकरण में कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं।

यास्क के निरुक्त में भी अनेक वैयाकरणों के नामों का उल्लेख है। अनेक स्थलों पर वैयाकरणों के मत को उद्घत किया गया है जिससे स्पष्ट है कि यास्क के काल से पहले ही व्याकरणशास्त्र का प्रारम्भ हो चुका था।

पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरण

पाणिनि से पूर्ववर्ती वैयाकरणों में प्रारम्भिक नाम देवताओं के हैं। ऋक्तन्त्र के अनुसर व्याकरणशास्त्र का प्रथम प्रवक्ता ब्रह्मणा था। ब्रह्मा ने बहस्पति को व्याकरण का ज्ञान दिया। बहस्पति ने इन्द्र को तथा इन्द्र ने भारद्वाज को व्याकरण शास्त्र का उपदेश किया। भारद्वाज ने अन्य ऋषियों को और ऋषियों ने अन्य ब्राह्मणों को व्याकरण का ज्ञान दिया। महाभाष्यकार पतजलि ने भी उल्लेख किया है कि बहस्पति ने इन्द्र को एक एक पद का उपदेश करके श्शब्दपारायण नामक ग्रन्थ को पढ़ाया था परन्तु वह उसे पूरा नहीं पढ़ा सका था। इन्द्र के विषय में भी तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख आता है कि उसने श्शब्दों को पथक्–पथक खण्डों में विभाजित करके देवताओं को समझाया था–

> **वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्, ते देवा इन्द्रमब्रुवन्-इमां नो वाचं व्याकुर्विति। सोब्रवीत्-वरं वणै मह्यं चैवैष वायवे च सह गह्यातां इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गह्याते। तामिन्द्रो मध्यतोवक्रम्य व्याकरोत्। तस्मादियं व्याकृता वागुच्यते। (तै. सं. 6.4.7.3)।**
>
> पं. युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' नामक ग्रंथ में ऐन्द्र व्याकरण के निम्नलिखित तीन सूत्रों का संकलन किया है–

1. अथ वर्णसमूहः
2. अर्थः पदम्
3. अन्त्यवर्ण समुद्भूता धातवः परिकीर्तिताः।

इन्द्र का व्याकरण बहुत बड़ा था इसकी सूचना हमें महाभारत के टीकाकार देवबोध के इस श्लोक से मिलती है–

> **यान्युज्जहार माहेन्द्रात् व्यासो व्याकरणार्णवात्।**
> **पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे।।**

अर्थात् व्यासमुनि ने जिन पदों का प्रयोग किया है वे ऐन्द्र व्याकरण में हैं। वे पाणिनि के व्याकरण में नहीं है। इसमें ऐन्द्र व्याकरण को समुद्र कहा है तो उसकी तुलना में पाणिनि व्याकरण को एक गाय के खुर के समान छोटा बताया है। देवबोध की यह अत्युक्ति हो सकती है परन्तु इससे एक बात तो स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व ऐन्द्र व्याकरण था जो विशालकाय था।

दिव्य वैयाकरणों में महेश्वर का नाम भी आता है। महेश्वर शिव का ही नाम है। महेश्वर द्वारा व्याकरण निर्माण का संकेत महाभारत में शान्तिवर्ष के 'शिवसहस्रनाम' स्तोत्र में मिलता है। पाणिनीय शिक्षा में महेश्वर का वैयाकरण के रूप में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। पाणिनि को नमस्कार करते समय ग्रन्थकार ने सूचना दी है कि पाणिनि ने अक्षरसमाम्नाय (प्रत्याहार सूत्रों) को महेश्वर से प्राप्त किया–

येनाक्षरसमाम्नायमधिगम्य महेश्वरात्।

कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः।।

अर्थात् जिस पाणिनि ने महेश्वर से अक्षरसमाम्नाय को ग्रहण करके सम्पूर्ण व्याकरण शास्त्र लिखा उस पाणिनि को नमस्कार है। नन्दिकेशरकृत काशिका नामक ग्रन्थ में भी इसी बात को कहा गया है–

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपचवारम्।

उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।

इस श्लोक के अनुसार सनकादि मुनियों के उद्धार के लिए नटराज शिव ने 14 बार डमरू बजाया जिससे ये 14 माहेश्वर सूत्र निकले। पाणिनि के 14 प्रत्याहार सूत्र माहेश्वर सूत्र नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्मा, बहस्पति, इन्द्र तथा महेश्वर से अतिरिक्त वायु, भारद्वाज, चन्द्र (ये वर्तमान चन्द्रगोमी से भिन्न हैं), यम, रुद्र, वरुण, सोम तथा विष्णु द्वारा भी व्याकरण शास्त्र के प्रणयन का संकेत मिलता है।

आज के वैज्ञानिक युग के लोगों के लिए यह विश्वसनीय नहीं है कि उपर्युक्त देवलोकवासी आचार्यों द्वारा व्याकरणशास्त्र– ऐहलौकिक व्याकरण शास्त्र– का प्रणयन किया गया था। किन्तु प्राचीन ग्रंथों के प्रमाण तो उक्त आचार्यों की पारलौकिकता का ही समर्थन करते हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में जब उक्त आचार्यों के व्यक्तित्व का भी निर्धारण कठिन है तो फिर उनके काल आदि का निर्णय करना कैसे सम्भव हो सकेगा? इस सन्देह के समर्थन में पाणिनि जैसे सर्वतोभद्र वैयाकरण का ब्रह्मा, बहस्पति आदि के विषय में मौनावलम्बन का भी योगदान उपेक्षणीय नहीं है। इतना होने पर भी इन्द्र के ऐतिहासिकत्व का खण्डन नहीं किया जा सकता।

जो आचार्य निस्सन्दिग्ध रूप में ऐतिहासिक हैं उन्हें हम प्रथमतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैंः–

1. पाणिनि से पूर्ववर्ती,
2. पाणिनि से उत्तरवर्त्ती

प्रथम वर्ग के आचार्यों को भी पाणिनि के संकेत के आधार पर दो उपवर्गों में बाँटा जा सकता है–

1. पाणिनि द्वारा अनुल्लिखित,
2. पाणिनि द्वारा उल्लिखित।

प्रथम वर्ग के प्रथम उपवर्ग में निम्नलिखित आचार्यों का समावेश हैः

(1) इन्द्र, (2) भागुरि, (3) पौष्करसादि, (4) चारायण, (5) काशकृत्स्न, (6) वैयाघ्रपद, (7) माध्यन्दिनि, (8) रौढि, (9) शौनक, (10) गौतम तथा, (11) व्याडि।

इस वर्ग के द्वितीय उपवर्ग में निम्न–निर्दिष्ट आचार्यों की गणना है–

(1) आपिशलि, (2) काश्यप, (3) गार्ग्य, (4) गालव, (5) चाक्रवर्मण, (6) भारद्वाज, (7) शाकटायन, (8) शाकल्य, (9) सेनक तथा (10) स्फोटायन।

इन सब वैयाकरणों का तथा द्वितीय वर्ग के वैयाकरणों का विशद् विवरण पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी के 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग–1, के ततीय, चतुर्थ तथा सप्तदश अध्यायों से प्राप्त करना चाहिए।

'अष्टाध्यायी' में कुछ सर्वनामों– उदीचाम्, आचार्याणाम्, एकेषाम्, प्राचाम्– का भी प्रयोग मिलता है। किन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि पाणिनि ने इन सर्वनाम श्शब्दों द्वारा उन्हीं उल्लिखित आचार्यों के मत को रखा है या अन्य आचार्यों के मत को।

महर्षि पाणिनि

(क) **पाणिनि के नामः** 'अष्टाध्यायी' के निर्माता महिर्ष पाणिनि के निम्नलिखित नाम उपलब्ध होते हैं– (1) पाणिन, (2) पाणिनि, (3) दाक्षीपुत्र, (4) शालङ्कि, (5) शालातुरीय अथवा सालातुरीय तथा (6) आहिक। इनसे अतिरिक्त पं. शिवदत्त शर्मा जी

द्वारा 'महाभाष्य; के प्रथम भाग की प्रस्तावना में उद्घत केशवीय 'नान ार्थार्णवपसंक्षेप के वाक्य से मातुरीय (?) तथा दाक्षेय नाम भी पाणिनि के प्रतीत होते हैं। 'पाणिनीय शिक्षा' के याजुष पाठ में पाणिनेय तथा सोमेश्वर तथा सोमेश्वर के 'यशस्तिलकचम्पू' में पणिपुत्र श्शब्द का भी प्रयोग मिलता है।

(ख) **पाणिनि का वंश:** पाणिनि के वंश के विषय में बहुत वाद–विवाद चिरकाल से प्रचलित हैं। किन्तु उपर्युक्त प्रमाण के आधार पर निम्नलिखित वंशावली का संकेत मिलता है।

यह वंशावली म. म. शिवदत्त, शर्मा जी की है। परन्तु मीमांसक जी निम्नलिखित वंशावली के पक्ष में हैं–
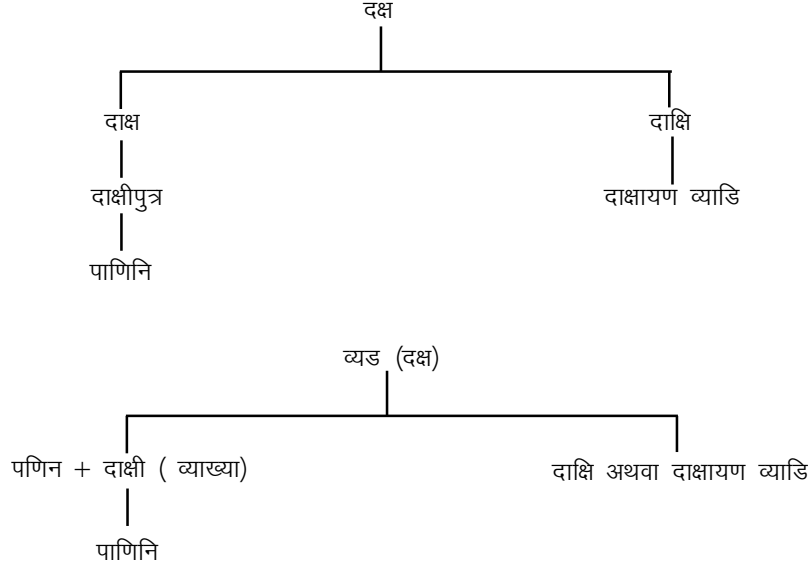
मीमासक जी की दष्टि में दाक्षि तथा दाक्षायण एक ही अर्थ के प्रतिपादक हैं।

उपर्युक्त वंशावली तो मातपक्ष की है। आचार्य पाणिनि के पिता के विषय में म. म. पं. शिवदत्त शर्मा जी का मत है कि पाणिनि शलङ्क के पुत्र थे। इसका आधार पाणिनि के नामान्तर 'शालङ्कि' श्शब्द की व्युत्पत्ति है– 'शलङ्कोरपत्यं शालङ्किः'। कैयट, हरदत्त तथा गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान भी शालङ्कि श्शब्द को शलङ्क श्शब्द से ही निष्पन्न मानते हैं। मीमांसक जी ने अपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' के प्रथम भाग में शलङ्क को माना है, परन्तु प्रायः इसका कारण दष्टिदोष है, क्योंकि 'महाभाष्य' की प्रस्तावना में शलङ्क श्शब्द का ही उल्लेख मिलता है।

अन्यत्र पिङगल को पाणिनि का अनुज बतलाया गया है।

(ग) **पाणिनि का निवासस्थानः** अष्टाधायी के 'उदक च विपाशः तथा 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' सूत्रों के 'महाभाष्य' के प्रामाण्य पर ऐसा सिद्ध होता है कि पाणिनि वाहीक देश से विशेष परिचित थे। इस जाति का देश वर्तमान बलख है। ऐसा कहा जाता है कि 'वाहीक' लोक पंजाब के उस प्रदेश में रहते थे जिसे सिन्धु नदी तथा पंजाब (पंचनद) की अन्य पाँच नदियाँ सींचती थी। परन्तु यह क्षेत्र भारत के पुण्यक्षेत्र से बाहर था। घोड़ों तथा हींग के लिए इसकी प्रसिद्धि थी। अतः 'वाहीकग्राम' श्शब्दों में षष्ठीतत्पुरुष समास माना चाहिए।

'वाहीक' देश से विशेष परिचित होने के कारण पाणिनि के देश के विषय में यह सम्भावना है कि 'वाहीक' देश या तत्समीपस्थ कोई प्रदेश पाणिनि का जन्मस्थान रहा होगा।

यद्यपि पाणिनि का नाम 'शालातुरीय' अथवा 'सालातुरीय' भी होने के कारण यह प्रतीत होता है कि पाणिनि का देश शलातुर या सलातुर था। यह 'शलातुर' या 'सलातुर' अटक के समीपस्थ वर्तमान लाहौर ही है– ऐसा पुरातत्ववेत्ताओं का मत है। किन्तु पाणिनि ने 'तूदीशलातुरवर्मती.' सूत्र में शलातुर श्शब्द का पाठ किया है। जिससे यह सिद्ध होता है कि 'शालातुरीय' उसे ही कहा जा सकता है जिसका अभिजन, अर्थात् पूर्वजों का निवासस्थान, 'शलातुर' हो। अतः पाणिनि का जन्मस्थान 'शलातुर' को मानना उचित नहीं है।

(घ) **पाणिनि के आचार्य:** पाणिनि के आचार्य के विषय में परम्परागत मत तो यही है कि पाणिनि ने गोपर्वत पर तपस्या करके साक्षत् महेश्वर शिव से ही अक्षरसमाम्नाय का उपदेश प्राप्त किया था। इसी अक्षरसमाम्नाय को आधार बनाकर पाणिनि ने 'अष्टाधयायी' का निर्माण किया था। 'कथासरित्सागर' में उपवर्ष के अग्रज वर्ष उपाध्याय को पाणिनि का गुरु माना गया है। जयरथ के 'हरचरितचिन्तामणि' के अवलोकन से भी यही ज्ञात होता है। कि प्रारम्भ में वर्षोपाध्याय के शिष्य होने पर भी जब पाणिनि अपनी जड़ता के कारण उनसे कुछ सीख न सके तब उन्होंने अपनी जड़ता को दूर करने के लिए हिमालय पर्वत पर जाकर भगवान शंकर की तपस्या की और वहीं भगवान् शंकर ने उन्हें व्याकरणशास्त्र का उपदेश दिया। परन्तु इसमें भी पूर्वोक्त 'स्कन्दपुराण' के कथन – गोपवर्त पर पाणिनि ने शङ्कर की आराधना की थी– से कुछ भिन्नता अवश्य है। गोपवर्त तथ हिमालय की एकता में कोई प्रमाण नहीं मिल रहा है।

(ङ) **पाणिनि की शिष्यपरम्परा:** पाणिनि के शिष्यों में सर्वप्रथम कात्यायन वररुचि का नाम आता है। यह तथ्य 'संख्या वंश्येन' सूत्र के ऊपर लघुश्शब्देन्दुशेखरकार नागेश की व्याख्या से ध्वनित होता है– ऐसा मीमांसक जी भी मानते हैं। 'हरचरितचिन्तामणि' का मत कुछ भिन्न ही है वहाँ कहा गया है कि जब पाणिनि शंकर की कृपा से व्याकरणशास्त्र का पाण्डित्य पाकर लौटे तो उन्होंने वररुचि आदि अपने सतीर्थ्यों का उपहास करना शुरू कर दिया उस पर क्रुद्ध वररुचि का सात दिनों तक पाणिनि से शास्त्रार्थ चलता रहा और अन्त में आठवें दिन पाणिनि परास्तप्राय हो गए थे। वैसा देख कर भगवान् शङ्र ने हुंक की आकाशवाणी की और उसके बल से पाणिनि ने पुनः वररुचि के ऊपर विजय प्राप्त कर ली। तत्पश्चात् खिन्न होकर वररुचि हिमालय की गुफा में शङ्कर की आराधना के लिए चले गए और वहाँ शङ्की को प्रसन्न कर उनसे पुनः पाणिनि के लिए प्राप्त व्याकरण शास्त्र का अधिगम किया।

'महाभाष्य' में एक एदाहरण मिलता है– 'उपसेदिवान् कौत्सः पाणिनिम् 'काशिका' में भी अनूषिवान् कौत्सः पाणिनिम्' आदि उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि पाणिनि के शिष्यों में कौत्स भी अन्यतम थे। भारतीय वाङ्मय में अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित कौत्स से भेद या अभेद का निर्णय करना कुछ कठिन है। किन्तु 'निरुक्त' तथा 'रघुवंश' में उल्लेखित कौत्स को पाणिनिशिष्य कौत्स से भिन्न मानना ही उचित प्रतीत होता है।

यद्यपि 'महाभाष्य' 1.4.41 के उल्लेख से तथा 'काशिका' 6.2.104 के उदाहरण से पाणिनि के अनेक शिष्यों का निश्चय करना ही पड़ता है तथापि कौत्स से अतिरिक्त किसी शिष्य का नाम अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

(च) **पाणिनि का काल:** पाणिनि के काल के विषय में चिरकाल से प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों में वैमत्य बना हुआ है। गैरोला महाशय ने कुछ प्रसिद्ध प्राच्य एवम् पाश्चात्य विद्वानों के मतों का संकलन निम्नलिखित रूप में किया है।

पं. सत्यव्रत सामाश्रमी	2400 ई. पूर्व
राजवाडे तथा वैद्य	900–800 ई. पूर्व
वेलवेलकर	700–900 ई. पूर्व
भाण्डारकर	700 ई. पूर्व
उपाध्याय	500 ई. पूर्व
मेकडॉनल	500 ई. पूर्व
मैक्समूलर	350 ई. पूर्व
कीथ	300 ई. पूर्व

पं. युधिष्ठिर मीमांसक जी ने अनेक अन्तरङ्ग बहिरङ्ग प्रमाणों के आधार पर यह निर्णय किया है कि पाणिनि का समय स्थुलतया विक्रम से 2100 वर्ष प्राचीन है।

पाणिनि का काल 700 ई. पूर्व से 600 ई. पू. के मध्य में अधिकांश विद्वान मानते हैं। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल पाँचवीं शतशब्दी ई. पू. का मध्य भाग मानते हैं।

अष्टाध्यायी

पाणिनिप्रणीत व्याकरण शास्त्र के आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण इसका विशेष अभिधान 'अष्टाध्यायी' श्शब्द से होता है। अष्टाध्यायी के समान 'अष्टक' श्शब्द का प्रयोग भी पाणिनि व्याकरण के लिए उपलब्ध होता है। पाणिनीय व्याकरण शास्त्र का एक नाम 'श्शब्दानुशासन' भी है। किन्तु 'श्शब्दानुशासन' श्शब्द का अर्थ भी व्याकरण–सामान्य मानना ही युक्तियुक्त है।

'महाभाष्य' तथा चीनी चात्री इत्सिंङ्ग के यात्राविवरण में पाणिनि सूत्र को 'वत्तिसूत्र' कहा गया है। नागेश भट्ट का कहना है कि ऋषिप्रणीत होने तथा अनेक अर्थों की सूचक होने के कारण योग– 'अष्टाध्यायी' का एक–एक सार्थक अंश–तथा प्रत्येक वार्त्तिक के भी अथवा समस्त अष्टाध्यायी एवं वार्त्तिकों की समष्टि के भी 'सूत्र' कहलाने योग्य होने से पाणिनीय सूत्र तथा वार्त्तिकारीय वार्त्तिकापरपर्याय सूत्र में भिन्नता के प्रतिपादन के लिए ही भाष्यकार ने पाणिनि–वचन को 'वत्तिसूत्र' कहा है। यतः पाणिनिसूत्र पर वत्तियों का निर्माण हुआ है, वार्त्तिकात्मक सूत्र पर नहीं, अतः विशेषण की सार्थकता स्पष्ट है। वार्त्तिकात्मक सूत्र भाष्यविशिष्ट हैं जब कि पाणिनीयसूत्र वत्तिविशिष्ट हैं– यहीं तात्पर्य है। 'वत्तिसूत्र' श्शब्द की अन्यान्य व्याख्याएँ भी मीमांसक जी ने प्रस्तुत की हैं, परन्तु उनका औचित्य इस प्रसङ्ग में बहुत स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है।

'अष्टाध्यायी' का स्वरूप

'अष्टाध्यायी' इस नाम से ही स्पष्ट है कि पाणिनीय व्याकरण आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार–चार पाद हैं समस्त 'अष्टाध्यायी' की सूत्रसंख्या या पादगत सूत्रसंख्या में एकमत्य नहीं है, क्योंकि 'काशिका' आदि ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी सूत्र मान लिए गए हैं जो अन्य वैयाकरणों की दष्टि में वार्त्तिक या वार्त्तिकात्मक सूत्र हैं, पाणिनीय सूत्र नहीं। प्र त्यक्ष निदर्शन तो प्रथमाध्याय के प्रथम पाद की सूत्रसंख्या ही है जो 'अथ श्शब्दानुशासनम्' तथा प्रत्याहार सूत्रों में अन्यतर या उभय के पाणिनिसूत्रत्व एवम् तदभाव के वैमत्य के अनु सार परस्पर–भिन्न हो जाती है। इससे अतिरिक्त भी कुछ ऐसे सूत्र हैं जिनके 'वत्तिसूत्र' या 'भाष्यसूत्र' होने में सन्देह है। 'महाभाष्य' सभी सूत्रों (के वार्त्तिकों) पर तो है ही नहीं, अतः इसके आधार पर सूत्रसंख्या का निर्धारण भी कुछ कठिन कार्य है। काशिका के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों की संख्या 3983 है और सिद्धान्तकौमुदी के अनुसार 3976 है।

'अष्टाध्यायी' का महत्व

सभी प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वान् 'अष्टाध्यायी' के महत्व को एक–स्वर से स्वीकार करते हैं। सभी ग्रन्थों में पाणिनीय व्याकरण को सर्वाधिक उत्कृष्ट माना गया है। अत एव इसके महत्व के विषय में अधिक कहने की अपेक्षा नहीं है। निम्नलिखित तर्क ही संक्षेप में पर्याप्त होगाः

किसी भी शास्त्र के विलोप का कारण है जनप्रियता का अभाव। आक्रमण आदि से ग्रन्थों का विनाश हो सकता है, सम्प्रदाय का नहीं– इसका साक्ष्य इतिहास में उपलब्ध है। जनप्रियता के अभाव के दो कारण होते हैंः– अनुपयोगिता तथा अनावश्यक क्लिष्टता। द्वितीय कारण का तात्पर्य यह है कि यदि एक क्लिष्ट तथा अन्य सरल उपाय एक ही लक्ष्य पर पहुंचाने में समर्थ होते हैं जनमानस सरल उपाय को ही पसन्द करता है। अतः पाणिनीय व्याकरण से पूर्व तथा उत्तरकाल में विनिर्मित अनेकानेक व्याकरणशास्त्र का विनाश या विरल प्रचार ही चिरकाल से विकासमान पाणिनीय व्याकरणशास्त्र के महत्व का प्रख्यापन करता है।

दूसरी बात यह है कि शास्त्र का प्रयोजन लोक–व्युत्पादन है। अतः लोक–स्थिति का उल्लंघन कर कोई भी शास्त्र लोक में प्रतिष्ठित नहीं हो सकता। आचार्य पाणिनि की दष्टि में यह बात अवश्य थी। तभी तो उन्होंने 'तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्', 'लुब्योगाप्रत्याख्यानात्', 'योगप्रमाणे च तदभावेदर्शनं स्यात्', प्रघनप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्' तथा 'कालोपसर्जने च तुल्यम्' आदि सूत्र लिखे हैं। इस दष्टि से भी पाणिनीय शास्त्र की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी रही है।

पाणिनीय परम्परा के तीन युग

1. प्रथम युग – मुनित्रय
2. आचार्य पाणिनि

आचार्य पाणिनि के विषय में पहले ही बताया जा चुका है। पाणिनि की रचनाओं में अष्टाध्यायी या पाणिनीयाष्टक का प्रमुख स्थान है। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा का अनुपम रत्न है। भाषा में इसके जोड़ का व्याकरण नहीं बना। पाणिनि ने इस लघुकाय ग्रन्थ में संस्कृत जैसी विस्तत भाषा का पूर्णतया विश्लेषण करने का प्रयास किया है। उनकी विवेचना वैज्ञानिक है, शैली संक्षिप्त, सांकेतिक तथा संयत है। इस ग्रन्थ का क्रम भी अनूठा है। प्रथम अध्याय में विशेष रूप से संज्ञा और परिभाषा प्रकरण हैं। द्वितीय अध्याय में समास तथा विभक्तिप्रकरण, ततीय में कदन्तप्रकरण, चतुर्थ तथा पचम में स्त्रीप्रत्यय और तद्धितप्रकरण है। षष्ठ, सप्तम और अष्टम अध्यायों में सन्धि, आदेश तथा स्वरप्रक्रिया आदि के विविध प्रकरण हैं। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त धातुपाठ तथा गणपाठ भी आचार्य पाणिनि की कतियाँ हैं।

उणादिसूत्र को भी पाणिनिकत बतलाया जाता है। वस्तुतः यह पाणिनि की रचना नहीं है। हाँ, पाणिनि ने उणादयो बहुलम् 3/3/1' सूत्र द्वारा उणादि सूत्रों की प्रामाणिकता अवश्य स्वीकार की है। इसी प्रकार पाणिनीय शिक्षा तथा लिङ्गानुशासन नामक लघुग्रन्थों को भी पाणिनि की रचना मानना विवादास्पद ही है। इनके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि पाणिनि ने पाताल–विजय या जाम्बवती–विजय नामक एक महाकाव्य की रचना की थी, जो आज उपलब्ध नहीं है।

कात्यायन (500 ई० पू० से 300 ई० पू० के मध्य)

कात्यायन मुनि व्याकरण शास्त्र में वार्तिककार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्हें वररुचि नाम से भी जाना जाता है। उनके समय का निर्धारण भी विद्वानों की चर्चा का विषय रहा है। प्रायः आधुनिक विद्वानों ने उनका समय 500 ई० पू० तथा 300 ई० पू० के मध्य माना है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक का मत है कि उनका समय विक्रम पूर्व 2700 वर्ष है। एक वार्तिक की व्याख्या करते हुए महाभाष्यकार कहते हैं। 'प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः'। इस कथन से यह अनुमान किया जाता है कि वार्तिककार कात्यायन दाक्षिणात्य थे।

कात्यायन का भाषाविषयक ज्ञान अगाध था। उनकी दष्टि एक समीक्षक की दष्टि थी। उन्होंने पाणिनि के सूत्रों की सूक्ष्म दष्टि से आलोचना करके उनकी कमियों को दूर करने का प्रयास किया है तथा अष्टाध्यायी के लगभग 1500 सूत्रों पर लगभग 4000 वार्त्तिक लिखे हैं।

पाणिनि–व्याकरण के विकास और पारिष्कार में कात्यायन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण को अधिक तथ्यानुकूल एवं समयानुकूल बनाने का प्रयास किया है तथा इसकी अपूर्णता को दूर किया है। वार्तिककार के वचनों में भाषा के विकास की झलक देखी जा सकती है। उनकी आलोचना में अनुसंधान की प्रवत्ति दष्टिगोचर होती है। वार्तिककार की इस प्रवत्ति में किसी दुर्भावना की खोज करना उचित नहीं प्रतीत होता। डा० वेलवल्कर का यह मन्तव्य नितान्त सत्य है कि 'कात्यायन के वार्त्तिकों का लक्ष्य पाणिनि के सूत्रों में संशोधन और परिवर्धन है।'

पतजलि (२०० ई० पू० तथा प्रथम ई० शती के मध्य)

पतजलि ने महाभाष्य नामक ग्रन्थ की रचना की है अतः वे महाभाष्यकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनका समय भी विद्वानों के विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार उनका समय ईसा की प्रथम शती है। डा० वेलवल्कर ने उनका समय 150 ई० पू० माना है। इस मत का आधार यह है–महाभाष्यकार ने एक सूत्र की व्याख्या में लिखा है 'इह पुष्यमित्रं याजयामः' (यहाँ पुष्यमित्र को यज्ञ कराते हैं)। इस प्रयोग से विदित होता है कि पतजलि ने पुष्यमित्र को यज्ञ कराया था। फलतः वे पुष्यमित्र के समकालीन थे। इतिहासकारों ने पुष्यमित्र का समय 150 ई० पू० माना है। अतः पतजलि का समय भी यही है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी इस मत की पुष्टि की गई है। किन्तु युधिष्ठिर मीमांसक इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है कि भारतीय गणना के अनुसार पुष्यमित्र का समय 1200 ई० पू० के लगभग होना चाहिए। इसलिए पतजलि का समय भी वही होगा।

पतजलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। अतः कहीं–कहीं उनके लिए फणिभत्, अहिपति इत्यादि श्शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उन्होंने अपने मत प्रकट करते हुए 'गोनर्दीय' श्शब्द का प्रयोग किया है–'गोनर्दीयस्त्वाह'। इससे विदित होता है वे गोनर्द प्रदेश के रहने वाले थे। व्याख्याकारों का अनुमान है कि जहाँ गाय–बैल अधिक हष्ट–पुष्ट होते हैं अतः विशेष रूप से नाद करते हैं (आधुनिक पजाब और हरयाणा आदि) सम्भवतः यही प्रदेश पतजलि का निवास स्थान रहा होगा।

पतजलि ने पाणिनि के मुख्य–मुख्य सूत्रों तथा कात्यायन के वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या की है। पाणिनि के प्रति उनकी अत्यधिक श्रद्धा प्रकट होती है। उन्होंने पाणिनि के कतिपय सूत्रों का प्रत्याख्यान भी किया है, किन्तु वहाँ लाघव एवं

तथ्य–निरूपण की दष्टि ही रही है। पतजलि के मतानुसार जिस भगवान् पाणिनि का एक वर्ण भी निरर्थक नहीं हो सकता, भला उसके दोष–दर्शन का दुस्साहस कैसे किया जा सकता है? वार्त्तिककार के वार्त्तिकों की भी महाभाष्यकार ने व्याख्या की है उनकी उपयोगिता पर विचार भी किया है। साथ ही सूत्रकार एवं वार्त्तिककार के वचनों की समीक्षा करते हुए अपना निर्णय भी दिया है। पाणिनीय व्याकरण में महाभाष्य के मन्तव्य सबसे अधिक प्रामाणिक माने जाते हैं। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस न्याय के अनुसार पाणिनि के वचनों से भी अधिक पतजलि के वचन प्रामाणिक हैं। वस्तुतः पाणिनीय व्याकरण के परिनिष्ठित रूप का निर्धारण करना पतजलि का ही कार्य है।

द्वितीय युग

महाभाष्य के साथ–साथ पाणिनि व्याकरण का प्रथम युग समाप्त हो गया। ईसा की सातवीं शतशब्दी में फिर अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य पर कुछ सरल टीका–ग्रंथ लिखे जाने लगे। यहीं से द्वितीय युग का प्रारम्भ हुआ समझना चाहिए। इस युग में पाणिनि व्याकरण पर अनेक टीका–ग्रन्थ लिखे गये। भर्तहरि ने महाभाष्य पर टीका लिखी। 'काशिका' पर जिनेन्द्रबुद्धि ने 'न्यास' नामक ग्रन्थ लिखा तथा हरदत्त ने 'पदमजरी' नामक व्याख्या की। इस युग में ही पाणिनि व्याकरण का दार्शनिक विवेचन का प्रारम्भ हो गया। भर्तहरि (650 ई०) ने 'वाक्यपदीय' नाम का ग्रन्थ लिखकर इस विवेचना का श्रीगणेश किया। इस युग की अन्तिम रचना कैयट की प्रदीप नामक टीका कही जा सकती है जो महाभाष्य पर लिखी गई सुन्दर टीका है।

भर्तहरि –(सप्तम शताब्दी)

भर्तहरि का संस्कत–व्याकरण में अत्यन्त उच्च स्थान है। व्याकरण के मुनित्रय के पश्चात् उनकी ओर ही दष्टि जाती है। फिर भी उनके विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है।

भर्तहरि का समय भी अनिश्चित सा ही है। अनेक विद्वान् इत्सिंग नामक चीनी–यात्री के लेख का अनुसरण करके भर्तहरि का समय सप्तमी शती ई० का उत्तरार्ध मानते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार भर्तहरि महाराज विक्रमादित्य के भाई थे। युधिष्ठिर मीमांसक ने इत्सिंग के लेख की भूल की ओर संकेत करते हुए युक्ति एवं प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भर्तहरि का समय ईसा से कई शतशब्दी पूर्व होना चाहिए।

भर्तहरि के जीवनवत्त के विषय में कुछ किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कुछ प्रामाणिक विवरण भी मिलता है। वाक्यपदीय पर लिखी हुई पुण्यराज की टीका से विदित होता है कि भर्तहरि के गुरू वसुराज थे। 'प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागम–संग्रहः' इस श्लोक की अवतरणिका में पुण्यराज ने लिखा है–'तत्र भगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणीतः।' इत्सिंग के विवरण के अनुसार वाक्यपदीय का रचयिता भर्तहरि बौद्ध था उसने सात बार प्रव्रज्या ग्रहण की थी। किन्तु वाक्यपदीय के अनुशीलन से यह स्पष्ट है कि भर्तहरि वैदिक मत के अनुयायी थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है–वेदशास्त्राविरोधी च तर्कश्चक्षुरपश्यताम्' इसी प्रकार अन्य सन्दर्भो में भी उनकी वेद के प्रति आस्था दिखलायी देती है।

भर्तहरि की रचनाएँ

संस्कत वाङ्मय में भर्तहरि के नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जैसे महाभीष्यदीपिका, वाक्यपदीय, नीतिशतक आदि शतकत्रय, भट्टिकाव्य और भागवत्ति नामक अष्टाध्यायी की एक प्राचीन वत्ति। इनके अतिरिक्त 'वेदान्तसूत्रवत्ति' आदि कतिपय अन्य ग्रन्थों का भी भर्तहरि से सम्बन्ध जोड़ा जाता है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने यह सिद्ध किया है कि वाक्यपदीय तथा महाभाष्यदीपिका के रचयिता एक ही भर्तहरि हैं, भट्टिकाव्य तथा भागवत्ति के कर्त्ता उससे भिन्न हैं, किच भट्टिकाव्य एवं भागवत्ति के रचयिता भी परस्पर भिन्न ही हैं। इस प्रकार तीन भर्तहरि हुए हैं, यह परिणाम निकलता है। जहाँ तक शतकत्रय का प्रश्न है, उसके विषय में यह निश्चित नहीं किया जा सका है कि यह किस भर्तहरि की रचना है।

महाभाष्यदीपिका

महाभाष्य पर लिखी गई एक विस्तत व्याख्या थी। इत्सिंग के अनुसार इसका परिमाण 25000 श्लोक के बराबर था। यह व्याख्या अभी तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसके उद्धरण अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। भर्तहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की स्वोपज्ञ टीका में भी इसकी ओर संकेत किया है–'संहितसूत्र–भाष्यविवरणे बहुधा विचारितम्'। आधुनिक युग में डा० कीलहार्न

ने महाभाष्यदीपिका का प्रथमतः परिचय दिया है। जर्मनी में बर्लिन के पुस्तकालय में महाभाष्यदीपिका के एक अंश की हस्तलिपि विद्यमान है। इसकी फोटो कापी लाहौर तथा मद्रास के पुस्तकालयों में भी है। पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया था।

वाक्यपदीय

यह व्याकरण दर्शन का ग्रन्थ है इसके तीन काण्ड हैं—ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड, प्रकीर्णकाण्ड। इसमें समस्त विश्व को शब्दब्रह्म का विवर्त्त माना गया है, स्फोट रूप शब्द का विशद वर्णन किया गया है तथा व्याकरण के विविध विषयों का प्रक्रिया एवं अर्थ की दष्टि से विवेचन किया गया है {वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड के कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं शेष वाक्यपदीय भी प्रकाशित हुआ है अभी कुछ समय पूर्व वाक्यपदीय का टिप्पणी सहित अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।}

इस प्रकार भर्तहरि केवल महाभाष्य के व्याख्याकार ही नहीं है। उनका विशिष्ट महत्व तो इसमें है कि उन्होंने व्याकरण—दर्शन के स्वरूप को व्यवस्थित किया है। महाभाष्य में जो व्याकरण—दर्शन के मन्तव्य यत्र—तत्र कहीं संकेत रूप में तथा कहीं स्पष्ट रूप मे विद्यमान थे, उनका क्रमबद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण प्रथमतः भर्तहरि ने ही किया है। अपने इस मौलिक कार्य के कारण भर्तहरि का सदा आदरपूर्वक स्मरण किया जाता रहेगा।

ततीय युग

ततीय युग में पाणिनि के अध्ययन की दष्टि बदल गई। विषय—विभाग के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्यवस्था की जाने लगी। वास्तव में इस युग में शब्द—सिद्धि की प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाने लगा और सूत्रों के विवेचन पर कम। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रयास विमल सरस्वती (1350 ई०) का था जिन्होंने 'रूपमाला' लिखी। इसी दष्टि से रामचन्द्र (15 वीं शती) ने प्रक्रिया—कौमुदी लिखी। प्रक्रिया—युग में सबसे महत्वपूर्ण स्थान भट्टोजिदीक्षित का है। इस समय के व्याकरण के दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में 'वैयाकरण—भूषण' उल्लेखनीय है जिसे भट्टोजिदीक्षित के भतीजे कौण्डभट्ट ने लिखा था।

भट्टोजिदीक्षित—(16 वीं शताब्दी ई० के लगभग)

भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। वैयाकरण—भूषण के लेखक कौण्डभट्ट इनके छोटे भाई रङ्गोजिभट्ट के पुत्र थे। प्रौढ़—मनोरमा की टीका 'शब्दरत्न' के लेखक हरिदीक्षित इनके पौत्र थे।

पण्डितराज जगन्नाथ कत 'प्रौढ़मनोरमा—खण्डन' नामक गन्थ से विदित होता है कि भट्टोजिदीक्षित ने नसिंह के पुत्र शेषकष्ण से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में शेषकष्ण के लिए गुरू शब्द का प्रयोग भी किया है। एक अन्य स्थान पर इन्होंने अप्पथाय दीक्षित को भी नमस्कार किया है। (व्या० शा० का इतिहास प० 447)।

वेलवल्कर ने भट्टोजिदीक्षित का समय 1600—1650 ई० माना है। कुछ विद्वान् इनका समय 1580 ई० (1637 वि सं०) के लगभग मानते हैं। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने कतिपय प्रमाणों के आधार पर यह निर्धारित किया है कि इनका जन्म—काल वि० सं० की सोलहवीं शतशब्दी का प्रथम दशक मानना चाहिए।

भट्टोजिदीक्षित की कतियाँ

भट्टोजिदीक्षित ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इन्होंने अष्टाध्यायी पर '**शब्दकौस्तुभ**' नामक एक वत्ति लिखी थी। आज इस वत्ति के प्रारम्भ के ढाई अध्याय तथा चतुर्थ अध्याय ही उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ किसी समय अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाता रहा होगा। इसलिए इस पर अनेक टीकाएँ भी लिखी गई थी। सम्भवतः पण्डितराज जगन्नाथ ने 'कौस्तुभ—खण्डन' नामक ग्रन्थ भी लिखा था।

सिद्धान्तकौमुदी या वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी

भट्टोजिदीक्षित की कीर्ति का प्रसार करने वाला मुख्य ग्रन्थ है। यह 'शब्द कौस्तुभ' के पश्चात् लिखा गया था। भट्टोजिदीक्षित ने स्वयं ही इस पर **प्रौढ़मनोरमा नाम** की टीका लिखी है। सिद्धान्त—कौमुदी को प्रक्रिया—पद्धति का सर्वोत्तम ग्रन्थ समझा जाता है। इससे पूर्व जो प्रक्रिया गन्थ लिखे गये थे उनमें अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों का समावेश नहीं था। भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों को विविध प्रकरणों में व्यवस्थित किया है, इसी के अन्तर्गत समस्त धातुओं के रूपों

का विवरण दे दिया है तथा लौकिक संस्कत के व्याकरण का विश्लेषण करके वैदिक–प्रक्रिया एवं स्वर–प्रक्रिया को अन्त में रख दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने काशिका, न्यास एवं पदमजरी आदि सूत्रक्रमानुसारिणी व्याख्याओं तथा प्रक्रियाकौमुदी और उसकी टीकाओं के मतों की समीक्षा करते हुए प्रक्रिया–पद्धति के अनुसार पाणिनीय व्याकरण का सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उन्होंने आवश्यकतानुसार परिभाषाओं, वार्त्तिकों तथा भाष्येष्टियों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने मुनित्रय के मन्तव्यों का सामजस्य दिखाया है तथा महाभाष्य का आधार लेकर कुछ स्वकीय मत भी स्थापित किये हैं। साथ ही प्रसिद्ध कवियों द्वारा प्रयुक्त किन्हीं विवादास्पद प्रयोगों की साधुता पर भी विचार किया है। मध्ययुग में सिद्धान्तकौमुदी का इतना प्रचार एवं प्रसार हुआ कि पाणिनि व्याकरण की प्राचीन पद्धति एवं मुग्धबोध आदि व्याकरण पद्धतियाँ विलीन होती चली गई। कालान्तर में प्रक्रिया–पद्धति तथा सिद्धान्तकौमुदी के दोषों की ओर भी विद्वानों की दष्टि गई किन्तु वे इसे न छोड़ सके।

इनके अतिरिक्त भट्टोजिदीक्षित का 'वेदभाष्यसार' नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ है (भारतीय विद्याभवन, बम्बई)। यह ऋग्वेद सायणभाष्य का सार है। इसकी भूमिका में भट्टोजिदीक्षित की 34 कतियों का उल्लेख किया गया है। इनमें '**धातुपाठ-निर्णय**' नामक ग्रन्थ भी है। हस्तलिपियों में इनकी '**अमरटीका**' नामक कति उपलब्ध हुई है।

पाणिनीय व्याकरण में भट्टेजिदीक्षित का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाणिनि–व्याकरण पर उनका ऐसा अनूठा प्रभाव पड़ा है कि महाभाष्य का महत्त्व भी भुला दिया गया है। यह समझा जाने लगा है कि सिद्धान्तकौमुदी महाभाष्य का द्वार ही नहीं है अपितु महाभाष्य का संक्षिप्त किन्तु विशद सार है। इसी हेतु यह उक्ति प्रचलित हैः–

कौमुदी यदि कण्ठस्था वथा भाष्ये परिश्रमः।

कौमुदी यद्यकण्ठस्था वथा भाष्ये परिश्रमः।।

प्रक्रिया के युग को शास्त्रार्थ के क्षेत्र में प्रविष्ट कराने वालों में नागेश भट्ट का नाम अग्रगण्य है। इनकी प्रतिभा अनूठी थी। इनका विविध शास्त्रों पर समान अधिकार था। उन्होंने व्याकरण के क्षेत्र में नव्य–न्याय की शैली का प्रवेश किया तथा अनेक मौलिक एवं व्याख्या–ग्रन्थों की रचना की।

नागेश भट्ट–(17 वीं तथा 18 वीं शती ई०)

नागेश भट्ट या नागोजि भट्ट के जीवन–वत्त के विषय में बहुत कम ज्ञात हो सका है। जनश्रति के अनुसार वे महाराष्ट्र के एक ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। नागेश भट्ट का समय 17 वीं शतशब्दी ई० के अन्त तथा 18 वीं शतशब्दी ई० के आरम्भ में है। (विशेष द्रष्टव्य सं० व्या० का इतिहास)।

नागेश भट्ट की व्याकरण–सम्बन्धी रचनाएँ हैं–महाभाष्यप्रदीपोद्योत, लघु श्शब्देन्दुशेखर, बहच्छब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, लघुमजूषा, परमलघुमजूषा और स्फोटवाद।

सिद्धान्तकौमुदी पर अन्य भी अनेक टीकायें लिखी गई। उनमें परिव्राजकाचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वतीकत 'तत्त्वबोधिनी' विशेष महत्त्वपूर्ण है। किन्तु छात्रों की दष्टि से 'बालमनोरमा' नामक टीका अधिक उपयोगी है।

वरदराज-लघुसिद्धान्त कौमुदी

पाणिनि–व्याकरण में बालकों का प्रवेश कराने के लिए भट्टोजि के शिष्य वरदाजाचार्य ने लघुकौमुदी तथा मध्यकौमुदी का निर्माण किया है। लघुकौमुदी मे व्याकरण–प्रक्रिया का सभी अपेक्षणीय विवरण वरदराज ने दिया है, यह सिद्धान्तकौमुदी का संक्षिप्त संस्करण होते हुए भी एक विलक्षण कति है।

यहाँ पर लघुकौमुदी का ही अधिकांश भाग दिया जा रहा है। जहाँ सिद्धान्तकौमुदी में पाणिनि के लगभग सभी सूत्रों को लिया गया है, वहाँ लघुकौमुदी में केवल उन्हीं सूत्रों को लिया गया है जो व्यावहारिक ज्ञान के लिए उपयोगी हैं। वैदिकी प्रक्रिया और स्वर प्रक्रिया को सर्वथा छोड़ दिया गया है।

पाणिनि व्याकरण के अध्ययनार्थ ज्ञातव्य बातें

डा० श्रीनिवास शास्त्री ने पाणिनि व्याकरण के अध्ययनार्थ निम्नलिखित बातों को महत्त्वपूर्ण माना है।

1. **प्रत्याहार**–जब आदि के अक्षर का अन्त के इत्संज्ञक के साथ ग्रहण किया जाता है उसके द्वारा आदि तथा मध्य के समस्त अक्षरों का बोध होता है तो उसे प्रत्याहार कहते हैं। ये प्रत्याहार विशेषकर वर्णमाला के वर्णों का बोध कराने के लिए

माहेश्वरसूत्रों के आधार पर बनाए गए हैं, जैसे–

अइउण् । 1। ऋलक्। 2। एओङ्। 3। ऐऔच्। 4। हयवरट्। 5। लण्। 6। अमङणनम्। 7। झभञ्। 8। घढधष्। 9। जबगडदश्। 10। खफछठथचटतव्। 11। कपय् । 12। शषसर्। 13। हल्। 14।।

ये 14 माहेश्वरसूत्र माने जाते हैं। इन सूत्रों के आधार पर अण् आदि–42 प्रत्याहार बनते हैं। इन सूत्रों में अन्तिम हल् (व्यजन) की इत्संज्ञा होती है। आदि अक्षर को इत्संज्ञक के साथ मिलाकर प्रत्याहार बनता है; जैसे 'अइउण्' में अण् प्रत्याहार बनता है जो अ, इ, उ, का बोध कराता है। इसी प्रकार अन्य प्रत्याहारों के विषय में जानना चाहिए; जैसे तिङ् प्रत्याहार है, यहाँ आदि 'ति' का अन्तिम इत् संज्ञक ङ् के साथ मिलाकर 'तिङ्' बनता है और इससे क्रिया में लगने वाले 18 (9 परस्मैपद + 9 आत्मनेपद) प्रत्ययों का बोध होता है। वर्णमाला के 42 प्रत्याहार ये हैं–(अकारादि क्रम से)।

1 अक्	8 अश्	15 ऐच्	22 जश्	29 भष्	36 रल्
2 अच्	9 इक्	16 खय्	23 झय्	30 मय्	37 वल्
3 अट्	10 इच्	17 खर्	24 झर्	31 यञ्	38 वश्
4 अण्	11 इण्	18 ङम्	25 झल्	32 यण्	39 शर्
5 अण्	12 उक्	19 चय्	26 झश्	33 यम्	40 शल्
6 अम्	13 एङ्	20 चर्	27 झष्	34 यय्	41 हल्
7 अल्	14 एच्	21 छव्	28 बश्	35 यर्	42 हश्

2. **इत्संज्ञक**–अष्टाध्यायी में निम्न वर्णों की इत्संज्ञा की गई है–(I) अन्त का हल्, (II) उपदेश में अनुनासिक अच् (स्वर), (III) प्रत्यय के आदि में आने वाले चवर्ग, टवर्ग, तथा षकार (IV) तद्धितभिन्न प्रत्ययों के आदि में आने वाला लकार, शकार तथा क वर्ग। (V) धातु के आदि ञि, टु, डु। इत्संज्ञक का लोप हो जाता है। किन्तु लोप हो जाने पर भी उसके उपलक्षण मानकर कुछ कार्य हो जाया करता है। जैसे 'गर्गादिभ्यो यञ् 4.1.105' से यञ् प्रत्यय होता है जिसमें ञ् इत् संज्ञक है अतः यञ् प्रत्यय ञित् है, इसके ञित् होने से आदि को वद्धि होती है और 'गार्ग्यः' रूप बनता है। ये इत्संज्ञक 'अनुबन्ध' कहलाते हैं और इनके कारण व्याकरण में बड़ा लाघव हो गया है।

3. **अधिकार**–कुछ सूत्र ऐसे बनाये गये हैं जो यह बतलाते हैं कि अमुक सूत्र से अमुक सूत्र तक यह प्रत्यय होगा या यह कार्य होगा। ये अधिकार सूत्र कहे जाते हैं। जैसे–'कारके' अथवा 'प्राग्दिशो विभक्तिः' इत्यादि।

4. **अनुवत्ति** –लाघव के लिये पाणिनि ने ऐसा किया है कि एक (पूर्व) सूत्र में कोई एक पद रख दिया, अग्रिम सूत्रों में जहाँ उस पद की आवश्यकता हुई पूर्वसूत्र से लेकर अन्वय कर लिया गया। पूर्व सूत्रों से अग्रिम सूत्रों में पद के इस अनुवर्तन को ही अनुवत्ति कहते हैं। सामान्यतः यह अनुवत्ति एक सूत्र से निकट वाले अग्रिम सूत्र में जाती है और फिर क्रमशः आगे के सूत्रों में की जाती है किन्तु कभी–कभी बीच के सूत्रों में किसी पद की अनुवत्ति नहीं होती तथा एकदम आगे के (व्यवहित) सूत्र में हो जाती है। उसे मण्डूकप्लुति या मण्डूकप्लुप्या अनुवत्ति कहते हैं।

5. **अपकर्ष**–जहाँ आगे के सूत्र से पूर्व सूत्र में किसी पद को खींच लिया जाता है अर्थात् अन्वित किया जाता है, वहाँ अपकर्ष कहा जाता है।

6. **सन्धिविषयक श्शब्द**–(i) एकादेश–जहाँ दो वर्णो को मिलाकर एक रूप हो जाता है वह एकादेश कहलाता है जैसे अ + इ = ए एकादेश होता है। (ii) पररूप–जहाँ पूर्व तथा पर अक्षर को मिलाकर परवर्ण हो जाता है वहाँ पररूप कहलाता है, जैसे–प्र + एजते = प्रेजते, यहाँ अ ए = ए होता है। (iii) पूर्वरूप–जहाँ पूर्व तथा पर वर्ण के मिलने पर पूर्ववर्ण हो जाता है वह पूर्वरूप कहलाता है; जैसे–हरे + अव = हरेव, यहाँ ए + अ = ए होता है। (iv) प्रकतिभाव–जहाँ वर्णों को प्राप्त होने वाला कोई विकार नहीं होता, वह प्रकतिभाव (जैसा का तैसा रहना) कहलाता है; जैसे–गो + अग्रम् = गो अग्रम्; यहाँ विकल्प से ओ + अ = ओ + अ ही रहता है; पूर्वरूप आदि नहीं होता।

7. **कुछ ज्ञातव्य संज्ञाएँ**–

(i) ***अङ्ग*** जिस धातु या प्रातिपदिक से प्रत्यय का विधान किया जाता है उसे अङ्ग कहते हैं। जैसे–कर्ता, यहाँ क (प्रकति) से तच् प्रत्यय कहा गया है। क अङ्ग है।

(ii) ***प्रातिपदिकः*** धातु और प्रत्यय (प्रत्ययान्तों) को छोड़कर सभी अर्थयुक्त श्शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रत्ययान्तों में भी कदन्त, तद्धितान्त तथा समस्त पदों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रातिपदिक संज्ञक श्शब्द से सु आदि (सुप्) प्रत्यय लगते हैं।

(iii) ***पदः*** (क) सुबन्त तथा तिङन्त की पद संज्ञा होती है; जैसे–राम + सु = रामः यह सुबन्त है और पठ् + अ + ति = पठति यह तिङन्त पद है। सु से लेकर सुप् तक के सातों विभक्तियों के 21 प्रत्यय सुप् कहलाते हैं तथा ति से लेकर महिङ् तक धातु से लगने वाले 18 प्रत्यय तिङ् कहे जाते हैं। ये सुप् और तिङ् प्रत्याहार हैं। (ख) सित् (जिसमें स् की इत्संज्ञा हो) प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है। (ग) सर्वनाम स्थान को छोड़कर सु से लेकर कप् तक के प्रत्यय परे होने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है। पद संज्ञा हो जाने से राजत्वम् = (राजन् + त्व) में न लोप होता है।

(iv) ***भ संज्ञाः*** (क) जिस प्रत्यय के आरंभ में यकार या अच् (स्वर) होता है उसके परे होने पर पूर्व की भसंज्ञा होती है, पद संज्ञा नहीं। (ख) तकारान्त और सकारान्त श्शब्द की मत्वर्थ प्रत्यय परे होने पर भ संज्ञा होती है।

(v) ***विभाषाः*** प्रतिषेध तथा विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है (नवेति विभाषा 1.1.44) विभाषा का अर्थ है किसी कार्य का विकल्प से होना। 'वा' तथा 'अन्यतरस्याम्' श्शब्दों का भी विभाषा श्शब्द के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। वह विभाषा कई प्रकार की होती है, जैसे 1. प्राप्तविभाषा–किसी नियम से प्राप्त हुए कार्य का विकल्प, 2. अप्राप्तविभाषा–किसी नियम से अप्राप्त कार्य का विकल्प से विधान, 3. उभयत्र विभाषा (प्राप्ताप्राप्त विभाषा)–कहीं प्राप्त तथा कहीं अप्राप्त विधि का विकल्प, 4. व्यवस्थित विभाषा–व्यवस्था से विकल्प अर्थात् कहीं कार्य होना कहीं न होना।

(vi) ***उपधाः*** अन्तिम वर्ण से पहले वाले वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। (अलोन्त्यात् पूर्व उपधा 1.1.65)। जैसे–पठ् में पकार से अगले अकार की उपधा संज्ञा है।

(vii) **टिः** किसी श्शब्द का अन्तिम स्वर–सहित आगे वाला अंश टि कहलाता है (अचोन्त्यादि टि 1.1.4) जैसे पठ् में अठ् टि संज्ञक है।

(viii) ***संयोगः*** जब व्यजनों (हल्) के बीच में स्वर नहीं होते तो यह व्यजनों का संयोग कहलाता है (हलोनन्तराः संयोगः 1.1.7)। जैसे अल्प में ल् और प् का संयोग है।

(ix) ***सम्प्रसारणः*** य् व् र् ल्, के स्थान पर होने वाले इ, उ, ऋ तथा ल की सम्प्रसारण संज्ञा होती है (इग्यणः सम्प्रसारणम् 1.1.45)।

(x) ***गुणः*** अ, ए तथा ओ की गुण संज्ञा होती है (अदेङ् गुणः 1.1.2)।

(xi) ***वद्धिः*** आ, ऐ तथा औ की वद्धि संज्ञा होती है (वद्धिरादैज् 1.1.1)।

(xii) ***लोपः*** प्राप्त हुए प्रत्ययादि का अपने स्थान पर दष्टिगोचर न होना लोप कहलाता है (अदर्शनं लोपः 1.1.60)। प्रत्यय के लोप की विविध स्थलों पर लुक् श्लु तथा लुप् संज्ञा होती है। (प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः 1.1.61) अर्थात् जिस संज्ञा से प्रत्यय को लोप कहा जाता है उसकी वही संज्ञा होती है।

(xiii) ***आदेशः*** किसी वर्ण आदि के स्थान पर दूसरा वर्ण आदि होना आदेश कहलाता है, जैसे समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् हो जाता है।

(xiv) ***आगमः*** किसी वर्ण आदि का प्रकति या प्रत्यय के साथ आ मिलना आगम कहलाता है। ये आगम प्रायः तीन प्रकार के होते हैं–टित्, कित् तथा मित्। जो टित् आगम होता है, वह जिसे कहा जाता है उसके आदि में होता है, कित् अन्त में होता है। मित् अन्त्य के अच् से परे होता है।

टिप्पणीः आदेश तथा आगम प्राचीन संज्ञाएँ हैं, पाणिनि ने इनके लिए कोई सूत्र नहीं बनाया।

8. **श्शब्द-सिद्धि में सहायक कुछ अन्य उपायः** (i) योग-विभाग—कभी-कभी कुछ प्रयोगों में किसी प्रत्यय आदि का विधान यथोपलब्ध नियमों से नहीं होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय में

प्रस्तुत ग्रन्थ न तो कोई शोध का ग्रन्थ है और न ही पाण्डित्य प्रदर्शन का। इसका मुख्य उद्देश्य है छात्रों के लिए पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करना। सूत्रों की व्याख्याओं में पूर्व विद्वानों की व्याख्याओं का आश्रय लिया गया है। जो भी व्याख्या विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी है उसे यथावत् ग्रहण किया गया है ताकि विद्यार्थियों को अधिकाधिक लाभ हो सके। सूत्रों के अन्त में जो संख्या दी गई है वह अष्टाध्यायी के क्रम को सूचित करती है। जैसे २.३.४५ संख्या अष्टाध्यायी के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के पैंतालीसवें सूत्र की ओर संकेत करती है।

Unit-I
(लघुसिद्धान्त कौमुदी)

अध्याय-1
संज्ञाप्रकरणम्

अइउण् ।1। ऋलृक् ।2। एओङ् ।3। ऐऔच् ।4 ।हयवरट् ।5। लण् ।6। ञमङणनम् ।7 ।झभञ् ।8। घढधष् ।9 ।जबगडदश् ।10। खफछठथचटतव् ।11। कपय् ।12। शषसर् । 13। हल ।14।

इति माहेश्वराणि सूत्रण्यणादिसंज्ञार्थानि। एषामन्त्या इतः। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः।

व्याख्याः ये 14 सूत्र माहेश्वर सूत्र कहलाते हैं। इनसे अण् आदि प्रत्याहार संज्ञाएं बनती हैं। ये संज्ञाएं पाणिनि के व्याकरण में सर्वत्र प्रयुक्त हैं। इन सूत्रों में अन्तिम वर्ण अनुबन्ध कहलाता है जिसकी इत्संज्ञा होती है। इत्संज्ञा का प्रयोजन उसका लोप करना है। हकारादि व्यंजन अ स्वरयुक्त पढ़े गए हैं क्योंकि व्यंजनों का प्रयोग स्वर की सहायता के बिना नहीं हो सकता। परन्तु लण् सूत्र में ल् के साथ आने वाला अकार इत्संज्ञक है।

हलन्त्यम् 1.1.3

उपदेशेन्त्यं हलित्स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदष्टं पदं सूत्रन्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

व्याख्याः उपदेश अवस्था में जो अन्तिम हल होता है, उसकी इत्संज्ञा होती है। हल् से तात्पर्य व्यंजन है क्योंकि हल् प्रत्याहार में सभी व्यंजन आ जाते हैं। पाणिनि ने जिस रूप में सूत्र का उच्चारण किया है उसे उपदेश कहते हैं। सूत्र के अतिरिक्त प्रत्यय आदि में भी पाणिनि द्वारा जिस रूप में पठित हैं उसे भी उपदेश कहते हैं। पाणिनि द्वारा उपदिष्ट अवस्था में अन्त में जो हल् आता है उसकी इत्संज्ञा होती है। इत् संज्ञा का प्रयोजन उस वर्ण का लोप करना है, यह अग्रिम सूत्रों से स्पष्ट होगा ।

अदर्शनं लोपः 1.1.60

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः विद्यमान होने पर भी जो दिखाई न दे, उसकी लोप संज्ञा होती है। जैसे व्यवहार में अइउण् आदि सूत्रों में ण् आदि अनुबन्धों को नहीं गिना जाता, अतः इनकी लोप संज्ञा कहलाती है। किसी वर्ण को किसी नियम द्वारा अदष्ट कर दिया जाए अर्थात् उसका श्रवण या उच्चारण न हो उसकी लोप संज्ञा होती है।

तस्य लोपः 1.3.9

तस्येतो लोपः स्यात्। णादयोणाद्यर्थाः।

व्याख्याः जिसकी इत् संज्ञा हो उसका लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ उपर्युक्त माहेश्वर सूत्रों में आने वाले अन्तिम हल् की हलन्त्यम् से इत् संज्ञा हो जाती है। अतः अण् आदि प्रत्याहारों मे इनकी गणना नहीं होगी।

आदिरन्त्येन सहेता 1.1.71

अन्त्येनेता सहिता आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथा अण इति अइउ वर्णानां संज्ञा। एवम् अच्, अल्, हलित्यादयः।

व्याख्याः आदि वर्ण के साथ जब अन्तिम इत् वर्ण उच्चरित हो तो वह संज्ञा आदि वर्ण के साथ इत्संज्ञक वर्ण तक आने वाले वर्णो की भी होती है। जैस अइउण् सूत्र में आदि वर्ण अ है और अन्तिम इत् वर्ण ण् है। इसलिए अण् संज्ञा अ तथा मध्य में आने वाले वर्णों इ तथा उ के लिए प्रयुक्त होगी। इसी प्रकार हल् में आदि वर्ण ह है और ल् अन्तिम सूत्र हल् में इत्संज्ञक है। इसलिए हल् संज्ञा ह् से लेकर ल् तक सभी वर्णों के लिए प्रयुक्त होगी। इस नियम के आधार पर प्रत्याहार बनाए जाते हैं।

प्रत्याहार बनाने की विधिः उपर्युक्त माहेश्वर सूत्रों मे आए हुए किसी भी वर्ण से प्रत्याहार बनाए जा सकते हैं। वर्ण चाहे सूत्र के आदि में हो या मध्य में उसी से प्रारम्भ करके किसी भी इत्संज्ञक वर्ण तक गणना की जा सकती है। जहाँ से गणना प्रारम्भ की गई है उस वर्ण से लेकर इत्संज्ञक वर्ण तक जितने भी वर्ण आए हैं सभी उस प्रत्याहार में सम्मिलित होंगे। अच् प्रत्याहार में अइउण् सूत्र में आए हुए अ से गणना प्रारम्भ होगी और ऐऔच् सूत्र में आए हुए इत्संज्ञक वर्ण च् तक गणना होगी। अ से लेकर च् तक आए हुए सभी वर्ण अच् प्रत्याहार में सम्मिलित होंगे। परन्तु अच् प्रत्याहार में इत्संज्ञक वर्ण च् तथा बीच में आए हुए अन्य सूत्रों के अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण सम्मिलित नहीं होंगे क्योंकि इत्संज्ञक वर्ण का लोप हो जाता है। अतः अच् प्रत्याहार में वर्ण होंगे – अ इ उ ऋ ल ए ओ ऐ औ । इसमें इत्संज्ञक वर्ण ण् , क् , ङ् तथा च् सम्मिलित नहीं होंगे। इसी प्रकार सभी प्रत्याहार बनाए जा सकते हैं।

ऊकालोज्झस्वदीर्धप्लुतः 1.2.27

उश्च ऊश्च उ3श्च वः। वां काल इव कालो यस्य सोच् क्रमाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

व्याख्याः उ स्वर के उच्चारण में जितना समय लगता है उसे एक मात्रा काल कहते हैं। एक मात्रा काल की ह्रस्व संज्ञा होती है। दीर्घ ऊ के उच्चारण में दो मात्रा का काल होता है। दो मात्रा काल वाले स्वर की दीर्घ सेज्ञा होती है। तीन मात्रा काल वाले स्वर की प्लुत संज्ञा होती है। प्रत्येक स्वर के उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ये तीन भेद होते हैं।

उच्चैसदात्तः 1.2.29

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोजुदात्तसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः ताल्वादि स्थानों से वर्णो का उच्चारण होता है। जो स्वर ताल्वादि के ऊपर के भाग से उत्पन्न होता है उसकी उदात्त संज्ञा होती है।

नीचैरनुदात्तः 1.2.30

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानष्वधोभागे निष्पन्नोच् अनुदात्तसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः जो स्वर ताल्वादि के नीचे के भाग से उत्पन्न होता है उसकी अनुदात्त संज्ञा होती है।

समाहारः स्वरितः 1.2.31

उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यत्र सोच् स्वरितसंज्ञः स्यात्। स नवविधोपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकभेदेन द्विधा।

व्याख्याः जिस अच् मे उदात्त तथा अनुदात्त दोनों का धर्म मिश्रित हो उसे स्वरित कहते हैं। अर्थात् जो वर्ण ताल्वादि के मध्य भाग से बोला जाए उसे स्वरित कहते हैं। इस प्रकार स्वर 9 प्रकार का होता है। अनुनासिक और अननुनासिक ये दो भेद भी प्रत्येक स्वर के होते है।

मुखनासिकावचनोनुनासिकः 1.1.8

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोनुनासिकसंज्ञः स्यात्। तदित्थम् - अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादशभेदाः। ल वर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

व्याख्याः मुख और नासिका दोनों से उच्चरित होने वाला वर्ण अनुनासिकसंज्ञक होता है। वर्ण का उच्चारण तीन द्वारों से होता है – मुख से, नासिका से तथा मुख और नासिका दोनों से। केवल मुख से उच्चरित होने वाला वर्ण सामान्य होता है। अ, इ, क ,ख आदि वर्ण केवल मुखद्वार से उच्चरित होते हैं। केवल नासिका से उत्पन्न होने वाले वर्ण नासिक्य कहलाते हैं। अनुस्वार (.) नासिक्य ध्वनि है। मुख और नासिका एक साथ दोनों से उच्चरित होने वाले वर्ण अनुनासिक कहलाते हैं। ङ्, ञ्, ण्, न् तथा म् अनुनासिक ध्वनियाँ हैं। जो स्वर केवल मुख से उच्चरित होता है वह अननुनासिक होता है। जो मुख और नासिक दोनों की सहायता से उच्चरित हो वह अनुनासिक होता है। प्रत्येक स्वर अनुनासिक या अननुासिक हो सकता है।

स्वरों के भेदः अ, इ, उ, ऋ में प्रत्येक के 18 भेद हैं। ल का दीर्घ नहीं होता, अतः इसके 12 भेद हैं। ए, ओ, ऐ और औ में प्रत्येक के 12 भेद हैं क्योंकि इनका ह्रस्व नहीं होता।

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् 1.1.9

ताल्वादिस्थानमाभ्यान्तरप्रयत्नं चेत्येतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः जिन वर्णों के तालु आदि उच्चारण स्थान और आभ्यान्तर प्रयत्न समान हों उनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है। किसी वर्ण के उच्चारण में किए गए प्रयास को प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न दो प्रकार का होता हे – 1. आभ्यान्तर प्रयत्न तथा 2. बाह्य प्रयत्न । वर्ण के उच्चारण में मुख के भीतर होने वाले प्रयत्न को आभ्यान्तर प्रयत्न कहते हैं यह प्रयत्न जिह्वा का तालु आदि स्थान से सम्पर्क करते समय होता है। वर्ण को बाहर प्रकट करने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे बाह्य प्रयत्न कहते हैं। इस प्रयत्न के द्वारा वर्ण बाहर प्रकट होता है, इसलिए इसे बाह्य प्रयत्न कहते हैं।

वा. ऋलवर्णयोः मिथः सावर्ण्य वाच्यम्

ऋ और ल वर्ण परस्पर सवर्ण होते हैं।

वर्णों के उच्चारण स्थानः

1. अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। 2. इचुयशानां तालु। 3. ऋटुरषाणां मूर्धा। 4. लतुलसानां दन्ताः। 5. उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। 6. ञ्मङणनानां नासिका च। 7. एदैतोः कण्ठतालू। 8. आदौतोः कण्ठोष्ठम्। 9.वकारस्य दन्तोष्ठम्। 10. जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। 11. नासिकानुस्वारस्य।

1. अकार, कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ), हकार और विसर्ग का उच्चारण स्थान कण्ठ है। 2. इकार, चवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ) यकार और शाकार का उच्चारण स्थान तालु है। 3. ऋकार, टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण), र और ष का उच्चारण स्थान मूर्धा है। 4. ल, तवर्ग (त, थ,, द, ध, न), ल और स का उच्चारण स्थान दन्त है। 5. उकार, पवर्ग (प, फ, ब, भ, म) उपध्मानीय का उच्चारण स्थान ओष्ठ हैं। 6. ञ, म, ङ, ण, न का उच्चारण मुख और नासिका है। 7. एकार और ऐकार का उच्चारण स्थान कण्ठ–तालु है। 8. ओकार और औकार का उच्चारण स्थान कण्ठोष्ठ है। 9. वकार का उच्चारण स्थान दन्तोष्ठ है। 10. जिह्वामूलीय का उच्चारण स्थान जिह्वामूल है। 11. अनुस्वार का उच्चारण स्थान अनुस्वार है।

प्रयत्नः

यत्नो द्विधा - आभ्यान्तरो बाह्यश्च। आद्या पञ्चधा-स्पष्टेषत्स्पष्टेषद्विवतविवतसंवतभेदात्। तत्र स्पष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवतमूष्माणाम्। विवतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवतम् , प्रक्रियादशायां तु विवतमेव।

बाह्यस्त्वेकादशधा - विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोघोषोल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवाराः वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-ततीय-पंचमा यणश्चाल्पप्राणाः।

वर्गाणां द्वितीयचतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः। कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोन्तस्थाः। शल ऊष्माणः। अचः स्वराः। क ख इति प्रागार्धविसर्गसदशो जिह्वामूलीयः। प फ पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदश उपध्मानीयः। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

आभ्यान्तर प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है – स्पष्ट, ईषत्स्पष्ट, ईषद्विवत, विवत तथा संवत। स्पर्शों का प्रयत्न स्पर्श है। क से लेकर म तक स्पर्श कहलाते हैं। अन्तस्थों का प्रयत्न ईषत्स्पष्ट होता है। यण् अर्थात् य र ल व अन्तस्थ कहलाते हैं। ऊष्मों का प्रयत्न ईषद्विवत कहलाता है। शल् अर्थात् श ष स ह ऊष्म कहलाते हैं। स्वरों का प्रयत्न विवत होता है। अच् पत्याहार के अन्तर्गत आने वाले सभी वर्ण स्वर कहलाते हैं।ह्रस्व अकार प्रयोग में संवत होता है परन्तु व्याकरण प्रक्रिया के निर्वाह के लिए इसे विवत पढ़ा गया है।

बाह्य प्रयत्न 11 प्रकार का होता है– विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित । खर् अर्थात् ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स का प्रयत्न विवार, वास तथा अघोष होता है। हश् अर्थात् ह य व र ल ञ म ङ ण न झ भ घ ढ ध ज ब ग ड द का प्रयत्न संवार, नाद तथा घोष है। वर्ग के प्रथम, ततीय तथा पंचम वर्ण तथा यण् का प्रयत्न अल्पप्राण होता हैं। वर्ग के द्वितीय, चतुर्थ तथा शल् का प्रयत्न महाप्राण होता है। क और ख से पूर्व विसर्ग आधे विसर्ग के समान बोले जाते हैं। उन्हें जिह्वामूलीय कहते है। इसी प्रकार प और फ से पूर्व विसर्ग आधे विसर्ग के समान बोले जाते हैं। उन्हें उपध्मानीय कहते हैं। ऊपर कहा जा चुका है जिह्वामूलीय का उच्चारण स्थान जिह्वामूल होता है तथा उपध्मानीय का उच्चारण स्थान ओष्ठ होता है।

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः 1.1.69

प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। अविधीयमानोणुदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैव अण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदितः।

तदेवम् - अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लकारोपि। एचो द्वादशानां। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोद्वयोः संज्ञा।

व्याख्याः अण् प्रत्याहार में आने वाले वर्ण तथा जिनमें ह्रस्व उकार की इत्संज्ञा है वे वर्ण अपने सवर्ण को भी ग्रहण करते हैं, परन्तु प्रत्यय के विषय में यह बात लागू नहीं होती। ण् अनुबन्ध दो सूत्रों में आया है – अइउण् तथा लण् में। यहाँ शंका होती है कि कौन से णकार से अण् प्रत्याहार बनाया जाए। इसका उत्तर यह है कि यहाँ अण् प्रत्याहार में बाद वाले णकार का ग्रहण है। यहाँ अण् प्रत्याहार से तात्पर्य है अ इ उ ऋ ल ए ओ ऐ औ ह य व र ल वर्ण। उदित में कु चु टु तु पु आते हैं। पाणिनि यदि कु से सम्बन्धित नियम बताते हैं तो वह क के सवर्ण ख ग घ तथा ङ पर भी लागू होगा।

इस प्रकार अ 18 प्रकार के अ का बोधक है। इसी प्रकार इकार तथा उकार। ऋ और ल की सवर्ण संज्ञा है इसलिए 18 प्रकार का ऋकार और 12 प्रकार का लकार, दोनों मिलकर ऋकार 30 प्रकार का हुआ। एच् अर्थात् ए ओ ऐ औ प्रत्येक 12 प्रकार के हुए। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य व ल प्रत्येक दो प्रकार के हुए।

परः सन्निकर्षः संहिता 1.4.109

वर्णानामतिशयितः संनिधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः वर्णों के अत्यन्त सामीप्य को संहिता कहते हैं। जैसे विद्या + आलयः , यहाँ विद्या का आ तथा आलयः का आ दोनों अत्यन्त समीप हैं। इनके बीच में दूसरा कोई वर्ण नहीं है। दोनों को मिलकर आ हो जाता है। अतः आ की संहिता संज्ञा हुई। सरल श्शब्दों में हम दो अत्यन्त समीप वर्णों के मेल को संहिता कहते हैं।

हलोनन्तराः संयोगः 1.1.7

अज्भिरव्यवहिताः हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।

व्याख्याः जिन दो व्यंजनों के बीच में किसी अच् का व्यवधान न हो उनकी संयोग संज्ञा होती है। अर्थात् संयुक्त व्यंजनों की संयोग संज्ञा होती है। जैसे अध्यात्म श्शब्द में ध् और य् की संयोग संज्ञा है।

सुप्तिङन्तं पदम् 1.1.14

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः सुप् और तिङ् प्रत्यय जिस के अन्त में हो उसकी पद संज्ञा होती है। जो श्शब्दरूप वाक्य में प्रयोग के योग्य हो उसकी पद संज्ञा होती है। पद के मूल रूप को प्रातिपदिक या धातु कहते हैं। प्रातिपदिक से सुप् प्रत्यय जोड़े जाते हैं और घातु से तिङ् प्रत्यय जोड़े जाते हैं। सुप् प्रत्यय के योग से संज्ञा रूप, सर्वनाम रूप, विशेषण आदि रूप बनते हैं। तिङ् प्रत्यय के योग से क्रिया रूप बनते हैं। सुप् और तिङ् प्रत्ययों का विवरण आगे दिया जाएगा। यास्क आदि प्राचीन आचार्यों ने पद चार प्रकार के माने हैं – नाम(संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि), आख्यात (क्रियारूप), उपसर्ग तथा निपात। पाणिनि ने उपसर्गों का समावेश तिङन्तों में कर लिया है, और निपातों का सुबन्तों में। कदन्त और तद्धितान्त रूप सुबन्तों के अन्तर्गत समाविष्ट हैं क्योंकि सुप्लगाकर ही ये पद बनते हैं।

(इति संज्ञाप्रकरणम्)

अध्याय–2

स्त्रीप्रत्यय प्रकरण

स्त्रियाम् 4.2.3

अधिकारोयम् 'समर्थानाम्-' इति यावत्।

व्याख्याः यह अधिकार सूत्र है। यह अधिकार 'समर्थानां प्रथमाद् वा 4।1।82।।' सूत्र तक है अर्थात् उससे पूर्व के सूत्रों में 'स्त्रियाम्' यह पद उपस्थित होता है–अतः वे सूत्र स्त्रीत्व बोधन के लये प्रत्यय करते हैं।

अजाद्यतष्टाप् 4.1.4

अजादीनाम्, अकारान्तस्य च वाच्यूं यत् स्त्रीत्वम्, तत्र द्योत्ये टाप् स्यात्। अजा। एडका। अश्वा। चटका। मषिका। वाला। वत्सा। होडा। मन्दा।विलाता-इत्यादिः अजादिगणः। सर्वा।

व्याख्याः अजाद्यत इति–अज आदि और अकारान्त शब्दों का जब स्त्रीत्व कहना हो, तब इन प्रातिपदिकों से टाप् हो। टाप् का टकार और पकार इत्संज्ञक है।

अजा (बकरी)–यहाँ अजादिगण के प्रथम शब्द अज से स्त्रीत्व अर्थ बोधन के लिये प्रकृत सूत्र से टाप् प्रत्यय हुआ। तब टाप् के आकार के साथ 'अज' के अन्त्य अकार के स्थान में सवर्ण दीर्घ होने पर 'अज' शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में सु के अपक्त सकार आबन्त से परे होने के कारण 'हल्–ङ्याब्यो दीर्घात् सतिस्पपक्तं हल 6.1.68' इस सूत्र से लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

इन स्त्रीप्रत्ययान्त अजा आदि शब्दों से सु आदि की उत्पत्ति आबन्त होने के कारण 'ङ्याप्–प्रातिपदिकात् 4.1.1' इस सूत्र के अधिकार के बल से अथवा 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्–प्रातिपदिक का सामान्य या विशेष रूप से ग्रहण होने पर लिङ्ग–विशिष्ट का भी ग्रहण होता है'– इस परिभाषा के बल से होती है।

इसी प्रकार –एडक (भेड़ा) से एडका (भेड़, अश्व (घोड़ा) से अश्वा (घोड़ी, चटक (चिड़ा) से चटका (चिड़िया, मूषक (चूहा) से मूषिका (चुहिया), बाल से बाला, वत्स से वत्सा, होड़ से होडा, मन्द से मन्दा और विलात से बिलाता–शब्द सिद्ध होते हैं। अन्तिम पाँच शब्दों का अर्थ कुमार है। सभी शब्द अजादि गण के हैं।

सर्वा–यहाँ अकारान्त सर्व शब्द से टाप् प्रत्यय हुआ।

उगितश्च 4.1.6

उगिदन्तात प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। भवन्ती। पचन्ती। दीव्यन्ती।

व्याख्याः उगित प्रत्यय जिस प्रातिपदिक के अन्त में हो उससे स्त्री बोधक के लिये ङीप् प्रत्यय हो।

ङीप् प्रत्यय के ङकार और प्कार इत्सांक है, ई शेष रहता है।

कृदन्त प्रकरण में बताया गया शत प्रत्यय ऋकार उक के इत् होने से उगित् है, अतः तदन्त शब्दों से इस सूत्र के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होगा और तद्धित ईयसुन प्रत्यय भी उकार उक् के इत्संज्ञक होने के कारण उगित् है, अतः इयसुन् प्रत्ययान्त शब्दों से भी प्रत्यय होगा।

भवन्ती (होती हुई)–यहाँ शतप्रत्ययानत भवत् शब्द से उगिदन्त होने के कारण प्रकृत सूत्र से ङीप् प्रत्यय हुआ। तब उसके परे होने पर 'शप्श्यनोनर्तियम् 7.1.81' से नुम् आगम होकर रूप सिद्ध हुआ।

भा धातु से डवतु प्रत्यय होकर सिद्ध हुए भवत् (आप) के उगिदन्त होने के कारण उससे ङीप् होकर 'भवति' रूप बनता है। यहाँ नुम् नहीं होता।

इसी प्रकार– शत प्रत्ययान्त पचत् और दीव्यत् शब्दों से पचन्ती (पकाती हुई) और दीव्यन्ती (खेलती हुई) रूप सिद्ध होते है।

ये सब उदाहरण प्रथमा के एकवचन में दिये गये हैं। आबन्त और ईबन्त से प्रथमा के एकवचन सु के अपक्त सकार का 'हलङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपक्तं हल् 6.-68' से लोप होकर रूप बनता है।

ईयसुन् प्रत्ययान्त के उदाहरण मूल में नहीं दिये गये हैं–श्रेयस्–श्रेयसी (कल्याणकारिणी), पटीयस्–पटीयसी (अति चतुर स्त्री) और नेदीयस्–नेदीयसी (निकट स्थिता) इत्यादि।

टिड्-ढाण्-आ्-द्वयसच्-दध्ना्-मात्रच्-तयप ठक्-ठा्-का्क्वरपः 4.1.15

अनुपसर्जनं यत् टिद्-आदि तदन्तं यद् अदन्तं प्रातिपदिकम, ततः स्त्रिया ङीप् स्यात् कुरुचरी। नदट्-नदी। देवट्-देवी। सौंपर्णयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरु-दध्नी। ऊरुमात्री। पंच-तयी। आक्षिकी। ग्रास्थिकी। लावणिकी। यादशी। इत्वरी।

व्याख्याः अनुपसर्जन (जो गौण न हो) आकारान्त टिदन्त और ढ, अण्, आ, द्वयसच्, दध्ना्, मात्रच्, तयप्, ठक, टा, का् और क्वरप् इन प्रत्ययान्त प्रतिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय हो।

ढ आदि ग्यारह तद्धित प्रत्यय हैं। टित् प्रत्यय कृदन्त क ट टक् हैं और देवट् तथा नदट् शब्द भी टित् हैं। आगे इनके उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं।

कुरु-चरी (कुरुषु चरति स्त्री –कुरुदेश में घूमनेवाली स्त्री)–यहाँ 'चर्रष्टः 3.2.16.' सूत्र से सुबन्त उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होकर सिद्ध हुए कुरुचर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में प्रकृत सूत्र से ङीप् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च 6.4.148' अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

नदी–'नदट्' इस टि् प्रातिपदिक में प्रकृत सूत्र से ङीप् प्रत्यय होने 'यस्येति च' से अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

देवी–देवट् शब्द से ङीप् प्रत्यय होकर पूर्ववत् रूप सिद्ध हुआ।

सौपर्णेयी (सुपर्णी की कन्या, गरुड़ की बहन)– यहाँ सुपर्णी शब्द से अपत्य अर्थ में 'स्त्रीभ्यो ढक् 4.1.120' से ढक् प्रत्यय होकर, उसको ' आयन्–7.1.2' इत्यादि सूत्र से 'एय्' आदेश, आदि वद्धि, पूर्व ईकार का 'यस्येति च' से लोप होने पर सिद्ध हुए सौपर्णेय इस ढ प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से सूत्र से ङीप् हुआ। तब 'यस्येति च' से प्रातिपदिक से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

ऐन्द्री (इन्द्रो देवता अस्याः इन्द्र जिसका देवता है अथवा इन्द्र की)–

यहाँ इन्द्र शब्द से 'सास्य देतवा 4.2.24' अथवा 'तस्येदम् 4.3.120' से अण् होने पर, अकार का लोप और आदिवद्धि होकर सिद्ध हुए ऐन्द्र–इस अण्णन्त प्रातिपदिक से प्रकृत सूत्र से ङीप् प्रत्यय हुआ। तब अकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

औत्सी (उत्सस्येयम्, उत्स–झरना या ऋषिविशेष सम्बन्धिनी)–यहाँ उत्स शब्द से 'उत्सादिभ्यो् 4.1.86' सूत्र से आ् प्रत्यय होने पर सिद्ध हुए औत्स इस आ् प्रत्ययान्त शब्द से प्रकृत से ङीप् हुआ। तब 'यस्येति च' पूर्व अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

ऊरु-द्वयसी, ऊरु-दध्नी, ऊरु–मात्री (ऊरू प्रमाणमस्याः, ऊरुप्रमाण जलवाली–तलैया, छोटा तालाब आदि।–यहाँ ऊरु शब्द से प्रमाण अर्थ में 'प्रमाणे द्वयसच्–दध्ना् –मात्रचः 5.2.37' से द्वयसच्, दघ्ना् और मात्रच्–प्रत्यय होने पर सिद्ध हुए ऊरुद्वयस, ऊरुदध्न और ऊरुमात्र–इन प्रातिपदिकों से ङीप् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

---

1. स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या और कारक–ये पाँच प्रातिपदिक के अर्थ हैं–इस पक्ष में लिङ्ग के प्रातिपदिकार्थ होनेसे प्रत्यय उसके द्योतक होते हैं लिङ्ग को प्रातिपदिकार्थ न माननेवालों के पक्ष में वाचक।

पच-तयी (पच अवयवा अस्याः –पाँच अवयववाली)—यहाँ पचन् शब्द से अवयव अर्थ में 'संख्याया अवयवे तयप 5.2.42' से तयप प्रत्यय होने पर नकार का लोप होकर सिद्ध हुए पचतय प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय हुआ।

आक्षिकी (अक्षैर्दीव्यति, पासों से खेलनेवाली)—यहाँ अक्ष शब्द से 'तेन् दीव्यति खनति जयति जितम् 4.4.2' से ठक् प्रत्यय होने पर ठकार को इक्, 'यस्येति च' से अकारका लोप और आदिवद्धि होकर सिद्ध हुए 'आक्षिक' शब्द से प्रकृत से ङीप् हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्रास्थिकी (प्रस्थेन क्रीता, एक प्रस्थ से खरीदी हुई)—यहाँ प्रस्थ शब्द से क्रीत अर्थ में—'तेन क्रीतम'— से ठक् प्रत्यय होकर प्रास्थिक शब्द बना। इससे ङीप् होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

लावणिकी (लवणं पण्यमस्यः, नमक बेचनेवाली)—यहाँ लवण शब्द से 'तदस्य पण्यम्—4.4.51 यह इसका विक्रेता है' इस अर्थ में 'लवणात् ठा् 4.4.52 से ठा् होकर सिद्ध हुए लावणिक शब्द से ङीप् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

यादृशी (जैसी)—यहाँ यत् शब्द उपपद रहते दश धातु से 'यदादिषु दशोनालोचने का् च 3.2.60' से का् प्रत्यय होने पर 'आ सर्वनाम्नः 6.3.71' से यत् शब्द को आकार अन्तादेश ओर सवर्ण दीर्घ होकर सिद्ध हुए यादृश कान्त प्रातिपदिकसे प्रकृते सूत्र से ङीप् हुआ। तब 'यस्येति च' से लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

इत्वरी (व्यभिचारिणी)— यहाँ 'इण् गतौ' धातुसे 'इण्—नशि—जि—सर्तिभ्यः क्वरप् 3.2.163' से तुक् आगम होकर 'इत्वर' शब्द बना। क्वबरन्त होने के कारण इससे ङीप् हुआ और 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) ना स्ना्-ईकक्-ख्युनु-तरुण-तलुनानाम् उपसंख्यानम्। स्त्रैणी पौस्नी। शाक्तीकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी।

व्याख्याः ना्, स्ना, ईकक्, ख्युन्— ये प्रत्यय जिनके अन्त में हो, उनसे तथा तरुण और तलुन—इन प्रतिपदिकों से स्त्रीत्व विवक्षा में ङष्प् प्रत्यय हो।

ईकक्, ना् और स्ना् ये तद्धित प्रत्यय हैं और ख्युन् कृत् प्रत्यय है।

स्त्रैणी, पौंस्नी (स्त्रीसम्बन्धी, पुरुष—सम्बन्धिनी)—यहाँ स्त्री और पुरुष शब्दों से 'स्त्रीपुंसाभ्यां ना्स्नाौ भवनात् 4.1.87' से क्रमशः ना् और स्ना् प्रत्ययहोने पर आदिवद्धि, स्त्री शब्द से प्रत्यय नकार को णकार होकर सिद्ध हुए स्त्रैण और पौंस्न शब्दों से प्रकृत वार्तिक से ङीप् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

शाक्तीकी (शक्तिः आयुधविशेषः प्रहरणम् अस्याः—शक्ति नाम का अस्त्र जिसका हथियार है वह स्त्री)— यहाँ शक्ति शब्द से 'शक्तियष्ट्योरीकक्' से ईकक् प्रत्यय आदिवद्धि, अन्त्य इकार का 'यस्येति च' लोप होकर सिद्ध हुए 'शाक्तीक' शब्द से प्रकृत वार्तिक से ङीप् होने पर 'यस्तेति च 6.4.148' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

आढ्यङ्करणी (अनाढ्य आढ्यः क्रियतेनया—जो अनाढ्य को आढ्य धनवान् बनावे)—यहाँ आढ्य पद उपपद रहते कृ धातु से 'आढ्य—सुभग 3.2.56' से ख्युनु प्रत्यय हुआ, तब 'यू' को अन आदेश, 'अरुर्ष्क्षिज्ञदजन्तस्य मुम् 6.3.67' से मुम् आगम और नकार को णकार होकर 'आढ्यकरण'। तब 'यस्येति च' सूत्र से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

तरुणी, तलुनी (युवती)—यहाँ तरुण और तलुन शब्द से प्रकृत वार्तिक से ङीप् हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूपसिद्ध हुआ।

ङीप् आदि स्त्रीप्रत्यय अजादि हैं, अतः इनके परे रहते पूर्व की भसंज्ञा होती है, तब 'यस्येति च' पूर्व अवर्ण और इवर्ण का लोप हो जाता है—इस बात का सदा ध्यान रहना चाहिये। तद्धित प्रत्यय होने पर यदि वह अजादि हो तो 'यस्येति च' सूत्र लगता है, जैसा कि तद्धित प्रकरण में यत्र तत्र दिखाया गया है।

याश्च 4.1.16

यान्तात् स्त्र्या 'ङीप्' स्यात्। अकार-लोपे कृते-

व्याख्याः यान्त से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय हो।

अकारेति–ङीप् होने पर ान्त के अन्त्य अकार का जैसा ऊपर कहा गया है 'यस्येति च 6.3.148' से लोप हुआ।

हलस्तद्धितस्य 6.3.150

हलः परस्य तद्धित-यकारस्योपधाभूतस्य लोप ईकारे परे। गार्गी।

व्याख्याः हल से परे तद्वित के उपधाभूत यकार का लोप हो ईकार परे रहते।

गार्गी (गार्ग्य स्त्री, गर्ग गोत्र की स्त्री)–यहाँ 'गर्गादिभ्यो या् 4.1.105' से गर्ग शब्द से गोत्र अर्थ में या् प्रत्यय होने पर 'यस्येति च' से अन्त्य अकार के लोप होकर सिद्ध हुए यान्त गार्ग्य शब्द से पूर्वसूत्र से ङीप् प्रत्यय हुआ। तब पूर्वोक्त प्रकार से अन्त्य अकार का लोप होने पर प्रकृत सूत्र से यकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्राचां ष्फ तद्धितः 4.1.17

यान्तात् ष्फो वा स्यात्, स च तद्भितः।

व्याख्याः यान्त से ष्फ प्रत्यय हो स्त्रीलिङ्ग में और वह तद्धित संज्ञक हो।

'ष्फ' प्रत्यय की तद्धित संज्ञा करने का फल प्रातिपदिक संज्ञा है। तद्धितान्त होने के कारण ष्फप्रत्ययान्त शब्द से स्त्रीत्व विवक्षा में अग्रिम सूत्र से ङीष् प्रत्ययहोता है।

ष्फ प्रत्यय के आदि षकार की 'षः प्रत्ययस्य 1.3.6' से इत्संज्ञा होती है और फकार को 'आयन–एय्–ईन्–इयः फ–ढ–ख–छ–घां प्रत्ययादीनाम् 7.1.2' से 'आयन्' आदेश होता है।

षिद्-गौरादिभ्यश्च 4.1.41

शिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीप्। गार्ग्यायणी। नर्तकी। गौरी।

व्याख्याः षिद्गौरादिभ्य–षित् और गौर आदि शब्दों से ङीप् प्रत्यय हो।

ङीष् का 'ई' शेष रहता है, शेष भाग इत्संज्ञक है। ङीप् और ङीष्–दोनों का केवल ईकार शेष रहने पर भी स्वर में दोनों का अन्तर पड़ता है। ङीप् का ईकार पित् होने से अनुदात्त होता है और ङीष् का ईकार उदात्त।

गार्ग्यायणी (गर्गस्यापत्यं स्त्री–गर्ग की अपत्य स्त्री)–यहाँ ान्त गार्ग्य शब्द से पूर्वसूत्र से ष्फ प्रत्यय हुआ, षकार की इत्संज्ञा, फकार को आयन् आदेश 'यस्येति च' से यकारोत्तरवती अकार का लोप और णत्व होने पर सिद्ध हुए 'गार्ग्यायण' शब्द से षित् होने के कारण प्रकृत सूत्र से ङीष् प्रत्यय हुआ। फिर 'यस्येति च' से णकारोत्तर अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

नर्तकी (नाचनेवाली)– यहाँ नत् धातु से 'शिल्पिनि ष्वुन् 3.1.145' से ष्वुन् प्रत्यय से सिद्ध हुए नर्तक शब्द से षित् होने कारण प्रकृत सूत्र से ङीष् हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

गौरी (गौरवर्ण की स्त्री)–यहाँ गौर आदि गण के आदि शब्द गौर से प्रकृत सूत्र से ङीष् प्रत्यय हुआ। तब अन्त्य अकार का लोप होकर रूप बना।

(वा) आम् अनडुहः स्त्रियां वा। अनड्वाही, अनडुही। आकृतिगणोयम्।

व्याख्याः (वा) स्त्रीलिङ्ग में अनडुह् शब्द को आम् विकल्प से हो।

अनड्वाही, अनडुही गौ)– यहाँ गौरादि गण के अनुडुह् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय हुआ। तब प्रकृत वार्तिक से आम् आगम होने पर उकार को यण् वकार होकर प्रथम रूप सिद्ध हुआ। आम् के अभावपक्ष में दूसरा रूप बना।

आकृतिगण इति–गौरादि आकृतिगण है। अतः अन्य शब्द भी जो इस प्रकार के हो, उन्हें इसके अन्तर्गत समझना चाहिये।

वयसि प्रथमे 4.1.20

प्रथमवयो-वाचिनोदन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। कुमारी।

व्याख्याः वयसीति–प्रथम अवस्था के वाचक अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिड्ग में ङीष् प्रत्यय हो।

अवस्था तीन हैं–कौमार, यौवन और वार्द्धक्य। प्रथम अवस्था कौमार है कौमार अवस्था के वाचक शब्द से ही सूत्र ङीष् प्रत्यय का विधान करता है।

कुमारी (अविवाहित लड़की) –यहाँ प्रथम अवस्था के वाचक कुमार शब्द से प्रकृत सूत्र से ङीष् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

इस सूत्र पर वार्तिक है 'वयसि–अ–चरमे' इस वार्तिक से यौवन अवस्था के वाचक शब्दों से भी उक्त प्रत्यय होता है। यह वार्तिक कहता है। अतएव वधूट और चिरण्ट इन दो शब्दों से नहीं होता, अन्य दोनों से होता है। अतएव वधूट और चिरण्ट इन दो शब्दों से –जो यौवन के वाचक हैं –भी ङीष होकर–वधूटी और चिरण्टी शब्द बनते हैं।

द्विगोः 4.1.21

अदन्ताद् द्विगोः 'ङीप्' स्यात्। त्रिलोकी। अजादित्वात्-त्रिफला, त्र्यनीका-सेना।

व्याख्याः द्विगोरिति–अदन्त द्विगु से ङीप् प्रत्यय हो।

त्रिलोकी (त्रयाणां लोकानां समाहारः, तीन लोकों का समुदाय) –यहाँ 'संख्या –पूर्वो द्विगुः 2.1.52' और 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इसमें स्त्रीत्व का नियम होने से 'त्रिलोक' शब्द से प्रकृत सूत्र द्वारा ङीप् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

त्रिफला (त्रयाणां फलानां समाहारः, हरड़, बहेड़ा और आंवलाङ –यहाँ अकारान्त द्विगु होने पर भी अजादिगण के अन्तर्गत होने से 'अजाद्यतष्टाप् 4-1.2.' इस सूत्र के द्वारा 'त्रिफल' शब्द से टाप् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

त्र्यनीका (त्रयाणामनीकानां समाहारः सेना)– यहाँ भी पूर्ववत् अजादिगण के अन्तर्गत होने से 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् प्रत्यय हुआ।

वर्णाद् अनुदात्तात् तोपधात्, तो नः 4.1.39

वर्ण-वाची योनुदात्तान्तस्तोपधः तदन्ताद् अनुपसर्जनात् प्रतिपदिकाद् वा ङीप्, तकारस्य नकारादेशश्च। एनी, एता। रोहिणी, रोहिता।

व्याख्याः वर्णवाची जो अनुदात्तान्त नकारोपध शब्द तदन्त प्रातिपदिक से ङीप् हो विकल्प से और तकार को नकार आदेश भी।

एनी, एता (चितकबरी)– यहाँ वर्णवाची शब्द 'एत' अनुदात्तान्त है, क्योंकि तकारान्त वर्णवाची शब्द का आदि अच् '(फि. सू. 33) वर्णानां त–ण–ति–नि–तातानाम्' इस फिट् सूत्र से उदात्त होता है, अन्त्य अकार अनुदात्त है। इसकी उपधा तकार है। यह किसी के प्रति गौण न होने से अनुपसर्जन भी है। अतः यहाँ प्रकृत सूत्र से ङीप् प्रत्यय और तकार को नकार होकर रूप सिद्ध हुआ। अभावपक्ष में अकारान्त होने से 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् प्रत्यय हुआ।

रोहिणी, रोहिता[2] (लाल रड्गवाली)–यहाँ रोहित इस वर्णवाची अनुदात्तान्त तोपध अनुपसर्जन प्रातिपदिक से ङीप् और तकारको नकार होकर रूप सिद्ध हुआ। अभावपक्ष में टाप् हुआ।

वोतो गुण-वचनात् 4.1.44

उदन्ताद गुण-वाचिनो वा ङीष् स्यात्। मद्वी, मदुः।

व्याख्याः उकारान्त गुणवाचक शब्द से स्त्रीलिड्ग में ङीष् प्रत्यय हो विकल्प से।

मद्वी, मदुः (कोमला)— यहाँ उकारान्त गुणवाचक मदु शब्द से प्रकृत सूत्र से ङीप् प्रत्यय हुआ, उकार को यण् होकर रूप बना। अभावपक्ष में वैसे हो रहा।

बह्वादिभ्यश्च 4।1।45।।

एभ्यो वा ङीष् स्यात। बह्वी, बहुः।

व्याख्याः बहु आदि गण से ङीप् प्रत्यय हो विकल्प से।

बह्वी, बहुः (बहुत, स्त्रीलिङ्ग) — यहाँ बहु शब्द से ङीप् प्रत्यय होने पर उकार को यण होकर रूप बना। अभावपक्ष में यथावत् रूप रहा।

(ग. सू.) कृद् इकाराद् अक्तिनः। रात्रिः, रात्री।

व्याख्याः (ग) कृद्इकारादिति–कृत् प्रत्यय का जो इकार, तदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् प्रत्यय हो विकल्प से, परन्तु क्तिन् प्रत्ययान्त से न हो।

रात्री, रात्रिः (रात) –यहाँ रा धातु से 'रा–शादिभ्यस्त्रिप्' इस उणादि सूत्र से त्रिप् प्रत्यय होकर रात्रि शब्द बना। यहाँ कृत् प्रत्यय का इकार है, तदन्त रात्रि शब्द से ङीप् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से इकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ। अभावपक्ष में जैसे का तैसा रूप रहा।

(गा. सू.) सर्वतोक्तिन्नर्थाद् इति एके। शकटी शकटिः।

व्याख्याः सर्वत इति–क्तिन् प्रत्यय के अर्थ में विहित जो प्रत्यय, तदन्त से भिन्न इकारान्त मात्र से ङीष् हो ऐसा कुछ एक आचार्य मानते हैं।

कृदिकारान्त और अकृदिकारान्त–दोनों से विकल्प से ङीष् होता है, पर क्तिन् के अर्थवाले प्रत्यय जिनसे हों तो उनसे नहीं।

शकटी, शकटिः (छोटी गाड़ी)–यहाँ शकटि शब्द इकारान्त है, इससे ङीष् प्रत्यय प्रकृत वार्तिक से हुआ। पूर्ववत् इकार का लोप होकर रूप बना पक्ष में जैसे का तैसा रूप रहा।

पुंयागाद् आख्यायाम् 4.1.48

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते, ततो ङीष्। गोपस्य स्त्री-गोपी।

व्याख्याः पुंयोगादिति– जो पुरुष के अर्थ में प्रसिद्ध शब्द पुरुष सम्बन्ध के द्वारा लक्षणा से स्त्री के लिये प्रयुक्त किया जाय, उसे ङीष् प्रत्यय हो।

तात्पर्य यह है कि शब्द पुँलिङ्ग हो, उसका प्रयोग पतिपत्नी भाव रूप सम्बन्ध के द्वारा लक्षणा से स्त्री के लिये प्रयुक्त किया जाने लगे–उस समय ङीष् प्रत्यय हो।

जैसे हिन्दी में पण्डित की स्त्री को पण्डिताइन कहते हैं वह भले ही पण्डित न हो। उसी प्रकार पुँलिङ्ग शब्द से स्त्रीत्व बोधन के लिये संस्कृत भाषा में भी इस सूत्र से प्रत्यय का विधान किया गया है।

गोपी (गोपस्य स्त्री)— यहाँ गोप शब्द पुँलिङ्ग है। पतिपत्नी–भाव रूप सम्बन्ध को लेकर इस शब्द का उसकी स्त्री के लिये भी प्रयोग होगा, उस समय प्रकृत सूत्र में ङीष् प्रत्यय हुआ। फिर 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

गोपालन करनेवाले को गोप कहते हैं, उसकी स्त्री को उसके सम्बन्ध से ही गोपी कहा जायगा– उसके लिये गोपालन करने की आवश्यकता नहीं। उसी प्रकार शूद्र की स्त्री होगी चाहे वह स्वयं शूद्र न हो।

(वा) पालकान्तात् न। गो-पालिका। अश्व-पालिका।

व्याख्याः वा पालकान्तादिति–पालकान्त शब्द से पुंयोग में ङीष् न हो।

पुंयोग होने पर भी गोपालक शब्द से ङीष् का निषेध प्रकृत वार्तिक से हुआ। तब अकारान्त होने के कारण टाप् हुआ। तब अग्रिम सूत्र से लकार के उत्तर में वर्तमान अकार के स्थान में इकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

अश्व–पालिका–(अश्वपालकस्य स्त्री–अश्वपाल की स्त्री)– यहाँ भी पुंयोग में प्राप्त ङीष् का पालकान्त होने के कारण प्रकृत वार्तिक से निषेध हुआ। फिर पूर्ववत् टाप् और लकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान में अग्रिम सूत्र से इकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्रत्यय-स्थात् कात्पूर्वस्यात 'इद्' आप्यसुपः 7.3.44

प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्याकार स्येकारः स्याद् आपि, स आप सुपः परो च चेत्। सर्विका। कारिका। अकारष्य किम्-नौका। प्रत्यय-स्थात् किम् शक्नोतीति शका। अ-सु.पः किम्-बहू-परिव्राजका नगरी।

व्याख्याः प्रत्ययस्थादिति–प्रत्यस्थ ककार से पूर्व अकार को इकार आदेश हो आप् परे रहते, यदि वह आप् प्रत्यय सुप् से पर न हो।

पूर्वोक्त गो–पालिका और **अश्व-पालिका**–शब्दों में इकार इसी सूत्र से हुआ है। क्योंकि उसमें प्रत्ययस्थ ककार है, उससे पूर्व अकार को ककार से पूर्व स्थान में इसलिये इकार हो गया, आप पर है और वह सुप् से पर नहीं। क्योंकि प्रातिपदिक से टाप् हुआ है।

सर्विका– यहाँ सर्व शब्द से स्वार्थ में 'अव्यथ–सर्वनाम्नाम् अकच प्राक् टेः 5.3.71' सूत्र से टि के पूर्व अकच् प्रत्यय होकर 'सर्वक' शब्द बना। स्त्रीत्व विवक्षा में अदन्त होने के कारण इससे 'अजाद्यतष्टाप्' से आप् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अकार लोप होकर 'सर्वका' यह रूप बना। यहाँ ककार अकच् प्रत्यय का है, उससे पूर्व अकार को इस सूत्र से इकार हुआ। क्योंकि उससे पर आप् भी है, वह सुप से पर भी नहीं।

कारिका (करनेवाली)–कृ धातु से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल्–तुचौ 3.1.133' से ण्वुल् प्रत्यय, वु को अक आदेश, ऋकार को वद्धि आर् होकर सिद्ध हुए कारक शब्द से स्त्रीत्व–विवक्षा में अदन्त होने के कारण 'अजाद्यष्टाप् से टाप् प्रत्यय हुआ। तब आप् परे होने के कारण प्रत्यय के तकार से पूर्व अकार को प्रकृत सूत्र से इकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

अत इति– अकार को इकार होता है–ऐसा इस सूत्र में क्यों कहा? इस लिये कि नौका यहाँ प्रत्यय के ककार से पूर्व औकार को इकार न हो। नौ शब्द से स्वार्थिक क प्रत्यय होने पर टाप् होकर रूप बनता है।

प्रत्यय–स्थादिति– ककार प्रत्यय का हो–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि शका में ककार से पूर्व अकार को इकार न हो। यहाँ ककार प्रत्यय का नहीं, धातु का है। शक् धातु से पचादि अच् होने पर टाप् होकर यह रूप, बना है।

असुप् इति– आप् सुप् से परे न हो–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि बहुपरिव्राजका–बहुत सन्यासी जहाँ हो– वह नगरी' यहाँ अकार को इकार न हों। परिव्राजक शब्द परिपूर्वक व्रज् धातु से ण्वुल (अक) प्रत्यय से सिद्ध हुआ है। उसका बहु शब्द के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है। समास होने पर सुप का लोप हुआ। तब अर्न्तवर्तिनी विभक्ति अर्थात् लुप्त सुप् से पर आप् के होने के कारण यहाँ अकार को इकार नहीं होता।

(वा) सूर्याद् देवतायां चाप् वाच्यः। सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। देवतायां किम्-

व्याख्याः (वा) सूर्यादिति– देवता जाति की स्त्री रूप अर्थ में पुंयोग में वर्तमान सूर्य शब्द से चाप् प्रत्यय हो।

चाप के चकार और पकार इत्संज्ञक हैं। 'पुंयोगाद आख्यायाम्' से प्राप्त ङीष् प्रत्यय का यह बाधक है।

सूर्या (सूर्यस्य स्त्री देवता, सूर्य की देवता स्त्री)– यहाँ पुंयोग से स्त्री के अर्थ में वर्तमान सूर्य शब्द से चाप् प्रत्यय हुआ, यहाँ स्त्री देवता है। तब 'यस्येति च' से अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

देवतायामिति–देवता अर्थ में ही चाप् हो क्यों कहा? इसलिये कि यदि स्त्री मनुष्य जाति की हो। वहाँ सामान्य ङीष् प्रत्यय होगा।

(वा) सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च य-लोपः। सूरी-कुन्ती, मानुषीयम्।

व्याख्याः (वा) सूर्यागास्त्योरिति–सूर्य और अगस्त्य शब्दों के यकार का लोप हो छ और ङी प्रत्यय परे रहते।

सूरी सूर्यस्य स्त्री मानुषी–सूर्य की मनुष्य जाति का स्त्री, कुन्ती)–यहाँ पुंयोग के द्वारा मनुष्य जाति की स्त्री अर्थ

में वर्तमान सूर्य शब्द से सामान्य पुंयोग–लक्षण ङीप् हुआ। तब 'यस्येति च– से अन्त्य अकार का लोप होने पर प्रकृत वार्तिक से यकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

इन्द्र-वरुण-भव शर्व-रुद्र-मड-हिमारण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणाम् आनुक् 4.1.49

एषाम् 'आनुक्' आगमः स्यात् ङीष् च। इन्द्रस्य स्त्री-इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मडानी।

व्याख्याः इन्द्रेति–इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मड, हिम, अरण्य, यव यवन, मातुल और आचार्य –इन शब्दों को ङीष् प्रत्यय ओर आनुक आगम हो।

आनुक का उक् भाग इत्संज्ञक है, आन् शेष रहता है और कित् होने के कारण शब्दों के अन्त में होता है।

इन्द्र आदि छ और मातुल तथा आचार्य–शब्दों से पुंयोग में ही होता है, पूर्व सामान्य सूत्र से ङीष् सिद्ध है, इस सूत्र से केवल आनुक् विशेष होता है और शेष चारों से दोनो ङीष् और आनुक् होते हैं।

इन्द्राणी (इन्द्रस्य स्त्री, इन्द्र की स्त्री)–यहाँ इन्द्र शब्द के पुंयोग में प्रकृत सूत्र से ङीष् और आनुक् आगम हुए। तब 'इन्द्र आन् ई' इस दशा में सवर्ण दीर्घ और णत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

वरुणानी (वरुण की स्त्री), भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मडानी (शिवजी की स्त्री, भव, शर्व, रुद्र और मड–ये शिवजी के नाम हैं)–इन रूपों की सिद्धि भी इन्द्राणी के समान होती है।

(वा) हिमारण्ययोर्महत्त्वे। महद्हिमम्-हिमानी, महद्अरण्यम्-अरण्यानी।

व्याख्याः (वा) हिमारण्योरति– हिम (बरफ) और अरण्य (जंगल) इन दो शब्दों से ङीप् और आनुक् महत्त्व अर्थात् बड़ा अर्थ में हो।

हिमानी (महद् हिमम्–अधिक बरफ)–यहाँ हिम शब्द से महत्व अर्थ में अरण्य शब्द से ङीष् और आनुक् होकर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) यवाद् दोषे। दुष्टो यवो-यवानी।

व्याख्याः यववादिति–दोषयुक्त अर्थ में वर्तमान यव (जौ–अन्न) शब्द से ङीष् और आनुक् हो।

यवनानी (यवनानां लिपिः –यवनों की लिपि)–यहाँ यव शब्द से दोष अर्थ में प्रकृत वार्तिक से ङीप् प्रत्यय और आनुक् आगम हुआ।

(वा) यवनात् लिप्याम्। यवनानां लिपिः-यवनानी।

व्याख्याः (वा) यनादिति–लिपि अर्थ में वर्तमान यवन शब्द से ङीष् प्रत्यय और आनुक् आगम हो।

यवनानी यवनानां लिपिः–यवनों की लिपि)– यहाँ यवन शब्द से लिपि अर्थ में प्रकृत वार्तिक से ङीष् प्रत्यय और आनुक् आगम हुआ।

इन चार शब्दों से हिम, अरण्य और यव इन तीन में पुंयोग असम्भव है।

इन विशेष अर्थों में इसीलिये इनका विधान किया गया है। यवन शब्द से पुंयोग अर्थ में सामान्य सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर 'यवनी' रूप बनता है।

(वा) मातुलोपाध्याययोः 'आनुक्' वा। मातुलानी, मातुली। उपाध्यायानी, उपाध्यायी।

व्याख्याः (वा) मातुलेति–मातुल (मामा) और उपाध्याय (गुरु)–इन शब्दों से आनुक् विकल्प से हो।

यहाँ विकल्प आनुक् का ही है, ङीष् तो सामान्य सूत्र से आनुक् के अभाव में भी होता है। मातुल शब्द को आनुक् प्राप्त है, उपाध्याय को नहीं–दोनों का विकल्प से विधान किया–अतः यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है।

मातुलानी, मातुली (मातुलस्य स्त्री, मामा की स्त्री–मामी) यहाँ मातुल शब्द से पुंयोग में ङीष् और विकल्प से आनुक् प्रकृत वार्तिक से होकर पहला रूप बना। आनुक् के अभाव में सामान्य ङीष् होकर रूप सिद्ध हुआ।

उपाध्यायानी, उपाध्यायी (उपाध्याय–अध्यापक की स्त्री)–यहाँ भी पूर्ववत् आनुक् के विकल्प से दो रूप बने।

(वा) आचार्याद् अणत्वं च। आचार्यस्य स्त्री-आचार्यानी।

व्याख्याः (वा) आचार्यदिति— आचार्य शब्द से पुंयोग में ङीष् और आनुक् होते हैं और नकार को णत्व का निषेध भी।

आचार्यानी (आचार्य की स्त्री)—यहाँ पुंयोग में आचार्य शब्द से प्रकृत वार्तिक से ङीष्, आनुक, और णत्व का निषेध —ये तीन कार्य होकर रूप बना।

जो स्वयं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हो, उस स्त्री को आचार्या[4] कहा जाता है, वहाँ अदन्तलक्षण टाप् होता है।

इसी प्रकार जो स्त्री उपाध्याय की पत्नी न होते हुए स्वयं अध्यापन करती हो उसे उपाध्याया कहा जाता है। यहाँ 'या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः' इस वार्तिक से वैकल्पिक ङीष् हुआ।

(वा) अथ-क्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे। अर्याणी, अर्या। क्षत्रियाणी क्षत्रिया।

व्याख्याः (वा) अर्येति— अर्य और क्षत्रिय शब्दों से स्वार्थ में ङीष् और आनुक् विकल्प से हों।

स्वार्थ में विधान होने से पुंयोग में नहीं होतां विकल्प कहने से पक्ष में टाप् होता है।

अर्याणी, अर्या (वैश्य कुल की स्त्री)— यहाँ अर्य शब्द से स्वार्थ में ङीष् और आनुक् होकर प्रथम रूप बना और अभावपक्ष में अदन्तलक्षण टाप् होकर दूसरा रूप।

पुंयोग में ङीष् होकर अर्यी रूप बनता है।

क्षत्रियाणी, क्षत्रिया (क्षत्रिय स्त्री)— यहाँ पूर्ववत् सिद्धि हुई।

पुंयोग में यहां भी ङीष् होकर क्षत्रियी रूप बनता है।

क्रीतात् करण-पूर्वात् 4.1.50

क्रीतान्ताद् अदन्तात् करणादेः स्त्रियां ङीष् स्यात्। वस्त्र-क्रीती। कव्चित न-धन-क्रीता।

व्याख्याः क्रीतादिति—करण कारक जिसके आदि में और क्रीत शब्द अन्त में हो—ऐसे अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् हो।

वस्त्र—क्रीती (वस्त्र से खरीदी हुई)—करणकारक उपपद का क्रीत शब्द के साथ 'उपपदम अतिङ् 1.2.19' सूत्र से समास हुआ। 'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' इस परिभाषा के बल से सुप् आने के पूर्व समास हुआ। इस प्रकार सिद्ध हुए 'वस्त्रक्रीत' प्रातिपदिक से प्रकृत सूत्र से ङीष् प्रत्यय हुआ, क्योंकि यहाँ आदि में करण वस्त्र है, अन्त में क्रीत शब्द है और वह अदन्त भी है।

चिदिति—कहीं यह ङीष् नहीं होता। जैसे —धन क्रीता (धनेन क्रीता धन से खरीदी हुई)—यहाँ बाहुलकात् पूर्वोक्त परिभाषा की प्रवत्ति न होकर सुप् होने पर समास होता है, अतः सुप् के पूर्व लिङ्ग बोधक प्रत्यय टाप् हो जाता है।

स्वाङ्गच् चोपसर्जनाद् अ-संयोगोपधात् 4.1.54

असंयोगोपधम् उपसर्जनं यत् स्वाड्गम् तदन्ताद् अदन्तात् ङीष् स्यात्। केशान् अतिक्रान्ता-अति-केशी, अति-केशी। चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। असंयोगोपधात् किम्-सु-गुल्फा। उपसर्जनात् किम्-सु-शिखा।

व्याख्याः स्वाङ्गदिति—जिसकी उपधा में संयोग नहीं, ऐसा उपसर्जन—गौण स्वाङ्गवाचक जो शब्द, तदन्त अदन्त प्रातिपदिक से ङीष् विकलप से हो।

स्वाङ्ग शब्द का यहाँ 'अपना अड्ग' यह अर्थ नहीं, अपि तु पारिभाषिक अर्थ है। उसके तीन लक्षण हैं—

(1) अद्रवं मूर्तिमत् रचाङ्गं प्राणि—स्थम् अ—विकारजम्

(2) अतत्स्थं तत्र दष्टं च

(3) तेन चेत् तत् तथा—युतम्

1. अद्रव (जो तरल न हो), साकार, प्राणि में वर्तमान और अ–विकारज जो विकार से उत्पन्न न हो को स्वाङ्ग कहते हैं।

प्रथम लक्षण के अनुसार जब प्राणी के अङ्ग प्राणी में हो तब उन्हें स्वाङ्ग कहा जाता है।

2. उसमें रहता न हो पर उसमें दिखाई दिया हो।

यह स्वाङ्ग का दूसरा लक्षण है। प्राणी के अङ्ग केश आदि यदि गली में पड़े– हों–गली में रहनेवाले न होकर भी गली में दिखाई पड़ने के कारण इस दूसरे लक्षण के अनुसार ये स्वाङ्ग कहे जाते हैं।

अति–केशी, अति–केशा (केशान् अतिक्रान्ता–केशों का अतिक्रमण करनेवाली)– यहाँ अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' से तत्पुरुष समास होने पर केश उपसर्जन हैं, प्राणी में स्थिति और साकार होने के कारण यह स्वाङ्ग है, अतः तदन्त अदन्त प्रातिपदिक 'अतिकेश' से वैकल्पिक ङीष् होकर रूप सिद्ध हुआ। अभावपक्ष–में–अदन्तलक्षण टाप् हुआ।

चन्द्र–मुखी, चन्द्र–मुखा (चन्द्र इव मुखं यस्याः–चन्द्रमा के समान मुखवाली)–यहाँ मुख शब्द प्रथमलक्षण के अनुसार स्वाङ्गवाची है, बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ के प्रधान होने से मुख यहाँ उपसर्जन भी है। अतः स्वाङ्गवाची उपसर्जन मुखशब्दान्त अदन्त प्रातिपदिक चन्द्रमुख से वैकल्पिक अभावपक्ष में अदन्तलक्षण टाप् होकर रूप सिद्ध हुआ।

उपर्युक्त उदाहरणों में केश, मुख आदि स्वाङ्वाचकों की उपधा में संयोग नहीं–अतः, असंयोगोपध होने से प्रकृत सूत्र की प्रवत्ति हुई।

अ–संयोगोपधादिति–संयोग उपधा में न हो–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि सु–गुल्फा–(शोभनौ गुल्फौ यस्याः–सुन्दर गुल्फ गिठ्ठवाली)–यहाँ गुल्फ स्वाङ्ग वाचक है, बहुव्रीहि समास के कारण उपसर्जन भी है, परन्तु इसकी उपधा में लकार और फकार का संयोग है। अतः संयोगोपध होने क कारण यहाँ ङीष् न हुआ। अदन्तलक्षण टाप् होकर रूप सिद्ध हुआ।

उपसर्जनादिति–उपसर्जन से–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि सुशिखा यहाँ न हो। शिखा शब्द 'शीङ् खो ह्रस्वश्च' इस उणादि सूत्र से शीङ् धातु से ख प्रत्यय और धातु को ह्रस्व होकर बने हुए शिख–शब्द से अदन्तलक्षण टाप् होकर बना है। यदि इस सूत्र में उपसर्जन न कहा जाय तो स्वाङ्गवाची होने से शिखा शब्द से टाप् को बाधकार ङीष् होने लगे।

न क्रोडादि-बह्वचः 4.1.56

क्रोडादेः, बह्वचश्च स्वाङ्गाद् न ङीष्। कल्याण-क्रोडा। आकृति-गणोयम्।

व्याख्याः न क्रोडेति–क्रोड आदि गण के और बह्च् स्वाङ्गवाचक प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय न हो।

कल्याण–क्रोडा कल्याणी क्रोडा यस्याः–जिसके वक्षस्थल पर कल्याण जनक चिह्न हों–ऐसी घोड़ी)–यहाँ क्रोडा शब्द स्वाङ्गवाचक है–यह बहुव्रीहि का अवयव होने से उपसर्जन भी है, उसकी उपधा में संयोग भी नहीं। अतः एतदन्त अदन्त प्रातिपदिक कल्याणक्रोड से ङीष् प्राप्त था। प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हुआ। तब अदन्तलक्षण टाप् होकर रूप सिद्ध हुआ।

आकृतिगण इति–क्रोडादि आकृतिगण है।

सु–जघना (शोभनं जघनं यस्याः–जिस स्त्री का जघन सुन्दर हो)– यहाँ जघन शब्द स्वाङ्ग वाची, उपसर्जन और असंयोगोपध हैं अदन्त प्रातिपदिक सुजधन से ङीष् प्राप्त है। जघन शब्द में बहुत अच् हैं–अतः प्रकृत सूत्र से ङीष् का निषेध हो गया । तब अदन्तलक्षण टाप् होकर रूप सिद्ध हुआ।

नख-मुखात् संज्ञायाम् 4.1.58

न ङीष्।

व्याख्याः नख और मुख –इन दो स्वाङ्गवाची शब्दों से ङीष् प्रत्यय न हो संज्ञा में।

पूर्व-पदात् संज्ञायाम् अ-गः 8.4.3

पूर्वपदस्थाद् निमित्तात् परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायाम् न तु गकार-व्यवधाने। शूर्प-णखा। गौर-मुखा। संज्ञायां किम्-ताम्र-मुखी-कन्या।

व्याख्याः नख–मुखादिति–पूर्वपद में स्थित निमित्त से पर नकार को णकार हो, पर गकार के व्यवधान में न हो।

शूर्प–णखा (शूर्पाणीव नखानि यस्याः–छाजके समान जिसके नख हैं–यह एक राक्षसी का नाम है जो रावण की गहिन थी)–यहाँ स्वाङ्गवाची नख शद से प्राप्त ङीष् का पूर्व सूत्र से निषेध हुआ। तब अदन्तलक्षण टाप् हुआ। फिर पूर्व पद शूर्प में स्थित निमित्त रकार से पर नख शब्द के नकार के स्थान में प्रकृत सूत्र से णकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

गौर–मुख (गौरं मुखं यस्याः–गौर मुखवाली, यह किसी का नाम है)– यहाँ मुख शब्द के स्वाङ्गवाची होने के कारण प्राप्त 'ङीष्' का प्रकृत सूत्र से निषेध हुआ। तब अदन्तलक्षण टाप् होकर रूप सिद्ध हुआ।

संज्ञायामिति–संज्ञा में ङीष् का निषेध हो ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि ताम्र–मुख (गौर मुखवाली कन्या)–यहाँ निषेध न हो। क्योंकि ताम्रमुखी संज्ञा नहीं, अतः स्वाङ्गक्षण ङीष् होकर रूप सिद्ध हो जायगा।

जातेर -स्त्रीविषयाद् अ-योपधात् 4.1.63

जाति-वाचि, यद् न च स्त्रियां नियतम् अयोपधम्, ततः स्त्रियां ङीष् स्यात्। तटी। वषली। कठी। बह्वची। जातेः किम्-मुण्डा। अ-स्त्रीविषयात् किम्-बलाका। अ-योपधात् किम्-क्षत्रिया।

व्याख्याः जातेरिति–जो शब्द जातिवाचक हो, नित्य स्त्रीलिङ्ग न हो और उसकी उपधा यकार न हो–ऐसे अदन्त प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय हो।

जाति से (1) जातिवाचक संज्ञा, (2) ब्राह्मण आदि जाति (3) अपत्य प्रत्ययान्त तथा (4) शाखाके पढ़नेवाला–ये चारों लिये जाते हैं। क्रमशः इनके उदाहरण दिये जाते हैं।

तटी–तट जातिवाचक है, यह नित्य स्त्रीलिङ्ग भी नहीं, इसकी उपधा यकार भी नहीं है। अतः इससे प्रकृत सूत्र से जातिलक्षण ङीष् होकर रूप बना।

वषली (वषल जाति की स्त्री)–यहाँ वषल शूद्र जाति है। अतः इससे प्रकृत सूत्र से जातिलक्षण ङीष् होकर रूप बना।

कठी (कठेन प्रोक्तमधीयाना कठ शाखा को पढ़नेवाली)–यहाँ कठ शब्द शाखावाचक है, कठ वेदकी एक शाखा है। अतः शाखावाची होने से यह जाति है। अतः प्रकृत सूत्र से यहाँ जातिलक्षण ङीष् होकर रूप सिद्ध हुआ।

बह्वची (बह्वचशाखामधीयानाः –बह्वच शाखा को पढ़नेवाली)–यहाँ बह्वच वेद की एक शाखा है, अतः शाखावाची होने से वह जाति है, अतएव प्रकृत सूत्र से जातिलक्षण ङीष् होकर रूप बना।

अपत्ययप्रत्ययान्त का उदाहरण मूल में नहीं दिया। औपगवी (उपगोरपत्यं स्त्री–उपगुकी सन्तान स्त्री जाति)–यहाँ अणन्त होने से 'टिड्–ढाण् 4.1.15' से प्राप्त ङीष् को बाधकर जातिलक्षण ङीष् होकर रूप सिद्ध हुआ। स्वर में भेद है।

जातेरिति–जाति से ही–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि मुण्डा (मुँड़ी हुई) यहाँ ङीप् न हो। यह उपर्युक्त जातिलक्षणों में किसी में नहीं आता।

अ–स्त्रीविषयादिति–नितयस्त्रीड़्गि न हो–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि वलाका (पक्षिविशेष)–यहाँ न हो। वलाका शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है, अतः इससे जातिलक्षण ङीष न हुआ। अदन्तलक्षण टाप् होकर रूप सिद्ध हुआ।

अ–योपधादिति–यकार उपधा में न हो–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि क्षत्रिय जातिकी स्त्री)–यहाँ जातिलक्षण ङीष् न हो। क्षत्रिय शब्द जातिवाचक है, पर इसकी उपधा यकार है।

(वा) योपध-प्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानाम् अप्रतिषेधः। हयी। गवयी। मुकयी। 'हलस्तद्धितस्य' इति य-लोपः-मनुषी।

व्याख्याः (वा) योषधेति–योषध के निषेध में हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य–इनको भी वर्जित नहीं समझना चाहिये अर्थात् योपध होने पर भी हय आदि से ङीष् प्रत्यय हो।

हयी (घोड़ी), गवयी (गवय स्त्री मादा–गवय गो सदश पशु होता है) और मुकयी मुकच पशु जाति की मादा)–इन शब्दों की उपधा यकार है,तो भी इनसे प्रकृत वार्तिक के द्वारा जातिलक्षण ङीष् हुआ।

मनुषी (मनुष्य जाति की स्त्री)–यहाँ योपध होने पर भी मनुष्य शब्द से प्रकृतवार्तिकके अनुसार ङीष् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार के लोप होने पर 'हलस्तद्धितस्य 6.4.150' से सकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

मानुषी–मानुष शब्द से जातिलक्षण ङीष् होने पर सिद्ध होता है।

मत्स्यस्येति–मत्स्य शब्द के यकार का ङी पर रहते लोप हो।

मत्सी (मछली)– यकारोपध होने पर भी मत्स्य शब्द से पूर्वोक्त वार्तिक के अनुसार से ङीष् प्रत्यय हुआं तब 'यस्येति च' से अकार का लोप होने पर प्रकृत वार्तिक से यकार का लोप होकर रूप बना गया।

इतो मनुष्य-जातेः 4.1.65

ङीष्। दाक्षी। (वा) मत्स्यस्य ङ्याम्। य-लोपः। मत्सी।

व्याख्याः मनुष्य जातिवाचक इकारान्त प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय हो।

'जातेरस्त्रीविषयाद्–'इत्यादि सूत्र अदन्त प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय करते हैं, अतः इकारान्त को प्राप्त नहीं थे। अतः प्रकृत सूत्र से इकारान्त प्रातिपदिक से उसका विधान किया गया।

दाक्षी (दक्षस्यापत्यं स्त्री–दक्ष की सन्तान स्त्री)–यहाँ दक्ष शब्द से अपत्य अर्थ में 'अत इञ् 4.1.95' इस सूत्र से इञ् प्रत्यय होकर सिद्ध 'दाक्षि' इस इकारान्त प्रातिपदिक से प्रकृत सूत्रसे ङीष् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से इकार का लोप होकर रूप बना।

ऊङ् उतः 4.1.66

उदन्ताद् अयोपधात् मनुष्य ज्ञाति-वाचिनः स्त्रियाम् ऊङ् स्यात्। कुरूः अ-योपधात् किम्-अध्वर्युः-ब्राह्मणी। (वा) श्वशुरस्योकाराकार-लोपश्च। श्वश्रूः

व्याख्याः ऊङ इति–उकारान्त अयोपध मनुष्य जाातिवाची प्रतिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय हो।

ऊङ् का ङकार इत्संज्ञक है।

कुरूः (कुरुजातेः स्त्री, कुरु जाति की स्त्री)– संज्ञा होने से कुरु शब्द जातिवाचक है, इसकी उपधा में यकार भी नहीं है। अतः उकारान्त अयोपध मनुष्यजाति–वाचक कुरु प्रातिपदिक से प्रकृत सूत्र से ऊङ् प्रत्यय हुआ। तब सवर्ण दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

अन्योपधादिति–यकारोपध न हो–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि अध्वर्युः ब्राह्मणी–अध्वर्यु शाखा को पढ़नेवाली'–यहाँ ऊङ् न हो। शाखावाचक होने से अध्वर्यु शब्द जातिवाचक है। अध्वर्यु वेद की एक शाखा है। उपधा में यकार होने से यहाँ ङङ् प्रत्यय नहीं हुआ।

(वा) श्वशुरस्येति– श्वशुर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय हो और शकार से पर उकार का तथा रकार से पर अकार का लोप हो।

उकार और अकार के लोप होने पर शकार और रकार हल् रह जाते हैं।

श्वशुर शब्द स 'श्वशुरस्य स्त्री' इस अर्थ में पुंयोगलक्षण ङीष् प्राप्त थां

यह ऊङ् प्रत्यय उसका बाधक है।

श्वश्रूः (श्वशूर की स्त्री, सास)–यहाँ श्वशुर शब्द से ऊङ् प्रत्यय और शकार से पर उकार का तथा रकार से पर अकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

पङ्गोश्च 4.1.68

पङ्गूः।

याख्याः पङ्गोरिति–उकारान्त पङ्गु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय हो।

जातिवाचक न होने के कारण पङ्गु शब्द की पूर्वसूत्र से ऊङ् प्राप्त नहीं था। इसलिये इस सूत्र के द्वारा विधान किया गया है।

पङ्गः (लङ्गड़ी)–यहाँ पङ्गु शब्द से प्रकृत सूत्र से ऊङ् प्रत्यय हुआ। तब सवर्ण दीर्घ होने पर रूप सिद्ध हुआ।।

ऊरूत्तरपदाद् औपभ्ये 4.1.69

उपमानवाचिपूर्वपदम् ऊरुत्तरपदं यत् प्रातिपदिकम् तस्माद् 'ऊङ्' यात्। करभोरूः।

व्याख्याः ऊरूत्तरेति–जिस प्रातिपादिक का पूर्वपद उपमान–वाची और उत्तरपद 'ऊरु' शब्द हो, उससे स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् शब्द हो, उससे स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय हो।

करभोरूः (करभौ इव ऊरू यस्याः–हथेली के किनारे के समान ऊरुवाली)–यहाँ करभ पूर्वपद उपमान है और उत्तरपद ऊरू है, अतः 'कुरुभोरु' इस प्रातिपादिक से ऊङ् प्रत्यय हुआ। तब सवर्ण दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च 4.1.70

अनौपम्यार्थ सूत्रम्। संहितोरूः। शफोरूः। लक्षणोरूः। वामोरूः।

व्याख्याः संहितेति– ऊरु उत्तरपदवाले प्रातिपदिक के पूर्वपद संहित, शफ, लक्षण और वाम हों तो उससे स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय हो।

अनौपम्यार्थमिति–यह सूत्र अनौपम्य के लिये है अर्थात् पूर्वपद उपमान जब न हो, तब यह सूत्र प्रवत्त होगा। उपमान पूर्वपद होने पर पूर्वसूत्र से ही ऊङ् हो सकता है। संहित आदि शब्द उपमान नहीं, अतः पूर्वसूत्र से ऊङ् सिद्ध न था, इसलिये इस सूत्र के द्वारा विधान किया गया।

संहितोरूः (संहितौ ऊरू यस्याः–जिसके ऊरु मिले हुए हों) शफोरू (शफौ ऊरु यस्याः– जिसके ऊरू मिले हुए हों) लक्षणोरुः लक्षणौ ऊरू यस्याः जिसके ऊरु अच्छे लक्षणवाले हों) और वामोरूः (वामोरु शब्दों से ऊङ् प्रत्यय होकर सिद्ध होते हैं।

शाङ्र्गरवाद्याो ङीन् 4.1.73

शाङ्र्गरवादेः आो योकारः, तदन्ताच् जाति-वाचिनो ङीन् स्यात्। शाङ्र्गरवी। वैदी। ब्राह्मणी।

व्याख्याः ङीन् के ङकार और नकार इत्संज्ञक हैं, केवल ई शेष रहता है। ङीन् प्रत्ययान्त शब्द नित् होने से आद्युदात्त होता है। इस प्रकार ङीप्, ङीष्, ङीन् इन तीनों के ईकार रूप होने पर भी स्वर में अन्तर है।

शाङ्र्गरवी (श्ङ्गरोपत्यं स्त्री– श्ङ्रु की स्त्री सन्तान)–यहाँ अपत्य प्रत्ययान्त होने से जातिवाचक होने के कारण शाङ्र्गरव शब्द से ङीन् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

वैदी (विदस्य अपत्य स्त्री–विद की स्त्री सन्तान)–यहाँ 'अनष्यानन्तर्ये विदादिभ्योा् 4.1.104' इस सूत्र से आ् प्रत्यय होकर सिद्ध हुए वैद शब्द से ङीन् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

ब्राह्मणी (ब्राह्मणजातीय स्त्री–ब्राह्मण जाति की स्त्री)–यहाँ जातिवाचक ब्राह्मण शब्द से जातिलक्षण ङीष् प्राप्त था, उसको बाधकर प्रकृत सूत्र से ङीन् प्रत्यय हुआ। तब 'यस्येति च' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

(ग. सू.) न-नरयोर्वद्धिश्च। नारी।

व्याख्याः (ग. सू.)–ननरयोरिति–न ओर नर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीन् प्रत्यय हो और वद्धि भी–न शब्द से वद्धि ऋकार को और नर शब्द में आदि अकार को होती है।

ऋकारान्त होने के कारण न शब्द से 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् प्राप्त या और नर शब्द से जातिलक्षण ङीष्।

नारी (नरजातीय स्त्री)— यहाँ न शब्द से प्रकृत गणसूत्र से ङीन् प्रत्यय और ऋकार को और नर शब्द के आदि अकार को वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

नर शब्द से भी प्रकृत गण सूत्र से ङीन् प्रत्यय और अकार को वद्धि तथा अन्त्य अकार का 'यस्येति च' से लोप होकर पूर्वोक्त 'नारी' रूप ही बना।

यूनस्तिः 3.1.77

युवन्'शब्दात् स्त्रियां 'ति' प्रत्ययः स्यात्। युवतिः।

व्याख्याः यून इति–युवन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ति प्रत्यय हो।

युवतिः[1] (युवास्थावाली स्त्री)–यहाँ युवन् शब्द से स्त्रीलिङ्ग से प्रकृत सूत्र से ति प्रत्यय हुआ। तब 'स्वादिष्सर्वनामस्थाने 4.4.17' से पूर्व की पद संज्ञा होने पर 'प्रातिपदिकान्तस्य 8.2.7' से नकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

(स्त्रीप्रत्यय प्रकरण समाप्त)

---

1. इससे भी सु आदि प्रत्यय लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से आते हैं।

'युवती' यह दीर्घ ईकारान्त शब्द 'सर्वतोक्तिन्नर्थात्' इस बह्वादि गण सूत्र से वैकल्पिक ङीष् के द्वारा अथवा 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से शत प्रत्यय होकर सिद्ध हुए 'युवत्' शब्द से उगित् होने के कारण 'उगितश्च' सूत्र से ङीष् प्रत्यय के द्वारा बनता है।

अध्याय–3

समास प्रकरण

केवलसमासः।

समासःपचधा। तत्र समसनं समासः।

स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः। प्रायेण पूवपदार्थप्रधानोव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तरपदार्थ-प्रधानस्तत्पुरुषस्ततीयः तत्पुरुषभेदःकर्मधारयः, कर्मधारय-भेदो द्विगु। प्रायेणान्यपदार्थ-प्रधानो बहुब्रीहिश्चतुर्थः। प्रायेणोभयपदार्थ-प्रधानो द्वन्द्वः पचमः।

व्याख्याः **समास**–इति–समास प्रच प्रकार का होता है।

तत्रेति–समसन–संक्षेप को समास कहते हैं।

अनेक पदों का एक पद बन जाना समसन होता है। समास का शब्दार्थ है संक्षेप, अनेक पदों का एक पद बन जाना संक्षेप ही है।

अब समास के पाचों प्रकारों के नाम और लक्षण क्रमशः बताये जाते हैं।

स चेति–वह समास विशेष नाम से रहित केवल–समास नामक प्रथम है अर्थात् जिस समास का कोई विशेष नहीं कहा गया, उसे केवल समास कहते हैं, यह समास का पहला प्रकार है।

जैसे–भूतपूर्वः (जो पहले हो चुका)–यहां 'सहं सुपा 2.1.4' से समास हुआ है। वह किसी विशेष समास के अधि ाकार में नहीं है, इसलिये केवल समास है।

प्रायेणिति–जिसमें प्रायः पूर्व पद का अर्थ प्रधान हो, वह अव्ययीभाव समास कहा जाता है, वह समास का दूसरा भेद है।

प्रधानता का निर्णय अग्रिम पदार्थ से अन्वय के द्वारा किया जाता है। जिस अर्थ का अन्वय अग्रिम पदार्थ के साथ होगा, वह प्रधान माना जाएगा।

जैसे–अधिहरि (हरि में)–यहां पूर्व पद अधि का अर्थ 'में' प्रधान है क्योंकि उसी का नाम अन्य पदार्थों से अन्वय होता है, इसलिये यह अव्ययीभाव समास है।

प्रायः कहने से–उन्मत्ता गङ्गा यत्र स उन्मत्तगङ्गो नाम देशः–जहां गङ्गा उन्मत्त है वह उन्मत्तगङ्ग नाम देश है– यहां उन्मत्तगङ्ग मे ंपूर्व पद का अर्थ प्रधान नहीं, अपितु देश का रूप अन्य पद का अर्थ प्रधान है, पर अव्ययी भाव के अधिकार में होने से यह भी अव्ययीभाव समास है। 'प्रायेण' यदि न कहा जाय तो इसकी अव्ययी भाव संज्ञा न हो सकेगी।

प्रायेणोत्तरेति–जिसमें प्राय उत्तरपद का अर्थ प्रधान हो, वह तत्पुरुष समास कहा जाता है। यह समास का तीसरा पद है।

जैसे–राजपुरुषः (राजा का आदमी, सरकारी आदमी) यहां उत्तरपद पुरुष का अर्थ प्रधान है, क्योंकि उसी का अन्वय आगे आनेवाले पदार्थों से होता है–इसलिये यह तत्पुरुष समास है।

प्राय कहने से जहां 'पचाना तन्त्राणां समाहारः—'पाच तन्त्रों का समाहार' इस विग्रह में समाहार अर्थ में तत्पुरुष होता है, वहां भी लक्षण घट जाय, अन्यथा समाहार अन्य पद का अर्थ है, उत्तरपद का अर्थ नहीं। प्राय कहने से इसकी भी तत्पुरुष संज्ञा हो जाती ह।

तत्पुरुषभेद-इति—तत्पुरुष का ही एक भेद कर्मधारय है। जहां विशेष्य और विशेषण का समास होता है, उसे कर्मधारय कहते हैं। यह तत्पुरुष का ही विशेष प्रकार है, क्योंकि यहां उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है।

जैसे—नीलोत्पलम् (नीलं च तत् उत्पलं च—नीला कमल)—यहां नील विशेषण और उत्पल विशेष्य का समास होता है। अतः यह कर्मधारय समास है।

कर्मधारयेति—कर्मधारय का एक प्रकार द्विगु है।

विशेष्य और विशेषण के समास में यदि विशेषण संख्यावाचक हो तो उसे द्विगु कहते हैं। जैसे—**पा्चगवम्-पचानां गवां समाहारः** पांच गौओं का समाहार—यहां विशेषण पच संख्यावाचक है, इसलिये यह द्विगु समास है

प्रायेणान्येति—जिस समास में प्रायः अन्य पद का अर्थ प्रधान हो, वह बहुब्रीहि होता है, यह चौथा समास है। जैसे—**लम्बकर्णः** लम्बे कानवाला—यहां लम्ब और कर्ण—इस समास के अन्तर्गत पदों से भिन्न पद का अर्थ प्रधान है, क्योंकि उसी अर्थ का और पदार्थों के साथ अन्वय होता है, इसीलिए यह बहुब्रीहि समास है।

प्रायः कहने का फल यह है कि बहुब्रीहि के अधिकार में आये हुए कुछ 'द्वित्राः' (दो या तीन) आदि समास भी बहव्रीहि कहे जाते हैं, अन्यथा उभय पदार्थ प्रधान होने के कारण उसे बहुब्रीहि न कहा जा सकेगा।

प्रायेणोभयेति—जिस समास में प्रायः दोनों पदों का अर्थ प्रधान न हो, वह पांचवां द्वन्द्व समास है। जैसे—**रामलक्ष्मणौ** (राम और लक्ष्मण)—यहां दोनों पदों का अर्थ प्रधान है, अतः यह द्वन्द्व समास है।

प्राय कहने का तात्पर्य यह है कि समाहार द्वन्द्व में समाहार अर्थ के अन्य पदार्थ होने पर भी संज्ञा हो जाती है। इन पांच समासों[1] में बहुब्रीहि और द्वन्द्व अनेक पदों के भी होते हैं, शेष दो—दो पदों के होते हैं।

1. इन समासों के नाम नीचे लिखी द्व्यर्थक सूक्ति में बड़े सुन्दर ढंग से आये हैं—

द्वन्द्वोस्मि द्विगुरहं गहे च मे सततमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्म धारय येनाहं स्यां बहुब्रीहिः।।

कोई व्यक्ति किसी मजदूर को अपने यहां नोकरी करने के लिये कह रहा है (शायद युद्ध का ही जमाना होगा, नौकर मिलते न होंगे—हे पुरुष, मैं द्वन्द्व हूं अर्थात् पति—पत्नी दो हैं—तुम्हें काम कम करना होगा, मैं द्विगु हूँ अर्थात् मेंरे पास केवल दो बेल अथवा गौ हैं—इसलिये पशुओं का कार्य भी कम है। मेरे घर में सदा अव्ययीभाव है अर्थात् कम खर्च किया जाता है, खर्च अधिक तब होता है जब कार्य अधिक हो। इसलिए तुम कर्म धारय अर्थात् नौरी स्वीकार कर लो, जिससे में बहुब्रीहि—अर्थात् बहुत धान्यवाला हो जाऊं, मेरे पास बहुत धान्य हो जाय।

समर्थः पदविधि 2.1.1

पदसम्बन्धो यो विधिः, स समर्थाश्रितो बोध्यः।

व्याख्याः पद सम्बन्ध की जो विधि हो, वह समर्थ पदों की ही होती है अर्थात् जहां सामर्थ्य होगा, वहीं पदविधि होती है।

पद अर्थात् सुबन्धको उद्देश्य बनाकर जो विधि होती है, उसे पदविधि कहते हैं। समास आदि विधियां पदविधियां हैं क्योंकि ये पदों को उद्देश्य करके ही होती है। सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है, सुबन्द पद होता है, इसलिये समास पदविधि है। पदविधि होने से समास उन्हीं पदों का होगा, जिनका परस्पर सामर्थ्य[1] होगा।

---

1. जहां पदों में सामर्थ्य न हो, वहां समास आदि पदविधि नहींहोती। जैसे—चतुरस्य राज्ञः पुरुष—यहां 'राज्ञः' और 'पुरुषः' का समास नहीं होता, क्योंकि 'राज्ञः' का संबंध 'चतुरस्य' के साथ भी हे, अतः उस बाह्य पद के प्रति साकाङ्क्ष होने के कारण यहां 'राज्ञः' और 'पुरुषः' का सामर्थ्य नहीं, अतः इनका समास नहीं होता। इसीलिये कहा गया है—**सविशेषाणनां वत्तिर्न वत्तस्य च विशेषणयोगो न**—सविशेषण पदों की वत्ति होने पर विशेषण का संबंध ही होता है। 'चतुरस्य राजपुरुषः' यहां राजन् का समास हो गया है, इसलिये इसके साथ 'चतुर' विशेषण का सन्बन्ध नहीं हो सकता।

सामर्थ्य का अर्थ है जिन पदों की समास आदि वत्ति होती हो, उनके अर्थों का परस्पर साकाङ्क्ष होना।

सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—1. व्यपेक्षा और 2. एकार्थीभाव।

आकाङ्क्षा आदि के कारण पदों का जो परस्पर संबंध होता है उसे व्यपेक्षा कहते हैं, वह वाक्य में होती है। जैसे—'राज्ञः पुरुषः' यहां दोनों पदों का परस्पर संबंध है, इसलिए यहां व्यपेक्षा—रूप सामर्थ्य है।

जहां पदार्थों की एक साथ उपस्थिति होती है, पथक् पथक् नहीं, वह एकार्थीभाव रूप सामर्थ्य होता है। यह पदार्थों की एक साथ उपस्थिति 'राजपुरुषः' इत्यादि वत्त (समास आदि) में ही होती है।

वत्ति किसे कहते है और कितने प्रकार की होती है? यह सब आगे इसी प्रकरण में मूल में ही बताया जाएगा।

प्राक् कडारात् समासः 2.1.3

'कडाराः कर्मधारये' 2.2.38 इत्यतः प्राक् 'समासः' इत्यधिक्रियते

व्याख्याः 'कडाराः कर्मधारये' द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के इस अन्तिम सूत्र से पूर्व सूत्र तक 'समास' इसका अधिकार है अर्थात् उस सूत्र से पूर्व तक सब सूत्र समास का विधान करते हैं।

सह सुपा 2.1.4

सुप् सुपा सह वा समस्यते समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक्। परार्थाभिधानं वत्तिः। कृत्-तद्धित-समासैकशेष-सनाद्यन्तधातु-रूपाः पुच वत्तयः। वत्यर्थावोधक' वाक्यं विग्रहः। स च लौकिको-लौकिकश्चेति द्विधा-तत्र 'पूर्वं भूतः' इति लौकिकः। :पूर्व अम् भूत सु' इत्यलौकिकः। भूतपूर्वः। 'भूत-पूर्व चरड्' इति निर्देशात् पूर्व-निपातः। (वा) इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च। वागर्थौ इव-वागर्थाविव।

इति केवलसमासः प्रथमः।

व्याख्याः सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है।

इस सूत्र में :सुब् आमन्त्रिते पराङ्वत् स्वरे 2.2.2' इस पूर्व सूत्र से 'सुप्' इस प्रथमान्त पद की अनुवत्ति आती है। ततीयान्त 'सुपा' पद है। प्रत्यय होने के कारण 'प्रत्ययग्रहणे तदन्त'ग्रहणम्' इस परिभाषा के बल से तदन्त का ग्रहण होता है।

समासत्वादिति—समास होने से प्रातिपदिक संज्ञा होगी। इससे 'सुपो धातु—प्रातिपदिकयोः 2.4.71' सूत्र से लोप हुआ।

परार्थेति—परार्थ के बोधन कराने को वत्ति कहते हैं।

प्रत्यय या अन्य पद के अर्थ को साथ लेकर जो विशिष्ट अर्थ प्रतीत होता है, उसे परार्थ कहते हैं। वत्ति से उसी परार्थ का बोध होता है

कृत्तद्धितेति—कृत्, तद्धित, समास, एकशेष और सनाद्यन्त धातु—ये पांच वत्तियां होती हैं।

कृत् प्रत्यय कृन्दत प्रकरण में बताए गए हैं। तद्धित प्रकरण में आगे बताये गए हैं।

समास और एकशेष—यहां बताये जा रहे हैं। सनाद्यन्त धातुरूप वत्ति नामधातु प्रकरण में आती है, सन् क्यच् आदि प्रत्यय इस वत्ति के कार्य हैं।

वत्यर्थेति— वत्ति के अर्थ का बोध करानेवाले वाक्य को विग्रह कहते हैं। जैसे— **राजपुरुषः** यह समास वत्ति है, इसका अर्थ 'राज्ञःपुरुषः' इस वाक्य के द्वारा प्रतीत होता है—इसलिये यह विग्रह है। इसी प्रकार 'पुत्रीयति' इस सनाद्यन्त धातुरूप वहत्ति का विग्रह 'पुत्रमानम् इच्छति' यह वाक्य है।

स चेति—वह विग्रह दो प्रकार का होता है—1. लौकिक और 2. अलौकिक।

लौकिक विग्रह उसे कहते हैं, जिसका लोक में प्रयोग किया जाता है। जैसे—'राजपुरुषः' का 'राज्ञःपुरुषः'। इसका लोक में प्रयोग होता है।

अलौकिक विग्रह उसे कहते हैं, जिसका लोक में प्रयोग नहीं होता। जैसे—'राजपुरुषः' का 'राजन् ङस् पुरुष सु'। इसका लोक में प्रयोग नहीं होता, इसीलिये इसे अलौकिक कहा जाता है, इसकी तो व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया के लिये कल्पना की गई है।

'भूतपूर्वः' इस प्रकृत समास वत्ति के लौकिक और अलौकिक विग्रह यहां मूल में दिये गये हैं। 'पूर्वभूतः, पहले हुआ' यह प्रयोग के योग्य होने से लौकिक विग्रह है और 'पूर्व अम् भूत सु' यह प्रयोग के योग्य न होने से अलौकिक है।

भूतपूर्वः (जो पहले हुआ)—यहां 'पूर्व भूतः' इस लौकिक और 'पूर्व सम् भूत सु' इस अलौकिक विग्रह में 'सह असुपा' इस प्रकृत सूत्र से सुबन्त 'पूर्वम्' का 'भूतः' इस सुबन्त के साथ समास हुआ। तब समास होने के कारण 'कृत् तद्धित—समासाश्च 1.2.46' इस सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा हुई और —सुपो धातुप्रातिपदिकयो : 2.4.71' से सुप् 'अम' और 'सु' का लोप हुआ। तब 'पूर्वभूत' यह प्रातिपदिक बना। 'भूतपूर्वे चरेट' इस पाणिनि सूत्र के प्रमाण से 'भूत' शब्द को पहले रखा गया, यद्यपि उसे 'पूर्वं भूतः' इस विग्रह में बताये गये क्रम के अनुसार 'पूर्व' शब्द के बाद आना चाहिये था। इस प्रकार सिद्ध हुए 'भूतपूर्व' प्रातिपदिक के प्रथमा के एकवचन में यह रूप सिद्ध हुआ।

(वा) इवेनेति—'इव' इस अव्यय पद के साथ सुबन्त का समास होता है और विभक्ति का लोप नहीं होता।

समास के तीन फल हैं—1. एक पद बन जाना, 2. विभक्ति का लोप, 3. एक पद बन जाने से एक स्वर होना।

इव के समास में विभक्ति के लोप का निषेध कर दिया गया है, इसलिये संभवतः एक पद भी समझा जाए। परन्तु एक स्वर होना फल फिर भी है। इसी फल के लिये यहां समास का विधान किया गया है।

वागर्थाविव—यहां 'वागर्थौ' का समास 'इव' के साथ हुआ है तथा विभक्ति का लोप नहीं हुआ।

केवल समास समाप्त

अथ अव्ययी भावः

अव्ययीभावः 2.1.5

अधिकारोयं प्राक् तत्पुरुषात्

व्याख्याः 'अव्ययीभाव' इस सूत्र का 'तत्पुरुषः 2.1.22' इस आगे आने वाले सूत्र से पूर्व के सूत्रों तक अधिकार है अर्थात् तत्पुरुष के पूर्व जितने सूत्र समास करते हैं, उन सब में यह सूत्र पहुंचता है और उन सूत्रों के द्वारा किये हुए समासों की अव्ययीभाव संज्ञा करता है।

अव्ययं विभक्ति-समीप-समद्धि-व्यद्धयर्थाभावात्यया-संप्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथानुपूर्व्य-यौगपद्य-सादश्य-संपत्ति-साकल्यान्त-वचनेषु 2.1.6

विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते। प्रायेणाविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणास्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ-'हरि ङि अधि' इति स्थिते।

व्याख्याः **अव्ययीभाव इति**—1. विभक्ति, 2. समीप, 3. समद्धि, 4. समद्धि का नाश, 5. अभाव, 6. नाश, 7. अनुचित, 8. शब्द की अभिव्यक्ति, 9. पश्चात्, 10. यथा, 11. क्रमशः, 12. एक साथ, 13. समानता, 14. संपत्ति, 15. सम्पूर्णता और अन्त तक—इन 16 सोलह अर्थों में वर्तमान अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है।

प्रायेणेति—प्रायः जिस समास का विग्रह न हो उसे नित्य समास कहते हैं अथवा प्रायः जिसका अपने पदों से विग्रह नहीं होता अर्थात् जिन शब्दों का समास हुआ हो उन शब्दों के द्वारा जिसका विग्रह न हो, वह नित्यसमास होता है।

यहां विग्रह से तात्पर्य लौकिक विग्रह का है, अलौकिक विग्रह तो 'सभी समासों का होता है। लौकिक विग्रह में समास के सभी अवयव आयें तो भी नित्वसमास होता है।

यदि समास का कोई अवयव विग्रह में आ जाए तो भी नित्य समास होता है। जैसे—'अधिहरि' यह समस्त पद है। 'अव्ययं विभक्ति—' सूत्र से यहां विभक्त्र्थ में समास हुआ है। यह नित्यसमास है। इसका लौकिक विग्रह

है—हरौ। यहां समास का अवयव 'हरि' शब्द विग्रह में आ गया है, पर अधि शब्द नहीं आया, इसलिये समासके अवयव सभी पदों के विग्रह में न आने के कारण यह नित्य समास है। अधिहरि शब्द नित्य समस्त रूप में ही प्रयुक्त हो सकता है। अधि शब्द वाक्य में स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त नहीं हो सकता।

अधिहरि (हरि में)—यहां लौकिक विग्रह है—'हरौ' और अलौकिक विग्रह है—'हरि ङि अधि'। इस अलौकिक विग्रह में समास हुआ है। 'अधि' अव्यय सप्तमी विभक्ति के अर्थ अधिकरण का वाचक वर्तमान है। 'हरि ङि' यह सुबन्त है। इसके साथ 'अधि' अव्यय का प्रकृत सूत्र से समास होता है।

समास होने पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किस शब्द को पहले रखा जाए। इस प्रश्न का समाधान करने के लिए अग्रिम सूत्र है।

प्रथमा-निर्दिष्टं समास उपसर्जनम् 1.2.43

समास-शास्त्रे प्रथमा-निर्दिष्टम् उपसर्जनसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः **प्रथमेति**—समास शास्त्र में अर्थात् समास करने वाले सूत्र में जो पद प्रथमान्त पढ़ा गया हो, उस के द्वारा विग्रह वाक्य में स्थित जिस पद का बोध हो वह उपसर्जन—संज्ञक हो।

जैसे प्रकृत में समासशास्त्र है पूर्वोक्ति 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादि सूत्र, इसमें 'अव्ययम्' पद प्रथमान्त आया है। इसके द्वारा 'हरि ङि' इस अलौकिक विग्रह वाक्य में स्थित 'अधि' पद का ज्ञान होता है, अतः इसकी उपसर्जन संज्ञा हुई।

उपसर्जनं पूर्वम् 2.2.30

समासे उपर्सनं प्राक् प्रयोज्यम्। इति 'अधेः' प्राक् प्रयोगः सुपो लुक्, एकदेश-विकृतस्यानन्यत्वात् प्रातिपदिक-संज्ञाया स्वाद्यूत्पत्तिः, अव्ययीभावश्च' इत्यव्ययत्वात् सुपो लुक-अधिहरि।

व्याख्याः **उपसर्जनमिति**—समास में उपसर्जन का पहले प्रयोग हो।

इस सूत्र के द्वारा उपर्युक्त उदाहण में उपसर्जन संज्ञक 'अधि' पद का पूर्व निपात अर्थात् पहले प्रयोग हुआ।

पूर्व सूत्र से जो उपर्सन संज्ञा होती है, उसका फल है पूर्व—निपात अर्थात् पद का पहले रखा जाना।

पहले यह देखना चाहिये कि किस सूत्र से समास होता है उस सूत्र में प्रथमान्त पद कौन है। इसके बाद अलौकिक विग्रह में ढूंढिये कि समासशास्त्रस्थ प्रथमान्त पद से किसका ग्रहण होता है, बस उस पद को पहले रखिए।

हिन्दी में समासशास्त्रों का अर्थ करते समय प्रायः प्रथमान्त का अर्थ सम्बन्धकारक जोड़कर किया जाता है और ततीयान्त का 'साथ' शब्द जोड़कर। जैसे—प्रकृत 'अव्ययं विभक्ति'—सूत्र में प्रथमान्त पद 'अव्यव' है उसका अर्थ किया जाता है—'अव्यय पद का' और 'सुपा' की अनुवत्ति आती है, वह पद ततीयान्त है, उसका अर्थ किया जाता है 'सुबन्त के साथ'। हिन्दी में अर्थ करते हुए जिस शब्द के साथ सम्बन्ध—कारक का 'का— चिह्न जोड़ा जाता है, उस शब्द से अलौकिक विग्रह वाक्य के जिस पद का ग्रहण होना हो, उसको समास में पहले रखना चाहिए।

सुप इति—सुप् का लुक् हुआ अर्थात् 'अधि हरि ङि' यहां अधि का पूर्वनिपात होने पर प्रातिपदिक के अवयव सुप् ङि का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः 2.4.71' से लोप हो गया। तब 'अधिहरि' यह शब्द बना।

एकदेशेति—एकदेश जिसका विकृत होता है, वह अन्य नहीं होता अर्थात् एकदेशविकृत न्याय से 'अधिहरि' की प्रातिपदिक संज्ञा है ही। कहने का अभिप्राय यह है कि सुप् का लोप होने पर प्रातिपदिक विकृत हो गया। परन्तु एकदेशविकृत न्याय से उसे प्रातिपदिक ही मानकर सु आदि किये गये।

अव्वयीभावश्चेति—'अव्ययीभावश्च 1.1.41।।' इस सूत्र से 'अधिहरि' इस समस्त पद का अव्ययीभाव होने के कारण अव्यय संज्ञा हुई और इसीलिए पुनः समस्त पद से आये हुए सुप् का 'अव्ययादाप्सुपः 2.4.28।।' से लोप हुआ। इस प्रकार 'अधिहरि' रूप सिद्ध हुआ।

अव्ययीभावश्च 2.4.18

अयं नपुंसकं स्यात्। गाः पातीति गोपास्तस्मिन्निति-अधिगोपम्।

व्याख्याः **अव्ययीभावश्चेति**—अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग होता है।

यहां इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि 'अव्ययीभावश्च' इस प्रकार एक आकार होने पर भी अव्ययीभाव समास की अव्यय संज्ञा और नपुंसकलिङ्ग विधान करनेवाले दो भिन्न सूत्र हैं। अव्यय संज्ञा करनेवाला सूत्र (1.1.41) पहले अध्याय के पहले पद का इकतालीसवां सूत्र है और नपुंसक विधान करनेवाला (2.4.18) दूसरे अध्याय के चतुर्थ पाद का अठारहवां।

अधिगोपम् (ग्वाले में)—'गोपि' इस लौकिक विग्रह और 'गोपा ङि अधि' इस अलौकिक विग्रह में 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादि सूत्र से विभक्ति सप्तमी के अर्थ में वर्तमान अधि—अव्ययम् प्रथमान्त पद के द्वारा बोध्य होने से 'अधि' की 'प्रथमा—निर्दिष्टं समास उपसर्जनम 1.2.43' इस सूत्र के द्वारा उपसर्जन संज्ञा होने के कारण पूर्व प्रयोग हुआ। फिर प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सुप् ङि का लोप होकर 'अधिगोपा' शब्द बना। अव्ययीभाव होने से प्रकृत सूत्र से वह नपुंसकलिङ्ग हुआ। तब 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपिकस्य' से ह्रस्व होने पर 'अधिगोप' शब्द बना और प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

915 नाव्ययीभावादिति— अदन्त अव्ययीभाव से पर सुप् का लोप न हो, उसके स्थान में अम् आदेश हो, पचमी विभक्ति को छोड़कर।

ततीया-सप्तम्योर्बहुलम् 2.4.84

अदन्ताद् अव्ययीभावात् ततीया-सप्तम्योबर्हुलम् 'अम्' भावः स्यात्। उप-कृष्णम्, उप-कृष्णेन। मद्राणां समद्धिः, सु-मद्रम्। यवनानां व्यद्धिः-दुर्यवनम्। मक्षिकाणाम् अभावः-निर्मक्षिकम्। हिमस्यात्ययः-अति-हिमम्। निद्रा संप्रति न युज्यत इति-अति-निद्रम्। हरिशब्दस्य प्रकाशः-इति-हरि। विष्णोःपश्चाद्-अनुविष्णु। योग्यता-वीप्सा-पदार्थानतिवत्ति- सादश्यानि यथार्थः-रूपस्य योग्यमनुरूपम्, अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम, शक्तिमनतिक्रम्य-यथाशक्ति।

व्याख्याः **ततीयेति**— अदेन्त अव्ययीभाव से पर ततीया और सप्तमी को बहुलता से 'अम्' आदेश हो।

इस प्रकार अदन्त अव्ययीभाव शब्द के पचमी में सदा और ततीया तथा सप्तमी में विकल्प से रूप बनते हैं, शेष [1] विभक्तियों को 'अम्' आदेश होने से विभक्त्यन्त रूप नहीं बनते।

2 उपकृष्णम्, उपकृष्णेन—'कृष्णस्य समीपम्' इस लौकिक विग्रह तथा 'कृष्ण ङस् इस अलौकिक विग्रह में समीप अर्थ में वर्तमान उप अव्यय का 'कृष्ण ङस्' इस सुबन्त के साथ 'अव्ययं विभक्ति—' से समास हुआ। 'प्रथमानिर्दिष्टम—'से उप का पूर्व निपात होने पर सुप् का लोप हुआ। तब 'उपकृष्ण' शब्द बना। ततीय आने पर प्रकृत सूत्र से उसे 'अम्' आदेश विकल्प से हुआ। इस प्रकार उपर्युक्त दो रूप बने।

अव्ययं विभक्ति—' सूत्र के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं। 'अधिहरि' और 'अधिगोपम' विभक्त्यर्थ के और 'उपकृष्णम्' समीप अर्थ का उदाहरण है। आगे क्रमशः अन्य उदाहरण दिये जा रहे हैं।

3 समद्धि— मद्राणां समद्धि। सु मद्रम् (मद्रदेश के लोगों की समद्धि)—यहां समद्धि अर्थ में वर्तमान सु अव्यय का 'मद्राणाम्' इस सुबन्त के साथ समास हुआ।

4 व्यद्धि— यवनानां व्यद्धिः दुर्यवनम् (यवनों की ऋद्धि का अभाव)—यहां व्यद्धि अर्थ में वर्तमान दुर अव्यय का 'यवनानाम्' इस सुबन्त के साथ समास हुआ।

5 अभाव—मक्षिकाणाम् अभावो **निर्मक्षिकम्** (मक्खियों का अभाव, सुनसान)—यहां अभाव अर्थ में वर्तमान निर् अव्यय का 'मक्षिकाणाम्' सुबन्त के साथ समास हुआ। 'निर्मक्षिका' बन जाने पर नपुंसक होने के कारण इसे ह्रस्व हो जाता

---

1. इस नियक को ध्यान में रख्पने से 'प्रत्येकस्य इस प्रकार अशुद्ध प्रयोग से बचा जा सकता है। 'प्रत्येक' अव्ययीभाव है—इससे परे विभक्ति को 'अम्' आदेश होकर षष्ठी में भी 'प्रत्येकम्' ही रूप बनेगा।

है। इस प्रकार 'निर्मक्षिक' अकारान्त शब्द बनता है। फिर सुप् को अम् आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

'निर्मक्षिकम्' शब्द का प्रयोग 'सुनसान–जहां कोई न हो' अर्थ में होता है।

6 अत्यय (विनाश)–हिमस्यात्ययोः ति–हिमम् (बर्फ का नाश)–यहां नाश अर्थ में वर्तमान अति अव्यय का समास हुआ।

7 अ-संप्रति–(अनौचित्य) निद्रा संप्रति न युज्यते इति–अति–निद्रम् (इस समय निद्रा उचित नहीं)–यहां असंप्रति अर्थ में वर्तमान 'अति' अव्यय का 'निद्रा' इस सुबन्त के साथ समास होने पर हस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' से ह्रस्व होकर पूर्वोक्त प्रकार से रूप सिद्ध हुआ।

8 शब्द-प्रादुर्भाव–हरिशब्दस्य प्रकाश इति–हरि (हरि शब्द का प्रादुर्भाव) यहां प्रकाश अर्थ में वर्तमान 'इति' अव्यय का 'हरेः' इस सुबन्त के साथ समास हुआ।

9 पश्चात्-विष्णोः पश्चाद् अनु–विष्णु (विष्णु के पीछे)–यहां पश्चात् अर्थ में वर्तमान पश्चाद्' अव्यय का 'विष्णो' इस सुबन्त के साथ समास हुआ।

10 यथा शब्द के चार अर्थ हैं–1. योग्यता, 2. वीप्सा–बार बार होना, 3. पदार्थ का अतिक्रमण न होना, 4. सादश्य इन चारों अर्थों में वर्तमान अव्यय का सुबन्त के साथ समास होता है। **क्रमशः** उदाहरण ये हैं–1. **योग्यता–रूपस्य योग्यम्**-अनुरूपम् (रूप के योग्य)–यहां यथा का योग्यता अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का समास हुआ 2. **वीप्सा**–अर्थमर्थ प्रति **प्रत्यर्थम्** (प्रति अर्थ)–यहां यथा का वीप्सा में वर्तमान 'प्रति' अव्यय का सुबन्त 'अर्थ' के साथ समास हुआ। **3 पदार्थानिवत्ति**– शक्तिमनतिक्रम्य **यथाशक्ति** [शक्ति का अतिक्रमण न करके अर्थात् जितनी शक्ति है]–यहां पदार्थानतिवत्ति अर्थ में वर्तमान 'यथा' अव्यय का समास हुआ।

अव्ययीभावे चाकाले 6.3.81

सहस्य सः स्याद् अव्ययीभावे, न तु काले। हरेः सादश्यम्-सहरि। ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण-इति-अनुज्येष्ठम्। चक्रेण युगपत्-सचकम्। सदशः सख्या-स-सखि। क्षत्त्राणां संपत्तिः। तणमप्यपरित्यज्य-सतणम् अत्ति। अग्निग्रन्थपर्यन्तम् अधीते-साग्नि।

व्याख्याः अव्ययीभावे इति–सह को 'स' आदेश हो अव्ययीभाव समास में, परन्तु काल अर्थ में न हो।

4 सादश्य– हरेः सादश्यम् सहरि (हरे की समानता) यहां यथा के अर्थ सादश्य मे वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'हरेः' के साथ समास हुआ। तब 'सह' को प्रकृत रूप से 'स' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

11 आनुपूर्व्य–ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण इति **अनुज्येष्ठम्** (ज्येष्ठ के क्रम से)–यहीं आनुपूर्व्य अर्थ में वर्तमान 'अनु' अव्यय का 'ज्येष्ठस्य' इस सुबन्त के साथ समास हुआ।

12 **योगपद्य** (एक साथ।) चक्रेण युगपत् सचक्रम (चक्र के एकदम साथ)–यहां यौगपद्य अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का समास हुआ और सह को 'स' आदेश।

ससखि–'सदशः संख्या' इस लौकिक विग्रह में तथा 'सखि टा 'सह' इस अलौकिक विग्रह में सादश्य अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'संख्या' के साथ समास होने पर सुप् का लुक् तथा प्रकृत सूत्र से सह को स आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

14 संपत्ति–क्षत्राणां संपत्तिः **सक्षत्त्रम्** (क्षत्रियों की संपत्ति)–यहां संपत्ति अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का 'क्षत्राणाम्' सुबन्त के साथ समास और 'सह' को 'स' आदेश हुआ।

15–साकल्य-सम्पूर्णता। तणमप्यपरित्यज्य सतणम् अत्ति। (तण को भी न छोड़कर अर्थात् सब खा जाता है)–यहां साकल्य अर्थ में वर्तमान सह अव्यय का 'तणम्' सुबन्त के साथ समास हुआ और 'सह' को 'स' आदेश।

16 अन्त–अग्निग्रन्थ–पर्यन्तम् साग्नि (अग्नि–चयन ग्रन्थ तक पढ़ता है)–यहां अन्त अर्थ में वर्तमान 'सह' अव्यय का सुबन्त 'अग्निना' के साथ समास हुआ और 'सह' को 'स' आदेश। यहां अग्नि शब्द अग्नि का चयन जिस ग्रन्थ में आया है उसके अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इस प्रकार 'अव्ययं विभक्ति–' सूत्र के सारे उदाहरण आ गये। समास होने पर प्रातिपादिक संज्ञा, अव्यय का पूर्व प्रयोग, सुप् का लोप आदि कार्य सब में होते हैं।

नदीभिश्च 2.1.20

नदीभिः सह संख्या समस्यते। (वा) समाहारे चायमिष्यते। पच-गङ्गम्। द्वियमुनम्।

व्याख्याः **नदीभिश्चेति**—नदी–विशेष के वाचक के साथ संख्यावाचक का समास होता है।

(वा) **समाहार**—यह समाहार में होता है अर्थात् समस्त पद का अर्थ समाहार होता है।

पचम्-गङ्गम (पांच गङ्गाओं का समाहार)—यहां पचन् संख्यावाचक का नदी–विशेषवाचक गङ्गा शब्द के साथ प्रकृत सूत्र से समास हुआ। तब प्रथमानिर्दिष्ट होने से संख्यावाचक का पूर्व निपात होने पर सुप् का लोप हुआ। 'नकार' का 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इस सूत्र से लोप हुआ और अव्ययीभाव होने के कारण नपुंसक होने से ह्रस्व होकर 'पचगङ्ग शब्द बना। सुप् का अम् आदेश होने पर रूप बना।

इसी प्रकार–द्वियमुनम् (द्वयो यमुनयोः समाहारः–दो यमुनाओं का समाहार) की भी सिद्धि होती है।

तद्धिताः 4.1.76

आ पचमसमाप्तेरधिकारोयम्।

व्याख्याः **तद्धिता इति**—पांचवें अध्याय की समाप्ति तक तद्धित का अधिकार है अर्थात् इस सूत्र से आगे पांचवें अध्याय तक जितने सूत्र हैं, उनके द्वारा जिन प्रत्ययों का विधान होता है उन सभी प्रत्ययों को तद्धित कहा जाता है।

तद्धित संज्ञा का फल तदन्त शब्दों की 'कृत्–तद्धित–समासाश्च 1.2.46' सूत्र से प्रातिपादिक संज्ञा होना है।

अव्ययीभावे शरत् प्रभतिभ्यः 5.4.107

शरदादिभ्यष्टच् स्यात् समासान्तोव्ययीभावे। शरदः समीपम् उपशरदम्। प्रतिविपाशम्। (ग.सू.) जराया जरस्। उपजरसमित्यादि।

व्याख्याः **अव्ययीभावे इति**—शरद् आदि शब्दों से टच् प्रत्यय समासान्त हो अव्ययीभाव समास में।

टच् के टकार और चकार इत् संज्ञक हैं। केवल अकार बच रहता है। टच् की तद्धित संज्ञा पूर्व सूत्र से होती है। तब प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सु आदि विभक्ति की उत्पत्ति होती है।

उपशरदम् (शरदः समीपम् शरद् के समीप)—यहां समीप अर्थ में वर्तमान 'उप' अव्यय का 'शरदः' इस सुबन्त के साथ 'अव्ययं' विभक्ति–' इस सूत्र से समास हुआ। प्रकृत सूत्र से तद्धित संज्ञक समासान्त प्रत्यय टच् होने पर 'उपशरद' अकारान्त शब्द बना। फिर सुप् को अम् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्रतिविपाशम् (विपाशाया अभिमुखम्–विपाशा व्यास नदी की ओर)—यहां 'लक्षणेनाभि–प्रती आभिमुख्ये 2.1.14'' सूत्र से आभिमुख्य–ओर–अर्थ में प्रति निपात का सुबन्त विपाशः के साथ समास हुआ। प्रकृत सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय होकर पूर्वोक्त प्रकार से रूप सिद्ध हुआ।

(ग. सू.) **जराया इति**—समास में जरा शब्द की जरस् आदेश और समासान्त टच् प्रत्यय हो।

यह शरदादि गण का सूत्र है। इसके द्वारा टच् समासान्त के साथ जरा शब्द के स्थान में जरस् आदेश का भी विधान किया गया है।

उपजरसम् (जरायाः समीपम्, बुढ़ापे के निकट)—यहां समीप अर्थ में वर्तमान अव्यय 'उप' का 'जरायाः' सुबन्त के साथ समास होने पर प्रकृत गणसूत्र से जरा शब्द को जरस् आदेश और समासान्त टच् प्रत्यय होने पर अकारान्त 'उपजरस' शब्द बना। फिर सुप् और उसको अम् आदेश होकर रूप बना।

अनश्च 5.4.10

अन्नन्ताद् अव्ययीभावात् टच् स्यात्।

व्याख्याः **अनश्चेति**—अन्नन्त अव्ययीभाव से समासान्त टच् प्रत्यय हो।

नस्तद्धिते 6.4.144

नान्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते। उपराजम्। अध्यात्मम्।

व्याख्याः **नस्तद्धिते इति**—नान्त भसंज्ञक टि का लोप हो तद्धित प्रत्यय परे रहते।

उपराजम् (राजा के समीप)—'राज्ञः समीपम्' यह लौकिक और 'राजन् ङस् उप' यह अलौकिक विग्रह है। यहां 'अव्ययं विभक्ति—' से समीप अर्थ में वर्तमान 'उप' अव्यय का सुबन्त 'राज्ञः' के साथ समास हुआ। समासशास्त्र में स्थित प्रथमान्त 'अव्ययम्' पद से योग्य होने के कारण उपसर्जन संज्ञा हाने पर 'उप' का पूर्वनिपात हुआ। फिर सुप् का लोप होने पर अन्नन्त अव्ययीभाव 'उप राजन्' से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ और टि अन् का 'नस्तद्धिते' से लोप होकर 'उपराज' अकारान्त शब्द बना। सुप् को अम् होने पर रूप सिद्ध हुआ।

अध्यात्मम् (आत्मा के विषय में)—'आत्मनि' इस लौकिक और 'आत्मन् ङि अधि' इस अलौकिक विग्रह में विभक्ति सप्तमी के अर्थ में वर्तमान 'अधि' का 'आत्मनि' इस सुबन्त के साथ समास हुआ। फिर अधि का पूर्वनिपात सुप् का लुक् होने पर 'अनश्च' से समासान्त टच् प्रत्यय और 'नस्तद्धिते' से टि का लोप हुआ। तब 'अध्यात्म' इस अकारान्त प्रातिपदिक से सुप् आया, उसे 'अम्' आदेश हुआ।

नपुंसकाद् अन्यतरयाम् 5.4.101

अन्नन्तं यत् क्लीबम् तदन्ताद् अव्ययीभावात् टज् वा स्यात्। उपचर्मम्, उपचर्म।

व्याख्याः **नपुंसकादिति**—अन्नन्त जो नुंसकलिङ्ग शब्द, तदन्त अव्ययीभाव से टच् प्रत्यय हो विकल्प से।

उपचर्मम्, उपचर्म (चर्म के समीप)—'चर्मणः समीपम्' इस लौकिक और 'चर्मन् ङस् उप' इस अलौकिक विग्रह में अव्यय 'उप' का सुबन्त 'चर्मणः' के साथ समास होने पर 'उप' का पूर्वनिपात और सुप् का लोप होकर उपचर्मन् यह रूप बना। यहां अन्नन्त नपुंसकलिङ्ग 'चर्मन्' है। तदन्त अव्ययीभाव से टच् प्रत्यय विकल्प से हुआ। टच् पक्ष में 'नस्तद्धिते' से टि 'अन्' का लोप होने पर अकारान्त शब्द बना और तब सुप् को अम् आदेश होने पर रूप सिद्ध हुआ। अभावपक्ष में नान्त ही शब्द रहेगा और उसी प्रकार रूप बनेंगे।

झयः 5.4.111

झयन्ताद् अव्ययीभावत् टच् वा स्यात्। उपसमिधम्, उपसमित्।

व्याख्याः **झय इति**—झयन्त अव्ययीभाव से टच् विकल्प से हो।

उपसमिधम्, उपसमित् (समिध के समीप)—यहां भी पूर्ववत् समास आदि होते हैं प्रकृत सूत्र से टच् प्रत्यय विकल्प से हुआ। टच् पक्ष में अकारान्त शब्द बन जाने पर सुप् को अम् आदेश होकर पहला रूप बना। अभावपक्ष में धकारान्त ही शब्द रहने से हलन्त नपंसकलिङ्ग शब्द के जैसे रूप बनते हैं, प्रथमा के एकवचन का ऊपर रूप दिया गया है।

अव्ययीभाव समाप्त

अथ तत्पुरुषसमास

तत्पुरुषः 2.1.22

अधिकारोयम् प्राग् बहुव्रीहेः।

व्याख्याः **तत्पुरुष इति**—यह अधिकार 'शेषो बहुव्रीहिः' इस सूत्र से पहले तक है अर्थात् बहुव्रीहि के पूर्व समास विधान करने वाले सूत्रों में इसका अधिकार है, उनसे जो समास होता है, वह तत्पुरुष होता है।

द्विगुश्च 2.1.23

द्विगुरपि तत्पुरुष-संज्ञक-स्यात्।

व्याख्याः **द्विगुरिति**—द्विगु भी तत्पुरुष—संज्ञक हो।

तत्पुरुष में उत्तरपद का अर्थ प्रधान रहता है, उसी का अन्वय अन्य पदार्थों में होता है, यह पहले कहा जा चुका है।

यह भी बताया जा चुका है कि तत्पुरुष समास दो पदों का होता है। उन दो पदों में पहला पद प्रथमान्त को छोड़कर अन्य–विभवत्यन्त होता है और उत्तरपद के अर्थ के प्रधान होने के कारण आगे अन्वित होने से अर्थानुसार उसमें विभक्ति रहती है। परन्तु समास करते समय उसे प्रायः प्रथमान्त रखा जाता है, प्रथमान्त से ही विग्रह किया जाता है।

जब आगे तत्पुरुष समास करनेवाले सूत्र आते हैं। वे क्रमशः द्वितीयान्त आदि पदों का समास विधान करते हैं। उनमें पहले द्वितीयान्त का समास विधान करने वाला सूत्र दिया जाता है।

द्वितीया-श्रितातीत-पतित-गतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः 2.1.24

द्वितीयान्तं श्रितादि-प्रकृतिकैः सुबन्तैः सह समस्यते वा, स च तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः–कृष्ण-श्रितम् इत्यादि।

व्याख्याः **द्वितीयेति**–द्वितीयान्त पद का श्रित, अतीत (बीता हुआ), पतित, गत, अत्यस्त (फेंका हुआ), प्राप्त और आपन्न, इन प्रातिपदिकों से बने हुए सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है।

कृष्णश्रितः (कृष्ण के आश्रित)–'कृष्णं श्रितः' इस लौकिक विग्रह और 'कृष्ण अम् श्रित सु' इस अलौकिक विग्रह में द्वितीयान्त 'कृष्णम्' का श्रित शब्द से बने 'श्रितः' इस सुबन्त के साथ प्रकृत सूत्र से समास हुआ। समासशास्त्र 'द्वितीया–' इस प्रकृत सूत्र में प्रथमान्त पद है 'द्वितीया', उससे बोध होता है विग्रह में स्थित 'कृष्णम्' पद का उसकी 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् 1.2.43'' से उपसर्जन संज्ञा होती है और 'उपसर्जनं पूर्वम् 2.3.30' से उसका पूर्व प्रयोग। फिर 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः 2.4.71' से सुप् 'अम्' और 'सु' का लोप होने पर 'कृष्णश्रित' यह समस्त प्रातिपदिक बना। इससे सु आदि की उत्पत्ति हुई। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार–आशाम् अतीतः–**आशातीतः** (जो आशा को पार कर गया हो अर्थात् आशा से अधिक हो) नरक पतितः–**नरक-पतितः** (नरक में पड़ा हुआ), स्वर्ग गतः–**स्वर्ग-गतः** (स्वर्ग को गया हुआ), कूपमत्यस्तः–**कूपात्यस्तः** (कूप में फेंका हुआ), सुखं प्राप्तः–**सुख-प्राप्तः** (सुख को प्राप्त हुआ), संकटमापन्नः–**संकटापन्नः** (संकट में पड़ा हुआ)–इत्यादि अन्य उदाहणों की भी सिद्धि होती है।

ततीया तत्कृतार्थेन गुण-वचनेन 2.1.30

ततीयान्तं ततीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थेन च सह् वा प्राग्वत् शङकुलया खण्डः-शङ्कुला-खण्डः। धान्येनार्थः-धान्यार्थ 'तत्कृत' इति किम्–अक्ष्णा काणः।

व्याख्याः **ततीयेति**– ततीयान्त के अर्थ से किए हुए गुणवाचक शब्द का अर्थ शब्द के साथ समास होता है।

शङकुला-खण्डः (सरौते से किया हुआ टुकड़ा)–'शङ्कुलया खण्डः' यह लौकिक विग्रह है। यहां उत्तदपद खण्ड गुणवाचक है, यह ततीयान्तार्थ शङ्कुला से किया हुआ है। इसलिये 'शङ्कुला टा खण्ड सु' इस अलौकिक विग्रह में प्रकृत सूत्र से समास हुआ। समासशास्त्र में स्थित प्रथमान्त 'ततीया' पद से बोध्य विग्रह में स्थित शङ्कुला शब्द की उपसर्जन संज्ञा होने से पूर्वनिपात हुआ। सुप् का लोप होने पर 'शङ्कुला–खण्ड' प्रातिपदिक बना। इससे सु आदि की उत्पत्ति हुई, तब प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

धान्या-र्थः (धान्य से प्रयोजन)–यहां 'धान्येन अर्थः' यह लौकिक विग्रह है। 'धान्य टा अर्थ सु' इस अलौकिक विग्रह में ततीयान्त का 'अर्थ' शब्द के साथ समास हुआ। और तब समास निमित्तक विभक्तिलोप आदि कार्य करने पर रूप सिद्ध हुआ।

तत्कृत इति–शङकुलया खण्डः' यहां पर 'कर्तकरणे कृता बहुलम् 2.1.32' से समास हो जाता 'ततीयान्तार्थ कृत–ततीयान्तार्थ से किए हुए गुणवचन से इतना कहने से क्या आवश्यकता थी।

अक्ष्णा काण इति–'तत्कृत' ग्रहण करने से अर्थ होगा यदि ततीयान्त का गुणवचन से समास हो तो ततीयान्तार्थ कृत से ही हो। इस नियम से अक्ष्णा काणः यहां समास नहीं होगा, क्योंकि ततीयान्त अक्ष्णा से काणत्व नहीं हुआ अर्थात् आंख से काना नहीं हुआ बल्कि रोगादि से आंख कानी हो गई, अतः यहां समास नहीं हुआ।

कर्त-करणे कृता बहुलम् 2.1.32

कर्तरि करणे च ततीया कृन्दतेन बहुलं प्राग्वत्। हरिणा त्रातः-हरित्रातः। नखैर्भिन्नः-नखभिन्नः। (प.) कृद्ग्रहणे गति-कारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्। नख-निर्भिन्नः।

व्याख्याः **कर्त-करणे इति**— कर्ता और करण में जो ततीया, तदन्त पद का कृदन्त के साथ बहुलता से समास होता है।

हरि-त्रातः(हरि से रक्षा किया हुआ)—'हरिणा त्रातः' यह लौकिक विग्रह है। 'हरि टा त्रात सु' इस अलौकिक विग्रह में ततीयान्त 'हरिणा' का उत्तरपद 'त्रातः' के साथ समास होकर रूप बना। यहां 'हरिणा' में ततीया कर्ता में हुई है।

नख-भिन्नः (नखों से फाड़ा हुआ)—'नखैर्भिन्नः' यह लौकिक विग्रह है। 'नखैः' यहां ततीया करण में है। इसलिये 'नख भिस् भिन्न सु' इस औकिक विग्रह में समास होने पर पूर्वोक्त रीति से रूप बना।

चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः 2.1.36

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्, तद्वाचिना अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् यूपाय दारु-यूपदारु। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः, तेनेह न रन्धनाय स्थाली। (वा) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्। द्विजार्थः-सूपः। द्विजार्था-यवागू। द्विजार्थम्-पयः। भूत-बलिः। गो-हितम्। गो-सुखम्। गो-रक्षितम्।

व्याख्याः **चतुर्थीति**—चतुर्थ्यन्त के अर्थ के निमित्त जो वस्तु हो, उसके वाचक पद के साथ तथा अर्थ (के लिये), बलि (उपहार), हित (कल्याण) सुख और रक्षित (रखा हुआ)—इन पदों के साथ चतुर्थ्यन्त का समास होता हैं

यूप-दारु (यज्ञ स्तम्भ के लिए लकड़ी)—'यूपाय दारु' यह लौकिक विग्रह है। यहां दारु (लकड़ी) चतुर्थ्यन्तार्थ यूप के लिये है इसलिए प्रकृत सूत्र से समास और तदनुसार अन्य कार्य होकर रूप बना।

तदर्थेनेति—सूत्र में पढ़े हुए 'तदर्थ' शब्द का अभिप्राय प्रकृतिविकृतिभाव है अर्थात् चतुर्थ्यन्त का अर्थ विकार और उत्तरपद का अर्थ प्रकृति होना चाहिये, तभी इस सूत्र से समास होगा। दारु से यूप बनता है, इसलिये दारु प्रकृति और यूप उसका विकार है, इस प्रकार इनमें प्रकृतिविकृतिभाव है। अतः यहां समास हो गया।

रन्धनाय स्थाली (रांधने—पकाने के लिये डेगची)—यहां स्थाली और रन्धन में प्रकृतिविकृतिभाव नहीं। स्थाली से रन्धन नहीं बनता। रन्धन असत्वभूत क्रिया है, द्रव्य नहीं, प्रकृतिविकृतिभाव दो द्रव्यों में होता है द्रव्य और क्रिया में नहीं, स्थाली द्रव्य है और रन्धन क्रिया। अत एव यहां समास नहीं होता।

(वा) **अर्थेनेति**—अर्थ शब्द के साथ नित्यसमास होता है और समस्त पद का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार।

द्विजार्थः सूपः (ब्राह्मण के लिये सूप्—दाल)—नित्य समास होने से यहां लौकिक विग्रह 'द्विजाय अयम्' इस प्रकार अस्वपद होता है। 'द्विज ङे अर्थ सु' इस अलौकिक विग्रह में समास हुआ। विशेष्य 'सुप' पुंल्लिङ्ग है, अतः समस्त पद भी तदनुसार पुंल्लिङ्ग हुआ।

इसी प्रकार द्विजाय इयम्—द्विजार्थायवागूः ब्राह्मण के लिये लप्सी और द्विजाय इदम्—द्विजार्थं पयः (ब्राह्मण के लिये दूध)—इनमें प्रकृत वार्तिक से अस्वपदविग्रह नित्यसमास और विशेष्य के अनुसार लिङ्ग हुआ।

भूतेभ्यो बलिः—भूत-बलिः (भूतों के लिए उपहार), **गोभ्यो हितम्—गो-हितम्** (गौओं के लिए हितकर), **गोभ्यः सुखम्— गो-सुखम्** (गौओं को सुखकर) और **गोभ्यो रक्षितम्—गो-रक्षितम्** (गौओं के लिये रखा हुआ)—इनमें प्रकृत सूत्र से समास हुआ।

पचमी भयेन 2.1.37

चोराद् भयम्—चोरभयम्।

व्याख्याः **पचमीति**— पचम्यन्त का भयवाचक शब्द के साथ समास होता है।

चारोद्-भयम्—चोर-भयम् (चोर से भय)—यहां 'चोराद्' इस पचन्यन्त का 'भयम्' सुबन्त के साथ समास हुआ।

स्तोकान्तिक-दूरार्थ-कृष्छ्राणि क्तेन 2.1.39

व्याख्याः **स्तोकेति**—स्तोक (थोड़ा), अन्तिक (समीप) और दूर के अर्थ के वाचक और कृच्छ्र (कष्ट)—इन सुबन्तों का क्तप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास होता है।

पचयाः स्तोकादिभ्य 6.3.2

अलुग् उत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। कृच्छ्रादागतः।

व्याख्याः **पचम्या इति**— स्तोक आदि शब्दों से पर पचमी विभक्ति का लुक् न हो, उत्तरपद परे रहते।

''**उत्तर-पदं समास-चरमावयवे रूढम**— उत्तरपद समास के अन्तिम अवयव में रूढ़ है'' अर्थात् उत्तरपद कहने से समास का अन्तिम अवयव ही लिया जाता है।

विभक्ति के लोप के न होने पर समास का फल एक पद बन जाना और एक स्वर होना है।

स्तोकान्मुक्तः (थोड़े से मुक्त), **अन्तिकादागतः** (पास से आया हुआ), **अभ्याशादागतः** (पास से आया हुआ), **दूरादागतः** (दूर से आया हुआ) और **कृच्छ्रादागतः** (कष्ट से आया हुआ)—इनमें पूर्व सूत्र से समास हुआ और प्रकृत सूत्र से पचमी का अलुक् हुआ।

एक पद होने से स्तोकान्मुक्तस्य अपत्यं **स्तौकान्मुक्तिः**—यहां तद्धित प्रत्यय होने पर आदि अच् को वद्धि हुई। समास का अन्त उदात्त होता है और शेष अच् अनुदात्त होते हैं।

षष्ठी 2.2.8

सुबन्तेन प्राग्वत। राज-पुरुषः।

व्याख्याः **षष्ठीति**—षष्ठ्यन्त का सुबन्त के साथ समास हो।

राजपुरुषः—(राजा का आदमी, सरकारी आदमी)—'राज्ञः' इस षष्ठ्यन्त का 'पुरुषः' इस सुबन्त के साथ समास हुआ और तब समास निमित्तक कार्य सुप का लुक् आदि होकर रूप सिद्ध हुआ। 'राजपुरुषः' इस समस्त पद का लौकिक विग्रह 'राज्ञः पुरुषः' और अलौकिक विग्रह 'राजन् ङस् पुरुष सु' है।

पूर्वापराघरोत्तरम् एकदेशिनैकाघिकरणे 2.2.1

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वसंख्या विशिष्टश्चेद् अवयवी। षष्ठीसमासापवादः। पूर्वं कायस्य-पूर्व-कायः। अपर-कायः। एकाधिकरणे किम्-पूर्वश्छात्राणाम्।

व्याख्याः **पूर्वापरेति**—पूर्व (आगे का), अपर (पीछे का), अधर (नीचे का) और उत्तर (ऊपर)—इन अवयव—वाचक शब्दों का अवयवीवाचक शब्द के साथ समास होता है, यदि अवयवी एकत्व—संख्या—युक्त हो अर्थात् एकवचनान्त हों

एकदेश अवयव को कहते हैं और एकदेशी अवयवी को। इसलिए सूत्रस्य एकदेशिना—पद का अर्थ वत्ति में 'अवयविना' किया गया है। अधिकरण अर्थ को कहते हैं, इसलिये सूत्रस्थ 'एकाधिकरण' पद का अर्थ वत्ति में किया गया है, एकत्वसंख्या—विशिष्ट अर्थात् एकत्वसंख्या जब अर्थ हो।

षष्ठीसमासेति—अवयवी का अवयव पूर्व आदि के साथ इस सूत्र से समास विधान षष्ठीसमास का बाधक है। यदि षष्ठी समास हो तो षष्ठ्यन्त का पूर्व प्रयोग हो जाएगा। इस एकदेशिसमास के करने पर समासशास्त्र में प्रथमान्त पद पूर्व आदि अवयव—वाचक शब्द हैं, उनसे बोध्य पद पूर्व आदि हैं उनका पूर्व प्रयोग होता है। पूर्व प्रयोग के लिये ही यह एकदेशिसमास किया गया है।

पूर्व-कायः (शरीर का अगला भाग)—'पूर्वं कायस्य' यह लौकिक विग्रह है। 'पूर्व अम् काय ङस्' इस अलौकिक विग्रह मे प्रकृत सूत्र से समास हुआ क्योंकि काय अवयवी है वह एकवचनान्त है, और 'पूर्व' शब्द अवयव—वाचक है। समासशास्त्रस्थ प्रथमान्त पद बोध्य होने के कारण पूर्व शब्द का पूर्वनिपात हुआ।

इसी प्रकार—अपरं कायस्य—**अपरकायः** (शरीर का पिछला भाग)—इसमें भी समास होता है।

एकाधिकरणे इति—अवयवी एकत्व–संख्याविशिष्ट अर्थात् एकवचनान्त हो, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि **पूर्वश्छात्राणाम्**—यहां समास न हो। वहां अवयवी 'छात्राणाम्' बहुत्वसंख्याविशिष्ट है, एकत्वसंख्याविशिष्ट नहीं, इसलिये समास नहीं हुआ।

यहां तत्पुरुष होने पर भी पूर्वपद का अर्थ प्रधान है, उसी का अन्य पदार्थों के साथ अन्वय होता है। इसीलिये समासप्रकरण के प्रारम्भ में दिये गये तत्पुरुष के लक्षण में प्रायः पद रखा गया है ताकि उत्तरपद के अर्थ के प्रधान न होने पर भी तत्पुरुष के अधिकार के अन्तर्गत होने से तत्पुरुष संज्ञा हो।

अर्धं नपुंसकम् 2.2.2

समांशवाची-अर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्याः-अर्ध-पिप्पली।

व्याख्याः **अर्धमिति**—बराबर आधे भाग का वाचक जो नित्य नपुंसक अर्धशब्द है, उसका सुबन्त के साथ समास होता है।

यह भी पूर्व सूत्र के समान षष्ठीसमास का बाधक है। 'अर्थ' शब्द का पूर्वनिपात इस सूत्र का फल है। षष्ठीसमास होने पर पिप्पली शब्द का प्रयोग पहले होता।

अर्धपिप्पली (आधी पिपली)—'अर्ध' पिप्पल्याः' इस लौकिक तथा 'अर्ध' अम् पिप्पली ङस्' इस अलौकिक विग्रह में प्रकृत सूत्र से समास हुआ। समास शास्त्रस्थित प्रथमान्त 'अर्धम्' पद के द्वारा बोध्य विग्रह में स्थित अर्ध शब्द का पूर्वनिपात हुआ। तब सुब्लुक् आदि कार्य होने पर रूप सिद्ध हुआ।

यहां भी पूर्वपद का अर्थ प्रधान है।

सप्तमी शौण्डैः 2.1.40

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत्। अक्षेषु शौण्डः-अक्षशौण्डः। इत्यादि।

'द्वितीया'-'ततीया' इत्यादियोगविभागाद् अन्यत्रापिततो यादि-विभक्तीनां प्रयोगावशात् समासो ज्ञेयः।

व्याख्याः **सप्तमीति**—सप्तम्यन्त पद का शौण्ड आदि शब्दों के साथ समास होता है।

अक्ष-शौण्डः (पासे खेलने में प्रवीण)—'अक्षेषु शौण्डः' इस लौकिक और 'अक्ष सुप् शौण्ड सु' इस अलौकिक विग्रह में समास हुआ। सप्तम्यन्त का पूर्वनिपात हुआ। तब सुब्–लुक् आदि कार्य होने पर रूप सिद्ध हुआ।

द्वितीया-ततीयेति— द्वितीयाः, ततीया आदि का योगविभाग करने से अन्यत्र भी द्वितीयादि विभक्तियों का प्रयोगवश समास समझना चाहियें कहने का तात्पर्य यह है कि सूत्रों के द्वारा द्वितीयान्त आदि का पतित आदि पदों के साथ समासविधान किया गया है। परन्तु पतित आदि से भिन्न पदों के साथ भी समास मिलता है, उनकी सिद्धि के लिये 'द्वितीया' आदि को पथक् योग–सूत्र बना लिया जाएगा। जिसका अर्थ सामान्य रूप से होगा 'द्वितीयान्त का अन्य समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है' इसमें पतित आदि का संबंध नहीं रहेगा। अतः इस योगविभाग से पतित आदि से भिन्न पदों के साथ समास सिद्ध हो जाएगा।

यहां तक विभक्त्यन्तों का समास हुआ। इन समासों को व्यधिकरण तत्पुरुष कहते हैं, क्योंकि इनमें पूर्वपद और उत्तरपद का अर्थ भिन्न–भिन्न होता है।

दिक्संख्ये संज्ञायाम् 2.1.50

पूर्वेषुकाशमी। सप्तर्षयः। 'संज्ञायाम् एव'इति नियमार्थं' सूत्रम्, तेनेह न-उत्तरा वक्षाः, पच ब्राह्मणाः।।

व्याख्याः **दिक्संख्ये इति**—दिशावाचक और संख्यावाचक सुबन्तों का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है संज्ञा में।

पूर्वेषुकामशमी—यह प्राचीन समय के गांव का नाम है। इसका 'पूर्वः इषुकामशमी' यह लौकिक विग्रह है।

सप्तर्षयः—भी सात ऋषियों–वशिष्ट आदि की संज्ञा है। यहां संख्यावाचक का प्रकृत सूत्र से समास होता है। 'सप्त च ते ऋषयः' यह लौकिक विग्रह है।

संज्ञायामेवति—'दिग्वाचक और संख्यावाचक सुबन्तों का समानाधिकरण सुबन्तों के साथ संज्ञा में ही समास होता

है' इस प्रकार नियमार्थ यह सूत्र है। अभिप्राय यह है कि –विशेषणं विशेष्येण बहुलम् 2.1.57' इस सूत्र से प्राप्त समास का यह सूत्र नियम करता है कि यदि विशेषण दिग्वाचक और संख्यावाचक हो तो समास संज्ञा में ही होता है।

तेनेह न इति—इसलिये **उत्तर वक्षाः, पच ब्राह्मणाः**— यहां समास नहीं हुआ, क्योंकि यहां संज्ञा नहीं है।

तद्धितार्थोउरपद-समाहारे चे 2.1.51

तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये, दिक्-संख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः—पूर्वशालः, इति समासे जाते। (वा) सर्वनाम्नो वत्ति-मात्रे पुंवद्भावः।

व्याख्याः **तद्धितार्थेति**—तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद रहते और समाहार जब वाच्य हो, तब दिशावाचक और संख्यावाचकों का समास होता है।

इस सूत्र में तद्धितार्थ, उत्तरपद और समाहार पदों का द्वन्द्व समास हुआ है। उस समस्त शब्द से सप्तमी विभक्ति हुई। सप्तमी यद्यपि यहां एक है, परन्तु विषयभेद से उसके भिन्न–भिन्न अर्थ हो गये हैं, 'एकापि सप्तमी विषयभेदाद् भिद्यते'। तद्धितार्थ के साथ 'सप्तमी का अर्थ है'—**विषय,** उत्तरपद के साथ—पर और समाहार के साथ—**वाच्य**। इसलिये ही उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

दिग्वाचक का समाहार अर्थ में समास नहीं होता, क्योंकि कहीं ऐसा कहा नहीं गया। अतः दिग्वाचक सुबन्त के तद्धितार्थ के विषय में ओर उत्तरपद परे रहते ही समास होगा, इस प्रकार दो ही उदाहरण होंगे।

संख्या वाचक के समास के तीनों स्थलों में उदाहरण मिलेंगे।

इस प्रकार इस सूत्र के पांच उदाहरण होंगे। परन्तु यहां तीन ही उदाहरण दिये गये हैं। एक दिग्वाचक का तद्धितार्थ के विषय में और दो संख्यावाचक के उत्तरपद परे रहते और समाहार अर्थ में।

सब से दिग्वाचक पद का तद्धितार्थ विषय का उदाहरण देते हैं।

पूर्वस्यामिति—तद्धित के अर्थ में समास दिखाने के लिये यह विग्रह वाक्य दिखाया गया है। पूर्ववाली शाला में होनेवाला, 'तत्र भवः—होनेवाला' अर्थ तद्धित का है। उस अर्थ में पूर्व और शाला का समास हुआ। सुप् का लोप होने पर 'पूर्वा शाला' यह स्थिति बनी।

(वा) **सर्वनाम्न इति**—सर्वनाम को वत्तिमात्र में अर्थात् कृदन्त आदि पाचों वत्तियों में पुंवद्भाव हो।

यहां समास वत्ति है। 'पूर्वा' सर्वनाम है, पुंवद्भाव होने पर टाप् नहीं रहा। 'पूर्वशाल' यह स्थिति बनी।

दिक-पूर्वदाद् अ-संज्ञायां ाः 4.2.107

अस्माद् भवार्थे ाः स्याद् असंज्ञायाम्।

व्याख्याः **दिक्पूर्वेति**—जिसके पूर्व दिशावाचक शब्द हो उससे भव (होनेवाला) अर्थ में ा प्रत्यय हो, पर संज्ञा में न हो।

ा का ाकार इत्संज्ञक है, केवल अकार शेष रहता है।

'पूर्वशाल' शब्द में पूर्वपद 'पूर्व' दिशावाचक है, अतः प्रकृत सूत्र से ा प्रत्यय हुआ।

तद्धितेष्वचाम् आदेः 7.2.117

ाित णिति च तद्धितेष्वचाम्—आदेरचो वद्धिः स्यात्। यस्येति च-पौर्वशालः। पच गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ। (वा) द्वन्द्व-तत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्।

व्याख्याः **तद्धितेष्विति**—ाित् और णित् तद्धित प्रत्यय परे रहते अचों में आदि अच् की वद्धि हो।

पौर्वशालः (पूर्ववाले घर में जो पैदा हुआ हो)—यहां 'पूर्वशाल+अ' इस पूर्वोक्त स्थिति में ाित् ा प्रत्यय परे होने के कारण अचों में आदि अच ऊकार को वद्धि औकार हुई। 'यस्येति च 6.4.48' से लकार के आगे के अकार का लोप होने पर प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

(वा) **द्वन्द्वेति**—उत्तरपद परे रहते जो द्वन्द्व और तत्पुरुष समास होते हैं, उनको नित्य समास कहना चाहिए।

'पच गावो धनं यस्य' इस त्रिपद बहुव्रीहि के अन्तर्वर्ती 'पचगव' इस तत्पुरुष को विकल्प प्राप्त होता है, उसका इस वार्तिक से निषेध हो जाता है क्योंकि यहां उत्तर पद परे रहते तत्पुरुष समास होता है।

पच गावो धनं यस्य (पांच गाय हैं धन जिसके)–यहां तीन पदों का बहुव्रीहि समास होता है। इसके पूर्व 'पच' और 'गावः' का 'तद्धितार्थ–' सूत्र से उत्तरपद धन परे रहते समास हुआ और प्रकृत वार्तिक से वह नित्य हुआ, क्योंकि वह तत्पुरुष उत्तरपद परे रहते हुआ। समास होने पर सुप् का लोप हुआ।

गोरतद्धित-लुकि 5.4.92

गोन्तात् तत्पुरुषात् टच् स्यात् समासोन्तो, न तु तद्धित-लुकि। पच-गव-धनः।

व्याख्याः **गोरिति**–गो शब्द जिसके अन्त में हो, ऐसे त्पुरुष से टच् प्रत्यय समासान्त हो, परन्तु तद्धित प्रत्यय का जहां लोप हुआ हो, वहां न हो।

पच-गव-धनः– यहां 'पचन् गो' यह तत्पुरुष गोशब्दान्त है, इसलिये प्रकृत सूत्र से टच् प्रत्यय समासान्त हुआ। तब गो के ओकार को अव् आदेश होकर उक्त रूप से सिद्ध हुआ।

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः 2.1.42

व्याख्याः **तत्पुरुष इति**–समानाधिकरण तत्पुरुष को कर्मधारय कहते हैं।

समानाधिकरण का अर्थ है समानविभक्त्यन्त–पद–विषयक अर्थात् जहां पूर्व और उत्तरपद दोनों समानविभक्त्यत हों।

इसके पूर्व जो तत्पुरुष आये हैं उनमें पूर्व और उत्तरपद भिन्नविभक्त्यन्त है अतः उन्हें व्यधिकरण तत्पुरुष कहते हैं।

संख्या-पूर्वो द्विगुः 2.1.52

'तद्धितार्थ–' इत्यत्रोक्तः त्रिविधः संख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः **संख्यापूर्व इति**–'तद्धितार्थ–' इस सूत्र में बताया हुआ तीन प्रकार का संख्यापूर्व समास 'द्विगु' संज्ञक होता है अर्थात् उसकी 'द्विगु' संज्ञा होती है।

द्विगुरेकवचनम् 2.4.1

द्विगुवर्थः समाहार एकवत् स्यात्।

व्याख्याः **द्विगुरिति**–द्विगु समास का अर्थ समाहार एकवचन हो।

स नपुंसकम् 2.4.17

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। पचानां गवां समाहारः-पचगवम्।

व्याख्याः **स इति**–समाहार में द्विगु और द्वन्द्व नपुंसक हो।

पच-गवम् (पचानां गवं समाहारः, पांच गायों का समुदाय)–यहां 'पचन् आम् गो आम्' इस अलौकिक विग्रह में समाहार अर्थ में 'तद्धितार्थ–' से समास हुआ। समास होने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा हुई और तब सुप् लुक् अर्थात् दोनों आम् का लोप। नकार का 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य 8.2.78' से लोप और 'गोरतद्धितलुकि 5.4.92' से टच् प्रत्यय समासान्त होने पर ओकार को अव् आदेश होकर 'पचगव' शब्द बना।

संख्यापूर्व होने से इसकी 'संख्यापूर्वो द्विगुः' से द्विगु संज्ञा हुई। समाहार होने से 'द्विगुरेकवचनम्' से एकवचनान्त और 'स नुंसकम्' से नसपुंक होकर 'पचगवम्' रूप सिद्ध हुआ।

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् 2.1.57

भेदंक भेद्येन समनाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत् नीलम्। उत्पलम् नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात् क्वचिद् नित्यम्—कृष्ण-सर्पः, क्वचिद् न -रामो जामदग्न्यः।

व्याख्याः **विशेषणमिति**—भेदक—विशेषण—का भेद्य—के साथ बहुलता से समास होता है।

भेदक विशेषण को कहते हैं, क्योंकि वह विशेष्य का अन्य से भेद बताता है और भेद्य विशेष्य को कहते हैं, क्योंकि उसे ही अन्य से भिन्न किया जाता है। विशेषण और विशेष्य दोनों एक ही पदार्थ को कहते हैं, इसलिये इन्हें समानाधिकरण कहा जाता है।

विशेषण और विशेष्य के समास में विशेषण पहले आता है क्योंकि समाससाास्त्र में 'विशेषण' पद प्रथमान्त है।

नीलोत्पलम् (नीलम्, उत्पलम्, नीला कमल)—'नील सु उत्पल सुं इस अलौकिक विग्रह में प्रकृत सूत्र से समास हुआ। प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सुप् का लुक् होकर 'नीलोत्पल' शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

बहुलेति—विशेषण समासविधायक सूत्र में 'बहुल' ग्रहण से यह समास कहीं नित्य होता है और कहीं होता ही नहीं।

कृष्ण-सर्पः (काला सांप)—यहां 'कृष्ण सु सर्प सु' इस अलौकिक विग्रह में विशेषण समास हुआ। बहुल ग्रहण से यहां नित्य हुआ।

नित्य समास होने से 'कृष्णश्वासी सर्पश्च' इस विग्रह वाक्य के द्वारा समास का अर्थ नहीं प्रतीत होता। 'काला सांप' की विशेष जाति है।

रामो जमदग्न्यः—यहां विशेष्य विशेषण हैं, पर 'बहुल' ग्रहण के कारण के साथ समास नहीं होता।

उपमानानि सामान्य-वचनैः 2.1.55

घन इव श्यामः—घन-श्यामः। (वा) शाक-पार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्। शाक-प्रियः पार्थिवः-शाकपार्थिवः। देव-पूजको ब्राह्मणः-देवब्राह्मणः।

व्याख्याः **उपमानानीति**—उपमानवाचक सुबन्त का [1]समानधर्मवाचक सुबन्त के साथ समास होता है।

उपमान उसे कहते हैं जिससे किसी की समता बताई जाय और जिस धर्म से समता बताई जाती है उसे साधारण धर्म कहते हैं।

घन-श्यामः(घन इव श्यामः, मेघ के समान श्याम वर्णवाला)—'घन सु श्याम सु' इस अलौकिक विग्रह में उपमान घन का साधारणधर्मवाचक श्याम पद के साथ समास प्रकृत सूत्र से हुआ। सुप् का लोप होने पर प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

लौकिक विग्रह में समानतावाचक शब्द 'इव' का ग्रहण अर्थ की स्पष्टता के लिये है, समास तो घन और श्याम इन दो पदों का ही होता है। समानता अर्थ घन इस उपमानपद से ही लक्षण के द्वारा प्रतीत होता है अर्थात् 'घन' यह पद 'घन' के समान' अर्थ में लाक्षणिक है।

(वा) **शाकेति**—'शाक—पार्थिव' आदि समस्त पदों की सिद्धि के लिये उत्तरपद के लोप का परिगणन होता है।

शाक-पार्थिवः (शाकप्रियः, पार्थिवः, शाक को पसन्द करनेवाला राजा)—यहां शाकप्रिय और पार्थिव का समास हुआ और शाकप्रिय के उत्तर पद 'प्रिय' का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

देव-ब्राह्मणः (देवपूजको ब्राह्मणः, देवताओं को पूजनेवाला ब्राह्मण)—यहां देवपूजक और ब्राह्मण पदों का समास हुआ और देवपूजक के उत्तरपद 'पूजक' का लोप होकर रूप बना।

---

1. समानस्य भावः धर्मो वा सामान्यम् अर्थात् दो समान पदार्थों का धर्म—फलितार्थ हुआ साधारण धर्म।

ना् 2.2.6

ना् सुपा सह समस्यते

व्याख्याः **ना् इति**— ना् का सुबन्त के साथ समास होता है।

निषेधार्थक न को ना् कहते हैं। इस समास को ना् समास कहा जाता है।

न-लोपो नाः अचि 6.3.7

नाो नस्य लोप उत्तरपदे। न ब्राह्मणः अब्राह्मणः।

व्याख्याः **नलोप इति**—ना् के नकार का लोप हो उत्तरपद परे रहते।

अब्राह्मणः (ब्राह्मण से भिन्न और ब्राह्मण के सदश अर्थात् क्षत्रिय आदि)—'न ब्राह्मणः' यह लौकिक विग्रह और 'न ब्राह्मण सु' यह अलौकिक विग्रह है। ना् का पूर्व सूत्र से 'ब्राह्मणः' इस सुबन्त के साथ समास होने पर प्रकृत सूत्र से उसके नकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

तस्माद् नुड् अचि 6.3.74

लुप्त-नकाराद् ना उत्तरपदस्याजादेः 'नुट्' आगमः स्यार्त् अनश्वः। 'नैकधा' इत्यादौ तु न'शब्देन सह 'सह सुपा 2.1.4'' समासः।

व्याख्याः **तस्मादिति**—जिस ना् के नकार का लोप हो गया और उससे पर अजादि उत्तरपद को नुट् आगम हो।

अनश्वः (न अश्वः, घोड़े से भिन्न और घोड़े के समान अर्थात् गधा आदि)—यहां ना् समास होने पर 'नलोपो नाः' से ना् के नकार का लोप हुआ। तब 'अ अश्व' इस स्थिति में उत्तरपद के अजादि होने के कारण उसे 'तस्मान् नुड अचि' से नुट् आगम होकर रूप सिद्ध हुआ।

नैकघेति—नैकधा (अनेक प्रकार से) में न शब्द का ''सह सुपा'' सूत्र से केवल समास हुआ।

यदि ना् शब्द का समास किया जाए तो नकार का लोप होकर उत्तरपद 'एकधा' के अजादि होने से उसे नुट् आगम होगा और 'अनेकधा' रूप बनेगा।

कु गति प्रादयः 2.2.18

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते। कुत्सितःपुरुषः-कु-पुरुषः।

व्याख्याः **कु-गतीति**—'कु शब्द गतिसंज्ञक और प्र आदि का समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है।

कु-पुरुषः (कुत्सितः पुरुषः, बुरा आदमी)—यहां 'कु' शब्द अव्यय का समर्थ सुबन्त पुरुष के साथ प्रकृत सूत्र से समास होकर रूप बना।

गतिसंज्ञक और प्र आदि के उदाहरण आगे दिये जाएंगे। यद्यपि गतसंज्ञा प्र आदि की ही होती है, तथापि प्र आदि का प्रथग् ग्रहण इसलिये किया गया है कि जिस[1] क्रिया के साथ प्र आदि हो उसी के प्रति वे गतिसंज्ञक होते हैं अन्य के प्रति ये केवल प्र आदि ही कहे जाते हैं। जैसे—प्रगत आचार्यः प्राचार्यः' यहां गमन क्रिया के साथ योग होने से प्र की गतिसंज्ञा उसी के प्रति होगी, आचार्य के प्रति नहीं, उसके प्रति प्र केवल प्रादि ही कहा जाएगा।

ऊर्यादि-च्वि डाचश्च 1.4.61

ऊर्यादयः, च्व्यन्ता, डाजन्ताश्च क्रिया-योगे गति-संज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। पटपटाकृत्या शुक्लीकृत्य। सु-पुरुषः। (वा) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया। प्रगत आचार्यः-प्राचार्यः। (वा) अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया। अतिक्रान्ता मालामिति विग्रहे।

---

1. 'यत्— क्रिया—युक्तः प्रादयः, तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति'।

व्याख्याः **ऊर्यादीति**—ऊरी आदि, च्विप्रत्ययान्त और डाच्–प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गतिसंज्ञक होते हैं।

गतिसंज्ञा का फल है पूर्व सूत्र से समास होना। इन गति संज्ञकों के समास को 'गतिसमास' कहते हैं।

ऊरीकृत्य (स्वीकार करके)—यहां कृ धातु के योग में प्र आदि से भिन्न स्वीकारार्थक ऊरी' शब्द की प्रकृत सूत्र से गतिसंज्ञा हुई, 'कुगतिप्रादयः' सूत्र से उसका 'कृ' धातु के साथ समास हुआ। समास के फलरूप में 'समासेना्पूर्वे क्त्वो ल्यप् 7.1.37' से क्त्वा को ल्यप् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

शुक्लीकृत्य (अशुक्लं शुक्लं कृत्वा—जो सफेद नहीं उसे सफेद करके)—यहां अभूततद्भाव अर्थ में 'अभूतद्भावे इति वक्तव्यम्' इस वार्तिक के सहयोग से 'कृ–भ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः' इस सूत्र के द्वारा च्वि प्रत्यय होने पर 'शुक्ल' के अकार का 'अस्य च्वौ' से ईकार हुआ। च्विप्रत्ययान्त होने से 'शुक्ली' की गति संज्ञा हुई और पूर्व सूत्र से कृ के साथ समास होने पद 'समासेना् क्त्वो ल्यप् से क्त्वा प्रत्यय को ल्यप् आदेश करने पर रूप बना।

पटपटाकृत्य (पटत् पटत् इति कृत्वा, पट पट कर)—यहां 'पटत्' इस अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण शब्द से कृ धातु के योग से 'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धाद् अनितौ डाच् 5 सूत्र से डाच् प्रत्यय हुआ। डाच् का आ शेष रहा। 'डाचि च द्वे बहुलम्' से 'पटत्' को द्वित्व हुआ। डित् होने से डाच् परे रहते 'अत्' टि का लोप हुआ और पूर्व 'पटत्' के तकार और उत्तर पटा डाजन्त के पूर्व पकार—दोनों के स्थान में पररूप पकार होकर 'पटापटाकृ' यह रूप बना। इनमें 'पटपटा' की डाजन्त होने से गतिसंज्ञा होकर समास हुआ और तब क्त्वा के स्थान में ल्यप् होकर रूप सिद्ध हुआ।

सुपुरुषः (शोभनः पुरुषः—अच्छा आदमी)—यहां सु प्रादि है, क्योंकि क्रिया का योग न होने से इसकी गति संज्ञा नहीं, यह केवल प्रादि है इसका समर्थ सुबन्त 'पुरुषः' के साथ 'कु–गति–प्रादयः' इस सूत्र से समास होकर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) **प्रादय इति**— प्र आदि का प्रथमान्त समर्थ के साथ गत इत्यादि अर्थ में समास होता है।

कुगतिप्रादयः से प्रादि समास सामान्य रूप से कहा गया है, अव्यवस्था से समास न होने लगे, इस कारण व्यवस्था के लिये ये वार्तिक पढ़े गये हैं।

प्राचार्यः— (प्रगत आचार्यः, प्रधान आचार्य)—यहां प्र का प्रथमान्त 'आचार्यः' के साथ समास होने पर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) **अत्यादय इति**—अति आदि का द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है क्रान्त आदि अर्थ में।

अतिक्रान्तो मालाम्—माला का जो अतिक्रमण कर दिया हो, इस विग्रह में द्वितीयान्त समर्थ 'मालाम्' के साथ क्रान्त अर्थ में 'अति' का समास हुआ। समासशास्त्र 'अत्यादयः–' में प्रथमान्त पद 'अत्यादयः' से बोध्य विग्रह में वर्तमान 'अति' शब्द की 'प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्' से उपर्सन संज्ञा होने पर 'उपसर्जनम् पूर्वम्' से उसका पूर्व प्रयोग हुआ। समास होने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से सुप् का लोप होने पर 'अतिमाला' वह स्थिति बनी।

एक-विभक्ति चापूर्व-निपाते 1.2.44

विग्र हे यद् नियतिविभक्तिकं तद् उपसर्जनसंज्ञं स्याद् न तु तस्य पूर्वनिपातः।

व्याख्याः **एक-विभक्तीति**—विग्रह में जो नियतविभक्ति हो अर्थात् जिससे एक ही विभक्ति आती हो, उसकी उपसर्जन संज्ञा हो, परन्तु उसका पूर्व प्रयोग न हो।

उपसर्जन संज्ञा का फल पूर्व प्रयोग होता है, उसका यहां निषेध कर दिया गया है, फिर इस उपसर्जन संज्ञा का क्या फल होता है? इस उपसर्जन संज्ञा का फल स्त्रीलिंग को ह्रस्व करना आगे बताया जा रहा है।

'अतिक्रान्तो मालाम्' यहां 'मालाम्' इस पद की विग्रह में सदा द्वितीयान्त रहने से नियत–विभक्तिक होने के कारण उपसर्जन संज्ञा हुई।

गो-स्त्रियोरुपसर्जनस्य 1.2.48

उपसर्जनं यो गोशब्दः, स्त्रीप्रत्यान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात्। अतिमालः। (वा) अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे ततीयया। अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः। (वा) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या। परिग्लानोध्ययनाय-पर्यध्ययनः। (वा) निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पचम्या। निष्क्रान्त कौशाम्ब्या-निष्कौशाम्बिः।

व्याख्याः **गो-स्त्रियोरिति**—उपसर्जन जो गो–शब्द और स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द, तदन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो।

अति-मालः—यहां उपसर्जन माला शब्द स्त्रीप्रत्ययान्त है, तदन्त अतिमाला प्रातिपदिक के अन्त आकार को ह्रस्व होने पर 'अतिमाल' यह ह्रस्व अकारान्त शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

(वा) **अवादय इति**— अब आदि का ततीयान्त समर्थ सुबन्त के साथ क्रुष्ट आदि अर्थ में समास होता है।

अव-कोकिलः—(अवक्रुष्टः कोकिला, कोयल से कूजित हुआ)—यहां अब का ततीयान्त समर्थ 'कोकिलया' के साथ प्रकृत वार्तिक से समास हुआ। सुप् का लोप होने पर 'एक विभक्ति– चापूर्व–निपाते' से विग्रह में नियतविभक्तिक होनेसे 'कोकिला' की उपसर्जन संज्ञा हुई और 'गो–स्त्रयोरूपसर्जनस्य' से ह्रस्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) **पर्यादय इति**—परि आदि का चतुर्थ्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ ग्लानि आदि अर्थ में समास होता है।

पर्यध्ययनः (परिग्लानोध्ययनाय, पढ़ने के लिये खिन्न)—यहां परि का चतुर्थ्यन्त समर्थ 'अध्ययनाय' इस सुबन्त के साथ ग्लान अर्थ में समास होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

(वा) **निरादय इति**—निर् आदि का पचम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ निष्क्रान्त इत्यादि अर्थ में समास होता है।

निष्कौशाम्बिः (निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः, कौशाम्बी[1] नगरी से जो निकल गया है)—यहां निर् का निष्क्रान्त अर्थ में पचंम्यन्त समर्थ कौशाम्ब्याः के साथ समास तथा सुप् का लोप होने पर विग्रह में नियत विभक्ति होने से 'कौशाम्बी' की उपसर्जन संज्ञा होकर ह्रस्व हुआ।

'कुगति–प्रादयः' से होनेवाले समास को जब वह गति का हो तब गति–समास और जब प्रादि का हो तब प्रादि–समास कहा जाता है।

तत्रोपपदं सप्तमी-स्थम् 3.1.91

सप्तम्यन्ते पदे 'कर्मणि' इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भादि, तद्-वाचकं पदम् उपपदसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः **तत्रोपपदमिति**—सप्तम्यन्त पद 'कर्मणि' इत्यादि में वाच्यरूप से स्थित जो कुम्भ आदि उसके वाचक पद की उपपद संज्ञा हो।

'कर्मण्यण्' आदिसूत्रों में 'कर्मणि' आदि सप्तम्यन्त पद आते हैं, उसमें 'कुम्भ' आदि अर्थ वाच्य रूप से रहते हैं, क्योंकि अर्थ वाचक पद में वाच्यरूप से रहता है और वाचक पद अपने अर्थ में वाचकरूप में, इसलिये उस अर्थ का वाचक पद 'कुम्भ' आदि 'कुम्भं करोतीति कुम्भकारः' इत्यादि उदाहरण में आता है, उसकी उपपद संज्ञा होती है।

उपपदम् अतिङ् 2.2.19

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते, अ-तिङ्न्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति-कुम्भ-कारः। अतिङ् किम्-मा भवान् भूत्, 'माङि लुङ्' इति सप्मीनिर्देशान् माङ् उपपदम्। (वा) गति-कारकोपपदानां कृद्भिः सह समास-वचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः। व्याघ्री, अश्व-क्रीती, कच्छ-पी-इत्यादि।

व्याख्याः **उपपदमिति**—उपपद सुबन्त का समर्थ के साथ नित्य समास होता है और यह समास अतिङन्त होता है अर्थात् तिङन्त के साथ नहीं होता।

कुम्भ-कारः (कुम्भं करोति, घड़ा बनानेवाला—कुम्हार)—यहां पहले द्वितीयान्त कुम्भ उपपद रहते कृ धातु से 'कर्मण्यण्' से अण् प्रत्यय होने पर धातु के ऋकार को 'अचो ञिति' से आर् वद्धि हुई। तब 'कुम्भ अम् कार' इस

---

1. कौशाम्बी प्राचीन समय की एक नगरी का नाम है।

अलौकिक विग्रह वाक्य में प्रकृत रूप से समास हुआ, क्योंकि यहां 'कर्मण्यण्' इस सूत्र में स्थित 'कर्मणि' इस सप्तम्यन्त पद से बोध्य उदाहरण में 'कुम्भ अम्' शब्द पूर्वोक्त 'तत्रोपपदं सप्तमी–स्थम्' सूत्र से उपपद संज्ञक है। तब प्रातिपदिक संज्ञा होने के कारण सुप् अम् का लोप होने पर 'कुम्भकार' शब्द बना। उसका प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

ध्यान में रहे कि यहां उत्तरपद 'कार' सुबन्त नहीं, क्योंकि सुबन्त बनने के पूर्व ही उसके साथ 'गति–कारकोपपदानां कृदिभः समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः–गति, कारक और उपपद का कृदन्त के साथ सुप् आने के पहले ही समास हो जाता है' इस परिभाषा के अनुसार उपपद का समास हो जाता है।

इसलिए ही सूत्र की वत्ति में 'समर्थेन' केवल कहा है, उसके साथ 'सुबन्तेन' नही कहा। तात्पर्य यह है कि इस सूत्र में 'सुपा' इसकी अनुवत्ति नहीं आती।

इस समास को **उपपद-समास** कहते हैं। कृदन्त प्रकरण मे जहां सूत्र में 'सुबन्त' उपपद रहते प्रत्यय का विधान किया गया हो, वहां उपपद के साथ कृदन्त के साथ इसी सूत्र से वह उपपद–समास होता है।

यह नित्य समास है, इसलिये 'कुम्भं कार' ऐसा स्वपपद–विग्रह नही होता, अपितु 'कुम्भं करोति' यह अस्वपद विग्रह होता है।

अतिङ् इति–यह समास अतिङन्त होता है, ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि **'मा भवान् भूत्** यहां समास हो। यहां 'मा' उपपद है क्योंकि माङि लुङ् इस सूत्र में 'माङि' यह सप्तम्यन्त है और उसके द्वारा उदाहरण में 'मा' पद का ही ज्ञान होता है। परन्तु 'भूत्' यह तिङन्त है, इसके साथ समास नहीं हुआ।

(वा) **गति-कारकेति**–गति, कारक और उपपद का कृदन्त पदों के साथ समास सुप् आने के पूर्व हो।

आगे तीनों के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं। **गति-समास** का उदाहरण–व्याघ्री, (बाघिन)–यहां 'व्याजिघ्रति–विशेष–रूप से चारों ओर सूंघती है' इस विग्रह में वि आङ् पूर्वक घ्रा से 'आतश्चोपसर्गे' सूत्र से क प्रत्यय हुआ। तब 'व्या' का 'घ्र' के साथ सुप् आने के पहले गति–समास हुआ। तदनन्तर 'व्याघ्र' शब्द के जातिवाचक होने से 'जातेरस्त्री–विषयाद् अ–योपघात्' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर रूप बना। **कारक-समास** का उदाहरण अश्व–क्रीती और उपपद समास का उदाहरण कच्छ–पी है।

सुबन्त के साथ यदि यहां समास किया जाए तो 'घ्र' शब्द सुबन्त पहले बनेगा और सुप् आने के पहले लिङ्गबोधक प्रत्यय आएगा, क्योंकि 'स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकाणि पचकं प्रातिपदिकार्य %' के अनुसार संख्या–कारक–वाचक सुप् की अपेक्षा लिङ्ग अन्तरङ्ग है। अतः 'घ्र' शब्द जातिवाचक नहीं, क्योंकि उससे जाति का बोध नहीं होता, इसलिए जातिलक्षण ङीप् न होगा, किन्तु सामान्य टाप् प्रत्यय होने लगेगा। इस दोष को दूर करने के लिये प्रकृत परिभाषा ने सुप् आने के पूर्व समास का विधान किया, सुप् जब समास के पूर्व नहीं आएगा तो लिंगबोधक प्रत्यय भी नहीं आता। समास 'घ्र' प्रातिपदिक के साथ ही हो जाता है। तब 'व्याघ्र' शब्द बन जाता है, उससे जाति का बोध होता है, इसलिए जातिलक्षण ङीप् हो जाता है।

इस प्रकार सुप् आने के पूर्व समास के विधान का फल सिद्ध होता है।

अश्व-क्रीती–(अश्वेन क्रीता, घोड़े के द्वारा खरीदी हुई)–यहां 'क्रीत' के साथ समास हुआ। यहां भी दन्त 'क्रीत' के साथ सुप् आने के पूर्व ही समास हुआ। फल इसका 'क्रीतात् करण–पूर्वात्' से ङीप् होना है। अन्यथा सुप् के पहले लिंगबोधक प्रत्यय लाना होगा और केवल क्रीत से जाति का बोध नहीं होता, तब टाप् होता। समास पहले होने से फिर जातिवाचक शब्द होने से जातिलक्षण ङीष् होकर रूप सिद्ध हुआ

कच्छ-पी (कच्छेन पिबति, कछुवी)–यहां 'सुपि स्थः' इस सूत्र के 'सुपि' इस योगविभाग से सुबन्त कच्छ उपपद रहते पा धातु से क प्रत्यय हुआ। 'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप होने पर उत्तरपद 'प' यह अकारान्त बना। तब सुप् होने से पहले 'प' के साथ पूर्वोक्त 'उपपदम् अतिङ्' सूत्र से उपपद–समास होने पर 'कच्छप' शब्द बना। जातिवाचक होने से स्त्रीलिंग में जातिलक्षण ङीष् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहां भी समास यदि सुबन्त की अपेक्षा करे तो सुप् से पूर्व स्त्रीत्व की विवक्षा में केवल 'प' से जाति की प्रतीति न होने से टाप् ही होगा, ङीष् नहीं।

प्रथम उदाहरण 'कुम्भकारः' में इसीलिए 'कम्भ अम् कार' इस प्रकार अलौकिक विग्रह में'कार' को शुद्ध प्रातिपदिक ही रखा है।

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादे 5.4.85

संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य-द्व्यङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुलिभ्यः-निरङ्गुलम्।

व्याख्याः **तत्पुषस्येति**—संख्यावाचक और अव्यय जिसके आदि में और अङ्गुलि शब्द अन्त में हो, उस तत्पुरुष को समासान्त अच् प्रत्यय हो।

द्व्यङ्गुलम् (द्वे अङ्गुली प्रमाणस्य, दो अङ्गुल लम्बा)—यहां 'द्वि और अङ्गुलि औ' इस अलौकिक विग्रह में तद्धितार्थ प्रमाण में 'तद्धितार्थोत्तरपद—समाहारे च' से समास हुआ। प्रमाणार्थ में आये मात्रच् प्रत्यय का 'द्विगोर्लुग् अनपत्ये' इस सूत्र से लोप होने पर प्रातिपदिक के अवयव होने से सुप् औ दोनों का लोप हुआ। तब 'द्वि अङ्गुलि' इस स्थिति में संख्या—पूर्वक तत्पुरुष होने से प्रकृत सूत्र से अच् समासन्त प्रत्यय हुआ, अङ्गुलि के इकार का 'यस्येति च' से लोप होने पर 'द्व्यङ्गुल' यह अकारान्त शब्द बना। नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन में यह रूप सिद्ध हुआ।

निरङ्गुलम् (निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः, अङ्गुलियों से निकला हुआ)—यहां निर् अव्यय का निर्गत अर्थ में 'निरादय क्रान्ताद्यर्थे पचम्याः' से प्रादि समास हुआ और प्रकृत सूत्र से समासान्त अच् होने पर पूर्व इकार का लोप होकर पूर्ववत् रूप सिद्ध हुआ।

अहः—सर्वैकदेश-संख्यात-पुण्याच्च रात्रेः 5.4.87

एभ्यो रात्रेरच् स्यात्। चात् संख्याव्ययादेः। अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्

व्याख्याः **अहिरिति**—अहः, सर्व, एकदेश, संख्यात और पुण्य इन शब्दों से और संख्या तथा अव्यय से परे रात्रि शब्द से समासान्त अच् प्रयय हो तत्पुरुष में।

अहर्ग्रहणमिति—इस सूत्र में 'अहः का ग्रहण द्वन्द्व समास के लिये है अर्थात् अहन् शब्द से पर रात्रि शब्द से अच् प्रत्यय द्वन्द्व में ही आएगा। क्योंकि 'अहन्' का 'रात्रि' के साथ द्वन्द्व समास होने की संभावना ही नहीं, तत्पुरुष को भी नहीं तत्पुरुष हो भी किस अर्थ में।

रात्राह्नाहाः पुंसि 2.4.29

एतदन्तौ द्वन्द्व-तत्पुरुषौ पुंस्येव। अहश्च रात्रिश्च- अहोरात्रः। सर्व-रात्रः। संख्यात-रात्रः। (वा) संख्या-पूर्वं रात्रं क्लीबम्। द्वि-रात्रम्। त्रि-रात्रम्।

व्याख्याः **रात्राह्नाहा इति**— रात्र, अह्न और अह—ये जिनके अन्त में हो, वे द्वन्द्व और तत्पुरुष पुंलिङ्ग मे ही आते हैं।

अहोरात्रः (अहश्च रात्रिश्च तयोः समाहारः दिन और रात)—यहां समाहार—द्वन्द्व में 'जातिप्राणिनाम्' से एकवद्भाव हुआ। 'सनपुंसकम्' से नपुंसक होना प्राप्त था, उसे बाधकर प्रकृत सूत्र से पुलिंग हुआ। पूर्व सूत्र अच् प्रत्यय होने पर इकार का लोप हुआ। अहन् के नकार को 'अहन्' सूत्र से रु और उसे 'हशि च' से उकार होने पर गुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

सर्व-रात्रः (सर्वाः रात्र्यः, सब रातें)—यहां सर्व शब्द का रात्रि के साथ 'पूर्वकालैक[1]—सर्व—जरत्—पुराण—नव—केवलाः' इस सूत्र से समास हुआ। कर्मधारय समास होने के कारण पूर्व सर्वा पद को 'पुंवत् कर्मधारय—जातीय—देशीयेषु' इस सूत्र से पुद्भाव होकर 'सर्व' बना और 'अहः—सवैंक—' इस पूर्व सूत्र से समासान्त अच प्रत्यय होने पर इकार का लोप हुआ। तब 'सर्वरात्र' यह अकारान्त शब्द बना। प्रकृत सूत्र से पुंलिग होने पर रूप सिद्ध हुआ।

संख्यात-रात्रः (संख्याता रात्रयः, गिनी हुई रात)—इसकी सिद्धि 'सर्वरात्रः' के समान होती है।

पूर्व-रात्रः[1] (पूर्वः रात्रेः, रात्रि का पूर्व भाग)—यहां एकदेशिसमास होकर पूर्व—सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय और

---

1. यह सूत्र लघुकौमुदी में नहीं आया।

प्रकृत सूत्र से पुंलिग होने पर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) **संख्या-पूर्वमिति**—संख्यापूर्वक रात्र शब्द नपुंसकलिंग होता है।

द्वि-रात्रम्— (द्वयोः रात्र्योः समाहारः, दो रात्रियों का समुदाय)—यहां 'द्वि ओस रात्रि ओस्' इस अलौकिक विग्रह में 'तद्धितार्थोत्तरपद—समाहारे च' से समाहार समास होने पर सुप् का लोप हुआ। तब संख्यापूर्वक अवयव होने से तत्पुरुष का रात्रि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय पूर्वसूत्र से हुआ, इकार का लोप होने पर 'द्विरात्र' शब्द बना। प्रकृत सूत्र से पुंल्लिङ्ग प्राप्त था, उसका प्रकृतवार्तिक से बाध होकर नपुंसक लिङ्ग होकर रूप सिद्ध हुआ।

त्रि-रात्रम् (तिसणां रात्रीणां समाहार, तीन रातों का समुदाय)—इसकी सिद्धि 'द्विरात्रम्' के समान होती है।

राजाहः सखिभ्यष्टच् 5.4.91

एतदन्तात् तत्पुरुषात् टच् स्यात्। परम-राजः।

व्याख्याः **राजाह इति**— राजन्, अहन् और सखि, ये शब्द अन्त में हों, तब उस तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो।

परम-राजः (परमश्च असै राजौ च, श्रेष्ठ राजा)—यहां परम और राजन् का समानाधिकरण तत्पुरुष समास हुआ। प्रकृत सूत्र से समासान्त टच् प्रत्य होने पर 'नस्तद्धिते से अन् अट का लोप होने पर अकारान्त शब्द बनकर प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार—**महाराजः, धर्मराजः, देवराजः, भोजराजः आदि राजन्** शब्दान्त तत्पुरुष के शब्द बनते हैं। **उत्तमाहः**(उत्तम दिन), **परमाहः** (श्रेष्ठ दिन), **पुष्याहम्** (पुण्य दिनङ) इत्यादि अहन् शब्दान्त और **कृष्णसखः** (कृष्ण का मित्र), **परमसखः** श्रेष्ठ मित्र, **विद्वत्सखः** विद्वानों का मित्र—इत्यादि सखि शब्दान्त शब्द भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः 6.3.46

महत अकारोन्तादेशः स्यात् समानाधिकरणे उत्तरपदे, जातीये च परे। महाराजः। प्रकारवचने जातीयर्, महाप्रकारो—महाजातीय।

व्याख्याः महत् शब्द को अकारान्तादेश हो समानाधिकरण उत्तरपद और जातीय परे होने पर। महाराजः, महाजातीयः। स्त्रीलिङ्ग महती शब्द को भी आकार अन्तादेश होता है, पहले 'पुवंत् कर्म धारय—जातीय—देशीयेषु' से पुंवद्भाव होने से ङीप् प्रत्यय का लोप होता है।

जैसे—महती सुन्दरी—**महासुन्दरी,** महती नदी—इत्यादि।

महा-जातीयः (महाप्रकारः, बड़ा सा)—यहां महत् शब्द से प्रकार अर्थ में 'प्रकारवचने जातीयर्' से जातीयर् प्रत्यय हुआ। तब प्रकृत सूत्र से महत् शब्द को आकार अन्तादेशहुआ।

समानाधिकरण समास न होगा तो प्रकृत सूत्र से महत् शब्द को आकार अन्तादेश न होगा, जैसे—महतां—सेवा—महत्सेवा—बड़ों की सेवा—यहां षष्ठी समास है, अतःव्यधिकरण होने से आकार नहीं हुआ। समानाधिकरणता तो विशेषण और विशेष्य के समास में ही होती है।

बहुब्रीहि में उत्तरपद समानाधिकरण होता है, इसलिए वहां भी महत् शब्द को प्रकृत सूत्र से आकार अन्तादेश होता है, जैसे—महत् धनं महाधनः बहुत धनवाला, **महाफला** (महत्त फलं यस्या शा, बहु फलवाली इत्यादि।)

द्व्यष्ठनः संख्यायाम् अबहुव्रीह्यशीत्योः 6.3.47

आत् स्यात्! द्वौ च दश व द्वा-दश। अष्टाः विंशतिः।

व्याख्याः **द्व्यष्टन इति**—द्वि और अष्टन् शब्द को आकार अन्तादेश हो संख्या अर्थ में, परन्तु बहुवीहि समास में और 'अशीति' शब्द परे रहते नहीं होता।

---

1. यह उदाहरण वहां मूल में नहीं दिया गया है।

द्वा-दश द्वौ चच दश च अथवा द्वयधिका दश–दो और दस अथवा दो अधिक दस अर्थात् बारह–यहां द्वि और द्वादशन् सुबन्तों का द्वन्द्वसमास अथवा 'सिंः तु' तु अधिकान्त संख्या संख्यया समानाधिकरणाधिकारेधिकलोश्च इस वार्तिक से समास हुआ और अधिक शब्द को लोप। प्रकृत सूत्र से द्वि को आकार अन्तादेश हुआ।

अष्टा-विंशति (अष्टौ च विंशतिश्च अथवा अष्टाधिका विंशतिश्च–अट्ठाईस) इसकी सिद्धि भी 'द्वाद्वश' के समान होती है। इसी प्रकार–**द्वा-विंशति** (बाईस) **द्वा-विंशत्** (बत्तीस) **अष्टा-दश** (अट्ठारह) **अष्टा-त्रिंशत्** (अठतीस)–इत्यादि शब्द बनते हैं।

पर-वत् (ल्) लिङ्ग द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात्। कुक्कुट-मयूर्याविमे। मयूरी-कुक्कुटाविमो। अर्धपिप्पली।

व्याख्याः **परवदिति**–द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पर शब्द के समास में पर शब्द के समान लिङ्ग हो।

समस्त पद के लिङ्ग में यह सन्देह हो सकता है कि पूर्व पद के अनुसार लिङ्ग हो या उत्तरपद के अनुसार। इस सन्देह को निवत्ति के लिये परवत् लिङ्ग आदि का विधान है।

कुक्कुट-मयूयौं (कुक्कुटश्च मयूरी व मुर्गा और मोरनी)–यहां द्वन्द्व समास है परयह मयूरी है, उसी के समान स्त्रीलिङ्ग सम्पूर्ण समस्त से भी हुआ।

'इमे' इस सर्वनाम का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग को स्पष्ट करने के लिये किया गया है अन्यथ कुक्कुट–मयूयौं कहने मात्र से यह नहीं सिद्ध होता है कि स्त्रीलिङ्ग है क्योंकि है समस्त पद पुल्लिङ्ग तो तब भी इसी प्रकार रूप बनता। इसलिये स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम पद 'इमे' का देना सफल है।

मयूरी-कुक्कुटौ (मोरनी और मुर्गा)–यहां पर पद कुक्कुट पुंल्लिङ्ग है। द्वन्द्व समास होने से समस्त पुंल्लिङ्ग हुआ है। 'इमौ' इस सर्वनाम का पूर्ववत स्पष्टता के लिये किया गया है।

अर्ध-पिपल्लींीअर्ध पिप्पल्या, पिप्पली का आधा–यहां 'अर्ध नपुंसकम्' से समास होने पर समस्त पद प्रकृत से पर पद 'पिप्पली' के समान स्त्रीलिङ्ग हुआ।

(वा) **द्विगु-प्राप्ता पन्नङसंपूर्ण**–गतिसभासेषु प्रतिषेधोपाचयः। पचसु कपालषु संस्कृतः पचकपालः पुरोडाशः

(वा) **द्विगु-प्राप्तेति**–द्विगु समास प्राप्त आपन्न और अलं–पूर्वक समास तथ गति (प्रादि) समास से पर शब्द के समान लिङ्ग न हो।

पच-कपालः –(पचसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः–पांच कपालों में संस्कृत)–यहां तद्धितार्थ संस्कृत में द्विगु समास हुआ। पर पद कपाल नपुंसकलिङ्ग है, उसके समान नपुंसकलिङ्ग समस्त पद से नहीं हुआ।

प्राप्तापन्नेच द्वितीयया 2.2.4

समस्येते, अकारश्चानयोरन्तादेशः। प्राप्तो जीविका प्राप्त-जीविकः। आपन्न-जीविकः। अलंक कुमार्यै-अलं-कुमारिः, अत एव ज्ञापकात समासः। निष्कौशाम्बिः।

व्याख्याः **प्राप्तापन्ने इति**– प्राप्त और आपन्न सुबन्तो का द्वितीयान्त समर्थ के साथ समास होता है।

अससूत्र से समास विधान होने पर प्राप्त और आपन्न शब्दों का पूर्व निपात होता है। पक्ष में 'द्वितीया श्रितातीत– सूत्र से समास होने पर द्वितीयान्त का पूर्व निपात होने से जीविकापन्न' ये शब्द बनते हैं।

प्राप्त-जीविकाः (प्राप्तो जीविकाम् जिसे जीविका मिल गई हो)–यहां प्रकृत सूत्र से समास हुआ। विग्रह में नियत–विभक्तिक होने से जीविका शब्द की 'एकविभक्ति चापूर्व–निपाते' सेउपसर्जन संज्ञा हुई और गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य' से उसे हस्व अन्तादेश होने पर पूर्व सूत्र से पर पद जीविकाके समान समस्त पद से स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था। वार्तिक से उसका निषेध हुआ। तब विशेष्य के अनुसार लिङ्ग हुआ।

आपन्न-जीविकाः (आपन्ना जीविकाम्, जीविका को प्राप्त)–इसकी सिद्धि 'प्राप्तजीविकः' के समान होती है।

अलंकुमारिः (अलं कुमार्यै, कुमारी के योग्य)–यहां पर पद 'कुमारी' स्त्रीलिङ्ग है। पूर्वसूत्र के द्वारा उसी का लिङ्ग समस्त पद से प्राप्त था, प्रकृत वार्तिक से निषेध होने के कारण विशेष्य के अनुसार लिङ्ग हुआ।

अत एवेति–अलं–पूर्वक समास से परशब्द के लिङ्ग का निषेध करना ही सिद्ध करता है कि 'अलं' का समास होता है। अतः इसी प्रमाण से 'अलं कुमारि' से समास हुआ।

निष्कौशाम्बिः–यहां प्रादिसमास[1] हुआ है। यहां भी पर पद स्त्रीलिङ्ग है, उसी का लिङ्ग समस्त पद से सूत्र के द्वारा प्राप्त था, वार्तिक से निषेध होने पर विशेष्य के अनुसार लिङ्ग हुआ।

अर्धर्चाः पुंसि च 2.4.31

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः। अर्धर्चः, अर्धर्चम् एव ध्वज--तीर्थ-शरीर-मण्डप-यूप-देहाङ्कुश-पात्र-सूत्रादयः। सामान्य नपुंसकम्-मदु पचति, प्रातः कमनीयम्

व्याख्याः **अर्धर्चा इति**–'अर्धर्च' आदि शब्द पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों में हो।

इस सूत्र में स्थित 'अर्धर्चा' पर बहुवचान्त है। यदि 'अर्धर्च' इस एक ही शब्द को यहां ग्रहण कियाजाए तो बहुवचन करना व्यर्थ हो जाए इसलिए यहां अर्धर्चादि गण लिया गया है।

अर्धर्चः, अर्धर्चम् (अर्धम्, ऋचः, ऋचा का आधा)–यहां 'अर्ध नपुंसकम्' से समास होने पर 'ऋक्–पूरप (ब) धूःपथाम्' सूत्र से ससमासान्त 'अ' प्रत्यय होकर 'अर्धर्च' यह अकारान्त शब्द बनता है। पर यह ऋच् यहां स्त्रीलिङ्ग है समस्त पद का लिङ्ग उसी के समान पूर्व सूत्र से प्राप्त है। प्रकृत सूत्र से इसे पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग बना दिया।

लिङ्ग का प्रकरण यहां इसलिये दिया गया है कि अनेक शब्दों का समास होता है वे भिन्न–भिन्न लिङ्गवाले भी होते हैं, उनमें विचार उपस्थित होता है कि किसके अनुसार समस्त पद का लिङ्ग दिया जाए। इसकी व्यवस्था प्रकृत समासान्तर्गत लिङ्ग प्रकरण से की गई है।

अर्धचादिगण की समास के प्रसङ्ग से चर्चा की गई हे, क्योंकि उक्त गण में कुछ शब्द समस्त हैं। जो शब्द इस गण में असमस्त आ गये हैं, उनके भी लिङ्ग का निर्णय इस सूत्र के द्वारा किया गया है कि वे उभयलिङ्ग हैं।

तत्पुरुष समाप्त

अथ बहुव्रीहिः

शेषो बहुव्रीहिः 2.2.23

अधकारोयं प्राग् द्वन्द्वात्।

व्याख्याः **शेष**–शेष समास को बहुव्रीहि कहते हैं।

जिसको न कहा गया हो उसे शेष कहते हैं। 'द्वितीया श्रिता–' इत्यादि शास्त्र के द्वारा जिस विभक्ति का विशेष रूप से समास नहीं कहा गया, यह शेष हुआ। अतः प्रथमान्त का समास बहुव्रीहि होता है।

अधिकार इति–यहा अधिकार सूत्र है, इसका अधिकार 'चार्थे द्वन्द्वः– इस सूत्र से पूर्व तक है, द्वन्द्व से पूर्व जो समास होते हैं, उनकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है।

अनेकम् अन्य-पदार्थे 2.2.24

अनेकं प्रथमान्तम अन्यस्य पदस्यर्थे वर्तमानं वा समस्यते, स बहुव्रीहिः

व्याख्याः **अनेकमिति**–अन्य पद के अर्थ में वर्तमान अनेक प्रथमान्तों का समास होता है विकल्प से और वह बहुव्रीहि कहा जाता है।

इससे यह मालूम होता है कि बहुव्रीहि समास के लिए सभी पद प्रथमान्त अर्थात् समानाधिकरण होने चाहिए। 'अन्य पद के अर्थ में वर्तमान कहने से प्रथमा विभक्ति के अर्थ में यह समास नहीं होता, क्योंकि प्रथमा विभक्ति तो समास के अन्दर है, वह अन्य नहीं।

---

1. 'गतेः समासो येन' इस प्रकार बहुव्राहि करने से 'कु–गति–प्रादयः' यही सूत्र लिया जाता है। अन्यत्र फल न होने से प्रादि समास ही लिया जाता है। वार्तिक में गति ग्रहण से प्रादि–समास ही लिया जाता है क्योंकि मुख्य गति समास में लिङ्ग की चर्चा असंभव है।

बहुव्रीहित समास करनेवाले केवल पांच ही सूत्र हैं। जिनमें यह सूत्र पहला है और सामान्यभी। इसके आगे के चारों सूत्र विशेष हैं। 'लघु कौमुदी' में यही एक सूत्र बहुव्रीहि समास करने वाला दिया गया है, शेष चारों सूत्र यहां नहीं दिये गये।

इस एक सूत्र को छोड़कर बहुव्रीहि समास के प्रकरण में दिये गये अन्य सब सूत्र समास विधायक नहीं।

सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ 2.2.35

सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरण-पदो बहुव्रीहिः।

व्याख्याः **सप्तमीति**—सप्तम्यन्त और विशेषण का बहुव्रीहि में पहले प्रयोग हो।

जब यहां समस्यमान पद सभी प्रथमान्त होते है, समासशास्त्र प्रकृत सूत्र में प्रथमान्त 'अनेकम्' है, सभी को उसी का बोध होता है, समासशास्त्र प्रकृत सूत्र व्यवस्था करता है कि विशेषण को पहले रखना चाहिये।

अत एवेति—सप्तम्यन्त का पूर्व प्रयोग करने से ही सिद्ध होता है कि व्यधिकरण पदों का अर्थात् भिन्नविभक्तिक पदों का भी बहुव्रीहित होता है। तात्पर्य यह है कि जब प्रथमान्तों का ही बहुव्रीहि होता है तब सप्तम्यन्त की तो उसमें संभावना ही नहीं, फिर प्रकृत सूत्र में सप्तम्यन्त के पूर्व प्रयोग का विधान व्यर्थ होकर इस बात का प्रमाण होता है कि व्यधिकरण पदों का भी बहुव्रीहि होता है। जैसे—**कण्ठेकालः**—कण्ठेकालः यस्य—जिसके गले में काला निशान है अथवा मत्युकारक हालाहल विष है, **पद्मनाभः**—पद्मं नाभौ यस्य—कमल जिसकी नाभि में है अर्थात् भगवान् विष्णु, **शरजन्मा**—शरेभ्यो जन्म यस्य, सरकण्डों से जन्म है जिसका अर्थात् शिव जी का ज्येष्ठ पुत्र कार्तिकेय, ऊर्ण—**नाभः**—ऊर्णा नाभौ यस्य, ऊन जिसकी नाभि में हो अर्थात् मकड़ी। इनमें एक पद प्रथमान्त है दूसरे अन्यविभक्त्यन्त। अतः ये सब व्यधिकरण पद बहुव्रीहि समास के उदाहरण हैं।

हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्। 6.3.9

हलन्ताद् अदन्तात् सप्तम्या अलुक्। कण्ठे-कालः। प्राप्तमुदकं यं प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढ-रथोनड्वान्। अपहृत-पशू रुद्रः। उद्धतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः। (वा) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपद-लोप। प्रपतितपर्णः—प्र-पर्णः। (वा) नोरस्त्यर्थानां वाच्यो, बा चोत्तरपद-लोपः। अविद्यमानपुत्रः अ-पुत्रः।

व्याख्याः **हलदन्तादिति**—हलन्त और अदन्त शब्द से पर सप्तमी विभक्ति का अलुक् हो संज्ञा में।

काण्ठे-कालः (नीलकण्ठ पक्षी या शिव)—यहां 'काण्ठे कालो यस्य' इस लौकिक और 'कण्ठ ङि काल सु' इस अलौकिक विग्रह में 'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ' में 'सप्तमी' के ग्रहा रूप प्रमाण से व्याधिकरण पदों का भी बहुव्रीहि समास हुआ और और इसी सूत्र के द्वारा सप्तम्यन्त का पूर्व प्रयोग हुआ। प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सुप् के लोप की प्राप्ति हुई। प्रकत सूत्र ने अदन्त से पर सप्तमी का अलुक् किया। तब उत्तरपद के आगे सु का लोप होने पर 'काण्ठेकाल; यह अकारान्त प्रातिपादिक बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

हलन्त का उदाहरण-सरसिजम् (कमल) यह है। यहां 'सप्तम्यां जनेर्डः' से ड प्रत्यय हुआ और उपपद समास होने पर हलन्त सरस् शब्द से पर सप्तमी का अलुक् हुआ।

यह पहले कहा जा चुका है कि प्रथमान्तों का बहुव्रीहि समास होता है और अन्य पद के अर्थ में होता है अर्थात् प्रथम—विभक्ति के अर्थ को छोड़कर शेष विभक्तियों के अर्थ में यह समास होता है। जिसके अर्थ में यह होता है उसे लौकिक विग्रह में 'यत्' शब्द के द्वारा कहा जाता है, जिस विभक्ति के अर्थ में होता है, 'यत्' शब्द के साथ वही विभक्ति दी हुई प्रतीत होती है। अब क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं।

द्वितीयार्थ में-प्राप्तोदको ग्रामः (प्राप्तम् उदकं यम्, जल ने जिसे प्राप्त कर लिया हो अर्थात् जहां जल पहुंच गया हो)—यहां द्वितीया विभक्ति के अर्थ में प्राप्त और उदक इन प्रथमान्तों का 'अनेकम् अन्य पदार्थे' से समास हुआ। प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सुप् का लोप होकर अकारान्त शब्द बना, प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

बहुव्रीहि समास से सिद्ध शब्द प्रायः विशेषण होते हैं और अतएव उनके लिङ्ग वचन आदि विशेष्य के अनुसार होते हैं।

ततीयार्थ में-ऊढ-रथोनड्वान् (ऊढो रथो येन, जिसने रथ न चलाया हो)–यहां ततीया विभक्ति के अर्थ में ऊढ और रथ इन प्रथमान्तों का समास हुआ।

चतुर्थ्यर्थ में–उपहत-पशू रुद्रः –उपहृत पशुर्यस्मै, जिसको पशु उपहार दिया गया हो।

पञ्चम्यर्थ में–उद्धतौदना स्थाली :–उद्धत ओदनो यस्याः, जिस बर्तन से भात निकाल लिया गया है।

षष्ठी के अर्थ में–पीताम्बरः हरिः –पीतानि अम्बराणि यस्य, जिसके पीले कपड़े हों–भगवान् विष्ण।

सप्तमी के अर्थ में–**वीर पुरूषको ग्रामः**–वीराः पुरूषा यस्मिन्, जिसमें वीर पुरूष हों। यहां समास और सामान्य समास कार्य होने पर 'शेषाद् विभाषा' सूत्र से 'कप्' प्रत्यय समासान्त होकर रूप सिद्ध होता है।

(वा) **प्रादिभ्य इति**–प्र आदि से पर धातु–ज पद का अर्थात् जो धातु से बना हुआ शब्द है, तदन्त का, अन्यपद के साथ समास होता है और उसके उत्तरपद का लोप भी होता है विकल्प से।

प्र-पर्णः (प्रपतितानि पर्णानि **यस्मात्**, जिसे पत्ते गिर चुके हों) यहां प्र से पर धातु से सिद्ध पतित शब्द है, तदन्त प्रपतित शब्द का अन्य पद 'पर्ण' के साथ समास और प्रपतित के उत्तरपद 'पतित' का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) **नञ इति**–नञ् से पर विद्यमानता अर्थ के वाचक जो पद हों, तदन्त का अन्य पद के साथ समास और उत्तर–पद का अर्थात् विद्यमानतार्थक पद का लोप होता है।

अ-पुत्रः (अविद्यमानः पुत्रो यस्य, जिसका पुत्र न हो)–यहां नञ् से पर विद्यमान अर्थ का वाचक विद्यमान शब्द है। तदन्त अविद्यमान पद का पुत्र इस अन्य पद के साथ समास और उत्तरपद विद्यमान का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुस्काद्-अनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियाम् अ-पूरणी-प्रियादिषु 6.3.34

उक्तपुंस्काद् अनूङ्ऊङोभावोस्याइति बहुव्रीहिः, निपातनात् पश्चभ्या अलुक्, षष्ठयाश्च लुक्।
तुल्ये प्रवत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात् पर ऊङोभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात्, समानाधिकरणे स्त्री लिङ्ग उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। ह्रस्वः। चित्र-गुः। रूपवद्-भार्यः। अनूङ् किम्-वामोरू-भार्यः।

व्याख्याः **स्त्रिया इति**–प्रवत्तिनिमित्त समान होते हुए भी उक्तपुंसक शब्द उससे पर ऊङ् प्रत्यय जहां न हो, ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवाचक के समान रूप हो, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे रहते, पूरणी संख्या और प्रिया आदि शब्द परे रहते न हो।

सूत्रस्थित 'भाषितपुंस्कात्' का अर्थ पहले 'उक्तपुंस्कात्' का फिर वत्ति में 'तुल्ये प्रवत्तिनिमित्ते यदुक्तंपुसकम्' यह कहकर स्पष्ट किया गया है। भाषितपुंस्क का लक्षण अजन्त नपुंसकलिङ्ग में 'ततीयादिषु भाषितापुंस्कं पुंवद् गालवस्य सूत्र की टीका में स्पष्ट किया जा चुका है।

'भाषितपुंस्कादनूङ' यह सूत्र स्थित समस्त एकपद है, इसमें पूर्वपद 'भाषितपुंस्क' है और उत्तरपद 'अनूङ्'। पूर्वपद की पचमी विभक्ति का निपातन से लोप नहीं हुआ। 'अनूङ्' इस उत्तरपद में वहुव्रीहि समास है, ऊङोभावो यत्माम्, ऊङ् का अभाव हो जिसमें। 'भाषितपुंस्काद्नूङ्' यह समस्त पद षष्टयन्त है, षष्ठी का निपातन से लोप हुआ है, यह 'स्त्रियाः' का विशेषण है। 'भाषितपुंस्क और ऊङ् रहित जो स्त्रीवाचक पद' यह अर्थ इस प्रकार निकलता है।

पूरणी संख्या तद्धित में आती है। प्रथम, द्वितीय और ततीय आदि क्रमवाचक विशेषण पूरणी संख्या कहे जाते हैं।

चित्र-गुः (चित्रा गावो यस्य चित्र–रङ्गबिरङ्गी गायें जिसकी हों)–यहां चित्रा और गौः इन प्रथमान्तों का षष्ठी विभक्ति के अर्थ में 'अनेकम् अन्य–पदार्थे से समास हुआ। प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सुप् का लोप हुआ। तब प्रकत सूत्र से स्त्रीवाचक चित्रा पद से पुंवद्भाव होने के कारण स्त्रीवाचक टाप् (आ) प्रत्यय हटकर 'चित्र' शब्द बना, क्योंकि यह भाषितपुंस्क है, ऊङ् इसमें नहीं, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद 'गो' परे है और उत्तरपद न पूरणी संख्या है तथा न प्रिया आदि। तब उत्तरपद 'गो' को 'गो–स्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व उकार हुआ, 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' से विग्रह

में नियतविभक्तिक होने के कारण 'गो' शब्द उपसर्जन है। इस प्रकार 'चित्रगु' यह उकारान्त शब्द बना।

रूपवद्भार्यः (रूपवती भार्या यस्य, जिसकी पत्नी सुन्दर हो)—यहां रूपवती और भार्या इन प्रथमान्तों का समास हुआ। पूर्वपद 'रूपवती' स्त्रीवाचक है, उक्त पुंस्क ऊङ्—रहित है, उत्तरपद 'भार्या' समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग है, इसलिये प्रकत सूत्र से पुंवद्भाव होकर 'रूपवती' का स्त्री—प्रत्यय ङीप् (ई) हट जाता है। तब विग्रह में नियतविभक्तिक होने से उपसर्जनसंज्ञक 'भार्या' पद का 'गो—स्त्रियोरूपसर्जनस्य' से ह्रस्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

अनूङ् इति—सूत्र में 'अनूङ् अर्थात् ऊङ् न होना चाहिये, ऐसा क्यों कहा इसलिए कि—**वामोरू-भार्याः** में वामोरू के ऊकार को ह्रस्व न हो। 'वामोरूःभार्या यस्य, सुन्दर रूपवाली जिसकी भार्या हो, जहां वामोरू में 'संहित—शफ लक्षण—वामादेवश्च' से ऊङ् प्रत्यय हुआ।

अप् पूरणी-प्रमाण्योः 5.4.116

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत् स्त्रीलिङ्तम्, तदन्तात् प्रमाण्यन्ताश्च बहुव्रीहेः अप् स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणाम् ताःकल्याणी-पञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य स स्त्री प्रमाणः। अप्रियादिषु किम्-कल्याणी-प्रियः, इत्यादि।

व्याख्याः **अप् इति**—पूरणार्थ—प्रत्यान्त जो स्त्रीलिङ्ग शब्द, तदन्त और प्रमाणी शब्दान्त बहुव्रीहि में अप् प्रत्यय समासान्त हो।

कल्याणी-पञ्चमा रात्रयः (कल्याणी पचमी यासां रात्रीणाम् जिन रात्रियों में पांचवीं कल्याणमय हो)—यहां उत्तरपद 'पचमी' पूरणार्थ—प्रत्ययान्त, और 'पुवंद—भाव' विधायक पूर्वसूत्र में 'अ—पूरणी—प्रियादिषु' इस पद से पूरण संख्या परे रहते पुंवद्—भाव के निषेध करने से पुंवद्भाव नहीं हुआ। तब प्रकत सूत्र से अप् प्रत्यय होने पर 'यस्येति च' से ईकार का लोप होरक 'कल्याणीपचम' यह अकारान्त प्रातिपदिक बना। पुनः स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् (आ) प्रत्यय होकर अकारान्त शब्द बनकर प्रथमा के बहुवचन में रूप सिद्ध हुआ।

स्त्री-प्रमाणः (स्त्री प्रमाणी यस्य, जिसे प्रमाण हो, स्त्री की बात को माननेवाला)—यहां भी पूर्ववत् प्रमाणी—शब्दान्त बहुव्रीहि होने से प्रकत सूत्र से समासान्त अप् प्रत्यय होने पर 'यस्येति च' से ईकार को लोप होकर अकारान्त शब्द बन जाने से प्र. विभक्ति एकवचन में उक्त रूप बना।

अप्रियादिष्विति—पूर्व सूत्र में प्रिया आदि परे रहते पुंवद्भाव नहीं होता ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि—**कल्याणी-प्रियः** यहां पुंवद्भाव न हो। यहां 'कल्याणी प्रिया यस्य—कल्याणी है प्यारी जिसकी' इस विग्रह में बहुव्रीहि हुआ है। पूर्वपद 'कल्याणी' स्त्रीलिङ्ग है उक्तपुंस्क है, ऊङ् भी इसमें नहीं, उत्तरपद समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग है, पर वह 'प्रिया' आदियों में से है, इसलिये पुवंद्भाव नहीं हुआ। 'कल्याणी' ऐसे ही रहा। उत्तरपद को 'गो—स्त्रियोरूपसर्जनस्य' से ह्रस्व हुआ।

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गत् षच् 5.4.113

स्वाङ्गवाचि-सक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घसक्तिः। जल जाक्षी। स्वाङ्गत। किम्-दीर्घ-सक्थि्-शकटम्, स्थूलाक्षा —वेणु-यष्टिः 'अक्ष्णोदर्शनाद्' इति वक्ष्यमाणोच्।

व्याख्याः **बहुव्रीहिविति**—स्वाङ्गवाची सक्थि और अक्षि शब्द जिसके अन्त में हों, ऐसे बहुव्रीहि से षच् प्रत्यय समासान्त हो। षच् के षकार और चकार इत्संज्ञक है, केवल अकार बचता है। पित् होने का फल तदन्त शब्द से स्त्रीत्व—विवक्षा में 'षिद्—गौरादिभ्यश्च' इस सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय होना है।

दीर्घ-सक्थः (दीर्घे सक्थिनी यस्य—जिसके ऊरु बड़े हों)—यहां दीर्घ और स्वाङ्ग वाची सक्थि—इन प्रथमान्तों का 'अनेकम् अन्य—पदार्थे' इस सूत्र से बहुव्रीहि समास होने पर प्रकत सूत्र से समासान्त षच् प्रत्यय हुआ। 'तस्येति च' से इकार का लोप होने पर अकारान्त शब्द बना। यहां सक्थि स्वाङ्चवाची है, तदन्त बहुव्रीहि होने से प्रकत सूत्र की प्रवत्ति हुई।

जलजाक्षी (जले इव अक्षिणी यस्या, जिसकी आंखें कमल के समान हों)–यहां जलज और स्वाङ्ग–वाचक अक्षि शब्द का बहुव्रीहि समास होने पर प्रकत सूत्र से षच् प्रत्यय हुआ। इकार का लोप होने पर 'जलजाक्ष' से षित् होने के कारण ङीष् प्रत्यय होकर रूप बना।

'स्वाङ्ग; की परिभाषा 'स्वाङ्गात् चोसर्जनाद् अ–संयोगोपधात्' इस सूत्र की टीका में मिलेगी। तदनुसार प्राणी में स्थित अंग को स्वाङ्ग कहते हैं, मूर्ति में प्राण नहीं होता, उसके अङ्गों को स्वांग नहीं कहा जाता।

स्वाङ्गात् किमिति–'सक्थि अक्षि शब्द स्वाङ्गवाची होने चाहिये' ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि दीर्घ–**सक्थि शकटम्, स्थूलाक्षा वेणु-यष्टिः** –इनमें षच् प्रत्यय न हो। 'दीर्घे सक्थिनी यस्य', 'स्थूले अक्षिणी यस्याः' इन विग्रहों में बहुव्रीहि समास हुआ है। 'दीर्घ–सक्थिनी यस्याः' इन विग्रहों में बहुव्रीहि समास हुआ है। 'दीर्घ–सक्थि शकटम्' में शकट प्राणी नहीं है, इसलिये उसके सक्ति की स्वाङ्ग संज्ञा नहीं होती, अतः प्रकत सूत्र की प्रवत्ति नहीं हुई।

'स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः–बड़ों आंखों वाली बांस की लाठी' यहां वेणुयष्टि प्राणी नहीं है, उसके अक्षि की स्वांग संज्ञा नहीं होती। अतएव प्रकत सूत्र की प्रवत्ति नहीं हो सकती। तब भी आगे आने वाले 'अक्ष्णोदर्शनात्' सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय होने पर 'यस्येति च' से ईकार का लोप होने पर 'स्थूलाक्ष' यह अकारान्त शब्द बना। तब स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् (आ) प्रत्यय होकर आकारान्त 'स्थूलाक्षा, शब्द बना।

अच् और षच् का अन्तर यह है कि षच् होने पर षित् होने के कारण स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है और अच होने पर ङीष् न होकर टाप् होता है।

द्वि-त्रिभ्यां ष मूर्ध्नः 5.4.115

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ। द्वि-मूर्धः।

व्याख्याः **द्वि-त्रिभ्यामिति**–द्वि और त्रि शब्द से पर मूर्धन् शब्द को समासान्त ष प्रत्यय हो बहुव्रीहि में।

ष प्रत्यय का षकार इत्संज्ञक है, षच् और ष का अन्तर स्वर में पड़ता है। चित् होने से षच् प्रत्ययान्त 'चित्' से अन्यतोदात्त होता है और ष प्रत्ययान्त 'आद्युदात्तश्च' से आद्युदात्त।

द्विमूर्धः (द्वौ मूर्धानौ यस्य, जिसके दो सिर हों)–द्वि और मूर्धन् इन प्रथमान्तों का षष्ठीविभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास होने पर प्रकत सूत्र से समासान्त ष प्रत्यय हुआ। तब 'नस्तद्धिते' से टि 'अन्' का लोप होने पर आकारान्त 'द्वि–मूर्ध' शब्द बना और तब प्रथमा के एक वचन में रूप सिद्ध हुआ।

त्रि-मूर्धः (त्रयो मूर्धानो यस्य, जिसके तीन सिर हों)–इसकी सिद्धि 'द्वि–मूर्धः' के समान होती है।

अन्तर्-बहिर्भ्यां च लोम्नः 5.4.117

आभ्यां लोम्नोप् स्याद् बहुव्रीहौ। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।

व्याख्याः **अन्तरिति**–अन्तर् और बहिस् शब्दों वे पर लोमन् शब्द को अप् समासान्त प्रत्यय हो बहुव्रीहि में।

अन्तर्लोमः–(अन्तर् लोमिनि यस्य, जिसके लोम भीतर हो)–यहां अन्तर् और लोमन् का बहुब्रीहि समास होने पर प्रकत सूत्र से समासान्त अप् प्रत्यय हुआ। तब 'नस्तद्धिते' से टि 'अन्' का लोप होकर अकारान्त शब्द बना और प्रथमा के एक वचन में रूप सिद्ध हुआ।

बहिर्लोमः (बहिर्लोमानि यस्य, जिसके लोम बाहर हों)–इसकी सिद्धि 'अन्तर्लोमः' के समान होती है।

पादस्य लोपो-हस्तयादिभ्यः 5.4.138

हस्त्यादिवर्जिताद् उपमानात् परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य-व्याघ्रपात्। अहस्त्यादिभ्यः किम्-हस्ति-पादः, कुसूल-पादः।

व्याख्याः **पादस्येति**–हस्ति आदि भिन्न उपमान से परे पाद शब्द का लोप समासान्त हो बहुव्रीहि समास में।

लोप यद्यपि अभावरूप है तथापि स्थानी के द्वारा यह समासान्त है। यदि इसे समासान्त न कहा जाय तो यह

'आदेःपरस्य' से आदि को होने लगेगा और 'शेषाद् विभाषा' से होनेवाला समासान्त कप् हो। यह समासान्त कप् तब होता है जब कोई समासान्त प्रत्यय न हुआ हो। लोप को समासान्त मानने से उसके होने पर फिर कप् नहीं होता। 'अलोन्त्य' परिभाषा से लोप अत्त्य अकार को होगा।

व्याघ्र-पात् (व्याघ्रपादौ इव पादौ यस्य, बाघ के पैर के समान जिसके पैर हों)–यहां समास होने पर प्रकत सूत्र से अन्त्य अकार का लोप समासान्त होने पर दकारान्त शब्द बना।

अ-हस्त्यादिभ्य इति–'हस्ती आदि से भिन्न उपमान से पर' ऐसा क्यों कहा?

इसलिये कि **हस्ति-पादः** (हस्तिन पादौ इव पादौ यस्य, हाथी के पैर के समान जिसके पैर हों) और **कुसूलः-पादः** (कुसूलस्य पादौ इव पादौ यस्य कुसूल के पैर के समान जिसके पैर न हों) इनमें लोप न हो।

संख्या-सु-पूर्वस्य 5.4.140

पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। द्वि-पात्। सु-पात्।

व्याख्याः **संख्येति**–संख्या और सु जिसके पूर्व में हो, ऐसे पाद शब्द का लोप समासान्त हो बहुव्रीहि में

द्वि-पाद् (द्वौ पादौ यस्य, दौ पैरवाला, मनुष्य आदि)–यहां प्रथमान्त द्वि और पाद शब्दों का षष्ठीविभक्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास हुआ। तब संख्या पूर्व में होने से पाद शब्द के अन्त्य का प्रकत सूत्र से समासानत लोप होकर हलन्त रूप सिद्ध हुआ।

सु–पात् (शोभनौ पादौ यस्य, अच्छे पैर वाला)–यहां पाद शब्द के पूर्व सु शब्द है, इसलिये प्रकत सूत्र से समासान्त लोप हुआ।

उद्विभ्यां काकुदस्य 5.4.148

लोपः स्यात्। उत्-काकुत् वि-काकुत्।

व्याख्याः **उद्-विभ्यामिति**–उद् और वि से पर 'काकुद'–शब्द का समासान्त लोप हो बहुब्रीहि समास में

उत्-काकुत् (उन्नतं काकुदं यस्य, जिसका तालु ऊपर से उठा हो)–यहां उद् और काकुद का बहुब्रीहि समास होने पर प्रकत सूत्र से समासान्त लोप होकर शब्द बना।

वि-काकुत् (विगतं काकुदं यस्य, जिसका तालु विकत हुआ हो)–इसकी सिद्धि भी पूर्ववत् होती है।

पूर्णाद् विभाषा 5.4.149

पूण-काकुत्, पूर्ण-काकुदः।

व्याख्याः **पूर्णादिति**–पूर्ण शब्द से पर काकुद का समासान्त लोप विकल्प से हो बहुब्रीहि में।

पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुदम् (पूर्ण काकुदं यस्य, पूर्ण तालु जिसका हो)–यहां पूर्ण और काकुद का बहुब्रीहि समास होने पर प्रकत सूत्र से समासान्त लोप हुआ। लोप–पक्ष में शब्द हलन्त बना और अभावपक्ष में अकारान्त।

सुहृद्-दर्हृदौ मित्रामित्रयोः 5.4.150

सु-दुर्भ्यां हृदयस्य 'हृद्'-भावो निपात्यते। सु-र्हृद्-अमित्रः।

व्याख्याः **सुहृदिति**–सु और दुर् से पर हृदय शब्द को निपातन से हृद् हो क्रमशः मित्र और शत्रु अर्थ में बहुब्रीहि समास में

सु-हृद (शोभनं हृदयं यस्य, मित्र)–सु और हृदय का बहुब्रीहि समास होने पर प्रकत सूत्र से हृदय शब्द को हृद् आदश निपातन से होने पर रूप सिद्ध हुआ।

उरःप्रभतिभ्यःकप् 5.4.151

व्याख्याः **उर इति**–उरस् प्रभतियों से समासान्त कप् प्रत्यय हो बहुब्रीहि में। कप् का पकार इत्संज्ञक है, क शेष रहता है।

कस्कादिषु च 8.3.48

एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य विसर्गस्य षः, अन्यस्य तु सः। इति सः व्यूढोरस्कः। प्रिय-सर्पिष्क5।

व्याख्याः **कस्कादिष्विति**—'कस्क' आदि गण में पढ़े हुए शब्दों में इण् से उत्तर विसर्ग को पकार हो, अन्य विसर्ग को अर्थात् जो इर्ण से परे न हो, को सकार हो।

व्यूढोरस्कः (व्यूढम् उदो यस्य, विशाल वक्षःस्थल वाला)—यहां व्यूढ ओर उरस्—इन प्रथमान्तों का षष्ठी के अर्थ में बहुव्रीहि समास होने पर पूर्व सूत्र से कप समासान्त प्रत्यय हुआ। सकार को 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से विसर्ग होने पर प्रकत सूत्र के द्वारा इस से पर विसर्ग से भिन्न होने के कारण उनके स्थान में सकार होकर तब रूप सिद्ध हुआ।

प्रिय-सर्पिष्कः (प्रियं सर्पिः यस्य, घी जिसके प्रिय हो)—यहां प्रिय और सर्पिस् का समास होने पर पूर्व सूत्र से समासान्त कप् प्रत्यय हुआ। तब सकार को विसर्ग होने पर इण् इकार से पर होने के कारण विसर्गों के स्थान में प्रकत सूत्र से मुर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

निष्ठा 2.2.36

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। युक्त-योगः।

व्याख्याः **निष्ठेति**—निष्ठान्त पद का बहुब्रीहि से पहले प्रयोग हो।

युक्त-योगः (युक्तो योगो येन यस्य वा, सिद्ध योगी)—यहां युक्त और योग का बहुव्रीहि समास होने पर प्रकत सूत्र से निष्ठान्त युक्त शब्द का पूर्व प्रयोग हुआ।

शेषाद् विभाषा 5.4.154

अनुक्त-समासान्ताद् बहुव्रीहेःकप् वा। म्हा-यशस्कः, महा-यशाः।

व्याख्याः **शेषादिति**—शेष, जिसे समासान्त नहीं कहा गया, ऐसे बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय विकल्प से हो।

शेष का अर्थ यहां है, जिससे किसी समासान्त प्रत्यय का विधान नहीं किया गया। शेष से इसका विधान होने से इसे शैषिक कप् कहते हैं।

महा-यशस्कः, महा-यशाः (महद् यशो यस्य, बड़ा यशस्वी)—यहां महत् और यशस् इन प्रथमान्तों का षष्ठी के अर्थ में बहुव्रीहि समास होने पर प्रकत सूत्र से कप् प्रत्यय विकल्प से हुआ, क्योंकि यह शेष है, इससे किसी अन्य समासान्त प्रत्यय का विधान नहीं किया गया। 'आत् (न्) महत् समानाधिकरण—जातीययोः' इससे महत् शब्द को आकार अन्तादेश होकर 'कप्' पक्ष में पहला और कप् के अभापक्ष में दूसरा रूप सिद्ध हुआ।

बहुव्रीहि समाप्त

अथ द्वन्द्वः

चार्थे द्वन्द्वः 2.2.29

अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं व समस्यते; स द्वन्द्वः। समुच्चायान्वाचयेतरेतरयोग-समाहाराःचार्था। तत्र 'ईश्वरं गुरूं च भजस्व' इति परस्पर-निरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन् अन्वयः समुच्चयः। भिक्षाम् अट गां चानय इति अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेनान्वयः-अन्वाचयः। अनयोरसामर्थ्यात् समासो न। 'धव-खदिरौ छिन्धि' इति मिलिताम् अन्वयः-इतरेतरयोगः। संज्ञा-परिभाषम् (इति) समूहः-समाहारः।

व्याख्याः **चार्थे इति**—'च' के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का समास होता है और उसकी द्वन्द्व संज्ञा होती है।

समुच्चयेति—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतर-योग और समाहार—ये चार 'च' निपात के अर्थ हैं।

इनके क्रमशः सोदाहरण लक्षण दिये जाते हैं।

1. समुच्चय–परस्पर–निरपेक्ष अनेक पदार्थों के एक पदार्थ में अन्वय को समुच्चय कहते हैं। जैसे–**ईश्वरं गुरूं च भजस्व**–ईश्वर और गुरू की सेवा करो–'इस वाक्य में ईश्वर और गुरू पदार्थ निरपेक्ष हैं, एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करते, दोनों का स्वतन्त्र रूप से भजन क्रिया में अन्वय होता है। अतः यहां 'च' का अर्थ **समुच्चय** है।

2. **अन्वाचय**–जब समुच्चय में आने वाले–जिनका समुचय हो रहा हो, पदार्थों में एक का आनुषङ्गिकतया–गौणरूप से–अन्वय हो, तब उसे अन्वाचय कहते हैं। जैसे–भिक्षाम् अट गा़ चानय–भिक्षा के लिये जाओं और गाय भी लाओ। यहां प्रधानकार्य भिक्षा मांगना है, भिक्षा के लिये घूमते यदि गाय मिल जाए तो उसे भी ले आना, इस प्रकार गाय लाना गौण कार्य है, आनुषङ्गिक है। उसके लिए विशेष यत्न की आवश्यकता नहीं, भिक्षार्थ घूमते यदि गाय दीख पड़े तो लाना–इस अभिप्राय के कारण यहां भिक्षा के लिए जाना और गाया लाना, इन पदार्थों में गाय का लाना गौण होने से चकार का अर्थ **अन्वाचय** है।

अन्योरिति–समुच्चय और अन्वाचय–इन दो अर्थों में सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होता। समुच्चय में दोनों पदार्थ निरपेक्ष रहते हैं और सामर्थ्य दोनों के सापेक्ष रहने पर होता है इसलिये इसमे सामर्थ्य नहीं। अन्वाचय में एक अर्थ गौण रहता है, दोनों समकक्ष नहीं रहते, इसलिये सामर्थ्य नहीं।

3. **इतरेतर-योगः**–जब पदार्थ मिलकर आगे अन्वित होते हैं तब उसे इतरेतर–योगः कहते हैं। जैसे–धवखदिरौ छिन्धि–धव और खैर को काटो। यहाँ धव और खदिर पदार्थ मिलकर आगे छेदन क्रिया में अन्वित होते हैं, इसलिये यहाँ **इतरेतर योग** है। इतर का इतर से योग सम्बन्ध–यह इतरेतरयोग का शब्दार्थ है।

4. **समाहार**–समूह को समाहार कहते हैं। इसमें पदार्थों का अन्य पदार्थ के साथ पथक–पथक अन्वय नहीं होता जैसे इतरेतरयोग में, अपितु पदार्थों के समूह का अन्वय होता है। जैसे **संज्ञापरिभाषम्**–संज्ञा च परिभाषा च–संज्ञा और परिभाषा का समूह।

चकार के इतरेतरयोग और समाहार–इन दो अर्थों में सामर्थ्य रहता है, अतः इनमें प्रकत सूत्र से समास हो जाता है। इसलिये इनके उदाहरणों में, धव–खदिरौ, संज्ञा–परिभाषम्–यहाँ समास हुआ है।

ये अर्थ समास के द्वारा प्रतीत होते हैं–इसलिये लौकिक विग्रह वाक्य में चकार का प्रयोग होने पर भी समास नहीं होता। अलौकिक विग्रह में भी इसलिये चकार का प्रयोग नहीं किया जाता।

द्वन्द्व समास भी दो अधिक पदों का होता है। इसमें सभी पदार्थ प्रायः प्रधान होते हैं। इसलिये किस पद को पहले रखा जाय यह प्रश्न हल नहीं होता, समासविधायक सूत्र में 'अनेकम्' इस प्रथमान्त पद के द्वारा सभी का बोध होता है, सभी की उपसर्जन संज्ञा होती है, उपसर्जन होने से सभी का पूर्व प्रयोग प्राप्त होता है। अतः इच्छानुसार किसी को भी पहले रखा जा सकता है। जहाँ इच्छानुसार कार्य नहीं हो सकता, वहाँ के लिये नियम बने हैं, वे आगे दिये जाते हैं।

राजदन्तादिषु परम् 2.2.31

एषु पूर्व-प्रयोगर्हं परं स्यात्। दन्तानां राजा-राजदन्तः।

व्याख्याः **स**सुहृद्–दर्हृदौ मित्रामित्रयोः 5.4.150

सु-दुर्भ्यांहृदयस्य 'हृद्'-भावो निपात्यते। सु-हृद्-अमित्रः।

व्याख्याः 'राज–दन्त' आदि शब्दों में जिस पद का पूर्व प्रयोग प्राप्त हुआ हो, उसे आगे रखा जाय।

राज–दन्तः (दन्तानां राजा, दातों का राजा)–यहाँ 'षष्ठी 2.2.8' इस सूत्र से समास हुआ। समासशास्त्र में स्थित प्रथमान्त 'षष्ठी' पद के द्वारा बोध्य होने से उपसर्जन की संज्ञा होने के कारण दन्त शब्द का पूर्व निपात अर्थात् पूर्व प्रयोग प्राप्त था। प्रकतसूत्र से उसका प्रयोग आगे हुआ।

इसी प्रकार राज–वैद्य आदि अनेक शब्द भी बनते हैं। इन समस्त पदों में 'राज' पद का प्रयोग पहले होने से 'राज्ञः दन्ताः' राज्ञः वैद्यः–राजा के दांत, राजा का वैद्य, इस रूप में भ्रम न करना चाहिए–क्योंकि 'राज' पद का पूर्व प्रयोग यहाँ प्रकत सूत्र के विशेष नियम से हुआ है।

राजदन्तादियों में द्वन्द्व के भी प्रयोग हैं, उन्हीं को दिखाने के लिए यहाँ यह सूत्र दिया गया है।

(वा) धर्मदिष्वनियमः। अर्थ-धर्मो, धर्मर्थो इत्यादि।

व्याख्याः **धर्मादिश्विति** –धर्म, अर्थ आदि शब्दों में किसको पहले रखा जाय–इसका कोई नियम नहीं अर्थात् इच्छानुसार किसी को भी पहले रखा जा सकता है।

अर्थ-धर्मौ, धर्मार्थौ (अर्थश्च धर्मश्च–धर्म और अर्थ)–यहाँ 'चार्थे द्वन्द्वः' से चकार के अर्थ इतरेतरयोग में वर्तमान धर्म और अर्थ शब्दों का 'धर्म सु अर्थ सु' इस अलौकिक विग्रह में समास हुआ, तब प्रातिपादिक संज्ञा होने पर सुप् दोनों सु का लोप हुआ। पूर्व प्रयोग का नियम न होने से भी कभी अर्थशब्द का और कभी धर्म शब्द का पहले प्रयोग हुआ। तब दो पदार्थ होने से द्विवचन में रूप सिद्ध हुए।

द्वन्द्वे घि 2.2.32

द्वन्द्वे घि-संज्ञं पूर्व स्यात्। हरिश्च हरश्च-हरि-हरौ।

व्याख्याः द्वन्द्व में घिसंज्ञक पद का पहले प्रयोग हो।

हरि–हरौ (हरिश्च हरश्च–विष्णु और शिव)–यहाँ घि–संज्ञक होने से हरि शब्द का प्रयोग पहले हुआ।

अजाद्यदन्तम् 2.2.33

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईश-कष्णौ।

व्याख्याः अजादि और अदन्त पद का द्वन्द्व में पहले प्रयोग हो।

ईश–कष्णौ (ईशश्च कष्णश्च, शिव और कष्ण)–यहाँ द्वन्द्व समास होने पर अजादि और अदन्त होने के कारण ईश का पहले प्रयोग हुआ।

अल्पाच्-तरम् 2.2.34

शिव-केशवौ।

व्याख्याः जिस पद में अन्य पदों की अपेक्षा थोड़े अच् हों, द्वन्द्व में उसका पहले प्रयोग हो।

शिव–केशवौ (शिवश्च–शिव और विष्णु)–यहाँ केशव पद में तीन अच् हैं और शिव में दो। 'केशव' पद की अपेक्षा थोड़े अच् हो, द्वन्द्व में उसका पहले प्रयोग हो।

पिता मात्रा 1.2.70

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च-पितरौ, माता-पितरौ वा।

व्याख्याः माता के साथ कथन होने पर पिता पद विकल्प से शेष रहता है।

पितरौ (माता च पिता च, माता और पिता)–यहाँ माता के साथ पिता का कथन हुआ है, दोनों पदों का द्वन्द्व समास होने पर पित पद शेष रहा 'यः शिष्यते', स लुप्यमानार्थोभिधायी भवति–जो शेष रहता है वह लोप होने वाले के अर्थ को भी कहता है–इस सिद्धान्त के अनुसार शेष रहा हुआ 'पित' शब्द मात शब्द का भी अर्थ प्रकअ करता है। इसीलिये दोनों का प्रतिपादक होने से द्विवचन हुआ।

माता–पितरौ–एक शेष के अभाव में 'पितदर्शगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते–गौरव से माता पिता से दशगुना अधिक है' इत्यादि वचनों से अभ्यर्हितपूज्य होने के कारण (वा) 'अभ्यर्हितं च' वार्तिक मात शब्द का पूर्व निपात हुआ। तब 'आनङ् ऋतो द्वन्द्वे' पूर्वपद मात के ऋकार को आनङ् होकर मातापित शब्द बना। दो का प्रतिपादक होने से इससे द्विवचन हुआ।

इन समासों का–जिन में एक शेष रहता है–एक शेष रहता है।

द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् 2.4.2

एषां द्वन्द्व एक-वत्। पाणि-पादम्। मार्दङ्गिक-वैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्।

व्याख्याः द्वन्द्वश्चेति–प्राणी, तूर्य (बाजे) और सेना इनके अङ्गों के वाचक शब्दों का द्वन्द्व एकवचनान्त हो।

एकवचनान्त कहने का तात्पर्य है कि इनका समाहार अर्थों में ही द्वन्द्व समास होता है, इतरेतरयोग में नहीं। समाहारद्वन्द्व एकवचनान्त ही होता है, क्योंकि समाहार अर्थात् समूह एक ही होता है।

'स नपुंसकम्' सूत्र से समाहार–समास नपुंसक होता है। इसलिये ये सभी समस्त पद नपुंसकलिंग है।

प्राणी के अङ्ग हस्त पाद आदि, तूर्य के अंग मदङ्ग आदि और सेना के अंग रथ घोड़े आदि हैं। आगे नीचे के उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं।

पाणि–पादम् (पाणी च पादौ च, हाथ और पैर)–हाथ–पैर प्राणी के अंग हैं। इनके वाचक पाणि और पाद् का द्वन्द्व समास प्रकत सूत्र से समाहार में ही हुआ, अतएव समस्तपर एकवचनान्त हुआ।

मार्दङ्गिक–वैणविकम् (मार्दङ्गि[1]श्च वैणविक[2] श्च, मदङ बजाने वाला और वंशी बजाने वाला)–यहाँ तूर्य के अंग मार्दङ्गि और वैणविक का प्रकत सूत्र से समाहार अर्थ में ही द्वन्द्व समास हुआ। अतः समस्त पद से एकवचन ही हुआ।

रथिका–श्वारोहम् (रथिकाश्च अश्वारोहाश्च–रथिक और घुड़सवार)–यहाँ रथिक और अश्वारोह–इन सेना के अंगों का समाहार में ही द्वन्द्व समास हुआ। इसलिये समस्तपद से एकवचन ही हुआ।

द्वन्द्वात् चु-द-ष-हान्तात् समाहारे 5.4.106

चवर्गान्ताद् द-ष-हान्ताच्च द्वन्द्वात् टच् स्यात् समाहारे। वाक् च त्वक्च वाक्त्वचम्। त्वक्-स्रजम्। शमी-दृषदम्। वाक्-त्विषम्। छत्रोपानहम्। समाहारे किम्-प्रावट्-शरदौ। इति द्वन्द्वः।

व्याख्याः चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त द्वन्द्व से समासान्त टच् प्रत्यय हो समाहार अर्थ में।

वाक्त्वचम् (वाक् च त्वक् च, तयोः समाहारः–वाणी और त्वचा)–यहाँ वाच् और त्वच् पदों का समाहार अर्थों में द्वन्द्व समास हुआ। चवर्गान्त होने से यहाँ प्रकत सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय होकर अकारान्त शब्द बना। पूर्वपद 'वाच्' के चकार को 'चोः कु–' से कवर्ग कहकर हुआ। समाहार होने से 'वाक्त्वच्' यह शब्द नपुंसकलिङ्ग और एकवचन में ही हुआ।

त्वक्स्रजम् (त्वक् च स्रक् च तयोः समाहारः–त्वचा और माला)–यहाँ त्वच् और स्रज् इन दो पदों का समाहार द्वन्द्व हुआ। पूर्वपद के चकार को कवर्ग ककार हुआ। चवर्ग जकार के अन्त में होने से 'त्वक्स्रज्' इस समाहार द्वन्द्व से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ।

शमी–दष्दम् (शमी च दषद् च तयो समाहारः, शमी और षाषाण)–यहाँ समाहार अर्थ में शमी और दषद्–इन पदों का द्वन्द्व समास होने के कारण समासान्त टच् प्रत्यय होकर अकारान्त 'शमी–दषद' शब्द बना। समाहार में नपुंसकलिंग और एकवचन हुआ।

वाक–त्विषम् (वाक् च त्विट् च, तयोः समाहारः–वाणी और क्रान्ति)–यहाँ समाहार अर्थ में वाच् और त्विष्–इन शब्दों का द्वन्द्व समास हुआ। षकारान्त होने के कारण प्रकत सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय होकर अकारान्त 'वाक्–त्विष्' शब्द बना। समाहार होने के कारण नपुंसकलिंग और एकवचन हुआ।

छत्रोपानहम् (छत्रं च उपानत् च, छाता और जूता)–यहाँ हकारान्त समाहार द्वन्द्व होने प्रकत सूत्र से समासान्त टच् होने पर अकारान्त शब्द बना। नपुंसकलिंग एकवचन में रूप बना।

समाहारे इति–'समाहारे में' ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि प्रावट्–शरदौ (प्रावट् च शरत् च, वर्षा और शरद् ऋतु)–यहाँ समासान्त टच् न हो जाय। यहाँ समाहार में द्वन्द्व नहीं हुआ, अपितु इतरेतरयोग में हुआ। अत एव यह पद नपुंसकलिंग और एकवचन नहीं हुआ।

---

1. 'मार्देगिका मौरजिकाः' इत्यमरः। मदंग–वादनं शिल्पं येषां ते मार्द–गिकाः–मदंग बजानेवाले।
2. 'वेणुध्माः स्युर्वैणविकाः' इत्यमरः। वेणुवादनं शिल्पं येषान्ते वैणविका'–वंशी बजानेवाले।

अथ समासान्ताः।

ऋक्-पूरप् (ब्) धूः-पथाम् आनक्षे 5.4.74

अ अनक्ष इति च्छेदः। ऋगाद्यन्तस्य 'अ' प्रत्ययोन्तावयवः अक्षे या धूः, तदन्तस्य तु न। अर्धर्चः। विष्णु-पुरम्। विमलापं सरः।

व्याख्याः ऋच्, पुर्, अप्, धुर्, और पथिन् ये शब्द जिस समास अन्त में हो, उस समास को समासान्त अ प्रत्यय हो परंतु अथ–रथ के चक्र का मध्यभाग–में धुर्–धुरा–तदन्त को न हो।

अ अनक्षे इति–सूत्र में स्थित 'आनक्षे' इस पद में 'अ अनक्षे' ऐसा पदच्छेद है। 'अनक्षे' का निषेध केवल, 'धुर्' शब्द के लिये होता है, क्योंकि उसी में योग्यता है, औरों में नही।

अब ऋगाद्यन्त के उदाहरण क्रमशः दिये जाते हैं।

अर्धचः (अर्धम् ऋच्, ऋचा का आधा)–यहां 'अर्धे नपुंसकम् से समास हुआ है, ऋच–शब्दानत समास है, इसलिये प्रकत सूत्र से समासान्त अ प्रत्यय हुआ। 'अर्धर्चादयः पुंसि च' से यह शब्द पुंलिंग में भी प्रयुक्त हुआ है। इसकी सिद्धि पहले आ चुकी है।

विष्णु–पुरम् (विष्णोः पूः, विष्णु की नगरी)–यहाँ षष्ठी–तत्पुरूष समास है। प्रकत सूत्र से समासान्त अ प्रत्यय होने से शब्द अकारानत बना। नगर का वाचक होने से नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ।

इसी प्रकार अन्य पुर् शब्दान्त नगर के वाचक शब्दों की भी सिद्धि होती है। जैसे–लव–पुरम्, लाभ–पूरम्, लक्ष्मण–पूरम्, योध–पूरम्, नाग–पुरम् इत्यादि।

विमलाप सरः (विमला आपो यत्र जिस तालाब में निर्मल जल हों)–यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है। तब प्रकत सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय होकर अकारान्त शब्द बना। 'सरः' का विशेषण होने से नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ।

राज–धुरा (राज्ञो धूः, राज–भार)–यहाँ षष्ठीतत्पुरूष समास होने पर समासान्त अ प्रत्यय हुआ। स्त्रीत्वविवक्षा में 'अजात्द्यतष्टाप्' से टाप् (आ) प्रत्यय होकर आकारान्त शब्द बना।

'धूः' कहते हैं रथ के अग्रभाग को। 'धूः स्त्री क्लीवे यान–मूखम्' इत्यमरः।

अक्षे इति–अक्ष की धुरा के लिये निषेध करने से 'अक्ष–धूः' में समासान्त अ प्रत्यय नहीं हुआ।

द्दढ़ धूः (द्दढा धूर्यस्य, द्दढ धुरावाला अक्ष) यहाँ बहुब्रीहि समास हुआ। अक्ष की धुरा होने से यहाँ भी समासान्त अ प्रत्यय का प्रतिषेध हुआ।

सखि–पथः (सख्यः, पन्थाः, मित्र का मार्ग)–यहाँ षष्ठी तत्पुरूषसमास होने पर पथिन्–शब्दान्त होने से समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ। 'भस्य टेलोर्पः से अन् टि का लोप होकर अकारान्त शब्द बनकर रूप सिद्ध हुआ।

रम्य–पथो देशः (रम्याः पन्थानो यस्य यस्मिन् वा–जिस देश के या देश में सुन्दर मार्ग हो)–यहाँ बहुब्रीहि समास होने पर पूर्ववत् सिद्धि हुई है।

अक्ष्णोदर्शनात् 5.4.76

अ-चक्षुःपर्यायाद् अक्ष्णोच् स्यात् समासान्तः। गवाम् अक्षीव-गवाक्षः।

व्याख्याः अक्ष्ण इति–नेत्र वाचक से भिन्न अक्ष शब्द की समासान्त अच् प्रत्यय हो।

गवाक्षः (गवाम् अक्षि इव, गौओं की आंख के जैसा, खिड़की, झरोखा)–यहाँ षष्ठीतत्पुरूष समास हुआ। अक्षिशब्द यहाँ नेत्र का वाचक भी नहीं, क्योंकि उसका प्रयोग उपमान के रूप में हुआ है, अक्षि शब्द अक्षिसद्दश अर्थ में लाक्षणिक है, इसीलिये दर्शन का कारण न होने से प्रकत सूत्र से यहाँ समासानत अच् प्रत्यय हुआ तब 'यस्येति च' से इकार का लोप होकर अकारान्त शब्द बन जाने से रूप सिद्ध हुआ।

उपसर्गाद् अध्वनः 5.4.85

प्रगतोध्वानं प्राध्वः-रथः।

व्याख्याः उपसर्ग से पर अध्वन् शब्द को समासान्त अच् प्रत्यय हो।

उपसर्ग शब्द यहाँ प्रादि के लिये प्रयुक्त हुआ है।

प्राध्वो रथः (प्रगतोध्वानम्, मार्ग पर चला हुआ)–यहाँ (वा) 'अत्यादयः क्रान्ताद्यार्थे द्वितीयया' से प्रादि समास होने पर टि का लोप होकर अकारान्त शब्द बन जाने से रूप बना।

न पूजनात् 5.4.69

पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः।

(वा) स्वतिभ्यामेव। सु-राजा। अति-राजा। इति समासान्ताः। इति समासप्रकरणम्।

व्याख्याः प्रशंसार्थक शब्दों से पर पदों को समासान्त प्रत्यय न हों।

(वा) स्वतिभ्यामिति–सु और अति–न दो प्रशंसार्थकों से पर होने पर ही शब्दों को समासान्त प्रत्ययों का निषेध हो।

इस नियम से सु और अति से भिन्न प्रशंसा–वाचकों से पर पदों को समासान्त प्रत्यय होंगे।

सु–राजा (शोभनो राजा, अच्छा राजा)–यहाँ प्रादि समास हुआ। 'राजाहः–सखिभ्यष्टच्' से समासान्त टच् प्रत्यय प्राप्त था। प्रशंसावाचक 'सु' से पर होने के कारण प्रकत सूत्र से उसका निषेध हो गया। तब नकारान्त शबद होने से रूप सिद्ध हुआ।

अति–राजा (अतिक्रान्तो राजानम्, राजा का अतिक्रमण करनेवाला)–यहाँ (वा) 'अत्यादयः क्रान्तादर्थे द्वितीयया' से प्रादि समास होने पर राजन् शब्दान्त तत्पुरूष होने के कारण पूर्वोक्त सूत्र से प्राप्त समासान्त टच् प्रत्यय का प्रकत सूत्र से निषेध हुआ। तब समस्त पद नकारान्त ही रहा।

समासप्रकरण समाप्त

Unit-II

(लघुसिद्धान्तकौमुदी)

अध्याय—4

सन्धि प्रकरण

(क) अच् सन्धिः

इको यणचि 6.1.77

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी + उपास्य' इति स्थिते।

व्याख्याः इक् से परे अच् हो तो इक् को यण आदेश हो जाता है, संहिता के विषय में। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, संहिता का अर्थ है वर्णों का अत्यन्त सामीप्य। इस प्रकार संहिता का अर्थ है सन्धि। इक् में वर्ण हैं – इ, उ, ऋ, ल। यण् में वर्ण हैं य्, व्, र्, ल्। इक् से परे यदि अच हो तो स्थानेन्तरतमः(1.1.50) तथा यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (1.3.10) सूत्रों के बल पर इ को य्, उ को व्, ऋ को र् तथा ल को ल् आदेश होता है। जैसे सुधी + उपास्यः में ई से परे उ अच् है, इसलिए ई को य् प्राप्त होता है। सूत्र में इकः में ृाष्ठी विभक्ति का प्रयोग है। इसलिए ृाष्ठी स्थानेयोगा (   ) परिभाषा सू.त्र के बल पर इक् के स्थान पर यण् प्राप्त होता है। परन्तु सुधी + उपास्यः में कई इक् हैं। अब यह निर्णय किस प्रकार हो कि कौन से इक् के स्थान पर यण् हो । इसका निर्णय पाणिनि के अगले सूत्र से होगा।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य 1.1.66

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्य वर्णान्तरेणव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

व्याख्याः तस्मिन् से तात्पर्य है सप्तम्यन्त पद। सूत्र का अर्थ हुआ – सप्तम्यन्त पद के द्वारा जो कार्य विधीयमान हो वह सप्तम्यन्त पद से निर्दिष्ट पूर्व वर्ण पर होगा। जैसे इको यणचि सूत्र में अचि पद में सप्तमी विभक्ति है। इसलिए अच् से पूर्व वर्ण पर कार्य होगा। इसलिए धी के ईकार के स्थान पर यण् आदेश होगा। ध्यान रहे ह्रस्व वर्ण पर विधीयमान कार्य उसके सवर्ण दीर्ध या प्लुत पर भी अणुदितसवर्णस्य चाप्रत्ययः सूत्र के बल पर होगा।

स्थानेन्तरतमः 1.1.50

प्रसंगे सति सदशतमः आदेशः स्यात्। 'सुध्य् + उपास्यः' इति प्राप्ते।

व्याख्याः एक स्थानी के स्थान पर जब कई आदेश प्राप्त हो रहे हों तो जो स्थानी के सर्वाधिक निकट है वही आदेश होगा। उच्चारण स्थान का सामीप्य अत्यन्त सामीप्य माना जाता है। इसलिए जिस वर्ण का स्थानी के साथ उच्चारण स्थान का सामीप्य हो वही आदेश होगा। सुधी + उपास्यः में ई को चार वर्णो अर्थात् य् व् र् ल् में से कोई एक आदेश प्राप्त होता है। किस वर्ण का आदेश हो इसका निर्णय उच्चारण स्थान के सामीप्य से होगा। ई का उच्चारण स्थान तालु है। य् का कण्ठतालू , व् का कण्ठोष्ठ , र् का मूर्धा और ल् का दन्त। इनमें य् ही ई के सर्वाधिक निकट है। अतः ई के स्थान पर य् आदेश होगा। इस प्रकार सुध्य् +उपास्यः यह सिथिति हई।

अनचि च 8.4.47

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धकारस्य द्वित्वम्।

व्याख्याः अच् से परे यर् को विकल्प से द्वित्व हो परन्तु यर् से परे अच् हो तो द्वित्व नहीं होता। द्वित्व से तात्पर्य है दो हो जाना। विकल्प से तात्पर्य है एक पक्ष में होना तथा दूसरे पक्ष में न होना। इस प्रकार धकार को द्वित्व होने पर सिथिति होगी – सुध्ध्य् + उपास्यः।

झलां जश् झशि 8.4.53

स्पष्टम्। इति पूर्व धकारस्य दकारः।

व्याख्याः झलों से परे यदि झश् हो तो झलों को जश् आदेश हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में ध् से परे ध् है। ध् झल प्रत्याहार में भी आता है और झश् में भी ,इसलिए पूर्व धकार को दकार आदेश् होगा। इस प्रकार स्थिति होगी – सुद्ध्य् + उपास्यः।

संयोगान्तस्य लोपः 8.2.23

संयोगान्तं यत्पदं तदन्त्यस्य लोपः स्यात्।

व्याख्याः संयोग जिस पद के अन्त में हो उस के अन्तिम वर्ण का लोप हो जाता है। यहाँ सूत्र में अन्तिम वर्ण के लोप का सीधा निर्देश नहीं है। सूत्र के अर्थ के अनुसार पूरे पद का लोप प्राप्त होता है। अन्तिम वर्ण का लोप अग्रिम सूत्र के बल पर प्राप्त होता है।

अलोन्त्यस्य 1.1.52

षष्ठीनिर्दिष्टोन्त्यादेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते -

व्याख्याः षष्ठी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट आदेश अन्तिम वर्ण के स्थान पर होता है। जिस शब्द या वर्ण के स्थान पर कोई अन्य श्शब्द या वर्ण लाया जाए उसे स्थानी कहते हैं और जो शब्द या वर्ण लाया जाए उसे आदेश कहते हैं। यदि स्थानीबोधक पद में सूत्र में ृाष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है तो उसके स्थान पर होने वाला आदेश षष्ठीनिर्दिष्ट आदेश कहलाता है। उपर्युक्त उदाहरण सुद्ध्य् + उपास्यः में संयोगान्तस्य लोपः सूत्र से पूरे श्शब्दरूप सुद्ध्य् के स्थान पर लोप आदेश प्राप्त होता है। परन्तु सूत्र में संयोगान्तस्य पद में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, अतः संयोगान्त पद के स्थान पर होने वाला आदेश षष्ठीनिर्दिष्ट है। इसलिए पूरे संयोगान्त पद का लोप न होकर केवल अन्तिम वर्ण का लोप होगा। इसलिए सद्ध्य् + उपास्यः में सुद्ध्य् के अन्तिम य् का लोप प्राप्त होता है। परन्तु यकार के लोप का अग्रिम वार्तिक द्वारा निषेध हो जाता है।

वा. यणः प्रतिषेधो वाच्यः।

अर्थात् संयोगान्त यण् का लोप नहीं होता है। इस प्रकार व्यंजन और स्वरों के मेल से रूप हुआ सुद्ध्युपास्यः। क्योंकि अनचि च सूत्र से धकार का द्वित्व विकल्प से हुआ था, इसलिए दूसरा वैकल्पिक रूप होगा – सुध्युपास्यः। इसी प्रकार मधु + अरिः = मद्ध्वरिः तथा मध्वरिः, धात + अंशः = धात्त्रंशः तथा धात्रंशः, ल +आकतिः = लाकतिः। इन उदाहरणों में उ के स्थान पर व् , ऋ के स्थान पर र् तथा ल के स्थान पर ल् आदेश हुए हैं।

एचोयवायावः 6.1.78

एचः क्रमाद् अय् , अव् , आय् , आव् एते स्युरचि।

व्याख्याः एच् से परे यदि अच् हो तो एच् के स्थान पर क्रम से अय् , अव् , आय् तथा आव् आदेश होते हैं।

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् 1.3.10

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

व्याख्याः यदि स्थानी और आदेश दोनों की संख्या समान हो तो आदेशः क्रम से होते हैं , अर्थात् प्रथम स्थानी के स्थान पर प्रथम आदेश , द्वितीय के स्थान पर द्वितीय आदि। एच् में चार वर्ण हैं – ए , ओ , ऐ और औ। इनके स्थान पर आदेश भी चार बताए गए हैं – अय् , अव् , आय् , आव्। इसलिए ए के स्थान पर अय् ओ के स्थान पर अव् , ऐ के स्थान पर आय् तथा औ के स्थान पर आव् आदेश होंगे। इनके उदाहरण हैं – हरे + ए = हरये , विष्णो + ए = विष्णवे , नै + अकः = नायकः तथा पौ + अकः = पावकः। इन उदाहरणों में ए के स्थान पर अय् , ओ के स्थान पर अव् , ऐ के स्थान पर आय् तथा औ के स्थान पर आव् आदेश होकर व्यंजन और स्वर के मेल से ये रूप बने हैं।

वान्तो यि प्रत्यये 6.1.79

वकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः। गव्यम्। नव्यम्।

व्याख्याः यदि ओ और औ से परे कोई यकारादि प्रत्यय हो तो ओ को अव् और औ को आव् आदेश हो जाता है। एचोयवायावः सूत्र के द्वारा ओ अव् और औ को आव् आदेश तभी प्राप्त होते हैं जब इनसे परे कोई अच् हो। इस सूत्र के द्वारा यकारादि प्रत्यय परे होने पर भी अव् और आव् का विधान किया गया है। वान्त का अर्थ है वकारान्त अर्थात् अव् और आव्। यि प्रत्यये का अर्थ है यकारादि प्रत्यय परे होने पर। जब किसी अल् को निमित्त मान कर किसी कार्य का विधान किया जाता है तो वह कार्य अल् से प्रारम्भ होने वाले समस्त श्शब्दरूप के परे होने पर किया जाता है – यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे इस परिभाषा के बल पर। उदाहरण – गो + यम् = गव्यम् । यहाँ गोपयसोर्यत् सूत्र से गो श्शब्द से विकार अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान किया गया है जो यकारादि है। इसलिए गो के ओ को अव् आदेश हुआ। इसी प्रकार नौ + यम् = नव्यम्। यहाँ भी नौ श्शब्द से परे यत् प्रत्यय हुआ है, इसलिए नौ के औ के स्थान पर आव् आदेश हुआ है। गव्य और नव्य प्रातिपदिकों से प्रथमा के एकवचन में गव्यम् और नव्यम् रूप बने हैं। इस प्रक्रिया को विस्तार से सुबन्त प्रकरण में समझाया जाएगा।

वा. अध्वपरिमाणे च। गव्यूतिः।

व्याख्याः मार्ग को मापने के परिमाण अर्थ में भी गो शब्द से यूतिः शब्द के परे रहने पर ओ को अव् आदेश हो जाता है। जैसे – गव्यूतिः। गव्यूतिः का अर्थ है दो कोस।

अदेङ् गुणः 1.1.2

अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः अत् और एङ् (ए और ओ) की गुण संज्ञा हो। अत् में अ से परे त् है इसलिए तपरस्तत्कालस्य इस परिभाषा सूत्र के बल पर केवल ह्रस्व अकार का ग्रहण होगा।

तपरस्तत्कालस्य 1.1.70

तः परो यस्मात् स च तात्परश्च उच्चार्यमाणसमकालस्यैव संज्ञा स्यात्।

व्याख्याः जिस स्वर से परे तकार हो या तकार से परे जो स्वर हो वह केवल उसी काल वाले स्वर का ग्रहण करता है जो सूत्र में उच्चारित है। जैसे अत् में अ से परे तकार है , इसलिए केवल ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होगा। यदि अ से परे त न होता तो अणुदितसवर्णस्य चाप्रत्ययः सूत्र के बल पर दीर्घ और प्लुत अकार का भी ग्रहण होता।

आद्गुणः 6.1.87

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात्। उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

व्याख्याः अवर्ण से परे यदि अच् हो तो पूर्व और पर दोनों स्वरों के स्थान पर गुण एकादेश हो जाता है। अवर्ण से ह्रस्व, दीर्घ आदि सभी अकारों का ग्रहण होगा। जैसे उप + इन्द्रः = उपेन्द्रः। गङ्गा + उदकम् = गङ्गोदकम्। इन उदाहरणों में अ से परे इ होने पर दोनों के स्थान पर ए एकादेश हुआ है और आ से परे उ होने पर ओ एकादेश हुआ है। सूत्र में यद्यपि अच् परे होने पर कहा गया है परन्तु वस्तुतः यह नियम केवल इ , उ , ऋ और ल् अर्थात् इक् परे होने पर ही लागू होता है क्योंकि अ और आ परे होने पर दीर्घ सन्धि होती है तथा एच् परे होने पर वद्धि सन्धि होती

है जिसका विवरण आगे दिया जाएगा। अब प्रश्न उठता है कि अ और इ के मेल होने पर ए गुण एकादेश क्यों हुआ ? अ भी तो गुणसंज्ञक है। इसका कारण यह है कि अ का स्थान कण्ठ है और इ का स्थान तालु। दोनों का मिलकर हुआ कण्ठतालु । ए का उच्चारण स्थान कण्ठतालू है, इसलिए ए एकादेश हुआ। इसी प्रकार अ और उ के स्थान पर कण्ठोष्ठ ओ एकादेश हुआ।

उपदेशेजनुनासिक इत् 1.3.2

उपदेशेनुनासिकोज् इत्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः।

व्याख्याः उपदेश अवस्था में जो अच् अनुनासिक पढ़े गए हैं उनकी इत् संज्ञा होती है। पाणिनि ने कुछ वर्ण सानुनासिक पढ़े थे जिसका उद्देश्य उन्हें इत्संज्ञक करना था। आजकल पुस्तकों में हमें सानुनासिक पाठ नहीं मिलता है। केवल रूप रचना की प्रक्रिया से ही अनुमान लगाया जाता है कि कौन सा वर्ण सानुनासिक पढ़ा गया है।

उरण् रपरः 1.1.51

लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा। ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्। तत्स्थाने योण् सो रपरः सन्नेव प्रवर्तते। कष्णर्द्धि। तवल्कारः।

व्याख्याः माहेश्वर सूत्रों में हयवरट् के बाद लण् सूत्र पढ़ा गया है। ल के बाद जो अकार पढ़ा गया है वह इत्संज्ञक है। अतः र् एक प्रत्याहार है जिसमें र् और ल् का ग्रहण होता है। सूत्र का अर्थ है – ऋ के स्थान पर होने वाला अण् आदेश र् परक होता है। ऋ से तात्पर्य ऋ और ल दोनों वर्णो से है। ऋ 18 प्रकार का होता है और ल 12 प्रकार का होता है क्योंकि ल का दीर्ध नहीं होता। इस प्रकार ऋ को 30 प्रकार का माना गया है यह बात पहले बताई जा चुकी है। आद्गुणः सूत्र से अवर्ण से परे इक् होने पर गुण एकादेश बताया गया है। इस प्रकार यदि अ से परे ऋ हो तो दोनों को स्थानेन्तरतमः से अ गुण एकादेश होता है क्योंकि अ और ऋ में अ ही गुणसंज्ञक है। यह अ र् परक होगा। इसी प्रकार अ से परे यदि ल हो तो दोनों के स्थान पर अ गुण एकादेश होगा। यह अ ल् परक होगा। जैसे कष्ण + ऋद्धिः इस स्थिति में अ और ऋ के स्थान पर अर् आदेश होकर कष्णर्द्धि (कष्ण की समद्धि) रूप बना। इसी प्रकार तव + लकारः इस स्थिति में अ और ल का अल् एकादेश होकर तवल्कार (तेरा लकार) रूप बना। वास्तव में तवल्कार कोई व्यवहार में प्रयोग होने वाला शब्द नहीं है। केवल शास्त्र की प्रक्रिया को समझाने के लिए यह उदाहरण दिया गया है। ल का प्रयोग संस्कत साहित्य में अत्यल्प है।

लोपः शाकल्यस्य 8.3.19

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाशि परे।

व्याख्याः यदि पदान्त यकार और वकार से पूर्व अवर्ण (अ या आ) हो और परे अश् प्रत्याहार का कोई वर्णा हो तो यकार और वकार का विकल्प से लोप हो जाता है। यह लोप ाकल्य के मत से होता है पाणिनि के मत से नहीं। अतः यहाँ विकल्प है।

पूर्वत्रासिद्धम् 8.2.1

सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा , त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परशास्त्रमसिद्धम् । हर इह , हरविह। विष्ण इह, विष्णविह।

व्याख्याः सात अध्याय और आठवें अध्याय के प्रथम पाद के प्रति आठवें अध्याय के अगले तीन पाद असिद्ध हैं। त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति परशास्त्र असिद्ध है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं। पहले सात अध्याय और आठवें अध्याय के प्रथम पाद में आए हुए सूत्रों का प्रयोग होना हो तो आठवें अध्याय के अन्तिम तीन पादों में आए हुए सूत्रों के द्वारा जो कार्य हुआ है वह असिद्ध माना जाता है। असिद्ध का अर्थ है कि कार्य तो हो जाता है परन्तु वह पूर्व सूत्र के द्वारा होने वाले कार्य के प्रति न हुए के समान ही माना जाता है। आठवें अध्याय के पिछले तीन पाद अपने इस वैशिष्ट्य के कारण पथक् महत्व रखते हैं इसलिए ये त्रिपादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। त्रिपादी में भी पूर्व सूत्र के प्रति पर सूत्र असिद्ध माना जाता है। हरे + इह में एचोयवायावः सूत्र से ए के स्थान पर अय् आदेश होकर स्थिति

हुई – हरय् + इह। यहाँ य् से पूर्व अ है और परे अश् प्रत्याहार का वर्ण इ। अतः लोपः ााकल्यस्य सूत्र से य् का विकल्प से लोप प्राप्त हुआ। तब स्थिति हुई – हर + इह। अब यहाँ आद्गुणः सूत्र से अ और इ को गुण एकादेश प्राप्त होता है। परन्तु आद्गुणः सूत्र की संख्या है 6.1.87 और लोपः ााकल्यस्य सूत्र की संख्या है 8.3.19 अर्थात् यह सूत्र त्रिपादी का है। इसलिए आद्गुणः के प्रति लोपः शाकल्यस्य सूत्र असिद्ध हुआ अर्थात् इस सूत्र के द्वारा जो यकार का लोप हुआ है वह न हुए के समान माना जाएगा। इसलिए आद्गुणः सूत्र की प्राप्ति नहीं होगी और अ और इ के स्थान पर गुण सन्धि नहीं होगी। इसलिए हर इह यही रूप रहेगा। क्योंकि य् का लोप विकल्प से हुआ है इसलिए दूसरा रूप होगा हरयिह। इसीप्रकार विष्ण इह और विष्णविह।

वद्धिरादैच् 1.1.1

आदैच् वद्धिसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः आकार और ऐच् प्रत्याहार के वर्ण अर्थात् ऐ और औ की वद्धि संज्ञा होती है। आ को तपर किया गया है इसलिए तपरस्तत्कालस्य सूत्र के बल पर केवल आ का ही ग्रहण होगा उसके सवर्णों का नहीं।

वद्धिरेचि 6.1.88

आदेचि परे वद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणापवादः। कष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कष्णौत्कण्ठ्यम्।

व्याख्याः अवर्ण से परे यदि एच् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो दोनों के स्थान पर वद्धि एकादेश होता है। आद्गुणः सूत्र के द्वारा अवर्ण से परे अच् होने पर गुण सन्धि का विधान किया गया था। यह सूत्र उसका अपवाद है। अवर्ण से परे एच् होने पर वद्धि होगी न कि गुण। जैसे कष्ण + एकत्वम् = कष्णैकत्वम्। गङ्गा + ओघः = गङ्गौघः (गंगा का प्रवाह)। देव + ऐश्वर्यम् = देवैश्वर्यम् (देव का ऐश्वर्य)। कष्ण + औत्कण्ठ्यम् = कष्णौत्कण्ठ्यम्।

एत्येधत्यूठ्सु

अवर्णाद एजाद्योरेत्येधत्योरूदि च परे वद्धिरेकादेशः स्यात्।
पररूयमगुणापवादः। उयैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्-
उपेतः-मा भवान् प्रेदिधत्।

व्याख्याः अवर्ण से परे इण् और एध धातु का एजादि रूप तथा ऊठ् परे हो तो पूर्व–पर के स्थान पर वद्धि एकादेश हो जाता है जैसे उप+एति = उपैति, उप+एधते = उपैधते, प्रष्ठ + ऊहः = प्रष्ठौहः। उपैति तथा उपैधते में वद्धि रेचि सूत्र में भी वद्धि हो सकती थी परन्तु यहाँ आगे आने वाले एङि पररूपम् सूत्र से वद्धि का बाध कर पररूप एकादेश प्राप्त था। इसलिए पररूप को बाध कर यहाँ प्रकृत सूत्र से वद्धि का विधन किया गया है। प्रष्ठ + ऊहः मं आदगुणः से गुण प्राप्त था जिसका बाध करके प्रकृत सूत्र से वद्धि हुई है।

यदि इण धातु और एध् धातु के रूप एजादि न हों तो वद्धि एकदेश नहीं होगा। जैसे– उप + इतः = उपेतः। यहाँ इतः श्शब्द इण् धातु का क्त प्रत्यान्त रूप है परन्तु एजादि नहीं है। अतः वद्धि न होकर आद्गुणः सूत्र से गुण हुआ है। इसी प्रकार प्र + इदिधत् = प्रेदिधत्। यहाँ इदिधत् रूप एध् धातु का तो है परन्तु एजादि नहीं है। अतः आद्गुणः से गुण होकर प्रेदिधत् रूप बना है।

वा. अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्। अक्षौहिणी सेना

व्याख्याः अक्ष से से परे ऊहिनी श्शब्द हो तो पूर्ण–पर के स्थान में वद्धि एकादेश होता है। जैसे अक्ष + ऊहिनी = अक्षौहिणी। यहाँ सामान्य सूत्र आद्गुणः से गुण प्राप्त था परन्तु इस वार्तिक के द्वारा गुण का बाध करके पूर्व पर के स्थान पर वद्धि एकदेश हुआ है। अक्षौहिणी सेना का परिणाम है जिसमें 21870 हाथी, इतने ही रथ, 65610 घोड़े तथा 109350 पैदल सैनिक होते हैं। अक्षौहिणी में नकार को णकार पूर्वपदात् संज्ञायामगः सूत्र से हुआ है।

वा. प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः।

व्याख्याः प्र उपसर्ग से परे यदि ऊह, ऊढ, ऊढि, एष और एष्य हों तो तो पूर्व पर के स्थान पर वद्धि एकादेश होता है। जैसे

प्र + ऊहः = प्रौहः (विशेष तर्क),

प्र + ऊढः = प्रौढः (बड़ी आयु वाला),

प्र	+	ऊढिः	=	प्रौढिः (प्रौढता),
प्र	+	एषः	=	प्रैषः (प्रेरणा),
प्र	+	एष्यः	=	प्रैष्यः (सेवक)।

इन स्थानों में गुण का बाध करके वद्धि एकादेश हुआ है।

वा. ऋते च ततीया समासे। सुखेन ऋतः सुखार्तः । ततीयेति किम्- परमर्तः।

व्याख्याः ततीया समास में अवर्ण से परे ऋत शशब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वद्धि एकादेश होता है। जैसे सुख+ऋतः = सुखार्तः (सुखेन ऋतः अर्थात् सुख से प्राप्त किया गया)। यहाँ ततीया तत्पुरूष समास है। अतः वद्धि एकादेश हुआ। यदि ततीया समास न हो तो गुण सन्धि होगी। जैसे– परम+ऋतः परमर्तः (परमं ऋतः अर्थात् परम स्थान को प्राप्त हुआ अर्थात् मुक्त) यहाँ ततीया तत्पुरूष समास न होकर द्वितीया तत्पुरूष समास है। अतः वद्धि एकादेश न हाकर गुण एकादेश हुआ है।

वा. वत्सतर कम्बल वसनार्ण दशानामणे। प्रार्णम्। वत्सरार्णमित्यादि।

व्याख्याः प्र, वत्सतर, कम्बल, ऋण और दश शशब्दों से परे ऋण शशब्द हो तो वद्धि, एकादेश होता है।

जैसे– प्र+ऋणम् = प्रार्णम् (कर्ज)।

वत्सर + ऋणम् वत्सरार्णम् (बछड़े के लिए लिया हुआ ऋण)।

वसन + ऋणम् = वसनार्णम् (कपड़े के लिए ऋण)।

दश + ऋणम् = दशार्णम् (एक देश का नाम)

ऋण + ऋणम् = ऋणार्णम् (ऋण के लिए ऋण)

उपसर्गः क्रियायोगे। 1.4.59

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र. परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप–एते प्रादयः।

व्याख्याः प्र आदि शशब्द जब क्रिया के साथ प्रयुक्त होते हैं तो उनकी उपसर्ग संज्ञा होती है।

भूवादयो धातवः 1.3.1

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

व्याख्याः क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले भू आदि शशब्द धातुसंज्ञक होते हें। भू आदि शशब्द धातुपाठ में पढ़े गए हैं। भू पहला शब्द है इसलिए धातुपाठ में पढ़े गए शशब्द भ्वादि कहलाते हैं। इन शशब्दों के साथ तिङ् आदि प्रत्यय लगाकर क्रियाएं बनती हैं। इन शशब्दों की तभी धातुसंज्ञा होती है जब ये क्रियावाची हों। अन्य अर्थ में इनकी धातुसंज्ञा नहीं होती। जैसे भू शशब्द होने अर्थ में धातुसंज्ञक है परन्तु पथ्वी अर्थ में नहीं।

उपसर्गादति धातौ 6.1.91

अवर्णन्तादुपर्साद् ऋकारादौ धातौ परे वद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति।

व्याख्याः अवर्णान्त उपसर्ग से परे यदि ऋकारादि धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में वद्धि एकादेश होता है।

जैसे–

प्र + ऋच्छति = प्रार्च्छति (जाता है)। यहाँ अ और ऋण को आर् वद्धि एकादेश हुआ है। इसी प्रकार उप + ऋच्छति = उपार्च्छति (समीप जाता है)।

एङि पररूपम् 6.1.94

आदुपसर्गाद् एङादौ धातौ परे पररूपमेकादेश, स्यात् । प्रेजते। उपोषति।

व्याख्याः अवर्णान्त उपसर्ग से परे यदि एङ् (ए,ओ) से प्रारम्भ होने वाली धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकदेश होता है। अर्थात् पूर्व–पर के स्थान में वही रूप हो जाता है जो पर स्वर का है। जैसे, प्र + एजते = प्रेजते (काँपता है) यहाँ अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङ् से प्रारम्भ होने वाली धातु है। अतः अ और ए दोनों के स्थान में पररूप अर्थात ए हो गया है। यह वद्धि सूत्र का अपवाद है। इसी प्रकार उप + ओषति = उपोषति (जलाता है) प्र + एषते = प्रेषते आदि।

अचोन्त्यादि टिः 1.1.64

अचां मध्ये योन्त्यः, स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः किसी श्शब्द के अन्तिम अच् से लेकर आगे आने वाले व्यजनों सहित पूर्ण समुदाय की टि संज्ञा होती है। जैसे सरस् श्शब्द में अन्तिम अच् रेफ–उत्तरवर्ती अकार है। अकार से परे स् व्यजन है। अतः अस् समुदाय की टि संज्ञा हुई। यदि अन्तिम अच् के बाद कोई व्यजन न हो तो अन्तिम अच् की ही टि संज्ञा होती है। जैसे शक श्शब्द में अन्तिम अच् अकार की टि संज्ञा है।

वा. शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। तच्च टेः। शकन्धुः । कर्कन्धुः । मनीषा। आकृतिगाणेयम्। मार्तण्डः।

व्याख्याः शकन्धु आदि श्शब्दों में टि को पररूप होकर रूप सिद्ध होते हैं। जैसे–

शक + अन्धुः = शकन्धु : (शकों का कुआँ)

यहाँ पर सामान्यतः दीर्घसन्धि प्राप्त थी परन्तु उसको बाध कर शक के अन्तिम अच् अ, जो टि संज्ञक है तथा अन्धुः के अ दोनों को पररूप अकार एकादेश हुआ है। इसी प्रकार कर्क + अन्धुः = कर्कन्धुः। मनस् + ईषा = मनीषा। यहाँ मनस् के टि अस् तथा ई को पररूप ईकार आदेश हुआ है। यह आकृतिगण है। शकन्धु आदि गण में परिगणित श्शब्दों के अतिरिक्त इस प्रकार के अन्य श्शब्दों में भी यही नियम समझना चाहिए। जैसे मार्त+अण्ड = मार्तण्ड। पतत् + अजलिः = पतजलिः। गणपा ठ अष्टाध्यायी से पथक् पाठ है। इसमें कुछ विशेष श्शब्दों के गण (समूह) पठित हैं।

ओमाङोश्च 6.1.95

ओमि आङि चात परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः। शिव + एहि–

व्याख्याः अवर्ण से परे ओम् और आङ हो तो पूर्व पर को परस्पर एकादेश होता है। जैसे शिवाय + ओम् = शिवायोम्।

अन्तादिवच्च 6.1.85

योयमेकादेशः स पूर्वास्यान्तवत् परस्यादिवता्। शिवेहि।

व्याख्याः जो एकादेश होता है वह पूर्व समुदाय के अन्तिम के समान और पर समुदाय के आदि के समान होता है। जैसे शिव + आ + इहि, यहाँ आ आङ का ही अवशिष्ट रूप है क्योंकि ङ् की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा हुई है और तस्यलोपः से उसका लोप हुआ है। आ और इ की गुणसन्धि होकर रूप बना शिव + एहि । अब यहाँ ओमाङोश्च सूत्र की प्रसक्ति नहीं होती क्योंकि अवर्ण से परे आङ् न होकर ए है। परन्तु अन्तादिवच्च सूत्र से एहि में आङ् की संज्ञा भी मानी जाएगी। इसलिए ओमाङोश्च सूत्र की प्राप्ति होकर शिव के अकार और एहि के एकार का पररूप एकादेश प्राप्त होता है। अतः रूप बना शिवेहि। इसी प्रकार प्र + आ + इहि = प्र + एहि = प्रेहि। उप + आ + इहि = उप + एहि = उपेहि आदि रूप बनेंगे।

अकः सवर्णे दीर्घः 6.1.101

अकः सवर्णेचि परे पूर्वपरयोदीर्ध एकादेशः स्यात्। दैत्यादिः। श्रीशः। विष्णूदयः । होतृकारः ।

व्याख्याः अक् प्रत्याहार के वर्ण से परे यदि सवर्ण अक् हो तो पूर्व–पर के स्थान में दीर्घ एकादेश होता है। जैसे दैत्य + अरिः यहाँ अकार से परे सवर्ण अकार है। अतः दोनों के स्थान पर दीर्घ एकादेश होकर दैत्यारिः (दैत्यों का शुत्रु अर्थात विष्णु) रूप बना। इसी प्रकार श्री + ईशः = श्रीशः (लक्ष्मी का स्वामी), विष्णु + उदयः = विष्णूदयः (विष्णु का उदय), होत + ऋकारः = होतृ कारः रूप बने।

एङः पदान्तादति 6.1.109

पदान्तादेङोति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेव । विष्णोव

व्याख्याः पदान्त एङ् अर्थात ए, ओ से परे यदि ह्रस्व अकार हो तो पूर्व–पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। पूर्वरूप एकादेश का अर्थ है कि जो रूप पूर्व वर्ण का है वही रूप दोनों के स्थान पर हो जाए। जैसे हरे + अव में हरे पद के अन्त में ए है और उससे परे हस्व अकार है। अतः पूर्व–पर के स्थान पर पूर्वरूप एकार आदेश होगा और रूप बनेगा हरेव (हे हरे रक्षा करो)। चिन्ह अवग्रह कहलाता है। अकार के पूर्वरूप हो जाने पर भी स्पष्टता के लिए यह चिन्ह लगाया जाता है। इसी प्रकार विष्णो + अव = विष्णेव (हे विष्णो, रक्षा करो)।

सर्वत्र विभाषा गोः 6.1.122

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते। गो अग्रम्, गोग्रम्। एङन्तस्य किम्-चित्रग्वग्रम्। पदान्तेकिम्-गोः।

व्याख्याः एङन्त गो से परे यदि ह्रस्व अकार हो तो सर्वत्र अर्थात् लोक और वेद में विकल्प से प्रकृतिभाव होता है, यदि वह पद के अन्त में हो। प्रकृतिभाव का अर्थ है जैसा है वैसा ही रहना अथ्रत् सन्धि न होना। जैसे गो + अग्रम् = गो अग्रम्। यहाँ गो पद में ओ पद के अन्त में है। पद की परिभाषा है– सुप्तिडातं पदम्। अर्थात् जिस के अन्त मं सुप् या तिङ् प्रत्यय लगे हों उसकी पद संज्ञा होती है। गो + अग्रम् यह एक समस्त पद है जिसका विग्रह गोः+अग्रम् है। समास में सुपो धातुप्रातिपदिकयोः सूत्र से सुप् का लोप हो जाता है। परन्तु प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् इस सूत्र के बल पर सुप के लोप हो जाने पर भी सुप् का लक्षण विद्यमान रहता है। इसलिए सुप् के लोप हो जाने पर भी श्शब्द की पदसंज्ञा रहती है। अतः गो श्शब्द में ओ पद के अन्त में है, इसलिए प्रकृत सूत्र से विकल्प से प्रकृतिभाव रहेगा और गो अग्रम् रूप ही रहेगा। विकल्प पक्ष में एङः पदान्तादति सूत्र से पूर्वरूप एकदादेश होगा अैर गोग्रम् रूप भी बनेगा।

एङन्त न होने पर प्रकृतिभाव नहीं होगा। जेसे चित्रगु+अग्रम् = चित्रग्वग्रम्। यहाँ चित्रगोः + अग्रम् का समास होकर सुप् का लोप होने पर चित्रगो+अग्रम् यह स्थिति बनी और गोस्त्रियोरूपसर्जनस्य से ह्रस्व होकर चित्रगु+अग्रम् यह स्थिति बनी। यहाँ पद के अन्त में एङ् नहीं है इसलिए प्रकृतिभाव न होकर यण् सन्धि होगी और रूप बनेगा चित्रग्वग्रम्।

अनेकाल् शित सर्वस्य 6.1.122

इति प्राप्ते

व्याख्याः जिस आदेश में एक से अधिक अल् हों अथवा जिसमें शकार की इत्संज्ञा हो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है। यह सूत्र अलोन्त्यस्य का अपवाद है। अलोन्त्यस्य के अनुसार आदेश अन्तिम अल् के स्थान पर बताया गया है। परन्तु आदेश में एक से अधिक अल् हों अथवा वह शित् हो तो आदेश केवल अन्तिम अल् के स्थान पर न होकर सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है। जैसे अस्तेर्भूः सूत्र के अनुसार अस् धातु के स्थान पर भू आदेश बताया गया है। भू में दो अल् हैं– भ् तथा ऊ। इसलिए यह अनेकाल् है। यह आदेश केवल स् के स्थान पर न होकर सम्पूर्ण स्थानी अस् के स्थान पर होता है। इसी प्रकार अष्टाभ्य औश् सूत्र से अष्टन् श्शब्द से परे जस् के स्थान पर औश आदेश होता है। औश् क्योंकि शित है, इसलिए यह आदेश सम्पूर्ण जस् के स्थान पर होता है।

ङिच्च 1.1.53

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्।

व्याख्याः यदि आदेश ङित् हो तो अनेकाल् होने पर भी अन्तिम अल् के स्थान पर होता है।

अवङ् स्फोटायनस्य 6.1.123

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वाडचि। गवाग्रम्, गोग्रम्। पदान्ते किम् गवि।

व्याख्याः एङन्त गो पद के स्थान पर विकल्प से अवङ् आदेश होता है। अवङ् क्योंकि ङित् है इसलिए ङिच्च सूत्र से अन्तिम अल् गो के स्थान पर होता है अन्यथा अनेकाल् होने के कारण सम्पूर्ण गो के स्थान पर प्राप्त था जैसे गो+ अग्रम् = गव + अग्रम् = गवाग्रम्। अवङ् स्फोटायन के मत से हैं, पाणिनि के मत से नहीं, इसलिए यहाँ विकल्प है। विकल्प पक्ष में गो+अग्रम् = गो अग्रम् (प्रकृतिभाव), गोग्रम् (एङः पदान्तादति)।

इन्द्रे च 6.1.124

गोरवङ् स्यादिन्द्रे।

व्याख्याः इन्द्र श्शब्द परे होने पर गो को अवङ् आदेश होता है। इसलिए गो+इन्द्रः = गव+इन्द्र = गवेन्द्रः (आद्‌गुणः से गुण)।

दूराद् धूते च 8.2.84

दूरात् संबोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा।

व्याख्याः दूर से सम्बोधन करके बुलाने के अर्थ में प्रयुक्त वाक्य के टि को विकल्प से प्लुत हो जाता है। जब किसी को दूर से पुकारा जाता है तो वाक्य का टि अर्थात् अन्तिम अच् को प्लुत हो जाता है। जैसे आगच्छ राम3।

प्लुतप्रगह्या अचि नित्यम् 6.1.125

एते अचि प्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण 3 अत्र गौश्चरित।

व्याख्याः प्लुत और प्रगह्य संज्ञक से परे यदि अच् हो तो प्रकृति भाव रहता है अर्थात् सन्धि नहीं होती। जैसे आगच्छ कृष्ण3 अत्र औष्वरति। यहाँ दो वाक्य हैं। पूर्व वाक्य में दूर से बुलाया गया है, अतः कृष्ण के अन्तिम अकार को प्लुत हुआ हे। इसके पश्चात् दूसरे वाक्य का अकार आया है। अतः अकः सवर्णे दीर्घः से दीर्घ सन्धि प्राप्त होती है। परन्तु क्योंकि प्लुत को प्रकृतिभाव रहता है, इसलिए कृष्ण3 और अत्र में सन्धि नहीं हई। प्रगह्य संज्ञा अगले सूत्रों में बताई जाएगी।

ईदूदेद् द्विवचनं प्रगह्यम् 1.1.11

ईदूदेदन्तं द्विक्चनं प्रगह्यसंज्ञं स्यात्। हरी ऐतौ। विष्णू इमौ। गंगे अमू।

व्याख्याः द्विवचन श्शब्द यदि ईकारान्त हो, ऊकरान्त हो अथवा एकारान्त हो तो उसकी प्रगह्य संज्ञा होती है। प्रगह्य संज्ञा का फल प्रकृतिभाव रहना है। जैसे हरी+एतौ = हरी एतौ। यहाँ हरी श्शब्द द्विवचन है और ईकारान्त है, इसलिए प्रगह्य एंज्ञा हुई और प्रकृतिभाव हुआ। इसी प्रकार विष्णु इमौ, गंगे अमू। यहाँ विष्णू श्शब्द द्विवचन है और उकारान्त है, गंगे श्शब्द द्विवचन है और एकारान्त है अतः इनकी प्रगह्य संज्ञा हुई और फलस्वरूप प्रकृतिभाव हुआ।

अदसो मात् 1.1.12

अस्मात् परावीदूतौ प्रगह्यौ स्तः। अमी ईशाः रामकृष्णावमू आसाते। मात्किम् –अमुकेत्र।

व्याख्याः अदस् श्शब्द के मकार से परे ईकार, ऊकार और एकार की प्रगह्य संज्ञा होती है। जैसे अभी + ईशाः। यहाँ अमी श्शब्द अदस् प्रतिपादिक का प्रथमा बहुवचन का रूप है। म से परे ई होने के कारण ई को प्रगह्य संज्ञा हुई। प्रगह्य संज्ञा प्रकृतिभाव से रहती है। इसलिए अभी + ईशा में दीर्घ सन्धि नहीं हुई और अभी ईशाः रूप ही रहा। इसी प्रकार अमू+आसाते में अमू पद प्रथमा द्विवचन का रूप है। म् से परे ऊकार की प्रगह्य संज्ञा हुई। इसलिए प्रकृतिभाव होकर

अमू आसाते रूप रहा। अद् शशब्द के म् से परे एकारान्त रूप नहीं बनता, अतः ईदूदेद् द्विवचनं प्रगह्यम् से एकार की अनुवत्ति होने पर भी कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता। अदस् शशब्द के म् से परे ई, ऊ और ए से पहले किसी अन्य वर्ण का व्यवधान होतो प्रगह्य संज्ञा नहीं होती जैसे अमुकेत्र। यहाँ अमुके रूप भी अदस् शशब्द का ही है परन्तु म् और ए के मध्य उकार और ककार का व्यवधान है, इसलिए एकार की प्रगह्य संज्ञा नहीं होगी और एङः पदान्तादति से पूर्वरूप सन्धि होकर अभुकेत्र रूप बनेगा।

चादयोसत्वे 1.1.53

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः।

व्याख्याः च आदि शशब्द जब द्रव्य अर्थ में प्रयुक्त न हों तो उनकी निपात संज्ञा होती है। च आदि शशब्द अव्यय होते हैं। जब ये द्रव्यवाची न हों तो इन्हें निपात कहते हैं।

प्रादयः 1.4.58

एतेपि तथा।

व्याख्याः प्र. आदि शशब्द भी निपात संज्ञक होते हैं। प्र आदि शशब्द उपसर्गाः क्रियायोगे सूत्र की व्याख्या में गिनाए जा चुके हें।

निपात एकाजनाङ् 1.1.14

एकोज् निपात आङ्वर्जः प्रगह्य स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः । वाक्य स्मरणयोरङित् - आ एवं नु मन्यसे, आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्- ईषदुष्णम् ओष्णम्।

व्याख्याः जो निपात केवल एक अच् मात्र हो उसकी प्रगह्य संज्ञा होती है, आङ् को छोड़कर। जैसे इ इन्द्रः, उ उमेशः। यहाँ इ और उ निपात हैं और इनका स्वरूप केवल एक अच् मात्र है, इसलिए इनकी प्रगह्य संज्ञा हुई और दीर्घ सन्धि नहीं हुई। परन्तु आङ् निपात की प्रगह्य संज्ञा नहीं होती। आङ् का आ शेष होता है। जैसे आ+उष्णम् = ओष्णम् (थोड़ा सा गर्म)। आङ् का आ यद्यपि एक अच् मात्र है तथापि प्रगह्य संज्ञक न होने के कारण उसका प्रकृति भाव नहीं हुआ और गुण सन्धि हो गई। आ का अङित् रूप भी भाषा में प्रचलित रहा है। विशेष रूप से वाक्य में और स्मरण अर्थ में। उस अवस्था में आ की प्रगह्य संज्ञा होती है, जैसे आ एवं नु मन्यसे (अरे क्या तुम ऐसा मानते हो); आ एवं किल तत् (हाँ निश्चित रूप से ऐसा ही है)।

ओत् 1.1.15

ओदन्तो निपातः प्रगह्यः । अहो ईशाः!

व्याख्याः ओकारान्त निपात की प्रगह्य संज्ञा होती है। जैसे अहो ईशाः यहाँ अहो निपात ओकारान्त है, इसलिए प्रगह्य संज्ञा हुई और प्रकृतिभाव हुआ।

सम्बुद्धौ शाकल्येतावनार्षे 1.1.16

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगह्योवैदिके इतौ परे। विष्णो इति, विष्ण इति, विष्णविति।

व्याख्याः जो ओकार प्रथमा एक वचन के सम्बोधन पद के अन्त में हो और उससे परे इति हो तो उसकी विकल्प से प्रगह्य संज्ञा होती है, अवैदिक अर्थात् लौकिक सहित्य में। प्रथमा एक वचन के सम्बोधन रूप को सम्बुद्धि कहते हैं। जैसे विष्णो इति। यहाँ विष्णो पद एक वचन सम्बोधन का रूप है और इससे परे इति शशब्द का लौकिक भाषा में प्रयोग हुआ है। अतः ओकार की विकल्प से प्रगह्य संज्ञा होगी। प्रगह्य पक्ष में प्रकृतिभाव होकर विष्णो इति रूप ही रहेगा। अप्रगह्य पक्ष में एचोयवायवः सूत्र से सन्धि होकर रूप बनेगा विष्णव् + इति = विष्णविति। लोपः शाकल्यस्य से व् का विकल्प से लोप होकर रूप बनेगा विष्ण इति। यह नियम वेद में लागू नहीं होता।

मय उञो वो वा 8.3.33

मयः परस्य उञो वो वा अचि। किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्।

व्याख्याः मय् से परे उञ् को विकल्प से व् आदेश हो जाता है। जैसे किमु+उक्तम् = किम्वुक्तम्। यहाँ किम् से परे उञ् अर्थात् उ निपात है। निपात एकाचानाङ् से उ की नित्य प्रगह्य संज्ञा प्राप्त थी। परन्तु इस सूत्र के द्वारा उ को व् आदेश बताया गया है, अतः किम्वुक्तम् रूप बना। प्रगह्य पक्ष में किमु उक्तम् रूप ही रहेगा।

इकोसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च 6.1.127

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेचि। ह्रस्वविधानसामर्थ्या स्वरसन्धिः। चक्रि अत्र, चक्रच। पदान्ता इति किम्-गौर्यो।

व्याख्याः पदान्त इक् से र्यो रे यदि असवर्ण अच् हो तो इक् को विकल्प से ह्रस्व आदेश हो जाता है। जैसे चक्री + अत्र = चक्रि अत्र। यहाँ चक्री में ई पदान्त में है और उससे परे असवर्ण अच् अ है। अतः शाकल्य के मतानुसार ई को ह्रस्व इकार हो गया और सन्धि नहीं हुई। पाणिनि के मतानुसार यहाँ यण् सन्धि होकर चक्रचा रूप बनेगा। सूत्र में ह्रस्व का विधान किया गया है जिससे स्पष्ट होता है कि हस्व होने के पश्चात् स्वर सन्धि नहीं होगी क्योंकि स्वर सन्धि होने पर चक्रच रूप ही बनता जो दीर्घ ईकार से भी बनता है। अतः यह सूत्र निरर्थक हो जाता।

यह नियम तभी लागू हाता है जब इक् पद के अन्त में हो पद के मध्य में यह नियम लागू नहीं होता जैसे गौरी + औ = गौर्यो। यह गौरी श्शब्द का प्रथम द्विवचन का रूप है। पूर्ण पद है गौर्यो न कि गौरी। अतः ई यहाँ पदान्त में नहीं है, अतः हस्व नहीं हुआ।

अचो रहाभ्यां द्वे 8.4.46

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौर्य्यो।

व्याख्याः अच् से परे रेफ या हकार हों और उनसे परे यर् हो तो यर् को विकल्प से द्वित्व हो जाता है। जैसे गौरी–औ। यहाँ पहले इको यणचि सूत्र से ई को य् आदेश हुआ। तब स्थिति हुई गौर् य् + औ। यहाँ अच् से परे रेफ है और उससे परे यकार है जो यर् प्रत्याहार का वर्ण है। इसलिए यकार को विकल्प से द्वित्व होगा और रूप बनेगा गौर्य्यो। द्वित्व के अभाव पक्ष में रूप बनेगा गौर्यो।

ऋत्यकः 6.1.128

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा। ब्रह्म ऋषि, ब्रह्मर्षि। पदान्ताः किम् - आर्च्छत्। इति अच् सन्धि

व्याख्याः पद के अन्त में आने वाले अक् को विकल्प से हस्व हो जाता है यदि परे ह्रस्व ऋत (ऋत्) हो जैसे ब्रह्मा + ऋषि = ब्रह्म ऋषि। ह्रस्व होने के बाद सन्धि नहीं होती है। विकल्प पक्ष में आद्गुणः से गुण होकर ब्रह्मर्षि रूप बनेगा। जब अक् पद के अन्त में न हो तो सामान्य नियमों के अनुसार सन्धि होगी। जैसे आ+ऋच्छत् आर्च्छत्। यह एक पद है, अतः आ पद के अन्त में नहीं है। इसलिए आ को हस्व नहीं होगा। आटश्च सूत्र से वद्धि होकर आर्च्छत् रूप बनेगा।

(यहाँ अच् सन्धि समाप्त हुई।)

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या कीजिए–

इको यणचि, तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य, स्थानेन्तरतमः, अनचि च, झलां जश् झशि, एचोयवायावः अदेङ् गुणः, तपरस्तत्कालस्य, आद् गुणः, पूर्वात्रासिद्धम्, वद्धिरोचि, एङि पररूपम्, अकः सवर्णे दीर्घः एङः पदान्तादति, प्लुतप्रगह्या अथिच नित्यम्, अचो रहाभ्यां द्वे।

2. निम्नलिखित सन्धि करने वाले प्रमुख सूत्र बताइए–

   यण् सन्धि, गुणसन्धि, वद्धि सन्धि, सवर्ण दीर्घ सन्धि, अयादि सन्धि, पूर्वरूप सन्धि, पररूप सन्धि, प्रकृतिभाव सन्धि।

3. निम्नलिखित संज्ञा करने वाले प्रमुख सूत्र बताइए–

   गुण संज्ञा, वद्धि संज्ञा, उपसर्ग संज्ञा, धातु संज्ञा टि संज्ञा, प्रगह्य संज्ञा।

4. निम्नलिखित श्शब्दों की प्रमुख सूत्र बताकर सिद्धि कीजिए–

   सुद्ध्युपास्यः, हरये, गव्यम्, उपेन्द्रः कृष्णर्द्धिः, गंगौधः, अक्षौहिणी, सुखार्तः प्रेजते, पतजलिः, शिवायों नमः, गो अग्रम्, हरी एतौ, अमी ईशाः, इ इन्द्रः।

(ख) अथ हल्सन्धिः

स्तोः श्चुना श्चुः 8.4.40

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः। रामश्शेते। रामश्चिनोति सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जयः।

व्याख्याः सकार और तवर्ग का शकार और चवर्ग के साथ योग हो तो सकार को शकार और तवर्ग का चवर्ग आदेश हो जाता है। यथासख्यमनुदेशः समानाम् सूत्र से त् को च्, थ को छ्, द को ज्, ध् को झ् तथा न् को ञ् आदेश होता है। जैसे– रामस्+शेते = रामश्शेते। रामस् + चिनोति = रामश्चिनोति। सत् + चित् = सच्चित्। शार्ङ्गिन् + जयः = शार्ङ्गिञ्जयः। ध्यान रहे, सकार और तवर्ग का शकार और चवर्ग के साथ योग कहा गया है। पूर्व और पर का विचार यहाँ नहीं किया जाता है।

शात् 8.4.44

शात् परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात्। विश्नः प्रश्नः।

व्याख्याः शकार से परे तवर्ग के स्थान में श्चुत्व नहीं होता है। जैसे विश्+नः। यहाँ शकार और तवर्ग न् का योग है, इसलिए स्तोः श्चुना श्चुः से न् को ञ् प्राप्त था। परन्तु शात् सूत्र से उसका बाध हो गया। इसलिए विश्नः रूप ही रहा। इसी प्रकार प्रश् + नः = प्रश्नः।

ष्टुना ष्टुः 8.4.41

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्याद्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे।

व्याख्याः सकार और तवर्ग का यदि षकार और टवर्ग के साथ योग हो तो सकार को षकार और तवर्ग को टवर्ग आदेश हो जाता है। जैसे रामस् + षष्ठः = रामष्षष्ठः (छठा राम) रामस् + टीकते = रामष्टीकते (राम जाता है)। पेष् + ता = पेष्टा (पीसने वाला)। तत् + टीका = तट्टीका (उसकी टीका)। चक्रिन् + ढौकसे = चक्रिण्ढौसे से (हे चक्रधारी तुम जाते हो)। इन उदाहरणों में षकार अथवा टवर्ग के योग में सकार को षकार अथवा टवर्ग के योग में सकार को षकार और तवर्ग को टवर्ग आदेश हुआ है। यथासंख्यमनुदेशः समानाम् से त् को ट्, थ् को ठ्, द् को ड्, ध को ढ् तथा न् को ण् आदेश होता है। सकार और तवर्ग का षकार और टवर्ग से योग होना कहा गया है चाहे वह पूर्व हो या पर हो।

न पदान्ताट्टोरनाम् 8.4.42

पदान्ताट्टवर्गात्परस्यानामः स्तो ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम् –ईट्टे। टोः किम् संर्पिष्टमम्।

व्याख्याः पदान्त टवर्ग से परे सकार और तवर्ग को टवर्ग आदेश नहीं होता है। यह ष्टुना ष्टुः सूत्र का अपवाद है जैसे षट् सन्तः (छह सन्त)। यहाँ षट् में ट् पद के अन्त में है। इसलिए स को ष् आदेश नहीं हुआ है। इसी प्रकार षट् ते (वे छह) में पदान्त ट् से परे त् को ट् आदेश नहीं हुआ है। यदि टवर्ग पदान्त में न हो तो सकार और त वर्ग को षकार और टवर्ग ओदश हो जाता है। जैसे ईट्+ते (यहाँ ईड् धातु के ड् को त परे होने पर खरि च सूत्र से ट् आदेश हुआ है। ते प्रत्यय आत्मने पद का लट् लकार प्रथम पुरूष एकवचन का प्रत्यय है। यहाँ ट् पदान्त नहीं है, अपितु पद के मध्य में है, इसलिए त् को ट् आदेश हो जाएगा और रूप बनेगा ईट्टे। सूत्र में पदान्त ट वर्ग कहा गया है। बनाम परे होने पर इस सूत्र की प्रवत्ति नहीं होती। जैसे षड्+नाम = षण्णाम्। यहाँ प्रत्यये भाषायां नित्यम् इस वार्तिक से ड् को ण् आदेश हुआ और स्थिति हुई षण् + नाम। यद्यपि ण् पदान्त टवर्ग है तो भी नाम के न को ण् प्राप्त हो जाता है क्योंकि सूत्र की प्रवति नाम शब्द को छोड़कर बताई गई है। अतः रूप बना षण्णाम्।

वा. अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

व्याख्याः नाम, नवति और नगरी को छोड़कर पदान्त टवर्ग से पर त वर्ग को ट वर्ग आदेश नहीं होता है। ऐसा कहना चाहिए। न पदान्ताट्टो...... सूत्र में नाम पद को छोड़कर कहा गया है। वर्तिककार ने नवति और नगरी शब्द को नाम के साथ सम्मिलित किया है। जैसे षण्+नवतिः = षण्णवतिः। षण् + नगर्यः = षण्णगर्यः। यहाँ षड् के ड् को यरोनुनासिके नुनासिको वा से विकल्प से ण् हुआ है। ण् से परे नवतिः और नगरी के न को टवर्ग ण् आदेश हुआ है। ड् को ण् जब नहीं होगा तो रूप बनेगा षड्णवतिः, षड्णगर्यः।

तो षिः 8.4.43

न ष्टुत्वम्। सन् षष्ठः।

व्याख्याः षकार परे रहते तवर्ग को टवर्ग आदेश नहीं होता है। यह ष्टुना ष्टुः का अपवाद है। जैसे सन् + षष्ठः = सन् षष्ठः ष्टुना ष्टुः से न् को ण् प्राप्त था परन्तु प्रकृत सूत्र से उसका निषेध हो गया।

झलां जशोन्ते 8.2.39

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः।

व्याख्याः पद के अन्त में झलों को जश् आदेश हो जाता है। झल् प्रत्याहार में वर्ग के प्रथम, द्वितीय, ततीय, चतुर्थ वर्ण तथा श ष स ह वर्ण आते हैं। जश् में केवल ततीय अर्थात् ज, ब, ग, ड, द वर्ण आते हैं। किस झल् के स्थान पर क्या आदेश हो इसका निर्णय इस बात से होता है कि झल् कौन से वर्ग का है। जिस वर्ग का झल् उसके स्थान पर उसी वर्ग का ततीय वर्ण हो जाता है जैसे क, ख, ध के स्थान पर गः च, छ झ ज् होगा ष् के स्थान पर स्थाने अन्तरतमः से डकार, श् को जकार तथा स् को तकार होना चाहिए। परन्तु श् और स् के उदाहरण नहीं मिलते हैं।

उदाहरणः वाक् + ईशः । यहाँ वाक् में क् पदान्त में है इसलिए इसको जशत्व होकर ग् बना और वागीश रूप सिद्ध हुआ।

यरोनुनासिकेनुनासिको वा 8.4.45

यरः पदान्तस्यानुनासिके परे अनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः।

व्याख्याः पदान्त यर् से परे यदि अनुनासिक हो तो यर् को विकल्प से अनुनासिक हो जाता है। जैसे एतद् + मुरारिः = एतन्मुरारिः। यहाँ द् यर् प्रत्याहार का वर्ण है और पदान्त में है। उससे परे अनुनासिक म् है। इसलिए द् को स्थानेन्तरतमः से उसी वर्ण का अनुनासिक न् आदेश हुआ है। विकल्प पक्ष में एतद्मुरारिः रूप बनेगा।

वा. प्रत्यये भाषायां नित्यम्। तन्मात्रम्, चिन्मयम्

व्याख्याः यदि अनुनासिक प्रत्यय के आदि में हो तो लैकिक भाषा में यर् को नित्य अनुनासिक जैसे तद् + मात्रम्। यहाँ मात्र प्रत्यय परे होने पर द् को नित्य न् होगा और रूप बनेगा तन्मात्रम्। मात्रच् प्रत्यय 'तदस्य परिमाणम्' अर्थ में 'द्वयसुच्दध्नच्मात्रचः' सूत्र से हुआ है। इसी प्रकार चित्+मयम्। यहाँ म् मयट् प्रत्यय का है। अतः त् को नित्य अनुनासिक होकर चिन्मयम् रूप बनेगा। यहाँ 'तत्प्रकृतवचने मयट्' से मयट् प्रत्यय हुआ है।

तोर्लि 8.4.60

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नस्यानुनासिको लः।

व्याख्याः लकार परे होने पर तवर्ग को परसवर्ण हो जाता है। जैसे तद्+लयः = तल्लयः। यहाँ द् को लकार परे होने पर परसवर्ण ल् आदेश हुआ है। नकार को अनुनासिक ल् आदेश होता है। जैसे विद्वान् + लिखति = विद्वाल्ँलिखति = विद्वाल्लिँखति।

उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य 8.4.61

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः।

व्याख्याः उद् उपसर्ग से परे यदि स्था और स्तम्भ धातु हों तो स्था और स्तम्भ धातुओं के स्थान पर पूर्वसवर्ण आदेश हो जाता है।

तस्मादित्युत्तरस्य 1.1.67

पचमनिर्देशेन क्रियमाणं कार्य वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

व्याख्याः तस्मात् पद पचमी विभक्ति का सूचक है। जब पचमी विभाकि द्वारा कोई कार्य निर्दिष्ट हो तो वह कार्य पचम्यन्त पद द्वारा बोधित शब्द से बाद वाले वर्ण पर होता है। पचमी–निर्दिष्ट पद और जिस वर्ण पर कार्य हो उसके बीच में किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं होना चाहिए। जैसे 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' सूत्र में उदः में पचमी विभक्ति है। अतः उत् उपसर्ग से परे स्था और स्तम्भ पर कार्य होंगे।

उत् उपसर्ग से परे स्था और स्तम्भ को पूर्वसवर्ण आदेश बाताया गया है। यह आदेश किस वर्ण के स्थान पर हो इसका निर्णय अग्रिम सूत्र से होगा।

आदेः परस्य 1.1.54

परस्य यद् विहितं तत् तस्योदेर्बोध्यम्। इति सस्य थः।

व्याख्याः जो कार्य बाद वाले शब्द पर बताया गया है वह कार्य उस शब्द के आदि वर्ण पर होता है। जैसे उद्+स्थानम् और उद्+स्तम्भनम्। यहाँ स्थानम् स्था धातु का रूप है और स्तम्भनम् धातु का रूप है। अतः पूर्वसवर्ण आदि वर्ण स् के स्थान पर होगा। पूर्ववर्ण तवर्ग है अतः से के स्थान तवर्ग होगा। स् का सवर्ण तवर्ग को कौन सा वर्ण है स्थानेन्तरतमः से प्रयत्न सादश्य के कारण स् का सवर्ण थ् होगा क्योंकि दोनों का प्रयन्त विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण है।

इसलिए उद्+थ्थानम्, उद्+थ्तम्भनम् यह स्थिति हुई।

झरो झरि सवर्णे 8.4.65

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि।

व्याख्याः हल् से परे झर् हो और उससे परे सवर्ण झर् हो तो पूर्व झर् का विकल्प से लोप हो जाता है। जैसे उद्+थ्थानम् और उद्थ्तम्भनम् में थ् से परे सवर्ण झर् हैं। इसलिए पूर्व थ् का लोप हो गया और स्थिति हुई उद्+थानम् और उद्+तम्भनम्।

खरि च 8.4.55

खरि झलां चरः स्युः। इत्युदो दस्य तः उत्थानम्, उत्तम्भनम्।

व्याख्याः खर् परे होने पर झलों को चर् आदेश हो जाता है। उद्+थानम् और उद्+तम्भनम् में द् से परे खर् है। इसलिए द् को चर् आदेश होगा। चर् में वर्ण हैं च ट त क प श ष स। स्थानेन्तरतमः से द् को त् आदेश होगा। इसलिए रूप बनेगा उत्थानम् तथा उत्तम्भनम्। जब थ का लोप नहीं होगा तो स्थिति होगी उद् + थ् थानम्, उद् + थ्तभ्मनम्। यहाँ खरि च सूत्र से थ् और द् दोनों को चर् आदेश त् होगा। इसलिए रूप बनेंगे उत्त्थानम् और उत्त्तम्भनम्।

झयो होन्यतरस्याम् 8.4.62

झयः परस्य ह्रस्य वा पूर्वसवर्णः। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हसय तादशो वर्गचतुर्थाः-वाग्धरिः, वा ग्हरिः।

व्याख्याः झय् से परे हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण आदेश हो जाता है। जैसे वाग् + हरिः। यहाँ ग् झय् प्रत्याहार का वर्ण है और उससे परे ह् है इसलिए ह् को विकल्प से पूर्व सवर्ण होगा। ग् कवर्ग का वर्ण है इसलिए स्थानेन्तरतमः से

ह् को कवर्ग का घ् होगा। क्योंकि ह् और घ् का प्रयत्न नाद, घोष, संवार और महाप्राण है। इसलिए रूप बना वाग्धरिः। विकल्प पक्ष में वाग्हरिः ही रहेगा।

शश्छोटि 8.4.63

झयः परस्य शस्य छो वाटि।

व्याख्याः झय् से परे शकार हो और उससे परे अट् हो तो शकार को विकल्प से छकार आदेश हो जाता है। जैसे तद् + शिवः। यहाँ द् को स्तोः श्चुनाश्चुः से च वर्ग ज् आदेश हुआ और ज् को खरि च सूत्र से च्। च् झय् प्रत्याहार का वर्ण है। उससे परे शकार है और शकार से रे इ अट् है। इसलिए प्रकृत सूत्र से श् को छ् आदेश हुआ और रूप बना तच्छिवः। छकार के अभाव पक्ष में तच्शिवः रूप ही बनेगा।

मोनुस्वारः 8.3.23

मान्तस्य पदस्यनुस्वारो हलि। हरिं वन्दे

व्याख्याः जो पद मकारान्त है उसको हल् पर होने पर अनुस्वार आदेश हो। अलोन्त्यस्य परिभाषा के अनुसार म् को अनुस्वार होगा न कि सम्पूर्ण पद को। जैसे हरिम् + वन्दे। यहाँ म् हरिम् पद के अन्त में है इसलिए इसे अनुस्वार आदेश हुआ और रूप बना हरिं वन्दे।

नश्चापदान्तस्य झलि 8.3.25

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः। यशांसि, आक्रंस्यते। झलि किम् मन्यसे।

व्याख्याः अपदान्त नकार और मकार को अनुस्वार आदेश हो जाता है जब उससे परे झल् हो। पूर्व सूत्र में पदान्त म् को अनुस्वार आदेश बताया गया है। जैसे यशान् + सि = यशांसि। यहाँ न् पद के मध्य में है और परे सकार झल् हैं, इसलिए अनुस्वार आदेश हुआ है। इसी प्रकार आक्रम् + स्यते = आक्रंस्यते (आक्रमण किया जाएगा)। इसी प्रकार संगंस्यसि, पयांसि, मंस्यते, गंस्यते आदि रूप बनेंगे। । यह स्थिति झल् पर होने पर ही होती है। मन्यते में अनुस्वार नहीं होगा क्योंकि न् से परे यकार है जो झल् नहीं है।

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः 8.4.58

स्पष्टम्। शान्तः।

व्याख्याः यय् परे होने पर अनुस्वार को पर सवर्ण आदेश हो जाता है। जैसे शान्तः। यहाँ शाम्+तः में म् को पहले नश्चापदान्तस्य झलि सूत्र से अनुस्वार आदेश हुआ और स्थिति हुई शां + तः। अनुस्वार से परे त् है जो यय् प्रत्याहार का वर्ण है। इसलिए प्रकृत सूत्र से अनुस्वार को पर सवर्ण ओदश प्राप्त हुआ। अर्थात् तवर्ग आदेश हुआ। स्थानेन्तरतमः से न् आदेश प्राप्त हुआ। इसलिए रूप बना शान्तः। इसी प्रकार अ॑त, लुचित, लुण्ठित, गुम्फित आदि शब्दों में पर सवर्ण हुआ है।

वा पदान्तस्य 8.4.59

त्वVरोषि, त्वं करोषि।

व्याख्याः पद के अन्त में अनुस्वार को यय् परे होने पर विकल्प से पर सवर्ण आदेश होता है। जैसे त्वम् + करोषि। यहाँ मोनुस्वारः से म् को अनुस्वार हुआ और स्थिति हुई त्वं + करोषि। अनुस्वार पद के अन्त में है इसलिए विकल्प से परसवर्ण हुआ। इसलिए रूप बना त्वVरोषि। विकल्प पक्ष में अनुस्वार ही रहेगा और स्थिति होगी त्वं करोषि।

फलितार्थ यह है कि यदि अनुस्वार पद के मध्य हो तो उसे यय् परे होने पर नित्य परसवर्ण आदेश होगा और पद के अन्त में विकल्प से।

मो राजि समः क्वौ 8.3.25

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

व्याख्याः क्विप् प्रत्ययान्त राज् धातु परे होने पर सम् के म् को म् ही रहता है। जैसे सम्राट्। सम्+राज्+क्विप्। क्विप् का सर्वापहारी लोप होता है। सम+राज्। राज् के ज् को व्रश्चभ्रस्जसजमज यजराजभ्राजच्छषां षः सूत्र से ष् हुआ को झलां जशोन्ते सूत्र से ड् हुआ और वावसाने से चर्त्व होकर ट् बना। इस प्रकार स्थिति बनी सम्+राट्। वर्तमान सूत्र से म् को अनुस्वार न होकर म् ही रहा और रूप बना सम्राट्।

हे मपरे वा 8.3.26

मपरे हकारे परे मस्य मो वा। किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति।

व्याख्याः म् से परे ह् हो और ह् से परे म् हो तो ह् से पूर्व म् को विकल्प से म् ही रहता है। जैसे किम् + ह्मलयति। यहाँ म् से परे मकार परक ह् है। अतः वर्तमान सूत्र से मकार को विकल्प से म् ही रहेगा। किम्ह्मलयति (क्या गति करता है)। विकल्प पक्ष में किं ह्मलयति रूप बनेगा।

वा. यवलपरे यवला वा कियँ ह्यः।, किं ह्यः। किवँ्ह्वलयति, किं ह्वलयति। किलँ्ह्लादयति, किं ह्लादयति।

व्याख्याः म् से परे ह् हो हो और उससे परे य्, व्, ल् हों तो म् को विकल्प से क्रम से मकार, वकार और लकार हो जाते हैं। जैसे–

किम् + ह्यः = कियँ्ह्यः। म् अनुनासिक है, अतः य्, व्, ल् भी अनुनासिक ही होंगे। इसी प्रकार किम् + ह्वलयति = किवँ् ह्वलयति। किम् + ह्लादयति = किलँ् ह्लादयति। विकल्प पक्ष में म् को अनुस्वार होगा जैसे– किं ह्यः। किं ह्वलयति। किं हलादयति।

नपरे नः 8.3.27

नपरे हकारे मस्य नो वा। किन्हनुते नुते, किं ह्नुते।

व्याख्याः नकार परक हकार परे होने पर म् को विकल्प से न् आदेश होता है। जैसे किम् + ह्नुते = किन्ह्नुते। विकल्प पक्ष में म् को अनुस्वार होगा और रूप बनेगा किं ह्नुते।

आद्यन्तौ ट्कितौ 1.1.46

टित्कितौ यस्योक्तौ, तस्य, क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः।

व्याख्याः जिस शब्द को टित् आगम बताया गया हो वह आगम उस शब्द के आदि में होता है और कित् आगम उस शब्द के अन्त में होता है। उदाहरण के लिए आगे देखें।

ङ्णोः कुक् टुक् शरि 8.3.28

वा स्तः

व्याख्याः ङकार और णकार से परे यदि शर् हो तो ङकार को कुक् का और णकार को टुक् का आगम होता है। कुक् और टुक् के अन्तिम क् की हलन्त्यम् से इत् संज्ञा होती और उकार की उपदेशेजनुनासिक इत् से इत्संज्ञा होती है। केवल क् और ट् शेष बचते हैं। क् और ट् कित् हैं अतः ये आगम शब्द के अन्त में होंगे। जैसे प्राङ् + षष्ठः। यहाँ ङ् से परे ष् है जो शर् है अतः प्राङ् को विकल्प से कुक् आगम प्राप्त हुआ और स्थिति हुई प्राङ् क् + षष्ठः।

वा. द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् प्राङ्ख्षष्ठः, प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ्षष्ठः। सुगणठ् षष्ठः, सुगणट् षष्ठः, सुगण्षष्ठः।

व्याख्याः पौष्करसादि आचार्य के मत में चय् (अर्थात् वर्ग के प्रथम वर्ण) को द्वितीय वर्ण आदेश हो जाता है शर् परे होने पर जैसे प्राङ्क् + षष्ठः = प्राङ्ख्षष्ठः। यह मत पौष्करसादि का है, पाणिनि का नहीं। पाणिनि के मत में क् ही रहेगा और रूप बनेगा– प्राङ् क् + षष्ठः = प्राङ्क्षष्ठः (क् और ष् का संयोग क्ष् लिखा जाता है)। कुक् का आगम विकल्प

से है, अतः तीसरा रूप प्राङ्षष्ठः ही रहेगा। इसी प्रकार सुगण् = षष्ठः = सुगण्ट् + षष्ठः = सुगण् ठ् + षष्ठः = सुगण्ठ्षष्ठः और पाणिनि के मत में गुगण्ट्षष्ठः। टुक् आगम न होने पर सुगण् षष्ठः रूप रहेगा।

डः सि धुट् 8.3.29

डात्परस्य सस्य धुड् वा। षट्त्सन्तः षट् सन्तः।

व्याख्याः ड् से परे स् को धुट् का आगम विकल्प से होता है। जैसे षड् + सन्तः। यहाँ ड् से परे स् है, अतः स् को वर्तमान सूत्र से धुट् का आगम हुआ। धुट् का उट् इत्संज्ञक है, अतः ध् शेष रहा। ध् टित् है, अतः आद्यन्तौ टकितौ से स् के आदि में होगा। इस प्रकार स्थिति होगी षड् ध् सन्तः। ध् को खरि च से चर्त्व होकर स्थिति बनी षड् त् सन्तः। ड को भी खरि च से चर्त्व होकर ट् आदेश हुआ और रूप बना षट्त् सन्तः। धुट् का आगम न होने पर को चर्त्व होकर रूप बनेगा– षट्सन्तः।

नश्च 8.3.30

नान्तात् परस्य सस्य धुड्वा। सन् त् सः। सन् सः।

व्याख्याः नकारान्त पदसे परे परे यदि स् हो तो स् को धुट् का आगम विकला से होता है। पूर्व सूत्र में डकारान्त पद से परे स् को धुट् का आगम बताया था। यहाँ पथक् सूत्र अगले सूत्र में नकार की अनुवत्ति के लिए बताया गया है। उदाहरण– सन् + सः = सन्त्सः। विकल्पक्ष में सन् सः।

शि तुक् 8.3.31

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा। सा्छम्भुः, सा्च्छम्भुः, सा्च्शम्भुः, सा् शम्भुः।

व्याख्याः पदान्त नकार से श् परे होने पर नकार को विकल्प से तुक् का आगम होता है। तुक का क् शेष रहता है। कित् होने के कारण यह आगम अन्त में होगा। जैसे न+शम्भु = सन् त् शम्भुः। स्तो श्चुना श्चुः से त् को च् आदेश हुआ और स्थिति इुई सन्च् शम्भुः। न् को भी श्चुत्व हो कर ा् हुआ। अतः रूप हुआ सा्च् शम्भुः। श को शश्छोटि से विकल्प से छ् आदेश हुआ और रूप बना सा्च्छम्भुः। तुक् का आगम न होने पर रूप बनेंगे–

सा् छम्भुः और सा्शम्भुः।

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् 8.3.32

ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्तं यत्पदं, तस्मात् परस्याचो ङमुट्। प्रत्यङ्ङात्मा सुगण्णीशः। सन्नच्युतः।

व्याख्याः ह्रस्व से परे ङम् हो, उस ङमन्त पद से परे अच् को ङमुट् आगम हो जाता है। ङम् प्रत्याहार में ङ, ण् और न् ये अनुनासिक वर्ण होते हैं। ये यदि पद के अन्त में हों और इन से पूर्व ह्रस्व अच् हो तो इनसे परे अच् को ङमुट् आगम होता है। ङमुट् का उट् इत्संज्ञक है। ङम् शेष रहता है। ङमुट् प्रत्याहार है जिसमें ङ्, ण् और न वर्ण होते हें। यथासंख्यमानुदेशः समानाम् के अनुसार ङ्, से परे ङ्, ण् से परे ण् और न से परे न् आगम होता है। ङमुट टित् है अतः यह आगम बाद वाले अच् के आदि में होगा। जैसे प्रत्यङ् + आत्मा। यहाँ प्रत्यङ् पद के अन्त में ङ् है और उससे पूर्व ह्रस्व अच् है, अतः बाद वाले अच् को ङ् आगम होगा। इस प्रकार रूप होगा– प्रत्यङ् + ङ् आत्मा = प्रत्यङ्ङात्मा। इसी प्रकार सुगण् + ईशः = सुगण्णीशः। सन् + अच्युतः = सन्नच्युतः।

यह आगम नित्य बताया गया है परन्तु कई बार नहीं भी होता है। पाणिनि ने स्वयं कई स्थानों पर इस नियम का पालन नहीं किया है जैसे तिङन्त, सनादि आदि पदों में।

समः सुटि 8.3.5

समे रुः सुटि।

व्याख्याः सम् के म् को रु आदेश हो, सुट् परे होने पर। रु के उकार की इत्संज्ञा होती है केवल र् शेष रहता है। सुट् आगम है जिसके उट् की इत्संज्ञा होती है।

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा 8.3.2

अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा।

व्याख्याः इस रु के प्रकरण में रु से पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक होता है। पाणिनि ने रु आदेश दो स्थानों पर बताया है– एक तो ससजुषो रुः (8-2-66) सूत्र में और दूसरा मतुवसो रुः सम्बुद्धौ (8-3-1) से लेकर कानाम्रेडिते (8-3-92) सूत्र तक। सूत्र में प्रयुक्त अत्र से तात्पर्य वाद वाले रु से है। जैसे सम् + कर्त्ता। यहाँ सम्परिभ्याँ करोतौ भूषणे सूत्र से सुट् का आगम हुआ और स्थिति हुई स्म् + स्कर्त्ता। अब समः सुटि से रु आदेश हुआ। तब स्थिति हुई– सर् + स्कर्त्ता। तब र् से पूर्व वाले वर्ण अर्थात् स् को अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा सूत्र से अनुनासिक हुआ। तब स्थिति हुई– सँ र् स्कर्त्ता। अनुनासिक विकल्प से होता है। अनुनासिक के अभाव पक्ष में अगले सूत्र से अनुस्वार होगा।

अनुनासिकात्परोनुस्वारः 8.3.4

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोनुस्वारागमः

व्याख्याः जब अनुनासिक न हो तो रु से पूर्व वाले वर्ण को अनुस्वारागम होता है। अनुस्वार होने पर स्थिति होगी सं र् स्कर्त्ता।

खवरवसानयोर्विसर्जनीयः 8.3.55

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः।

व्याख्याः रवर् परे होने पर और अवसान में पदान्त रेफ को विसर्ग आदेश हो। अवसान की परिभाषा है– विराभोवसानम्। अर्थात् वर्णों के अभाव को अवसान कहते हैं। तब स्थिति हुई–

सँः स्कर्त्ता तथा संः स्कर्त्ता।

वा. संपुंकानां सो वक्तव्यः। सँस्कर्त्ता, संस्कर्त्ता।

व्याख्याः सम्, पुम् और कान् शब्दों के विसर्ग को स् कहना चाहिए। इस वार्तिक के अनुसार सम् के विसर्ग को स् होने पर रूप बनेंगे– सँस्कर्त्ता तथा संस्कर्त्ता।

पुमः खरवय्यम्परे 8.3.6

अम्परे खयि पुखो रुः। पुँस्कोकिलः पुंस्कोकिलः।

व्याख्याः पुम् से परे यदि खय् हो और उससे परे अम् हो तो पुम् के म् को रु आदेश हो। जैसे पुम् + कोकिलः = पुर् कोकिलः। यहाँ पुम् से परे क् है जो खय् प्रत्याहार का वर्ण है और उससे परे ओ है जो अम् प्रत्याहार का वर्ण है। अतः यहाँ प्रम् के म् को रु आदेश हुआ है।

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तुवा सूत्र से रु से पूर्व वर्ण को अनुनासिक और दूसरे पक्ष में अनुनासिकात्परोनुस्वार सूत्र से अनुस्वार होकर स्थिति हुई– पुँर् कोकिलः तथ पुंर् कोकिलः। र् को खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग और समपुंकाना सो वक्तव्यः इस वार्तिक से स् आदेश होकर रूप बने–

पुँस्कोकिलः तथा पुंस्कोकिलः।

नश्छव्यप्रशान् 8.3.7

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः

व्याख्याः नकारान्त पद से अम्परक छव् परे हो तो नकारान्त पद के न् को रु आदेश होता है, प्रशान् शब्द को छोड़कर। जैसे चक्रिन् + त्रायस्व। यहाँ नकारान्त पद से परे त् है जो छव् प्रत्याहार का वर्ण है और उससे परे र् है जो अम् प्रत्याहार का वर्ण है। अतः वर्तमान सूत्र से न् को रु आदेश हुआ। रु का र् शेष रहा और स्थिति हुई चक्रि र् + त्रायस्व। अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा तथा अनुनासिकात्परोनुस्वारः सूत्रों से पूर्ववर्ण को अनुनासिक तथा विकल्प से अनुस्वार होकर स्थिति हुई– चक्रिँ र्त्रायस्व तथा चक्रिंर्त्रायस्व। र् को खरवसानयोर्विसर्जनीय सूत्र से विसर्ग हुआ। तब स्थिति हई चक्रिँः त्रायस्व तथा चक्रिंः त्रायस्व।

विसर्जनीयस्य सः 8.3.34

खरि। चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम् प्रशान्तनोति। पदान्तस्येति किम् - हन्ति।

व्याख्याः खर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर स् आदेश हो जाता है। इस प्रकार रूप बने चक्रिँस्त्रायस्व तथा चक्रिंस्त्रायस्व। प्रशान् शब्द को रु आदेश नहीं होता, अतः रूप बनेगा– प्रशान्तनोति। यदि न् पदान्त न हो तो भी न् को रु आदेश नहीं होगा। जैसे हन् + ति = हन्ति। यहाँ न् पदान्त नहीं है।

नॄन् पे 8.3.10

नॄन् इत्यस्य रुर्वा पे।

व्याख्याः नॄन् पद के न् को विकल्प से रु आदेश होता है जब पकार परे हो। जैसे नॄन् + पाहि = नॄर् पाहि। पूर्ववत् नॄ को अनुनासिक और अनुस्वार आगम होकर तथा र् को विसर्ग होगर स्थिति हुई–

नॄँः पाहि तथा नॄंः पाहि। अब विसर्ग को विसर्जनीयस्य सः से स् प्राप्त होता है।

कुप्वोः ˘ क ˘ पौ च 8.3.37

कवर्गे पवर्गे च विसर्गस्य ˘ क ˘ पौ स्तः। चाद्विसर्गः। नँ ˘ पाहि, नं ˘ पाहि, नँः पाहि, नंः पाहि।

व्याख्याः कवर्ग और पवर्ग परे होने पर विसर्गों को क्रमशः जिह्वामूलीय और उपध्मानीय हो जाते हैं तथा विकल्प से विसर्ग भी रहते हैं। अतः नॄं ˘ पाहि, नॄं ˘ पाहि, नॄँ : पाहि, नॄं : पाहि ये चार रूप बनेंगे। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के लिए समान चिह्न ˘ लगते हैं। इस चिह्न के आगे कवर्ग हो तो जिह्वामूलीय और पवर्ग हो उपध्मानीय पढ़े जाएंगे।

तस्य परमाम्रेडितम् 8.1.2

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात्।

व्याख्याः जब किसी शब्द को दो बार कहा जाए तो बाद वाले शब्द के आम्रेडितसंज्ञा होती है। जैसे कान् कान्। यहाँ बाद वाले कान् की आम्रेडित संज्ञा है।

कानाम्रेडिते 8.3.12

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान् कांस्कान्।

व्याख्याः कान् शब्द के नकार को रु आदेश होता है आम्रेडिते परे होने पर। जैसे कान् कान्। यहाँ पूर्व कान् के न् को रु आदेश होगा क्योंकि द्वितीय कान् की आम्रेति संज्ञा है। इसलिए स्थिति हुई– कार् कान्। पूर्ववत अनुनासिक्, अनुस्वार, विसर्जनीय और सकार होकर रूप बनेंगे – काँस्कान् तथा कांस्कान्। यहाँ विसर्जनीयस्य सः सूत्र से विसर्ग को स् स् प्राप्त हुआ परन्तु वा शरि सूत्र से विकल्प से विसर्ग भी प्राप्त होता है जिसको बाध कर 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' वार्तिक से सकार ही होगा।

छे च 8.1.73

ह्रस्वस्य छे तुक्। शिवच्छाया।

व्याख्याः छकार परे होने पर ह्रस्व को तुक् का आगम होता है। जैसे शिव + छाया = शिव + त् + छाया। त् को स्तोः श्चुना श्चुः से चवर्ग च् होकर रूप बना शिवच्छाया।

पदान्ताद्वा 6.1.56

दीर्घात्पदान्ताच्छे तुग्वा। लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया।

व्याख्याः छकार परे होने पर पदान्त दीर्घ को विकल्प से तुक् का आगम होता है। जैसे लक्ष्मी + छाया = लक्ष्मीच्छाया तथा लक्ष्मीछाया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या कीजिए–

   स्तोः श्चुनाश्चुः, ष्टुना ष्टुः, झलां जशोन्ते, यरोनुनासिकेनुनासिको वा, तोर्लि, झरो झरि सवर्णे, खरिच, शश्छोटि, नश्चापदान्तस्य झलि, मोनुस्वारः अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः आद्यन्तौ ट्कितौ, डः सि धुट्, खर वसानयोर्विसर्जनीयः।

2. निम्नलिखित शब्दों में सूत्रनिर्देशपूर्वक सन्धि कार्य दिखाइए–

   रामश्चिनोति, प्रश्नः, षट्सन्तः, वागीशः, एतन्मुरारिः, उत्थानम्, वाग्धरिः तच्छिवः, सम्राट्, प्रत्यङ्ङात्मा, सँस्स्कर्ता, पुँस्कोकिलः, चक्रिंस्त्रायस्व, शिवच्छाया।

(ग) अथ विसर्गसन्धिः

विसर्जनीयस्य सः 8.3.34

खरि। विष्णुस्त्राता।

व्याख्याः खर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर स् आदेश हो जाता है। जैसे विष्णुः + त्राता = विष्णुस्त्राता।

वा शरि 8.3.36

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा। हरिः शेते, हरिश्शेते।

व्याख्याः विसर्ग से परे यदि शर् हो तो विसर्ग का विकल्प से विसर्ग ही रहता है। यह पूर्व सूत्र का अपवाद है। पूर्व सूत्र में खर् परे होने विसर्गों को नित्य स् आदेश बताया है। परन्तु इस अपवाद सूत्र के द्वारा शर् अर्थात् श, ष, स्, परे होने पर विकल्प से विसर्ग आदेश बताया गया है। दूसरे पक्ष में सकार आदेश होगा। जैसे हरिः + शेते = हरिस् +शेते। स् को स्तोः श्चुना श्चुः से शकार आदेश होकर हरिश्शेते रूप बनेगा। विकल्प पक्ष में हरिः शेते रूप बनेगा।

ध्यान रहे क, ख् और प्, फ् परे होने पर कुप्वोः ᳲ क ᳲ पौ च से विसर्गों को विकल्प से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय प्राप्त होते हैं और पक्ष में विसर्ग ही रहते हैं।

ससजुषो रुः 8.2.66

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुः स्यात्।

व्याख्याः पदान्त में आने वाले सकार और सजुष् के ष् को रु आदेश हो जाता है। जैसे शिव + स् (प्रथम एकवचन का प्रत्यय) = शिवस्। स् पद के अन्त में है अतः वर्तमान सूत्र से स् को रु प्राप्त हुआ। रु के उकार की इत्संज्ञा है अतः र् शेष रहा और स्थिति बनी शिवर्। खरवसानयोर्विसर्जनीयः से र् को विसर्ग हुआ क्योंकि र् अवसान में है। अतः रूप बना शिवः। इसी प्रका रामः, गुरुः, हरिः आदि।

अतो रोरप्लुतादप्लुते 6.1.113

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेति। शिवो र्च्यः।

व्याख्याः अप्लुत अकार से परे पदान्त रु के स्थान पर उ आदेश हो जाता है, अप्लुत अकार परे होने पर। जैसे शिवस् + अर्च्यः। ससजुषो रुः से शिवस् के स् को रु आदेश हुआ। रु का र् शेष रहा। स्थिति हुई शिवर् + अर्च्यः। र् से पूर्व अप्लुत अकार है और परे भी अप्लुत अकार है। अतः वर्तमान सूत्र से र् को उ होकर स्थिति हुई– शिव उ अर्च्यः। अ और उ को गुण ओ हुआ और एङ पदान्तादति सूत्र से अ को पूर्वरूप हुआ और रूप बना शिवोर्च्यः।

हशि च 6.1.114

तथा। शिवो वन्द्यः।

व्याख्याः अप्लुत अकार से परे पदान्त रु हो और उससे परे हश् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो रु को उ आदेश हो जाता है। जैसे शिवस् + वन्द्यः। यहाँ सःसजुषो रुः से पदान्त स् को रु आदेश हुआ। रु का र् शेष रहा। स्थिति हुई– शिवर् + वन्द्यः। रु से पूर्व अप्लुत अकार है और परे वकार है जो हश् प्रत्याहार का वर्ण है। अतः हशि च सूत्र से र को उ आदेश हुआ। तब स्थिति हुई शिव उ वन्द्यः। अकार और उकार की आद्गुणः से गुण सन्धि होकर रूप सिद्ध हुआ– शिवो वन्द्यः। हश् प्रत्याहार में सभी घोष वर्ण आते हैं।

भो भगो अधो अपूर्वस्य योशि 8.3.17

एतत् पूर्वस्य रोयदिशोशि। देवा इह, देवायिह। भोस् भगोस् अघोस् इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते-

व्याख्याः रु से पूर्व भो, भगो, अघो या अ पूर्व हो और परे अश् प्रत्याहार का कोई वर्ण हो तो रु को यकार आदेश हो जाता है। भोस्, भगोस् और अघोस् सकारान्त निपात हैं। उदाहरण भोस् देवाः। भोस् के स् को ससजुषो रुः से रु आदेश हुआ जिसका र् शेष रहा। स्थिति हुई भोर् देवा। यहाँ रु से पूर्व भो है ओर परे द् है जो अश् प्रत्याहार का वर्ण हे। अतः वर्तमान सूत्र से र् को य् आदेश हुआ। स्थिति हुई भोय् देवाः

हलि सर्वेषाम् 8.3.22

भो भगो अघो अपूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि। भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि।

व्याख्याः भो, भगो, अघो और अ पूर्वक य् का हल् परे होने पर सभी आचार्यों के मत में लोप हो जाता है। अतः भोय् देवाः = भो देवाः । इसी प्रकार भगो नमस्ते। अधो याहि। भोस्, भगोस् और अघोस् सम्बोधन शब्द हैं और निपात हैं। भोस् शब्द साधारण सम्बोधन में प्रयुक्त होता है। भगोस् शब्द आदर पूर्वक सम्बोधन में प्रयुक्त होता है और अघो शब्द में निन्दा का भाव निहित है। जैसे भो देवाः का अर्थ है अरे देवताओ। भगो नमस्ते का अर्थ है भगवान् आपको नमस्कार और अघो याहि का अर्थ अरे नीच, चला जा।

रोसुपि 8.2.69

अह्नो रेफादेशो न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः।

व्याख्याः अहन् शब्द के न् को रेफ आदेश हो जाता है, परन्तु सप्तमी बहुवचन के प्रत्यय सुप् के परे रहते रेफ आदेश नहीं होता है। जैसे अहन् अहन्। न् को रेफ आदेश होने पर स्थिति हुई अहर् अहर् = अहरहर्। खरवसानयोर्विसर्जनीयः से र् को विसर्ग होकर रूप बना अहरहः। इसी प्रकार अहन् + गणः = अहर् + गणः = अहर्गणः

रो रि 8.3.14

रेफस्य रेफे परे लोपः

व्याख्याः रेफ से परे रेफ हो तो पूर्व रेफ का लोप हो जाता है। जैसे पुनर् + रमते। यहाँ रेफ से परे रेफ है, इसलिए पूर्व रेफ का लोप होगा और स्थिति होगी पुन + रमते।

ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोणः 6.3.111

ढरेफयोर्लोपनिमित्रयोः पूर्वस्याणो दीर्घः। पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। अणः किम् - तढः, वढः। मनस् + रथः इत्यत्र रुत्वे कृते 'हशि च' इत्युत्वे 'रोरि इति लोपेच प्राप्ते।

व्याख्याः ढ् और र् का लोप जब ढ् और र् परे होने पर होता है, तो लोप होने के पश्चात् लोप निमित्रक ढ् और र् से पूर्व अण् (अ, इ,उ) को दीर्घ हो जाता है। जैसे पुन + रमते। यहाँ पुनर् के र् का लोप र् परे होने पर हुआ है। अतः रमते के र् से पूर्व जो अण् अर्थात् अकार है उसका दीर्घ हो जाएगा। अतः रूप बनेगा पुना रमते। इसी प्रकार हरिर् + रमते। यहाँ रोरि सूत्र से हरिर् के र् का लोप होकर स्थिति बनी हरि + रमते। रमते का रेफ लोप का निमित्त है, अर्थात् इसी र् के परे रहते हरिर् के र् का लोप हुआ है। लोप होने के पश्चात् रमते के रेफ से पूर्व जो इकार है वह अण् प्रत्याहार का वर्ण है। इसलिए इस इकार का ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घणः से दीर्घ होगा और रूप बनेगा हरी रमते। इसी प्रकार शम्भुर् + राजते = शम्भु + राजते = शम्भू राजते।

यह दीर्घ केवल अण् अर्थात् अ, इ, उ का ही होगा अन्य स्वर का नहीं, इसलिए सूत्र में अण् का प्रयोग हुआ है। अण् के अतिरिक्त कोई दूसरा स्वर होगा तो उसे दीर्घ नहीं होगा जैसे तढ् + ढः। यहाँ ढो ढे लोपः सूत्र से पूर्व ढकार का लोप हुआ और स्थिति हुई त+ढः अब क्योंकि ऋ अण् प्रत्याहार का वर्ण नहीं है, इसलिए इसे दीर्घ नहीं होगा और तढः रूप ही रहेगा।

विप्रतिषेधे परं कार्यम् 1.4.2

तुल्यबलविरोधे परं कार्य स्यात्। इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वात्रसिद्धम्' इति रो रि इत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः।

व्याख्याः जब एक ही स्थान पर दो सूत्र समान रूप से लग रहे हों तो अष्टाध्यायी क्रम में जो सूत्र पर है अर्थात् बाद का है उसकी ही प्रवत्ति होगी। तुल्यबलविरोध का अर्थ है जब दो सूत्रों का समान बल हो और दोनों सूत्रों की प्रवत्ति समान रूप से हो। ऐसी अवस्था में यह देखना चाहिए कि अष्टाध्यायी में कौन सा सूत्र बाद का है। उसी की प्रवत्ति होगी। जैसे मनस् + रथः। यहाँ ससजुषो रुः से स् को र् हुआ और स्थिति हुई मनर् + रथः। यहाँ हशिच (6.1.114) सूत्र से र् को उ प्राप्त है और रो रि (8.3.14) से र् को लोप प्राप्त है। अष्टाध्यायी क्रम में रो रि सूत्र बाद का है, अतः र् का लोप प्राप्त है। परन्तु रो रि सूत्र त्रिपादी का है अतः पूर्वत्रासिद्धम् (8.3.1) से पूर्वसूत्र के प्रति असिद्ध है। अतः रो रि सूत्र से लोप प्राप्त होने पर भी हशि च सूत्र के प्रति असिद्ध है। अतः रो रि सूत्र से लोप प्राप्त होने पर भी हशि च सूत्र से र् को उ प्राप्त होगा। आद गुणः से गुण होकर रूप बनेगा। मनोरथः।

एतत्तदोः सुलोपोकोरना् समासे हलि 6.1.132

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु ना् समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्- एषको रुद्रः। अना् समासे किम् - अस् शिवः। हलि किम् - एषोत्र।

व्याख्याः ककार रहित एतद् और तद् से परे प्रथमा एकवचन के प्रत्यय सु का लोप हो जाता है जब हल् परे हो। जैसे एषस् + विष्णुः। यहाँ एतद् से परे सु प्रत्यय लगाकर एषस् शब्द बना है। (पूरी प्रक्रिया के लिए देखें सुबन्त प्रकरण)। इससे परे व् हल् है। अतः प्रकृत सूत्र से स् का लोप होगा और रूप बनेगा– एष विष्णु। इसी प्रकार तद् शब्द से स शम्भुः। रूप होगा। जब एतद् और तद् शब्द के साथ ककार हो तो सु का लोप नहीं होगा। एतद् और तद् का ककारयुक्त रूप अकच् प्रत्यय जोड़ने से बनता है। अकच् प्रत्यय टि से पूर्व जुड़ता है– अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः। अकच् प्रत्यय जुड़ कर एषकस् यह स्थिति बनती है। जैसे एषकस् रुद्रः अर्थात् यह रुद्र। यहाँ हल् परे होने पर स् का लोप नहीं होगा। ससजुषो से रुत्व और हशिच सूत्र से रु को उ होकर रूप तथा आद्गुणः से गुण होकर रूप बनेगा– एषको रुद्रः। ना् समास में भी सु का लोप नहीं होता है जैसे असः शिवः (उससे भिन्न शिव)। हल् परे होने पर ऐसा क्यों कहा? क्योंकि अच् परे होने पर सु का लोप नहीं होता है जैसे एषोत्र। यहाँ स् को ससजुषो रुः से रुत्व, अतो रोरप्लु तादल्पुते से र् को उत्व, आद्गुणः से गुण और एङः पदान्तादति से पूर्वरूप एकादेश होकर एषोत्र रूप बनता है।

सोचि लोपे चेत् पादपूरणम् 3.1.134

स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। सेमामविड्ढि प्रभतिम्। सैष दाशरथी रामः।

व्याख्याः अच् परे होने पर सः के सु का लोप हो जाता हे यदि पाद की पूर्ति में इसकी आवश्यकता हो। पूर्व सूत्र द्वारा हल् परे होने पर ही सः के सु का लोप बताया गया है, अच् पर होने पर नहीं। परन्तु यदि पाद की पूर्ति के लिए आवश्यकता हो तो सः के सु का अच् परे होने पर भी लोप हो जाता है। जैसे– सेमामविड्ढि प्रभति य ईशिषे् यह वेद के जगती छन्द का उदाहरण है। जगती छन्द में 12 अक्षर होते हैं। यदि सः के सु का लोप करके सन्धि नहीं होती तो 12 अक्षर से अधिक हो जाते और पाद की पूर्ति नहीं होती। इसी प्रकार – सैषः दशरथी रामः यह अनुष्टुप् छन्द का लौकिक उदाहरण हैं अनुष्टुप् में आठ अक्षर होते हैं जो सः के सु का लोप करके और गुण सन्धि करके ही पूरा हो सकता है।

सः के सु का लोप न किया जाए तो सकार को रुत्व और भो भगो अधो अपूर्वस्य योशि से र् को यकार होगा और लोपः शाकल्यस्य से विकल्प से लोप होकर स एष रूप बनेगा। लोपः शाकल्यस्य के असिद्ध होने के कारण गुण सन्धि नहीं हो सकेगी। इस प्रकर स एष दशरथी रामः यह स्थिति होगी इसमें 9 अक्षर होने के कारण पाद की पूर्ति नहीं हो सकेगी।

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या कीजिए–

   विसर्जनीयस्य सः, स सजुषो रुः, अतो रोरप्लुतादप्लुते, हशि च, हलि सर्वेषाम्, रो रि, ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोणः, विप्रतिषेधे परं कार्यम्, एतत्तंदोः सुलोपोकोरना् समासे हलि।

2. निम्नलिखित शब्दों में सन्धि कार्य सूत्र निर्देश पूर्वक दिखाइए–

   विष्णुस्त्राता, हरिः शेते, शिवोर्च्यः, भो देवाः, अहर्गणः, अहरहः, पुना रमते, मनोरथः, एष विष्णु, सैष दाशरथी रामः।

(सन्धि प्रकरण समाप्त)

अध्याय—5

अथ सुबन्ताः

(क) अथ अजन्तपुँल्लिXप्रकरणम्।

परिचय

सुबन्त (सुप् + अन्त) का अर्थ है सुप् हैं अन्त में जिसके, वह पद। पाणिनि ने प्रत्ययों को मुख्यतः दो भागों में बाँटा है– सुप् और तिङ्। सुप् प्रत्यय संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि रूपों के निर्माण के लिए लगाए जाते हैं। तिङ् प्रत्यय क्रिया रूप बनाने के लिए लगाए जाते हैं जिन शब्दों के साथ सुप् प्रत्यय लगते हैं उन्हें प्रातिपदिक कहते हैं। सुप् प्रत्याहार है जिसमें प्रथमा एक वचन के सु से लेकर सप्तमी बहुवचन के सुप् तक २१ प्रत्यय आते हैं। सुबन्त प्रकरण में सुप् प्रत्ययों से बनने वाले रूपों की निर्माण प्रक्रिया का वर्णन है। प्रातिपदिक दो प्रकार के होते हैं– (1) अजन्त अर्थात् जिनके अन्त में स्वर हों तथा (2) हलन्त अर्थात, जिनके अन्त में व्यजन हों। अजन्त और हलन्त शब्दों में कुछ शब्द पुँल्लिं X, कुछ स्त्रीलिX तथा कुछ नपुंसकलिX होते हें अजन्त पुलिX प्रकरण में स्वरान्त पुँल्लिX शब्दों की रूप रचना का वर्णन किया जाएगा स्वरान्त शब्दों में प्रायः अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त, ऋकारान्त, एकारान्त, ऐकारान्त, ओकारान्त तथा औकारान्त शब्द होते हैं। निम्नलिखित पष्ठों में इसी क्रम से शब्दों की निर्माण प्रक्रिया का वर्णन किया गया है।

अकारान्त पुँल्लिंग शब्दों के रूप

अर्थवद् अधातुर् अप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। 1.2.45

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः जो शब्द अर्थवान् हों, धातुसंज्ञक न हों, प्रत्यय या प्रत्ययान्त न हों उनकी प्रातिपदिक संज्ञा होती है। उन्हीं शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा होती है जिनका लोक में कुछ अर्थ हो। प्रातिपदिक मूल शब्द रूप होता है जिससे वाक्य में प्रयुज्यमान अनेक रूप बनते हैं। भाषा की मूल इकाई वाक्य है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द ही पदसंज्ञा का अधिकारी होता है। प्रातिपदिक के साथ अनेक विभक्तियों के प्रत्यय जुड़ जाते हें। प्रत्यय जुड़ने पर ही शब्द वाक्य में प्रयोग के योग्य बनता है। जैसे राम शब्द से रामः रामौ आदि अनेक रूप बनते हैं। अतः राम की प्रातिपदिक संज्ञा होती है। धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त शब्द भी अर्थवान् होते हैं परन्तु उनकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है। जैसे भू धातु होने अर्थ में प्रयुक्त होती है। परन्तु अर्थवान् होते हुए भी धातुसंज्ञक होने के कारण भू की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी इसी प्रकार सु आदि प्रत्यय अर्थवान् होते हुए भी प्रातिपदिक संज्ञक नहीं होंगे। प्रत्ययान्त शब्द जैसे रामः पठति आदि भी प्रातिपदिक संज्ञक नहीं होते।

कृत्तद्धितसमासाश्च 1.2.46

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

व्याख्याः कृत् प्रत्ययान्त, तद्धितान्त और समास की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है पिछले सूत्र में प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध किया था। परन्तु उसके अपवाद के रूप में कृत् प्रत्ययान्त और तद्धित प्रत्ययान्त शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा बताई गई है। जैसे कृ + त = कर्त। यह कृत् प्रत्ययान्त रूप है। अतः प्रकृत सूत्र से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा

होगी और सुप् आदि प्रत्यय लगाकर कर्त्ता, कर्त्तारौ आदि रूप बनेंगे। इसी प्रकार उपगु + अण् = औपगव इस तद्धितप्रत्ययान्त शब्द की भी प्रकृत सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होगी। समास अर्थवान् होता है। इसकी पूर्व सूत्र से ही प्रातिपदिक संज्ञा हो सकती थी परन्तु इस सूत्र में इसकी पथक् गणना का प्रयोजन यह है कि समास में दो या दो से अधिक पद होते हैं। उनमें पथक् पथक् प्रत्येक की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है, अपितु सम्पूर्ण समस्त पद की प्रातिपदिक संज्ञा होती। जैसे राज्ञः पुरुषः, इन दो पदों का जब समास होगा तभी राजपुरुष शब्द बनता है। यहाँ पूरे राजपुरुष समस्तपद की प्रातिपदिक संज्ञा होगी। राजन् और पुरुष शब्द की पथक् पथ्क प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी।

तद्धितान्त शब्द उपलक्षणार्थ है। कुछ तद्धित प्रत्यय ऐसे भी हैं जो शब्द के अन्त में न लगाकर मध्य या पूर्व में भी लगते हैं। जैसे अकच् प्रत्यय अन्त में न लगकर टि को लगता है, जैसे सर्व + अकच् = सर्वक। इसी प्रकार बहुच् प्रत्यय शब्द के आदि में लगता है जैसे बहुधनः। तद्धित प्रत्यय युक्त होने के कारण इनकी भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्यांभ्यस्ङसिभ्यांभ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् 4.1.2

'सु औ जस्' इति प्रथमा। 'अम् औट शस्' इति द्वितीया। 'टा भ्याम्, भिस्' इति ततीया। 'ङे भ्याम् भ्यस्' इति चतुर्थी। 'ङसिभ्यास भ्यास्' इति पचमी। 'ङस्ओस् आम्' इति षष्ठी। 'ङि ओस् सुंप्' इति सप्तमी।

व्याख्याः सु औ जस्, अम् और् शस्, टा भ्याम् भिस्, ङे भ्याम् भ्यस्, ङसि भ्याम् भ्यस्, ङ्स, ओस् आम्, ङि से, सुप् ये २१ प्रत्यय होते हैं। आद्यन्तेन सहेता सूत्र से सुप् प्रत्याहार बनता है जिसके अन्तर्गत ये सभी २१ प्रत्यय आते हैं। ये तीन–तीन प्रत्यय क्रमशः प्रथमा, द्वितीया, ततीया, चतुर्थी, पचमी, षष्ठी और सप्तमी विभक्ति के हैं।

ङ्याप्प्रातिपदिकात् 4.1.1

व्याख्याः यह अधिकार सूत्र है। सुप् प्रत्यय ङयन्त, आबन्त और प्रातिपदिक के अधिकार में प्रयुक्त होते हैं। ङयन्त से तात्पर्य है– ङी है अन्त में जिसके। ङी से तात्पर्य ङीप्, ङीष् और ङीन् ये तीन स्त्री प्रत्यय हैं आबन्त से तात्पर्य है– आप् है जिसके अन्त में। आप् प्रत्यय टाप्, डाप् और चाप् इन तीन स्त्री प्रत्ययों का प्रतिनिधित्व करता है। क्योंकि तीनों का आप् शेष रहता है।

ङयन्त और आबन्त का ग्रहण इसलिए किया गया है प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती और प्रातिपदिक न होने के कारण इन शब्दों के साथ सु आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती थी। अतः प्रातिपदिक के साथ ङयन्त और आबन्त शब्द का ग्रहण करने से इनके साथ भी सु आदि की उत्पत्ति हो जाएगी।

यहाँ प्रश्न उठता है कि स्त्री प्रत्यय तो ङयन्त और आबन्त के अतिरिक्त और भी हैं जैसे ऊङ्, ति आदिं ऐसे प्रत्ययान्त शब्दों के साथ सु आदि की उत्पत्ति कैसे सम्भव होगी। इसका उत्तर यह है कि ङयाप् शब्द उपलक्षण है और सभी स्त्री प्रत्ययों का द्योतक है।

प्रत्ययः 3.1.1

परश्च 3.1.2

इत्यधिकृत्य। ङयन्ताद् आबन्तात् प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः।

व्याख्याः ङयाप् प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः और परश्च ये तीनों अधिकार सूत्र हैं। इन तीनों का सम्मिलित अर्थ है कि सु आदि प्रत्यय ङयन्त, आबन्त और प्रातिपदकि से परे लगते हें। अधिकार सूत्र वो होते हैं जो स्वतंत्र रूप से अपना, अर्थ नहीं रखते अपितु दूसरे सूत्रों के साथ मिलकर अर्थ प्रदान करते हैं– स्वदेशे वाक्यार्थ बोधशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधकत्वमधिकारत्वम्। अर्थात् जो अपने स्थान पर बोध न करा कर दूसरे स्थान पर जाकर अन्वित होकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं उन्हें अधिकार सूत्र कहा जाता है।

सुपः 1.1.103

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचन संज्ञानि स्युः।

व्याख्याः सुप् प्रत्ययों के तीन–तीन का समूह क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन होते हैं। सात विभक्तियों में तीनों वचनों में प्रत्यय इस प्रकार हैं–

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्
ततीया	टा	भ्याम्	भिस्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्
पचमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्

द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने 1.4.22

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः

व्याख्याः जब दो की विवक्षा हो अर्थात् जब वक्ता दो का बोध कराना चाहता हो तो द्विवचन का प्रयोग होता है और जब एक की विवक्षा हो तो एकवचन का प्रयोग होता है।

विरामोवसानम् 1.4.110

वर्णानामभावोवसानसंज्ञः स्यात्। रुत्सवविसर्गो - रामः।

व्याख्याः जहाँ वर्णों का अभाव हो उसकी अवसन संज्ञा होती है। अर्थात् जिस वर्ण के पश्चात् अन्य कोई वर्ण न हो उसकी अवसान संज्ञा होती है। अवसान संज्ञा का प्रयोजन रुत्व के र् को विसर्ग करना है। जैसे रामर्। यहाँ र् की अवसान संज्ञा है अतः खरवसानयोर्विसर्जनीयः से र् को विसर्ग होकर रामः रूप बनेगा। रामः शब्द की सिद्धि इस प्रकार होगी–

रामः

राम शब्द की अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् अथवा कृत्तद्वितसमासाश्च से प्रातिपदिक संज्ञा होगी। जब राम शब्द किसी के नाम आदि के लिए रूढ अर्थ में प्रयुक्त हो तो अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदकिम् से प्रातिपदिक संज्ञा होगी। जब राम शब्द रमु क्रीडायाम् धातु से धा् कृत् प्रत्यय लगाकर बनेगा तो इसकी कृत्तद्धितसमासाश्च सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होगी।

राम + सु (ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च इन तीन अधिकार सूत्रों से सु आदि की उत्पत्ति होगी। तब द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने सूत्र से एक की विवक्षा में प्रथमा एक वचन का प्रत्यय सु लगा)

राम + स् (उपदेशेजनुनासि्क इत् से उकार की इत्संज्ञा हुई और तस्यलोपः से उसका लोप हुआ)

राम + र् (ससजुषो रुः से स् को रुत्व हुआ और उकार की इत्संज्ञा और लोप हुआ)

रामः (विरामोवसानम् से र् की अवसान संज्ञा हुई और खरवसानयोर्विसर्जनीयः से र् को विसर्ग हुआ)

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ 1.2.64

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दष्टानि, तेषामेक एव शिष्यते।

व्याख्याः एक विभक्ति परे रहने पर जो समान रूप दिखाई देते हैं उनमें से एक ही शेष रहता है। हम जानते हैं कि एक की

विवक्षा में एकवचन, दो की विवक्षा में द्विवचन और बहुत की विवक्षा में बहुवचन प्रत्यय का प्रयोग होता है। दो की विवक्षा में शब्द का दो बार उच्चारण प्राप्त होता है और दो से अधिक की विवक्षा में अनेक बार उच्चारण प्राप्त होता है। इस सूत्र के द्वारा यह नियमन किया जाता है कि जहाँ एक जैसे शब्दों का एक से अधिक बार उच्चारण प्राप्त होता है, एक विभक्ति परे रहते उनमें से एक ही शेष रहता है। जैसे दो राम की विवक्षा में राम का दो बार उच्चारण प्राप्त होता है और द्विवचन का प्रत्यय प्राप्त होता है जैसे राम राम + औ। क्योंकि दोनों शब्दों से एक ही विभक्ति लगी है अतः इनमें से एक ही शेष रहेगा और स्थिति होगी– राम + औ। यह नियम तभी लागू होता है जब दोनों शब्दों का रूप समान दिखाई दे। राम कृष्ण में दोनों शब्दों का रूप समान नहीं है, अतः इनमें से एक शेष नहीं रहेगा, अपितु, दोनों शब्द ही विद्यमान रहेंगे। दो राम, इस विवक्षा में स्थिति होगी– राम + औ।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः 6.2.102

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात। इति प्राप्ते-

व्याख्याः जब प्रातिपदिक के अन्त में अक् हो और परे प्रथमा और द्वितीया की अजादि विभक्ति हो तो दोनों को पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश होता है। राम + औ में वद्धिरेचि सूत्र से वद्धि प्राप्त है परन्तु उसको बाधकर प्रथमयो पूर्वसवर्णः से पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश प्राप्त होता हे। परन्तु इसका अग्रिम सूत्र से निषेघ हो जाता है।

नादिचि 6.1.104

आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः। वद्धिरेचि् रामौ।

व्याख्याः अवर्ण से परे यदि इच् हो तो पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं होता है। राम + औ में अवर्ण से परे औ प्राप्त है जो इच् प्रत्याहार का वर्ण है। अतः पूर्वसूत्र से प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होगा। पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होने पर पुनः वद्धिरेचि सूत्र की प्रवत्ति होगी और रामौ रूप बनेगा। रामौ शब्द की सिद्धि प्रक्रिया इस प्रकार होगी–

राम + राम + औ	(अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपादिकम् अथवा व्युत्पत्तिपरक अर्थ में कृतद्धितसमासाश्च सूत्र से राम की प्रातिपदिक संज्ञा हुई। ङयाप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च इन तीन सूत्रों के अधिकार में सु आदि प्रत्ययों की प्राप्ति हुई। द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने सूत्र से दो की विवक्षा में प्रथमा द्विवचन का प्रत्यय औ प्राप्त हुआ)
राम + औ	(सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ सूत्र से एक 'राम' शेष रहा।) यहाँ वद्धिरेचि सूत्र से वद्धि प्राप्त हुई परन्तु उसको बाधकर प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ। परन्तु नादिचि सूत्र से इसका बाध हो गया)
रामौ	(पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश का बाध होने पर पुनः वद्धिरेचि सूत्र की प्रवत्ति हुई और यह रूप सिद्ध हुआ)।

बहुषु बहुवचनम् 6.1.104

बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्।

व्याख्याः जब बहुत की विवक्षा हो अर्थात् जब दो से अधिक का बोध कराना हो तो बहुवचन प्रत्यय आता है। जैसे राम राम राम यहाँ तीन रामों का बोध कराना अभीष्ट है, इसलिए बहुवचन का प्रत्यय जस् आएगा– राम राम राम + जस्। सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ से एक ही 'राम' शेष बचेगा। तब स्थिति होगी राम + जस्।

चुटू 1.3.7

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः।

व्याख्याः प्रत्यय के आदि में चवर्ग और टवर्ग की इत्संज्ञा होती है। राम + जस्, यहाँ जस् प्रत्यय के आदि जकार की इत्संज्ञा होगी और तस्य लोपः से उसका लोप होगा तब स्थिति बनेगी– राम + अस्।

विभक्तिश्च 1.4.104

सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः।

व्याख्याः सुप् और तिङ् की विभक्तिसंज्ञा होती है। तिङ् प्रत्यय धातु से परे लगकर क्रियारूप बनाते हैं।

न विभक्तौ तुस्माः 1.3.4

विभक्तिस्थास्तवर्गसमा नेताः। इति सस्य नेत्वम्। रामाः।

व्याख्याः विभक्ति में प्रयुक्त तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है। राम + अस् में सकार की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा प्राप्त है परन्तु प्रकृत सूत्र से सकार की इत्संज्ञा का निषेध हुआ। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से राम के अकार और अस् प्रत्यय के अकार को पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर रामास् रूप बना। ध्यान रहे, यहाँ इच् परे नहीं है, अतः प्रथमयोः पूर्वसवर्णः का बाध नहीं होगा। रामास् के स् को ससजुषो रुः से रुत्व, खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग होकर रामाः रूप सिद्ध होगा।

रामाः शब्द की सिद्धि

राम राम राम + जस् (पूर्ववत् प्रातिपदिकसंज्ञा और सु आदि की प्राप्ति। बहुषु बहुवचनम् से बहुत्व की विवेक्षा में प्रथमा बहुवचन का प्रत्यय जस् आया।)

राम + जस् (सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ सूत्र से एक 'राम' शेष रहा।)

राम + अस् (चुटू से जकार की इत्संज्ञा और तस्य लोपः से उसका लोप हुआ)

राम + अस् (हलन्त्यम् से अस् के सकार की इत्संज्ञा प्राप्त हुई परन्तु 'न विभक्तौ तुस्माः' से उसका निषेध हुआ)

रामास् (प्रथमयोः पूर्वसवर्ण से राम के अकार तथा अस् के अकार का पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हुआ)

रामार् (ससजुषो रुः से स् को रु आदेश हुआ। उपदेशेजनुनासिक इत् से रु के उकार की इत्संज्ञा और तस्य लोपः से उसका लोप हुआ)

रामाः (विरामो अवसानम् से र् की अवसान संज्ञा और 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से र् को विसर्ग हुआ)

इस प्रकार रामाः रूप सिद्ध हुआ।

एकवचनं सम्बुद्धिः 2.3.49

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः सम्बोधन में प्रथमा का एक वचन सम्बुद्धिसंज्ञक होता है। सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। सम्बोधन में प्रथमा एक वचन के रूप में अन्तर आता है, द्विवचन और बहुवचन के रूपों में अन्तर नहीं आता।

यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेडXम् 1.4.13

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते, तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नX स्यात्।

व्याख्याः जिस शब्द से प्रत्यय का विधान किया जाता है वह शब्द जिस शब्द समुदाय के आदि में हो उस समुदाय की, प्रत्यय के परे रहते अX संज्ञा होती है। जैसे पठ् धातु से परे ति प्रत्यय का विधान किया जाता है और कर्तरि शप् से शप् (अर्थात् अ) का विधान किया जाता है तो पठ + अ + ति =पठ + ति यह स्थिति बनती है। यहाँ ति प्रत्यय से पूर्व पठ है जिसके आदि में पठ् है ,अतः पठ शब्द समुदाय की अX संज्ञा होगी। अXकार्य पठ शब्दसमुदाय पर ही होंगे केवल पठ् पर नहीं। इसका स्पष्ट उदाहरण है– पठ + मि। यहाँ अतो दीर्घोयञि से पठ अ X को दीर्घ होगा और रूप बनेगा पठामि।

एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धौः 6.1.69

एङन्तात् ह्रस्वादतXात् हल् लुप्यते, सम्बुद्धेश्चेत्। हे राम्, हे रामौ, हे रामाः।

व्याख्याः यदि अX एङन्त हो अथवा ह्रस्वान्त हो तो सम्बुद्धि के हल् का लोप हो जाता है। जैसे राम + स्। यहाँ स् की एकवचनं सम्बुद्धिः से स् की सम्बुद्धि संज्ञा है। राम की यस्मात्प्रत्यय विधिस्तदादि प्रत्यये Xम् से अX संज्ञा है। राम, ह्रस्वान्त अX है। अतः सम्बुद्धि के हल् स् का लोप हो जाएगा और रूप बनेगा हे राम। द्विवचन और बहुवचन रूपों में कोई अन्तर नहीं है।

अमि पूर्वः 6.1.107

अकोम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्, रामौ।

व्याख्याः अक् से परे द्वितीया एकवचन के प्रत्यय अम् का अच् परे होने पर दोनों को पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। जैसे राम+अम् = रामम्। यहाँ राम में मकार परे अ है जो अक् प्रत्याहार का वर्ण है। अतः इस अकार और अम् के अकार को पूर्वरूप आकर हुआ और रामम् रूप सिद्ध हुआ।

रामम् शब्द की सिद्धि

राम + अम् (पूर्ववत् प्रातिपादक संज्ञा, ङयाप् प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च सूत्रों के अधिकार में सु आदि की उत्पत्ति। द्वयेकयोद्विवचनैकवचने से एक की विवक्षा में द्वितीया एकवचन का प्रत्यय अम् आया।

रामम् (आमि पूर्वः से पर्वूरूप एकादेश)

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमा के समान रामौ रूप बनेगा। द्वितीया के बहुवचन में राम + शस्।

तस्माच्छसो नः पुंसि 6.1.103

पूर्वसवर्णदीर्घात्, परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि।

व्याख्याः पूर्वसवर्ण दीर्घ से परे शस् के स् को पुँल्लिंग में न् आदेश हो जाता है। रामास् में पूर्वसवर्णदीर्घ हुए आकार से परे शस् का स् है। अतः इसको न् आदेश हुआ और रामान् बना।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि 8.4.2

अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् एतैर्न्यस्तैः समस्तैर्यथासंभवं मिलितैश्च व्यवधनेपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे। इति प्राप्ते।

व्याख्याः इस सूत्र में रषाभ्यां नो णः समानपदे सूत्र की अनुवत्ति है। अतः अर्थ होगा– र् और ष् से परे अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् के व्यवधान होने पर भी न् को ण् हो जाता है, समान पद में। यह व्यवधान ऊपर बताए हुए किसी एक वर्ण का हो या अनेक वर्णों का हो तब भी न् को ण् हो जाता है। समान पद का अर्थ है एक ही पद। जैसे रामान् एक पद है। र् और न् के बीच में आ, म् और आ इन तीन् वर्णों का व्यवधान है। आ अट् के अन्तर्गत आते हैं और म् पवर्ग के अन्तर्गत। अतः न् को ण् प्राप्त होता है। परन्तु अग्रिम सूत्र से इसका निषेध हो जाता है।

पदान्तस्य 8.4.37

नस्य णो न। रामान्।

व्याख्याः पदान्त न् को ण् आदेश नहीं होता है। रामान् में न् पद के अन्त में है, इसलिए इसे ण् आदेश नहीं होगा। अतः रामान् रूप सिद्ध होगा।

रामान् की सिद्धि

राम राम राम + शस् (यहाँ पूर्ववत राम की प्रातिपदिक संज्ञा हुई। ङयाप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च इन तीन सूत्रों के अधिकार से सु आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई। बहुषु बहुवचनम् सूत्र से द्वितीया का बहुवचन प्रत्यय शस् आया।

राम + शस् (सरूपाणमिकशेष एकविभक्तौ सूत्र से एक राम शेष रहा।)

राम + अस् (लशक्वतद्धिते सूत्र से शस् के श् की इत्संज्ञा तथा तस्य लोपः से उसका लोप हुआ।)

रामास् (प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से राम के अन्तिम अकार और अस् के अकार को पूर्वसवर्ण दीर्घ (एकादेश हुआ।)

रामान् (तस्माच्छसो नः पुंसि से शस् के स् को नकार आदेश हुआ)

रामान् (अह् कुटवाङ् नु,म्व्यवायेपि सूत्र से न् को ण् प्राप्त हुआ परन्तु पदान्तस्य सूत्र से उसका निषेध हुआ)
इस प्रकार रामान् रूप सिद्ध हुआ।

लशक्वतद्धिते 1.3.8

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः।

व्याख्याः तद्धित को छोड़कर प्रत्यय के आदि में लकार, शकार, और कवर्ग की इत्संज्ञा होती है। राम + शस् में शस् के शकार की इत्संज्ञा हुई और स्थिति हुई राम + अस्।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश होकर स्थिति हुई रामास्।

ततीया के एकवचन में राम + टा यह स्थिति हुई।

टाङसिङसामिनात्स्याः 7.1.12

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः। णत्वम् - रामेण।

व्याख्याः अदन्त अX से परे टा, ङसि, ङस् को क्रमशः इन, आत् और स्य आदेश हो जाते हैं। राम अदन्त है, अतः टा को इन आदेश हुआ। तब स्थिति हुई राम + इन।' आद्गुणः से गुण होकर स्थिति हुई रामेन। यहा न् पद के अन्त में नहीं है अतः अट् कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि सूत्र से न को ण् आदेश हुआ और रामेण रूप सिद्ध हुआ।

ततीया के द्विवचन में राम + भ्याम् यह स्थिति हुई।

सुपि च 7.3.102

यादौ सुपि अतो Xस्य दीर्घः। रामाभ्याम्

व्याख्याः इस सूत्र में अतो दीर्घो यञि सूत्र की अनुवत्ति है। अतः अर्थ होगा– य् है आदि में जिसके, ऐसा सुप् प्रत्यय परे रहते अदन्त अX को दीर्घ आदेश हो जाता है। अलोन्त्यस्य इस परिभाषा सूत्र से अन्तिम अच् को दीर्घ होगा।

राम + म्याम् में अदन्त अX से परे सुप् प्रत्यय भ्याम् है। भ् यञ् प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है अतः प्रकृत सूत्र से राम के अ को दीर्घ आदेश होकर रामाभ्याम् रूप बनेगा।

ततीया के बहुवचन में राम + भिस् यह स्थिति हुई।

अतो भिस् ऐस् 7.1.13

अनेकाल् शित् सर्वस्य। रामैः

व्याख्याः अदन्त अX से परे भिस् को ऐस् आदेश होता है। ऐस् अनेकाल् है, अतः अनेकाल् शित् सर्वस्य इस परिभाषा सूत्र के बल से ऐस् आदेश सम्पूर्ण भिस् के स्थान पर होगा। ऐस् आदेश होकर रामैः रूप बनेगा।

रामैः रूप की सिद्धि

राम : भिस् (पूर्ववत् ततीया बहुवचन का प्रत्यय आया)

राम + ऐस् (अतो भिस् ऐस् से भिस् को ऐस् आदेश हुआ)

रामैस् (वद्धिरेचि सूत्र से अ और ऐ को वद्धि एकादेश ऐ हुआ)

रामैर् (ससजुषो रुः से स् को रु आदेश हुआ। उपदेशेजनुनासिक इत से उकार की इत्संज्ञा हुई। तस्य लोपः से उसका लोप हुआ)

रामैः (खरवसानयोर्विसर्जनीयः सूत्र से र् को विसर्ग हुआ)

इस प्रकार रामैः रूप सिद्ध हुआ।

चतुर्थी के एकवचन में ङे प्रत्यय आया और स्थिति हुई– राम + ङे।

ङेर्यः 7.1.9

अतो Xात्परस्य ङेर्यादेशः।

व्याख्याः अदन्त अX से परे ङे के स्थान पर य आदेश होता है। इस प्रकार स्थिति होगी राम + य।

स्थानिवदादेशोनल्विधौ 1.1.56

आदेशः स्थानिवत् स्यात्, न तु स्थान्यलाश्रयविधौ।

व्याख्याः आदेश स्थानी के समान होता है, अर्थात् आदेश पर भी उसी प्रकार के कार्य होते हैं जिस प्रकार स्थानी पर। परन्तु यह नियम अल् विधि में लागू नहीं होता। अल् विधि का अर्थ है अल् सम्बन्धी विधि। अल प्रत्याहार में सभी वर्ण आ जाते हैं। जहाँ एक वर्ण को आश्रय मान कर आदेश किया जाता है उस पर स्थानी के समान कार्य नहीं होते।

वस्तुतः धातु, अX, कृत्, तद्धित, सुप्, तिङ् और पदादेश स्थानीवत् होते हैं। धातु के स्थान पर आदेश धातु के समान, अX के स्थान पर आदेश अङग के समान कृत् के स्थान पर कृत् के समन समान, तद्धित के स्थान पर आदेश तद्धित के समान, सुप् के स्थान पर आदेश सुप् के समान, तिङ् के स्थान पर आदेश तिङ् के समान और पद के स्थान पर आदेश पद के समान होते हैं। जैसे अस्तेर्भूः, इस सूत्र से अस् धातु के स्थान पर भू आदेश होता है। इसलिए भू को धातु माना जाएगा।

सुप् के स्थान पर आदेश सुप् के समान होते हैं। राम + य में ङे के स्थान पर य आदेश हुआ है, अतः य को सुप् ही माना जाएगा। इसलिए सुपि च से राम के अकार को दीर्घ होकर रामाय रूप बनेगा। चतुर्थी के द्विवचन में पर्वूवत् रामाभ्याम् रूप बनेगा।

चतुर्थी के बहुवचन में राम + भ्यस् यह स्थिति होगी।

बहुवचने झल्येत् 7.1.103

झलादौ बहुवचने सुपि अतो Xस्यैकारः, रामेभ्यः। सुपि किम् पचध्वम्।

व्याख्याः बहुवचन का झलादि सुप् यदि परे हो तो अदन्त अX को एकार आदेश होता है। राम + भ्यस् में भ्यस् बहुवचन का प्रत्यय है और झलादि है। राम अदन्त अX है, अतः राम के अकार को एकार होकर रामेभ्यः रूप बनेगा। स् को पर्वूवत् विसर्ग होंगे। सुप् परे होने पर ही अदन्त अX को एकार आदेश होगा। सुप् भिन्न झलादि प्रत्यय परे होने पर ऐसा नहीं होगा। जैसे पच + ध्वम्। यहाँ ध्वम् बहुवचन का झलादि प्रत्यय परे है और पूर्व में अदन्त अX है परन्तु क्योंकि ध्वम् सुप् नहीं है, अतः पांच के अकार को एकार आदेश नहीं होगा।

पचमी के एकवचन में राम + ङसि यह स्थिति होगी। ङसि को 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इस सूत्र से आत् आदेश होगा। अकः सवर्णे दीर्घः से सवर्ण दीर्घ एकादेश होकर रामात् रूप बनेगा।

वावसाने 8.4.56

अवसाने झलां चरो वा स्युः। रामात्, रामाद्, रामाभ्याम्, रामेभ्यः, रामस्य।

व्याख्याः अवसान में झलों को विकल्प से चर आदेश होता है। रामात् में झलां जशोन्ते से त् को नित्य द् प्राप्त होता है। परन्तु अवसान में विकल्प से झलों को चर् आदेश बताया गया है। अतः रामाद् और रामात् ये दो रूप बनेंगे।

पचमी के द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत् क्रमशः रामाभ्याम् और रामेभ्यः रूप बनेंगे। षष्ठी के एकवचन में राम + ङस् यह स्थिति होगी। :टाङसिङसामिनात्स्याः सूत्र से ङस् के स्थान पर स्य आदेश होगा और रामस्य रूप बनेगा। षष्ठी के द्विवचन में राम + ओस् यह स्थिति होगी।

ओसि च 7.3.104

अतो Xस्यैकारः। रामयोः।

व्याख्याः यहाँ बहुवचने झल्येत् सूत्र से अकार को एत् होने की अनुवत्ति है। अतः सूत्र का अर्थ होगा–अदन्त अ X के अकार को ओस् पर होने पर भी एकार आदेश होता है। अतः स्थिति हुई रामे + ओस्। एचोयवायावः सूत्र से अय् आदेश होकर रामयोस् बना। स् को पूर्ववत् विसर्ग होकर रामयोः रूप बनेगा।

षष्ठी के बहुवचन में राम + आम् यह स्थिति होगी।

ह्रस्वनद्यापो नुट् 7.1.54

ह्रस्वान्ताद् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाXत् परस्यामो नुडागमः।

व्याख्याः ह्रस्वान्त अX से तथा आबन्त अX से परे षष्ठी बहुवचन के प्रत्यय आम् को नुट् का आगम होता है। आद्यन्तौ ट्कितौ सूत्र से नुट् का आगम आम् के आदि में होगा। अतः स्थिति होगी राम + नाम्। राम ह्रस्वान्त अX है अतः आम् को नुट् का आगम हुआ है। नुट् का उट् इत्संज्ञक है।

नामि 6.4.3

अजन्ताXस्य दीर्घः नामि। रामाणाम्। रामे। रामयोः। एत्वे कृते-

व्याख्याः नाम् परे होने पर अजन्त अX को दीर्घ हो जाता है। जैसे राम + नाम् यहाँ राम अजन्त अX है और उससे परे नाम् है, अतः प्रकृत सूत्र से राम के अच् को दीर्घ होकर रामा + नाम् यह स्थिति होगी। यद्यपि यहाँ सुपि च से भी दीर्घ हो सकता था। परन्तु सुपि च सूत्र केवल अदन्त अX पर ही लागू होता है जबकि नामि सूत्र अजन्त अX पर लागू होता है और विशेष रूप से नाम् परे होने पर ही लागू होता है। अतः यहाँ नामि से ही दीर्घ होगा। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि से न् को ण् होकर रामाणाम् रूप बनेगा।

सप्तमी के एक वचन में राम + ङि यह स्थिति होगी। लशक्वतद्धिते से ङ् की इत्संज्ञा और तस्य लोपः से लोप होकर राम + ई यह स्थिति होगी। आद्गुणः से गुण होकर रामे रूप सिद्ध होगा।

सप्तमी के द्विवचन में राम + ओस् होकर पूर्ववत् रामयोः रूप बनेगा। सप्तमी के बहुवचन में राम + सुप् यह स्थिति होगी। यहाँ प् की हलन्त्यम् से इत्संज्ञा और तस्य लोपः से लोप होकर राम + सु यह स्थिति होगी। बहुवचने झल्येत् से राम के अकार को एकार होकर यह स्थिति होगी– रामे + सु।

आदेशप्रत्यययोः 8.3.59

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्य आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सः, तस्य मूर्धन्यादेशः। ईषद्विवतस्य सस्य तादश एवषः। रामेषु । एवं कृष्णादयोप्यदन्ताः।

व्याख्याः इस सूत्र में इण्कोः सूत्र का अधिकार है। इण् और क वर्ग से परे यदि अपदान्त स् हो और वह आदेश अथवा प्रत्यय का अवयव हो तो उसे मूर्धन्य आदेश हो जाता है। स् ईषद्विवत है अतः मूर्धन्य ईषद् विवत वर्ण ष् ही स् के स्थान पर आदेश होगा। जैसे रामे + सु, यहाँ स् से पूर्व ए है जो इण् के अन्तर्गत है। सकार प्रत्यय का अवयव है। इसलिए प्रकृत सूत्र से स् को ष आदेश होगा और रामेषु रूप सिद्ध होगा।

इस प्रकार राम के रूपों की सिद्धि हुई।

राम शब्द के सभी विभक्तियों में रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
सम्बोधन	हे राम	हे रामौ	हे रामाः
द्वितीया	रामम्	रामौ	रामान्
ततीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	रामाम्याम्	रामेम्यः
पचमी	रामात्	रामाम्याम्	रामेम्यः
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	रामयोः	रामेषु

अन्य अकारान्त पुँल्लिX के रूप राम की तरह चलेंगे। ततीया के एकवचन और षष्ठी के बहुवचन में न् को ण् तभी होगा जब र् या ष् पूर्व में होंगे तथा अट्, कवर्ग, प वर्ग, आङ्, नुम् (अनुस्वार) वर्णों के अतिरिक्त अन्य वर्णा का व्यवधान नहीं होगा। जैसे कृष्ण के ततीया एवचन और षष्ठी पहुवचन में क्रमशः कृष्णेन और कृष्णानाम् रूप बनेंगे। क्योंकि ष् और न् के मध्य ण् का व्यवधान है जो अट्कुप्..... के अन्तर्गत नहीं आता।

अकारान्त सर्वनाम शब्दों के रूप

सर्वादीनि सर्वनामानि 1.1.27

सर्व, विश्व, उभ उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थयामसंज्ञायाम्। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। त्यद्, तद्, यद्, एतद् इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद् भवतु, किम्।

व्याख्याः सर्वादि शब्दों की सर्वनामसंज्ञा होती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के साथ गणपाठ, धातुपाठ, उणादिपाठ आदि भी पढ़ने आवश्यक हैं क्योंकि पाणिनि के अनेक सूत्र गणपाठ आदि को ध्यान में रखकर रचे गए हैं। गणपाठ में सर्वादिगण भी है। सर्वादिगण में पठित शब्द सर्वादि कहलाते हैं। क्योंकि इस शब्द समूह के आदि में सर्व है। निम्नलिखित शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है।

(क) सर्व (सब), विश्व (सब), उभ (दो), उभय (दो का समूह)।, डतर प्रत्ययान्त, डतम प्रत्ययान्त, अन्य (दूसरा), अन्यतर (दो में से कोई एक), इतर (दूसरा), त्वत् (दूसरा), त्व (दूसरा), नेम (आधा), सम(सब), सिम (सब)।

(ख) पूर्व (पहला), पर (बाद का या दूसरा), अवर (पश्चिम), दक्षिण (दक्षिण दिशा)।, उत्तर (उत्तर दिशा), अपर (पश्चिमी), अधर (नीचा) इन शब्दों की तब सर्वनाम संज्ञा होती है जब ये व्यवस्था अर्थ में प्रयुक्त हों और संज्ञा अर्थ में न हो। व्यवस्था का अर्थ है किसी पदार्थ की अन्य पदार्थ की तुलना में स्थिति बताना – स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। अर्थात् जहाँ कोई पदार्थ किस के पूर्व या पर है इस प्रकार की स्थिति बताई जाए उसे व्यवस्था कहते हैं। जैसे दक्षिण शब्द की तभी सर्वनाम संज्ञा होगी जब वह दक्षिण दिशा का वाचक होगा जैसे दक्षिणे देशाः अर्थात दक्षिण दिशा के देश। दक्षिण शब्द यदि अन्य अर्थ में प्रयुक्त होगा तो उसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी, जैसे दक्षिणाः गायकाः अर्थात् चतुर गायक। ये शब्द यदि संज्ञा अर्थ में प्रयुक्त होंगे तो भी इनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। जैसे उत्तराःकुरवः अर्थात् उत्तरकुरु नामक देश।

(ग) स्व शब्द जब ज्ञातिवाचक या धनवाचक न हो तो उसकी सर्वनाम संज्ञा होती है। स्व शब्द चार अर्थों में प्रयुक्त होते हैं– (1) स्वयं, (2) अपना, (3) ज्ञाति (बन्धु–बान्धव) तथा (4) धन। स्वयं या अपना इन अर्थों में स्व की सर्वनाम संज्ञा होती है, जैसे स्वे प्रदेशाः (अपने प्रदेश) परन्तु स्वा गताः (बान्धव चले गए) या अस्वः भिक्षुकः (निर्धन भिक्षुक) यहाँ इनकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी।

(घ) अन्तर शब्द की बहिर्योग (अर्थात् बाह्य) तथा उपसंख्यान (अधोवस्त्र) अर्थों में सर्वनाम संज्ञा होती है।

(ङ) त्यद् (वह), तद् (वह), यद् (जो), एतद् (यह), इदम् (यह), अदस् (वह), एक, द्वि (दो) , युष्मद्, अस्मद् भवत् (आप) तथा किम् (क्या) की भी सर्वनाम संज्ञा होती है। यह त्यादिगण है और इन शब्दों की रूप रचना पथक ढंग से होती है, अतः इनका परिगणन पथक् किया गया है।

सर्व शब्द के रूप प्रथमा के एकवचन और द्विवचन में राम की तरह सर्वः और सर्वौ बनेंगे। प्रथमा के बहुवचन में अन्तर होगा।

जसः शी 7.1.17

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। सर्वे।

व्याख्याः अदन्त सर्वनाम से परे जस् के स्थान पर शी आदेश होता है। शी आदेश अनेकाल् है, अतः सम्पूर्ण जस् के स्थान पर होगा अन्तिम के स्थान पर नहीं। इसलिए सर्व + शी। शकार की इत्संज्ञा तथा तस्य लोपः से उसका लोप होने पर सर्व + ई यह स्थिति रही। आद्गुणः से गुण होकर सर्वे रूप बना।

सर्वे शब्द की सिद्धि

सर्व + जस्

(अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदकिम् से प्रातिपदिक संज्ञा। ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च इन सूत्रों के अधिकार में सु आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति। बहुषु बहुवचनम् से प्रथमा एकवचन का प्रत्यय जस् आया)

सर्व + शी (सर्वादीनि सर्वनामानि से सर्व की सर्वनामसंज्ञा। जसः शी से जस् के स्थान पर शी आदेश। अनेकाल् शित् सर्वस्य से सर्वादेश)

सर्व + ई (लशक्वतद्धिते से शकार की इत्संज्ञा और तस्य लोपः से उसका लोप)

सर्वेभ (आद्गुणः से गुण एकादेश)

इस प्रकार सर्वे रूप सिद्ध हुआ।

द्वितीया और ततीया के रूप र ाम के समान होंगे।

सर्वनाम्नः स्मै 7.1.14

अतः सर्वनाम्नो ङे स्मै। सर्वस्मै।

व्याख्याः अदन्त सर्वनाम से परे चतुर्थी एकवचन के प्रत्यय ङे के स्थान पर स्मै आदेश हो। जैसे सर्व + ङे = सर्व + स्मै = सर्वस्मै।

चतुर्थी के द्विवचन और बहुवचन में राम के समान ही रूप होंगे।

ङसिङयो स्मात्स्मिनौ 7.1.15

अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

व्याख्याः अदन्त सर्वनाम से परे ङसि और ङि के स्थान पर क्रमशः स्मात् और स्मिन् आदेश हो जाते हैं। अतः पचमी का एकवचन का रूप सर्वस्मात् होगा।

पचमी के द्विवचन और बहुवचन में राम के समान सर्वाभ्याम् और सर्वेभ्यः रूप बनेंगे। षष्ठी के एकवचन और द्विवचन में राम के समान सर्वस्य और सर्वयोः रूप बनेंगे। षष्ठी के बहुवचन में रूप में अन्तर होगा।

आमि सर्वनाम्नः सुट् 7.1.52

अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः। एत्वषत्वे सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्। एवं विश्वादयोप्यदन्ताः। उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः उभौ, उभाम्याम्, उभयोः। तस्येह पाठस्त्वकजर्थः। उभयशब्दस्य

द्विवचनं नास्ति। डतरडतमौ प्रत्ययौ। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण इतिम्' तदन्ता ग्राह्याः। नेम इत्यर्धे। समः सर्वपर्यायः, तुल्यपर्यायस्तु न, यथासंख्यमनुदेशः समानाम् इति निर्देशात्।

व्याख्याः अवर्णान्त सर्वनाम संज्ञक से परे आम् प्रत्यय को सुट् का आगम हो जाता है। अवर्णान्त चाहे मूल सर्वनाम शब्द हो अथवा किसी विकार द्वारा उसे अवर्णान्त् बनाया गया हो, सभी से परे आम् को सुह् का आगम होता है। सुर् का उट् इत्संज्ञक है। केवल स् शेष बचता है। सर्व + आम् में प्रकृत सूत्र से सुट् का आगम होने पर स्थिति बनती है – सर्व + साम्। बहुवचने झल्येत् से सर्व के अकार को एकार आदेश होगा। इस प्रकार स्थिति होगी सर्वे + साम्। आदेश प्रत्यययोः से स को ष् आदेश होकर रूप बनेगा सर्वेषाम्।

सप्तमी के एक वचन में ङसिङयोः स्मात्स्मिनौ से ङि के स्थान पर स्मिन् आदेश होकर रूप बनेगा सर्वस्मिन्। सप्तमी के द्विवचन और बहुवचन में राम के समन सर्वयोः और सर्वेषु रूप बनेंगे।

सर्व शब्द के सभी विभक्तियों में रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सर्वः	सर्वौ	**सर्वे**
सम्बोधन	हे सर्व	हे सर्ववौ	हे सर्वे
द्वितीया	सर्वम्	सर्वौ	सर्वन्
ततीया	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः
चतुर्थी	**सर्वस्मै**	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
पचमी	**सर्वस्मात्**	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्यः
षष्ठी	सर्वस्य	सर्वयोः	**सर्वेषाम्**
सप्तमी	**सर्वस्मिन्**	सर्वयोः	सर्वेषु

अकारान्त पुँल्लिX सर्वनाम शब्दों में केवल पाँच स्थानों पर अन्तर आता है जैसा कि रेखाΓित रूपों से स्पष्ट है।

अन्य अकारान्त विश्व आदि सर्वनाम शब्दों के रूप सर्व के रूपों के समान होंगे। उभ शब्द के रूप केवल द्विवचन में ही बनेंगे– प्रथमा, द्वितीया में उभौ; ततीया, चतुर्थी और पचमी में उ भाम्याम्; षष्ठी और सप्तमी में उभयोः। इस प्रकार उभ शब्द के रूपों में सर्वनाम का कोई वैशिष्ट्य नहीं, फिर उसे सर्वनामों के अन्तर्गत क्यों रखा गया। इसका उत्तर यह है कि उस शब्द के साथ अ कच् (अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः) प्रत्यय लगकर उभक शब्द बनता है जिसके रूप सभी विभक्तियों में चलते हैं। उभक के रूप उभकस्मै आदि सर्वनाम के वैशिष्ट्ययुक्त रूप बनते हैं।

उभय शब्द के रूप द्विवचन में नहीं होते। या तो एकवचन में होते हैं। या बहुवचन में। डतर, डतम प्रत्यय हैं। यहाँ डतर और डतम प्रत्ययान्त शब्द जैसे कतर, कतम आदि का ग्रहण होगा। नेम शब्द अर्ध (आधा) अर्थ में सर्वनाम संज्ञक होता है तुल्य अर्थ में नहीं।

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। 1.1.34

एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणसूत्रात् सर्वत्र या प्राप्ता, सा जसि वा स्यात्। पूर्वे, पूर्वाः। असंज्ञाया किम्- उत्तराः कुरवः स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम्-दक्षिणा गायकाः, कुशला इत्यर्थः।

व्याख्याः पूर्व, पर आदि शब्दों को व्यवस्था अर्थ में तथा इन के संज्ञा न होने पर जस् परे होने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

यह सूत्र सर्वादिगण में यथावत् पठित है। सर्वादीनि सर्वनामानि सूत्र से इन शब्दों की व्यवस्था अर्थ में नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी, जब ये संज्ञा अर्थ में न हों। परन्तु इस सूत्र के द्वारा जस् परे होने पर इन शब्दों की विकल्प से सर्वनाम

संज्ञा होगी। इसलिए जस् परे होने पर दो–दो रूप बनेंगे, जैसे पूर्वे, पूर्वाः आदि। व्यवस्था के अर्थ को पहले ही समझाया जा चुका है।

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् 1.2.35

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा। स्वे, स्वाः आत्मीया आत्मान इति वा। ज्ञाति धनवाचिनस्तु स्वाः ज्ञातयः अर्था वा।

व्याख्याः स्व शब्द जब जाति तथा धन अर्थ का बोधक न हो तो जस् परे होने पर उसकी विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होती है। यह सूत्र भी यथावत् सर्वादिगण में पठित है, इसलिए स्व शब्द की नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी, जब यह जाति अर्थात् बन्धन और धन का वाची न होने पर स्व शब्द की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होगी। इस प्रकार प्रथमा के बहुवचन में स्वे तथा स्वाः ये दो रूप बनेंगे। जब स्व शब्द जाति अर्थात् बान्धव अर्थ का वाची हो या धन का वाची हो तो इसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी और केवल स्वाः रूप ही बनेगा जैसे स्वाः तिष्ठन्ति अर्थात् बान्धव खड़े हैं अथवा स्वाः एव जीवनधारकाः अर्थात् धन ही जीवन के धारक हैं।

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः 1.1.36

बाह्ये परिधानीये चार्थेन्तरशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा, जसि वा। अन्तरे अन्तरा वा गहाःबाह्या इत्यर्थः। अन्तरे अन्तरा वा शाटका परिधानीया इत्यर्थः।

व्याख्याः बाह्य और अधोवस्त्र अर्थ में अन्तर शब्द की जस् परे होने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वादीनि सर्वनामानि सूत्र से इसकी इन अर्थों में नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी। इस सूत्र के द्वारा जस् परे होने पर अन्तर की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा बताई गई है। जैसे अन्तरे अन्तरा वा गहाः अर्थात् बाह्य घर। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः अर्थात् नीचे पहनने वाले वस्त्र।

पूर्वादिम्यो नवभ्यो वा 7.1.16

एभ्यो ङसिङयोः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्, पूर्वात्। पूर्वस्मिन्, पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं सर्ववत्।

व्याख्याः पूर्व आदि नौ शब्दों (अर्थात् पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व तथा अन्तर) की ङसि और ङि परे होने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वादीनि सर्वनामानि से इन शब्दों की नित्य सर्वनाम संज्ञा प्राप्त थी परन्तु इस सूत्र के द्वारा ङसि और ङि परे होने पर इनकी विकल्प से सर्वनाम संज्ञा बताई गई है। इसलिए ङसि और ङि परे होने पर दो–दो रूप बनेंगे। जैसे– पूर्वस्मात् और पूर्वात् तथा पूर्वस्मिन् और पूर्वे।

प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च 1.1.33

एते जसि उक्तसंज्ञा वा स्युः। प्रथमे, प्रथमाः। तयः प्रत्ययः - द्वितये, द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे, नेमाः शेषं सर्ववत्।

व्याख्याः प्रथम (पहला), चरम (अन्तिम), तय प्रत्ययान्त शब्द, अल्प (थोड़ा), अर्ध (आधा), कतिपय (थोड़ा), तथा नेम (आधा) शब्दों की जस् परे होने पर विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। जैसे प्रथमे, प्रथमाः आदि। तयप् प्रत्ययान्त के उदाहरण है– द्वितये, द्वितयाः। तयप् प्रत्यय विधायक सूत्र है– संख्याया अवयवे तयप् (5-2-42) नेम शब्द सर्वादिगण में पठित है। अतः जस् परे होने पर इसकी विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होगी जबकि अन्यत्र नित्य सर्वनाम संज्ञा होगी शेष शब्द सर्वादिगण में पठित नहीं हैं, अतः इनकी केवल जस् परे होने पर ही सर्वनाम संज्ञा होगी। इसलिए प्रथमा आदि के अन्यरूप राम की तरह होंगे और नेम के अन्य रूप सर्व की तरह होंगे।

वा. तीयस्य ङित्सु वा।

द्वितीयस्मै, द्वितीयायेत्यादि। एवं ततीयः।

व्याख्याः तीय प्रत्ययान्त शब्दों की ङित् प्रत्यय परे होने पर विकल्प से सर्वनामसंज्ञा होती है। तीय प्रत्ययान्त दो शब्द हैं– द्वितीय (दूसरा) तथा ततीय (तीसरा)। द्वेस्तीय सूत्र से द्वि को तीय प्रत्यय होता है तथा त्रेः सम्प्रसारणं च सूत्र से त्रि

को तीय प्रत्यय होता है तथा त्रि का सम्प्रसारण होकर ततीय रूप बनता है। ङित प्रत्यय चार हैं– ङे, ङसि, तथा ङि। इन प्रत्ययों के परे रहते द्वितीय तथा ततीय के दो–दो रूप बनेंगे– द्वितीयाय तथा ततीयाय; द्वीतीयस्यै तथा ततीयस्मै।

सर्वनाम शब्द समाप्त

जराया जरस् अन्यतरस्याम् 7.2.101

अजादौ विभक्तौ। पदXाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति। एकदेश विकृतमनन्यवत्।

व्याख्याः जरा (बुढ़ापा) शब्द को अजादी विभक्ति परे होने पर विकल्प से जरस् आदेश हो जाता है। निर्जर शब्द जरा शब्द से बना हुआ समस्त पद है जिसका अर्थ है– जिसे बुढ़ापा ना आए अर्थात् देवता। निर्जर शब्द के रूप हलादि विभक्ति परे होने पर राम के समान होंगे। अजादि विभक्ति परे रहते जरा को विकल्प से जरस् आदेश हो जाता है। पद और अX के अधिकार में जिसके स्थान पर आदेश का विधान किया जाता है वह उस शब्द के स्थान पर अथवा तदन्त शब्द के स्थान पर होता है। तदन्त शब्दों में आदेश उसी स्थानी के स्थान पर होता है जिसका सूत्र में निर्देश किया गया है। इस सूत्र में जरा के स्थान पर जरस् ओदश किया गया है। यह आदेश निर्जर शब्द में जरा शब्द के स्थान पर भी होगा क्योंकि यह शब्द तदन्त अर्थात् जरा–अन्त है। आदेश पूर्ण शब्द निर्जर के स्थान पर न होकर जरा शब्द के स्थान पर ही होगा क्योंकि आदेश निर्दिश्यमान के स्थान पर ही होते हैं। षष्ठी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट पद निर्दिश्यमान कहलाता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि जरस् आदेश जरा के स्थान पर बताया गया है परन्तु निर्जर शब्दों में तो जर् है, फिर जर के स्थान पर जरस् आदेश कैसे होगा? इसका उत्तर इस परिभाषा में दिया गया है– एकदेशविकृतमनन्यवत् अर्थात् किसी शब्द का कोई अवयव विकृत हो जाए तो उस शब्द का धर्म नहीं बदलता इसलिए अजादि विभक्ति परे होने पर निर्जर के स्थान पर निर्जरस् प्रातिपदिक होगा, विकल्प से जैसे औ परे होने पर निर्जरसौ रूप बनेगा। इस प्रकार हलादि विभक्ति पर होने पर अकारान्त पुल्लिX की तरह रूप होंगे और अजादि विभक्ति परे होने पर विकल्प से निर्जरस् आदेश करके रूप बनेंगे।

निर्जर शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	निर्जरः	निर्जरसौ निर्जरौ	निर्जरसः निर्जराः
सम्बोधन	हे निर्जर	हे निर्जरसौ हे निर्जरौ	हे निर्जरसः हे निर्जरः
द्वितीया	निर्जरसम् निर्जरम्	निर्जरसौ निर्जरौ	निर्जरान् ....
ततीया	निर्जरसा निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
चतुर्थी	निर्जरसे निर्जराय	निर्जराभ्याम् निर्जरेभ्यः	निर्जरेभ्यः
पचमी	निर्जरसः निर्जरात्	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
षष्ठी	निर्जरसः निर्जरस्य	निर्जरसोः निर्जरयोः	निर्जरसाम् निर्जरइधम्
सप्तमी	निर्जरसि निर्जरे	निर्जरसोः निर्जरयोः	निर्जरेषु

अथ आकारान्त शब्द

दीर्घाज्जसि च 6.1.105

दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्ण दीर्घः। वद्धिः विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। विश्वपाम्। विश्वपौ।

व्याख्याः दीर्घ से परे जस् और इच् होने पर पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता है।

विश्वपा शब्द विश्व के साथ पा धातु के साथ समास होकर बना है–विश्वं पाति इति विश्वपा अर्थात् जो विश्व का पालन करे अर्थात् परमात्मा। विश्वपा का सु परे होने पर प्रथमा के एकवचन में स् को रुत्व विसर्ग होकर विश्वपा': रूप बनता है। द्विवचन में विश्वपा + औ यह स्थिति बनती है। यहाप्रथमयोः पूर्वसवर्ण से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त होता है। परन्तु यहादीर्घ से परे इच् है, अतः पूर्वसवर्ण दीर्घ का प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया। अतः वद्धिरेचि सूत्र से वद्धि एकादेश होकर विश्वपौ रूप बनेगा।

प्रथमा बहुवचन में विश्वपा + जस् यह स्थिति होने पर पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेघ हुआ। अतः अकः सवर्णे दीर्घः से दीर्घ एकादेश होकर विश्वपाः रूप बना। द्वितीया के एकवचन में विश्वपा + अम् यह स्थिति होने पर प्रथमयोः पूर्वसवर्णः सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर विश्वपाम् रूप बनेगा। द्वितीया के बहुचन में विश्वपा + शस् = विश्वपा + अस् यह स्थिति होगी।

सुड् अनपंसकस्य 1.1.53

स्वादिपचवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य।

व्याख्याः सु आदि पाँच प्रत्ययों की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। अर्थात् सु, औ, जस, अम्, औट ये पाँच प्रत्यय सर्वनारस्थान संज्ञक होते हैं। ध्यान रहे सर्वनामस्थानसंज्ञा ओर सर्वादीनि सर्वनामानि से बताई गई सर्वनाम संज्ञा में परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है।

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने 1.4.17

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात्।

व्याख्याः सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्ययों को छोड़कर सु से लेकर कप् प्रत्यय तक परे रहने पर पूर्व की पद संज्ञा होती है। स्वौ जस्........ (4-1-2) सूत्र से लेकर उरः प्रभतिभ्यः कप् (5-4-151) तक जितने प्रत्यय गिनाए गए हैं उनके परे रहते पूर्व शब्द की पद संज्ञा होती है। केवल सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय परे रहते पद संज्ञा नहीं होती । जैसे विश्वपा + शस् में शस् प्रत्यय सर्वनामस्थान भिन्न है और सु से लेकर कप् प्रत्यय तक की अविध में है। अतः शस् परे होने पर विश्वपा की पद संज्ञा प्राप्त होती है।

यचि भम् 1.4.185

यादिषु अजादिषु च कप् प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्व भसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः सर्वनामस्थान प्रत्ययों को छोड़कर सु से कप् तक यहारादि और अजादि प्रत्यय परे रहते पूर्व की भसंज्ञा होती है।

अकडाराद् एका संज्ञा 1.4.1

इतः ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्रागे-कस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया, या परानवकाशा च।

व्याख्याः इस सूत्र से लेकर कडारा कर्मधारये (2-2-38) तक जो संज्ञाएँ गिनाई गई हैं वो एक शब्द की एक ही संज्ञा होती है। जहाँ एक शब्द की दो संज्ञाएँ प्राप्त हो रही हों वहाँ अष्टाध्यायी क्रम से बाद वाली संज्ञा को ग्रहण करना चाहिए। जैसे विश्वपा + अस् (शस्) में स्वादिष्वसर्वनामस्थाने सूत्र से पूर्व की पद संज्ञा होती है। परन्तु अस् अजादि प्रत्यय है, इसलिए यचि भम् से पूर्व की भसंज्ञा भी प्राप्त होती है। परन्तु यचि भम् सूत्र अष्टाध्यायी क्रम में बाद का है अतः यहाँ विश्वपा की भसंज्ञा होगी, पद संज्ञा नहीं क्योंकि कडारा कमधारये सूत्र तक एक शब्द की एक ही संज्ञा का विधान है। सामान्य सूत्र से हो रही अतिव्याप्ति का बाद वाले सूत्र द्वारा नियमन किया जाता है।

ऊपर के तीन सूत्रों से यह निष्कर्ष निकला कि सर्वनामस्थान प्रत्ययों को छोड़कर यदि हलादि प्रत्यय परे हों तो पूर्व की पदसंज्ञा होती है और यदि यकारादि और अजादि प्रत्यय परे हों तो पूर्व की भसंज्ञा होती है। इस प्रकार विश्वपा + अस् में विश्वपा की भसंज्ञा हुई जिसका फल अगले सूत्र में बताया गया है।

आतो धातोः 6.1.140

आकारन्तो यो धातु, तदन्तस्य भसंज्ञकाXस्य लोपः। अलोन्त्यस्य। विश्वपः। विश्वपा, विश्वयाभ्नपामित्यादि। एवं शंखध्मादयः। धातोः किम् हाहान्। हाहा। हाहै। हाहाः। हाहौः। हाहाम्। हाहे।

व्याख्याः आकारान्त धातु यदि भसंज्ञक अX के अन्त में हो तो उसका लोप हो जाता है। अलोन्त्यस्य परिभाषा के बल पर अन्तिम वर्ण का लोप होता है।

विश्वपा + अस् में विश्वपा भसंज्ञक है और इसके अन्त में आकारन्त धातु पा है, अतः पा के आकार का लोप होगा। इस प्रकार स्थिति बनेगी विश्वप् + अस् और रूप बनेगा विश्वपः। अन्य अजादि प्रत्यय परे रहते इसी प्रकार आकार का लोप होकर रूप बनेंगे। जैसे विश्वपा + टा = विश्वपा + आ = विश्वप् + आ = विश्वपा। इसी प्रकार चतुर्थी एकवचन का रूप बनेगा विश्वपे। हलादि विभक्ति परे रहने पर विश्वपा की भसंज्ञा नहीं होगी अपितु पद संज्ञा होगी। अतः आ का का लोप नहीं होगा जैसे विश्वपा + भ्याम् = विश्वपाभ्याम्।

विश्वपा शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः
सम्बोधन	हे विश्वपाः	विश्वपौ	विश्वपाः
द्वितीया	विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वपः
ततीया	विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्वपामिः
चतुर्थी	विश्वपे	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
पचमी	विश्वपः	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
षष्ठी	विश्वपः	विश्वपोः	विश्वपाम्
सप्तमी	विश्वपि	विश्वपोः	विश्वपासु

इसी प्रकार शXध्मा। (शंख को बजाने वाला) आदि शब्दों के रूप बनेंगे। जहाँ अन्त में आकारान्त धातु नहीं है वहाँ आ का लोप नहीं होगा। वहाँ सामान्य सन्धि सन्धि नियमों के अनुसार सन्धि होकर रूप बनेंगे। जैसे हाहा + शस् = हाहा + अस्। प्रथमयो पूर्वसवर्णः से पूर्वसवर्ण दीर्घादेश होकर हाहाः रूप बनेगा। ततीया एकवचन में हाहा : रूप बनेगा। ततीया एकवचन में हाहा+आ। यहाँ अकः सवर्णे दीर्घः से दीर्घ सन्धि होकर हाहा रूप बनेगा। चतुर्थी एकवचन में हाहा + ङे = हाहा + ए। यहाँ वद्धिरेचि से वद्धि एकादेश होकर हाहै रूप बनेगा। पचमी और षष्ठी एकवचन में हाहा + अस्। अकः सवर्णे दीर्घः से हाहाः रूप बनेगा। षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में हाहा + ओस् वद्धि एकादेश होकर हाहौः रूप बनेगा। सप्तमी एकवचन में हाहा + इ। गुण एकादेश होकर हाहे रूप बनेगा। इलादि प्रत्यय सीधे जुड़ जाएंगे। जैसे हाहाभ्याम्, हाहाभिः, हाहासु।

अथ इकारान्त शब्द

हरि शब्द (विष्णु)

प्रथमा एकवचन में हरी शब्द को सु प्रत्यय् होगा–

हरि + सु। यहाँ उकार की इत्संज्ञा और स् को रुत्व विसर्ग होकर हरिः रूप बनेगा। प्रथमा द्विवचन में हरि + औ। इस स्थिति में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर हरी रूप बनेगा। प्रथमा का बहुवचन जस् परे होने पर हरि + जस्।

जसि च 7.3.109

ह्रस्वान्तस्याXस्य गुणः। हरयः

व्याख्याः जस् परे होने पर ह्रस्वान्ताX के गुण हो। जैसे हरि + अस्। यहाँ ज् की इत्संज्ञा होकर अस् शेष रहा। जस् परे रहते हरि के इकार को गुण एकादेश हुआ और स्थिति हुई हरे + अस्। एचोयवायावः से ए को अय् आदेश होकर हरयः रूप बना।

ह्रस्वस्य गुणः 7.3.108

सम्बुद्धौ। हे हरे हरिम्, हरी, हरीन्।

व्याख्याः सम्बुद्धि परे हाने पर ह्रस्वान्त अX को गुण होगा। अलोन्त्यस्य से अन्तिम को गुण होगा और सम्बोधन के एक वचन में हरि शब्द से हे हरे रूप बनेगा–

हरि + स्। ह्रस्वस्य गुणः से हरे + स्।

एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धे से स् का लोप होकर हरे रूप बनेगा।

द्वितीया के एकवचन में हरि + अम् यह स्थिति होगी। अमि पूर्वः से पूर्वरूप एकादेश होकर हरिम् रूप बनेगा। द्वितीया के द्विवचन में पूर्ववत् हरी रूप बनेगा। द्वितीया के बहुवचन में हरि + शस् यह स्थिति होगी। लशक्वतद्धिते से शकार की इत्संज्ञा। हरि + अस्। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हरीस्। तस्माच्छसो नः पुंसि से स् को न् और हरीन् रूप सिद्ध हुआ।

शेषो ध्यसखि 1.4.7

शेष इति स्पष्टार्थम्। अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जम् घिसंज्ञम्।

व्याख्याः नदीसंज्ञक भिन्न ह्रस्व इकारान्त, उकारान्त अX को घिसंज्ञा होती है, सखि शब्द को छोड़कर। नदी संज्ञा आगे बताई जाएगी। यहाँ शेष शब्द का प्रयोग स्पष्टता के लिए है। घिसंज्ञा का फल आगे बताया गया है।

आङो नास्त्रियाम् 7.3.120

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। 'आङ्' इति टा संज्ञा प्राचाम्। हरिणा, हरिभ्याम्, हरिभिः।

व्याख्याः स्त्रीलिX भिन्न घिसंज्ञक अX से परे टा को ना अदेश हो जाता है। सूत्र में टा न कह कर आङ् का प्रयोग किया गया है। पाणिनि ने आङ् संज्ञा का विधान नहीं किया है। सम्भवतः प्राचीन आचार्यों ने टा के स्थान पर आङ् संज्ञा का प्रयोग किया था। संस्कारवश अथवा पूर्व परम्परा का सम्मान करते हुए पाणिनि ने भी यहाँ आङ् का ही प्रयोग किया है।

हरि + टा इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से टा के स्थान पर ना ओदश हुआ और स्थिति हरि + ना। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि से न् को ण् होकर हरिणा रूप बना। ततीया द्विवचन में हरिभ्याम्, और ततीया बहुवचन में हरिभिः रूप बनेंगे।

घेर्ङिति 7.3.111

घिसंज्ञकस्य ङिति गुणः। हरये।

व्याख्याः ङित् प्रत्यय परे होने पर घिसंज्ञक अX को गुण आदेश हो जाता है। अलोन्त्यस्य से अन्तिम को गुण होगा। ङित् प्रत्यय चार है– ङे, ङसि, ङस् तथा ङि।

चतुर्थी एकवचन में हरि + ङे यह स्थिति हुई। लशक्वतद्धिते से ङ् की इत्संज्ञा और तस्य लोपः से उसका लोप। हरि + ए। यहाँ घिसंज्ञक अX से परे ङित् प्रत्यय है। इसलिए हरि के इ को प्रकृतसूत्र से गुण होगा और स्थिति होगी– हरे + ए। एचोयवायवः से अय् आदेश होकर हरये रूप बनेगा। चतुर्थी के द्विवचन में हरिभ्याम् और बहुवचन में हरिभ्यः रूप बनेंगे।

ङसिङसोश्च 6.1.110

एङो ङसिङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः। हरेः। हर्योः। हरीणाम्।

व्याख्याः एङ् से परे ङसि और ङस् का अत् परे होने पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। पचमी एकवचन में हरि + ङसि यह स्थिति हुई। ङसि का अस् शेष रहा और स्थिति हुई हरि + अस्। घेर्ङिति से हरि के इकार को गुण होने पर स्थिति हुई हरे + अस्। अब यहाँ प्रकृत सूत्र से पूर्वरूप एकादेश होगा और हरेस् यह स्थिति होगी। स् को रुत्व विसर्ग होकर हरेः रूप बनेगा।

षष्ठी के एकवचन में भी यही रूप बनेगा। षष्ठी के द्विवचन में हरि + ओस् यह स्थिति हुई। इको यणचि से इ का य् ओदश होकर हर्योस् यह स्थिति हुई। स् को रुत्व विसर्ग होकर हर्योः रूप बना। षष्ठी के बहुवचन में हरि + आम् स्थिति हुई। ह्रस्वन्द्यापोनुट् से आम् को नुट् का आगम और स्थिति हुई हरि + नाम्। नामि से हरि के इकार को दीर्घ हुआ। हरी + नाम् यह स्थिति हुई। अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि से न् को ण् हुआ और हरीणाम् रूप बना।

अच्च घेः 7.3.119

इदुदभ्यामुत्तरस्य ङेरौत् घेरत्। हरौ, ह्र्योः, हरिषु। एवं कव्यादयः।

व्याख्याः ह्रस्व इकार और उकार से परे ङि को औत् आदेश होता है और घिसंज्ञक अX को अत् आदेश होता है।

सप्तमी एकवचन में हरि + ङि = हरि + इ यह स्थिति हुई। प्रकृत सूत्र से ङि के इ को औ आदेश होगा और घिसंज्ञक हरि के इकार को अकार आदेश होगा। इस प्रकार हर + औ यह स्थिति हुई। वद्धिरेचि से वद्धि होकर हरौ रूप बनेगा। सप्तमी के द्विवचन में हर्योः और बहुवचन में हरिषु रूप बनेंगे।

हरि शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	हरिः	हरी	हरयः
सम्बोधन	हे हरे	हे हरी	हे हरयः
द्वितीया	हरिम्	हरी	हरीन्
ततीया	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः
चतुर्थी	हरये	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
पचमी	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
षष्ठी	हरेः	हर्योः	हरीणाम्
सप्तमीं	हरौ	हर्योः	हरिषु

अन्य इकारान्त पुँल्लिX शब्दों के रूप भी हरि के समान होंगे। सखि शब्द के रूप भिन्न प्रकार से होंगे। ध्यान रहे सखि शब्द की घिसंज्ञा नहीं होती है।

अनङ् सौ 7.1.93

सख्युरXस्यानङादेशोसम्बुद्धौ सौ।

व्याख्याः सम्बुद्धिभिन्न सु परे होने पर सखि अX को अनङ् आदेश हो जाता है। अनङ् का केवल अन् शेष रहता है। अङ् की इत्संज्ञा है। अनेकाल् शित् सर्वस्य से अनङ् आदेश सम्पूर्ण सखि अX को प्राप्त था परन्तु ङित् होने के कारण ङिच्च सूत्र से यह आदेश अन्तिम अर्थात् इकार के स्थान पर होगा।

सखि + सु। इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से अनङ् आदेश हुआ और स्थिति हुई सखन् + सु = सखन् + स्।

अलोन्त्यात्पूर्व उपधा 1.1.65

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः।

व्याख्याः अन्तिम अल् से पूर्व वाले वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। जैसे सखन् शब्द में अन्तिम अल् न् है। न् से पूर्व वाला वर्ण अ है अतः अ की उपधा संज्ञा हुई।

सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ 6.4.8

नान्तस्योपधाया दीर्घोसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने।

व्याख्याः नकारान्त अX की उपधा को दीर्घ आदेश हो जाता है सम्बुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान परे रहते। सखन् + स्। यहाँ सखन् अX नकारान्त है और उससे परे सम्बुद्धि भिन्न स् परे है। अतः सखन् की उपधा अ को दीर्घ होगा और स्थिति होगी – सखान् + स्।

अपक्त एकाल् प्रत्ययः 1.2.41

एकाल् प्रत्ययो यः, सोपक्तसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः जो प्रत्यय केवल एक अल् के रूप का हो उसकी अपक्त संज्ञा होती है। सखान् + स् में स् प्रत्यय एक अल् रूप है। अतः स् की अपक्त संज्ञा है।

हल्ङ्याभ्यो दीर्घात् सुतिस्यपक्तं हल्। 6.1.68

हलन्तात् परम्, दीर्घो यौ ङ्यापौ। तदन्ताच्च परं, 'सुतिसि' इत्येतद् अपक्तं हल् लुप्यते।

व्याख्याः हलन्त, दीर्घ आबन्त तथा दीर्घ ङ्यन्त से परे सु, ति, सि प्रत्ययों के अपक्त हल् का लोप हो जाता है। सु के उकार की इत्संज्ञा और उसका लोप होकर स् शेष बचता है जो अपक्त हल् है। ति और सि तिङ् प्रत्यय हैं जिनका किसी विशेष स्थिति में इकार का लोप हो जाता है और त् और स् शेष बचते हैं। तिङ् प्रत्ययों का विस्तार से विवरण तिङन्त प्रकरण में किया जाएगा। आबन्त तथा ङयन्त का विवरण स्त्री प्रत्यय प्रकरण में किया गया है।

सखान् + स् इस स्थिति में हल् से परे सु के अपक्त हल् स् का लोप होगा और स्थिति होगी सरवान्

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य 8.2.7

प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा।

व्याख्याः प्रातिपदिक संज्ञक पद के अन्तिम नकार का लोप हो जाता है। पद संज्ञा दो स्थानों पर बताई गई है– (१) सुप्तिङन्तं पदम् तथा (२) स्वादिष्वसर्वनामस्थाने। जिस के साथ सुप् या तिङ् प्रत्यय लगे हों उसकी पद संज्ञा होती है। हलादि सु आदि प्रत्ययों से पूर्व की भी पदसंज्ञा होती। इस स्थिति में शब्द की पद संज्ञा तो होती है परन्तु वह प्रातिपदिकसंज्ञक पद होता है क्योंकि यह प्रत्यय लगने से पूर्व की स्थिति है। जहाँ सुप् का लोप हो जाए वहाँ भी प्रातिपदिक रूप ही शेष रहता है। परन्तु इसकी भी पद संज्ञा होती है क्योंकि प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् से प्रत्यय का लक्षण विद्यमान रहता है। अतः सुप् के लोप होने पर भी शब्द सुबन्त ही माना जाता है जिसके कारण उसकी पदसंज्ञा बनी रहती है परन्तु वह प्रातिपदिक संज्ञक पद कहा जाता है।

सखान् प्रातिपदिक संज्ञक पद है क्योंकि यहाँ सु का लोप हो गया है। अतः प्रकृत सूत्र से नकार का लोप हो जाएगा और सखा रूप सिद्ध होगा।

प्रथमा के द्विवचन में सरवा + औ यह स्थिति हुई।

सख्युरसम्बुद्धौ 7.1.92

सख्युरX त्परं सम्बुद्धिवर्ज सर्वनामस्थानं णिद्वत्।

व्याख्याः सखि अX से पर सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान प्रत्यय णित् के समान होते हैं। णितवत् से तात्पर्य है कि णित् न होने पर भी उन प्रत्ययों को णित् समझा जाये अर्थात् उनको णित् मानकर कार्य किया जाए।

अचो ञ्णिति 7.2.115

अजन्ताXस्य वद्धिः, ञिति णिति परे। सखायौ, सखायः।

व्याख्याः ञित् और णित् प्रत्यय परे रहने पर अजन्त अ X को वद्धि आदेश हो जाता है। अलोन्त्यस्य से वद्धि आदेश अन्तिम अच् को होगा।

सखि + औ। यहा औ सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय है। अतः सख्युरसम्बुद्धौ सूत्र से णिद्वद् हुआ। णिद्वद् प्रत्यय परे होने परे प्रकृत सूत्र से सखि के इकार को वद्धि होगी। अतः स्थिति होगी– सखै + औ। एचोयवायावः से ऐ को आय् आदेश होकर सरवायौ रूप बनेगा। प्रथमा बहुवचन में सखि + जस् यह स्थिति होगी। जस् के जकार की इत्संज्ञा और लोप होकर स्थिति होगी सखि + जस्। जस के जकार की इत्संज्ञा और लोप होकर स्थिति होगी सखि + अस्। जस् प्रत्यय सर्वनामास्थान है अतः णिदवद् होगा। अचो ञ्णिति से सखि के इकार को ऐ वद्धि होकर एचोयवायावः से आय् होगा। स् को रुत्व विसर्ग होकर सखायः रूप बनेगा।

सम्बोधन एकवचन में ह्रस्वस्य गुणः होकर सखे+स् यह स्थिति होगी। एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धेः से स् का लोप होकर सखे रूप बनेगा। द्वितीया के एक वचन में स्थिति होगी– सखि + अम्। अम् सर्वनामस्थान है। अतः सख्युरसम्बुद्धौ से णित्वद् होगा। अचो ञ्णिति से सखि के इकार को वद्धि होकर सखै + अम् यह स्थिति होगी। एचोयवायावः से आय् होकर सखाय रूप बनेगा। इसी प्रकार द्वितीया के द्विवचन में सखायौ रूप बनेगा। द्वितीया के बहुवचन में हरीन् के समान सखीन् रूप बनेगा क्योंकि शस् सर्वनामस्थान संज्ञक नहीं है अतः णिद्वद नहीं होगा। ततीया के एक वचन में स्थिति होगी सखि + टा = सखि + आ। इको यणचि से सखि के इकार को य् आदेश होकर सख्या रूप बनेगा। ध्यान रहे सखि की घि संज्ञा का निषेध है, इसलिए यहाँ आङो नास्त्रियाम् सूत्र नहीं लगेगा और टा को ना आदेश नहीं होगा जैसा हरिणा में हुआ था। ततीया के द्विवचन और बहुवचन में हरि के रूपों के समान सखिम्याम् और सखिमिः रूप बनेंगे। चतुर्थी के एक वचन में सखि+ङे = सखि + ए यह स्थिति होगी। इको यणचि से इ को य् होकर सख्ये रूप बनेगा। द्विवचन और बहुवचन में सखिभ्याम् और सखिभ्यः रूप बनेंगे। पचमी के एक वचन में स्थिति होगी– सखि + ङसि = सखि + अस्। इको यणचि से इ को य् आदेश होकर स्थिति होगी सख्य् + अस्। इस स्थिति में अग्रिम सूत्र लगेगा।

ख्यत्यात् परस्य 6.1.112

खि ति शब्दाम्यां खी ती शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः। सरव्युः।

व्याख्याः खि, ति और खी, ती शब्दों का यण् आदेश करने के पश्चात् ङसि और ङस् के अकार के स्थान पर उकार आदेश हो। जैसे सख्य् + अस् इस स्थिति में खि के इकार का यण् आदेश किया गया है। इससे परे ङसि का अस् परे है। इसलिए अस् के अकार को उकार आदेश हो जाएगा और स्थिति बनेगी– सख्य् + उस्। सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप बनेगा सरत्युः। षष्ठी के एकवचन में भी इसी प्रकार सख्युः रूप बनेगा। दीर्घ खी और ती के उदाहरण हैं सुखी + ङस् = सुख्युः, सुती + ङस् = सुत्युः।

षष्ठी के द्विवचन में सखि + ओस् इस स्थिति में यण् आदेश कर के सख्योः रूप बनेगा। षष्ठी के बहुवचन में सखि + आम्, इस स्थिति में ह्रस्वनद्यापो नुट् से आम् को नुट् आगम और नामि से सखि के इकार का दीर्घ करके सखीनाम् रूप बनेगा। सप्तमी के एकवचन में सखि + ङि, यह स्थिति होने पर

औत् 7.3.168

इदुतोः परस्य ङेरौत्। सख्यौ। शेषं हरिवत्।

व्याख्याः ह्रस्व इकार, उकार से परे ङि को औत आदेश होता है। सखि + ङि इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से ङि को औ आदेश होकर स्थिति हुई। सखि + औ। यण् आदेश होकर सख्यौ रूप बना।

सप्तमी के द्विवचन में सख्योः और बहुवचन में सखिषु रूप बनेंगे।

सखि शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सखा	सखायौ	सखायः
सम्बोधन	हे सखे	हे "	हे "
द्वितीया	सखायम्	"	सखीन्
ततीया	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः
चतुर्थी	सख्ये	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
पचमी	सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
षष्ठी	सख्युः	सख्योः	सखीनाम्
सप्तमी	सख्यौ	सख्योः	सखिषु

पतिः समास एव 1.4.8

घिसंज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः। पत्युः। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः।

व्याख्याः पति शब्द की समास में ही धिसंज्ञा हो। अर्थात् पति जब स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त होता है तो पति की धिसंज्ञा नहीं होती। इसलिए पति शब्द के रूप पहले पाँच रूपों को छोड़कर सखि के समान होंगे। पहले पाँच रूप हरि के समान होंगे।

पति शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	पतिः	पती	पतयः
सम्बोधन	हे पते	हे "	हे "
द्वितीया	पतिम्	पती	पतीन्
ततीया	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभिः
चतुर्थी	पत्ये	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
पचमी	पत्युः	पतिभ्याम्	पतिभ्यः
षष्ठी	पत्युः	पत्योः	पतीनाम्
सप्तमी	पत्यौ	पत्योः	पतिषु

समास में पति शब्द की घि संज्ञा होगी और हरि के समान रूप बनेंगे। जैसे भूपतिना, भूपतये, भूपतेः, भूपतौ।

कति शब्द (कितना) के रूप सदैव बहुवचन में ही बनते हैं। प्रथमा के बहुवचन में कति+जस् यह स्थिति होने पर।

बहुगणवतु डति संख्या 1.1.23

बहुगणशब्दौ वतुडत्यन्ताश्च संख्यासंज्ञकाः स्युः।

व्याख्याः बहु, गण, वतु प्रत्ययान्त तथा डति प्रत्ययान्त शब्दों की संख्या संज्ञा होती है।

डति च 1.1.25

डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात्।

व्याख्याः डतिप्रत्ययान्त संख्या की षट् संज्ञा होती है। कति शब्द डति प्रत्ययान्त है। कति शब्द किम् के साथ 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' सूत्र से डति प्रत्यय जोड़कर बना है।

अतः इसकी बहुगणवतुडतिसंख्या से संख्या संज्ञा हुई और प्रकृत सूत्र से षट् संज्ञा हुई।

षड्भ्यो लुक् 7.1.22

जश्शसोः

व्याख्याः षीट्संज्ञक से परे जस् और शस् का लोप हो जाता है। कति+जस् इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से जस् का लोप हुआ। अतः कति रूप रहा।

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः 1.1.61

लुक्श्लुलुप् शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात् तत्तत्संज्ञं स्यात्।

व्याख्याः प्रत्यय का लुक्, श्लु, लुप् से किया गया लोप क्रमशः उसी संज्ञा वाला होता है। अदर्शनं लोपः से किसी का अदर्शन होना लोप कहलाता है। प्रत्यय का लोप जब लुक् शब्द के द्वारा किया जाए तो उस प्रत्यय की संज्ञा लुक् होती है। श्लु द्वारा यदि प्रत्यय का लोप किया जाए तो उस प्रत्यय की श्लु संज्ञा होती है और जब लुप् कहकर लोप किया जाए तो लुप् संज्ञा होती है। कति शब्द से परे जस् का लोप षड्भ्यो लुक् सूत्र से किया गया है। अतः लुप्त हुए जस् की लुक् संज्ञा होगी।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् 1.1.62

प्रत्यये लुप्ते तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति 'जसि च' इति गुणे प्राप्ते।

व्याख्याः प्रत्यय के लोप हो जाने पर भी प्रत्यय का लक्षण विद्यमान रहता है। अर्थात उस प्रत्यय के आश्रित कार्य प्रत्यय के लोप होने पर भी होते हैं। कति + जस् में जस् का लोप हो गया है। परन्तु प्रकृत सूत्र के बल पर प्रत्ययाश्रित कार्य प्राप्त होते हैं। अतः जसि च सूत्र से कति के इकार को गुण प्राप्त होता है। इसका अग्रिम सूत्र से बोध होता है।

न लुमताXस्य 1.1.63

लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमXकार्यं न स्यात्। कति। कति। कतिभिः। कतिभ्यः। कतिभ्यः। कतीनाम्। कतिषु। युष्मदस्मद्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः। त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिय्यः।

व्याख्याः लु वाले शब्द अर्थात् लुक, श्लु, लुप के द्वारा लोप किए जाने पर तन्निमित्तक अX कार्य नहीं होते हैं। लुम्मात् शब्द का अर्थ है लु वाले। लु वाले तीन शब्द हैं जिनके द्वारा प्रत्यय का लोप होता है– लुक्, श्लु तथा लुप्। जब इनके द्वारा प्रत्यय का लोप किया जाए तो प्रत्यय निमित्तक अX कार्य नहीं होते हैं। कति + जस् में जस् का लोप होने पर भी पूर्व सूत्र से जो 'जसि च' सूत्र से गुण प्राप्त था वह नहीं होगा। इसलिए प्रथमा बहुवचन में कति रूप ही रहेगा। द्वितीया के बहुवचन में भी कति रूप ही बनेगा।

ततीया बहुवचन में कतिभिः, चतुर्थी बहुवचन में कतिभ्यः, पचमी बहुवचन में कतिभ्य; षष्ठी बहुवचन में कतीनाम् और सप्तमी बहुवचन में कतिषु रूप बनेंगे।

कतिशब्द के तीनों लिXों में समान रूप होते हैं–युष्मदस्मद्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः अर्थात् युष्मद्, अस्मद् और षट्संज्ञके के तीनों लिXों में रूप समान होते हैं।

त्रि शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है। प्रथमा के बहुवचन में त्रि + जस् = त्रि + अस् इस स्थिति में जसि च से गुण होकर त्रे + अस् यह स्थिति हुई। एचोयवायावः से अय् होकर तथा स् को रुत्व विसर्ग होकर त्रयः रूप बना। द्वितीया बहुवचन में हरीन् के समान त्रीन् रूप बना। ततीया, चतुर्थी और पचमी बहुवचन में क्रमशः त्रिभिः, त्रिभ्यः तथा त्रिभ्यः रूप बनेंगे। षष्टी बहुवचन में त्रि + आम् यह स्थिति होने पर।

त्रेस्त्रयः 7.1.53

त्रिशब्स्य 'त्रय' आदेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। त्रिषु। गौणत्वेपि प्रियत्रयाणाम्।

व्याख्याः त्रि शब्द को आम् परे रहते त्रय आदेश हो जाता है। इसलिए त्रय + आम् यह स्थिति हुई। ह्रस्वनद्यापो नुट् से नुट् का आगम नामि से दीर्घ और अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि से न् को ण् होकर त्रयाणाम् रूप बना। सप्तमी बहुवचन में हरिषु क समान त्रिषु रूप बनेगा। त्रि शब्द जब गौण होकर समास में प्रयुक्त हो तो भी त्रि को त्रय आदेश हो जाता है। जैसे प्रियत्रयाणाम् (जिसके तीन प्रिय हैं, उसका)।

त्यदादीनामः 7.2.102

एषामकारो विभक्तौ। द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः। द्वौ। द्वाभ्याम्।

व्याख्याः त्यदादि शब्दों को अकार आदेश हो विभक्ति परे होने पर। त्यदादि शब्द सर्वादि गण में पठित हैं। त्यदादि शब्द हैं– त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्। अकार आदेश द्वि पर्यन्त ही अभीष्ट है। क्योंकि युष्मद्, अस्मद्, भवत्, किम्, में अकार आदेश नहीं होता है। त्यदादि शब्दों का रूप विवेचन हलन्त प्रकरण में किया जाएगा। यहाँ द्वि शब्द के रूपों का विवेचन किया जाएगा क्योंकि द्वि शब्द इकारान्त है।

द्वि को अकार अन्तादेश होने पर द्व रूप रहता है। द्वि के रूप द्विवचन में ही बनाते हैं। अतः प्रथमा और द्वितीया द्विवचन में रामौ के समान द्वौ रूप बनेगा। ततीया, चतुर्थी और पचमी द्विवचन में रामाभ्याम् के समान द्वाभ्याम् रूप बनेगा। षष्ठी और सप्तमी द्विवचन में रामयोः के समान द्वयोः रूप बनेगा।

ह्रस्व इकारान्त शब्द समाप्त।

अथ दीर्घ ईकारान्त शब्द

पपी (सूर्य)

पपी के प्रथम एकवचन में पपी + सु यह स्थिति हुई। उकार की इत्संज्ञा और तस्य लोपः से लोप होकर पपी+स् यह स्थिति हुई। स् का सजुषो रुः से र् और खररवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग होकर पपीः रूप बना।

प्रथमा द्विवचन में पपी + औ यह स्थिति हुई। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ परन्तु दीर्घाज्जसि च सूत्र से उसका बाध हुआ। इको यणचि से ई को य् आदेश हुआ। रूप बना पप्यौ।

प्रथमा बहुवचन में पपी + जस् यह स्थिति हुई। दीर्घाज्जसि च से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश का बाध हुआ। यण् आदेश होकर पप्यः रूप बना।

सम्बोधन के एक वचन में भी पपीः रूप बना क्योंकि ह्रस्वान्त न होने के कारण सु का लोप नहीं हुआ। द्वितीयसो के एकवचन में अमिपूर्वः से पूर्वरूप एकादेश होकर पपीम् रूप बना।

द्वितीया के द्विवचन में पप्यौ और बहुवचन में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश और तस्माच्छसोद नः पुंसि से स् को न् होकर पपीन् रूप बना। ततीया एकवचन में यण् आदेश होकर पप्या रूप बना। द्विवचन में पपीम्याम् और बहुवचन में पपीभिः रूप बने। चतुर्थी एक वचन में पपीम्यः रूप बना। पचमी और षष्ठी एक वचन में यण् होकर पप्यः रूप बना। षष्ठी के द्विवचन में पप्योः। षष्ठी के बहुवचन में पप्याम् रूप बना। यहाँ ह्रस्व न होने के कारण नुट्

का आगम नहीं होगा। सप्तमी के एक वचन में पपी+ङि = पपी + इ इस स्थिति में सवर्ण दीर्घ होकर पपी रूप बना। सप्तमी के बहुवचन में आदेश प्रत्यययोः से स् को ष् होकर पपीषु रूप बना।

पपी शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा, सम्बोधन	पपीः	पप्यौ	पप्यः
द्वितीया	पपीम्	''	पपीन्
ततीया	पप्या	पपीम्याम्	पपीमिः
चतुर्थी	पप्ये	''	पपीम्यः
पचमी	पप्यः	''	''
षष्ठी	''	पप्योः	पप्याम्
सप्तमी	पपी	''	पपीषु

वातप्रमी (मग) के रूप भी पपी के समान होंगे।

बहुश्रेयसी शब्द बहुव्रीहि समास है। बह्व्यः श्रेयस्यः स्त्रियः यस्य स बहुश्रेयसी।

यू स्त्र्याख्यौ नदी 1.4.3

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिXौ नदीसंज्ञौ स्तः।

व्याख्याः दीर्घ ईकारान्त और अकारान्त नित्य स्त्रीलिX शब्द नदीसंज्ञक होते हैं।

वा प्रथमलिX ग्रहणं च

पूर्व स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

व्याख्याः प्रथम लिX का ग्रहण करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि कोई नित्य स्त्रीलिX शब्द यदि समास में गौण हो तो समास में भी उसकी नदी संज्ञा होगी, यदि वह दीर्घ ईकारान्त या ऊकारान्त है।

बहुश्रेयसी शब्द में श्रेयसी शब्द नित्य स्त्रीलिX और दीर्घ ईकारान्त है। अतः यू स्त्रयाख्यौ नदी से इसकी नदी संज्ञा होती है। समास में आकर शब्द गौण हो गया है क्योंकि बहुश्रेयसी शब्द में श्रेयमी स्त्रियें की। परन्तु गौण होने पर भी श्रेयसी शब्द की नदी संज्ञा विद्यमान है। क्योंकि वार्त्रिककार ने प्रथलिX ग्रहणं च कहकर नदीत्व का नियामक प्रथम लिX आर्थात् स्वतंत्र रूप में प्रयुक्त लिX को ही माना है।

बहुश्रेयसी शब्द का प्रथमा एकवचन में बहुश्रेयसी रूप बनेगा क्योंकि हल्ङ्यास्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपक्तं हल् से सु के स् का लोप हो जाएगा। प्रथमा द्विवचन में पूर्वसवर्ण दीर्घ का दीर्घाज्जसि च से बाध होकर यण् आदेश होगा और बहुश्रेयस्यौ रूप बनेगा। प्रथमा बहुवचन में बहुश्रेयस्यः रूप बनेगा।

अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः 7.2.107

सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि।

व्याख्याः अम्ब अर्थात् माता अर्थ वाले और नदीसंज्ञक अंग को ह्रस्व हो सम्बुद्धि परे होने पर। सम्बोधन के एकवचन में बहुश्रेयसी + स् यह स्थिति होगी। बहुश्रेयसी नदी संज्ञक है, अतः प्रकृत सूत्र से ईकार को ह्रस्व इकार हो जाएगा। स्थिति होगी– बहुश्रेयसि + स्। एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः सूत्र से स् का लोप होकर बहुश्रेयसि रूप बनेगा।

द्वितीया एकवचन में अमि पूर्वः से बहुश्रेयसीम् रूप बनेगा। द्विवचन में बहुश्रेयस्यौ और बहुवचन में बहुश्रेयसीन् रूप बनेगा। ततीया के एकवचन में बहुश्रेयसी + टा = बहुश्रेयसी + आ यह स्थिति हुई। यण् आदेश होकर बहुश्रेयस्या रूप बना। चतुर्थी एकवचन में बहुश्रेयसी + ङे = बहुश्रेयसी + ए यह स्थिति हुई।

आण् नद्याः 7.3.112

नद्यन्तात् परेषां ङितमाडागमः।

व्याख्याः नद्यन्त शब्द से परे ङित् प्रत्ययों को आट् का आगम हो जाता है। ङे, ङसि, ङस् और ङि प्रत्ययङित् हैं। बहुश्रेयसी + ए इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से ए को आट् का आगम होगा। आट् टित् है। अतः आद्यन्तौ ट्कितौ सूत्र से आट् का आगम आदि में होगा। इस प्रकार स्थिति होगी – बहुश्रेयसी + आ ए।

आटश्चः 6.1.190

आटोचि परे वद्धिरेकादेशः बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः नद्यन्तत्वाद् नुट् - बहुश्रेयसीनाम्।

व्याख्याः आट् से अच् परे रहने पर दोनों को वद्धि एकादेश होता है। बहुश्रेयसी + आए इस स्थिति में आटश्च से वद्धि एकादेश होकर बहुश्रेयसी + ऐ यह स्थिति होगी। इको यणचि से यण् ओदश होकर बहुश्रेयस्यै। यह रूप बनेगा। इसी प्रकार पचमी का ङसि और षष्ठी का ङस् पर होने पर आट् का आगम और आटश्च से वद्धि होकर बहुश्रेयस्याः रूप बनेगा। षष्ठी द्विवचन में बहुश्रेयसी+ ओस् यह स्थिति होगी। इको यणचि से ई को यण् आदेश होकर बहुश्रेस्योः रूप बनेगा। षष्ठी बहुवचन में बहुश्रेयसी नद्यन्त है इसलिए ह्रस्वनद्याापो नुट् से आम् को नुट् का आगम होकर बहुश्रेयसीनाम् रूप बनेगा। सप्तमी एकवचन में बहुश्रेयसी + ङि यह स्थिति होने पर–

ङेराम् नद्याम्नीभ्यः 7.3.116

नद्यन्तात्, आबन्तात् नी शब्दात् परस्य ङेराम्। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत्।

व्याख्याः नदीसंज्ञक अX से परे, आबन्त से परे और नी शब्द से परे ङि को आम् आदेश हो जाता है।

बहु श्रेयसी + ङि इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से ङि को आम् आदेश होगा और स्थिति होगी– बहुश्रेयसी + आम्। इको यणचि से यण् होकर बहुश्रेयस्याम् रूप बनेगा। सप्तमी के द्विवचन में बहुश्रेयस्योः और बहुवचन में बहुश्रेयसीषु रूप बनेंगे।

बहुश्रेयसी शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः
सम्बोधन	हे बहुश्रेयसि	''	''
द्वितीया	बहुश्रेयसीम्	''	बहुश्रेयसीन्
ततीया	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः
चतुर्थी	बहुश्रेयस्यै	''	बहुश्रेयसीभ्यः
पचमी	बहुश्रेयस्याः	''	''
षष्ठी	''	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
सप्तमी	बहुश्रेयस्याम्	''	बहुश्रेयसीषु

अतिलक्षमी शब्द ङयन्त नहीं है। अतः इसके सु का लोप नहीं होगा। और प्रथमा एकवचन में अतिलक्ष्मीः रूप बनेगा। प्रधी (प्रकर्ष बुद्धि वाला) शब्द भी ङयन्त नहीं है। अतः प्रथमा एकवचन में प्रधीः रूप बनेगा। प्रथमा द्विवचन में प्रधी + औ यह स्थिति होगी।

अचि श्नुधातुभ्रुवां टवोरियङुवङौ 6.4.77

श्नुप्रत्ययान्तस्य, इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः, भ्रू इत्यस्य च, अXस्य इयङुवङौ स्तो जादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते-

व्याख्याः श्नुप्रत्ययान्त शब्दरूप को, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु से बने रूप को तथा भ्रू से बने अX को क्रमशः इयङ् और

उवङ् आदेश होते हैं। इयङ्, उवङ्, का ङ् इत्संज्ञक है। ङिच्च सूत्र से अन्तिम इवर्ण को इय् आदेश तथा उवर्ण को उव् आदेश होता है। इवर्ण, उवर्ण कहने से ह्रस्व तथा दीर्घ का ग्रहण होता है।

प्रधी + औ में प्रधी शब्द ध्यै धातु से बना हैं अतः यहाँ ई धातु का अवयव है। इससे परे अजादि प्रत्यय औ परे हैं। अतः प्रकृत सूत्र से ई को इयङ् आदेश प्राप्त होता है।

एरनेकाचोसंयोगपूर्वस्य 6.4.82

इवर्णः तदन्तो यो धातुः तदन्तस्यानेकाचोडङ्गस्य यण् स्याद् अजादौ प्रत्यये। प्रध्यौ। प्रध्यम्। प्रध्यः। प्रध्यि। शेषं पपीवत, एवं ग्रामणीः। ङौतु ग्रामण्याम्। अनेकाचः किम्-नी नियौ नियः। अमि, शसिच परत्वादियङ्–नियम् नियः। ङेराम् नियाम्।

व्याख्याः इवर्णान्त धातु के इवर्ण से यदि धातु का अवयव संयोग पूर्व में न हो तो इवर्णन्त धातु से बने अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश हो जाता है अजादि प्रत्यय परे रहते। यह सूत्र पूर्व सूत्र को सीमित करता है। पूर्व सूत्र में इवर्णान्त तथा उवर्णान्त धातु से बने अङ्ग को इयङ्, उवङ् करता था। परन्तु यहाँ नियमन किया गया है कि यदि इवर्णान्त धातु के इवर्ण से पूर्व यदि संयोग न हो और उस धातु से बना अङ्ग अनेकाच् हो तो इवर्ण को इयङ् आदेश न होकर यण् आदेश होता है।

प्रधी + औ में प्रधी अङ्ग अनेकाच् है। यह इवर्णान्त धातु धी से बना हुआ है। ई से पूर्व धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं है, इसलिए ई को यण् आदेश होगा। प्रध्य् + औ यह स्थिति होगी और रूप बनेगा प्रध्यौ। सभी अजादि विभक्ति परे होने पर यण् आदेश होगा। शेष रूप पपी के समान होंगे।

प्रधी शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	प्रधीः	प्रघ्यौ	प्रध्यः
सम्बोधन	हे प्रधीः	''	''
द्वितीया	प्रध्यम्	''	''
ततीया	प्रध्या	प्रधीम्याम्	प्रधीमिः
चतुर्थी	प्रध्ये	''	प्रधीम्यः
पचमी	प्रध्यः	''	''
षष्ठी	''	प्रध्योः	प्रध्याम्
सप्तमी	प्रध्यि	''	प्रधीषु

ग्रामणी शब्द के रूप भी प्रधी के समान होंगे। केवल ङि को आम् आदेश होगा क्योंकि यहाँ नी धातु है और ङेराम् नद्याम्नीभ्यः से यहाँ ङि को आम् प्राप्त है। इसलिए सप्तमी के एकवचन में ग्रामण्याम् रूप बनेगा।

नी (ले जाने वाला) से अजादि विभक्ति परे होने पर अचिश्नु..... से इयङ् आदेश होगा क्योंकि यह अनेकाच् अङ्ग नहीं है। इसलिए प्रथमा में नीः, नियौ, नियः रूप बनेंगे। अम् परे होने पर अमि पूर्वः को बाध कर पर होने के कारण इयङ् आदेश होकर नियम् रूप बनेगा। शस् परे होने पर भी प्रथमयोः पूर्वसवर्णः को बाध कर इयङ् आदेश होगा। इसलिए द्वितीया के बहुवचन में नियः रूप बनेगा। सप्तमी के एकवचन में ङेराम् नद्याम्नीभ्यः से ङि को आम् आदेश होगा और इयङ् आदेश होकर नियाम् रूप बनेगा।

जब धातु के पूर्व में संयोग हो तो अनेकाच् को भी यण् आदेश न होकर इयङ् आदेश होगा। जैसे सुश्रियौ, यवक्रियौ आदि।

गतिश्च 1.4.60

प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः। गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते - शुद्धधियौ।

व्याख्याः क्रिया के योग में प्र आदि की गति संज्ञा भी होती है। उपसर्गा क्रिया योगे से प्र आदि की क्रिया के योग में उपसर्ग संज्ञा बताई गई है। इस सूत्र के द्वारा प्र आदि की उपसर्ग के साथ साथ गति संज्ञा भी बताई गई है।

यदि गति और कारक पूर्वपद में न हों तो अनेकाच् होने पर भी यण् आदेश नहीं होता है। एरनेकाचोसंयोगपूर्वस्य से अनेकाच् और असंयोगपूर्व धातु से बने अङ्ग को यण् आदेश बताया गया था। परन्तु यह तभी होता है जब धातु के पूर्व पद में गति संज्ञक या कारक शब्द हो। शुद्धधी शब्द में शुद्ध शब्द न तो गति संज्ञक है और न ही कारक, अतः यहाँ यण् न होकर इयङ् आदेश होगा। जैसे शुद्धधियौ।

न भूसुधियोः 6.4.85

एतयोरचि सुपि यण् न। सुधियौ, सुधियः इत्यादि। सुखमिच्छतीति सुखीः, सुतमिच्छतीति सुतीः। सुख्यौ, सुत्यौ। सुख्युः, सुत्युः। शेषं प्रधीवत्। शम्भुर्हरिर्वत्। एवं भान्वादयः।

व्याख्याः भू और सुधी शब्द को अजादी सुप् परे रहते यण् आदेश नहीं होता है। सुधी (अच्छी बुद्धि वाला)। शब्द अनेकाच् है और इवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं है। अतः यहाँ एरनेकाचो.... से यण् आदेश प्राप्त था। परन्तु प्रकृत सूत्र से यण् का निषेध किया गया है। यण् का निषेध होने पर इयङ् आदेश होगा। जैसे सुधी + औ = सुधियौ। इसी प्रकार सभी अजादि विभक्ति परे होने पर इयङ् आदेश होकर रूप बनेंगे।

सुखी शब्द का अर्थ है सुखमिच्छति इति सुखी अर्थात् सुख चाहने वाला। अजादि विभक्ति परे होने पर एरनेकाचो. .. से यण् आदेश होगा। सुखी + औ। यहाँ प्रथमयो पूर्वसवर्णः का बाध दीर्घाज्जसि च सूत्र से होगा। एरनेकाचोसंयोगपूर्वस्य से यण् आदेश होगा। सुखी और सुती शब्द क्यच् प्रत्ययान्त हैं। अतः इनमें धातुत्व है। अतः सुख्यौ और सुत्यौ रूप बनेंगे। पचमी और षष्ठी के एवचन में में ख्यत्यात्परस्य सूत्र से ङसि और ङस् के अकार को उकार आदेश होकर सुख्युः और सुत्युः रूप बनेंगे। शेष रूप प्रधी के समान होंगे।

ईकारान्त शब्द समाप्त

अथ ह्रस्व उकारान्त शब्द

ह्रस्व उकारान्त शब्दों की रचना प्रक्रिया वही है जो ह्रस्व इकारान्त शब्दों की। शेषो घ्यसिख से उकारान्त शब्दों की घि संज्ञा होगी। घिसंज्ञक अङ्ग होने के कारण आङो नास्त्रियाम् से टा को ना आदेश होगा। घेर्ङिति सूत्र से ङित् प्रत्यय परे होने पर उ को गुण ओ तथा एचोयवायावः सूत्र से ओ को अव् आदेश होगा। ङसिङसोश्च सूत्र से ङसि और ङस् के अ को पूर्वरूप एकादेश होगा। अच्च घेः सूत्र से ङि को औ आदेश होगा और घिसंज्ञक अङ्ग को अत् आदेश होगा। उकारान्त शम्भु शब्द के रूप नीचे दिए जा रहे हैं—

शम्भु शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	शम्भुः	शम्भू	शम्भवः
सम्बोधन	हे शम्भोः	ʼʼ	ʼʼ
द्वितीया	शम्भुम्	ʼʼ	शम्भून्
ततीया	शम्भुना	शम्भुम्याम्	शम्भुमिः
चतुर्थी	शम्भवे	ʼʼ	शम्भुम्यः
पचमी	शम्भोः	ʼʼ	ʼʼ
षष्ठी	ʼʼ	शम्भ्वोः	शम्भूनाम्
सप्तमी	शम्भौ	ʼʼ	शम्भुषु

भानु आदि उकारान्त शब्दों के रूप शम्भु के समान होंगे।

क्रोष्टु (गीदड़) शब्द

तज्वत् क्रोष्टु : 7.1.95

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थानपरे क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने 'क्रोष्ट' शब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः।

व्याख्याः सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर क्रोष्टु शब्द को तज्वत् भाव हो जाता है। तच् प्रत्यय का त शेष रहता है। यह ऋकारान्त है। अतः तज्वद्भाव होने पर कोष्ट शब्द बनेगा। त को ष्टुना ष्टुः से ट होगा।

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः 7.3.110

ऋतोङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते।

व्याख्याः ऋकारान्त अङ्ग को ङि और सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परे रहते गुण हो। क्रोष्ट+सु = क्रोष्ट + स् इस स्थिति में सु सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परे रहते ऋकार को गुण प्राप्त होता है।

ऋदुशनस् पुरुदंसोनेहसां च 7.1.94

ऋदन्तानामुशनसादीनां चानङ् स्याद् असम्बुद्धौ सौ।

व्याख्याः ऋकारान्त, उशनस्, पुरुदंसस् और अनेहस् शब्दों को सम्बुद्धि भिन्न सु परे होने पर अनङ् आदेश हो जाता है। ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः सूत्र सामान्य है। परन्तु प्रकृत सूत्र विशेष है अतः क्रोष्ट+सु में यह विशेष सूत्र लगेगा।

सु परे होने पर क्रोष्ट को अनङ् आदेश प्राप्त होगा क्योंकि सु सम्बुद्धि भिन्न है। ङिच्च सूत्र से अनङ् अन्तिम के स्थान पर होगा। इसलिए स्थिति होगी–

क्रोष्टन् + स्

अथ्-तन्-तच्-स्वस्-नप्त-नेष्ट-त्वष्ट-क्षत-होत-पोत-प्रशास्तणाम् 6.4.11

अबादीनामुपधाया दीर्घोसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्टून्।

व्याख्याः अप्, तन् प्रत्ययान्त, तच् प्रत्ययान्त, स्वस (बहिन), नप्त (नाती), नेष्ट (दान देने वाला), त्वष्ट (त्वष्टा नाम का असुर), क्षत (सारथि), होत (होता), पोत (पवित्र करने वाला), प्रशास्त (प्रशासन करने वाला) शब्दों की उपधा को दीर्घ हो जाता है सम्बुद्धि भिन्न सर्वनाम स्थान परे रहते।

क्रोष्टान् + स्। हल्ङयाब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपक्तं हल् से अपक्त स् का लोप हुआ। तब स्थिति हुई क्रोष्टान्। न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य से न् का लोप हुआ और क्रोष्टा रूप सिद्ध हुआ। यहाँ नान्त अङ्ग होने के कारण सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से भी उपधा को दीर्घ हो सकता था। परन्तु विशेष और पर सूत्र होने के कारण अप्तन्.... से ही उपधा को दीर्घ होगा।

प्रथमा के द्विवचन में क्रोष्ट + औ यह स्थिति हुई। यहाँ ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः से ऋ को गुण आदेश होगा। ऋ को गुण आदेश होकर उरण् रपरः से अ से परे र् भी होगा। इस प्रकार स्थिति होगी क्रोष्टर् + औ। अप्तन .... से उपधा को दीर्घ होकर क्रोष्टा रौ रूप बनेगा। प्रथमा के बहुवचन में इसी प्रकार क्रोष्टारः रूप बनेगा। द्वितीया के एकवचन में क्रोष्टारम् रूप बनेगा। द्वितीया के बहुवचन में शम्भून् के समान क्रोष्टून् रूप बनेगा क्योंकि तज्वद्भाव केवल सर्वनामस्स्थने प्रत्यय परे होने पर ही बताया गया है।

विभाषा ततीयादिष्वचि 7.1.91

अजादिषु ततीयादिषु क्रोष्टुर्वा तज्वत्। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे।

व्याख्याः ततीया से लेकर सप्तमी के बहुवचन तक जो अजादि प्रत्यय हैं उनके परे रहने पर क्रोष्टु को विकल्प से तज्वद्भाव होता है। तज्वदभाव पक्ष में ततीया के एक वचन में क्रोष्ट + टा = क्रोष्ट + आ यह स्थिति होगी। इको यणचि से

ऋ को र् ओदश होकर स्थिति होगी क्रोष्ट् र् + आ। रूप बनेगा क्रोष्ट्रा। चतुर्थी के एकवचन में इसी प्रकार रूप बनेगा क्रोष्ट्रे।

ऋत उत् 6.1.111

ऋतो ङसिङसोरति 'उत्' एकादेशः। रपरः।

व्याख्याः ऋकारान्त अङ्ग से परे जब ङसि और ङस् का अकार हो तो दोनों के स्थान पर ह्रस्व उकार एकादेश हो जाता है। पचमी के एकवचन में क्रोष्ट + अस् यह स्थिति होगी। प्रकृत सूत्र से ऋ और अ के स्थान पर उ एकदेश होगा। उरण् रपरः से उ रेफ परक होगा। अतः स्थिति हुई क्रोष्टुर्स्।

रात् सस्य 8.2.24

रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैवलोपो नान्यस्य। रस्य विसर्गः - क्रोष्टुः। क्रोष्ट्रोः।

व्याख्याः रेफ से परे संयोगान्त सकार का ही लोप होता है अन्य वर्ण का नहीं। संयोगान्तस्य लोपः सूत्र के अनुसार संयोग के अन्त में आने वाले सभी वर्णों का लोप प्राप्त होता है। परन्तु इस सूत्र द्वारा यह नियमन किया गया है कि रेफ से परे केवल संयोगान्त स् का ही लोप होता है, अन्त संयोगान्त वर्ण का नहीं। अतः प्रकृत सूत्र से क्रोष्टुर् + स् के स् का लोप होगा और स्थिति होगी क्रोष्टुर। र् को खरवसानयोर्विसर्जनीयः से विसर्ग होकर क्रोष्टुः रूप बनेगा। षष्ठी के द्विवचन में स्थिति होगी क्रोष्ट + ओस्। यहाँ यण् आदेश होकर क्रोष्ट्रोः रूप बनेगा।

षष्ठी बहुवचन में स्थिति होगी–

क्रोष्टु + आम्। यहाँ विभाषा ततीयादिष्वचि से क्रोष्टु को विकल्प से त ज्वद्भाव प्राप्त होता है। परन्तु उसका अग्रिम वार्तिक द्वारा निषेध हो जाता है।

वा. नुमचिरतज्वदभावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन।

क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्।

व्याख्याः जब नुम् का आगम प्राप्त हो, अच् परे होने पर रेफ आदेश प्राप्त हो तथा तज्वद्भाव प्राप्त हो, इनसे पूर्व नुट् का आगम यदि प्राप्त हो रहा हो तो इनकी अपेक्षा नुट् का आगम अष्टाध्यी क्रम में पूर्व विप्रतिषेध द्वारा होता है। नुमादि पर सूत्रों द्वारा होते हैं। विप्रतिषेधे परं कार्यम् इस परिभाषा के बल से बाद वाले सूत्र द्वारा निर्दिष्ट कार्य की प्रधानता रहती है। वार्तिकक ने नुमादि कार्यों की अपेक्षा नुट् को प्रधानता दी है। पूर्वविप्रतिषेध का अर्थ है पूर्व सूत्र की प्रधानता।

क्रोष्टु + आम् इस स्थिति में तज्वद्भाव से पहले आम् को नुट् का आगम होगा और स्थिति होगी– क्रोष्टु + नाम्। नाम् परे होने पर प्रत्यय अजादि नहीं रहा। अतः तज्वद्भाव का अवकाश ही नहीं रहा। अतः तज्वद्भाव का अवकाश हीं नही रहा। नामि से दीर्घ होकर क्रोष्टू नाम् रूप बनेगा।

सप्तमी के एकवचन में स्थिति होगी क्रोष्ट + ङि = क्रोष्ट + इ। यहाँ ऋतोङि–सर्वनामस्थानयोः से ऋ का गुण होकर स्थिति होगी क्रोष्टर् इ। इस प्रकार क्रोष्टरि रूप बनेगा।

ततीयादि अजादि विभक्ति परे होने पर तज्वदभाव विकल्प से होता है अतः क्रोष्टु शब्द ही रहेगा और शम्भु की तरह रूप बनेंगे। हलादि विभक्ति परे होने पर शम्भु की तरह रूप बनेंगे।

क्रोष्टु शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः
सम्बोधन	हे क्रोष्टो	''	''
द्वितीया	क्रोष्टारम्	''	क्रोष्टून्

ततीया	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुम्याम्	क्रोष्टुमिः
चतुर्थी	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	''	क्रोष्टुम्यः
पचमी	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	''	''
षष्ठी	क्रोष्टुः ''	क्रोष्ट्रोः	क्रोष्टूनाम्
सप्तमी	क्रोष्टरि	क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टुषु

ह्रस्व ऊकारान्त शब्द समाप्त

दीर्घ ऊकारान्त शब्द

संस्कृत में दीर्घ ऊकारान्त पुँल्लिङग शब्द बहुत कम हैं। जो भी शब्द हें उनमें से अधिकांश समस्तपद हैं जो या तो धातु के साथ या स्त्रीवाची शब्दों के साथ समास होकर बने हैं। दीर्घ ऊकारान्त पुँलिङ्ग शब्दों के रूप दीर्घ इकारान्त पुँलिङ्ग के समान ही चलते हैं।

हू हू शब्द

हूहू शब्द गन्धर्व के अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रथमा एकवचन में हूहू + सु = हूहू + स् यह स्थिति हुई। स् को रुत्व विसर्ग होकर हूहूः यह रूप बनेगा। प्रथमा के द्विवचन में हू हू + औ। यहाँ दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ परन्तु दीर्घा ज्जसि से उसका बाध हुआ। अतः इको यणचि से यण् आदेश होकर हूह्वौ रूप बना। प्रथमा के बहुवचन में भी यण् आदेश होकर हूह्वः रूप बना द्वितीया के एकवचन में अमिपूर्वः से पूर्वरूप एकादेश होकर हूहूम् रूप बना। द्वितीया के बहुवचन में हूहू + शस् = हू हूस् और तस्माच्छसो नः पुंसि से स् को न् होकर हूहून् रूप बना। शेष रूपों में अजादि विभक्ति परे होने पर ऊकार को यण् ओदश होगा और हलादि विभक्ति परे होने पर कोई परिवर्तन नहीं होगा केवल विभक्ति जोड़ दी जाएंगी। जैसे ततीया एकवचन में हुहू+टा = हूहू + आ = हूह्वा। द्विवचन में हूहू + भ्याम् = हूहू भ्याम् इत्यादि।

अतिचमू शब्द

अतिचमू का अर्थ है सेना का अतिक्रमण करने वाला। चमू शब्द नित्य स्त्रीलिङग है। अतः चमू की यू स्त्र्याख्यौ नदी से नदी संज्ञा होगी और इसके रूप नदी कार्य करके बनेंगे। नदी कार्य ये हैं–

१. अम्बार्थनद्योर्ह्स्वः से सम्बुद्धि में ह्रस्व होना।
२. आण् नद्याः से ङित् प्रत्ययों को आट् का आगम और आटश्च से वद्धि।
३. ह्रस्वनद्यापो नुट् से षष्ठी बहुवचन के आम् को नुट् का आगम।
४. ङेराम्नद्याम्नीभ्यः से ङि को आम् आदेश। सम्बोधन एकवचन में हे अतिचमु रूप बनेगा। चतुर्थी एकवचन में अतिचमू+ए = अतिचमू + आ ए = अति चमू + ए = अति चम्वै यह रूप बनेगा। पचमी और षष्ठी एकवचन में अतिचमू + अस् = अति चम्वाः रूप बनेगा। षष्ठी बहु में अति चमू + आ अस = अतिचमू + आस् = अतिचमू + आम् = अति चमू + नाम् = अति चमूनाम् रूप बनेगा। सप्तमी के एकवचन में अतिचमू + ङि = अतिचमू + आम् = अतिचमू + आ आम् = अतिचमू + आम् = अतिचम्वाम् रूप बनेगा। शेष रूप हूहू के समान होंगे।

खलपू शब्द

खलपू शब्द का अर्थ है– खलं पुनति इति खलपूः अर्थात् खलिहान को साफ करने वला। प्रथमा के एक वचन में खलपू + स् इस स्थिति में स् को रुत्व विसर्ग होकर खलपूः रूप बनेगा। द्विवचन में खलपू + औ, इस स्थिति में अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ सूत्र से ऊकार को उवङ् आदेश प्राप्त है क्योंकि खलपू शब्द धातु के संयोग से बना है। परन्तु इसका अग्रिम सूत्र से बोध होगा।

ओः सुपि 6.4.83

धात्वयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णः, तदन्तो यो धातुः तदन्तस्यानेकाचोङ्गस्य यण् स्याद् अचि सुपि। खलप्वौ, खलप्वः। एवं सुलू आदयः।
स्वभूः, स्वभुवौ, स्वभुवः वर्षाभूः।

व्याख्याः जिस उवर्ण के पूर्व में धातु का अवयव संयोग न हो, वह उवर्ण जिस धातु के अन्त में हो, उस धातु से बना हुआ अनेकाच् अङ्‌ग हो उस अङ्‌ग के उवर्ण को अजादि सुप् परे होने पर यण् आदेश होता है। खलपू + औ, यहाँ उवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग नहीं है, यह उवर्णान्त धातु से बना हुआ अनेकाच् अङ्‌ग है। अङ्‌ग से परे अजादि सुप् है। अतः प्रकृत सूत्र से उवर्ण को यण् आदेश व् होगा और रूप बनेगा खलप्वौ। प्रथमा के बहुवचन में खलप्वः रूप बनेगा। यह सूत्र अमि पूर्वः को बाध करेगा अतः द्वितीया के एकवचन में खलप्वम् रूप बनेगा। द्वितीया के बहुवचन में पूर्वसवर्ण दीर्घ का बाध होकर यण् आदेश होगा और खलप्वः बनेगा। आगे सभी रूप इसी प्रकार बनेंगे। अजादि विभक्ति परे होने पर यण् ओदश होगा और हलादि विभक्ति परे होने पर सीधे विभक्तियाँ जुड़ जाएंगी। इसी प्रकार सुलू (अच्छी तरह से काटने वाला आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

स्वभू शब्द

स्वभू का अर्थ है स्वयं उत्पन्न होने वाला। प्रथमा एकवचन में सु को रुत्व विसर्ग होकर स्वभूः रूप बनेगा। प्रथमा के द्विवचन में स्वभू + औ यह स्थिति हुई। इकोयणचि का प्रथमयोः पर्वसवर्ण से बाध हुआ। पूर्वसवर्ण दीर्घ का अचिश्नु..... से बाध हुआ। परन्तु अचिश्नु... को बाध कर ओः सुपि से यण् की प्राप्ति हुई परन्तु न भूसुधियोः से यण् का बाध हुआ। अतः पुनः अचिश्नु... . की प्राप्ति हुई और भू के ऊ को उवङ् आदेश प्राप्त हुआ। स्वभुव् + औ यह स्थिति हुई और स्वभुवौ रूप बना। इसी प्रकार प्रथमा बहुवचन में स्वुभुवः रूप हुआ। शेष अजादि विभक्ति परे होने पर भी उवङ् आदेश होगा। हलादि विभक्ति परे होने पर सीधे विभक्तियों का योग होगा।

स्वभू शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	स्वभूः	स्वभुवौ	स्वभुवः
सम्बोधन	हे ʼʼ	ʼʼ	ʼʼ
द्वितीया	स्वभुवम्	ʼʼ	ʼʼ
ततीया	स्वभुवा	स्वभूभ्याम्	स्वभूमिः
चतुर्थी	स्वभुवे	ʼʼ	स्वभूम्यः
पचमी	स्वभुवः	ʼʼ	ʼʼ
षष्ठी	ʼʼ	स्वभुवोः	स्वभुवाम्
सप्तमी	स्वभुवि	ʼʼ	स्वभूषु

वर्षाभू शब्द

वर्षाभू का अर्थ है वर्षा में उत्पन्न होने वाला अर्थात् मेंडक। वर्षाभू का प्रथमा एकवचन में स्वभूः के समान वर्षाभूः बनेगा।

वर्षाभ्वश्च 6.4.84

अस्य यण् स्याद् अचि सुपि। वर्षाभ्वौ इत्यादि।

व्याख्याः वर्षाभू शब्द को यण् आदेश हो अजादि सुप् परे होने पर न भू सुधियोः से भू धात्वन्त अङ्‌ग के यण् का निषेध किया गया है। परन्तु वर्षाभू शब्द को यण् विशेष रूप से विधान किया गया है। अतः यण् आदेश होगा। अतः अजादि विभक्ति परे होने पर यण् का आदेश होकर रूप बनेंगे। हलादि विभक्तियों के रूप स्वभू के समवन होंगे।

प्रथमा के द्विवचन में वर्षाभू + औ यह स्थिति हुई। इको यणचि से यण् प्राप्त हुआ परन्तु उसका प्रथमयोः पूर्वसवर्ण से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त हुआ। उसको बाध रक अचिश्नु.... से उवङ् आदेश प्राप्त हुआ परन्तु उसको बाध कर वर्षाभ्वश्च सूत्र से यण् आदेश प्राप्त हुआ और वर्षाभ्वौ रूप बना। इसी प्रकार बहुवचन में वर्षाभ्वः रूप बनेगा। अम् और शस परे होने पर भी यण् ओदश है। शेष अजादि विभक्ति परे होने पर वर्षाभ्वश्च से यण आदेश होकर रूप बनेंगे।

वा. दन्-कर-पुनः पूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः।

व्याख्याः भू धातु से पूर्व जब दन्, कर और पुनः शब्दों हों तो भी भू–को यण् आदेश कहना चाहिए। जैसे दन्भू (साँप या वज्र) से दन्भ्वौ, करभू (नख) से करभ्वौ और पुनर्भू (दोबारा उत्पन्न होने वाली औषधि) से पुनर्भ्वौ।

ऊकारान्त शब्द समाप्त

ऋकारान्त शब्द

ऋकारान्त शब्दों से सम्बन्धित सूत्र कोष्टु के सन्दर्भ में बताए जा चुके हैं। प्रमुख सूत्र हैं–

१. ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः। इसके द्वारा ङि और सर्वनामस्थान परे होने पर ऋदन्त अङ्ग को गुण होता है।

२. ऋदुशनस् पुरुदंसोनेहसां च। इससे सम्बुद्धिभिन्न सु परे होने पर ऋदन्त अङग को अनङ् आदेश होता है।

३. अप्तन्......। इस सूत्र से यहाँ गिनाए गए ऋकारान्त शब्दों की उपधा को दीर्घ होता है।

धात शब्द

धा धातु से 'ण्वुल् तचौ' सूत्र से तच् प्रत्यय ल गकर धात शब्द बना है।

प्रथमा के एकवचन में धाता रूप बनेगा जिसकी सिद्धि निम्न प्रकार होगी–

धात + सु

धात + स्	(उपदेशेजमुनासिक इत् से उकार की इत्संज्ञा)
धातन् + स्	(ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः से गुण प्राप्त था परन्तु उसका बाध करके ऋदुशनस्... से अनङ् ओदश हुआ। ङिच्च सूत्र से अनङ् आदेश अन्तिम वर्ण ऋ को हुआ)
धातान् + स्	(अप्तन् .... से उपधा को दीर्घ हुआ)
धातान्	(हल्ङयाब्भ्यो... से स् का लोप)
धाता	(नलसोपः प्रातिपदिकान्तस्य से नकार का लोप)

इस प्रकार धाता रूप सिद्ध हुआ।

धातारौ

धात + औ	(प्रथमा के द्विवचन में द्वयेकयो.... से औ)
धातर् + औ	(सुडनपंसकस्य से सर्वनामस्थान संज्ञा। ऋतो ङि ..... से गुण। उरण् रपरः से रपरत्व)
धातार् + औ	(अप्तन्.... से उपध ा को दीर्घ होकर धातारौ रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार धातारः, धातारम् रूप बनेंगे। द्वितीया के द्विवचन में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से सवर्ण दीर्घ एकादेश और तस्माच्छसो नः पुंसि से शस् को न आदेश हो कर धातन् रूप बनेंगे।

ततीया के एकवचन में यण् आदेश होकर घात्रा रूप बनेगा। चतुर्थी में धात्रे। पचमी, षष्ठी के एकवचन में ऋत उत् सूत्र से धातुः रूप बनेगा। षष्ठी के द्विवचन में धात्रोः। षष्ठी के बहुवचन में धात + आम् में ह्स्वनद्यापोनुट् से नुट् का आगम होकर ध ात + नाम् यह स्थिति होगी। नामि से दीर्घ होकर धातृ + नाम् यह स्थिति हुई।

वा. ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्। धातृणाम। नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्ति पक्षे नियमार्थम्। तेनेहन पिता, पितरौ।

व्याख्याः ऋवर्ण से परे भी नकार को णकार आदेश होता है। रषाभ्याँ नो णः समानपदे से र् और ष् से परे न को ण् बताया गया है परन्तु इस वार्तिक के द्वारा ऋवर्ण से परे भी न् को ण् बताया गया है। अतः धातृ + णाम् यह स्थिति हुई और धातृणाम् रूप बना।

सप्तमी के एकवचन में ऋतोङि ...... से गुणा होकर धातरि रूप बनेगा। सप्तमी के बहुवचन में आदेश प्रत्यययोः से स् को ष् होकर धातषु रूप बनेगा।

धात शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	घाता	धातारौ	धातारः
सम्बोधन	हे धातः	′′	′′
द्वितीया	धातारम्	′′	धातृन्
ततीया	धात्रा	धातभ्याम्	धातृभिः
चतुर्थी	धात्रे	′′	धातभ्यः
पचमी	धातुः	′′	′′
षष्ठी	′′	धात्रोः	धातृण्णाम्
सप्तमी	धातरि	′′	धातषु

पित शब्द

पित शब्द के रूप धात के समान ही होंगे परन्तु अप्तन... से बातया गया उपधादीर्घ का विधान यहाँ प्रवर्त्त नहीं होगा। पित शब्द को तच् प्रत्ययान्त नहीं माना जाएगा क्योंकि तच् प्रत्यय का व्युत्पत्तिपरक अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं है। अतः प्रथमा और द्वितीया के प्रथम पाँच रूप इस प्रकार होंगे–

प्रथमा – पिता, पितरौ पितरः। द्वितीया– पितरम्, पितरौ। शेष रूप धात के समान ही होंगे।

न शब्द

न शब्द का अर्थ है मनुष्य। इसके रूप पित के समान ही होंगे केवल षष्ठी बहुवचन में अन्तर है।

न च 6.4.6

अस्य नामि वा दीर्घः नृणाम्, नणाम्।

व्याख्याः न शब्द से परे नाम् होने पर न के ऋ को विकल्प से दीर्घ हो। नामि से प्राप्त नित्य दीर्घ यहाँ विकल्प से बताया गया है। अतः षष्ठी बहुवचन में नृणाम् और नणाम् ये दो रूप बनेंगे। न् को ण् ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् वार्तिक द्वारा होगा।

न शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	ना	नरौ	नरः
सम्बोधन	हे नः	′′	′′
द्वितीया	नरम्	′′	नृन्
ततीया	न्रा	नभ्याम्	नभिः
चतुर्थी	न्रे	′′	नभ्यः
पचमी	नुः	′′	′′
षष्ठी	″	न्रोः	नणाम्, नृणाम्
सप्तमी	नरि	′′	नषु

ऋकारान्त शब्द समाप्त

ओकारान्त शब्द

गो शब्द

प्रथमा के एकवचन में गो + स् यह स्थिति हुई।

गोतो णित् 7.1.90

ओकारात् विहितं सर्वनामस्थानम् णिद्वत्। गौः, गावौ, गावः

व्याख्याः ओकारान्त शब्द से परे सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् होते हैं।

गो+स् में स् सर्वनाम स्थान संज्ञक है। अतः इसका णिद्वद्भाव हुआ। णिद्वत् होने के कारण अचो णिति से गो के ओकार को वद्धि औकार होगी। अतः गौ+स् यह स्थिति हुई। स् को रुत्व विसर्ग होकर गौः रूप बना।

गावौः प्रथमा के द्विवचन में गो + औ यह स्थिति हुई। औ को गोतो णित् से णिदवदभाव हुआ। अचो णिति से गो के ओकार को वद्धि होकर स्थिति हुई– गौ + औ। एचोयवायावः से आ ैर का आव् आदेश हुआ और गावौ रूप बना।

गावः गो + जस् = गो + अस् = गौ + अस = गाव् + अस् = गावस् = गावः

ओतोमशसोः 6.1.93

ओतोम्शसोरचि आकार एकादेश गाम्, गावौ, गाः। गावा। गवे। गोः २। इत्यादि।

व्याख्याः ओकारान्त शब्द से परे अम् और शस् होने पर आकार एकादेश हो जाता है।

गाम्–गो + अम् इस स्थिति में ओतोम्शसोः सूत्र से आकार एकादेश होकर गाम् रूप बना।

गा– द्वितीया के बहुवचन में गो + शस् = गो + अस् यह स्थिति हुई। ओतोम्शसोः सूत्र से आकार एकादेश होकर गास् यह स्थिति हुई। स् को रुत्व विसर्ग होकर गाः रूप बना।

गवा– ततीया के एकवचन में गो + टा = गो + आ। यह स्थिति हुई। एचोयवायावः सूत्र से ओ को अव् आदेश होकर गवा रूप बना।

इसी प्रकार चतुर्थी एकवचन में गवे रूप बनेगा।

गो– पचमी और षष्ठी के एकवचन में गो+अस् इस स्थिति में ङसिङसोश्च सूत्र से अकार का पूर्वरूप होकर गोस् यह स्थिति होगी। स् को रुत्व विसर्ग होकर गोः रूप बनेगा।

गावोः–षष्ठी के द्विवचन में अव् आदेश होकर गावोः रूप बनेगा।

गवाम्–षष्ठी के बहुवचन में गो + आम् यह स्थिति होने पर ओ को अव् होकर गवाम् रूप बनेगा। ह्रस्व न होने के कारण नुट् का आगम नहीं होगा।

हलादि विभक्ति परे होने पर कोई विशेष कार्य नहीं होते। सप्तमी के बहुवचन में आदेशप्रत्यययोः से स् को ष् होकर गोषु रूप बनेगा।

गो शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	गौ;	गावौ	गावः
सम्बोधन	हे गौः	ʼʼ	ʼʼ
द्वितीया	गाम्	ʼʼ	गाः
ततीया	गवा	गोभ्याम्	गोभिः

चतुर्थी	गवे	''	गोभ्यः
पचमी	गोः	''	''
षष्ठी	''	गवोः	गवाम्
सप्तमी	गवि	''	गोषु

ओकारान्त शब्द समाप्त

ऐकारान्त शब्द

रै (धन)

राः प्रथमा के एक वचन में रै + स् यह स्थिति हुई।

रायो हलि 7.2.85

अस्याकारादेशो हलि विभक्तौ। राः, रायौ, रायः राभ्याम्। ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः ग्लौभ्याम् इत्यादि।

व्याख्याः हलादि विभक्ति परे होने पर रै शब्द को आकार आदेश होता है। अलोन्त्यस्य से आ आदेश अन्तिम के स्थान पर होगा।

गाम्ः रै + शसस् इस स्थिति में रायो हलि से ऐ का आ आदेश होकर रा + स् यह स्थिति हुई। स् को रुत्व विसर्ग होकर राः रूप बना।

रायौः रै + औ इस स्थिति में एचोयवायावः सूत्र से ऐ को आय् आदेश होकर रायौ रूप बना।

इसी प्रकार सभी अजादि विभक्ति परे होने पर ऐ को आय् आदेश होगा। हलादि विभक्ति परे होने पर रै को रा ओदश होगा।

रै शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	रा;	रायौ	रायः
सम्बोधन	हे राः	''	''
द्वितीया	रायम्	''	''
ततीया	राया	राभ्याम्	राभिः
चतुर्थी	राये	''	राभ्यः
पचमी	रायः	''	''
षष्ठी	''	रायोः	रायाम्
सप्तमी	रायि	''	रासु

सप्तमी बहुवचन में सु से पूर्व इण् न होने के कारण स् को ष् नहीं हुआ है।

ऐकारान्त शब्द समाप्त

औकारान्त शब्द

ग्लौ

ग्लौ शब्द का अर्थ चन्द्रमा है। इसके रूपों में कोई नया सूत्र नहीं लगता है। अजादि विभक्ति परे होने पर औ को एचोयवायावः से आव् आदेश होगा। इत्यादि विभक्ति परे होने पर कोई विशेष कार्य नहीं होता, सीधे प्रत्यय जुड़ जाते हैं।

ग्लौ शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा,	ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः
सम्बोधन	हे ग्लौः	''	''
द्वितीया	ग्लावम्	''	''
ततीया	ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः
चतुर्थी	ग्लावे	''	ग्लौभ्यः
पचमी	ग्लावः	''	''
षष्ठी	''	ग्लावोः	गलावाम्
सप्तमी	गलावि	''	ग्लौषु

औकारान्त शब्द समाप्त

अजन्त पुँल्लिङग प्रकरण समाप्त

अभ्यास के लिए प्रश्न

1. निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या कीजिए–

   अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्, कृत्तद्धित समासाश्च, सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ, प्रथमयोः पूर्व सवर्णः, नादिचि, न विभक्तौ तुस्माः, यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेङ्गम्, एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धेः, अमि पूर्वः, लशक्वतद्धिते, तस्माच्छसो नः पुंसि, अट्कुप्वाङनुम्व्यवायेपि, स्थानिवदादशोनल्विद्या", बहुवचने झल्येत्, ओसि च, ह्रस्वनद्यापो नुट्, आदेशप्रत्यययये:, दीर्घाज्जसि च, सुडनपुंसकस्य, स्वादिस्वसर्वनामस्थाने, यचि मभ्, आतो धातोः, घेर्ङिति, अच्च घेः, सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ, अचो ञिति, यू स्त्र्याख्यौ नदी , अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ, एरनेकाचोसंयोगपूर्वस्य, ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः, ओः सुपि, औतो श्शसोः।

2. निम्नलिखित शब्दों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि कीजिए–

   रामौ, रामाः, रामेण, रामान्, रामेभ्यः, सर्वेषाम्, निर्जरसः, विश्वपः, हरिणा, हरये, हरेः, हरौ, सखा, सखायौ, सख्युः, कति, त्रयाणाम्, बहुश्रेयस्यै, बहुश्रेयस्याम्, प्रध्यौ, सुधियौ, क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टुः, धातृणाम्, गौः गावौ, गाम्, गाः राः।

3. निम्नलिखित संज्ञाओं के सन्दर्भ में रूपों में परिवर्तन करने वाले प्रमुख सूत्र लिखिए–

   भ संज्ञा, पद संज्ञा, घि संज्ञा, नदी संज्ञा।

4. इयङ्, उवङ् करने वाला सूत्र लिखिए और इयङ्, उवङ् को बाध कर यण् आदेश करने वाले सूत्र लिखिए।

5. धात और पित शब्दों के रूपों में अन्तर का कारण बताइए।

6. सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय कौन से होते हैं। सर्वनामस्थान प्रत्यय परे रहते किन शब्दों के रूपों में क्या और क्यों अन्तर आता है।

(ख) अथ अजन्तस्त्रीलिXप्रकरणम्

अजन्तस्त्रीलिङ्ग में अकारान्त रूप नहीं होते।

आकारान्त शब्द

रमा शब्द

रमा शब्द का अर्थ लक्ष्मी है। यह टाप् (आप्) प्रत्ययान्त है अतः ङ्याप् प्रातिपदिकात् से सु आदि प्रत्यय की उत्पत्ति होगी। प्रथमा के एक वचन में रमा + सु = रमा + स्। यह स्थिति हुई। हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपक्तं हल् से स् का लोप होकर रमा रूप बना।

औङ आपः 7.1.18

आबन्तादङ्गात् परस्यौङः शी स्यात्। 'औङ' इति औकारविभक्तेः संज्ञा। रमे, रमाः।

व्याख्याः आवन्त अङ्ग से परे औङ् को शी आदेश हो जाता है। औङ् यह औ और औट् दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

रमे– रमाशब्द से प्रथमा के द्विवचन में 'रमा + औ' इस दशा में आबन्त अङ्ग रमा से पर औङ्–'औ' को 'शि' आदेश हुआ। शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः'। 'शी' में स्थानिवदभाव से प्रत्ययत्व लाकर प्रत्यय का आदि शकार बनेगा। 'रमा+ ई' यहाँ अवर्ण 'आकार' से अच् 'ई' परे होने पर पूर्व और पर दोनों के स्थान में 'आद् गुणः से गुण 'एकार' एकादेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

रमा– बहुवचन में 'रामा + अस्' इस दशा में 'अकः सवर्णे दीर्घः से दीर्घ होकर सकार को रु और रेफ की विसर्ग हुए।

यद्यपि यहाँ पूर्वसवर्णदीर्घ भी प्राप्त है तथापि 'दीर्घाज्जसि च' से उसका निषेध हो जाता है।

सम्बुद्धौ च 7.3.106

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ। एङ्ह्रस्वात्- इति सम्बुद्धिलोपः। हे रमे, हे रमे, हे रमाः। रमाम्, रमे, रमाः।

व्याख्याः सम्बुद्धि परे रहते आबन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है।

हे रमे– संबोधन एकवचन में 'हे रमा+स्' इस दशा में प्रकृत सूत्र से आबन्त अङ्ग रमा से सम्बुद्धि परे होने के कारण अलोन्त्यपरिभाषा के बल से अन्त्य आकार को एकार हो गया। तब 'हे रमे + स्' इस स्थिति में एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेः' सूत्र से सम्बुद्धि के सकार का लोप होने से 'हे रमे' रूप सिद्ध हुआ।

हे रमे, हे रमाः ये संबोधन के द्विवचन और बहुवचन के रूप हैं। प्रथमा के समान ही सिद्ध होंगे।

रमाम्– द्वितीया के एकवचन में 'रमा + अम्' इस अवस्था में 'अमि पूर्वः' से अम् के अकार का पूर्वरूप होने से रूप बना।

द्विवचन और बहुवचन में 'रमे और रमाः' रूप प्रथमा के समान ही हैं।

रमाः 'रमा + शस्' इस दशा में शकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर 'प्रथ्मयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र से पूर्व आकार और पर अकार दोनों के स्थान में पूर्व आकार का सवर्ण दीर्घ आकार एकादेश हुआ। तब सकार के स्थान में रु और उसके रकार के स्थान में विसर्ग होने पर रूप सिद्ध हुआ।

ध्यान रहे यहाँ शस् के स् को पुँलिङ्ग के समान न् नहीं हुआ है क्योंकि तस्माच्छसो न पुंसि सूत्र पुँल्लिङ्ग में ही लागू होता है।

आङि चापः 7.3.105

आङि ओसि चाप एकारः। रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः।

व्याख्याः आङ् और ओस् परे होने पर आबन्त अङ्ग को एकार आदेश होता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है आङ्, टा के लिए प्राचीन संज्ञा है जिसे पाणिनि ने टा के साथ साथ ग्रहण किया है।

रमया– ततीया के एकवचन में 'रमा + आ' इस दशा में आङ् 'टा' परे रहने से आबन्त अङ्ग 'रमा' के अन्त्य आकार को एकार हुआ। तब एचोयवायावः:' सूत्र से एकार को 'अय्' आदेश होकर 'रमया' रूप बना।

रमाभ्याम्–'द्विवचन का रूप है। कोई कार्य नहीं होता।

रमाभि–बहुवचन। यहाँ अदन्त अङ्ग न होने के कारण 'भिस्' को 'ऐस्' नहीं हुआ।

याड् आपः 6.1.94

आपो ङितो याट्। वद्धिः। रमायै, रमाभ्याम्, रमाभ्यः, रमायाः

व्याख्याः आबन्त से परे ङित् प्रत्ययों को याट् का आगम होता है। ङे, ङसि, ङस् और ङि ये ङित् प्रत्यय हैं। टित् होने के कारण आद्यन्तौट्कितौ से याट् का आगम प्रत्यय के आदि में होगा।

रमायै– चतुर्थी के एकवचन में 'रमा+ए' इस अवस्था में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे ङित् प्रत्यय 'ङे' को 'याट्' आगम हुआ। तब 'रमा + या ए' इस दशा में 'वद्धिरेचि' से वद्धि हुई। इस प्रकार रूप बना 'रमायै'।

द्विवचन– रमाभ्याम्। बहुवचन–रमाभ्यः।

रमायाः पचमी और षष्ठी के एकवचन में 'रमा+अस्' इस अवस्थ में प्रकृत सूत्र से याट् आगम और सवर्णदीर्घ होकर रूप बना।

द्विवचनः रमाभ्याम्। बहुवचन–रमाभ्यः।

रमायो–षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में 'रमा+ओस्' इस दशा में आङि चापः' सूत्र से आकार को एकार और एकार को 'अय्' आदेश तथा सकार को रु और रेफ को विसर्ग होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

रमाणाम्: षष्ठी के बहुवचन में 'रमा + आम्' इस दशा में आबन्त होने से ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नुट् आगम तथा अट्कुप्वाङ्–' से नकार को णकार हुआ।

रमायाम्: सप्तमी के एकवचन में 'रमा + ङि' इस दशा में ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' सूत्र से 'ङि' को 'आम्' आदेश हुआ और उसमें स्थानिवद्भाव से ङित्व लाकर याडापः' से 'याट्' आगम। अन्त में सवर्ण दीर्घ हुआ।

बहुवचन में रमासु।

रमा शब्द के रूप

प्र.	रमा,	रमे,	रमाः	।	च.	रमायै,	रमाभ्याम्,	रमाभ्यः।
सं.	हे रमे,	हे रमे,	हे रमाः	।	पं.	रमायाः,	''	'' ।
द्वि.	रमाम्	रमे	रमाः	।	ष.	''	रमयोः,	रमाणाम्।
त	रमया,	रमाभ्याम्,	रमाभिः	।	स.	रमायाम्,	''	रमासु।

इसी प्रकार सभी आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनेंगे।

सर्वनाम शब्द

सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च 7.3.118

आबन्तात् सर्वनाम्नो ङितः स्याट् स्यात्, आपश्च ह्रस्वः। सर्वस्यै। सर्वस्याः। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। शेषं रमावत्। एवं विश्वादय आबन्ताः।

व्याख्याः आबन्त सर्वनाम से परे ङित् प्रत्ययों को स्याट् का आगम होता है और आबन्त अङ्ग को ह्रस्व आदेश होता है। स्याट् आगम भी याट् के समन टित् होने के कारण आदि में होगा।

सर्वस्यै– 'सर्वा + ङे' इस अवस्था में पूर्व सूत्र से याट् प्राप्त है, उसको बाधकर सर्वनाम होने के कारण इस सूत्र से स्याट् आगम और आकार को ह्रस्व हो गया। 'सर्वस्या + ए' इस दशा में वद्धि हाकर 'सर्वस्यै' रूप सिद्ध हुआ।

सर्वस्याः– पचमी और षष्ठी के एकवचन में 'सर्वा + अस्' यहाँ स्याट् आगम और आकार को ह्रस्व तथा सवर्णदीर्घ, रुत्व, विसर्ग हुए।

सर्वासाम्ः षष्ठी के एकवचन में 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' से सुट् आगम होकर रूप सिद्ध हुआ।

सर्वस्याम्ः ङि में 'सर्वा + ङि' इस दशा में 'ङेराम् नद्याम्नीभ्यः' से ङि को आम् आदेश और प्रकृत सूत्र से स्याट् आगम और आकार को ह्रस्व होकर रूप बना।

इस प्रकार अन्य आकारान्त स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम शब्दों के रूप बनेंगे। जैसे विश्वा से विश्वस्यै, विश्वस्याः। विश्वस्याम्।

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ 1.1.28

सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै। तीयस्येति वा सर्वनामसंज्ञा-द्वितीयस्यै। एवं ततीया। 'अम्बार्थ-' इति ह्रस्वः- हे अम्ब, हे अक्क, हे अल्ल। जरा जरसौ इत्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत् गोपा विश्वपावत्। मतीः। मत्या।

व्याख्याः दिशावाची शब्दों की बहुव्रीहि समास में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। 'दिङ् नामान्यन्तराले' सूत्र जो समास होते हैं वे दिक् समास कहलाते हैं। इन समासों में दो दिशावाची शब्दों का समास बीच के अन्तराल का बोध कराने के लिए होता है और अन्य पद प्रधान होने के कारण बहुव्रीहि समास होता है। जैसे उत्तर–पूर्व का अन्तराल उत्तरपूर्वा। उत्तरपूर्वा की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होगी अतः ङित् प्रत्यय परे रहते दो–दो रूप बनेंगे जैसे उत्तरपूर्वस्यै और उत्तरपूर्वायै।

तीयस्येतिः 'तीयस्य ङित्सु वा' से तीयप्रत्ययांत (द्वितीय–ततीय) शब्दों की ङित् प्रत्यय परे होने पर में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

द्वितीयस्यैः द्वितीया (दूसरी) शब्द से चतुर्थो के एकवचन ङे ङित् प्रत्यय होने से सर्वनाम संज्ञा विकल्प से हुई। तब स्याट् आगम और ह्रस्व होकर रूप बना। अभावपक्ष में 'द्वितीयायै'।

ङित् प्रत्ययों में ही विकल्प विधान होने से आम् में एक ही रूप होगा।

एवमितिः इसी प्रकार ततीया (तीसरी) शब्द के भी रूप बनेंगे।

अम्बार्थ इति–अम्बा, अक्का, अल्ला (माता), इन तीनों शब्दों को अम्बार्थ–माता के वाचक–होने से सम्बुद्धि में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व होकर 'हे अम्ब हे अक्क हे अल्ल' रूप बनते हैं। शेष 'रमा' शब्द के समान बनेंगे।

जरा शब्द

जरा शब्द को विकल्प से 'जराया जरसन्यतरस्याम्' से अजादि विभक्ति पर होने पर जरस्–आदेश प्राप्त होता है। अतः हलादि विभक्ति परे होने पर जरा प्रातिपदिक से रूप बनेंगे और अजादि विभक्ति परे होने पर जरस् और जरा दोनों प्रातिपदिकों से वैकल्पिक रूप बनेंगे।

जराः जरा (बुढ़ापा) शब्द के प्रथमा के एकवचन में आबन्त होने से रमा शब्द के समान अपक्त सकार का 'हल्ङ्याभ्यो लोप हो गया।

जरसौः 'औ' में अजादि विभक्ति होने से 'जराया जरसन्यतरस्याम्' से जरस् आदेश हो गया।

पक्षे इतिः जरस् आदेश के अभाव पक्ष में और हलादि विभक्तियों में रमा शब्द के समान रूप बनेंगे।

प्र.	जरा,	जरसौ, जरे,	जरसः जराः	।	च.	जरसे, जरायै,	जराभ्याम्,	जराभ्यः।
सं.	हे जरे,	हे जरे,	हे जरसः	।	पं.	जरसः, जरायाः	''	'' ।
द्वि.	जरसम्, जराम्,	''	''	।	ष.	''	जरसोः, जरयोः	जरसाम्। जराणाम्।
त	जरसा, जरया,	जराभ्याम्,	जराभिः	।	स.	जरसि् जरायाम्	''	जरासु।

गोपा शब्द

गोपा शब्द 'गां पाति इति, गोपा' अर्थ में पा धातु से अन्येभ्योपि इश्यते से विच् प्रत्यय लगाकर बना है। विच् का सर्वापहारी लोप हो जाता है और गोपा यह उपपद समास बनता है। इसमें कोई स्त्री प्रत्यय नहीं लगता अतः इसके स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग में समान रूप से विश्वपा के समान रूप बनेंगे।

ग्वाला के अर्थ में गोप शब्द भी बनता है जो 'क' प्रत्ययान्त है। इसमें 'जातेर स्त्री–विषयादयोपधात्' सूत्र से ङीष् प्रत्यय लगाकर गोपी रूप बनता है। गोपी के रूप दीर्घ ईकारान्त के समान बनेंगे जिसका विवरण आगे दिया जाएगा।

आकारान्त शब्द समाप्त

ह्रस्व इकारान्त शब्द

ङिति ह्रस्वश्च 1.4.6

इयुङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति। मत्यै, मतये। मत्याः। मतेः२।

व्याख्याः जो शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग हों, ह्रस्व या दीर्घ इवर्णान्त या उवर्णान्त हों तथा उनमें इयङ् की प्राप्ति हो, उनकी ङित् प्रत्यय परे होने पर विकल्प से नदी संज्ञा होती है परन्तु स्त्री शब्द की नदी संज्ञा नहीं होती।

'यू स्त्र्याख्यौ नदी' सूत्र से दीर्घ ईकारान्त तथा ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों की नदी संज्ञा बताई गई थी। प्रकृत सूत्र के द्वारा ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों की भी ङित् प्रत्यय परे होने पर विकल्प से नदी संज्ञा बताई गई है। नदी संज्ञा न होने पर शेषो ध्यसखि सूत्र से घि संज्ञा होगी। जैसे–

मत्यैः चतुर्थी के एकवचन में 'मति + ए' इस दशा में ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग मति शब्द से परे ङित् प्रत्यय ङे होने से वैकल्पिक नदीसंज्ञा हुई। नदी संज्ञा होने पर 'आण् नद्याः' सूत्र से ङित् प्रत्यय 'ए' को आट् आगम और 'आटश्च' से वद्धि तथा इकार को यण् होने से रूप सिद्ध हुआ।

मतयेः– नदी संज्ञा के अभाव पक्ष में घिसंज्ञा होगी और तब 'घेर्ङिति' सूत्र से घिसंज्ञानिमित्तक गुण होने पर एकार को 'अय्' आदेश हुआ।

मत्याः– पचमी और षष्ठी के एकवचन में 'मति + अस्' इस अवस्था में नदी संज्ञा, आट् आगम् वद्धि, यण्, रुत्व और विसर्ग कार्य होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

मतेः– नदीसंज्ञा के अभावपक्ष में घिसंज्ञा, गुण और 'ङसिङसोश्च' से अकार को पूर्वरूप तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप बना।

इदुद्भ्याम् 7.3.107

नदीसंज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः।

व्याख्याः नदीसंज्ञक ह्रस्व इन्कार और उकार से पर 'ङि' को 'आम्' आदेश हो।

मत्याम्ः– 'मति + ङि' इस दशा में प्रकृत सूत्र से 'ङि' को 'आम्' आदेश होने पर इकार को यण् होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ यद्यपि 'ङेराम् नद्याम्नीम्यः' से ङि को 'आम्' हो सकता था, तथापि 'ओत्' सूत्र से बाध होने के कारण वह प्राप्त नहीं था। अतः इस सूत्र के द्वारा विधान किया गया है।

मतौः– नदी संज्ञा के अभाव में 'घि' संज्ञा होने से 'अच्च घेः' सूत्र से 'ङि' को 'औ' और इकार को अकार आदेश हुआ। तब 'मत+औ' इस दशा में वद्धि होकर रूप बना।

शेष रूप हरि के समान होंगे। द्वितीया के बहुवचन में मतीः रूप बनेगा क्योंकि यहाँ शस् के स् को न आदेश नहीं होगा।

मति शब्द के रूप

प्र.	मतिः,	मती,	मतयः	।	च.	मत्यै–मतये, मतिभ्याम्,		मतिभ्यः।
सं.	हे मते,	हे मती,	हे मतयः	।	पं.	मत्याः–मतेः,	''	'' ।
द्वि.	मतिम्,	मती,	मतीः	।	ष.	'' ''	मत्योः	मतीनाम्।
त	मत्या,	मतिभ्याम्,	मतिभिः	।	स.	मत्याम्–मतौ	''	मतिषु।

अन्य ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ शब्दों के रूप भी इसी प्रकार बनेंगे।

त्रि शब्द

त्रि-चतुरोः स्त्रियां तिसचतस 7.2.99

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ।

व्याख्याः त्रि और चतुर् शब्द को स्त्रीलिङ में क्रमशः तिस और चतस आदेश हो जाते हैं।

अचि र ऋतः 7.2.100

तिसचतस एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशःस्यादचि। गुणदीर्घोत्वानामपवादः। तिस्रः। तिस्रः। तिसभिः। तिसभ्यः। तिसभ्यः।

व्याख्याः तिस और चतस शब्द के ऋ कार को अच् परे होने पर र् आदेश हो जाता है। त्रि को तिस आदेश होने पर और जस् का अस् जोड़ने पर तिस+अस् यह स्थिति हुई। ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः से गुण आदेश हुआ और रूप बना तिस्रः। ध्यान रहे, यह रूप इको यणचि से यण् आदेश करने पर बन सकता था परन्तु प्रथमयोः पूर्वसवर्ण से यण् का बाध था। ततीया के बहुवचन में तिसभिः और चतुर्थी, पचमी के बहुवचन में तिसभ्यः रूप बनेंगे।

षष्टी के बहुवचन में तिस+आम् यह स्थिति होने पर ह्रस्व नद्यापो नुट् से नुट् का आगम होने पर स्थिति हुई तिस + नाम्। यहाँ नामि से ऋ को दीर्घ प्राप्त हुआ। परन्तु अग्रिम सूत्र से उसका बाध हुआ।

नॅ तिस-चतस 6.4.4

एतयोर्नामि दीर्घो न। तिसणाम्। तिसषु द्वे, द्वे। द्वाभ्याम, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वयोः, द्वयोः। गौरी, गौर्यौ, गौर्यः। हे गौरि। गौर्यै इत्यादि। एवं नद्यादयः। लक्ष्मीः शेषं गौरीवत्। एवं तरीतन्त्र्यादयः। स्त्री। हे स्त्रि।

व्याख्याः नाम् पर होने पर तिस, चतस को दीर्घ नहीं होता है। अतः ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् वार्तिक से न् को ण् होकर तिसणाम् रूप बना।

सप्तमी के बहुवचन में आदेशप्रत्यययोः से स् को ष् होकर तिसषु रूप बना।

इसी प्रकार चतस शब्द के भी रूप बनेंगे– प्र. चतस्रः, द्वि. चतस्रः, त. चतसभिः, च. चतसभ्यः, पं. चतसभ्यः, चतसणाम्, ष. चतसणाम्, स. चतसषु।

द्वे इतिः– द्वि शब्द के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'द्वि + औ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' सूत्र से विभक्ति पर होने पर होने के कारण इकार को अकार आदेश हुआ तब 'द्व + औ' इस दशा में अकारान्त बन जाने के कारण स्त्रीत्व विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' सूत्र से टा् प्रत्यय हुआ। 'टाप्' का टकार और पकार इत्संज्ञक होने से लुप्त हो जाता है। तब 'द्व आ औ' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ और 'औङ आपः' से 'औ' को शी ओदश और गुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

द्वाभ्याम्ः– 'भ्याम्' में त्यदाद्यत्व होने पर अकारान्त हो जाने से टाप् सवर्णदीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

द्वयोः– ओस् में त्यदाद्यत्व, टाप्, सवर्णदीर्घ, आकार को 'आङि चापः' से एकार, अय् आदेश और सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ।

ह्रस्व इकारान्त शब्द समाप्त

दीर्घ ईकारान्त शब्द

गौरीः गौरी (पार्वती) शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'गौरी + स्' इस अवस्था में ङयन्त होने से अपक्त सकार का हल्ङयाब्भ्यो–' से लोप हो गया। अतः विसर्ग रहित रूप बना।

गौर्यौ– औ में पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है उसका 'दीर्घाज्सि च' सूत्र से निषेध हो जाता है। तब यण् आदेश होने पर रूप की सिद्धि हो जाती है।

गौर्यः जस् में भी पूर्ववत् यण् होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

हे गौरि–सम्बुद्धि में नित्यस्त्रीलिङ्ग होने के कारण नदीसंज्ञक होने से 'अम्बार्थनद्योर्हस्वः' से ह्रस्व और तब 'एङह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से सम्बुद्धि के सकार का लोप होकर रूप बनता है।

गौर्यै– चतुर्थो के एकवचन में 'गौरी + ए' इस दशा में नदीसंज्ञक होने से 'आण्नद्याः' से आट् आगम और 'आटश्च' से वद्धि होने पर 'गौरी ऐ' इस स्थिति में यण् होकर 'गौर्यै' रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार नदी आदि दीर्घ ईकारान्त शब्दों के रूप बनेंगे।

लक्ष्मी शब्द ङयन्त नहीं है। यह 'लक्षेमुट् च' सूत्र से लक्ष् शब्द से मुट् प्रत्यय लग कर और ई लग कर रूप बना है। अतः यहाँ सु का लोप नहीं होगा और प्रथमा के एकवचन में लक्ष्मीः रूप बनेगा।

स्त्री शब्द

स्त्री– 'स्त्री स्' इस दशा में ङयन्त से परे होने से अपक्त सकार का लोप होकर यह रूप सिद्ध हुआ।

हे स्त्रि–यह रूप सम्बुद्धि में नदीसंज्ञक होने से 'अम्बार्थनद्योर्हस्वः' से ह्रस्व होने पर, ह्रस्वान्त अङ्ग हो जाने से, उस से परे सम्बुद्धि के सकार का 'एङ्हस्वात्–' सूत्र से लोप होकर बनता है।

स्त्रियाः 6.4.79

अस्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ, स्त्रियः।

व्याख्याः स्त्री शब्द को 'इयङ्' ओदश हो अजादि प्रत्यय परे रहते। 'इयङ्' का अङ् इत्संज्ञक है। 'इय्' शेष रहता है।

ङित् होने से अन्त्य 'ई' कार को इयङ् आदेश होता है।

स्त्रियौ–प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'स्त्री + औ' इस अवस्था में अजादि प्रत्यय 'औ' परे होने से 'स्त्री' शब्द के ईकार को इयङ् आदेश होकर 'स्त्रियौ' रूप सिद्ध हुआ।

स्त्रियः प्रथमा के बहुवचन में 'स्त्री + अस्' इस अवस्था में पूर्ववत् इयङ् आदेश और सकार को रु और रेफ को विसर्ग होने से उक्त रूप बना।

वाम्-शसोः 6.4.80

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात्। स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः, स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रिये। परत्वान्नुट्-स्त्रीणाम्। स्त्रीषु। श्रीः। श्रियौ। श्रियः।

व्याख्या: अम् और शस् परे रहते स्त्री शब्द को इयङ् विकल्प से हो।

स्त्रियम्– द्वितीया के एकवचन में अम् में 'स्त्री+अम्' इस दशा में प्रकृत सूत्र से इयङ् आदेश होकर यह रूप सिद्ध हुआ।

स्त्रीम्– इयङ् के अ भावपक्ष में 'अमिपूर्वः' से पूर्वरूप होकर रू बना।

स्त्रियः– द्वितीया के बहुवचन में शस् परे होने पर जब इयङ् हुआ, तब स्त्रियः बना और जब इयङ् नहीं हुआ तब पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'स्त्रीः' यह रूप बना।

स्त्रियाः– ततीया के एकवचन में 'स्त्री + आ' इस अवस्था में स्त्रियाः' सूत्र से इयङ् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

स्त्रियैः ततीया के एकवचन में 'स्त्री + ए' इस दशा में नदी संज्ञक होने से 'आण् नद्याः' से आट् आगम और 'आटश्च' से वद्धि होने के आनन्तर 'स्त्री + ऐ' इस स्थिति के बन जाने पर स्त्रियाः' से इयङ् आदेश होकर सिद्ध हुआ।

स्त्री शब्द का निषेध होने से 'ङिति ह्रस्वश्च' से ङित् प्रत्ययों से नदी संज्ञा का विकल्प नहीं हुआ।

स्त्रियाः यह रूप पचमी और षष्ठी के एकवचन में सिद्ध होता है। 'स्त्री + अस्' यहाँ भी नदीसंज्ञक होने से पूर्ववत् आट्, वद्धि और इयङ् आदेश हुए।

परत्वादिति– षष्ठी के बहुवचन में 'स्त्री + आम्' इस दशा में इयङ् और नुट् दोनों की प्राप्ति होने पर, पर होने के कारण 'नुट्' आगम हुआ। 'तब अट्कुप्वा' सूत्र से नकार को णकार होकर 'स्त्रीणाम्' रूप सिद्ध हुआ।

स्त्रीषुः सप्तमी के बहुवचन का रूप है।

प्र.	स्त्री,	स्त्रियौ,	स्त्रियः	।	च.	स्त्रियै,	स्त्रीभ्याम्,	स्त्रीभ्यः।
सं.	हे स्त्रि,	हे ''	हे ''	।	पं.	स्त्रियाः,	''	'' ।
द्वि.	स्त्रियम्,	''	स्त्रियः	।	ष.	''	स्त्रियोः,	स्त्रीणाम्।
	स्त्रीम्		स्त्रीः					
त	स्त्रिया,	स्त्रीभ्याम्,	स्त्रीभिः	।	स.	स्त्रियाम्,	''	स्त्रीषु।

श्री (लक्ष्मी, शोभा) शब्द

श्रीः– ङयन्त न होने से 'श्री' शब्द के प्रथमा के एकवचन में सु के अपक्त सकार का हल्ङयाब्भ्यः' सूत्र से प्राप्त लोप नहीं होता। तब सकार को रु और रेफ को विसर्ग होकर 'श्रीः यह सविसर्ग रूप सिद्ध हुआ।

श्रियौ– यह रूप प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'श्री + औ' इस अवस्था में अचिश्नुधातु' सूत्र से इयङ् आदेश होकर बनता है।

श्रियः– यह रूप प्रथमा के बहुवचन में जस् में पूर्ववत् सिद्ध होता है।

नेयङुवङ्स्थानावस्त्री 1.4.4

इयङुवङोः स्थितियियोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तः, न तु स्त्री। हे श्रीः श्रियै, श्रिये। श्रियाः, श्रियः।

व्याख्या: इयङ् और उवङ् की स्थिति जिनमें हो, ऐसे दीर्घ ईकार और ऊकार की नदी संज्ञा नहीं होती, स्त्री शब्द को छोड़कर; अर्थात् स्त्री शब्द की तो नदी संज्ञा होती है।

हे श्रीः– सम्बुद्धि में 'हे श्री + स्' इस अवस्था में इयङ् की स्थिति वाला होने से दीर्घ ईकारान्त श्री शब्द की नदी संज्ञा का निषेध प्रकृत सूत्र से हो जाने से अभ्यार्थ से प्राप्त ह्रस्व नहीं हुआ, अतः ह्रस्व से परे न होने के कारण सम्बुद्धि के सकार का लोप भी नहीं हुआ, अतः रुत्व विसर्ग होकर 'हे श्रीः' यह सविसर्ग रूप सिद्ध हुआ।

श्रियै, श्रिये– ये दो रूप चतुर्थी के एकवचन में 'ङिति ह्रस्वश्च' से नदी संज्ञा के विकल्प से होने से बनते हैं। नदीसंज्ञा पक्ष में तत्प्रयुक्त आट् और वद्धि, अनन्तर अचि श्नुधातु–' सूत्र से 'इयङ्' आदेश होता है और अभाव पक्ष में केवल 'इयङ्' आदेश होकर 'श्रिये' रूप बनता है।

श्रियाः, श्रियः– ये दो–दो रूप पचमी और षष्ठी के एकवचन के हैं। पूर्ववत् नदी संज्ञा के विकल्प के द्वारा बनते हैं। नदीसंज्ञा पक्ष में आट् और वद्धि अनन्तर 'इयङ्' आदेश होता है और अभावपक्ष में केवल 'इयङ्' आदेश ही होता है।

इन प्रयोगों में 'नयेङुवङ् स्थानावस्त्री' से नदीसंज्ञा का निषेध नहीं होता। ङित् प्रत्ययों में 'ङिति ह्रस्वश्च' इस सूत्र के द्वारा विशेष रूप से विहित होने से यह निषेध नहीं प्रवत्त होता। 'हे श्रीः' में यह निषेध चरितार्थ हो जाता है।

वार्तिक 1.4.5

इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तः, न तु स्त्री। श्रीणाम्, श्रियाम् श्रियि। धेनुर्मतिवत्।

व्याख्याः जहाँ इयङ् उवङ् की प्राप्ति हो वहाँ नित्य स्त्रीलिङ्ग दीर्घ ईकार और ऊकारान्त शब्द की आम् परे होने पर विकल्प से नदी संज्ञा हो। श्री शब्द से आम् पर होने पर विकल्प से नदी संज्ञा होगी क्योंकि अचिश्नु .... से इयङ् प्राप्त है। नदी संज्ञा होने पर नुट् का आगम होगा और श्रीणाम् रूप बनेगा। नदी संज्ञा न होने पर इयङ् आदेश होकर श्रियाम् रूप बनेगा।

श्रियाम्, श्रियि– सप्तमी के एकवचन में में 'श्री + इ' इस दशा में 'ङिति ह्रस्वश्च' से नदीसंज्ञा के विकल्प होने से नदीसंज्ञा पक्ष में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः से ङि को आम् आदेश और इयङ् आदेश होकर 'श्रियाम्' और अभावपक्ष में केवल एक कार्य इयङ् आदेश होकर 'श्रियि' रूप बनता है।

प्र.	श्रीः,	श्रियौ,	श्रियः	।	च.	श्रियै, श्रिये,	श्रीभ्याम्,	श्रीभ्यः।
सं.	हे श्रीः,	हे ''	हे ''	।	पं.	श्रियाः, श्रियाः,	''	'' ।
द्वि.	श्रियम्,	''	''	।	ष.	''	श्रियोः, ''	श्रियाम्। श्रियाम्।
त	श्रिया,	श्रीभ्याम्,	श्रीभिः	।	स.	श्रियाम्, श्रियि,	''	श्रीषु।

दीर्घ ईकारान्त शब्द समाप्त

ह्रस्व उकारान्त शब्द

धेनु

धेनु शब्द के रूप मति के समान बनेंगे।

धेनु शब्द के रूप

प्र.	धेनुः,	धेनू,	धेनवः	।	च.	धेन्वै, धेनवे	धेनुभ्याम्,	धेनुभ्यः।

सं.	हे धेनो,	हे ''	हे ''	।	पं.	धेन्वाः, धेनोः	''	'' ।
द्वि.	धेनुम्,	''	धेनूः	।	ष.	''	धेन्वोः,	धेनूनाम्।
त	धेन्वा,	धेनुभ्याम्,	धेनुभिः	।	स.	धेन्वाम्, धेनौ	''	धेनुषु।

स्त्रियां च 7.1.96

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्य तज्वद्रूपं लभते।

व्याख्याः स्त्रीलिङ्ग में क्रोष्टु शब्द को तज्वद् भाव होता है। इस प्रकार तज्वद्रभाव होने पर क्रोष्ट प्रातिपदिक बना।

ऋन्नेभ्यो ङीप् 4.1.5

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप्। क्रोष्ट्री गौरीवत्। भ्रूः श्रीवत्। स्वयम्भूः पुंवत्।

व्याख्याः ऋदन्त और नान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय हो।

'क्रोष्ट' शब्द ऋदन्त है, अतः ङीप् प्रत्यय हो गया। 'ङीप्' का 'ई' शेष रहता है। ङकार की लशक्वतद्धिते' से और पकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा हो जाती है। तब 'क्रोष्ट ई' इस दशा में 'यण्' आदेश होकर 'क्रोष्ट्री' यह ईकारान्त शब्द बन जाता है। ईकारान्त होने पर गौरी के समान रूप बनेंगे।

_ह्रस्व उाकरान्त शब्द समाप्त

दीर्घ ऊकारान्त शब्द

भ्रूः— भ्रू (भौं) शब्द के प्रथमा के एकवचन में ङ्यन्त न होने से सु का लोप नहीं होता। रुत्व विसर्ग होकर रूप बनता है।

श्रीवत्: भ्रू शब्द के रूप श्री शब्द के समान बनेंगे। इसमें 'अचि श्नुधातुभ्रुवां —य्वोरियङ् आदेश होता है। अतः उवङ् की स्थिति इसमें होने से 'नेयङुवङुस्थानावस्त्री' से नदी संज्ञा का निषेध और ङिद्वचनों में 'ङिति ह्रस्वश्च' से नदी संज्ञा का विकल्प होने से 'श्री' शब्द के समान ही रूप बनते हैं।

प्र.	भ्रूः,	भ्रुवौ,	भ्रुवः	।	च.	भ्रुवै, भ्रूवे,	भ्रूभ्याम्,	भ्रूभ्यः।
सं.	हे भ्रूः,	हे ''	हे ''	।	पं.	भ्रुवाः, भ्रुवाः	''	'' ।
द्वि.	भ्रुवम्,	''	''	।	ष.	''	भ्रुवोः,	भ्रुवाम्। भ्रूणाम्।
त	भ्रुवा,	भ्रूभ्याम्,	भ्रूभिः	।	स.	भ्रुवाम्, भ्रुवि,	''	भ्रुषु।

स्वस शब्द

न षट्-स्वस्रादिभ्यः 4.1.50

ङीप टापौ न स्तः। स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथ। याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः। स्वसा, स्वसारौ। माता पितवत्। शसि-मातृः इति ऋदन्ताः। द्यौर्गोवत्। राः पुंवत्। नौग्लौवत्।

इति अजन्तस्त्रीलिङ्ग प्रकरणम्।

व्याख्याः षट्संज्ञक और स्वस आदि शब्दों से ङीप् और टाप् प्रत्यय नहीं होते।

षट्संज्ञक 'ष्णान्ताः षट्' से षष् (छः) प चन् (पाँच) आदि शब्द हैं उनमें नान्त शब्दों से ऋन्नेभ्यो ङीप्' सूत्र से ङीप् प्राप्त है। स्वस आदियों को ऋकारान्त होने से ऋन्नेभ्यः– से ङीप् प्राप्त है। यह सूत्र उनका निषेध करता है। अतः ये स्त्रीलिङ में जैसे के तैसे प्रयुक्त होते हैं।

स्वसा इति– स्वस आदियों का कारिका में परिगणन किया गया है। 'स्वस (बहिन), तिस (तीन स्त्रियाँ), चतस (चार स्त्रियाँ), ननान्द (पति की बहिन–नन्द), दुहित (लड़की), यात (भाईयों की स्त्रियाँ आपस में 'याता' कहाती हैं) मात (माता)– ये सात शब्द स्वस्रादि कहे गये हैं।

स्वसाः यह रूप स्वस शब्द के प्रथमा के एकवचन में में 'स्वस + स्' इस दशा में 'ऋदुशन–' सूत्र से ऋकार को 'अनङ्' आदेश, अङ् की इत्संज्ञा और लोप, अप्तन्तच्स्वस–' से उपधा अकार को दीर्घ, अपक्त सकार का हल्ङयाब्भ्यः– 'से लोप और नकार का 'नलोपः' से लोप होकर बनता है।

स्वसारौः यह रूप प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'स्वस औ' दशा में 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' सूत्र से ऋ कार को अर् गुण और उपधा अकार को 'अप्तन्तचस्वस– ' दीर्घ होकर सिद्ध हुआ।

प्र.	स्वसा,	स्वसारौ,	स्वसारः	।	च.	स्वस्रे,,	स्वसभ्याम्,	स्वसभ्यः।
सं.	हे स्वसः,	हे ''	हे ''	।	पं.	स्वसुः,	''	'' ।
द्वि.	स्वसारम्,	''	स्वसॄः	।	ष.	''	स्वस्रोः,	स्वसॄणाम्।
त	स्वस्रा,	स्वसभ्याम्,	स्वसभिः	।	सं.	स्वसरि,	"	स्वसु।

मात शब्द

मात शब्द के रूप पित के समान होंगे। केवल द्वितीया के बहुवचन में मातॄः रूप बनेगा क्योंकि शस् के स् को न नहीं होगा। इसी प्रकार ननान्द आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

ओकरान्त शब्द

द्यौः– यह रूप द्यो (स्वर्ग, आकाश) शब्द के प्रथमा के एकवचन का है। द्यो स्' इस दशा में ओकारान्त से परे होने के कारण सु को 'ओतो णिदिति वाच्यम्' इस वार्तिक से णिद्वद्भाव हो जाता है। तब 'अचो ञ्णिति' से ओकार को औकार वद्धि होने पर रुत्व विसर्ग होकर रूप सिद्ध होता है।

गोवदितिः इसके रूप गो शब्द के समान बनेंगे।

प्र.	द्यौः,	द्यावौ,	द्यावः	।	च.	द्यवे,	द्योभ्याम्,	द्योभ्यः।
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	।	पं.	द्योः,	''	'' ।
द्वि.	द्याम्,	''	द्याः	।	ष.	''	द्यवोः,	द्यवाम्।
त	द्यावा	द्योभ्याम्,	द्योभिः	।	स.	द्यवि,	"	द्योषु।

ओकारान्त शब्द समाप्त

ऐकारान्त और औकारान्त शब्द

ऐकारान्त शब्द रै के रूप पुँल्लिङ्ग के समान बनेंगे। औकारान्त नौ (नाव) के रूप लौ के समान बनेंगे।

ध्यातव्य

1. अजन्त स्त्रीलिङ्ग में प्रायः आकारान्त, इकारान्त, ईकारान्त, शब्द अधिक प्रयुक्त होते हैं, उकारान्त, ऊकारान्त, ऋकारान्त, ऐकारान्त और औकारान्त शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। परन्तु बहुत कम।

2. अजन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों में प्रत्यय वहीं लगते हैं जो अजन्त पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। द्वितीया के बहुवचन में शस् के स् को नकार नहीं होता और सर्वत्र विसर्ग होता है।
3. आकारान्त शब्दों के रूपों में निम्नलिखित सूत्र लगते हैं–
   (क) प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन के औ को शीङ (अर्थात्), ई आदेश हो जाता है। और प्रातिपदिक आ से मिलकर ए हो जाता है। सूत्र औङ आपः।
   (ख) सम्बुद्धौ च से आबन्त के आकार को एकार होता है और सम्बुद्धि का लोप होता है। आङि चापः से टा और ओस् परे होने पर भी आकार को एकार आदेश होता है।
   (ग) ङित् प्रत्ययों को याड् आपः से याट् का आगम होता है। सर्वनाम आकारान्त शब्दों से परे सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रवश्च सूत्र से स्याट् का आगम होता है।
4. ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्दों की ङित् परे होने पर विकल्प से नदी संज्ञा ङिति ह्रस्वच सूत्र से होती है। अतः ङित् प्रत्ययों से दो–दो रूप बनते हैं।
5. त्रि–चतुर् को क्रमशः तिस–चतस आदेश होते हैं– त्रिचंतुरो स्त्रियां तिसचतस। ऋ को अचि र ऋतः से र् होकर तिस्त्रः और चतस्रः रूप प्रथमा द्वितीया के बहुवचन में बनते हैं। तिस, चतस से परे षष्ठी के बहुवचन नाम् परे होने पर दीर्घ नहीं होता है।
6. दीर्घ ईकारान्त शब्दों को प्रथमयो पूर्वसवर्ण का बाध होकर प्रथमा और द्वितीया के अजादि प्रत्यय परे होने पर यण् आदेश होता है। द्वितीया के बहुवचन में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश ही होता है।

(ग) अथ अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

''अतोम्[1] 7.1.24

अतोऽङ्गात् क्लीवात् स्वमोरम्। अमि पूर्वः-ज्ञानम्। 'एङ्हस्वाद-' इति हल्लोपः-हे ज्ञान।

व्याख्याः अदन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से पर 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश हो।

स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से 'सु' और 'अम्' को अम् इसीलिए विधान किया गया है।

ज्ञानम्—अदन्त ज्ञान शब्द के प्रथमा के एक वचन में 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ। तब 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होने पर रूप सिद्ध हो गया।

हे ज्ञान—सम्बुद्धि में अम् आदेश और पूर्वरूप होने पर 'हे ज्ञानम्' बन जाने पर 'एङ्हस्वात् सम्बुद्धिः' से सम्बुद्धि के हल् मकार का लोप हुआ।

नपुंसकाच्च 7.1.11

क्लीबादौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्।

व्याख्याः नपुंसक अङ्ग से पर औङ् को 'शी' आदेश हो। औङ् और औट् का बोधक है। ज्ञान शब्द से प्रथमा के द्विवचन में 'ज्ञान औ' इस दशा में नपुंसक अङ्ग ज्ञान से पर औङ को 'शी' आदेश हआ। 'शी' में स्थानिवद् से प्रत्यत्व लाने पर प्रत्यय के आदि शकार का 'लक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होकर लोप गया। तब 'ज्ञान+ई' यह स्थिति बनी।

भसंज्ञायामिति-पूर्वोक्त स्थिति में अजादि प्रत्यय होने से पूर्व 'ज्ञान' की भसंज्ञा संज्ञा[1] होने पर—

'यस्येति ॅ चॅ 6.4.148

ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णायोर्लोपः। इत्यल्लोपे प्राप्ते-

व्याख्याः ईकार और तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के इवर्ण और अवर्ण का लोप हो।

यहाँ सूत्र में स्थित 'यस्येति' इस पद का 'यस्य+ईति' यह च्छेद है।

'ई' और 'अ' का समाहार अर्थ में द्वन्द्व समास करने पर 'अ इ' इस स्थिति में इकार को यण् यकार आदेश होता है, वह यकार आगे वर्तमान आकार से मिलकर 'य' शब्द बन जाता है। उससे षष्ठी विभक्ति आने पर यस्य पद बनकर अर्थ होता है 'इवर्ण और अवर्ण का'।

'ईति' यह द्वितीय पद है और 'ईति' शब्द के सप्तमी विभक्ति के एकवचन का रूप है। इसलिये अर्थ निकलता है 'ईकार परे रहते'।

'च' के द्वारा पूर्व सूत्र नस्तद्धते से 'तद्धिते' पद का संग्रह होता है। तब 'तद्धित परे रहते' यह अर्थ प्राप्त होता है।

इत्यल्लोपे—'ज्ञान ई' यहां भसंज्ञक अङ्ग ज्ञान के अन्त्य अकार का ईकार परे होने से लोप प्राप्त हुआ।

(वा) औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः। ज्ञाने।

व्याख्याः औङ् के स्थान में होने वाले आदेश 'शी' परे रहते 'यस्येति च' सूत्र की प्रवत्ति न हो अर्थात् अकार का लोप न हो।

---

1. यद्यपि औट् तक सर्वनामस्थान है और सर्वनामस्थान प्रत्ययों की 'भ' संज्ञा का वर्णन किया गया है। तथापि सर्वनामस्थानसंज्ञासूत्र 'सुडनपुंसकस्य' से नपुंसकलिङ्ग के सुट् प्रत्ययों की सर्वनामस्थासंज्ञा का निषेध होने से भंसंज्ञा प्राप्त होती है। यचि भम् से भ संज्ञा प्राप्त हुई।

ज्ञाने–'ज्ञान+ई' इस दशा में 'औङः–' इस वार्तिक से अकार लोप का निषेध होने पर गुण एकादेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

जश्शसोः शिः 7.1.20

क्लीबादनयोः शिः स्यात्

व्याख्याः नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे जस् और शस् को 'शि' आदेश हो।

नपुंसकलिङ्ग अङ्ग ज्ञान से पर 'जस्' और 'शस्' को 'शि' आदेश हुआ, शि का शकार इत्संज्ञक है। तब 'ज्ञान+ई यह स्थिति बनी।

शि सर्वनामस्थानम् 1.1.42

शि इत्येतत् उक्तसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः 'शि' यह सर्वनामस्थानसंज्ञक हो।

'ज्ञान+इ' यहाँ 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा हुई।

नपुंसकस्य[6] झलचः[6] 7.1.72

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने।

व्याख्याः झलन्त और अजन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग को 'नुम्' आगम हो सर्वनामस्थान परे रहते।

'नुम' का 'उम्' इत्संज्ञाक है नकार शेष रहता है।

'ज्ञान+इ' इस दशा में सर्वनामस्थान 'शि' पर है, और 'ज्ञान' अजन्त नपुंसकलिङ्ग है। अतः नुम् आगम प्राप्त हुआ। परन्तु यह आशङ्का होती है नुम् कहां हो–अङ्ग के आदि में मध्य में या अन्त में 1 इसका निर्णय अग्रिम परिभाषा करती है।

मिदचो ऽन्त्या परः[1] 1.1.47

अचां मध्ये योन्त्यः, तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। उपधादीर्घः'ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुवंत्। एवं धन-वन-फलादयः।

व्याख्याः अचों में जो अन्त्य अच, उसस पर और जिस समुदाय को विधान किया गया हो उसी का अन्त अव्यव के रूप में मित् हो।

प्रकृत में नपुसंकलिङ्ग अङ्ग को नुम् विधान है अतः उसी का अन्त अवयव 'नुम्' होगा।

'ज्ञान इ' यहाँ 'ज्ञान' इस समुदाय का अन्त अवयव अकार के आगे नुम् होगा। तब 'ज्ञानन्+इ' ऐसी स्थिति बनी। पूर्वोक्त स्थिति में **'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'** से नान्त अङ्ग 'ज्ञानन्' की उपधा को दीर्घ होकर 'ज्ञानानि– रूप सिद्ध हुआ।

द्वितीया में प्रथमा के समान ही रूप बनेंगे, क्योंकि उक्त सारे कार्य दोनों के समान रूप से होते हैं।

शेष ततीया आदि के रूप पुंल्लिङ्ग अकारान्त शब्द के, समान बनेंगे।

प.	ज्ञानम्,	ज्ञाने,	ज्ञानानि।	च.	ज्ञानात्,	ज्ञानाभ्याम्,	ज्ञानेभ्यः।
पं.	हे ज्ञान,	हे ''	हे '' ।	पं.	ज्ञानात्,	''	'' ।
द्वि.	ज्ञानम्,	''	'' ।	प.	ज्ञानस्य,	ज्ञानयोः,	ज्ञानानाम् ।
स.	ज्ञानेन,	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः।	स.	ज्ञाने,	''	ज्ञानेषु ।

इसी प्रकार अकारान्त नपुंसकलिङ्ग धन, वन, फल, मुख, नेत्र, जल, अन्न, पुष्प, वत्त (चरित्र, समाचार, छन्द), आज्य (घी), मूल्य (कीमत) ..... चित्त, सत्य, नवनीत (मक्खन) और दैव (भाग्य) आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

ध्यान रहे कि नपुंसकलिङ्ग में सभी—अजन्त नथा हलन्त—शब्दों के रूप प्रथमा और द्वितीया में समान होते हैं और ततीया आदि विभक्तियों में पुंल्लिङ्ग के समान।

यदि प्रयोग देखकर अकारान्त शब्दों के लिङ्ग की पहचान करनी हो तो प्रथमा और द्वितीया के प्रयोगों से ही की हो सकती है, ततीया आदि के रूपों में पुंल्लिङ्ग और नपुंसकङ्गि के अकारान्त शब्दों के रूपों में कोई अन्तर नहीं होता।

अद्‌ड डतरादिभ्यः पचभ्यः 7.1.125

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्‌ड् आदेशः स्यात्

व्याख्याः डतर आदि पांच नपुंसकलिंग अंगों से पर सु और अम् को अद्‌ड आदेश हो।

डतर आदि सर्वादिगण में आये हैं—**डतर, डतम, अन्य, अन्यतर और इतर।** डतर, डतम प्रत्यय हैं। अतः प्रत्ययग्रहण परिभाषा से तदन्त कतर, कतम आदि शब्द ही लिये जायेंगे। 'अन्यतर' शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं, डतरप्रत्ययान्त नहीं, इसीलिये इसका पथक् ग्रहण किया है।

कतर—(दो में कौन) शब्द डतरप्रत्ययान्त है। अतः इससे पर 'सु' और 'अम्' को अद्‌ड् आदेश हो गया। डकार की इत्संज्ञा हुई। केवल 'अद्' शेष रहा।

टेः 6.4.143

डिति भस्य टेर्लोपः। कतर्, कतरद्। कतरे। कतराणि। हे कतरत् शेषं पुंवत्।
एवं कतमत्, इतरत्, अन्यत्, अन्यतरत्।
अन्यतमस्यु तु अन्यतममित्येव।

व्याख्याः डित् परे रहते भसंज्ञक अङ्ग की टि का लोप हो।

'कतर अद्' अस दशा में भसंज्ञक अङ्ग 'कतर', की टि—रेफोत्तरवर्ती अकार'का डित् 'अद्' परे होने से लोप हो गया। तब 'वावसाने— से अवसान दकार को विकल्प से चर तकार होकर रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में दकार ही रहेगा—कतरद्।

द्विवचनों में औ को शी आदेश और 'यस्येति च' से प्राप्त अकार के औङःश्यां प्रतिषेधो वाच्यः' से निषेध होने पर गुण एकादेश होकर करते रूप बना।

कतराणि—जस् को शि आदेश होने पर, उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा, उपधा दीर्घ और णत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

हे कतरत्—सम्बुद्धि में 'अद्‌ड्' आदेश और टि का लोप होन`पर 'हे कतरद् इस दशा में चर् विकल्प से होकर प्रथमा के समान ही रूप बनेंगे। कतरत् के तकार का लोप नहीं होता, क्योंकि 'कतर अद्' यहां अङ्ग ह्रस्वान्त नहीं, टि का लोप होने से वह हलन्त है जो हस्वान्त नहीं क्योंकि इसमें अकार 'अद्' का है— अपना अकार तो लुप्त हो चुका है।

शेष रूप इसके पुंल्लिङ्ग के समान ही बनेंगे।

इसी प्रकार कतम का—कतमत्, इतर का—इतरत्, अन्य का अन्यत्, अन्यतर का—अन्यतरत् रूप अद्‌ड् ओदश होकर बनेंगे। इन्हीं पाँच में अदड् का विधान किया गया है।

अन्यतम शब्द का तो 'अन्यतमम्' ऐसा ही रूप बनेगा अर्थात् अदड् आदेश न होगा क्योंकि पूर्वोक्त पांच शब्दों में ही अद्‌ड् आदेश है। डतमप्रत्ययान्त भी यह नहीं, यह तो अन्यतर शब्द के समान अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है।

वा. एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्यः। एकतरम्।

व्याख्याः एकतर शब्द से पर 'सु' और 'अम्' को 'अद्‌ड' प्राप्त था, उसका वार्तिक से निषेध हुआ। तब ज्ञान शब्द के समान :अम्' आदेश होकर एकतरम रूप सिद्ध हुआ।

इसके रूप ज्ञान शब्द के समान ही बनते हैं।

(अकारान्त शब्द समाप्त।)

आकारान्त शब्द

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य 1.2.47

अजन्तस्येत्येव। श्रीपम्—ज्ञानवत्।

व्याख्याः अजन्त प्रातिपादिक को नपुंसकलिंग में ह्रस्व हो।

श्री पा (लक्ष्मी का पालन करने वाला) शब्द अजन्त है। इसके अन्त्य आकार को 'प्रकृत—' सूत्र से ह्रस्व होने पर 'श्रीप' बन गया। ह्रस्वान्त बन जाने से ज्ञान शब्द के समान 'श्रीपम्, श्रीपे, श्रीपाणि' इत्यादि रूप बनेंगे।

'श्रीपाणि'— में णर्त्य अखण्ड पर न होने से 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि से नहीं हो सकता। (एकाजुत्तरपदे णः' सूत्र से होगा।) इसी प्रकार 'श्रीपेण' और 'श्रीपाणाम्' में भी उक्त सूत्र से ही णत्व होगा।

इस सूत्र के अनुसार नपुंसकलिङ्ग में कोई भी शब्द दीर्घान्त नहीं रह जाता। केवल अदन्त, इदन्त, उदन्त और ऋदन्त शब्द ही नपुँसकलिङ्ग में रहेंगे। एकारान्त ओकारान्त, ऐकारान्त और औकारान्त शब्द प्रायः नहीं हैं, जो कोई है भी, ह्रस्व कर देने से वे भी इदन्त और उदन्त बनजायेंगें

आकारान्त शब्द समाप्त।

इकारान्त शब्द

स्वमोर्नपुंसकात् 7.1.23

लुक् स्यात्। वारि।

व्याख्याः नपुंसकलिङ्ग शब्दों से पर 'सु' और 'अम्' का लोप हो।

ह्रस्व अकारान्त शब्दों को छोड़कर सभी अजन्त तथा हलन्त शब्दों से पर 'सु' और 'अम्' का लोप हो जाता है।

वारि (जल) शब्द से पर 'सु' और 'अम्' का लोप हो जाने से वारि यही रूप सिद्ध होगा।

इकोचि विभक्तौ 7.1.73

इगन्तस्य नुम् अचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि। 'न लुमता-' इत्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः—हे वारे, वारि। आङो ना-वारिणा। 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते-

व्याख्याः इगन्त अङ्ग को नुम् आगम हो अजादि विभक्ति परे रहते।

मिदचोन्त्यात्परः' परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अच् के आगे 'नुम्' होगा, वह अङ्ग का अवयव समझा जायेगा।

वारिणी—वारि शब्द के प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'वारि औ' यह स्थिति हुई। इस दशा में 'औ' को शी आदेश हुआ तब अजादि विभक्ति 'ई' परे रहते अङ्ग वारि को नुम् आगम हुआ। वह अन्त्य अच् इकार के आगे हुआ। वारिन् ई' ऐसी स्थिति हो जाने पर 'अट्कुप्वाङ्नुमव्यवायेपि' सूत्र से वारिणी रूप सिद्ध हो गया।

वारीणी—प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में जस् और शस् को जश्शसोः शि' सूत्र से 'शि' हुआ और उसकी शि सर्वनामस्थानम् से सर्वनामस्थान संज्ञा होने पर अङ्ग को नुम् आगम हुआ। 'वारिन्+इ' इस दशा में सर्वनामस्थान परे होने से 'सर्वनामस्थाने—' सूत्र से नान्त उपधादीर्घ और अट्कुप—' सूत्र से णत्व होकर रूप सिद्ध हुआ। न लुमतेति—'न लुमताङ्गस्य' सूत्र के अनित्य होने से पक्ष में सम्बुद्धिनिमित्त गुण होगा। इसलिये 'हे वारे' 'हे वारि' ये दो रूप सम्बुद्धि में बनेंगे।

इसकी अनित्यता का प्रमाण प्रकृत सूत्र 'इकोचि विभक्तौ' में 'अचि' ग्रहण है। 'अचि' ग्रहण हलादि विभक्तियों में नुम्वारण के लिये किया गया हैं परन्तु हलादि विभक्तियो में नुम् होने पर भी पदान्त होने के कारण 'नलोयः प्रातिपदिकान्तस्य' से उसका लोप हो जायेगा। अतः हलादि—विभक्तियों में वारण करना व्यर्थ है। सम्बुद्धि भी हलादि विभक्ति है, वहां नुम् की आपत्ति हो सकती है और यहां 'न ङिसम्बुद्धयोः' से नकार के लोप का निषेध हो जाने से नकार श्रवण होने लगेगा। परन्तु यह आपत्ति भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्बुद्धि का लोप 'लुक्' शब्द से

हुआ है। अतः लुमता शब्दसे लुप्त होने के कारण प्रत्ययलक्षण कार्य को 'न लुमताङ्गस्य' निषेध कर देगा, नुम् होगा ही नहीं। अतः सम्बुद्धि में नुम्वारण के लिए भी 'अचि' की आवश्यकता नहीं है। अतः व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'न लुमताङ्गस्य' विधि अनित्य है। जब इसकी प्रवत्ति नहीं होगी, उस पक्ष में प्रत्ययलक्षण कार्य नुम् हो जायेगा। उसके वारण के लिये 'अचि' ग्रहण चरितार्थ है।

'वारि सु' इस अवस्था में 'सु' का लोप होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्यय लक्षणम् से लुप्त–सु प्रत्यय–निमित्तक 'सम्बुद्धौ 'च' से गुण कार्य प्राप्त है। सु का लोप लुक् शब्द से विहित होने के कारण 'न लुमतांगस्य' निषेध कर देता है परन्तु यह सूत्र नित्य नहीं, अतः जब इसकी प्रवत्ति होगी, तब लुप्तप्रत्ययनिमित्तक गुण कार्य न होकर 'वारि' रूप बनेगा और जब इसकी प्रवत्ति नहीं होगी, तब पूर्वोक्त गुण होकर 'हे वारे' रूप बनेगा।

आङो नेति–'वारि+टा' इस अवस्था में आङा नास्त्रियाम्' से 'टा' को 'ना' आदेश और अट्कुप्वाङ्–' से नकार को णकार होने से 'वारिणा' रूप सिद्ध हुआ।

घेर्ङिति इति–चतुर्थी के एकवचन में 'वारि+ए' इस अवस्थामें घेर्ङिति' से गुण प्राप्त होने पर अग्रिम की प्रवत्ति होती है।

(वा) वद्धयौत्वतज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन।

वारिणे। वारिणः। वारिणः। वारिणोः। 'नुमचिर-' इति नुट्- वारीणाम्। वारिणि। हलादौ हरिवत्।

व्याख्याः वद्धि, औत्व, तज्वद्भाव और गुण की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से (तुल्यबलविरोध होने पर पूर्व की प्रबलता से) नुम् पहले हो।

वारिणे–'वारि+ए' में गुण की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से नुम् पहले हुआ। नुम् होने पर 'वारिन्+ए' ऐसी स्थिति बनी। क्योंकि अङ्ग का अवयव ही नुम् होता है, नुम् होने पर अंग 'वारिन्' कहलायेगा, अतः अंग के अजन्त न होने से घिसंज्ञा न हुई, अतएव गुण न हुआ। तब अट्कुप्' से नकार को णकार होकर 'वारिणे' रूप सिद्ध हुआ।

वद्धि की अपेक्षा नुम् की प्रबलता का उदाहरण–प्रियसखीनि। 'प्रियः सखा यस्य, तत्कुलं प्रियसखि' यह प्रियसखि शब्द की व्युत्पत्ति है। अर्थात् जिस कुल को मित्र प्यारा हो, वह कुल 'प्रियसखि' कहलायेगा। 'प्रियसखि' शब्द से सर्वनामस्थान जस् में संख्युर–' से णिद्वद्भाव होने से 'अचो–' से अंग को वद्धि प्राप्त होती है और नुम् भी। इस वार्तिक से नुम् पहले हुआ तो 'प्रियसखीनि' रूप बना।

औत्व की अपेक्षा नुम् की प्रबलता का उदाहरण–'वारिणि' है। वारि शब्द की सप्तमी के एकवचन में 'वारि+इ' इस अवस्था में 'अच्च घेः' से 'ङि' को औत्व और 'इकोचि विभक्तौ' से अंग को नुम् प्राप्त होने पर 'वद्धयौ–' वार्तिक से पहले 'नुम्' हुआ। अतएव 'वारिणे' रूप बना।

तज्वद्भाव की अपेक्षा नुम् की प्रबलता का उदाहरण–'प्रियक्रोष्टूनि' है। इस की भी व्युत्पत्ति 'प्रियसखि' शब्द के समान है। यहां पर जस् और शस् में तज्वद्भाव अैर नुम् दोनों प्राप्त है। वार्तिक से नुम् पहले हुआ।

वारिणः–प्चमी और षष्ठी के एकवचन का रूप है। यहां भी 'घेर्ङिति' से गुण की अपेक्षा 'नुम्' पूर्वविप्रतिषेध से हुआ।

वारिणोः–षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन का रूप है। यह रूप भी पूर्ववत् बनता है।

वारीणाम्–षष्ठी के बहुबन में 'वारि+आम्' इस अवस्था में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से आम् को नुट् और 'इकोचि विभक्तौ' से अङ्ग को 'नुम्' आगम प्राप्त हुआ। 'नुम्–अचिर तज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधन' वार्तिक के द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से 'नुट्' पहले हुआ। तब 'नामि' से दीर्घ और नकार को णत्व होकर रूप सिद्ध हो गया।

यद्यपि 'नुम्' होने पर भी 'नुट्' के समान नकार ही रहता है, तथापि 'नुम्' अङ्ग का अवयव होता है, 'आम्' का नहीं, अतः 'नाम्' पर न मिलने से 'नाभि' से दीर्घ नहीं हो सकता, नुम् होने से 'वारिन्' आदि अङ्ग नकारान्त बन जाता है, ह्रस्वान्त नहीं रहता। 'नुट्' आम् को होता है, अतः वह 'आम्' का अवयव बनता है, फलस्वरूप 'नाम्' भी परे मिल जाता है। और अङ्ग ह्रस्वान्त ही रह जाता है, जिससे कि अङ्ग को दीर्घ हो जाता हैं दोनों का नकार मात्र रहने पर भी यह अन्तर बना रहता है। इसलिये नुम् की अपेक्षा नुट् की प्रबलता का सफल विधान किया

गया है निष्फल नहीं।

इसी प्रकार सभी इकारान्त नपुंसकलिंग शब्दों के रूप बनेंगे।

अस्थि दधि-सक्थ्यक्षणा मनङुदात्तः 7.1.75

एषामनङ् स्यात् टादावचि।

व्याख्याः अस्थि (हड्डी), दधि (दही), सक्थि (ऊरु जंघा) और अक्षि (आँख) शब्दों को अनङ् आदेश हो टा आदि अजादि विभिक्ति परे रहते।

दधि शब्द के रूप प्रथमा, संबोधन और द्वितीया में तो 'वारि' शब्द के समान ही बनेंगे। टा में प्रकृत सूत्र से अनङ् आदेश होने पर 'दध् अन् आ' ऐसी स्थिति बनती है।

अल्लोपोनः 6.4.134

अङ्गावयवोसर्वनामस्थान-यजादि [1]—स्वादिपरो योन् तस्याकारस्य लोप। दघ्ना दघ्नः 2 दघ्नोः2।

व्याख्याः अंग का अवयव और सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि तथा अजादि प्रत्यय पर हो जिससे, ऐसा जो अन् उसके अकार का लोप हो।

'दध्ना—दध् अन् आ' इस दशा में सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय टा परे होने से अङ्गावयव अन् के अकार का लोप होकर 'दध्ना' रूप बन गया ।

दध्ने—'दधि+ए' यहां अनङ् आदेश होने पर प्रकृत सूत्र से अन् के अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

दध्नः—ङसि और ङस् में पूर्ववत् अनज आदेश तथा अकार का लोप होने पर उक्त रूप बनता है।

दध्नोः—यह रूप ओस् में पूर्वोक्त प्रकार से ही सिद्ध होता है।

विभाषा ङि-श्योः 6.4.136

अङ्गावयवोसर्वनामस्थानपरो योन्, तस्याकारस्य लोपो वा स्यात्, ङिश्यो परयोः। दध्नि, :दधनि। शेषं वारिवत्। एवमस्थिसक्थि-अक्षि।

व्याख्याः अन् अङ्ग का अवयव हो और सर्वनामस्थान प्रत्यय जिससे परे न हो,उस अन् के अकार का विकल्प से लोप हो ङि और शि परे रहते।

दध्नि—सप्तमी के एकवचन में अनङ् आदेश होने पर 'दध् अन् इ' इस दशा में अन् के अकार का प्रकृत सूत्र से विकल्प से लोप हुआ। तब 'दध्नि' रूप बना। लोपाभाव पक्ष में दधनि।

शेषमिति—दधि शब्द के शेष रूप वारि शब्द के समान सिद्ध होंगे।

एवमिति—इसी प्रकार अस्थि, सक्थि और अक्षि शब्द के भी रूप बनेंगे।

अस्थि, अस्थिनी, अस्थीनि, हे अस्थि, हे अस्थे। अस्थ्ना। अस्थ्ने। अस्थनः2। अस्थ्नाम्। अस्थ्नि, अस्थनि। सक्थि, सक्थिनी, सक्थीनि। हे सक्थि, हे सक्थे। सक्थ्ना। सक्थ्ने। सक्थ्नः2। सक्थ्नोः2। सक्थ्नाम्। सक्थ्नि, सक्थनि। अक्षि, अक्षिणी, अक्षीणि। हे अक्षि, हे अक्षे। अक्ष्णा। अक्ष्णे। अक्ष्णः2। अक्ष्णोः। अक्ष्णाम्। अक्ष्णि, अक्षणि।

इकरान्त शब्द समाप्त।

दीर्घ ईकारान्त शब्द

दीर्घ ईकारान्त शब्द भी 'हस्वो नपुंसके प्रातिपादिकस्य' सूत्र से हस्व हो जाने के कारण हस्वान्त ही बन जाते हैं। पहले भी कहा जा चुका है कि नपुंसकलिंग में शब्द दीर्घान्त नहीं रह पाता। अतएव हस्वान्त होने से दीर्घ ईकारान्त शब्दों के रूप भी 'वारि' शब्द के समान ही सिद्ध होगे।

ततीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य 7.1.74

प्रवत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तंक्लीबं पुंवद् वा टादावचि। सुधिया, सुधिनेत्यादि। मधु, मधुनी, मधूनि।

सुलु, सुलुनी, सुलूनि। सुल्वा, सुलुना। धात, धातणी, धातणि। हे धातः, हे धात। धात्रा, धातणा। धातृणाम् एवं ज्ञात आदयः।

व्याख्याः **ततीयादिष्विति**— प्रवत्तिनिमित्त एक होते हुए जो शब्द पुंस्त्वको रहता हो अर्थात् जो शब्द पुंल्लिङ्ग में भी प्रयुक्त होता हो—उस इगन्त नपुंसकलिङ्ग शब्द को पुंवद्भाव हो अर्थात् पुंल्लिङ्ग के समान कार्य हो, टा आदि अजादि विभक्ति परे रहते।

प्रवत्तिनिमित्त कहते हैं, शब्द के प्रयोग के कारण को, जिस निमित्त से शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् अर्थ।

भाषितपुंस्क—उस शब्द को कहते हैं जिसका प्रयोग पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों जगह हो और प्रवत्तिनिमित्त—अर्थ भी दोनों लिङ्गों में समान हो।

निम्नलिखित कारिका में भाषितपुंस्क की परिभाषा और उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण द्वारा बहुत स्पष्ट किया गया है—

यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्त्तते।
क्लीबवत्तौ तदेव स्यादुक्तपुंस्क तदुच्यते।
पीलुर्वक्षः फलं पीलु 'पीलुने' न तु 'पीलवे'
वक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः। इति।

अर्थात्—जिस निमित्त (अर्थ) को लेकर पुंल्लिङ्ग में शब्द प्रवत्त होता है, यदि नुपंसकलिङ्ग में प्रवत्ति का भी वही निमित्त (अर्थ) हो तो उस शब्द को भाषितपुंस्क कहा जाता है। पीलु वक्ष को भी कहते हैं और उसके फल को भी। अतः पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होने पर भी दोनों का प्रवत्तिनिमित्त (अर्थ) भिन्न होने से यह शब्द भाषितुंस्क नही। अतएव फल अर्थ में नपुंसकलिङ्ग में—पीलुने' यही रूप बनेगा, पुंल्लिङ्ग का जैसा—'पीलवे' नहीं। पीलु शब्द की वक्ष अर्थ में प्रवत्ति का निमित्त पीलुत्व है और फल अर्थ में तज्जत्व अर्थात् पीलुजत्व है।

सुधीशब्द पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों जगह प्रयुक्त होता है और दोनों स्थलों में इसका प्रवत्तिनिमित्त—अर्थ—अच्छी बुद्धिवाला है। अतः यह भाषितपुंस्क शब्द है इसको पुंवद्भाव होगा। पुंवदभाव होने से पुंल्लिङ्ग के जैसे रूप भी बनेंगे।

गालव के मत में पुंवद्भाव होता है, पाणिनि के मत में नहीं, अतः विकल्प फलित होता है। अतएव दो—दो रूप बनेंगे।

सुधिया—टा में 'सुधि आ' इस अवस्था में पुंवद्भाव होने पर 'अचि श्नु—' सूत्र से इयङ् होकर रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में 'नुम्' होकर 'सुधिना' रूप बनता है।

टा आदि अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार पुंवद्भावपक्ष में इयङ्, आदेश और पक्ष में नुम् होकर रूप सिद्ध होंगे।

प्र.	सुधि,	सुधिनी,	सुधीनि।	द्वि.	सुधि,	''	''।
सं.	हे सुधि, हे सुधे	हे ''	हे'' ।	त	सुधिया, सुधिना,	सुधिभ्याम्,	सुधिभिः।
च.	सुधिये, सुधिने,	सुधिभ्याम्,	सुधिभ्यः।	ष.	''	सुधियोः, सुधिनोः,	सुधीनाम् ।
पं.	सुधियः, सुधिनः,	''	'' ।	सं.	सुधियि, सुधिनि,	''	सुधिषु ।

'अनादि' और 'प्रधी' आदि भाषितपुंस्क शब्दों के भी रूप इसी प्रकार पुंवद्भाव होकर सिद्ध होंगे।

(दीर्घ ईकारान्त शब्द समाप्त)

उकारान्त शब्द

मधु—मधु (शहद) के प्रथमा के एकवचन में 'स्वमोर्नपुंसकात्' से सु का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

मधुनी—औ को 'शी' आदेश और नुम् होकर रूप बना।

मधूनि—जस् शस् को 'शि' आदेश, नुम् उपधादीर्घ होकर रूप बना।

(उकारान्त शब्द समाप्त)

दीर्घ ऊकारान्त शब्द

सुलु—सुलू (अच्छा काटने वाला) शब्द को सर्वप्रथम 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' सूत्र से ह्रस्व हुआ। तब ह्रस्व शब्द बना। अतः 'मधु' शब्द के समान ही रूप बनेंगे।

सुलुनी—प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'मधुनी' के समान सिद्ध होगा।

सुलूनि—प्रथमा और द्वितीया के बहुवचन में 'मधूनि' के समान सिद्ध होता है।

इस शब्द का 'अच्छा काटनेवाला' अर्थ—प्रवत्तिनिमित्त पुंल्लिङ् और नपुंसकल्लिङ्ग दोनों लिङ्गों में एक है, अतः यह भाषितपुंस्क है। अतएव ततीयादि अजादि विभक्ति परे रहते पुंवद्भाव होगा। पुंवद्भावपक्ष में 'ओ सुपि' से यण् और अभावपक्ष में 'नुम्' आगम होकर रूप सिद्ध होगा।

सुल्वा—टा में पुंवद्भाव होने पर 'ओः सुपि' से यण् होकर रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में नुम् होकर 'सुलुना' रूप सिद्ध होगा।

प्र.	सुलु,	सुलुनी,	सुलूनि।	च.	सुल्वे, सुलुने,	सुलुभ्याम,	सुलुभ्यः।
सं.	हे सुलु, हे सुलो,	हे "	हे " ।	पं.	सुल्वः, सुलुनः,,	"	" ।
द्वि.	सुलु,	"	" ।	ष.	"	सुल्वोः, सुलुनीः,	सुलूनाम्।
त	सुल्वा, सुलुना,	सुलुभ्याम्,	सुलुभिः।	स.	सुल्वि, सुलुनि,	"	सुलुषि ।

इसी प्रकार अन्य सभी भाषितपुंस्क दीर्घ ऊकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों के रूप सिद्ध होंगे।

(दीर्घ ऊकारान्त शब्द समाप्त)

ऋकारान्त शब्द

धात— (धारण करने वाला)—धात शब्द के सु और अम् का लोप होकर यह रूप सिद्ध होता है।

धातणी— 'औ' को शी आदेश, नुम्, णत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

धातृणि—जस् और शस् को 'शि' आदेश, 'शि की सर्वनामस्थान संज्ञा, नुम् और उपधादीर्घ कार्य होने पर णत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

हे धातः—अर् गुण सु का लोप और रेफ को विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में 'हे धात'।

धात शब्द का प्रवत्तिनिमित्त— अर्थ—'धारण करनेवाला' पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों में एक है—अतः भाषितपुंस्क होने के कारण ततीयादि अजादि विभक्तियों में पुंवद्भाव होकर दो—दो रूप बनेंगे।

धात्रा—टा में पुंवद्भाव पक्ष में यण् होकर रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में नुम् और णत्व होकर धातणा रूप बना।

धातणाम्— आम् में पुंवद्भाव में नुट् होकर रूप बनता है—पक्ष में भी 'नुमचिरतज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' से नुम् की अपेक्षा प्रबल होने से नुट् होकर यही रूप बनता है।

प्र.	धात	धातणी	धातृणि।	च.	धात्रे धातणे	धातभ्याम्	धातभ्यः।
सं.	हे धातः	हे "	हे "।	पं.	धातुः धातणः	"	"।
द्वि.	धात	"	"।	ष.	"	धात्रोः धातणोः	धातणाम्।
त	धात्रा धातणा	धातभ्याम्	धातभिः।	स.	धातरि धातणि	"	धातषु।

इसी प्रकार ज्ञात (जाननेवाला), कर्त (करनेवाला), हर्त (ले जाने वाला) जेत (जीतने वाला), और दात (देनेवाला) आदि तन्नन्त और तजन्त शब्दों के रूप भी बनेंगे। दोनों लिङ्गों में एक प्रवत्तिनिमित्त—अर्थ—होने से ये भाषितपुंस्क हैं।

(ऋकारान्त शब्द समाप्त।)

ओकारान्त शब्द

एच इग् हस्वादेशे 1.1.48

आदिश्यामानेषु हस्वेषु मध्ये एच इगेव स्यात्। प्रद्यु, प्रद्युनी, प्रद्यूनि। प्रद्युनेत्यादि। प्ररि, प्ररिणी, प्ररीणि। प्ररिणा। एकदेशविकृतमनन्यवत्। प्रराभ्याम्। सुनु, सुनुनी, सुनूनि। सुनुनेत्यादि। इति अजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

व्याख्याः जब हस्व आदेश का विधान हो, तब एच् के स्थान में इक् ही हो अर्थात् एकार और ऐकार के स्थान में इकार तथा ओकार और औकार के स्थान में उकार आदेश हों।

'हस्वो नंपुसके प्रातिपदिकस्य' सूत्र से एजन्त शब्दों को हस्व प्राप्त होता है, पर हस्व हौन हो? इसका निर्णय नहीं, क्योंकि एचों के अपने हस्व वर्ण तो है नहीं, 'एचामपि द्वादश, तेषां हस्वाभावात्' यह पहले कहा गया है। ये एच् संयुक्त स्वर हैं अर्थात् दो—दो स्वर मिल कर बने हैं। अकार और इकार के संयोग से एकार—ऐकार तथा अकार और उकार के संयोग से ओकार—औकार बने हैं। तब एचों की अकार और इकार तथा उकार हस्व प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में 'एचः—' सूत्र नियम करता है कि इकार और उकार ही हस्व हों, अवर्ण कभी न हों।

ओकारन्त प्रद्यो (प्रकृष्टा द्यौः यस्मिन्, दिने, सुन्दर आकाशवाला दिन)—शब्द को 'हस्वो—'से हस्व उकार हुआ। तब 'प्रद्यु' बन जाने से 'मधु' शब्द के समान रूप सिद्ध होंगे। इसीलिये 'प्रद्यु, प्रद्युनी, प्रद्यूनि' रूप बने।

प्रद्युना—ततीया के एकवचन टा में 'इकोचि विभक्तौ' से नुम् होकर रूप सिद्ध हुआ।

यद्यपि 'सुन्दर आकाशवाला' यह प्रवत्तिनिमित्त—अर्थ—दोनों लिङ्गों में एक होने से इसे भाषितपुस्क कहा जायेगा, पर पुंवद्भाव नहीं होगा, क्योंकि पुंवद्भाव भाषितपुंस्क इगन्त अङ्ग को होता है। यहां जो 'प्रद्यो' शब्द भाषितपुंस्क है, वह इगन्त नहीं और जो 'प्रद्यु' शब्द इगन्त है, वह भाषितपुंस्क नहीं, क्योंकि हस्वान्त 'प्रद्यु' शब्द केवल नंपुसक ही है, पुंल्लिङ्ग नहीं, पुंल्लिङ्ग में हस्व नहीं होता, शब्द ओकारान्त ही रहता हैं भाषितपुंस्कत्व के लिये शब्द का प्रयोग पुंल्लिङ्ग में भी होना आवश्यक है। 'भाषितपुंस्क' अन्वर्थ संज्ञा है—'भाषितः पुमान् येन' अर्थात् जिस शब्द ने पुल्लिंग को कहा हो और तब नपुंसक को कहता हो, अतः 'प्रद्यु' शब्द के भाषितपुंस्क न होने से पुंवद्भाव नही होता।

प्र.	प्रद्यु,	प्रद्युनी,	प्रद्यूनी।	च.	प्रद्युने	प्रद्युभ्याम्,	प्रद्युभ्यः ।
सं.	हे प्रद्यु, हे प्रद्यो	हे ''	हे '' ।	पं.	प्रद्युनः,	''	'' ।
द्वि.	''	''	'' ।	ष.	''	प्रद्युनोः,	प्रद्यूनाम् ।
त.	प्रद्युना,	प्रद्युभ्याम्,	प्रद्युभिः।	स.	प्रद्युनि,	''	प्रद्युषु ।

ऐकारान्त शब्द

प्रै (अधिक धनवाला–कुल) शब्द में ह्रस्व होकर 'प्रि' बन जाने पर वारि शब्द के समान रूप सिद्ध होगे।

[1]**प्रि**–ह्रस्व और सु का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

प्रिणी–शी आदेश, नुम् णत्व कार्य करने पर रूप सिद्ध होता है।

प्रीणि–शि आदेश, सर्वनामस्थान संज्ञा, नुम्, उपधादीर्घ और णत्व कार्य होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

यहां भी 'प्रद्यु' के समान पुंवद्भाव नहीं होता।

एकदेशेति–ऐकार को ह्रस्व इकार होने से यद्यपि एक अवयव में यहां विकार हुआ है, तो भी यह 'रै' शब्द ही रहेगा, भिन्न नहीं होगा।

प्राभ्याम्–ह्रस्व होने पर 'प्रि' शब्द में पूर्वोक्त एकदेशविकृतन्याय से रै शब्द है। अतः 'रायो हलि' से ऐकार को आकार होकर रूप सिद्ध हुआ

हलादि विभक्तियों में सर्वत्र आत्व हो जायेगा।

प्र.	प्रि	प्रिणी,	प्रीणि।	च.	प्रिणे,	प्राभ्याम,	प्राम्यः।
सं.	हे '' हे प्रे	हे ''	हे '' ।	पं.	प्रिणः	''	'' ।
द्वि.	प्रि	''	'' ।	ष.	''	प्रिणोः	प्रीणाम् ।
त	प्रिणा,	प्राभ्याम्,	प्रामिः।	स.	प्रिणि	''	प्रासु ।

(ऐकारान्त शब्द समाप्त।)

औकारान्त शब्द

सुनौ–(शोभना नौः यस्य कुलस्य तत्, अच्छी नाववाला कुल) शब्द में सर्वप्रथम ह्रस्व हो जायेग। तब रूप 'मधु' शब्द के समान सिद्ध होंगे।

(घ) अथ हलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्

हकारान्त शब्द

हो ढः 8.2.21

हस्य ढः स्याद् झलि पदान्ते च। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः लिड्भ्याम् लिट्त्सु-लिट्सु।

व्याख्याः हकार को ढकार होता है झल् परे रहते और पदान्त में।

लिह् (चाटनेवाला शब्द)

लिट्, लिड्—प्रथमा के एकवचन में 'लिह्+स्' इस अवस्था में हल्ङया–' से अपक्त सकार का लोप होता है। तदनन्तर पदान्त होने से हकार को प्रकृत सूत्र से ढकार हुआ। ढकार को झलां–' से डकार और अवसान डकार को वाव–' से टकार विकल्प से हुआ, अतः लिट् लिड् दो रूप बने।

लिहौ—प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन का रूप है। हकार 'औ' से मिल जाता है। विशेष कोई कार्य नहीं करता।

लिहः—प्रथमा के बहुवचन में 'लिह् अस्' इस दशा में केवल इतना कार्य होता है कि सकार को रु और रेफ को विसर्ग। शस् ङसि और ङस् में भी यही रूप बनता है।

लिड्भ्याम्—यह रूप ततीया, चतुर्थी, और पचमी के द्विवचन में 'भ्याम्' में सिद्ध होता हैं 'लिह् भ्याम्' इस दशा में झल् मकार परे होने से हो ढः' से हकार को ढकार और झलां–' सूत्र से ढ को डकार हुआ।

लिटत्सु, लिट्सु—सप्तमी के बहुवचन में 'लिह् सु' इस दशा में हकार को ढकार और ढकार को डकार होने पर 'लिड्+सु' इस दशा में 'डः सि–' से घुट् आगम और 'खरि च' सूत्र से धकार को चर् तकार और उसके परे रहते पूर्व डकार को टकार हुआ। तब 'लिट्त्सु' रूप बना। घुट् के अभाव पक्ष में—डकार के स्थान में चर् रकार 'खरि च' सूत्र से होकर 'लिट्सु' रूप बना।

प्र. (लिट् लिड्) लिहौ, लिहः ।	च. लिहे, लिड्भ्याम्, लिड्भ्यः।
मं. हे '' हे '' हे '' ।	पं. लिहः, '' '' ।
द्वि. लिहम् '' '' ।	प. '' लिहोः लिहाम्।
त. लिहा, लिड्भ्याम्, लिड्भिः।	स. लिहि, '' (लिट्त्सु लिट्सु)।

हलन्त शब्दों के रूप बनाने में ध्यान रखना चाहिए कि अजादि विभक्यिों में प्रायः कोई कार्य विशेष नहीं करना पड़ता। शब्द के साथ विभक्ति को जोड़ देना मात्र होता है। जिन विभक्तियों के अन्त में सकार है उनमें सकार के स्थान में विसर्ग हो जाते हैं।

हलादि विभक्तियों में कुछ कार्य होता है अर्थात् सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् इन पांच स्थलों में ही रूप बनाने पड़ते हैं। इसमें भी सु और सुप् में विशेष कार्य करना पड़ता है, शेष में सामान्य। अतः हलन्त शब्दों

1. 'हयवरट्' आदि के क्रम से ही यहां हकारान्त आदि शब्द बताये जा रहे हैं। हलन्तपुंल्लिङ्ग मे हल् प्रत्याहारका ही क्रम रखा गया है। अतः हकारान्त के बाद यकारान्त, वकारान्त, रेफान्त आदि क्रम से शब्द आयेंगे। यकारान्त शब्द होते ही नहीं। इसलिये हकारान्त शब्दों के बाद वकारन्त शब्द दिखाये जायेंगे।

के सु और सुप् के रूपों पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। भ्याम्, भिस् और भ्यस् में साधन–प्रक्रिया समान ही होती है।

प्रायः सभी हकारान्त पुंल्लिग शब्दों के रूप 'लिड्' शब्द के समान ही बनेंगे। जिनमें कुछ अन्तर है वे आगे बताये जा रहे हैं।

दादेर्धातोर्घः 8.2.32

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्घातोर्हस्य घः।

व्याख्याः उपदेश में दकारादि धातु के हकार का घकार आदेश हो झल् परे रहते और पदान्त में।

दुह् (दुहनेवाला) शब्द। 'दुह्' यह धातु उपदेश में दकारादि है। अपक्त सकार का लोप होने के अनन्तर पदान्त होने से हकार को घकार हो गया। तब 'दुघ्' बना।

एकाचो वशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः 8.2.37

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य वशो भष्, से ध्वे पदान्ते च। धुक् धुग् दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम् धुक्षु।

व्याख्याः धातु के अवयव झषन्त एकाच् के वश् के स्थान में भष् आदेश हो, सकार और ध्व परे रहते तथा पदान्त में।

धुक् धुग्–'दुघ्' यह झष् घकारान्त है। यह स्वयं धातु है, धातु का अवयव व्यवदेशिवद्भाव[1] से है, यह एकाच् भी है। पदान्त होने से इसके वश् दकार को अत्यन्त सादश्य के कारण (आन्तरतम्य से) घकार भष् हुआ। तब 'धुघ्' बना। तदन्तर 'झलां जशोन्ते' सूत्र से घकार को गकार और अवसान होने से गकार को 'वावसाने' से विकल्प से ककार होकर दो रूप बने–धुक् और धुग्।

धुग्भ्याम–भ्याम् में भकार झल् परे है, अतः भष्भाव से दकार के स्थान में धकार और धकार के स्थान में जश्त्व से गकार हो जाने से 'धुग्भ्याम्' बना।

धुक्षु–सुप् में सकार परे है। अतः भ्ष्भाव से दकार को घकार और धकार को जश्त्व से गकार हुआ। तब 'खरि च' से खर् शकार परे होने से गकार को चर् ककार हुआ। तदन्तर कवर्ग से पर प्रत्यय 'सु' के सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से मूर्धन्य षकार और क् और ष् के संयोग से क्ष बनकर 'घुक्षु' रूप सिद्ध हुआ।

ध्यान रहे कि भष्भाव से पहले हकार को घकार करना चाहिये। अन्यथा झषन्त नहीं हो सकेगा।

प्र. धुक्' धुग्, दुहौ, दुहः।	च. दुहे, धुग्भ्याम्, धुग्भ्यः।
सं. हे '' हे '' हे ''।	पं. दुहः, '' '' ।
द्वि. दुहम् '' '' ।	प. '' दुहोः दुहाम् ।
त. दुहा धुग्भ्याम् धुग्भिः।	स. दुहि, '' धुक्षु ।

वा द्रुह-मुह-ष्णुह्-ष्णिहाम् 8.2.33

एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्; ध्रुट् ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम् ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवं मुक्, मुग् इत्यादि।

द्रुह् (द्रोही) शब्द

व्याख्याः द्रुह्, मुह्, (मुग्ध), ष्णुह् (वमनकारी) और ष्णिह् (स्नेही) इन शब्दों के हकार को धकार विकल्प से हो झल् परे रहते और पदान्त में।

–द्रुह' को दकारादि होने से पूर्वसूत्र 'ददेर्धातोर्घः' से घ प्राप्त था और शेष को अप्राप्त। दोनों को विकल्प से विधान किया। अतः यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है।

---

1. अमुख्य में मुख्य के समान व्यवहार करने को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं।

ध्रुक् ध्रुग्—ये रूप घकार पक्ष के हैं और घकार के अभाव में 'हो ढः' से हकार को ढकार हुआ। वहां भी झषन्त होने से 'एकाचः—' से भष्भाव के द्वारा ध्रुट् और ध्रुड् रूप बने। इस प्रकार 'सु' में चार रूप हुए।

ध्रुग्भ्याम्; ध्रुड्भ्याम्—ये दो रूप गकार और डकार दो पक्षों के हैं।

ध्रुक्षु—सुप् में घकार पक्ष में धकार होने के अनन्तर भष्भाव से दकार को धकार और धकार को चर्त्व से सकार और क से परे मूर्धन्य षकार और क् तथा ष् के संयोग से क्ष होकर 'ध्रुक्षु' रूप सिद्ध हुआ।

ध्रुट्त्सु ध्रुट्सु—घकाराभाव पक्ष में 'हो ढः' सूत्र से ढकार हुआ और उसके स्थान में जश्त्व से डकार आदेश। तब डकार से सकार परे मिल जाने से 'डः सि' सूत्र से वैकल्पिक 'धुट्' आगम। 'खरि च' से पहले धकार को तकार और तब डकार को टकार होकर 'ध्रुट्त्सु' रूप सिद्ध हुआ। धुडभाव पक्ष में डकार को 'खरि च' से टकार होकर ध्रुट्सु'।

प्र.	ध्रुक, ग् ध्रुट् ड्	द्रुहौ, ''	द्रुहः। ''।	च.	द्रुहे	ध्रुग्भ्याम् ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भ्यः । ध्रुडभ्य ।
सं.	हे ''	हे ''	हे ''।	पं.	द्रुहः	''	'' ।
द्वि.	द्रुहम्	''	'' ।	ष.	''	द्रुहोः	द्रुहाम् ।
त	द्रुहा	ध्रुग्भ्याम् ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भिः। ध्रुड्भिः।	सं.	द्रुहि	''	ध्रुक्षु । ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु ।

इसी प्रकार 'मुह्' शब्द के भी रूप बनेंगे। सु—मुक्, मुग्, मुट्, मुड् भ्याम्—मुग्भ्याम्, मुड्भ्याम्। सुप्—मुक्षु, मुट्त्सु, मुट्सु।

ष्णुह् (वमनकारी) शब्द

धात्वादेः षः सः 6.1.64

स्नुक् स्नुग्, स्नुट् स्नुड्। एवं स्निक् स्निग्, स्निट् स्निड् इत्यादि। विश्ववाट् विश्ववाड्। विश्वाहौ। विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ।

व्याख्याः धातु के आदि षकार (मूर्धन्य) को सकार (दन्त्य) आदेश हो।

'ष्णुह्' धातु है। इसके आदि मूर्धन्य षकार को दन्त्य सकार हो गया। तब णकार भी नकार बन गया। षकार से परे होने के कारण ही नकार को 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' णकार हुआ था। जब निमित्त षकार ही न रहा, तब नैमित्तिक कार्य णकार भी न रहेगा, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस परिभाषा के बल से, निमित्त के न हरे पर नैमित्तिक भी नहीं रहता।

स्नुह् के सु में पूर्ववत् चार रूप बने—स्नुक्, स्नुग्; स्नुट्, स्नुड्। 'वा द्रुह' में इसको भी धकार विकल्प से होता है। भ्याम्—स्नुग्भ्याम्, स्नुड्भ्याम। सुप्—स्नुट्त्सु, स्नुट्सु।

इसी प्रकार स्निह् शब्द (स्नेह करनेवाला) के भी रूप बनेंगे। सु—स्निक्, स्निग्, स्निट् स्निड्। भ्याम्—स्निग्भ्याम्, स्निड्भ्याम्। सुप्—स्निक्षु, स्निट्त्सु, स्निट्सु।

विश्ववाह् शब्द

विश्ववाट्, ड् (विश्वं वहति[1] इति विश्ववाह्—संसार को चलानेवाला ईश्वर)—विश्ववाह् शब्द से प्रथमा के एक वचन में 'विश्ववाह्+स्' इस स्थिति में 'हो ढः' से हकार के स्थान में ढकार आदेश होने पर 'झलां जशोन्ते' से ढकार के स्थान में डकार आदेश हुआ। तब 'वावसाने' से डकार को विकल्प से टकार चर आदेश होकर दो रूप सिद्ध हुए।

---

1. 'वहेश्च' सूत्र से 'ण्वि' प्रत्यय होता है जिसका सर्वा पहार लोप हो जाता है।

विश्ववाहौ—आदि रूपों में कोई कार्य नहीं होता।

इग् यणः संप्रसारणम्[1] 1.1.45

यणः स्थाने प्रयुज्मानो य इक् स संप्रसारणसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः यण् के स्थान में प्रयुज्मान जो इक् वह[1] संप्रसारणसंज्ञक हो।

जैसे– अग्रिम 'वाह ऊठ्' सूत्र से 'विश्ववाह्' में वाह् के यण् वकार के स्थान में ऊकार इक् प्रयुक्त होता है, उसकी संप्रसारण संज्ञा होती है।

वाह ऊठ् 6.4.32

भस्य वाहः संप्रसारणम् ऊठ्।

व्याख्याः वाह् शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग के अवयव वाह् शब्द की संप्रसारण–संज्ञक ऊठ् आदेश हो।

ठकार इत्संज्ञक है और 'एत्येधत्यूठ्सु' में स्वरूपपरिचय के लिए भी है।

विश्ववाह् शब्द के शस् में 'विश्ववाह+अस्' इस दिशा में वाह् शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग 'विश्ववाह्' के अवयव वाह् को संप्रसारण ऊठ् हुआ। ऊकार वकार यण् के स्थान में हुआ। तब 'विश्व ऊ आह् अस्' यह स्थिति बनी।

संप्रसारणाच्च 6.1.108

संप्रासारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः। वद्धिः—विश्वौहः—इत्यादि।

व्याख्याः संप्रसारण से परे अच् रहते को एकादेश हो।

विश्वौहः—'विश्व ऊ आह् अस्' यहां संप्रसारण 'ऊ' से अच् आकार परे है पूर्व ऊकार का रूप एकादेश होने से 'आ' न रहा। तब 'विश्व ऊ ह् अस्' ऐसी स्थिति बनी। यहां 'एत्येधत्यूठ्मु' सूत्र से ऊठ् परे होने के कारण अकार और ऊकार की वद्धि औ कार हुई। तब 'विश्वौहस्' बना अन्त में सकार को रु और रकार को विसर्ग होने से ''विश्वौहः'' रूप बना।

आगे अजादि विभक्तियों में भ संज्ञा होने से 'विश्वौहः' के समान संप्रसारण आदि कार्य होकर रूप बनेंगे। हलादि विभक्तियों में हकार को ढकार और ढकार को जश्त्व डकार होकर रूप बनेंगे। सप्तमी के बहुवचन सुप् में 'डः सि धुट्' से वैकल्पिक 'धुट्' आगम भी होगा।

त	विश्वौहा,	विश्ववाड्भ्याम्,	विश्वाड्भिः ।
च.	विश्वौहे,	''	विश्ववाड्भ्यः ।
ष.	''	''	'' ।
स.	विश्वौहि,	''	विश्ववाट्त्सु, विश्वाट्सु ।

1. यहां अन्योन्याश्रय अर्थात्—एक दूसरे का परस्पर आश्रित होना—दोष पड़ता है और 'अन्योन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते' अर्थात् अन्योन्याश्रय कार्य हो नहीं सकते। जब पहला हो तब उसका आश्रित दूसरा हो और जब दूसरा हो तब उसका अश्रित पहला हो। इस दशा में कोई भी कार्य नहीं हो सकता। जैसे प्रकृत में जब इक् के स्थान में यण् का प्रयोग हो तब उसकी संप्रसारणसंज्ञा हो और जब संप्रसारणसंज्ञा हो जाय, तब इक् यण् के स्थान में हो। इस प्रकार यहां 'अन्योन्याश्रय' दोष की आपत्ति आ पड़ती है।

इस दोश का वारण भावी संज्ञा मानकर हो जाता है। अर्थात् ऐसा अभिप्राय संप्रसारणविधायक सूत्रों का समझना चाहिये कि जिस इक् की यण् के स्थान में होने पर संप्रसारणसंज्ञा आगे होगी वह आदेश हो। जैसे 'वाह ऊठ्' सूत्र में—वाह् को वहञ'ऊठ्' होता है जिसकी आगे आदेश होने से अनन्तर संप्रसारणसंज्ञा होगी। इस प्रकार अभिप्राय निकालने से अन्योन्याश्रय दोष नहीं रह जाता। भावी संज्ञा का आश्रय लोक में भी बहुत होता है जैसे—'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय = इस सूत की साड़ी बुनो।' इस वाक्य में पूर्व प्रकार के अन्योन्याश्रय है औरउसका निराकरण भावीसंज्ञा मान लेने से हो जाता है। तथाहि—यदि साड़ी है तब उसको क्या बुनना और यदि अभी बुनना है तो उसे साड़ी कैसे कहा जा सकता है, साड़ी तो बुने जाने पर कहा जायेगा। ऐसी दशा में इस वाक्य का भावी संज्ञा का सहारा लेकर यही अभिप्राय कहा जाता है कि इस बात से वह चीज बुनो, जिसको बुन जाने पर साड़ी कहा जाएगा।

इस प्रकार प्रष्ठवाह् (उद्दण्ड बछड़ा) और भारवाह् (भार उठाने वाला मजदूर) आदि 'वह्' धातु से सिद्ध हुए शब्दों के रूप भी बनेंगे।

चतुरनडुहो राम उदात्तः[1] 7.1.98

अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

व्याख्याः चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् आगम हो सर्वनामस्थान परे रहते।

'आम्' का मकार इत्संज्ञक है। अतएव मित् होने से आम् 'मिद्रचोन्त्यात्परः' परिभाषा से अन्त्य अच् के आगे होगा और उसी समुदाय का अवयव बनेगा।

'अनडुह्+स्' इस दशा में सर्वनामस्थान सु के परे होने से अन्त्य अच् डकारोत्तरवर्ती उकार के आगे 'आम्' आगम हुआ। तब 'अनडु आ ह् स्' यह स्थिति बनी।

सावनडुहः 7.1.82

अस्य नुम् स्यात् सौ परे। अनड्वान्।

व्याख्याः अनडुह् शब्द को नुम् आगम हो सु परे रहते।

'नुम्' के उकार और मकार इत्संज्ञक हैं अतएव मित् होने से नुम् भी अन्त्य अच् के आगे होगा और समुदाय का अवयव बनेगा।

अनड्वान्—'अनडु आह् स्' इस स्थिति में सु परे होने से अनडुह् के अन्त्य अच् आम् के आकार के आगे 'नुम्' आगम हुआ। तब :अनडु आन् ह् स्' यह दशा हुई। उकार को तो यण् वकार हुआ, अपक्त सकार का 'हल्ङ्याबभ्यः–' से लोप और हकार का संयोगान्त लोप होने से **'अनड्वान्'** रूप सिद्ध हुआ।

यहां हकार के लोप होने से 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से नकार का लोप नहीं होता। क्योंकि नकार लोप के प्रति हकार का संयोगान्त लोप असिद्ध है। अतः नकार के पदान्त न होने से लोप नहीं होता।

अम् सम्बुद्धौ 7.1.91

हे अनड्वन्। अनड्वाहौ। अनड्वाहः। अनडुहः। अनडुहा।

व्याख्याः अनडुह् शब्द को अम् आगम हो सम्बुद्धि परे रहते।

'अम्' का मकार भी इत्संज्ञक है। अतएव मित् होने से अम् अन्त्य अच् के आगे होगा और समुदाय का अवयव बनेगा।

हे अवड्वन्—'स्' इस दशा में सम्बुद्धि परे होने से डकारोकारवर्ती उकार के आगे 'अम्' होकर 'अनडु अ ह् स्' यह स्थिति बनी। इसमें 'सावनडुहः' सूत्र से अम् के अकार के आगे नुम् हुआ। तब 'अनडु अ न् ह स्' इस स्थिति में पहले उकार को यण् वकार और तब स् का हल्ङयादि लोप तथा हकार का संयोगान्त लोप होने से 'हे अड्वन्' रूप सिद्ध हुआ।

अनड्वाहः—यह रूप जस् में पूर्वप्रकार से ही सिद्ध होता है।

अनडुहः—यह रूप शस् का है। शस् के सर्वनामस्थान न होने से आम् आगम नहीं हुआ। सकार की रुत्व विसर्ग हुए।

वसु स्रंसु ध्वंस्वनडुहां दः 8.2.71

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात् पदान्ते। अनडुद्भ्याम् इत्यादि। सान्तेति किम्-विद्वान्। पदान्ते किम्-स्रस्तम्, ध्वस्तम्।

व्याख्याः सान्त वसु प्रत्ययान्त, स्रंसु, और अनडुह् शब्दों को दकार आदेश हो पदान्त में।

अनडुद्भ्याम्—'अनडुह्+भ्याम्' इस दशा में हलादि विभक्ति परे होने से 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने– सूत्र से पूर्व 'अनडुह्' की पद संज्ञा है। पदान्त में हकार है, उसको दकार होने से रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार अन्य हलादि विभक्तियों में भी हकार को दकार होगा। सुप् में दकार को 'खरि च' सूत्र से चर् तकार हो जायेगा।

प्र. अनड्वान्, अनड्वाहौ,	अनड्वाहः।	च.	अनडुहे, अनडुद्भ्याम्,		अनडुद्भ्यः।
सं. हेअनड्वन् हे ''	हे '' ।	पं.	अनडुहः,	''	'' ।
द्वि. अनड्वाहम्, ''	'' ।	ष.	''	अनडुहोः,	अनडुहाम्।
त. अनडुहा, अनडुद्भ्याम्,	अनडुद्भिः।	स.	अनडुहि,	''	अनडुत्सु।

सान्त इति—वसु प्रत्यायन्त शब्द सकारान्त जब हो तब दकार होता है ऐसा क्यों कहा?—इसलिये कि 'विद्वान्' में दकार न हो। 'विद्वान्' वसुप्रत्ययान्त तो है सकारान्त नहीं। विद् धातु से वसु प्रत्यय होने से 'विद्वस्' शब्द बनता है।

वसु प्रत्ययान्त शब्द तो सकारान्त रहेगा ही, अतः :सान्त' विशेषण देना निरर्थक है—यह आशय है शङ्का का। उत्तर का अभिप्राय है कि सकार के लोप होने पर वसु प्रत्ययान्तता तो शब्द में रहेगी, पर सान्तता नहीं रह सकती, जैसे—विद्वान् यह पद है। यहां सकार का लोप हो गया है। इसमें वसुप्रत्ययान्तता तो है, पर सान्तता नहीं आ सकती। अतः यहां दकार आदेश नहीं होता।

पदान्ते इति—पदान्त में दकार होता है यह क्यों कहा? इसलिए, कि 'स्रस्तम्' और 'ध्वस्तम्' में दकार न हो जाय। यहां पर 'स्रंसु' और 'ध्वंसु' तो हैं, पर पदान्त नहीं। अतः दकार नहीं होता। ये दोनों रूप 'स्रंसु' और 'ध्वंसु' धातु के 'क्त' प्रत्यय में बनते हैं।

सहेः साडः सः 8.3.56

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः। तुराषाट्, तुराषाड् तुरासाहौ। तुरासाहः। तुराषाड्भ्यामित्यादि। इति हकारान्ताः।

व्याख्याः साड्रूप सह धातु के सकार को मूर्धन्य (षकार) आदेश हो। अर्थात् जब सह का 'साड्' रूप बनेगा। तभी मूर्धन्य होगा।

फलितार्थ यह हुआ कि पदान्त में सह् के सकार को मूर्धन्य हो क्योंकि 'सह' का 'साड्' रूप हलादि विभक्तियों में ही बनता है, वहां पदान्त रहता ही है।

तुराषाट्-ड्—यहां प्रथमा के एकवचन में 'तुरासाह्+सु' इस स्थिति में प्रथम अप्रक्त सकार का लोप होता है, तब पदान्त होने से हकार को 'हो ढः' सूत्र से ढकार और उसको जश्त्व डकार होने पर 'तुरासाड्' बन गया। यहां 'साड्' रूप होने से प्रकृत सूत्र से मूर्धन्य षकार होकर 'तुराषाड्' बनाने पर 'वावसाने' सूत्र से डकार को विकल्प से टकार होकर दो रूप सिद्ध हुए 'तुराषाट्' और 'तुराषाड्'।

तुरासाहौ—औ में कोई कार्य नहीं होता। यहां पदान्त न होने से ढत्व नही होता अतः 'साड्' रूप नहीं बनता। अतएव मूर्धन्य आदेश भी नहीं होता।

इसी प्रकार सभी अजादि विभक्तियों के रूप बनेंगे।

हलादियों में ढकार होगा और 'साड्' रूप बनने से मूर्धन्य भी।

प्र.	तुराषाट् ड्, तुरासाहौ,	तुरासाहः।	च.	तुरासाहे,	तुराषाड्भ्याम्,	तुराषाड्भ्यः।
सं.	हे '' हे ''	हे '' ।	पं.	तुरासाहः,	''	'' ।
द्वि.	तुरासाहम्, ''	'' ।	ष.	''	तुरासाहोः,	तुरासाहाम्।
त	तुरासाहा, तुराषाड्भ्याम्,	तुराषाड्भिः।	स.	तुरासाहि	'' तुराषाट्त्सु,	तुराषाट्षु।

वकारान्त शब्द

दिव औत् 7.1.84

'दिव' इति प्रातिपदिकस्य 'औत्' स्यात् सौ। सुद्यौः। सुदिवौ।

व्याख्याः 'दिव' इस प्रातिपदिक को 'औत्[1]' आदेश हो सुन परे रहते। अलोन्त्यपरिभाषा से दिव् के अन्त्य वर्ण वकार को 'औ' आदेश होगा।

यह सूत्र अङ्गाधिकार का है। अतः 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' परिभाषा से तदन्त का ग्रहण होता है। अतः दिव् शब्दान्त 'सुदिव्' शब्द में भी सूत्र की प्रवत्ति होत है।

सुद्यौः—सुदिव्, शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'सुदिव्'सु' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से अन्त्य वर्ण अकार को औकार आदेश हुआ। तब 'सुदि औ स्' इस स्थिति में इकार को यण् और सकार को रु और रकार को विसर्ग होकर 'सुद्यौः[2]' रूप सिद्ध हुआ।

सुदिवौ—'औ' का रूप है। कोई विशेष कार्य नहीं हुआ।

इसी प्रकार अन्य अजादि विभक्तियों में बिना किसी विशेष कार्य के रूप सिद्ध हाता है।

दिव[6] उत् 6.1.131

द्विवोन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। सुद्युभ्याम्-इत्यादि। इति वकारान्ताः। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः2।

व्याख्याः दिव शब्द को उकार अन्तादेश हो पदान्त में।

सुद्युभ्याम्—'सुदिव्भ्याम्' इस दशा में हलादि भ्याम् विभक्ति परे रहते पूर्व 'सुदिव्' शब्द '164 की स्वादिष्वर्स्वनामस्थाने' सूत्र से पदसंज्ञा है अतः वकार पदान्त है उसको उकार आदेश हुआ। 'सुदि उ भ्याम्' ऐसी स्थिति बन जाने पर यण् होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार सभी हलादि विभक्तियों में रूप सिद्ध होंगे।

प्र. सुद्यौः,	सुदिवौ,	सुदिवः।	च.	सुदिवे,	सुद्युभ्याम्,	सुद्युभ्यः।
सं. हे ''	हे ''	हे ''।	पं.	सुदिवः,	''	''।
द्वि. सुदिवम्	''	''।	ष.	''	सुदिवोः,	सुदिवाम्।
त सुदिवा,	सुद्युभ्याम्,	सुद्युभिः।	स.	सुदिवि,	''	सुद्युषु।

(वकारान्त शब्द समाप्त)

रकारान्त शब्द चतुर्—(चार) शब्द नित्य बहुवचनान्त है। इसलिये इसके रूप केवल बहुवचन में ही बनेंगे।

चत्वारः—जस् में, 'चतुर् अस् इस स्थिति में सर्वनामस्थान में जस् परे होने से 'चतुर्' शब्द को 'चतुरनडुहोरामुदात्तः' सूत्र से अन्त्य अच् तकारोत्तरवर्ती उकार के आगे 'आम्' आगम हुआ। तब 'चतु आ र् अस् ऐसी स्थिति बन जाने पर उकार को यण् वकार करने से और सकार को रुत्व विसर्ग होने से रूप सिद्ध हुआ।

---

1. 'औत्' का तकार उच्चारणार्थ है अर्थात् केवल उच्चारण के लिए इसका प्रयोग है, किसी प्रयोजनविशेष से नहीं। 'उच्चारणार्थानामित्संज्ञालोपाभ्य विनैव निवत्तिः' अर्थात् उच्चारणार्थकों की इत्संज्ञा और लोप किये बिना ही निवत्ति हो जाती है। क्योंकि उच्चारण मात्र उनका प्रयोजन होता है। उसके पूरा हो जाने पर वे स्वयं निवत्त हो जाते हैं। इत्संज्ञा करने की कुछ आवश्यकता नहीं रहती।

2. यहां 'औ' में स्थानिवद्भाव से स्थानी वकार का धर्म हल्त्व लाकर सु का हल्ङ्यादि लोप प्राप्त होता है, पर 'अनल्विधौ' से निषेध हो जाता है। क्योंकि लोप अल्विधि है, इसमें एक अल् ही आश्रय है। अतः निषेध होने से स्थानिवद्भाव न हो सकेगा। अतः हल् से पर न होने के कारण लोप न होकर सु के विसर्ग होंगे।

चतुरः—यह शस् का रूप है। इस में सकार को रुत्व और विसर्ग के अतिरिक्त कुछ कार्य नहीं होता। औट् तक ही सर्वनामस्थान संज्ञा होने से शस् के सर्वनामस्थान संज्ञा के अभाव के कारण यहां 'उ' आगम नहीं हुआ।

चतुर्भिः—भिस् का रूप है। इसमें भी सकार को रुत्व विसर्ग के अतिरिक्त कुछ कार्य विशेष नहीं होता।

चतुर्भ्यः—चतुर्थी और पचमी के बहुवचन का रूप है।

षटचतुर्भ्यश्च 7.1.55

एभ्य आमोनुडागमः।

व्याख्याः षट् संज्ञक और चतुर् शब्द से पर 'आम्' को 'नुट्' आगम हो।

चतुर् शब्द के षष्ठी के बहुवचन में 'चतुर्+आम्' इस दशा में 'नुट्' आगम हुआ। उकार और टकार के इत्संज्ञक होने से लोप हो जाता है। 'चतुर+नाम्' ऐसी स्थिति बनी।

रषाभ्यां नो णः समानषदे 8.4.1

''अचोरहाभ्यां द्वे—'' चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्।

व्याख्याः रेफ और षकार से पर नकार को णकार हो—एक पद में।

चतुर्ण्णाम्—चतुर्णाम्—'चतुर नाम्' यहां एक पद में होने के कारण रकार से पर नकार को णकार हुआ तो 'चतुर् णाम्' बना।

तकारोत्तरवर्ती उकार से पर रेफ है, उससे पर यर् णकार को द्वित्व विकल्प से हुआ। द्वित्व पक्ष में—'चतुर्ण्णाम्' और अभाव पक्ष में 'चतुर्णाम्' रूप बने।

रोः सुपि 8.3.16

रोरेव विसर्गः सुपि। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते।

व्याख्याः सप्तमी के बहुवचन सुप् परे रहते 'रु' के ही रेफ के विसर्ग होते हैं, अन्य रेफ के नहीं।

चतुर् शब्द से सप्तमी के बहुवचन में 'चतुर् सु' इस दशा में खर् सकार के पर होने से रकार को 'खरब—' सूत्र से विसर्ग प्राप्त हैं। उनका प्रकृत नियम से निषेध हो जाता है। क्योंकि यहां 'रु' का रेफ नहीं, स्वाभाविक रेफ है और सुप् परे रहते रु के रेफ को ही विसर्ग होते हैं यह नियम है। अतः यहां विसर्ग नहीं हुए।

षत्वमिति—तब इण् रकार से सकार को, 'आदेश—' सूत्र से मूर्धन्य षकार हुआ।

षस्येति—इसके अनन्तर 'चतुर्षु' ऐसी स्थिति बन जाने पर 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र से तकारोत्तरवर्ती उकार से पर रेफ से पर यर् षकार को द्वित्व प्राप्त हुआ।

शरोचि 8.4.49

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु। इति रकारान्ताः।

व्याख्याः अच् परे रहते शर् को द्वित्व न हो।

'चतुर्षु' में शर् षकार से परे अच् उकार है। अतः प्राप्त द्वित्व का निषेध हो गया। रूप 'चतुर्षु' ही सिद्ध हुआ। रकारान्त शब्द समाप्त।

मकारान्त शब्द

मो नो घातोः 8.2.64

धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते। प्रशान्।

व्याख्याः धातु के मकार को नकार हो पदान्त में।

प्रशान्—'प्रशाम्' शब्द से प्रथमा के एकवचन में 'प्रशाम् स्' इस दशा में अपक्त सकार का 'हल्ङयादि लोप हो जाने से 'प्रशाम्' पद बना। तब धातु के अन्त मकार को नकार होने से 'प्रशान्' रूप सिद्ध हुआ। हलादि विभक्तियों में 'स्वादिषु—' सूत्र से पूर्व की पदसंज्ञा होने से पदान्त मिल जाता है। अतः मकार को नकार होता है।

प्र.	प्रशान्,	प्रशामौ,	प्रशामः।	च.	प्रशामे,	प्रशान्भ्याम्,	प्रशान्भ्यः।
सं.	हे "	हे "	हे "।	प.	प्रशामः,	"	" ।
द्वि.	प्रशामम्	"	" ।	ष.	"	प्रशामोः	प्रशामाम् ।
त	प्रशामा,	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भिः।	स.	प्रशामि,	"	प्रशान्सु ।

'प्रशान्सु' में नकार से पर सकार को 'नश्च' से 'घुट्' का आगम नहीं होता क्योंकि त्रैपादिक होने से नकार विधायक सूत्र 'मो नो धातोः' धुट् के प्रति असिद्ध है।

किमः कः 7.2.103

किमः कः स्याद् विभक्तौ। कः, कौ, के इत्यादि। शेषं सर्ववत्।

व्याख्याः 'किम्' शब्द को 'क' आदेश हो विभक्ति परे रहते।

विभक्ति आने के बाद सब से पहले 'किम्' शब्द को 'क' आदेश हो जाता है। उस से अकारान्त 'क' शब्द बनता है। सर्वदिगण में पाठ होने से 'किम्' शब्द सर्वनाम् है और स्थानिवद्भाव से तत्स्थानिक 'क' भी। अतः सर्वनाम होने से सर्वादि कार्य होंगे। अदन्त बन जाने से इसके रूप नीचे लिखे प्रकार में 'सर्व शब्द के समान बनेंगे।

प्र.	कः	कौ	के ।	पं.	कस्मात्—द्	काभ्याम्	केभ्यः ।
द्वि.	कम्	"	कान् ।	ष.	कस्य	कयोः	केषाम ।
त	केन	काभ्याम्	कैः ।	स.	कस्मिन्	"	केषु ।
च.	कस्मै	"	केभ्यः।				

इदमो मः 7.2.108

सौ। त्यदाद्यत्वापवादः।

व्याख्याः 'इदम्' शब्द के मकार को मकार ही होता है सु परे रहते।

त्यादाद्यत्वेति—'192 त्यदादीनामः' से प्राप्त अकार का यह—मकार को मकार विधान—बाधक है। अन्यथा मकार को मकार विधान निष्फल हो जायेगा। अतः 'इदम + स' इस दशा मे मकार को मकार ही रहा, अकार नहीं हुआ।

इदोय पुंसि 8.2.111

इदम इदोय् सौ पुंसि। अयम् त्यादद्यत्वे—

व्याख्याः 'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग को 'अय्' आदेश हो सु परे रहते पुंल्लिङ्ग में।

अयम्—'इदम् + स्' यहां 'इद्' भाग को 'अय्' आदेश होने से 'अय् अम् स्' यह स्थिति बनी। इसमें 'हल्ङ्याब्भ्यः—' सूत्र से अपक्त सकार का लोप होने से 'अयम्' रूप सिद्ध हआ।

त्यादाद्यत्व इति—द्विवचन में 'इदम् + औ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' सूत्र से मकार को अकार हो गया। तब 'इद अ + औ' ऐसी स्थिति हुई।

अतो गुणे 6.1.97

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः।

व्याख्या: पदान्तभिन्न ह्रस्व अकार से गुण (अ, ए, ओ) परे रहते पररूप एकादेश हो।

'इद अ + औ' यहां अपदान्त दकारोत्तरवर्ती अकारसे गुण अकार परे होने से पूर्व पर के स्थान में पर अकार रूप एकादेश हुआ। तब 'इद + औ' यह स्थिति हुई।

दश्च 7.2.109

इदमो दस्य मः स्याद् विभक्तौ। इमौ, इमे। त्यादादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः।

व्याख्या: इदम् शब्द के दकार को मकार हो विभक्ति परे रहते।

इमौ–'इद+औ' इस स्थित में विभक्ति 'औ' परे होने से दकार को मकार हुआ। तब 'इम+औ' इस स्थिति के बन जाने पर 'वद्धिरेचि' सूत्र से प्राप्त वद्धि का 'प्रथमयोः–' सूत्र पूर्वसवर्णदीर्घ द्वारा बाध और 'नादिचि' सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होने पर पुनः 'वद्धिरेचि' सूत्र से वद्धि होकर 'इमौ' रूप बना।

इमे–'इदम्+अस' यहां 'त्यादादीनामः' सूत्र से मकार को अकार आदेश, 'अतो गुणे' सूत्र से दकारोत्तरवर्ती अकार और 'अम्' के अकार के स्थान में पर अकार रूप एकादेश, 'दश्च' सूत्र से दकार को मकार आदेश होने से 'इम+अस्' ऐसी स्थिति हो जाने पर अकारान्त बन जाने से अदन्त सर्वनाम 'इम' से परे 'जस्' को 'जसः शी' सूत्र से 'शी' आदेश शकार की इत्संज्ञा लोप अकार और ईकार के स्थान में एकार गुण एकादेश हो जाने से 'इमे' रूप सिद्ध हुआ

त्यादादेरिति–त्यादादियों का सम्बोधन नहीं होता, वह सामान्य नियम है अर्थात् सम्बोधन विभक्ति में त्यादादियों का प्रयोग नहीं होता। इसका कारण सामान्य ही है अर्थात् इनके द्वारा संबोधन असंभव[1] है।

द्वितीया–इमम्, इमौ, इमान्। इनकी सिद्धि भी पूर्ववत् होगी। त्यदत्व से अकारान्त बन जाने पर 'सर्व' शब्द के समान सिद्धि होती है।

अनाप्यकः 7.2.112

अककारस्येदम इदोन् आपि विभक्तौ आबिति प्रत्याहारः। अनेन।

व्याख्या: ककार रहित 'इदम्' के 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हो आप् (टा से लेकर सुप्) विभक्ति परे रहते।

आबिति–'आप्' यह प्रत्याहार है। यह प्रत्याहार 'टा' से लेकर 'सुप्' तक है अर्थात् ततीया विभक्ति से सप्तमी तक।

अनेन–'इदम्+टा' इस दशा में सबसे पहले 'त्यदादीनामः' से मकार को अकार हुआ। तब 'अतो गुणे' से पररूप। 'इद+टा' ऐसी स्थिति बन जाने पर 'दश्च' सूत्र से दकार को मकार प्राप्त हुआ। परन्तु प्रकृत सूत्र से आप विभक्ति 'टा' परे होने से 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हुआ। फिर 'अन+टा' इस स्थिति में अकारान्त होनेसे उसके आगे 'टा' को टाङसि–' सूत्र से 'इन' आदेश हआ। जब 'अन इन' इस स्थिति में गुण हो कर 'अनेन' रूप सिद्ध हुआ।

'भ्याम्' में मकार को त्यदाद्यत्व से अकार और पररूप करने पर 'इदं भ्याम् ऐसी स्थिति बनती है। यहां '276 दश्च' से दकार को मकार और उसको बाधकर '277 अनाप्यकः' से 'इद्' भाग को :अन' आदेश प्राप्त है।

हलि लोपः 7.2.113

अककारस्येदम इदो लोप आपि हलादौ। (प) नानर्थकेलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे।

---

1. क्योंकि सम्बोधन किसी को बुलाने के लिये किया जाता है, उसमें जिसको बुलाना हो उसको अच्छी तरह समझ में आ जाना चाहिये कि मुझे कहा जा रहा है। 'नाम' लेने में अच्छी तरह व्यक्ति समझ जाता है कि मुझे ही कहाजा रहा है। जोर से बुलानेपर दूरस्थित को भी अच्छी तरह बोध हो जाता है। यही सम्बोधन (अच्छी तरह समझाना) है। सम्बोधन का सम्बोधनत्व यही है। त्यादादियों के द्वारा अच्छी तरह समझाना सम्बोधन बिल्कुल असम्भव है। ये तो सर्वनाम है, सब का बोध कराते हैं, किसी व्यक्ति विशेष का नहीं। अतः कोई कैसे समझे कि मेरे लिये ही कहा जा रहा है। 'हे यह' 'हे कौन' कहने से सामान्यतः भी कोई नहीं समझ सकता कि मेरी बुलाहट है, अच्छी तरह समझना तो दूर की बात है। अतः असंभव होने से इनका सम्बोधन विभक्ति में प्रयोग नहीं होता।

व्याख्याः ककाररहित 'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग का लोप हो हलादि आप् विभक्ति परे रहते।

(प) नानर्थके इति— अभ्यास[1] विकार को छोड़कर अनर्थक में अलोन्त्य विधिकी प्रवत्ति नहीं होती अर्थात् जहां षष्ठीनिर्दिष्ट—षष्ठ्यन्तपदवाच्यअर्थवान् हो, वहीं अलोन्त्यपरिभाषा प्रवत्त होता है अन्यत्र—निरर्थक—में नहीं।

प्रकृत में अलोन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् दकार का लोप होना चाहिये था, पर षष्ठ्यन्त पद 'इदः' से बोध्य 'इद्' अर्थवान् नहीं, क्योंकि यह न्याय है कि 'समुदायोर्थवान्, समुदायस्यैकदेशोनर्थकः' अर्थात् समुदाय अर्थवान् होता है, समुदाय का एकदेश—अवयव—तो निरर्थक ही रहता है। इसलिये समन्वय अकारादेश विशिष्ट 'इदम्' अर्थवान् है, 'इद्' भाग नहीं। अतः यहां अलोन्त्यपरिभाषा की प्रवत्ति न होगी, सम्पूर्ण 'इद्' का लोप होगा।

इस सूत्र के द्वारा विहित कार्य को ही व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं।

आद्यन्तवद् एकस्मिन् 1.1.21

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात् 'सुपि च' दीर्घः—आभ्याम्।

व्याख्याः एक वर्ण पर जब कार्य करना हो तो उस वर्ण को आदि भी माना जाता है और अन्तिम भी। प्रकृत 'अभ्यास्' में केवल अकार है, पूर्व में अन्य वर्ण रहते हुए ही इसे अन्त्य कहा जा सकता है। पर इस न्याय से असहाय होने पर भी इसे आदि अन्त दोनों मानकर अदन्त अङ्ग कहा जायेगा। अतः 'सुपि च' से दीर्घ होकर 'आभ्याम्' रूप सिद्ध हुआ। यह व्यपदेशिवद्भाव लोकन्यायसिद्ध है। यथा—देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठ' अर्थात् देवदत्त का एक पुत्र है, उसे ही ज्येष्ठ भी और कनिष्ठ भी कहा जाता है यद्यपि ज्येष्ठत्व तथा कनिष्ठत्व सापेक्ष है, तथापि अमुख्य में भी मुख्य व्यवहार यहां किया जाता है।

नेदमदसोरकोः 7.1.11

अककारयोरिदमदसोभिस ऐस् न। एभिः। अस्मै। एभ्यः। अस्मात्। अस्य। अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। एषु।

व्याख्याः ककाररहित इदम् और अदस् से परे 'भिस्' को 'ऐस्' न हो।

एभिः—'इदम् + भिस्' इस दशा में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर हलादि विभक्ति 'भिस्' पर होने से 'हलि लोपः' सूत्र से 'इद्' भाग का लोप होकर 'अ भिः' यह स्थिति बनी। वहां पूर्ववद् व्यपदेशिवद्भाव से अकार को अदन्त अङ्क मान लेने प 'अतो भिस ऐस्' से 'मिस्' के स्थान में 'ऐस्' आदेश प्राप्त हुआ। उसका प्रकृत सूत्र से निषेध होने के अनन्तर झलादि बहुवचन भिस् परे होने से व्यपदेशिवद्भावेन अदन्त अङ्ग अकारके अन्त्य अकारको 'बहुवचने झल्येत्' से एकार तथा सकार को रुत्व विसर्ग कर देने से 'एभिः'' रूप बना।

अस्मै—'इदम्' +ङे इस दशा में त्यादाद्यत्व और पररूप करने पर अदन्त अङ्ग बन जाने से 'सर्वनाम्नः स्मै' से 'ङे' को 'स्मै' आदेश हुआ। 'स्मै' में 'ङे' का विभक्त्वि धर्म स्थनिवद्भाव से लाकर 'हलि लोपः' सूत्र से 'इद्' भाग का लोप हो जाने पर रूप सिद्ध हुआ।

एभ्यः—'इदम+भ्यस्' इस दशा में त्यादद्यत्व और पररूप होने पर 'इद्' भाग का लोप हुआ। तब व्यपदेशिवद्भाव से अदन्त अङ्ग के अकार को 'बहुवचने—' सूत्र से एकार तथा सकार के स्थान में रु और विसर्ग करने पर रूप सिद्ध हुआ।

अस्मात्—त्यदाद्यत्व, पररूप और ङसि के स्थान में स्मात् आदेश होने पर 'इद्' भाग का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

अस्य—त्यादाद्यत्व और पररूप होने पर अदन्त अङ्ग से पर 'ङस्' को 'स्व' आदेशहुआ तब 'इद्' भाग का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

---

1. इसका फल है 'भ्रत्रामित्' सूत्र से 'पिपर्ति' में अभ्यास के अन्त्य ऋकार को इकार आदेश होना। अन्यथा वहां भी अलोन्त्यपरिभाषा का निषेध ही जाता और तब सम्पूर्ण अभ्यास को इकार आदेश होने लगता।

अनयोः—ओस् से त्यादद्यत्व और पररूप होने पर 'अनाप्यकः' से अजादि विभक्ति ओस परे होने से 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश होकर 'अन ओस्' इस स्थिति में 'ओसि च' से अकार को एकार और उसको 'अय्' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

एषाम्—आम् में त्यादद्यत्व और पररूप करने पर अदन्त अङ्ग हो जाने से आम् को 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' से सुट् आगम हो गया, तब हलादि विभक्ति पर होने से 'इद्' भाग का 'हलि लोपः' सूत्र से लोप और झलादि बहुवचन 'साम्' परे होने से 'बहुवचने–' सूत्र से अकार को एकार आदेश हुआ। तब 'ए' साम्' इस दशा में 'आदेशप्रत्यययोः' से सकार को मूर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

अस्मिन्—सप्तमी के एकवचन में और 'एषु' बहुवचन में पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध होंगे।

ध्यान रहे कि 'इदम्' शब्द में ङे, ङसि, ङस्, ङि और आम् की स्मै, स्मात्, स्य, स्मिन् आदेश और सुट् आगम के अनन्तर हलादि बन जाते हैं। इसलिये इनमें 'हलि लोपः' सूत्र से 'इद्' भाग का लोप हो जाता है, केवल अकार बचा रहता है। 'अनाप्यकः' सूत्र केवल 'टा' और 'ओस' इन दो स्थानों पर लागू होता है। इन्हीं में 'अन् आदेश होता है।

प्र.	अयम्	इमौ	इमे ।	पं.	अस्मात्–द्	आभ्याम्	एभ्यः ।
दि.	इमम्	''	इमान् ।	प.	अस्य	अनयोः	एषाम् ।
त.	अनेन	आभ्याम्	एभिः।	स.	अस्मिन्	''	एषु ।
च.	अस्मै	''	एभ्यः ।				

द्वितीया-टौस्सु—एनः 2.4.34

इदमेतदोरन्वादेशे। किचित् कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम्—अन्वादेशः। यथा—अनेन व्याकरणमत्धीतम्, एनं छन्दोध्यापय। अनयोः पवित्रं कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वम्—इति। एनम्, एनौ, एनान्। एनयोः। इति मकारान्ताः। राजा।

व्याख्याः इदम् ओर एतद् शब्द को अन्वादेश के विषय में 'एन' आदेश हो द्वितीया (सभी वचन), टा और ओस् (षष्टी और सप्तमी के द्विवचन) परे रहते ।

किंचिदिति—किसी कार्य के विधान के लिये जिसका ग्रहण किया गया हो उसका अन्य कार्य विधान के लिये पुनः ग्रहण करना अन्वादेश कहा जाता है।

तात्पर्य यह कि किसी कार्य के संबंध में पहले जिसकी चर्चा की गई हो पुनः अन्य बात के लिए उसी की चर्चा करने का नाम अन्वादेश है।

अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोध्यापय— अर्थात् इसने व्याकरण पढ़ लिया है, इसे वेद पढ़ाइये। यहाँ किसी ने पहले अपने पुत्रादि के संबंध में व्याकरण अध्ययन रूप कार्य का विधान किया, पुनः उसी के विषय में वेद पढ़ाना रूप कार्य के विधान के लिए इसका पुनः ग्रहण किया जा रहा है, अतः दूसरे वाक्य में अन्वादेश है। यहां पुनः ग्रहण किये हुए अर्थात् अन्वादिष्ट के लिये प्रयुक्त 'इदम्' शब्द के स्थान में द्वितीया विभक्ति 'अम्' परे रहते 'एन' आदेश हुआ। अतः 'एनम्' का प्रयोग किया गया है।

अनयोः पवित्र कुलम्, एनयोः प्रभूतं स्वम्—यहां प्रथम वाक्य में कुल की पवित्रता का विधान करने के लिये ग्रहण किये हुये का द्वितीय वाक्य में धन की प्रचुरता का विधान के लिये पुनः उपादान होने के कारण अन्वादेश हो जाने से 'एन' आदेश हुआ।

---

1. अतएव 'इदकम्+भिस्' इस दशा में त्याद्यत्व और पररूप के अनन्तर अदन्त बन जाने से 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश हो जाता हैं ककाररहित न होने से नेदमदसोरकोः से 'ऐस्' आदेश का निषेध नहीं होता। तब 'इदकम्+ऐस्' इस स्थिति में 'इदमोन्वादेशेशनुदात्तस्ततीयादौ' से अन्वादेश में शित् होने से सम्पूर्ण– अकच् सहित–इदम् शब्द के स्थान में 'अश्' आदेश होने पर वद्ध होकर 'ऐः' रूप बनता है। जब अन्वादेश का विषय नहीं होगा तब 'इदकैः' रूप सिद्ध होगा।

एनम् इत्यादि रूप अन्वादेश में 'एन' आदेश करके दिखाये हैं।

(मकारान्त शब्द समाप्त)

नकारान्त शब्द, राजन् (राजा)

राजा—'राजन् स्' इस दशा में 'हल्ङ्याब्भ्यः' से सकार का लोप, नान्त उपधा को 'सर्वनामस्थाने—' से दीर्घ तथा नकार का 'न लोपः— से लोप होने पर यह रूप सिद्ध हुआ।

न ङि-सम्बुद्धयोः 8.2.8

नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्।

व्याख्याः नकार का लोप न हो ङि[1] और सम्बुद्धि परे रहते।

'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से प्राप्त नकारलोप का यह निषेध है।

हे राजन्—यहां सम्बुद्धि होने के कारण प्रकृत सूत्र से नकार लोप का निषेध हुआ।

(वा) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः। ब्रह्मनिष्ठः। राजानौ, राजानः। राज्ञः।

व्याख्याः उत्तर पद है परे जिसके, उस ङि के परे रहते नकारलोप का निषेध नहीं होता अर्थात् नकारलोप हो ही जाता है।

उत्तरपद समास के अन्त्य अवयव को ही कहते हैं—'उत्तरपदं समासचरमावयवे रूढम्'।

ब्रह्मनिष्ठः—ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः। यहां समास होने पर विभक्ति ङि का समास के नियम के अनुसार 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से लोप हो गया। प्रत्ययलक्षण से उसके लाने पर यहां प्राप्त नकारलोप का पूर्व सूत्र से निषेध प्राप्त था, उसका इस वार्तिक से निषेध हो जाने से नकार लोप हो ही गया। यहां उत्तरपद 'निष्ठा' परे है, यह समास का अन्त्य अवयव है।

राजानौ—'राजन् औ' यहां नान्त की उपधा को 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' सूत्र से दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

राजानः—यह जस् का रूप है, नान्तोपधा को दीर्घ हुआ।

राज्ञः—'राजन् शस् (अस्)' इस दशा में 'अल्लोपोनः' अन् के अकार का लोप और चवर्ग जकार के आगे होने से तवर्ग नकार को श्चुत्व ञकार होकर रूप सिद्ध हुआ। 'जञोर्ज्ञः' के अनुसार जकार और नकार के प्रयोग से 'ज्ञ' बन गया।

नलोपः सुप्-स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति 8.2.2

सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोसिद्धः, नात्यत्र-राजाश्व इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वाद्-आत्वम्, एत्वम्, ऐस्त्वं च न। राजभ्याम्, राजभिः। राजभ्यः2। राज्ञि-राजनि। राजसु। यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः।

व्याख्याः सुब्विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि और कृत् प्रत्यय परे रहते तुग्विधि के विषय में ही नकार का लोप असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं।

यद्यपि 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से ही नकारलोप असिद्ध हो जाता है तथापि यह सूत्र 'सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्पते' अर्थात् सिद्ध कार्य के लिये पुनः विधान हो तो वह नियमार्थ होता है'— इस वचन के अनुसार नियम करता है कि 'नलोपो यद्यसिद्धो भवेत् तर्हि सुप्स्वरसंज्ञा—तुग्विधिष्वेव नायन्यत्र' अर्थात् यदि नकार का लोप असिद्ध हो तो सुप्, स्वर, संज्ञा और तुग्विधि में ही हो, अन्यत्र नहीं! इसलिये 'राज्ञः अश्वो राजाश्वः' इत्यादि स्थलों में 'राजन् अश्वः, इस अवस्था में नकार लोप होने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र के प्रति न लोप असिद्ध नहीं होता। क्योंकि यह सूत्र सुबादि विधियों में नहीं आता।

---

1. यद्यपि ङि के अजादि प्रत्यय होने से उसके परे रहते पदान्त नकार वैसे तो कभी नही मिल सकता, पर वेद में 'सुपां सुलुक्—' सूत्र से लोप होने पर 'परमे व्योमन्' आदि स्थल इसके उदाहरण होगे।

सुब्विधि से सुप्नमित्तक और सुप्स्थानिक दोनों प्रकार की विधियां ली जाती हैं। 'सुपि च' से दीर्घ सुप् परे रहते होता है, अतः यह सुप्निमित्तक है और 'अतो भिस् ऐस्' से सुप् भिस् के स्थान में 'ऐस्' आदेश का विधान है, अतः यह सुप्स्थानिक विधि हैं 'वहवचने झल्येत्' भी सुप्निमित्तक विधि होने से सुप्विधि है।

इत्यसिद्धत्वादिति—इस सूत्र से नकारलोप के असिद्ध होने से आत्व, एत्व और ऐस् आदेश नहीं होते।

इसलिए 'न लोपः प्राति'— सूत्र से नकार के लोप होने पर 'राजभ्याम्' में 'सुपि च' से दीर्घ आकार, 'राजभिः' में 'अतो भिस् ऐस्' से भिस् को ऐस् और 'राजभ्यः' तथा 'राजसु' में बहुवचने झल्येत्' से अकार को एकार आदेश नहीं होते।

राज्ञि, राजनि—में 'विभाषा ङिश्योः' सूत्र से विकल्प से अन् के अकार का लोप हुआ। लोपपक्ष में—राज्ञि, अभाव पक्ष में—राजनि।

प्र.	राजा	राजानौ	राजानः।	च.	राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्यः ।
सं.	हे राजन्	हे ''	हे ''।	.	राज्ञः	''	'' ।
द्वि.	राजानम्	''	राज्ञः।	ष.	''	राज्ञोः	राज्ञाम् ।
त	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः।	स.	राज्ञि राजनि	''	राजसु ।

यज्वन् (जो विधिपूर्वक यज्ञ कर चुका हो) शब्द

'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः। 'सुयजोङ्वनिप् 3.2.103।' सूत्र से भूतकाल में ङ्वनिप् प्रत्यय होता है जिसका 'वन्' शेष रहता है।

यज्वन् शब्द के रूप 'राजन्' शब्द के समान ही बनते हैं। केवल इतना अन्तर है कि इसके अन् के अकार का लोप नहीं होता, जो आगे बताया जा रहा है। प्रथमा और सम्बोधन के रूप समान ही हैं—प्र. यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः। सं. हे—यज्वन, हे—यज्वानौ; हे—यज्वानः। द्वि., यज्वानम्—यज्वानौ।

'शस्' में 'अल्लोपोनः' सूत्र से 'अन्' के अकार का लोप प्राप्त होता है, उसी का निषेध अग्रिम सूत्र से होता है।

न संयोगाद् वमन्तात् 6.4.137

वमन्तसंयोगाद् अनोकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा।

व्याख्याः वकारन्त और मकारान्त संयोग से परे अन्' के अकार का लोप न हो।

यज्वनः—द्वितीया के बहुवचन में 'यज्वन्+अस्' इस स्थिति में अकार और वकार का संयोग है और वह संयोग वकारन्त है उससे परे 'अन्' के अकार का लोप नही हआ। तब 'यज्वनः' यही रूप सिद्ध हुआ।

त	यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः।	ष.	यज्वनः	यज्वनोः	यज्वनाम् ।
च.	यज्वने	''	यज्वभ्यः।	स.	यज्वनि	''	यज्वसु ।
पं.	यज्वनः	''	'' ।				

मकारान्त संयोग से परे भी 'अन्' के अकार का लोप नहीं होता—इसका उदाहरण—**'ब्रह्मन्'** शब्द है। इसमें हकार और मकार का संयोग है। अतः संयोग के अन्त में मकार होने से उसके आगे के अन्' के अकार का लोप न होकर 'यज्वन् शब्द के समान ही उसके भी रूप बनते हैं :

ब्रह्मन् शब्द के प्रथम पांच रूप—ब्रह्मा, ब्रह्माणौ, ब्रह्माणः। ब्रह्माणम् ब्रह्माणौ—राजन् शब्द के समान ही सिद्ध होते हैं।

ब्रह्मणः—द्वितीया के. बहुवचन में (ब्रह्मन्+अस्' इस स्थिति में 'अल्लोपोनः' सूत्र से प्राप्त नकार के लोप का मकारन्त संयोग होने से प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया तब सकार के स्थान में रुत्व और विसर्ग तथा नकार के स्था में णकार हो जाने पर रूप सिद्ध हुआ।

ब्रह्मणा—ततीया के एक वचन टा में पूर्ववत् नकार लोप के निषेध होने पर रूप सिद्ध होता है। शेष रूप राजन् के समान बनते हैं।

इन्-हन्-पूषार्यम्णां शौ 6.4.12

एषां शाववेवोपधाया दीर्घो नान्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते।

वत्रहन् (इन्द्र) शब्द

व्याख्याः इन्नन्त (दण्डिन्, वाग्मिन् इत्यादि), हन्, पूषन् (सूर्य) और अर्यमन् (सूर्य) शब्दों को उपधादीर्घ 'शि' परे रहते ही हो, अन्यत्र नहीं।

यह सूत्र नियमार्थ ही है। क्योंकि 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा है, उसके परे रहते 'सर्वनामस्थाने–सूत्र से उपध ाादीर्घ सिद्ध है। अतः सिद्ध होते हुए भी 'शि' परे रहते दीर्घ विधान नियम करता है 'शि' के अतिरिक्त अन्य स्थलों में दीर्घ न हो। इसलिये, दण्डिनौ, वाग्मिनौ, वत्रहणौ, पूषणौ और अर्यम्णौ, इन प्रयोगों में दीर्घ नही ंहोता।

इति निषेध इति—'वत्रहन्+स्' इस दशा में 'सु' परे रहते भी उक्त नियम से उपधादीर्ध का निषेध प्राप्त हुआ।

सौ 6.4.13

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोसम्बुद्धौ सौ। वत्रहा। हे वत्रहन्।

व्याख्याः इन् आदि की उपधा को दीर्घ हो सम्बुद्धि भिन्न सु परे रहते।

'इन्–हन्–' इस पूर्व सूत्र के नियम से प्रतिषिद्ध उपधा दीर्घ का 'सु' प्रत्यय परे रहते प्रकृत सूत्र से विधान किया गया है।

वत्रहा— प्रथमा के एक वचन में 'वत्रहन्+सु' इस स्थिति में 'इन्हन–' नियम से प्रतिषिद्ध उपधा दीर्घ का प्रकृत सूत्र 'सौ' से पुनः विधान हुआ। 'हल्ङ्याब्भ्यः–' सूत्र से अपक्त सकार का और 'न लोपः–' सूत्र से नकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

हे वत्रहन्— सम्बुद्धि में न तो नकार लोप और न उपधादीर्घ ही होता है । क्योंकि दोनों का सम्बुद्धि में निषेध किया गया है।

'औ' परे होने पर 'इन् हन्– सूत्र के नियम से उपधादीर्घ का निषेध हो जाने से 'वत्रहनौ' यह स्थिति हुई।

एकाजुत्तरपदे णः 8.4.12

एकाज् उत्तरपदं यस्य, तस्मिन् समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः। वत्रहणौ।

व्याख्याः जिस समास का उत्तरपद (अन्तिम अवयव) एक अच् वाला हो, उस समास में यदि (णकार के) निमित्त–रेफ और मकार–पूर्वपद (आदि अवयव) में हों, तो उससे परे प्रातिपदिक के अन्त्य नकार, नुम् के नकार और विभक्ति में स्थित नकार को णकार हो।

समास में एकपद (अखण्ड पद) न होने से 'अट्कुप्वाङ्–' सूत्र से णत्व प्राप्त नहीं होता। अतः इस सूत्र से वहां विधान किया गया।

वत्रहणौ— यह प्रथमा के द्विवचन का रूप है। यहां 'वत्रहन्' शब्द में वत्र और हन् का 'उपपदमतिङ्' सूत्र से समास हुआ है। इसमें उत्तरपद 'हन्' है यह एक अच् वाला है। पूर्वपद 'वत्र' है, इसमें निमित्त रेफ है। इस पूर्वपद स्थित निमित्त रेफ से परे प्रातिपदिक 'वत्रहन्' के अन्त्य नकार को णकार हो गया। तब 'वत्रहणौ' रूप सिद्ध हुआ।

जस् में–वत्रहणः। द्वि. वत्रहणम, वत्रहणौ।

---

1. 'वासवा' वत्रहा वषा इत्यमरः, वत्रासुर को मारने वाला। इन्द्र वत्रासुर को मारा था–यह कथा पुराणों में आई है।

नुम् के नकार का उदाहरण—श्रीपाणि। यहां 'नपुंसकस्य झलचः' से नुम् हुआ है।

विभक्तिस्थ नकार का उदाहरण—श्रीपेण, श्रीपाणाम्, इत्यादि। यहां पर 'इन' विभक्ति और 'नाम्' विभक्ति का नकार है।

हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु 7.3.54

ञिति णिति प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वम। वत्रघ्नः। इत्यादि। एवम्—शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन्।

व्याख्याः ञित् और णित् प्रत्यय तथा नकार परे रहते 'हन्' धातु के हकार को कुत्व (कवर्ग) आदेश हो।

वत्रघ्नः— 'वत्रहन्+अस् (शस्)' इस अवस्था में 'अल्लोपोनः' सूत्र से 'अन्' के अकार का लोप हो जाने पर 'वत्र ह् न् अस्' इस स्थिति में नकार परे होने से हन् के हकार को संवार, अघोष अैर महाप्राण यत्न की समानता से कवर्ग घकार हुआ, तब रूप सिद्ध हुआ 'वत्रघ्नः'।

इसी प्रकार आगे अजादि विभक्तियों में—जहां भसंज्ञा होने से अन् के अकार का लोप हो जाता है—

नकार परे होने से हकार के स्थान में घकार हो जायेगा।

णित्प्रयय का उदाहरण—जघान णल् में। ञित् का उदाहरण—घातः घञ्, प्रत्यय में आगे तिङन्त और कृदन्त प्रकरणों में मिलेंगे।

प्र.	वत्रघ्ना	वत्रहभ्याम्	वत्रहभिः।	ष.	वत्रघ्नः	वत्रघ्नोः	वत्रघ्नाम्।
च.	वत्रघ्ने	''	वत्रहभ्यः।	स.	वत्रघ्नि	''	वत्रहसु।
प.	वत्रघ्नः	''	'' ।		वत्रहणि		

एवमिति—इसी प्रकार शार्ङ्गिग्न् (विष्णु), यशस्विन् (यशस्वी), अर्यमन् और पूषन् (सूर्य) आदि शब्दों के भी रूप मिलेंगे

मघवा बहुलम 6.4.128

मघवन् शब्दस्य वा त इत्यन्तादेशः। ऋ इत्।

'मघवन्' शब्द को 'त' अन्तादेश विकल्प से हो।

ऋ इत् इति—'त' आदेश का अन्त्य ऋकार इत् है।

ऋकार की इत्संज्ञा बताने का अभिप्राय यह है कि 'त' आदेश अनेकाल् नहीं, क्योंकि 'नानुबन्धकृतम् अनेकाल्त्वम्—अर्थात् अनुबन्ध के द्वारा होने वाली अनेकाल्ता नहीं मानी जाती' इस परिभाषा से अनुबन्धकृत अनेकाल्त्व का निषेध हो जाता है। अतः 'त' आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में नहीं होता, अपि तु अन्त्य के स्थान में होता है।

'मघवन्' शब्द के अन्त्य नकार को 'त' आदेश हो गया। तब 'मधवत्' शब्द बना और पक्ष में 'मघवन्' ही रहा। दोनों के अलग—अलग रूप बनेंगे।

उगिदचां सर्वनामस्थानेधातोः 7.1.70

अधातोरुगितो नलोपिनोचतेश्च नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे। मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः। हे मघवन्। मघवभ्द्भ्याम् तत्वाभावे। मघवा। सुटि राजवत्।

व्याख्याः धातुभिन्न उगित् (उक्—इ, उ, ऋ, ल—जिसका इत् हो) और नकारलोपी (जिसके नकार का लोप हुआ हो) अचु धातु को 'नुम्' आगम हो सर्वनामस्थान परे रहते।

मघवान्—यह प्रथमा के एकवचन का रूप है। यहां 'मघवत्' शब्द ऋकार—उक् के इत् होने से 'उगित्' है। प्रथमा के एकवचन सु सर्वनामस्थान परे रहते वकारोत्तरवर्ती अन्त्य अच् अकार के आगे 'नुम्' आगम हुआ। 'उम्' अनुबन्ध का लोप हुआ। तब 'मघवन् त् स्' इस अवस्थामें पहले अपक्त सकार का हल्ङ्यादि और फिर संयोगान्त पद

के अन्त्य तकार का लोप होने पर 'सर्वनामस्थाने–' सूत्र से उपधा अकार को दीर्घ और 'न लोप–' से अन्त्य नकार का लोप होने से 'मघवा' रूप बना।

मघवन्तौ–'मघवन्+औ– इसदशा में प्रथम त अन्तादेश, तब 'उगिदचां' सूत्र से नुम् आगम होने से रूप सिद्ध हुआ।

हे मघवन्–सम्बुद्धि में सकार का लोप होने पर तकार का संयोगान्त लोप होता है। नकार लोप का 'न ङि संबुद्ध्योः' सूत्र से निषेध हो जाता है।

प्र.	मघवा	मघवन्तौ	मघवन्तः।	च.	मघवते	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः।
सं.	हे मघवन्	हे ''	हे '' ।	प.	''	मघवतः	'' ।
द्वि.	मघवन्तम्	''	मघवतः।	ष.	''	मघवतोः	मघवताम्।
त	मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः।	सं.	मघवति	''	मघवत्सु ।

इन रूपों में सर्वनामस्थान में 'नुम्' आगम हुआ। उसके आगे कोई विशेष कार्य नहीं होता। प्रक्रिया में इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि नकार को पहले 'नश्चाप–' सूत्र से अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य–' सूत्र से पुनः अनुस्वार को नकार होता है।

तत्वाभावे इति– जब 'त' आदेश नहीं हुआ। तब जैसे रूप बनते हैं, वे यहां बताये जाते हैं।

मघवा–मघवन् शब्द को 'त' अन्तादेश जब न हुआ तब प्रथमा के एकवचन में 'मघवन्+सु' इस दशा में 'सर्वनामस्थाने......' सूत्र से उपधादीर्घ, अपक्त सकार का हल्ङया से लोप होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकातन्स्य' सूत्र से अन्त्य नकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

सुटीति–इस पक्ष में नकारान्त शब्द होने से नकारान्त राजन् शब्द के समान सुट् में (सु से औट् तक) रूप बनते हैं।

श्व-युव-मघोनामतद्धिते 6.4.133

अन्नन्तानां भानामेषामतद्धिते संप्रसारणम्। मघोनः। मघवभ्याम।

व्याख्याः श्वन् (कुत्ता), युवन् (युवा, जवान) और मघवन् (इन्द्र)–इन अन्नन्त भसंज्ञक अङ्गों को संप्रसारण हो तद्धितभिन्न प्रत्यय परे रहते।

मघोनः–मघवन् शब्द से शस में 'मघवन्+अस्' इस दशा में प्रकृत सूत्र से वकार यण् के स्थान में उकार संप्रसारण हुआ, 'सम्प्रसारणाच्चे–' सूत्र से अग्रिम अकार का पूर्वरूप एकादेश होने पर 'मघ उन् अस्' ऐसी स्थिति बनी। यहां अकार और उकार को ओकार गुण स को रुत्व विसर्ग होकर 'मघोन': रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार अन्य अजादि विभक्तियों में भी–जिनमें पूर्व की भसंज्ञा होती है–संप्रसारण आदि कार्य होकर रूप बनेंगे और हलादि में 'राजन्' शब्द के समान रूप बनते हैं।

त	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभिः।	ष.	मघोनः	मघोनोः	मघोनाम्
च.	मघोने	''	मघवभ्यः	स.	मघोनि	''	मघवसु
पं.	मघोनः	''	''				

1. इस सूत्र के विषय में उक्तिप्रत्युक्ति रूप में एक रोचक सूक्ति प्रसिद्ध है, पूर्वार्ध में प्रश्न है और उत्तरार्ध में उत्तर–

'कांच मणिं कातुचनेमेकसूत्रे, ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम्।
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह इति।।

माला गूंथती हुई बाला से यह प्रश्न किया गया कि 'तुम कांच, मणि और सोने को एक सूत्र (तागे) में क्यों गूंथ रही हो! यह क्या गजब कर रही हो। वह उत्तर देती है–विचारवान् पाणिनि मुनि ने भी एक सूत्र में कुत्ते, युवा और इन्द्र को गूंथ दिया।

एवमिति—इसी प्रकार श्वन् और युवन् शब्द के भी रूप बनते हैं। श्वन् के शस् में—शुनः, टा—शुना, ङे—शुने, ङसि ङस्— शुनः, ओस्—शुनोः, आम्—शुनाम् ङि—शुनि।

'युवन्' शब्द में कुछ विशेष कार्य होता है उसे आगे बताया जा रहा है। 'युवन्' शब्द के विषय में शङ्का होती है कि यकार भी तो यण् है, इसको भी संप्रसारण होना चाहिये। यकार को प्राप्त संप्रसारण का अग्रिम सूत्र निषेध कर देता है।

न संप्रसारणे संप्रसारणम् 6.1.37

संप्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः संप्रसारण न स्यात्। इति यकारस्य मेत्वम्। अतएव ज्ञापकाद् अन्त्यस्य यणः पूर्वें संप्रसारणम् यूनः। यूना। युवभ्याम् इत्यादि। अर्वा हे अर्वन्

व्याख्याः संप्रसारण परे रहते पूर्व यण् को संप्रसारण न हो।

इति यकारस्येति—इसलिये यकार को इकार (संप्रसारण) नहीं हुआ।

'युवन्+अस्' इस स्थिति में वकार को संप्रसारण और पूर्व रूप होने पर 'यु उन् अस्' इस अवस्था में सवर्णदीर्घ करने पर 'यूनस' इस स्थिति में यकार को संप्रसारण इकार प्राप्त होता है। उसका इस सूत्र से निषेध होता है।

अतएव इति—इसी ज्ञापक (प्रमाण) से अन्त्य यण् को पहले संप्रसारण होता है।

इस कथन का आशय है कि यदि प्रत्यय यण् को पहले संप्रसारण कर दिया जाय तो कहीं भी पर संप्रसारण न मिलेगा, फिर इस सूत्र की प्रवत्ति के लिये कोई स्थल नहीं रहेगा। अतः व्यर्थ होकर यह सूचित करता है कि— 'अन्त्य यण् को संप्रसारण पहले हो।'

इस ज्ञापक (सूचना) के अनुसार नहले अन्त्य यण् वकार को संप्रसारण हो जायेगा और तब एक बार संप्रसारण हो जाने पर पूर्व यण् यकार को प्रकृत सत्र से संप्रसारण का निषेध हो जायेगा। इस प्रकार सूत्र चरितार्थ होगा।

यूनः—'युवन्+शस्' इस दशा में पहले 'श्व—युव' सूत्र से वकार को संप्रसारण उकार होगा। तब यकार को प्राप्त संप्रसारण का 'न संप्रसारणे— इस प्रकृत सूत्र से निषेध हो जायेगा। पुनः 'यु, उ, न् अस्' इस स्थिति के बन जाने पर दोनों उकारों को सवर्णदीर्घ तथा सकार को रुत्व विसर्ग होने से रूप सिद्ध होगा।

इसी प्रकार टा में—यूना, ङे—यूने, ङसि्—यूनः, ओस्—यूनोः, आम्—यूनाम्, ङि—यूनि—ये रूप सिद्ध होंगे।

युवभ्याम् युवन्+भ्याम्' इस स्थिति में पदान्त होने से नकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

अर्वा, अर्वन्—ये दोनों रूप राजन् के समान ही सिद्ध होते हैं।

अर्वणस्त्रंसावनञः 6.4.127

नाा रहितस्य 'अर्वन्' इत्यस्याङ्गस्य 'त' इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वद्भ्यामित्यादि।

व्याख्याः नञ् रहित 'अर्वन्' इस अङ्ग को 'त' यह अन्तादेश हो, परन्तु सु परे रहते न हो।

'अर्वणः, त, अ—सौ, अनञः' इस प्रकार यहां परच्छेद है। 'त' अन्तादेश होनेपर 'अर्वत्' शब्द बना ऋकार के इत् होने से यह उगित् है अतः सर्वनामस्थान प्रत्ययों में 'उगिदचाम्—' सूत्र से नुम्' आगम होगा। शेष विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होता।

अर्वन्तौ—'अर्वन+औ' इस स्थिति में प्रकृत रूप से अन्त्य नकार के स्थान में त आदेश हुआ। तब उगित् होने से 'उगिदचाम्——सूत्र से नुम्[1] आगम होकर रूप सिद्ध हुआ।

---

1. नुम् वाले प्रयोगों में 'मघवत्' शब्द में बताई रीति से नकार को पहले 'नश्चा—' सूत्र से अनुस्वार होकर अनुस्वार को पुनः 'अनुस्वार—' सूत्र से परसवर्ण नकार ही हो जाता है। यद्यपि ऐसा करने से रूप में अन्तर तो नहीं पड़ा, परन्तु शास्त्र की प्रक्रिया तो यथा प्राप्त होगी ही। अतः यह साधन प्रक्रिया इस प्रकार के प्रयोगों में दिखाई जानी चाहिये।

अर्वन्तः—जस् में पूर्ववत् रूप सिद्धि होती है।

प्र.	अर्वा	अर्वन्तौ	अर्वन्तः	च.	अर्वते	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भ्यः
सं.	हे अर्वन्	हे ''	हे ''	पं.	अर्वतः	''	''
द्वि.	अर्वन्तम्	''	अर्वतः	ष.	''	अर्वतोः	अर्वताम्
त	अर्वता	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भिः	स.	अर्वति	''	अर्वत्सु

पथिमथ्यभुक्षामात् 7.1.85

एषामाकारोन्तादेशः स्यात् सौ परे

व्याख्याः पथिन् (मार्ग), मथिन् (मथनी, रई), ऋभुक्षिन्[1] (इन्द्र) इन शब्दों को आकार अन्तादेश हो सु परे रहते।

पथिन् शब्द से सु परे रहते 'पथिन्+स्' इस दशा में नकार को आकार हो गया। 'पथि आ स्' ऐसी स्थिति बन गई।

इतोत् सर्वनामस्थाने 7.1.86

पथ्यादेरिकारस्याकारः सर्वनामस्थाने परे।

व्याख्याः पथिन् आदि के इकार को अकार हो सर्वनामस्थान परे रहते।

'पथि आ स्' इस स्थिति में 'पथिन्' के इकार को अकार हुआ। तब 'पथ आ स्' यह अवस्था हुई।

थो न्थः 7.1.87

पथिमथोस्थस्य न्थादेशः सर्वनामस्थाने। पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः।

व्याख्याः पथिन् और मथिन् शब्दों के थकार को 'न्थ' आदेश हो सर्वनामस्थाने परे रहते।

पन्थाः—प्रथमा के एकवचन में पूर्वोक्त प्रकार से 'पथ आ स्' ऐसी स्थिति बन जाने पर इस सूत्र से 'थ' को 'व्य' आदेश हुआ। तब 'पन्थ आ स्' यह दशा हुई। इस दशा में सवर्णदीर्घ और सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर पन्थाः रूप सिद्ध हुआ।

पन्थानौ और पन्थानः ये औ और जस् के रूप इसी प्रकार सिद्ध होगे। द्वितीया के एकवचन में—पन्थानम्, द्विवचन में पन्थानौ।

भस्य टेर्लोपः 7.1.88।

भस्य पथ्यादेष्टेलेर्लोपः। पथः। पथा। पथिभ्याम्। एवम्-मथिन्। ऋभुक्षिन्।

व्याख्याः जसादि अजादि विभक्तियों में भ संज्ञा होती है, उनके परे रहते 'पथिन्' आदि की टि 'इन्' का लोप हो जाता है।

पथः—'पथिन्+शस्' इस स्थिति में भसंज्ञक अङ्ग होने से 'पथिन्' की टि 'इन्' का लोप हो गया। तब 'पथ्+अस्' ऐसी स्थिति बन जाने पर सकार को रुत्व विसर्ग करने से रूप सिद्ध हुआ।

पथाः—'पथिन्+टा' इस दशा में सारे कार्य 'पथः' के समान होकर रूप सिद्ध होता है।

पथिभ्याम्—'पथिन्+भ्याम्' इस स्थिति में नकार का लोप 'न लोपः—सूत्र से होने पर रूप सिद्ध होता है।

---

1. 'आखण्डलः सहस्राक्ष ऋभुक्षा' इत्यमरः।
2. ध्यान रहे 'मथिन्' शब्द से 'पथिन्' शब्द के बराबर ही सूत्र लगते हैं और ऋभुक्षिन् में 'थो न्थः' को छोड़कर शेष सब सूत्र।

प्र.	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः	च.	पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
स.	हे ''	हे ''	हे ''	पं.	पथः	''	''
द्वि.	पन्थानम्		पथः	प.	''	पथोः	पथाम्
त	पथा	पथिभ्याम्	पथिभिः	स.	पथि	''	पथिषु

एवमिति—इसी प्रकार[2] मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्द के भी रूप बनेंगे।

मथिन्—मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः। मन्थानम्, मन्थानौ, मथः इत्यादि।

ऋभुक्षिन्—ऋभुक्षाः, ऋभुक्षणौ, ऋभुक्षाणः। ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षः—इत्यादि।

ष्णान्ताः षट् 1.1.24

षान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात्। पचन् शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। पच। पचभिः। पचभ्य। पचभ्यः। नुट्

व्याख्याः षकारान्त और नकारान्त संख्यावाचक शब्दों की षट् संज्ञा हो।

'पचन्' शब्द संख्यावाचक है और नकारान्त भी, इसकी षट्संज्ञा हुई।

पचन् इति— पचन् शब्द नित्य बहुवचनान्त है। क्योंकि पांच—बहुत्व संख्या का वाचक है।

पच— पचन् शब्द से परे जस् और शस् का 'षड्भ्यो लुक्' सूत्र से लोप और 'न लोपः—' से नकार का लोप होकर दोनों स्थलों में 'पच' रूप सिद्ध हुआ।

पचभिः— ततीया में भिस्' इस अवस्था में 'न लोपः—' से नकार का लोप हुआ तो 'पचभिः' रूप सिद्ध हुआ।

पचभ्यः— इसी प्रकार चतुर्थी और पचमी के भ्यस् में पचभ्यः सिद्ध हुआ।

पचानाम्— षष्ठी में 'पचन्+आम्' यहां पर षट्संज्ञक होने से पचन् के आगे 'आम्' को 'षट्चतुर्भ्यश्च' सूत्र से नुट् आगम हुआ। अनुबन्धों का लोप होने के अनन्तर 'पचन् नाम' यह स्थिति हुई।

नोपघायाः[6] 6.4.7

नान्तस्योपधाया दीर्घो नामि। पचानाम्। पचसु।

व्याख्याः नान्त की उपधा को दीर्घ हो नाम् परे रते।

पचानाम्— 'पंचन् नाम्' यहां पर नाम् परे होने से नान्त पचन् के उपधाभूत अकारको दीर्घ हो गया और हलादि विभक्ति नाम् परे रहनेसे पूर्व की 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से पदसंज्ञा होने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञक पद पचन् के अन्तावयव होने से नकार का 'न लोपः—' सूत्र से लोप हुआ, तब 'पचानाम्' रूप सिद्ध हुआ।

पचसु— पचन्+सु यहां नकार का लोप होनेपर रूप सिद्ध हुआ।

अष्टन आ विभक्तौ 7.2.84

हलादौ वा स्यात्।

व्याख्याः अष्टन् अङ्ग को आकार हो हलादि[1] विभक्ति परे रहते विकल्प[2] से। अलोन्त्य परिभाषा से आकार अन्त्य नकार को होगा।

1. यहां 'रायो हलि 7.2.85' इस अग्रिम सूत्र से 'हलि' की अनुवति होने से 'हलादि विभक्ति' अर्थ होता है।
2. आत्व की वैकल्पिकता का प्रमाण 'अष्टनो दीर्घात् सूत्र में अष्टन् का 'दीर्धात्' विशेष देना है। यदि आकार विधान नित्य हो तो 'दीर्घात्' विशेषण व्यर्थ हो जाएगा। अतः यह 'दीर्घात्' विशेषण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि—अष्टन् शब्द को आकार विकल्प से होता है।

अष्टाभ्य औश् 7.1.21

कृताकाराद् अष्टनो जश्शसोरौश्। 'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। अष्टौ। अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे-अष्ट पचवत्। इति नकारान्ताः।

व्याख्याः कृताकार (जिसको आकार किया गया हो, अर्थात् आकार किये जाने पर) अष्टन् शब्द से परे, 'जस्'और 'शस्' को 'औश्' आदेश हो।

'औश्' में 'श्' इत् है। यह शित् करना सर्वादेश होने के लिये है क्योंकि शित् आदेश 'अनेकालशित् सर्वस्य' सूत्र से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में होता है।

पूर्वसूत्र से हलादि विभक्ति परे रहते ही आत्व होता है, जस और शस् तो जकार और शकार के इत्संज्ञा लोप हो जाने से अजादि विभक्ति हैं। इनके परे रहते आत्व प्राप्त ही नहीं। फिर 'कृताकार' अष्टन् शब्द से परे जस् शस् कैसे मिल सकते हैं? अतः सूत्रार्थ असंगत है इस शङ्का के निवारण के लिये कहा है—'अष्टभ्यः' इति वक्तव्ये इत्यादि। तात्पर्य यह है कि 'अष्टभ्यः' पढ़ने में एक मात्रा का लाघव है। इस लाघव की उपेक्षा करके सूत्र में दीर्घ विशिष्ट पाठ ज्ञापन करता है कि 'जस्' और 'शस्' परे रहते अष्टन् शब्द को आत्व होता है। 'अष्टाभ्यः' इस पद में 'अष्टा' यह कृतदीर्घ का अनुकरण है।

अष्टौ—'अष्टन्' से जस् और शस् परे रहते सब से पहले आत्व और सवर्ण दीर्घ हुआ। तब जस् और शस् को औश् आदेश और वद्धि होकर 'अष्टौ' रूप बना।

'अष्टाभिः, अष्टाभ्यः और अष्टासु'—इनमें हलादि विभक्ति परे होने से आत्व हुआ।

अष्टानाम्—आम् में पहले 'षट् चतुर्भ्यः' सूत्र से नुट् का आगम हुआ। हलादि विभक्ति परे होने से आत्व हुआ और नकार का लोप।

आत्वाभावे इति—आत्व के अभाव पक्ष में—अष्ट, अष्ट, अष्टभिः, अष्टभ्यः, अष्टानाम्, अष्टसु—इस प्रकार पचन् शब्द के समान रूप बनेंगे।

जकारान्त शब्द

ऋत्विग्-दधक्-स्त्रग्-दिग्-उष्णिग्-अचु-युजि-क्रुचां च 3.2.49

एभ्यः क्विन्। अचेः सुप्युपपदे, युजिक्रुचोः केवलयोः, क्रुचेने-लोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ।

व्याख्याः ऋतु शब्दपूर्वक यज्, धष्, सज्, दिश्, उत्पूर्वक लिह्, अचु, युजि और क्रुच धातुओं से क्विन् प्रत्यय हो।

अचेरिति— अचु, धातु से क्विन् प्रत्यय सुबन्त उपपद रहते ही होता है। इसके उदाहरण—प्राङ्, प्रत्यङ् और उदङ् आदि पद हैं।

युजिक्रुचोरिति— युज् और क्रुच धातुओं से जब वे केवल—अर्थात् जब उपपद कुछ न हो—हो तब क्विन् प्रत्यय होता है।

क्रुचेरिति— क्रुच् धातु में क्विन् विधान के साथ नकार के लोप का— जो 'अनिदिताम्—' सूत्र से प्राप्त होता है—अभाव का भी [1]निपातन होता है अर्थात् नकार का लोप नहीं होता।

कनावितौ इति—क्विन् के ककार और नकार इत्संज्ञक हैं। नकार की इत्संज्ञा 'हलन्त्यम्' से और ककार की 'लशक्वतद्धिते' से होती है।

---

1. 'लक्षणं विनैव निपतति प्रवर्तते लक्ष्येषु इति निपानम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो कार्य बिना सूत्र—नियम के होते हैं वे निपातन कहे जाते हैं। जब किसी स्थल में कोई ऐसा कार्य हुआ दीखता हो जिसका विधायक कोई सूत्र न हो अर्थात् नियम के अन्दर न आता हो—ऐसे कार्य विधान को निपातन कहा जाता है। क्रुच में नकार के लोप का निषेध करने वाला कोई नियम नहीं तब भी वह किया गया है, अतः यह निपातन है।

वैसे क्विन् प्रत्यय का सर्वापहार लोप अर्थात् सम्पूर्ण लोप होता है, कुछ भी शेष नहीं रहता। ककार और नकार पूर्वोक्त प्रकार से इत्संज्ञक हैं। इकार 'उपदेशेज्–' आदि सूत्र से इत्संज्ञक है। शेष प्रकार के लिए अग्रिम सूत्र लोप विधायक है।

प्रकृत में 'ऋतौ यजति–ऋतु में यज्ञ करता है' इस विग्रह में ऋतुपूर्वपक यज् धातु से क्विन् प्रत्यय हुआ। तब 'वचिस्वपियजादीनां किति' से कित् क्विन् परे होने से यकार के स्थान में संप्रसारण इकार और आकार को पूर्वरूप तथा उकार क यण् करने से 'ऋत्विज्' शब्द बनता है।

कृदतिङ 3.2.93

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्।

व्याख्याः इस अर्थात् ततीय अध्याय के धात्वधिकार में तिङ्भिन्न प्रत्यय की कृत् संज्ञा हो।

'778 धातोः 3.3.91' इस सूत्र का अधिकार आगे चलता है। उसमें धातु से परे प्रत्ययों का विधान है। उनमें तिङ् प्रत्ययों को छोड़कर शेष की कृत्संज्ञा होती है।

प्रकृत में क्विन्' प्रत्यय उक्त 'धातोः' के अधिकार में है। अतः इसकी कृत्संज्ञा हुई। कृत् संज्ञा करने का फल कृदन्त होने से प्रातिपदिक होकर सु–आदि की उत्पत्ति है।

वेरपक्तस्य 6.1.67

अपक्तस्य वस्य लोपः।

व्याख्याः अपक्त वकार का लोप हो।

क्विन् के केवल अवशिष्ट वकार की 'अपक्त एकाल् प्रत्ययः' सूत्र से अपक्त संज्ञा होती है। अतः उसका भी लोप हो गया। इस प्रकार सम्पूर्ण[1] क्विन् का लोप हुआ।

क्विन्प्रत्ययस्य कुः 8.2.62

क्विन् प्रत्ययो यस्मात् तस्य कवर्गोन्तादेशः पदान्ते। अस्यासिद्धत्वात् 'चोः कुः 8.2.30' इति कुत्वम्[1]। ऋत्विक् ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

व्याख्याः क्विन् प्रत्यय जिससे किया गया हो, उसको कवर्ग अप्तादेश हो पदान्त में।

अस्य इति—इस सूत्र के असद्धि होने से 'चोः कुः' सूत्र से कुत्व होता है।

यद्यपि ये दोनों सूत्र त्रिपादी के ही हैं तथापि त्रिपादी के सूत्रों में पूर्व के प्रति पर असिद्ध होता है। अतः पर होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' असद्धि है।

ऋत्विक्-ग्—यहाँ 'ऋत्वज्+स्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र से अपक्त सकार का लोप होने से पदान्त बन जाने पर इस सूत्र से कवर्ग अन्तादेश प्राप्त हुआ। परन्तु इन त्रिपादी होने से यह 'चोःकुः' की दष्टि में असिद्ध है। इसलिये इससे न होकर 'चोःकुः' से अन्त जकार के स्थान में अत्यन्त सादश्य के कारण कवर्ग गकार हुआ। उसको 'वावसाने' सूत्र से विकल्प से चर् ककार होकर दो रूप सिद्ध हुए ऋत्विक् ओर ऋत्विग्।

ऋत्विजौ—औ विभक्ति का रूप है। इसमें शब्द से विभक्ति मिला देने के अतिरिक्त कुछ कार्य नहीं होता।

---

1. सम्पूर्ण लोप को 'सर्वापहार लोप– कहा जाता है। क्विन्, क्विप्, विट्, और विच्'–इन कृत् प्रत्ययों का सर्वापहार लोप होता है।
2. यहां यह आशंका होती है कि 'क्विनप्रत्ययस्य कुः' और 'चोः कुः' दोनों सूत्र कवर्ग अन्तादेश ही करते हैं। पर 'ऋग्विज्' आदि क्विन्प्रत्ययान्त शब्दों में भी यदि 'चोः कुः' से कुत्व किया जाएगा जो 'क्विन्प्रत्ययस्य कु.' सूत्र व्यर्थ हो जाएगा। इसका यह समाधान है कि 'चोः कुः' तो केवल चवर्ग को कवर्ग करता है, चवर्ग के अतिरिक्त अन्य वर्गो को 'क्विन्प्रतयस्य कुः' सूत्र कवर्ग अन्तादेश करेगा। यथा–युङ्, प्राङ्, प्रत्यङ् और उदङ् आदि। इन क्विन्प्रत्ययान्त शब्दों में अन्य वर्ग तवर्ग के नकार को कवर्ग ङकार होता है। अतः उक्त सूत्र व्यर्थ नहीं है।

इसी प्रकार सभी अजादि विभक्तियों में शब्द से केवल विभक्ति मिला देने से रूप सिद्ध होते हैं।

ऋत्विग्भ्याम्—'भ्याम्' के हलादि विभक्ति होने के कारण उसके परे रहते 'स्वादिष्व–' सूत्र से पूर्व 'ऋत्विज्' शब्द की पद संज्ञा होती है। अतः पदान्त से पूर्ववत् 'चोः कुः' सूत्र से जकार को कवर्ग गकार आदेश होकर ऋत्विग्भ्याम रूप बना।

सभी हलादि विभक्तियों में इसी प्रकार केवल कवर्ग अन्तादेश करने से रूप सिद्ध होते हैं। केवल 'सुप्' में ' खचरि च' सूत्र से गकार को ककार और 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से कवर्ग ककार से परे प्रत्यय 'सुप्' के अवयव सकार को मूर्धन्याधषकार का देने पर ककार और षकार के संयोग में क्ष करना—इतना अधिक कार्य करना पड़ता है। तब ऋत्विक्षु रूप बनता है।

प्र. ऋत्विक्–ग् ,ऋत्विजौ,ऋतिवजः।			च.	ऋत्विजे,	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भ्यः
सं. हे "	"	" ।	पं.	ऋत्विजः	"	"
द्वि. ऋत्विजम्	"	" ।	ष.	"	ऋत्विजोः	ऋत्विजाम्
त. ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भिः।	स.	ऋत्विजि	"	ऋत्विक्षु

युज् (योगी) शब्द

युजेरसमासे 7.1.71

युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्याद् असमासे। संयोगान्तलोपः। कुत्वेन नस्य ङः-युङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ-युजौ युजा। युग्भ्याम्।

व्याख्याः युज् धातु को सर्वनामस्थान परे रहते 'नुम्' आगम हो, किन्तु समास में न हो।

संयोगान्तलोपः—'यु न् ज्' इस स्थिति में अर्थात् अपक्त सकार का हल्ङ्यादि लोप होने पर जकार का संयोगान्त लोप होता है।

कुत्वेन इति—'युन्' इस स्थिति में नकार के स्थान में 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' सुत्र से ङकार आदेश हुआ।

युङ् युज् शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'युज् स्' इस दशा में सर्वनामस्थान सु परे होने से 'युज्' के अन्त्य अच् यकारोत्तरवर्ती उकार के आगे 'नुम्' आगम हुआ। अनुबन्ध 'उम्' के लोप के अनन्तर 'युन् ज् स्' इस स्थिति में पहले अपक्त सकार का हल्ङ्यादि लोप हुआ। तब युन्ज् के पद बन जाने पर संयोगान्त पद होने के कारण उसके अन्त्य जकार का संयोगान्त लोप होने के अनन्तर 'क्विन्प्रत्ययस्य' सूत्र से नकार को कवर्ग ङकारहोकर [1]युङ् रूप सिद्ध हुआ।

अनुस्वार इति—'युन् ज् औ' इस स्थिति में नकार के स्थान में पहले अनुस्वार होता है और फिर अनुस्वर के स्थान में परसवर्ण अकार।

युजौ— प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'युज्+औ' इस दशा में सर्वनामस्थान 'औ' परे होने से नुम् आगम होने पर 'युन्ज औ' इस स्थिति में अपदान्त होने से नकार को पहले –78 नश्चा–' सूत्र से अनुस्वार हुआ। तब अनुस्वार को 'अनुस्वार–' सूत्र से परे जकार का सवर्ण जकार हुआ। इस प्रकार युजौ रूप बना।

सर्वनामस्थान प्रत्ययों में इसी प्रकार रूप सिद्ध होंगे। आगे, अजादि विभक्तियों में मिला देने से रूप सिद्धि हो जाती है।

हलादि विभिक्तियों में जकार को 'चोःकुः' से ककार आदेश कर देने से रूप सिद्ध होते हैं। यथा—**युग्भ्याम्**। सप्तमी के बहुवचन में गकार कर देने के बाद उसको चर् ककार और सकार को मूर्धन्य षकार अधिक करना होता है।

1. जकार का संयोगान्त लोप होने पर नका का 'न लोप–' सूत्र से लोप नहीं होता, क्योंकि उसकी दष्टि में त्रिपादीय होने से संयोगान्तलोप 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से असिद्ध है।

प्र.	युङ्	युजौ	युजः ।	च.	युजे	युग्भ्याम्	युग्भ्यः ।
सं.	हे "	"	" ।	पं.	युजः	"	" ।
द्वि.	युजम्	"	युजः ।	ष.	"	युजोः	युजाम् ।
त	युजा	युग्भ्याम्	युग्भिः ।	स.	युजि	"	युक्षु ।

सुयुज् (सुयोगी) शब्द

समास में निषेध होने से 'सुयुज्' शब्द में नुम् आगम नहीं होता। सुयुज् में सु शब्द के साथ 'युज' शब्द का समास हुआ है।

चोः कुः 8.2.30

चवर्गस्य कवर्गः स्याद् झलि पदान्ते च। सुयुक्, सुयुग्। सुयुजौ। सुयुग्भ्याम्। खन्। खजौ। खन्भ्याम्।

व्याख्याः चवर्ग को कवर्ग हो ण्ल् परे रहते और पदान्त में।

सुयुक्, ग्—प्रथमा के एकवचन में 'सुयुज्+सु' इस अवस्था में 'हल्ङ्याब्भ्यः' से अपक्त सकार का लोप होने पर पदान्त होने से जकार को कवर्ग गकार और अवसान होने के कारण उसको 'वावसाने' सूत्र से विकल्प से ककार होकर दो रूप सिद्ध हुए।

हलादि विभक्तियों में जकार को कवर्ग गकार आदेश करने से और अजादियों में विभक्ति मिला देने मात्र से रूप सिद्धि हो जाती है। 'सुप्' में पूर्ववत् चर्त्व और षत्व कार्य अधिक होते हैं।

प्र.	सुयुक्–ग्	सुयुजौ	सुयुजः।	च.	सुयुजे	सुयुग्भ्याम्	सुयुग्भ्यः ।
सं.	हे "	"	" ।	पं.	सुयुजः	"	" ।
द्वि.	सुयुजम्	"	" ।	ष.	"	सुयुजोः	सुयुजाम् ।
त	सुयुजा	सुयुग्भ्यां	सुयुग्भिः।	स.	सुयुजि	"	सुयुक्षु ।

खज्[1] (लंगड़ा) शब्द।

[2]खन्—खज् शब्द से प्रथमा के एकवचन में 'खज्+स्' इस दशा में 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र से अपक्त सकार का लोप होने पर पदान्त बन जाने से संयोगान्त 'खज्' पद के अन्त्य जकार का 'संयोगा न्तस्य' सूत्र से लोप होने से 'खञ्' शेष रहा। निमित्त जकार के न रहने से ाकार और अनुस्वार कार्य भी न रहे तो 'खन् रूप बना। निमित्तापाये नैमित्तिकस्यप्यपायः' न्याय से अकार और अनुस्वार की निवत्ति हाती है।

प्र.	खन्	खजौ,	खजः।	च.	खजे,	खन्भ्याम्,	खन्भ्यः ।
सं.	हे "	"	" ।	पं.	खजः,	"	" ।
द्वि.	खजम्,	"	" ।	ष.	"	खजोः,	खजाम् ।
त	खजा,	खन्भ्याम्,	खन्भिः।	स.	खजि,	"	खन्सु ।

ध्यान रहे कि उक्त रूपों में अजादि विभक्ति वाले रूप केवल विभक्ति मिला देने से सिद्ध हुए हैं और हलादियों में 'स्वादिष्व–' सूत्र से पूर्व की पद संज्ञा होने से पदान्त जकार का संयोगान्तलोप मात्र के करने से रूप सिद्धि होती है।

---

1. खज् शब्द 'खजि' धातु से क्विप् प्रत्यय करने से बनता है। क्विप् का सर्वापहार लोप होता है। धातु का इकार इत् है। इसलिये इदित् होने से 'इदितो नुम् धातोः' सूत्र से नुम् आगम, अनुबन्ध लोप, नकार को झल् जकार परे होने से अनुस्वार और उसको जकार का सवर्ण कार होकर 'खज्' शब्द बनता है। अनुस्वार विधि के प्रति असिद्ध होने से अनुस्वार के पहले श्चुत्व नहीं होता।

2. 'खन्' के क्विन् प्रत्यत्यान्त न होने के कारण 'क्विन्प्रत्ययत्व' से नकार को कवर्ग ङकार नहीं हुआ।

राज् (दीप्तिमान, राजा) शब्द

व्रश्च-भ्रस्ज-सज-मज-यज-राज-भ्राज-च्छ-शां षः 8.2.36

झलि पदान्ते च। जश्त्वचर्त्व–राट्, राड्। राजौ। राजः। राड्भ्याम्। एवम्-विभ्राट्, देवेट् विश्वसट्।

व्याख्याः व्रश्च (काटना), भ्रस्ज (भूनना), सज (पैदा करना), मज (शुद्ध करना), यज (यज्ञ करना), राज और भ्राज (दीप्तिमान्)–इन सात धातुओं को तथा छकार और शकार को षकार अन्तादेश हो झल् परे रहते तथा पदान्त में।

राट्–ड्–'राज्+स्' इस स्थिति में अपक्त सकारके 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र से लोप होने के अनन्तर पदान्त होने से जकार को षकार आदेश हुआ। तब झल् षकार को पदान्त होने के कारण 'झलां जशोनते सूत्र से जश् (मूध ार्स्थानसाम्य से) डकार हुआ। तदनन्तर वैकल्पिक चर् टकार होकर दो रूप सिद्ध हुए राट् और राड्।

अजादि विभक्तियों में विभक्ति मिलाने मात्र से और हलादि में षकार और जशत्व करने मात्र से रूप सिद्ध होते हैं। सुप् में जश्त्व, डकार होने पर 'धुट्' आगम विकल्प से होता है। अतः वहां राट्त्सु और राट्सु ये दो रूप बनते हैं।

प्र.	राट्–ड्	राजौ,	राजः।	च.	राजे,	राड्भ्याम्	राड्भ्यः।
सं.	हे " "	हे "	हे "।	पं.	राजः,	"	" ।
द्वि.	राजम्	"	" ।	ष.	"	राजोः,	राजाम् ।
त	राजा,	राड्भ्याम्	राड्भिः।	स.	राजि,	"	राट्त्सु, राट्सु ।

एवमिति–इसीप्रकार विभ्राज् (विशेषेण भ्राजते इति–विशेष दीप्तिमान्), देवेज् (देवान् यजतीति, देवताओं की पूजा करने वाला) विश्वसज् (विश्वं सजतीति, संसार को बनानेवाला, परमात्मा) शब्दों के भी रूप बनेंगे।

परिव्राज् (परित्यज्य सर्व व्रजतीति, सब कुछ छोड़कर चले जाने वाला, विरक्त संन्यासी) शब्द।

वा. परौ व्रजे षः पदान्ते

व्याख्याः परि उपसर्ग पूर्व रहते व्रज धातु से क्विप् प्रत्यय हो और उपधा अकार को दीर्घ तथा पदान्त में षकार अन्तादेश भी हो।

इस वार्तिक के तीन विधेय हैं–1 क्विप्, 2 दीर्घ और 3 षत्व। क्विप् का सर्वापहर लोप और दीर्घ होने पर 'परिव्राज्' शब्द बना।

परिव्राट्–ड्–पहले परि पूर्वक व्रज् धातु से प्रकृत वार्तिक से क्विप् प्रत्यय और उपधा दीर्घ हुआ, क्विप् का सर्वापहार लोप होने पर 'परिव्राज्' शब्द बना। इस की कृदन्त होने से प्रतिपादिक संज्ञा हुई। तब स्वादि की उत्पत्ति होने पर प्रथमा के एक वचन में 'परिव्राज्+स्' इस स्थिति में अपक्त सकार का लोप होने पर पदा न्त होने से जकार के स्थान में प्रकृत वार्तिक से षकार आदेश हुआ। तब जश्त्वेन षकार के स्थन में डकार और उसको विकल्प से चर् टकार होकर दो रूप सिद्ध हुये।

'परिव्राज्' शब्द के सब रूप 'राज्' शब्द के समान ही सिद्ध होते हैं।

विश्वराज् (संसार का स्वामी, परमात्मा) शब्द।

विश्वस्य वसुराटोः 6.3.127

विश्वशब्दस्य दीर्घोन्तादेशः स्याद् वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वाराट् विश्वाराड् विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्।

व्याख्याः विश्व शब्द को दीर्घ अन्तादेश हो वसु और राट् शब्द परे रहते।

'राट्' शब्द पदान्त का उपलक्षण हैं अर्थात् जहां 'राज्' का रूप 'राड्' बनेगा, वही दीर्घ होगा। जकार को षकार और उसको जश्व डकार तथा डकार को चर् टकार होकर 'राट्' पदान्त में ही बनता है। अतः 'सु' और अन्य

हलादि विभक्तियों में पदान्त होने से दीर्घ होगा, अजादि में नहीं।

प्र.	विश्वाराट्–ड्	विश्वराजौ	विश्वराजः।	च.	विश्वराजे	विश्वाराड्भ्याम्	विश्वराड्भ्यः
सं.	हे "	"	"।	पं.	विश्वराजः	"	" ।
द्वि.	विश्वराजम्	"	"।	ष.	"	विश्वराजोः	विश्वराजाम् ।
त	विश्वराजा	विश्वाराडभ्याम्	विश्वाराड्भिः।	स.	विश्वराजि	"	विश्वाराट्त्सु विश्वाराट्सु

भस्ज् (भड़भूजा) शब्द

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च 8.2.29

पदान्ते झलि च यः संयोगः तदाद्योः स्कोर्लोपः भट्, भड्। सस्य श्चुत्वेन शः, 'झलां जश् झाशि' इति शस्य जः— भज्जौ। भड्भ्याम्। इति जकारान्ताः।

व्याख्याः पदान्त में और झल् परे रहते जो संयोग उसके आदि सकार और ककार का लोप हो।

भट्ड्— 'भस् ज्+स्' इस दशा में ' 179 हल्ङ्याब्भ्यः–' सूत्र से अपक्त सकार का लोप होने पर पदान्त बन जाने से संयोगान्त पद के अन्त्य जकार का लोप प्राप्त हुआ। उसको बाधकर इस सूत्र से पदान्त में संयोग 'स् ज्' के आदि सकार का लोप हो गया। जब जकार को 'व्रश्चभ्रस्ज–' से षकार, उसको 'झलां जशोन्ते' से डकार, अवसान होने से डकार को 'वावसाने' से वैकलिपक चर् टकार होने से दो रूप सिद्ध हुए—भट् और भड्।

सस्य इति—सकार के स्थान में श्चुत्व से शकार आदेश हुआ। तब 'झलां–' सूत्र से शकार के स्थान में जकार। यह प्रक्रिया 'भज्जौ' की सिद्धि के लिए बताई गई है। जैसा कि आगे 'भज्जौ' की सिद्धि में स्पष्ट किया गया है।

भज्जौ— प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'भस् ज् औ' इस दशा में पहले सकार को चवर्ग जकार का योग होने से 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र से झश् जकार परे रहने से तालुस्थन की समानता से जश् जकार करने से रूप सिद्ध हुआ।

सभी अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार सकार और शकार और उसको जकार होकर रूप बनते हैं।

हलादि विभक्तियों में सु के समान सकार का लोप, जकार को षकार ओर षकार को डकार करने से रूप सिद्ध होते हैं। सुप् में धुट् आगम विशेष होता है।

प्र.	भट्–भड्	भज्जौ	भज्जः ।	च.	भज्जे	भड्भ्याम्	भडभ्यः ।
सं.	हे "	"	" ।	पं.	भज्जः	"	" ।
द्वि.	भज्जम्	"	" ।	ष.	"	भज्जोः	भज्जाम्।
त	भज्जा	भड्भ्याम्	भड्भिः।	स.	भज्जि	"	भट्त्सु–भट्सु।

जकारान्त शब्द समाप्त

दकारान्त शब्द

त्यद् (वह) तद् (वह) यद् (जो) एतद् (यह) शब्द[1]।

तदोः सः सावनन्त्ययोः 7.2.106

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ। स्यः, त्यौ त्ये। सः, तौ, ते। यः, यौ, ये। एषः, एतौ, एते, एतम्। अन्वादेशे-एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः।

व्याख्याः त्यद् आदियों के तकार और दकार, जो अन्तिम नहीं है, को सकार हो, सु परे रहते।

1. इन में त्यद् का प्रयोग प्रायः नहीं होता, पर शेष का प्रयोग बहुत अधिक होता है। अतः इनके रूप अच्छी तरह याद कर लेने चाहिये।

स्यः—त्यद् शब्द के सु में 'त्यद्+स्' इस दशा में सबसे पहले 'त्यदादीनामः' सूत्र से दकार को, अकार और 'अतो गुणे' सूत्र से पूर्व अकार को पररूप एकादेश होकर 'त्य+स्' यह स्थिति बनी, जिसमें 'त्यद्' अकारान्त शब्द बन गया। तब प्रकृत सूत्र से आदि तकार को सकार हुआ और सकार को रु और रकार को विसर्ग 'स्यः' रूप बना।

त्यद्, तद्, यद् और एतद् इन चारों शब्दों में विभक्ति आने पर ही 'त्यदादीनामः' से दकार को अकार आदेश और पूर्व पर दोनों अकारों के स्थान में 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश करने पर त्य, त, य, और एत— इस रूप में अकारान्त बन जाते हैं। सर्वनाम भी ये हैं। अतः इसके रूप अकारान्त सर्वनाम 'सर्व' शब्द के समान बनते हैं।

त्य, त और एत में सु परे रहते प्रकृत सूत्र से तकार को सकार भी होता है। अतः—स्यः, सः और एषः ये रूप बनते हैं। 'एष' शब्द में स आदेश होने पर इण् एकार से परे होने के कारण 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से मूर्धन्य षकार भी हुआ।

तद् शब्द के रूप

प्र.	सः	तौ	ते	पं.	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
द्वि.	तम्	"	तान्	ष.	तस्य	तयोः	तेषाम्
त	तेन	ताभ्याम्	तैः	स.	तस्मिन्	"	तेषु
च.	तस्मै	"	तेभ्यः				

यद् शब्द के रूप

प्र.	यः	यौ	ये।	पं.	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः।
द्वि.	यम्	"	यान्।	ष.	यस्य	ययोः	येषाम्।
त	येन	याभ्याम्	यैः।	स.	यस्मिन्	"	येषु।
च.	यस्मै	"	येभ्यः।				

एतद् शब्द के रूप

प्र.	एषः,	एतौ,	एते ।	पं.	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः।
द्वि.	एतम्	"	एतान् ।	ष.	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्।
त	एतेन,	एताभ्याम्	एतैः ।	स.	एतस्मिन्	"	एतेषु।
च.	एतस्मै,	"	एतेभ्यः ।				

ध्यान रहे कि इन त्यद्, तद् यद् और एतद् शब्दों का त्यदादि होने से संबोधन विभक्ति में प्रयोग नहीं होता।

अन्वादेश इति—'एतद्' शब्द को अन्वादेश में 'द्वितीया—' सूत्र से 'एन' आदेश होने से द्वितीया में., एनम्, एनौ, एनान्, टा—एनेन, ओस्—एनयोः—ये रूप 'इदम्' शब्द के समान ही बनते हैं।

युष्मद्[1] (तू) अस्मद् (मैं) शब्द।

इन दोनों शब्दों के रूप—साधक सूत्र एक ही हैं। इसलिए दोनों के रूप साथ—साथ सिद्ध किये जाते हैं।

यह भी ध्यान रहे कि मूल शब्दों से इनके सभी रूपों में पूर्णतः अन्तर पड़ जाता है। अतएव इनके सम्पूर्ण रूप सिद्ध करने पड़ते हैं।

1. ये दोनों शब्द सर्वनाम हैं। परन्तु इनको अन्य कार्य हो जाने से सर्वनामसंज्ञा—प्रयुक्त विभक्ति कार्य प्रायः कोई नहीं होता। सर्वनाम होने का फल अकच् प्रत्यय होना है।

2. ध्यान रहे कि 'त्वम् और अहम्' रूपों में 'युष्मद्' और 'अस्मद्' का लेश भी नहीं दीखता। प्रायः सभी रूपों की यही दशा है।

ङे—प्रथमयोरम् 7.1.28

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे इत्येतस्य् प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः।

व्याख्याः युष्मद् और अस्मद् से परे 'ङे' और प्रथमा तथा द्वितीया को 'अम्' आदेश हों

युष्मद् और अस्मद् से प्रथमा के एकवचन में 'युष्मद् सु' और 'अस्मद्+सु; इस अवस्था में 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ। तब 'युष्मद्+अम्' और 'अस्मद्+अम्' यह स्थिति बनी।

त्वाहौ सौ 7.2.94

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहौ आदेशौ स्तः।

व्याख्याः युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त—युष्म् और अस्म्—भाग को क्रम से 'त्व' और 'अह' आदेश हों सु परे रहते।

'युष्मद्+अम्' और 'अस्मद्+अम्' इस स्थिति में मपर्यन्त भाग को 'त्व' और 'अह' आदेश हुए। तब 'त्व अद्+अम्' और अह अद्+अम् स्थिति हुई। इसमें 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप होकर 'त्वद्+अम्' और 'अहद्+अम्' बना।

शेषे[7] लोपः[1] 7.2.90

एतयोष्टिलोपः। त्वम्। अहम्।

व्याख्याः (आत्व और यत्व की निमित्त विभक्ति से भिन्न विभक्ति परे रहते) इनकी 'टि' का लोप हो।

त्वम्[2]—'त्व अद् अम्' ऐसी स्थिति में 'अतो गुणे' से पर रूप हुआ और तब 'शेषे लोपः' सूत्र से टि अद् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

अहम्—इसकी सिद्धि भी 'त्वम्' के समान ही होती है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसके मपर्यन्त भाग 'अस्म्' को 'अह' आदेश होता है।

आत्व की निमित्त विभक्तियाँ—औ, द्वितीया और आदेश रहित हलादि हैं यथा यत्व की निमित्त—आदेश रहित अजादि विभक्तियां हैं। आत्व विधायक 'प्रथमायावूच द्विवचने भाषयाम्' 'द्वितीयायां च' और 'युष्मदस्मदोनादेशे' ये तीन सूत्र हैं और यत्व का विधायक 'योचि; यह एक सूत्र है।

युवावौ द्विवचने 7.2.92

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ।

व्याख्याः द्वित्व संख्या विशिष्ट अर्थ के वाचक युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त (युष्म्, अस्म्) भाग को क्रम से 'युव' अैर 'आव' आदेश हो विभक्ति परे रहते।

इससे सभी द्विवचनों में 'युव' और 'आव' आदेश हो जायेंगे। औ और औट् का एक रूप तीनों 'भ्याम्' में एक और दोनों ओस् में एक रूप इस प्रकार तीन ही रूप यहां बनते हैं।

युवाम्, आवाम्—'युष्मद्+औ' और 'अस्मद्+औ' इस दशा में पहले 'ङे प्रथमयो–' सूत्र से औ को 'अम्' आदेश हुआ, तब मपर्यन्त युष्म् और अस्म् भाग को 'युव' और 'आव' आदेश हुए। फिर 'युव अद् अम' 'आव अद् अम' इस स्थिति के बन जाने पर 'अतो गुणे' से पररूप हुआ।

प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् 7.2.88

ओङ्येतयोरात्वं लोके। युवाम्। आवाम्।

व्याख्याः औङ् परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों को आकार अन्तादेश हो लोक में।

'युवद् अम्' और 'आवद् अम्' इस स्थिति में अन्त्य दकार को आकार आदेश होने के अनन्तर वकारोत्तरवर्ती अकार के साथ आकार को सवर्णदीर्घ एकादेश होकर पुनः 'अम्' के साथ सवर्णदीर्घ हो युवाम् और आवाम् रूप सिद्ध हुए।

यहाँ आत्वनिमित्तक विभक्ति परे होने से 'शेषे लोपः' से टिलोप नहीं हुआ।

यूय-वयौ जसि 7.2.93

अनयोर्मपर्यन्तस्य। यूयम्। वयम्।

व्याख्याः इनके मपर्यन्त भाग को 'यूय' और 'वय' आदेश हो जस् परे रहते।

यूयम् वयम्—'जस्' को पहले 'ङे प्रथमयोः–' सूत्र से 'अम्' आदेश हुआ। तब मपर्यन्त भाग को 'यूय' और 'वय' आदेश होने पर 'यूय अद् अम' और 'वय अद् अम्' इस अवस्थामें 'अतो गुणे' से पररूप होने पर 'यूयद् अम्' और 'वयद् अम्' इस स्थिति में 'शेषे लोपः' से 'टि' 'अद्'का लोप होकर यूयम् और वयम् रूप बने।

त्व—मावेकवचने 7.2.97

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ।

व्याख्याः एकवचन अर्थ के वाचक युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त भाग को 'त्व' और 'म' आदेश हों विभक्ति परे रहते।

द्वितीया के एकवचन में 'युष्मद्+अम्' और 'अस्मद्+अम्' इस दशा में मपर्यन्त भाग को प्रकृत सूत्र से 'त्व' और 'म' आदेश होने पर 'त्व अद् अम्' और 'म अद्+अम्' यह स्थिति बनी। इसमें 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप होकर 'त्वद्+अम्' और 'मद्+अम्' यह अवस्था हुई।

द्वितीयाया च 7.2.87

अनयोरात् स्यात्। त्वाम्। माम्।

व्याख्याः युष्मद् और अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश हो द्वितीया विभक्त परे रहते।

अन्त्य दकार को आकर आदेश होने पर 'त्व आ अम्' और 'म आ अम्' इस अवस्था में पहले पूर्व अकार और आकार को फिर 'अम्' के अकार के साथ सवर्णदीर्घ होने से 'त्वाम्' और 'माम्' रूप सिद्ध हुए।

शसो न 7.1.29

आभ्यां शसो न स्यात्। अमोपवादः। आदेः परस्य। संयोगान्तलोपः। युष्मान्। अ स्मान्।

व्याख्याः युष्मद् और अस्मद् शब्द से परे शस् को नकार आदेश हो।

अम इति—यह नकार आदेश 'ङेप्रथमयोः' सूत्र से प्राप्त 'अम्' आदेश का अपवाद (बाधक) है।

आदे इति—पर को विहित होने से यह नकारादेश 'आदेः परस्य' सूत्र से पर के आदि को होगा।

युष्मान् अस्मान् 'युष्मद्+अस्' और 'अस्मद्+अस्' इस अवस्था में पर अस् (शस्) के आदि अकार को नकार से 'युष्मद् न् स्' यह स्थिति हुई। यहां 'द्वितीयायाम्–' सूत्र से दकार को आकारादेश और सवर्णदीर्घ होकर 'युष्मान् स्' और 'अस्मान् स्' इस दशा में संयोगान्त सकार का 'संयोगान्तस्य' सूत्र से लोप होने पर 'युष्मान्' और 'अस्मान्' रूप सिद्ध हुए।

योचि 7.2.89

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशजादौ परतः। त्वया। मया।

व्याख्याः युष्मद् और अस्मद् शब्दों को यकार आदेश हो अनादेश—जिसका कुछ आदेश न हुआ हो—अजादि विभक्ति परे रहते।

अलोन्त्यपरिभाषा से यकारादेश अन्त्य के स्थान में होगा।

त्वया, मया—युष्मद् और अस्मद् शब्दों के ततीया के एकवचन में 'युष्मद्+आ' और 'अस्मद्+आ' इस दशा में 'त्वमा–' से मपर्यन्त आ को 'त्व' और 'म' आदेश, और 'अतो गुणे' से पररूप होने पर 'त्वद्+आ' और 'मद्+आ'

इस स्थिति में दकार को यकार आदेश हुआ। तब 'त्वया' और 'मया' ये रूप सिद्ध हुए।

युष्मदस्मदोरनादेशे 7.2.86

अनायोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्माभिः। अस्माभिः।

व्याख्याः युष्मद् और अस्मद् अङ्ग को आकार हो अनादेश हलादि विभक्ति परे रहते।

अलोन्त्य परिभाषा से आकार अन्त्य को ही होता है।

युवाभ्याम्, आवाभ्याम्—'भ्याम्' विभक्ति में 'युवावौ—' से मपर्यन्त भाग को 'युव' और 'आव' आदेश और 'अतो गुणे' से पररूप होने पर 'युवद् भ्याम्' और 'आवद्+भ्याम्' इस स्थिति में आदेश रहित हलादि विभक्ति 'भ्याम्' परे रहते दकार को आकार आदेश हुआ। तब सवर्णदीर्घ होकर युवाभ्याम् और आवाभ्याम् रूप सिद्ध हुए।

युष्माभिः अस्माभिः—यहां 'युष्मद्+भिस्' और 'अस्मद् + भिस्' इस स्थिति में दकार को आकार, सवर्णदीर्घ और रुत्व विसर्ग होते हैं।

तुभ्यमह्यौ 7.2.95

अनयोर्मपर्यन्तस्य। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम्।

व्याख्याः इसके मपर्यन्त भाग को 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश हो ङे परे रहते।

तुभ्यम्, मह्यम्—चतुर्थी के एकवचन में 'युष्मद्+ङे' इस दशा में पहले 'ङे प्रथमयोः' सूत्र से 'ङे' को 'अम्' आदेश हुआ। तब मपर्यन्त भाग को 'तुभ्य' ओर 'मह्य' आदेश और 'अतो गुणे' से पररूप होने पर 'तुभ्यद् अम्' और 'मह्यद् अम्' इस अवस्था में 'शेषे लोपः' से टि 'अद्' का लोप होने पर तुभ्यम् और मह्यम सिद्ध हुए।

भ्यसोभ्यम् 7.1.30

आभ्यां परस्य। युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्।

व्याख्याः इन दोनों—युष्मद् और अस्मद्—से परे 'भ्यस्' को 'अभ्यम्' आदेश हो।

युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्—चतुर्थी के बहुवचन में 'युष्मद्+भ्यस्' और अस्मद्+भ्यस्' इस अवस्था में 'भ्यस्' को 'अभ्यम्' आदेश हुआ। तब युष्मद्+अभ्यम्' और 'अस्मद्+अभ्यम्' इस स्थिति में 'शेषे लोपः' सूत्र से टि 'अद्' का लोप होने से युष्मभ्यम्[1] और अस्मभ्यम् रूप सिद्ध हुए।

यहाँ विभक्ति का होने से 'न विभक्तौ' सूत्र से मकार के लोप का निषेध हो जाता है।

एकवचनस्य च 7.1.32

आभ्यां ङसेरत्। त्वत्। मत्।

व्याख्याः इन दोनों—युष्मद् और अस्मद्—से परे पचमी के एकवचन ङसि को 'अत्' आदेश हो।

त्वत् मत्—पचमी के एकवचन में 'युष्मद्+ङसि' और 'अस्मद्+ङसि' इस अवस्था में मपर्यन्त भाग को 'त्मावेक—' से 'म' आदेश तथा 'अतो गुणे' से पररूप करने के अनन्तर 'ङसि' को प्रकृत सूत्र से 'अत्'आदेश हुआ, तब

---

1. यहाँ पर जान लेना आवश्यक है कि 'शेषे लोपः' सूत्र के अर्थ के विषय में दो पक्ष हैं। एक पक्ष तो यह है कि 'अन्त्य' का लोप होता है और दूसरा पक्ष 'शेषे' में सप्तमी की षष्टी के अर्थ में मानकर 'शेषस्य' मपर्यन्त भाग से अवशिष्ट भाग का अर्थात् टि 'अद्' मात्र का लोप होता है। अन्त्यलोप पक्ष में ही अकारान्त बन जाने से 'सुट्' मात्र का लोप होता है। अन्त्यलोप पक्ष में ही अकारान्त बन जाने से 'सुट्' की प्राप्ति है। उसी भावी 'सुट्' के निवारण के लिये 'साम्' कहा गया है। टिलोप पक्ष में 'अद्' का लोप होने से ये अकारान्त नहीं बनते, हलन्त ही रहते हैं। उसमें सुट् की प्राप्ति बाद को भी नहीं। अतः उस पक्ष में 'सुट्सहित' निर्देश की आवश्यकता नहीं।

इसी प्रकार 'भ्यसोभ्यम्' में 'भ्यस्' को 'अभ्यम्'आदेश विधान टिलोप पक्ष में किया गया हैं अन्त्यलोप पक्ष में 'भ्यस्' आदेश से ही कार्य सिद्ध हो जाता है।

'त्वद्+अत्' और 'मद्+अत्' इस स्थिति में शेष लोपः' सूत्र से टि 'अद्' का लोप होकर त्वत् और मत् रूप बने।

पंचम्या अत् 7.1.31

आभ्यां पचम्या भ्यसोत् स्यात्। युष्मत्। अस्मत्।

व्याख्याः इन दोनों–युष्मद् और अस्मद्– से परे पचमी के 'भ्यस्' को 'अत्' आदेश हो।

युष्मत्, और अस्मत्–पचमी के बहुवचन में 'युष्मद्+भ्यस्' 'अस्मद्+भ्यस्' इस दशा में 'भ्यस्' को 'अत्' आदेश हुआ। तब 'शेषे लोपः' सूत्र से टि 'अद्' का लोप होकर युष्मत् और अस्मत् रूप सिद्ध हुए।

यहाँ 'भ्यस्' को अत् आदेश हो जाने से अनादेश विभक्ति न होने के कारण 'युष्मदस्मदोः' से आत्व नहीं हुआ। अत एक आत्व निमित्तक विभक्ति न होने से 'शेषे लोपः' से टि का लोप हुआ।

तवममौ ङसि 7.2.96

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि।

व्याख्याः इन दोनों–युष्मद् और अस्मद–के मपर्यन्त भाग को 'तव' और 'मम' आदेश हो 'ङस्' परे रहते।

इस सूत्र से 'तव' और 'मम' आदेश होने के अनन्तर 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप होकर 'तवद्+ङस्'और 'ममद्+ङस्' यह स्थिति हुई।

युष्मदस्मद्भ्यां ङसोश् 7.2.97

तव। मम। युवयोः। आवयोः।

व्याख्याः युष्मद् और अस्मद् शब्दों से ङस् (षष्ठी के एकवचन) को 'अश्' आदेश हो।

तव, मम–'ङस्' को 'अश्' आदेश होने पर 'तवद् अ' और 'ममद् अ' इस स्थिति में 'शेषे लोपः' सूत्र से 'टि' 'अद्' का लोप होकर तव और मम रूप बने।

यहाँ भी 'ङस्' को 'अश्' आदेश होने से विभक्ति के अनादेश न मिलने के कारण 'योचि' सूत्र से यत्व नहीं हुआ। अतएव, विभक्ति के यत्व निमित्तक न होने से 'शेषे लोपः' से टि का लोप हुआ।

युवयोः, आवयोः–'ओस्' में पहले 'युवावौ–' सूत्र से मपर्यन्त भाग को 'युव' और 'आव' आदेश हुए। तब 'अतो गुणे' से पररूप होने के अनन्तर 'युवद्+ओस्' और 'आवद्+ओस्' इस स्थिति में अनादेश अजादि विभक्ति ओ परे रहते दकार को 'योचि' सूत्र से यकार आदेश हुआ। रकार को रुत्व विसर्ग होकर युवयोः आवयोः रूप सिद्ध हुए।

साम आकम् 7.1.33

आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। यूवयोः। आवयोः। युष्मासु। अस्मासु।

व्याख्याः इन दोनों–युष्मद् और अस्मद्–से परे 'साम्' को 'आकम्' आदेश हो।

'आम्' को सुट् आगम होने से 'साम्' बनता है। सुट सहित 'आम्' को आकम् आदेश का इसमें विधान है।

परन्तु 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द हलन्त हैं। इनसे परे 'आम्' को सुट् की प्राप्ति ही नहीं। अतः सुट् सहित 'आम्' के न होने से सूत्र में 'साम्' यह सकार सहित पढ़ना व्यर्थ है। इस आशङ्का का निवारण यों हाता है कि यदि 'आम्' को ही 'आकम्' कर दिया जाय तो 'शेषे लोपः' से अन्त्यलोप[1] पक्ष में दकार का लोप होने पर ये शब्द अकारान्त बन जायेंगे और 'सुट्' होने लगेगा। उस भावी 'सुट्' की निवत्ति के लिये सुट् 'आम्' को 'आकम्' का विधान किया है। अतः 'आकम्' होने के अनन्तर 'सुट्' नहीं होता।

युष्माकम्, अस्माकम्–षष्ठी के बहुवचन में 'युष्मद्+आम्' और 'अस्मद्+आम्' इस दशा में 'आम्' को 'आकम्' आदेश हुआ। तब 'शेषे लोपः' सूत्र से अन्त्यलोप पक्ष में दकार का लोप होकर 'युष्म+आकम्' और 'अस्म्+आकम्' इस स्थिति के बन जाने पर सवर्णदीर्घ होकर रूप सिद्ध हुए।

टिलोप पक्ष में 'अद्' टि का लोप होकर ही रूपसिद्ध हो जाते हैं सवर्णदीर्घ की आवश्यकता नहीं रह जाती।

त्वयि मयि—सप्तमी के एकवचन में 'युष्मद्+ङि' और 'अस्मद्+ङि' इस स्थिति में 'त्वमावे' सूत्र से मपर्यन्त भाग को 'त्व' और 'मम' आदेश और 'अतो गुणे' से पररूप होकर 'तवद्+इ' और 'मद्+इ' इस स्थिति में 'योचि' सूत्र से दकार को यकार होने से 'त्वयि' और 'मयि' रूप सिद्ध हुए।

युष्मासु, अस्मासु—बहुवचन में 'युष्मद्+सु' और 'अस्मद्+सु' इस अवस्था में 'युष्मदस्मदोः—' सूत्र से दकार को आकार होने के अनन्तर सवर्णदीर्घ होकर 'युष्मासु' और 'अस्मासु' रूप सिद्ध हुए।

इन सब रूपों पर ध्यान देने से पता लग जाता है कि केवल शस्, भिस् भ्यस् और सुप् इन वचनों के अतिरिक्त 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द का कुछ अंश भी नहीं रहता। बिल्कुल नया ही आकार हो जाता है। पूर्वोक्त बहुवचनों में 'युष्म' और 'अस्म' अंश रहता है।

युष्मदस्मदोः षष्ठी—चतुर्थीद्वितीयारथयोर्वांनावौ 8.1.20

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठयादिविशिष्टयोः 'वाम्' 'नौ' इत्यादेशौ स्तः।

व्याख्याः षष्ठी, चतुर्थी और द्वितीया विभक्तियों से युक्त युष्मद् और अस्मद् शब्द जब किसी पद से परे हों,परन्तु पाद (श्लोक या ऋचा के चरण) के आदि में न हो तो, इनको क्रमशः 'वाम्' और 'नौ' आदेश होते हैं। 'युष्मद्' को 'वाम्' और 'अस्मद्' को 'नौ' होता है।

यह सूत्र यद्यपि तीनों विभक्तियों के सभी वचनों में सामान्य रूप से आदेश विधान करता है। तथापि अग्रिम तीन सूत्रों से बाध होने के कारण केवल द्विवचन में ही ये आदेश होते हैं।

बहुवचनस्य वस्नसौ 8.1.21

उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नौ स्तः।

व्याख्याः पद से पर, पाद के आदि में न होने पर षष्ठ्यादि बहुवचनान्त युष्मद और अस्मद शब्दों को क्रम से 'वस्' और 'नस्' आदेश हों।

'युष्मद्' को 'वस्' और 'अस्मद्' को 'नस्' आदेश होता है सकार के रुत्व विसर्ग हो जाते हैं ये वस्, नस् आदेश 'वाम्' और 'नौ' आदेश के अपवाद (बाधक) हैं।

सभी विभक्तियों के द्विवचन में 'वाम्' और 'नौ' तथा बहुवचन में 'वस्' और 'नस्' आदेश होते हैं।

एकवचन में सभी के समान आदेश नहीं होते। द्वितीया के एकवचन में 'त्वा' और 'मा' तथा चतुर्थी और षष्ठी के एकवचन में 'त' और 'मे' आदेश होते हैं।

तेमयावेकवचनस्य 8.1.22

उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोरस्ते मे एतौ स्तेः।

व्याख्याः पद से परे, पाद के आदि में न होने पर षष्ठी और चतुर्थी के एकवचन में युष्मद् और अस्मद् शब्दों को 'ते' और 'मे' आदेश हो।

---

1. 'नः पायादेकरदनः—गणेश हम सबकी रक्षा करें'—इस पद्यखण्ड में 'नः' का आदेशपाद के आदि में किया गया है। इसलिये यह चिन्त्य है।

2. वाक्य का परिष्कृत लक्षण यह है—एक तिङन्तार्थमुख्यविशेष्यक बोधजनकत्वम् अर्थात् वाक्य में एक तिङन्त का अर्थ मुख्य विशेष्य रहना चाहिए इसीलिए 'पश्य' मगो धावति' यह भी एक वाक्य है। क्योंकि 'दौड़ते हुए मग को देखो' इस प्रकार यहां 'पश्य' इस एक तिङन्त का अर्थ ही मुख्य विशेष्य है।

3. इसी प्रकार 'योग्निर्हव्यवाट्, तस्मै ते नमः।' यहां द्वितीय वाक्य में अन्वादेश होने के कारण वाक्य में अन्वादेश होने से 'ते' आदेश हुआ है।

त्वामौ द्वितीयायाः 8.1.23

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः। श्रीशस्त्वावतु मापीह दत्तात् ते मेपि शर्म सः। स्वामी ते मेपि स हरिः, पातु वामपि नौ विभुः।। सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नौ हरिः। सोव्यात् वो नः शिवं, वो नो, दद्यात् सेव्योत्र वः स नः।

व्याख्याः पूर्वोक्त प्रकार से युष्मद् और अस्मद् शब्द जब द्वितीया के एकवचन में हों तब उनको क्रम से 'त्वा' और 'मा' आदेश हो।

श्रीश इति—(इह) इस संसार में (श्रीशः) लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु (त्वा) तुम्हें (अवतु) पाले (मा अपि) मुझे भी। (स) वह (ते) तेरे लिये (मे) मेरे लिये (शर्म) कल्याण (दत्तात्) देवे। (स हरिः) वह भगवान् विष्णु (ते) तुम्हारा (मेपि) और मेरा भी (स्वामी) स्वामी है। (विभुः) व्यापक भगवान् (वाम्) तुम दो की (नौ अपि) हम दो की भी (पातु) रक्षा करे। (ईशः) सर्वशक्तिमान् परमात्मा (वाम्) तुम दो को (नौ) हम दो को (सुखम्) सुख (ददातु) देवे। (हरिः) भगवान् (वाम्) तुम दो का (नौ अपि) हम दो का भी (पतिः) स्वामी है। (सः) वह भगवान् (वः) तु सब की (नः) हम सब की (अव्यात्) रक्षा करे और (वः) तुम सब को (नः) हम सबको (शिवम्) कल्याण (दद्यात्) देवे। (अत्र) इस संसार में (सः) वह भगवान् (वः) तुम सबका (नः) हम सब का (सेव्यः) सेवनीय है।

इन दो पद्यों में उक्त चार सूत्रों के उदाहरण आ गये हैं। पहले तीनों विभक्तियों के एकवचन के, फिर द्विवचन के और अन्त में बहुवचन के उदाहरण दिये हैं। आदेशों के नीचे रेखा दे दी गई है ताकि वे पथक् मालूम हो सकें।

ध्यान देने से प्रतीत होाग कि ये आदेश पद से पर को किये गये हैं और चरण[1] के आदि में नहीं किये गये हैं। जैसे पहला पद 'त्वा' द्वितीया का एकवचन है। वह 'श्रीशः' पद से पर है और पाद के आदि में नहीं। इसी प्रकार अन्य आदेश भी हैं।

इन आदेशों के विषय में कुछ थोड़े से नियम आगे और बताये जाते हैं। उनको भी ध्यान में रखना चाहिये।

(वा) एकवाक्ये युष्मद्स्मदादेशा वक्तव्याः। एकातिङ् वाक्यम्। तेनेह न—ओदनं पच, तत्र भविष्यति। इह तु स्यादेव—शालीनां ते ओदनं दास्यामि।

व्याख्याः युष्मद् और अष्मद् शब्दों को ये आदेश होते हैं, एकवाक्य में ही हों।

एकतिङ् इति—एक[2] तिङन्त जिसमें हो उसे वाक्य कहते हैं अर्थात् वक्य में एक ही तिङन्त पद रहता है। इसलिए यहां नहीं हुआ—'ओदनं पच, तव भविष्यति=भात, पका, तव (यह) तुमहारा हो जायेगा।' इसमें दो तिङन्त पद हैं 'पच' और 'भविष्यति'। इसलिए यह एक वाक्य नहीं, दो वाक्य हैं—'ओदनं पच' और तव भविष्यति'। पहले वाक्य 'पच' पद से परे द्वितीय वाक्य के 'तव' पद को 'ते' आदेश नहीं हुआ। क्योंकि कहा गया है कि ये आदेश एक ही वाक्य में होते हैं।

इह तु इति—यहां तो आदेश होगा ही—'शालीनां ते ओदनं दास्यामि—तुम्हें चावलों का भात दूंगा।' यह एक वाक्य है। क्योंकि इसमें 'दास्यामि' यह एक ही तिङन्त पद है। अतः 'शालीनाम्' इस पद से परे होने के कारण युष्मद् शब्द के चतुर्थ्यन्त पद 'तुभ्यम्' के स्थान में 'तेमयावेकवचनस्य' से 'ते' आदेश हुआ।

(वा) एते वांनावदयोनन्वादेशे वा वक्तव्याः। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। (अनन्वादेशे) धाता ते भक्तोस्ति, धाता तब भक्तोस्ति वा। (अन्वादेशे) तस्मै ते नमः। सुपात्, सुपाद्। सुपादौ।

व्याख्याः ये 'वाम्' 'नौ' आदि आदेश अनवादेश के अभाव मे विकल्प में हों।

अन्वादेशे इति—(इसका फलितार्थ हुआ कि) अन्वादेश में नित्य हों।

अनन्वादेशे 'धाता से भक्तोस्ति'— अनवादेश का उदाहरण है। यहाँ अन्वादेश नहीं, क्योंकि पहले ही इसकी चर्चा की जा रही है। इस वाक्य में विकल्प से 'ते' आदेश होगा अतः यहां 'धाता तव भक्तोस्ति' 'ते' आदेश रहित यह

1. यह अर्थ 'पदाङ्गधिकारे तस्य च तदन्तस्य च् और 'निर्दिश्यमान स्यादेशाः भवन्ति' इन परिभाषाओं के अनुसार हुआ है। इनका सारा रहस्य 'जराया जरसन्यतरस्याम्' सूत्र मे स्पष्ट किया गया है। यहां परिभाषाओं के द्वारा सिद्ध अर्थ ही लिख दिया है।

वाक्य भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

अन्वादेशे-तस्मै[3] ते नमः'—अन्वादेश का उदाहरण है। इस वाक्य में अन्वादेश है। क्योंकि 'धाता' ते वा तव भक्तोस्ति' इस प्रथम वाक्य में पहले इसकी चर्चा हो चुकी है। नमस्कार के लिये उसका पुनः विधान है। इसलिये अन्वादेश होने के कारण नित्य ही 'ते' आदेश हुआ। यहां 'तस्मै तुभ्यं नमः' कहना अशुद्ध होगा।

प्र.	त्वम्	युवाम्	यूयम्	प्र.	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि.	त्वाम् त्वा	युवाम् वाम्	युष्मान् वः	द्वि.	माम् मा	'' नौ	अस्मान्
त	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः	त	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च.	तुभ्यम् ते	" वाम्	युष्मभ्यम् वः	च.	मह्यम् मे	" नौ	अस्मभ्यम् नः
पं.	त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्	पं.	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
ष.	तव ते	युवयोः वाम्	युष्माकम् वः	ष.	मम मे	आवयोः नौ	अस्माकम् नः
स.	त्वयि	युवयोः	युष्मासु	स.	मयि	आवयोः	अस्मासु

सुपाद् (सुन्दर पैरों वाला) शब्द।

सुपात्—सुपाद् शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'सुपाद् स्' इस अवस्था में –हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र से अपक्त सकार का लोप होने पर अवसान होने से दकार को 'वावसाने' सूत्र से विकल्प से चर् तकार होकर दो रूप सुपात् और सुपाद् बने।

सुपादौ—यह 'औ' का रूप है। कोई कार्य नहीं होता। इसी प्रकार अस् में–सुपादः, अम में–सुपादम् और औट् में–सुपादौ रूप होते हैं।

पादः पद् 6.4.130

[1]पाच्छब्दान्तं यदङ्गं मं तदवयवस्य पाच्छब्व्द्स्य पदादेशः। सुपदः। सुपदा सुपाद्भ्याम्। इति दकारान्ताः। अग्निमत्, अग्निमथ्। अग्निमथौ। अग्निमथः। इति थकारान्ताः।

व्याख्याः 'पाद' शब्दान्त जो भसंज्ञक अङ्ग, उसके अवयव 'पाद्' शब्द को 'पद' से आदेश हो।

अजादि विभक्यिों में ही भसंज्ञा होती है। अतः 'शस्' से लेकर सभी अजादि विभक्तियों में 'पाद' को 'पद्' आदेश होगा।

सुपदः—'सुपाद+शस्' इस स्थिति में पाद् शब्दान्त भसंज्ञक अङ्कग, 'सुपाद्' के अवयव 'पाद्' शब्द को 'पद्' आदेश हुआ। तब विभक्ति के सकार को रुत्व विसर्ग होने पर सूत्र सिद्ध हुआ।

सुपदा—टा में भी पूर्वोक्त प्रकार से पद् आदेश होने पर रूप सिद्ध होता है।

त	सुपदा	सुपाद्भ्याम्	सुपादिम्भः।	ष.	सुपदः	सुपदोः	सुपदाम्।
च.	सुपदे	''	सुपादभ्यः।	स.	सुपदि	''	सुपात्सु।
पं.	सुपदः	''	''।				

दकारान्त शब्द समाप्त।

थकारान्त अग्निमथ् (अग्नि को मथनेवाला) शब्द।

अग्निमत्—अग्निमथ् शब्द के प्रथमा के एकवचन में अपक्त सकार का लोप होने के अनन्तर अवसान में हो जाने से थकार को 'वावसाने' सूत्र से विकल्प से चर् तकार होकर 'अग्निमत्' और 'अग्निमथ्' ये दो रूप सिद्ध हुए।

इस 'अग्निमथ्' शब्द के रूप अजादि विभक्तियों में विभक्ति मिला देने मात्र से सिद्ध होते हैं और हलादि में पदान्त होने से थकार के स्थान में 'झलां–' से जश् दकार होकर रूप सिद्ध होते हें। 'सुप्' में थकार को चर् तकार होता है।

प्र.	अग्निमत्–थ्	अग्निमथौ	अग्निमथः	च.	अग्निमथे	अग्निमद्भ्याम्	अग्निमदम्यः
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	प.	अग्निमथः	''	''
द्वि.	अग्निमथम्	हे ''	''	ष.	''	अग्निमथोः	अग्निमथाम्
त	अग्निमथा	अग्निमद्भ्याम्	अग्निमदम्यः	स.	अग्निमथि	''	अग्निमत्सु

थकारान्त शब्द समाप्त

चकारान्त शब्द। प्र अन्च् (पूर्व दिशा, काल और देश)

प्र उपसर्ग पूर्वक 'अश्चच्' धातु से 'ऋत्विग्–सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने से यह शब्द बनता है। 'क्विन्' का सर्वापहार लोप होता है।

अनिदितां हल उपधाया क्ङिति 6.4.24

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति ङिति। नुम्। संयोगान्तलोपः। नस्य कुत्वंन ङः। प्राङ्, प्राचौ, प्राचः।

व्याख्याः हलन्त अनिदित् (जिसके ह्रस्व इकरकी इत् संज्ञा न हुई हो) अङ्ग के उपधा नकार का लोप हो कित् और ङित् प्रत्यय परे रहते।

क्विन् प्रत्यय कित् है, उसके परे रहते हलन्त अङ्ग 'प्र अ न् च्' के उपधा नकार का लोप हो जाता है। तब शब्द का रूप 'प्र अ च्' रहता है।

नुम्–'प्र अच् स्' इस दशा में 'उगिदचां सर्वनामस्थानेधातेः' सूत्र से नुम् आगम होता है।

संयोगान्तलोप इति–'प्र अ न् च् स्' इस दशा में अपक्त सकार का हल्ङ्यादि लोप होने पर चकार पदान्त बन जाता है। वह संयोगान्त पद के अन्त में होने से 'संयोगान्तस्य' इस सूत्र के द्वारा होने वाले लोप का विषय बन जाता है।

नस्य इति–'प्र अ न्' इस स्थिति में नकार के स्थान में 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' सूत्र से कवर्ग ङकार आदेश हुआ। इन तीनों वचनों के द्वारा 'प्राङ्' की सिद्धि के लिये अपेक्षित विशेष कार्य बताये हैं।

प्राङ्–'प्राच्' शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'प्र अच्+स' इस अवस्था में 'उगिदचां सर्वनामस्थानेधातेः' सूत्र से नुम् आगम हुआ तब 'प्रा न् च् स्' इस स्थिति में 'हल्ङ्याबभ्यः' सूत्र से अपक्त सकार का लोप हुआ। तब पदान्त बन जाने से संयोगान्त 'प्रा न् च्' पद के अन्त्य चकार का लोप हुआ। तब 'प्रान्' इस दशा में 'क्विन्प्रत्ययस्य–' सूत्र से नकार को कवर्ग ङकार होकर प्राङ् रूप बना।

'औ' 'जस्' 'अम्' और 'औट्' ये चारों भी 'सु' के समान सर्वनामस्थान प्रत्यय हैं। इनके परे रहते 'उगिदचां–' सूत्र से 'नुम्' आगम होता है और नकार को श्चुत्व से ञकार होकर औ में–प्राञ्चौ, जस् में–प्राञ्चः, अम् में प्राञ्चम् और औट् में–प्राचौ रूप बनते हैं।

'शस्' से आगे अजादि विभक्ति परे रहते अङ्ग की भसंज्ञा भी होती है। शस् में भी भसंज्ञा हुई।

अचः 6.4.138

लुप्तनकारस्याचतेर्भस्याकारस्य लोपः।

व्याख्याः लुप्ताकार (जिसके नकार का लोप हुआ हो) भसंज्ञक अचु के अकार का लोप हो।

'प्र अच्+इस' इस दशा में 'अचु' के नकार का लोप हुआ है और सर्वनामस्थान भिन्न अजादि शस् विभक्ति परे रहने से यह भसंज्ञक भी है। अतः इसके अकार का लोप हुआ। तब 'प्र च् अस' यह दशा हुई।

चौ 6.3.138

लुप्ताकारनकारेचतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम्। प्रत्यङ् प्रत्यचौ। प्रतीचः। प्रत्ग्भ्याम्। उदङ् उदचौ।

व्याख्याः जिस अचु के नकार और अकार का लोप हुआ हो, उसके परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ हो।

प्राचः—'प्र च् अस्' इस दशा में लुप्ताकारनकार अच् धातु 'च्' के परे रहते पूर्ण अण् 'प्र' के अकार को दीर्घ होकर प्राचः रूप सिद्ध हुआ।

टा आदि अजादि विभक्तियों के रूप शस् के समान अकार लोप और पूर्व अण् को दीर्घ करने से बनेंगे। हलादि विभक्तियों में भसंज्ञा न होने से अकार का लोप न होगा। किन्तु उस अकार का उपसर्ग के अकार के साथ सवर्णदीर्घ होगा, चकार को पदान्त होने से पहले जश्त्व जकार होगा और उसको 'चोः कुः' से कवर्ग गकार। सुप् में 'प्राक् सु' इस दशा में प्रत्यय के सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकार होकर प्राक्षु रूप बनता है।

प्र.	प्राङ्	प्राचौ	प्राचः	च.	प्राचे	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः
सं.	हे "	हे "	हे "	पं.	प्राचः	"	"
द्वि.	प्राचम्	"	प्राचः	ष.	"	प्राचोः	प्राचाम्
त	प्राचा	प्राग्भ्याम्	प्राग्भिः	स.	प्राचि	"	प्राक्षु

प्रति अच् (पश्चिम दिशा, काल, देश) शब्द।

प्रत्यङ्—'प्रति अच् स' इस दशा में 'उगिदचां' सूत्र से नुम् होने पर सकार का हल्ङ्यादिलोप और चकार का संयोगान्तलोप हुआ। तब नकार को कुत्व ङकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्रत्यचौः— 'औ' का रूप है, कुछ कार्य नहीं होता।

प्रतीचः—'प्रति अच् अस्' इस दशा में भसंज्ञा होने से :अचः' सूत्र से अकार का लोप हुआ। तब 'चौ' से पूर्व अण् 'प्रति' के अन्त्य इकार को दीर्घ रूप सिद्ध हुआ।

प्रत्यग्भ्याम्—यहां हलादि विभक्ति होने से न तो भसंज्ञा होती है और अत एव न अकार का लोप ही होता है। चकार को जश्त्व जकार और उसको गकार हुआ है।

इस शब्द के रूप 'प्राच' के समान ही सिद्ध होते हैं।

उदच् (उत्तर दिशा, काल, देश)

उदङ्—सर्वनामस्थान विभक्ति होने से प्राङ् के समान ही रूप सिद्ध होता है।

प्र.	उदङ्	उदचौ	उदचः।	दि.	उद्चम्	उदचौ।
सं.	हे "	हे "	हे "			

शस् में 'उद् अच् अस्' इस स्थिति में 'अचः' सूत्र से अकार का लोप प्राप्त हुआ।

उद[6] ईत[1] 6.4.139

उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारचतेर्भस्याकारस्य ईत्। उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम्।

व्याख्याः 'उत्' शब्द से परे लुप्त नकार 'अचु' के भसंज्ञक अङ्ग के अकार को 'ई' कार आदेश हो।

उदीचः—'उद् अच् + अस्' इस स्थिति में भसंज्ञक अङ्ग 'अच्' के अकार को ईकार हुआ, सकार को रुत्व विसर्ग होने पर 'उदीचः' रूप सिद्ध हुआ।

अजादि विभक्तियों में भसंज्ञा होने से इसी प्रकार रूप बनेंगे।

प्र.	उदीचा	उदग्भ्याम	उदग्भिः।	ष.	उदीचः	उदीचोः	उदीचाम्।
च.	उदीचे	″	उदग्भ्यः।	स.	उदीचि	″	उदक्षु ।
पं.	उदीचः	″	″ ।				

सम् अच् (ठीक चलने वाला)

समः समि 6.3.93

वप्रत्ययान्तेचतौ। सम्यङ्, सम्यचौ। समीचः। सम्यग्भ्याम्।

व्याख्याः 'व' प्रत्ययान्त अच् परे रहते 'सम्' को 'समि' आदेश हो। व प्रत्यय से तात्पर्य क्विन् प्रत्यय से है।

इस प्रकार 'सम अच्' के स्थान में 'समि अच्' शब्द बन गया। इसके रूप सर्वनामस्थान में पूर्ववत् बनेंगे। शसादि अजादि विभक्तियों में 'अचः' से अकार का लोप भी होगा और 'चौ' सूत्र से पूर्व अण् 'समि' के इकार को दीर्घ भी।

प्र.	सम्यङ्	सम्यचौ	सम्यचः	च.	समीचे	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भ्यः
सं.	हे ″	हे ″	हे ″	पं.	समीचः	″	″
द्वि.	सम्यचम्	″	समीचः	ष.	″	समीचोः	समीचाम्
त	समीचा	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भिः	स.	समीचि	″	सम्यक्षु

सह अच् (साथ चलने वाला, साथी)

सहस्य सध्रिः 6.3.95

तथा। सध्र्यङ्।

व्याख्याः व प्रत्ययान्त अच् परे रहते सह को सध्रि आदेश हो।

प्र.	सध्र्यङ्	सध्र्यचौ	सध्र्यचः।	च.	सध्रीचे	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भ्यः
स.	हे ″	हे ″	हे ″	पं.	सध्रीचः	″	″
द्वि.	सध्र्यचम्	″	सध्रीचः	ष.	″	सध्रीचोः	सघ्रीचाम्
त	सध्रीचा	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भिः	स.	सध्रीचि	″	सध्र्यक्षु

तिरस् अच् (तिर्यङ् योनि, पशुपक्षी आदि)

तिरसस्तिर्यलोपे 6.3.94

अलुप्ताकारेचतौ वप्रयत्यान्ते तिरसस्तिर्यादेशः। तिर्यङ्। तिर्यचौ। तिरश्चः। तिर्यग्भ्याम्।

व्याख्याः अलुप्ताकार (जिसमें अकार का लोप न हुआ हो) और वप्रत्ययान्त अच् परे रहते 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश हो।

अकार का लोप भसंज्ञा के स्थलों में होता है और भसंज्ञा शस्प्रभति अजादि विभक्तियों में होती है। इनको छोड़कर सर्वनामस्थान और हलादि विभक्तियों में भसंज्ञा न होने से 'अच्' के अकार का लोप नहीं हेता। अतः सर्वनामस्थान और हलादि विभक्त परे रहते 'तिरि' आदेश होता है। तिरि के अन्त्य इकार को 'अच्' के अकार परे रहते यण् हो जाता है।

प्र.	तिर्यङ्	तिर्यचौ	तिर्यचः	च.	तिरश्चे	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भ्यः
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	पं.	तिरश्चः	''	''
द्वि.	तिर्यचम्	''	''	ष.	''	तिरश्चोः	तिरश्चाम्
त	तिरश्चा	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भिः	स.	तिरश्चि	''	तिर्यक्षु

शसादि अजादि विभक्तियों के परे रहते भसंज्ञा होने से 'अचः' सूत्र से अकार का लोप होने पर सकार को श्चुत्व शकार होकर रूप बनते हैं। इस लिए यहां 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश नहीं होता।

नॉचेः पूजायाम् 6.4.30

पूजार्थस्याचतेरुपधाया नस्य लोपो न। प्राङ्, प्राचौ। नलोपाभावाद् 'अ' लोपो न–प्राचः। प्राङ्क्षु। एवम्–प्रत्यङ्ङादयः। क्रुङ्, क्रुचौ। क्रुङ्भ्याम्। पयोमुक्, पयोमुग् पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम् इति। चकारान्ताः।

व्याख्याः पूजार्थक 'अचु' धातु के उपधा नकार का लोप न हो।

'अचु' धातु के गति और पूजा दो अ र्थ हैं। इनमें से पूजा अर्थ में 'अनिदिताम्–' सूत्र से प्राप्त नकार के लोप का इस सूत्र से निषेध किया गया।

प्रपूर्वक 'अच्' धातु से 'ऋत्विग्–' सूत्र से क्विन्प्रत्य और उसका सर्वापहार लोप होने पर 'अनिदितां–' सूत्र से नकार का लोप प्राप्त हुआ। उसका निषेध प्रकृत सूत्र से हुआ। नकार को अनुस्वार और परसवर्ण होकर 'प्राच्' शब्द बना। कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर इससे 'सु' आदि की उत्पत्ति हुई।

प्राङ्–'सु' में 'प्राच् स्' इस अवस्था में 'हल्ङ्याब्भ्यः' से अपक्त सकार का लोप होने पर पदान्त हो जाने से संयोगान्त पद 'प्राच्' के (अलोन्त्यपरिभाषा से) अन्त्य अल् चकार का लोप हुआ। तब निमित्त चकार के निवत्त हो जाने पर कार्य अनुस्वार और परसवर्ण के निवत्त हो जाने से 'नकार' आया। 'प्रान्' इस स्थिति में 'क्विन्प्रत्यस्य–' सूत्र से नकार को कवर्ग ङकार हुआ तो 'प्राङ्' रूप सिद्ध हुआ।

प्राचौ– 'प्राच्+औ' इस स्थिति में संयोग होकर रूप सिद्ध हुआ। अन्य कोई कार्य नहीं हुआ।

इस पूजापक्ष में अजादि विभक्ति मिला देने मात्र से रूप सिद्ध हो जाते हैं। शसादि में भी नकार का लोप न होने से अकार का भी लोप नहीं होता। हलादि विभक्तियों में पदसंज्ञा होने से चकार का संयोगान्तलोप और नकार को ङकार कार्य होता है।

नलोपाभावाद् इति–पूजा अर्थ में नकार का लोप न होने से अकार का लोप भी नहीं होता, क्योंकि अकार के लोप का विधायक 'अचः' नकार के लोप होने पर ही अकार का लोप करता है।

प्राचः– 'प्राच + शस्' इस स्थिति में पूजा अर्थ के कारण नकार का लोप नहीं होता एव अकार का लोप भी नहीं होता।

प्राङ्क्षु–सुप् में चकार का लोप होने पर 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' सूत्र से शर् सकार परे रहते ङकार को कुक् का आगम विकल्प से हुआ। तब 'चयो द्वितीयाःशरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' वार्तिक से ककार का द्वितीय वर्ण खकार होने पर कवर्ग खकार से परे होने के कारण प्रत्यय 'सुप्' के अवयव सकार को 'आदेश–' सूत्र से षकार आदेश होकर 'प्राङ्ख्षु' रूप सिद्ध हुआ। जब द्वितीय वर्ण नहीं हुआ उस पक्ष में कवर्ग ककार से परे होने से सकार का मूर्धन्य षकार और क और ष के संयोग से क्ष होकर प्राङ्क्षु रूप बना। कुक् के अभाव पक्ष में प्राङ्षु। इस प्रकार यहां तीन रूप सिद्ध हुए हैं।

---

1. 'वर्तमाने पषन्महत्बहत्जगत् शतवच्च' इस उणादि सूत्र से निपातन द्वारा महत् शब्द बना है और शतवद्भाव से उगित् है। अतएव नुम् हुआ। यह सु के विषय में कहा जा रहा है, वैसे सभी सर्वनामस्थानों में नुम् होता है।

प्र.	प्राङ्	प्राचौ	प्राचः	च.	प्राचे	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः
सं.	हे '	हे ''	हे ''	पं.	प्राचः	''	''
द्वि.	प्राचम्	''	''	ष.	''	प्राचोः	प्राचाम्
त	प्राचा	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भिः	सं.	प्राचि''	प्राङ्खषु–प्राङ्क्षु–प्राङ्षु	

पूजा अर्थ में इसी प्रकार अन्य प्रत्यच्, उदच्, सम्यच् सध्र्यच् और तिर्यच् आदि के रूप भी बनेंगे । ध्यान रहे 'समि' 'सध्रि' के समान 'तिरि' आदेश भी पूजा अर्थ में सर्वत्र होगा, क्योंकि यह आदेश जहां अकार का लोप न हुआ हो वहीं होता है और पूजा अर्थ में नकार का लोप न होने से अकार का लोप भी नहीं होता। अतः यहां सर्वत्र आदेश होंगे। 'सुप्' में तीन–तीन रूप बनेंगे।

क्रुच् (क्रौच पक्षी)

क्रुच् शब्द के रूप पूर्वोक्त शब्दों के पूजार्थक रूपों के समान ही बनेंगे। क्योंकि 'ऋत्विग्–' सूत्र से यह शब्द क्विन्प्रत्ययान्त निपातन होता है। नकार के लोप का अभाव भी इसमें निपातन से ही होता है।

प्र.	क्रुङ्	क्रुचौ	क्रुचः	च.	क्रुचे	क्रुङ्भ्याम्	क्रुड्भ्यः
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	पं.	क्रुचः	''	''
द्वि.	क्रुचम्	''	''	ष.	''	क्रुचोः	क्रुचाम्
त	क्रुचा	क्रुङ्भ्याम्	क्रुङ्भिः	सं.	क्रुचि	''	क्रुङ्ख्षु क्रुङ्क्षु–क्रुङ्षु

पयोमुच (बादल)

पयोमुक् ग्–'पयोमुच्' शब्द क्विप्प्रत्ययान्त है। सु में पहले 'झलां–' सूत्र से चकार को जश् जकार होता हैं 'चोः कुः' सूत्र से जकार को गकार होता है। तब 'वावसाने' सूत्र से विकल्प से चर् ककार होता है।

अजादि विभक्तियों में विभक्ति मिला देने से और हलादि में चकार को 'झलां जश'–' सूत्र से जकार करने पर कुत्व गकार होकर रूप सिद्ध होते हैं। 'सुप्' में चकार को कुत्व होने के अनन्तर 'आदेश–' सूत्र से सकार को षकार होकर ककार और षकार के संयागे से क्ष बनाकर पयोमुक्षु रूप बनाई।

प्र.	पयोमुक–ग्	पयोमुचौः	पयोमुचः।	च.	पयोमुचे	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भ्यः।
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	पं.	पयोमुचः	''	''
द्वि.	पयोमुचम्	''	''	ष.	''	पयोमुचोः	पयोमुचाम्।
त	पयोमुचा	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भिः	सं.	पयोमुचि	''	पयोमुक्षु।

चकारान्त शब्द समाप्त

1. 'विद्वान्' और 'महान्' यहां सकार और तकर के संयोगान्त लोप के असिद्ध होने से नकार अन्त में नहीं मिलता। अतः नान्त उपधा न होने से 'सर्वनामस्थाने–' सूत्र से दीर्घ प्राप्त नहीं था। अतः इस सूत्र की आवश्यकता आ पड़ी। संयोगान्त लोप के असिद्ध होने से ही अन्त्य नकार का लोप भी नहीं हुआ।
2. सकारान्त संयोग का उदाहरण–विद्वान्, विद्वांसौ।
3. अतुप्रत्ययान्त में संयोगान्त नकार के लोप के असिद्ध होने से 'सर्वनामस्थाने–' से पूर्ववत् दीर्घ प्राप्त नहीं।
4. 'धीरस्यास्ति=बुद्धि (प्रशस्त) जिसकी हो' इस विग्रह में 'धी' शब्द से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' सूत्र से 'मतुप्' प्रत्यय करने से 'ध ीमत्' शब्द बनता है। 'मतुप्' में 'उकार' और 'पकार' अनुबन्ध–इत्संज्ञक– हैं। अत एव उगित् होने से इसको सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते 'उगिदचां–' सूत्र से 'नुम्' आगम होता है।

तकारान्त महत् (बड़ा) शब्द।

उगित्वादिति—उगित् होने से नुम् ('उ गदचां सर्वनामस्थाने–' सूत्र से) हुआ।[1]

सान्त-महतः संयोगस्य 6.4.10

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारः, तस्योपधाया दीर्घोसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान्, महान्तौ, महान्तः। हे महन्। महद्भ्याम्।

व्याख्याः **सान्त[1] इति**—सकारान्त[2] संयोग और महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा का दीर्घ हो सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते।

महान्—'महत् स्' इस दशा में उगित् होने से नुम् आगम हुआ। तब 'मह् न् त् स्' इस स्थिति में हल्ङयादि लोप और संयोगान्तलोप हुए। तदनन्तर' 'महन्' इस दशा में नकारान्त उपधा को दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

महान्तौ—औ में नुम् और उपधादीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

महान्तः—जस् में पूर्वोक्त प्रकार से रूप बना।

सर्वनामस्थान प्रत्ययों में नुम् और दीर्घ होता है, सम्बुद्धि में नहीं। शसादि अजादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होता। हलादि विभक्तियों में जश्त्व दकार होता है। सुप् में खर् परे होने से चर् होता है।

प्र.	महान्	महान्तौ	महान्तः	च.	महते	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
सं.	हे महन्	हे ''	हे ''	पं.	महतः	''	''
द्वि.	महान्तम्	''	महतः	ष.	''	महतोः	महताम्
त	महता	महद्भ्याम्	महद्भिः	स.	महति	''	महत्सु

धीमत् (बुद्धिमान्) शब्द

अत्वसन्तस्य चॉधातोः 6.4.14

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे। उगित्वात् नुम्—धीमान् धीमन्तौ, धीमन्तः। हे धीमन्। शसादौ महद्वत्। भातेर्डवतुः। डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भवान्, भवन्तौ भवन्तः। शत्रन्तस्य-भवन्।

व्याख्याः 'अतु'[3] अन्त की उपधा को दीर्घ हो और धातुभिन्न जो अस्, तदन्त की उपधा को भी, असम्बुद्धि सु परे रहते।

'अतु से 'मतुप्' 'वतुप्' 'डवतु' आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है। 'धीमत्'[4] शब्द भी 'अत्वन्त' है।

धीमान्—प्रथमा के एकवचन में 'नुम्' आगम 'सु' के अपक्त सकार का 'हल्–' से और तकार का 'संयोगान्तस्य–' से लोप होने पर 'धीमन्' यह स्थिति हुई। तब उपधा अकार को दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ। 'सु' का लोप हो जाने पर भी प्रत्यय लक्षण कार्य उपधा दीर्घ 'प्रत्ययलोपे प्रत्यलक्षणम्' सूत्र के बल से हो जाता है।

सम्बुद्धि में दीर्घ का निषेध होने से हे धीमन् और सर्वनामस्थान विभक्तियों में दीर्घ विधान न होने से **'धीमन्तौ, धीमन्तः, धीमन्तम्, धीमन्तौ'** ये रूप होते हैं।

---

1. अष्टाध्यायी में द्वित्वप्रकरण दो हैं एक छठे अध्याय में और दूसरा आठवें में। छठे अध्याय में पहले पाद के पहले सूत्र 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' से और आठवें अध्याय में भी पहले पाद के पहले सूत्र 'सर्वस्य द्वे' से प्रारम्भ होता है। इनमें छठे अध्यायवाले द्वित्व प्रकरण में ही 'अभ्यस्तसंज्ञा होती है।

2. जक्ष आदि सातों का परिगणन निम्नलिखित पद्य में है—
'जक्षि–जाग–दरिद्रा–शास्–दीधीङ्–वेवीङ् चकासु च।
अभ्यस्तसंज्ञं विज्ञेयं मुन्युक्तं धातुसप्तकम्।।' इति।।
'दीधीङ्' और 'वेवीङ्' धातुओं का प्रयोग वेद में ही होता है।

शसादि विभक्तियों में महत् शब्द के समान ही रूप बनेंगे।

भवत् (आप) शब्द।

भातेरिति—दीप्ति अर्थवाले 'भा' धातु से 'डवतु' प्रत्यय हुआ। 'ड' की 'चुटू' से उकार की 'उपदेशेजनुनासिक इत्' से इत्संज्ञा होकर लोप हुआ।

डित्वेति—'भा+अवत्' इस स्थिति में यद्यपि सु से कप् प्रत्यय के बीच न आने से डवतु परे रहते भसंज्ञा नहीं होती तथापि डित् करने के सामर्थ्य से 'टि' आकार का लोप हुआ, अन्यथा डित् करना व्यर्थ हो जाएगा। भसंज्ञा चतुर्थ और पचम अध्याय के प्रत्ययों के परे रहते होती है, यह 'डवतु' प्रत्यय ततीय अध्याय का है। इस प्रकार 'भवत्' शब्द बन गया।

भवान्—प्रथमा के एकवचन में 'उगिदचां–' से नुम् आगम 'हल्ङ्याब्भ्यः–' से अपक्त सकार और 'संयोगान्तस्य–' सूत्र से नकार का लोप होने पर 'भवन्' इस स्थिति में अत्वन्त होने से उपधा को दीर्घ होकर भवान् रूप सिद्ध हुआ।

अन्य सर्वनामस्थानों में भी इसी प्रकार नुम् होता है। अन्यत्र कोई विशेष कार्य नहीं होता।

प्र.	भवान्	भवन्तौ	भवन्तः	च.	भवते	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
द्वि.	भवन्तम्	"	भवतः	पं.	भवतः	"	"
त	भवता	भवद्भ्या	भवद्भिः	ष.	"	भवतोः	भवताम्
				स.	भवति	"	भवत्सु

शत्रन्तस्येति—भू धातु से शत प्रत्यय करने से भी 'भवत्' शब्द बनता है। पर उसको प्रकृत सूत्र से दीर्घ नहीं होता, क्योंकि यह 'अतु' अन्त नहीं। अतः 'सु' में प्रकृत सूत्र से दीर्घ न होकर भवन् रूप बना। संयोगान्त तकार लोप के असिद्ध होने से 'सर्वनामस्थाने–' सूत्र से भी दीर्घ नहीं हुआ।

शेष रूप समान ही होते हैं। क्योंकि शत प्रत्यय के कारण शब्द 'उगित्' होता है, अतः सर्वनामस्थान में शत्रन्त को भी 'नुम्' होता ही है और कोई विशेषता है नहीं।

ददत् (देता हुआ) शब्द।

उभे अभ्यस्तम् 6.1.5

षाष्ठद्वित्वपकरणे ये द्वे विहिते, ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः

व्याख्याः छठे[1] अध्याय के द्वित्वप्रकरण में द्वित्व से जिन दो रूपों को किया जाता हे, उन दोनों को मिलाकर अभ्यस्तसंज्ञा हो। मिलकर कहने से अलग–अलग अभ्यस्त संज्ञा नहीं होती।

'ददत् में 'श्लौ 6.1.10 सूत्र से द्वित्व होता है। यह छठे अध्याय का है। अतः इसके दोनों रूप 'दद्' की 'अभ्यस्त' संज्ञा हुई।

नाभ्यस्ताच्छतुः 7.1.78

अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न। ददत्, ददद्। ददतौ। ददतः।

व्याख्याः अभ्यस्त से परे 'शत' को नुम् आगम नहीं होता।

ददत्—प्रथमा के एकवचन में शत के ऋकार के इत्संज्ञक होने के कारण उगित् होने से 'उगिदचां–' सूत्र से नुम्

1. पहले 'तादश्' शब्द को बनाने का प्रकार बताया जाता है, तदनन्तर उसके रूप बनाये जायेंगे।

2. का् प्रतयय होने पर भी ' 349 आ सर्वनाम्नः' से आकार अन्तादेश होता हैं 'का्' का केवल 'अ' बचता हे। 'तादश्' अकारान्त शब्द बन जाता है, तब रूप राम शब्द के समान बनते हैं। इसी प्रकार 'यादश्' आदि भी शब्द बनते हैं। हलन्त प्रकरण में क्विन् प्रत्ययान्त शब्द ही हलन्त होने से दिये जायेंगे।

का आगम प्राप्त था। उसका इस सूत्र से निषेध हो गया। अभ्यस्त संज्ञा 'दद्' की है, उस से परे 'शत' को 'नुम्' आगम का निषेध हो जाने से **ददत्** रूप बना।

इसी प्रकार अन्य रूप भी बनेंगे। कोई विशेष कार्य नहीं होता।

प्र.	ददत्–ददद्	ददतौ	ददतः	च.	ददते	दददभ्याम्	दददभ्यः
सं.	हे "	हे "	हे "	पं.	ददतः	"	"
द्वि.	ददतम्	"	"	ष.	"	ददतोः	ददताम्
त	ददता	दददभ्याम्	ददभिः	सं.	ददति	"	ददत्सु

जक्षत् (खाता हुआ या हंसता हुआ) शब्द।

जक्षित्यादयः षट् 6.1.6

षट् धातवोन्ये जक्षतिश्च सप्तमः, एते अभ्यस्तसंज्ञाः स्युः। जक्षत्, जक्षतौ, जक्षतः। जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्। इति तकारान्ताः।

गुप्, गुब्। गुब्भ्याम्। इति पकारान्ताः।

व्याख्याः छः धातु अन्य और 'जक्ष' सातवां[2], ये अभ्यस्तसंज्ञक हों।

जक्षत्—यहां अभ्यस्तसंज्ञा होने से 'नाभ्यस्तात्–' सूत्र से नुम् का निषेध हुआ तो 'सु' में जक्षत् रूप बना।

इसके रूप 'ददत्' के समान ही बनते हैं।

एवमिति—इसी प्रकार—**जाग्रत्** (जागता हुआ), **दरिद्रत्** (दुर्गति को प्राप्त होता हुआ), **शासत्** (शासन करता हुआ) और **चकासत्** (चमकता हुआ शब्दों के रूप भी बनेंगे)। ये शब्द भी जक्षित्यादिगण में आने से अभ्यस्त संज्ञक हैं। तकारान्त शब्द समाप्त।

पकारान्त गुप् (रक्षक) शब्द।

गुप्—प्रथमा के एकवचन में अपक्त सकार का 'हलङ्याब्भ्यः' सूत्र से लोप करने के अनन्तर पहले 'झलां जशः–' सूत्र से पदान्त झल् पकार को जश् बकार हुआ। तब अवसान में होने से बकार को 'वावसाने' सूत्र से वैकल्पिक चर् पकार होकर दो रूप बने—गुप् और गुब्।

हलादि विभक्तियों के परे रहते पदान्त होने से पकार को 'झलाम्–' सूत्र से बकार होता है। अन्य कोई विशेष कार्य इनके रूपों में नहीं होता।

प्र.	गुप्–गुब्	गुपौ	गुपः	च.	गुपे	गुब्भ्याम्	गुब्भ्यः
सं.	हे "	हे "	हे "	पं.	गुपः	"	"
द्वि.	गुपम्	"	"	ष.	"	गुपोः	गुपाम्
त	गुपा	गुब्भ्याम्	गुब्भिः	स.	गुपि	"	गुप्सु

पकारान्त शब्द समाप्त

शकारान्त तादश्[1] (उसके समान) शब्द

त्यदादिषु दशोनालोचने का् च 3.2.60

त्यादादिषूपपदेषु अज्ञानार्थाद् दशेः का्, चात् क्विन्

व्याख्याः त्यद् आदि उपपद रहते हुए ज्ञानभिन्न अर्थ के वाचक दश् धातु से का्[2] प्रत्यय (भी) हो। चकार (भी) से क्विन् भी हो।

त्यादि 'तद्' उपपद रहते हुए ज्ञानभिन्नार्थवाचक 'दश्' से क्विन् प्रत्यय हुआ। 'क्विन्' का सर्वापहार लोप होने पर

'तद् दश्' यह स्थिति बनी।

आ सर्वनाम्न 6.3.91

सर्वनाम्न आकारोन्तादेशःस्याद् दग्-दश् वतुषु। तादक्, तादग्। तादशौ। तादशः। तादग्भ्याम्।

'त्रेश्च-' इति षः। जश्त्वचर्त्वे—विट्, विड्। विशौ। विशः। विड्भ्याम्।

व्याख्याः सर्वनाम को आकार अन्तादेश हो दग्, दश् और वतु परे रहते।

'तद् दश्' यहां इस सूत्र से 'दश्' परे होने के कारण सर्वनाम 'तद्' को आकार अन्तादेश हुआ। तब 'त आ दश्' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ होकर तादश् शब्द बना।

इसी प्रकार—**यादश्, एतादश्, त्वादश्, मादश्, अस्मादश्, युष्मादश्, भवादश्, कीदश्, ईदश्,** आदि शब्द भी बनते हैं। 'कीदश्' और 'ईदश्' में 'इदंकिमोरीश् की' सूत्र से 'ई' और 'की' आदेश होते हैं।

तादक्— 'तादश्' शब्द के प्रथमा के एकवचन में अपक्त सकार का 'हल—' सूत्र से लोप होने पर पदान्त होने से शकार को पहले 'व्रश्च—' सूत्र से षकार आदेश, तब 'झलां जशः—' सूत्र से झल् षकार को मूर्धास्थान की समानता से जश् डकार, और उसको 'क्विन्—' सूत्र से कवर्ग गकार और अन्त में अवसान में होने से गकार को 'वावसाने—' सूत्र से वैकल्पिक चर् ककार होकर दो रूप सिद्ध हुए—**तादक् और तादग्।**

इसी प्रकार सभी क्विन्प्रत्ययान्त 'घतस्पश्' आदि शकारान्त शब्दों की साधन प्रक्रिया करनी चाहिये। इस ष, ड, ग, क की प्रक्रिया का पूरा ध्यान रहना आवश्यक है।

'तादश्' शब्द की अन्य हलादि विभक्तियों में भी—सुप् को छोड़कर षत्व, ड और ग होते हैं। सुप् में ग के बाद क भी होता है। फिर सकार को षकार और क ष के संयोग से क्ष होकर तादक्षु रूप बनता है।

प्र.	तादक्—तादग्	तादशौ	तादशः	च.	तादशे	तादग्भ्याम्	तादग्भ्यः
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	पं.	तादशः	''	''
द्वि.	तादशम्	हे ''	हे ''	ष.	''	तादशोः	तादशाम्
त	तादशा	तादग्भ्याम्	तादग्भिः	स.	तादशि	''	ताद्क्षु

विश् (वैश्य) शब्द।

जश्त्वचर्त्वे—विश् शब्द में जश्त्व और चर्त्व होता है। 'विश्' शब्द क्विप्प्रत्यान्त है, क्विन्प्रत्ययान्त नहीं। अतः यहां 'डकार' को 'क्विन्प्रत्ययस्य—' से कवर्ग गकार नहीं हुआ। 'तादश्' शब्द से इसमें यही अन्तर है। इसी अन्तर को बताने के लिए मूल में उक्त साधन प्रक्रिया दिखाई है।

विट्-ड्—'विश्' शब्द के प्रथमा के एकवचन में शकार को षकार, षकार को जश् डकार और डकार को विकल्प से चर् टकार होने पर दो रूप सिद्ध हुए।

हलादि विभक्तियों में षकार और डकार तक की प्रक्रिया होती है। 'सुप्' में भी धुड् आगम का विकल्प होता है। अजादि विभक्तियों में पूर्ववत् कोई विशेष कार्य नहीं होता।

प्र.	विट्—विड्	विशौ	विशः	च.	विशे	विड्भ्याम्	विड्भ्यः
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	पं.	विशः	''	''
द्वि.	विशम्	''	''	ष.	''	विशोः	विशाम्
त	विशा	विड्भ्याम्	विड्भिः	स.	विशि	''	विट्त्सु—विट्सु

नश् (नश्वर) शब्द।

नशेर्वा 8.2.63

नशेः कवर्गोन्तादेशो वा पदान्ते। नक्, नग्, नट्, नड्। नशौ। नशः। नग्भ्याम्। नड्भ्याम्।

व्याख्याः 'नश्' को कवर्ग अन्तादेश हो विकल्प से पदान्त में।

कवर्गादेश पक्ष में साधन प्रक्रिया 'तादश्' के और अभावपक्ष में 'विश्' के समान होती है।

प्र.	नक्–ग् नट्–ड्	नशौ	नशः	च.	नशे	नग्भ्याम् नड्भ्याम्	नग्भ्यः नड्भ्यः
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	पं.	नशः	''	''
द्वि.	नशम्	'6	''	ष.	''	नशोः	नशाम्
त	नशा	नग्भ्याम् नड्भ्याम्	नग्भिः नड्भिः	स.	नशि	''	नक्षु नट्त्सु–

घतस्पश् (घी का स्पर्श करनेवाला) शब्द।

स्पशोनुदके क्विन् 3.2.58

अनुदके सुप्युपपदे स्पशेः क्विन्। घतस्पक्, घतस्पग्, घतस्पशौ, घतस्पशः। इति शकरान्ताः।

दधक्, दधग्। दधग्भ्याम्। रत्नमुट्, रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुड्भ्याम्। षट् षड्। षडभिः। षड्भ्यः 2। षण्णाम्। षट्सु। रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम्।

व्याख्याः उदक शब्द भिन्न सुबन्त उपपद रहते 'स्पश्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय हो।

'घतं स्पशति = घी का स्पर्श करता है' इस विग्रह में 'घत' सुबन्त उपपद रहते 'स्पश्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय हुआ और उसका सर्वापहार लोप हुआ। तब 'घतस्पश्' शब्द बना। कृदन्त होने से इसकी प्रातिपदिकसंज्ञा हुई और प्रातिपदिकसंज्ञक होने से सु आदि की उत्पत्ति हुई।

क्विन्प्रत्ययान्त होने से इसके रूप 'तादश्' के समान ही बनेंगे 'सु' और 'सुप्' में ष ड ग क और भ्याम् आदियों में ष ड ग आदेश होकर रूप बनेंगे। अजादियों में कोई विशेष कार्य नहीं होता।

प्र.	घतस्पक्–ग	घतस्पशौ	घस्पशः।	च.	घतस्पशे	घतस्पग्भ्याम्	घतस्पग्भ्यः।
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	पं.	घतस्पशः	''	''
द्वि.	घतस्पशम्	''	''	ष.	''	घस्पशोः	घतस्पशाम्
त	घतस्पशा	घतस्पग्भ्याम्	घतस्पग्भिः।	स.	घतस्पशि	''	घतस्पक्षु

शकरान्त शब्द समाप्त।

षकारन्त दधष् (तिरस्कार करने वाला) शब्द।

दधक्-ग्–'दधष्' शब्द 'ऋत्विग्दधग्–सूत्र से क्विन्प्रत्यय करने से बना है। अतः प्रथमा के एकवचन में अपक्त सकार का लोप होने के अनन्तर पदान्त षकार को 'जश्त्व' से डकार और डकार को 'क्विन्प्रत्ययस्य–' सूत्र से कवर्ग गकार तथा अवसान में वर्तमान गकार को वैकल्पिक चर् चकार होने से दो रूप सिद्ध हुए दधक् और दधग्।

हलादि विभक्तियों में इसी प्रकार जश्त्व और कुत्व होकर रूप बनेंगे। 'सुप्' में ड, ग और क होने के अनन्तर 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से सकार को मूर्धन्य षकार होकर क ष संयोग से क्ष बनकर दधक्षु रूप बनता है।

1. 'रत्नमुय्' शब्द क्विप्त्ययान्त है, क्विन्प्रत्ययान्त नहीं। अतः इसमें '3०5 क्विन्प्रत्ययस्य–' सूत्र से कुत्व नहीं होगा।
2. पदान्त टवर्ग डकार से परे तवर्ग नकार को '65 न पदान्तात्–' सूत्र से षटुत्व का निषेध नहीं हुआ, क्योंकि उसी सूत्र में 'अनाम्' कहकर निषेध का निषेध किया है।

अजादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होता।

रत्नमुष्[1] (रत्न चुरानेवाला) शब्द।

रत्नमुट्—प्रथमा के एकवचन में अपक्त सकार का लोप होने के अनन्तर षकार को डकार और उसको विकल्प से चर् टकार होकर दो रूप—रत्नमुट् और रत्नमुड् बने।

अजादि विभक्तियों में पूर्ववत् कोई विशेष कार्य नहीं होता। हलादि विभक्यिों में डकार होकर रूप सिद्ध होते हैं 'सुप्' में डकार का धुड् आगम के विकल्प से दो रूप **रत्नमुट्त्सु** और **रत्नमुट्सु** बन जाते हैं।

षष् (छ संख्या) शब्द।

षट्-षड्—'षष्' शब्द 'छ' संख्या का वाचक है। अत एव यह नित्य बहुवचनान्त है। षकारान्त संख्यावाचक होने से 'ष्णान्ताः षट्—' सूत्र से इसकी षट् संज्ञा है। अतः 'षड्भ्यो लुक् सूत्र से 'जस्' और 'शस्' का लोप हो गया। तब पदान्त बन जाने से 'षष्' के अन्तिम षकार को 'झलां जशोन्ते—' सूत्र से जश् डकार और डकार को 'वावसाने' से वैकल्पिक टकार होने से षट् और षड् दो रूप बनते हैं।

षड्भिःषड्भ्यः—'भिस्' और 'भ्यस्' में षकार को 'झलां—' सूत्र से डकार होकर रूप सिद्ध होते हैं।

[1]**षण्णाम्**—आम् में 'षट्चतुर्भ्यश्च—' सूत्र से 'नुट्' आगम होकर 'षष् नाम्' यह स्थिति बनी। इसमें षकार को 'झलां जशः—' सूत्र से डकार होने पर 'ष्टुना ष्टुः—' सूत्र से टवर्ग डकार के योग होने से तवर्ग नकार को ष्टुत्व णकार हुआ। तब 'षड् णाम्' इस स्थिति में प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इस वार्तिक से यर् डकार को पर णकार का सवर्ण अनुनासिक णकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

षट्सु—'सुप्' में डकार होने पर डकार को 'डः सि धुट्' से विकल्प से दो रूप **षट्त्सु** और **षट्सु** सिद्ध होते हैं।

पिपठिष् (पढ़ने की इच्छा करने वाला) शब्द।

रुत्वं प्रतीति—'पिपठिष्' शब्द के प्रथमा के एकवचन में अपक्त सकार के हल्ङ्यादि लोप होने पर 'आदेशप्रत्ययोः 8.3.59' सूत्र के द्वारा हुए षकार के पर त्रिपादीस्थ होने के कारण असिद्ध होने से 'ससजुषोः रुः 8.2.67' सूत्र से 'रु' हुआ। तब 'पिपठिर्' स्थिति हुई।

र्वोरुपधाया दीर्घ इकः 8.2.76

रेफवान्तयोरुपधाया इको दीर्घः पदान्ते। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठीर्भ्याम्।

व्याख्याः रकारान्त और वकारान्त शब्दों के उपधा इक् को दीर्घ हो पदान्त में।

पिपठीः—'पिपठिर्' यहां पदान्त में रकारान्त के उपधा इक् इकार को दीर्घ हुआ और रकार को 'खरवसानयाः—' सूत्र से विसर्ग। तब पिपठीः रूप सिद्ध हुआ।

पिपठिषौ—यह औ का रूप है। इसमें कोई विशेष कार्य नहीं होता।

इसी प्रकार अन्य अजादि विभक्तियों के रूप बनते हैं।

पिपठीर्भ्याम्—'पिपठिष्+भ्याम्' इस स्थिति में षत्व के असिद्ध होने से सकार के स्थान में रु आदेश होने पर रकारान्त की उपधा इकार को 'र्वोरुपधायाः—' इस सूत्र से दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अन्य हलादि विभक्तियों के भी रूप बनेंगे।

सुप् में 'पिपठिष् + सु' इस दशा में षत्व के असिद्ध होने से सकार को ससजुषोः—' सूत्र से 'रु' प्रकृत सूत्र से उपध इकार को दीर्घ और रकार को 'खरब' सूत्र से विसर्ग होने पर 'पिपठीः सु' इस स्थिति में 'वाशरि' सूत्र से शर् परे होने से विसर्गों को वैकल्पिक विसर्ग हुए। पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से विसर्गों को सकार हुआ। 'पिपठीःसु' और 'पिपठीस् सु' ये स्थितियाँ हुईं।

---

1. 'विदेःशतुर्वसुः' सूत्र से शत प्रत्यय को वसु आदेश हुआ है।

नुम्-विसर्जनीयशर्—व्यवायेपि 8.3.76

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः। पिपठीष्षु। पिपठीःषु। चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्भ्याम्। चिकीर्षु। इति षकारान्ताः। विद्वान्। विद्वांसौ। हे विद्वान्।

व्याख्याः नुम् विसर्ग और शर् इनमें प्रत्येक के अर्थात् पथक् पथक् व्यवधान होने पर भी इण् और कवर्ग से पर सकार को मूर्धन्य आदेश हो।

'पिपठीस् सु' यहां शर् सकार के और 'पिपठीः सु' यहां विसर्ग के व्यवधान होने पर भी इण् इकार से पर सकार का (दोनों जगह) मूर्धन्य षकार हुआ। तब 'पिपठीस्षु' और 'पिपठीःषु' यह स्थिति बनी। विसर्ग वाले रूप में अन्य कोई कार्य नहीं होता। सकारवाले रूप में पूर्व सकार को ष्टुत्व षकार होकर पिपठीष्षु रूप बना।

प्र.	पिपठीः	पिपठिषौ	पिपठिषः	च.	पिपठिषे	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भ्यः
सं.	हे "	हे "	हे "	पं.	पिपठिषः	"	"
द्वि.	पिपठिषम्	"	"	प.	"	पिपठिषोः	पिपठिषाम्
त	पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भिः	स.	पिपठिषि	"	पिपठीष्षु, पिपठीःषु

चिकीर्ष् (करने की इच्छावाला) शब्द

कीर्ष्ः—'चिकीर्ष्' शब्द के प्रथमा के एकवचन में अपक्त सकार का हल्ङ्यादि लोप होने पर षत्व के असिद्ध होने से 'रात्सस्य' सूत्र के नियम से संयोगान्त सकार का लोप और '93 खरवसानयोः—' सूत्र से रकार को विसर्ग होने से चिकीः रूप सिद्ध हुआ।

चिकीर्षो—'औ' का रूप है। इसमें कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। अन्य अजादि विभक्तियों में भी इसी प्रकार रूप बनेंगे।

चिकीर्भ्याम्—'भ्याम्' में 'सु' के समान षत्व के असिद्ध होने से सकार का पूर्वोक्त नियम से लोप होने पर 'चिकीर्भ्याम्' रूप सिद्ध हुआ।

चिकीर्षु—'सुप्' में पूर्ववत् सकार का लोप होने पर 'चिकीर्सु' इस दशा में खर् सकार परे होने से रकार को 'खरवसानयोः' सूत्र से प्राप्त विसर्ग का 'रोः सुपि' सूत्र के नियम से बाध होने के कारण विसर्ग न हुए। तब इण् रकार से पर प्रत्यय 'सु' के अवयव सकार का 'आदेशप्रत्य—' सूत्र से मूर्धन्य षकार होकर चिकीर्षु रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप 'पिपठिष्' के समान बनते हैं। षकारान्त शब्द समाप्त।

सकारान्त विद्वस् (विद्वान्) शब्द।

विद्वस् शब्द [1]वसुप्रत्ययान्त है। 'वसु' प्रत्यय के उकार के इत्संज्ञक हाोने के कारण यह उगित् है। अतः इनको सर्वनामस्थान परे रहते 'उगिदचां—' सूत्र से नुम् आगम होता है।

विद्वान्—प्रथमा के एकवचन में नुम्, 'हल्ङ्यादि' लोप और संयोगान्त लोप होने पर 'विद्वन् स्' इस स्थिति में 'संयागान्त' लोप के असिद्ध होने के कारण 'सर्वनामस्थाने—' सूत्र से दीर्घ की प्राप्ति न होने से सकारान्त संयोग होने से 'सान्तमहतः—' सूत्र से दीर्घ होकर विद्वान् रूप बना।

अन्य सर्वनामस्थान प्रत्ययों में इसी प्रकार नुम् और दीर्घ होकर रूप बनेंगे।

हे विद्वन्—सम्बुद्धि में दीर्घ के निषेध होने से हे विद्वन् रूप सिद्ध होता है।

वसोः संप्रसारणम् 6.4.131

वस्वन्तस्य भस्य संप्रसारणं स्यात्। विदुषः। 'वसुस्रंसु—' इति दः—विद्वद्भ्याम्

व्याख्याः वसुप्रत्ययान्त भसंज्ञक अङ्ग को संप्रसारण हो।

1. 'उशना भार्गवः कविः' इत्यमरः।

शस् से लेकर अजादि विभक्तियों से परे रहते भसंज्ञा होती है। अतः उन सब अजादि विभक्तियों में संप्रसारण हो।

विदुषः—शस् में 'विद्वस्+अस्' इस दशा में संप्रसारण हुआ। 'संप्रसारणाच्च' सूत्र से अकार का पूर्वरूप होने पर 'विद्वुस् अस्' इस स्थिति में सकार को रुत्व विसर्ग और उकार इण् से पर प्रत्यय 'वसु' के अवयव सकार को 'आदेश प्रत्यययोः' सूत्र से मूर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

सभी अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार रूप सिद्धि होती है।

विद्वद्भ्याम् 'भ्याम्' में 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः' सूत्र से सकार को दकार होकर विद्वद्भ्याम् रूप सिद्ध हुआ।

प्र.	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः	च.	विदुषे	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
सं.	हे विद्वन्	हे "	हे "	पं.	विदुषः	'	"
द्वि.	विद्वांसम्	"	विदुषः	ष.	"	विदुषोः	विदुषाम्
त	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः	स.	विदुषि	"	विद्वत्सु

पुंसोसुङ् 7.1.89

सर्वनामस्थाने विवक्षितेसुङ् स्यात्। पुमान्, हे पुनम्। पुमांसौ। पुंसः। पुम्भ्याम्। पुंसु। 'ऋदुशनस्—' इत्यनङ्—उशन्, उशनसौ।

व्याख्याः सर्वनामस्थान की विवक्षा में 'पुंस्' शब्द को असुङ् आदेश हो।

'असुङ्' में उकार और ङकार इत्संज्ञक हैं अतएव ङित् होने से यह अन्त्य सकार के स्थान में होता है।

पुमान्—प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'पुंस्' के सकार को असुङ् आदेश होने पर 'निमित्तापये नैमित्तिकस्यापयपायः' से अनुस्वार भी अपने पूर्वरूप मकार में परिणत हुआ। तब 'पुम् स्' इस दशा में 'उगिदचां' सूत्र से नुम् आगम और अपक्त सकार का 'हल्ङ्यादि—' लोप तथा 'पुमन् स्' इस स्थिति में सान्तमहतः—' सूत्र से सान्त संयोग की उपधादीर्घ होकर **पुमान्** रूप सिद्ध हुआ।

अन्य सर्वनामस्थानों में भी इसी प्रकार असुङ् आदेश, नुम् आगम और उपधादीर्घ होकर रूप बनते हैं।

हे पुमन्—सम्बुद्धि में दीर्घ निषेध होने से **हे पुमन्** रूप बनता है।

पुंसः—यह 'शस्' का रूप है। यहां कोई विशेष कार्य नहीं होता।

इसी प्रकार अन्य अजादि विभक्तियों के भी रूप बनते हैं।

पुम्भ्याम्—'भ्याम्' में सकार का 'संयोगान्त—' लोप होने पर 'मकार' को पुनः 'मोनुस्वारः—' से अनुस्वार और उसको परसवर्ण मकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

पुंसु—यहां स का लोप और मकार को अनुस्वार हुआ। यय् परे न होने से परसवर्ण नहीं हुआ।

प्र.	पुमान्	पुमांसौ	पुमांसः	च.	पुंसे	पुम्भ्याम्	पुम्भयः
सं.	हे पुमन्	हे "	हे "	पं.	पुंसः	"	"
द्वि.	पुमांसम्	"	पुंसः	ष.	"	पुंसोः	पुंसाम्
त	पुंसा	पुम्भ्याम्	पुम्भिः	स.	पुंसि	"	पुंसु

(उशनस् शुक्र[1]) शब्द।

उशना—उशनस् शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'ऋदुशनस्पुरुदंसोनेहसां च' सूत्र से अनङ् आदेश ङित् होने से 'ङिच्च' सूत्र के अनुसार अन्त्य सकार को हुआ। तब 'उशन अन् स्' इस दशा में नान्त की उपध को 'सर्वनामस्थाने—' सूत्र से दीर्घ और पुनः सवर्णदीर्घ होने के अनन्तर उशनान् स् इस दशा में अपक्त सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यः—' सूत्र से और नकार का 'न लोपः सूत्र से लोप विसर्ग रहित उशना रूप सिद्ध हुआ।

द्विवचन में औ विभक्ति मिला देने से **उशनसौ** रूप बना।

इसी प्रकार अन्य अजादि विभक्तियों में रूप बनते हैं।

(वा) अस्य सम्बुद्धौ वानङ्, नलोपश्च वाच्यः। हे उशन, हे उशनन्, हे उशनः। हे उशनसौ। उशनोभ्याम्। उशनस्सु। अनेहा। अनेहसौ। हे अनेहः। वेधाः। वेधसौ। हे वेधः। वेधोभ्याम्।

व्याख्याः उशनस् शब्द को सम्बुद्धि में अनङ् आदेश विकल्प से हो और नकार का लोप भी विकल्प से हो।

अनङ् आदेश और नकार लोप—इन दो विकल्पों से यहां तीन रूप बन जाते हैं जैसा कि आगे प्रक्रिया से स्पष्ट हो रहा है।

हे उशन, हे उशनन्, हे उशनः—सम्बुद्धि में विकल्प से अनङ् आदेश हुआ। 'हे उशन अन् स्' इस सम्बुद्धि अवस्था में दीर्घ का निषेध होने से 'अतो गुणे—' सूत्र से पररूप हुआ। सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र से लोप और नकार का विकल्प से लोप होने पर हे उशन रूप बना। जब नकार का लोप नहीं हुआ तब हे उशनन्। जहां 'अनङ्' आदेश नहीं हआ उस पक्ष में अपक्त सकार के लोप होने पर प्रातिपदिक के सकार के पदान्त हो जाने से रु और रकार को विसर्ग होकर हे *उशनः* रूप सिद्ध हुआ। इस प्रकार सम्बुद्धि में तीन रूप बनते हैं।

उशनोभ्याम्—'भ्याम्' विभक्ति में हलादि होने से पूर्व की 'स्वादि' सूत्र से पद संज्ञा है। अतः 'ससजुषोः रुः—' सूत्र से सकार को रु और हश् मकार परे होने से 'हशि च' सूत्र से 'रु' को उकार तथा अकार और उकार को गुण ओकार होकर **उशनोभ्याम्** रूप सिद्ध हुआ।

अन्य हलादि विभक्तियों में भी इसी प्रकार रूप बनेंगे।

उशनस्सु—सुप् में सकार को 'ससजुषोः—' सूत्र से रु और खर् सकार परे होने से रकार को विसर्ग हुए। विसर्गों को 'विसर्जनीयस्य—' सूत्र से प्राप्त सकार को बाधकर 'वा शरि' से शर् सकार परे होने से विसर्ग विकल्प से हुए। पक्ष में 'विसर्ज—' से सकार हो गया। तब **उशनःसु** और **उशनस्सु** ये दो रूप सिद्ध हुए।

प्र.	उशना	उशनसौ	उशनसः।	च.	उशनसे	उशनोभ्याम्	उशनोभ्यः।
सं.	हे उशन	हे ''	हे ''	पं.	उशनसः	'	''
	हे उशनन्		।	षं.	"	उशनसोः	उशनसाम्।
	हे उशनः		।				
द्वि.	उशनसम्	''	'' ।	स.	उशनसि	''	उशनःसु।
त	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोमिः।				

अनेहस् (समय) शब्द।

अनेहा—'अनेहस' शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'ऋदुशनस—' सूत्र से अनङ आदेश होने से नान्त की उपधा को 'सर्वनामस्थाने—' सूत्र से दीर्घ, पुनः सवर्णदीर्घ, अपक्त सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र से और नकार का 'न लोपः' सूत्र से लोप होने पर विसर्ग रहित **अनेहा** रूप सिद्ध हुआ।

हे अनेहः—सम्बुद्धि में अपक्त सकार के लोप होने पर सकार को रु और रकार की विसर्ग होकर हे अनेहः रूप बनता है।

वेधस्(ब्रह्मा) शब्द।

वेधाः—'बेधम्' शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'वेधस्+स्' इस दशा में धातुभिन्न—असन्त होने से उपधा को 'अत्वसन्तस्य' सूत्र से दीर्घ हुआ। तब अपक्त सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र से लोप हो जाने पर पदान्त बन जाने से प्रातिपदिक के सकार को 'ससजुषोः रुः' सूत्र से रु और रकार को 'खरवसानयोः' सूत्र से विसर्ग होकर वेधाः रूप सिद्ध हुआ।

हे वेधः—सम्बुद्धिभिन्न सु परे रहते दीर्घ का विधान होने से सम्बुद्धि में दीर्घ नहीं हुआ। तब हे वेधः रूप बना।

प्र.	वेधाः	वेधसौ	वेधसः	च.	वेधसे	वेधोभ्यास्	वेधोभ्यः
स.	हे वेधः	हे "	हे "	पं.	वेधसः	"	"
द्वि.	वेधसम्	"	"	ष.	"	वेधसोः	वेधसाम्
त	वेधसा	वेधोभ्याम्	वेधोभिः	स.	वेधसि	"	वेधःसु, स्सु

चन्द्रमस, सुमेधस् (अच्छी बुद्धिवाला), सुनमस् (देवता—अच्छे मनवाला), प्रचेतस् (वरुण देव), हिरण्यरेतस् (अग्नि, सूर्य), दिवौकस् (देवता), वनौकस् (बन्दर)आदि सामान्य सकारान्त शब्दों के भी रूप इसी प्रकार बनेंगे।

ईयसुन् प्रत्ययान्त कनीयस् (छोटा), महीयस् (बड़ा), साधीयस् (अतिनिपुण) आदि पुंल्लिङ्ग शब्दों के उगित् होने से सर्वनामस्थान में नुम् आगम और 'अत्वसन्तस्य चाधातोः सूत्र से सान्त संयोग की उपधा का दीर्घ होगा। तब इनके रूप सर्वनामस्थान प्रत्ययों में 'विद्वस्' शब्द के समान बनेंगे और शेष स्थलों में 'वेधस्' शब्द के समान।

अदस् (वह) शब्द।

अदस औ सुलोप श्चॅ 7.2.107

अदस औत् स्यात् सौ परे, सुलोपश्च। 'तदोः सः—' इति सः—असौ। त्यादाद्यत्वम् पररूपत्वम् वद्धि।

व्याख्याः 'अदस्' शब्द को औकार (अन्तादेश) हो सु परे रहते और 'सु' का लोप भी हो।

असौ—अदस् शब्द के सकार को 'त्यादादीनाम् अः' सूत्र से अकार आदेश प्राप्त था। उसका यह सूत्र अपवाद है। अदस् + सु' यहां प्रकृत सूत्र से सकार को 'औ' आदेश और 'सु' का लोप हो गया। तब 'अद् औ' इस स्थिति में पूर्व आकार अवर्ण और अच् औकार के स्थान में 'वद्धिरेचि' सूत्र से वद्धि 'औ' एकादेश होने पर 'अदौ' इस दशा में 'तदोः सः—' सूत्र से अद्स के अनन्त्य दकार को सकार होकर असौ रूप सिद्ध हुआ।

त्यादाद्येति—'अदस्+ औ' यहां सब से पहले 'त्यादादीनामः' सूत्र से सकार को अकार हुआ। इसी के लिये 'त्यदाद्यत्वम्' तब 'अतो गुणे' से पररूप'पररूपत्वम्—हुआ। 'अद + औ' इस स्थिति में '33 वद्धि रेचि' सूत्र से प्राप्त वद्धि का 'प्रथमयोः—' सूत्र के पूर्वसवर्णदीर्घ से बाध हुआ। इसका 'नादिचि' से निषेध, तब पुनः वद्धि होकर 'अदौ' स्थिति बनी।

अदसोसे र्दाद् उ दो मः 8.2.80

अदसो सान्तस्य दात् परस्य उदूतौ, दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्स्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः। अमू। जसः शी, गुणः।

व्याख्याः असान्त (जिसके अन्त में सकार न हो) अदस् शब्द के दकार से पर वर्ण को उकार और ऊकार हो और दकार को मकार भी हो।

जहाँ 'त्यादादीनामः' लगेगा, वहां अन्त में सकार न रहेगा, अतः वहीं इस सूत्र की प्रवत्ति होगी।

यह सूत्र उकार और मकार आदेश रूप दो कार्य करता है। अत एव इस सूत्र का विधेय दोनों कार्यों को मिलाकर 'मुत्व' या 'मुभाव' कहा जाता है।

आन्तरतम्यादिति—परिणामरूप सादश्य से ह्स्व वर्ण को ह्स्व उकार और दीर्घ वर्ण को दीर्घ ऊकार होगा।

अमू—यहां पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध हुई 'अदौ' इस स्थिति में दकार से पर 'औ' वर्ण दीर्घ है। अतः उसको प्रकृत सूत्र से दीर्घ ऊकार हुआ और दकार को मकार। तब अमू रूप सिद्ध हुआ।

जसः शीति—जस् में त्याद्यत्व और पररूप होने पर अकारान्त बन जाने से अदन्त सर्वनाम से पर जस् को ' जसः शी' सूत्र से 'शी' आदेश हुआ।

गुण इति—शकार के लोप होने पर गुण एकादेश हुआ। तब 'अदे' यह स्थिति हुई।

एत ईद् बहुवचने 8.1.81

अदसो दात् परस्यैत ईद्, दसरू च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। 'पूर्वत्रासिद्धम' इति विभक्तिकार्य प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्, अमू, अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां 'ना भावः।

व्याख्याः अदस् शब्द के दकार से परे 'एकार' को ईकार और दकार को मकार आदेश हो, बहुवचन में।

अमी—यहीं पूर्व प्रदर्शित रीति से सिद्ध हुई 'अदे' इस स्थिति में 'अदे' बहुवचन है। अतः प्रकृत सूत्र से एकार को 'ई' कार और दकार को मकार होकर अमी रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार शस् को छोड़कर अन्य बहुवचनों में भी 'बहुवचने झल्येत्' से एत्व करने पर तब उत्व और मत्व होंगे।

पूर्वत्रासिद्धमिति—उत्व मत्व के त्रिपादीस्थ होने से 'पूर्वत्रासिद्धम्' के द्वारा असिद्ध होने के कारण पहले विभक्ति कार्य होंगे पीछे उत्व मत्व होंगे। सभी रूपों में उत्व मत्व अन्त में होंगे।

अमुम्—'अम्' में त्यदाद्यत्व और पररूप तथा '135 अमि पूर्वः' से पूर्वरूप करनेपर 'अद्' बना। यहां उत्व और मत्व हुआ तब अमुम् रूप बना।

अमून्—शस् में त्यादाद्यत्व और पररूप करने पर 'अद अस्' इस अवस्था में '146 प्रथमयोः—' सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ और तब सकार को '137 तस्माच्छसो—' सूत्र से नकार होकर 'अदान्' बन जाने पर उत्व और मत्व होकर अमून् रूप सिद्ध हुआ। दीर्घ होने से 'आ' कार को दीर्घ ही ऊकार हुआ।

मुत्वे कृते—'टा' में त्यादाद्यत्व और पररूप करने पर 'अद + टा' इस अवस्था में मुत्व—उकार और मकार आदेश—हुआ तो 'अमु + टा' यह स्थिति हुई। यहां 'शेषो ध्यसखि' सूत्र से ह्रस्व उकारान्त होने से घिसंज्ञा हुई और 'आङो ना—' सूत्र से 'टा' को 'ना' आदेश होने पर अमुना रूप सिद्ध हुआ।

यहां आशङ्का होती है कि 'आङो नास्त्रियाम् 7.3.120 इस सपादसप्ताध्यायीस्थ के प्रति '357 अदसोसेर्दादु दो मः 8.2.80। त्रिपादीस्थ मुभाव—उकार और मकार आदेश के असिद्ध होने के कारण ह्रस्व उकार के न मिलने से घिसंज्ञा की प्रवत्ति न होगी और तब 'टा' को 'ना' कैसे हो सकता है तथा 'ना' आदेश करने पर भी मुभाव के असिद्ध होने से अदन्त अङ्ग के मिल जाने से 'सुपि च 7.3.102 से दीर्घ भी प्राप्त होता है। इस आशङ्का के निवारण के लिये अग्रिम सूत्र दोनों दशाओं में असिद्ध का निषेध करता है।

न मु ने 8.2.3।

'ना' भवे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु। इति सकारान्ताः। इति हल्तन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणम्।

व्याख्याः 'ना' भाव करना हो अथवा कर लिया हो—इन दोनों अवस्थाओं में 'मु' भाव असिद्ध नहीं होता।

अमुना—अतः 'अमु + टा' इस दशा में जब ना भाव करने में मुभाव असिद्ध न हुआ तो ह्रस्व उकारान्त मिल जाने से घिसंज्ञा होकर 'ना' आदेश हो गया और 'ना' आदेश किये जाने पर भी मुभाव के असिद्ध न होने से अङ्ग के अदन्त न मिलने से दीर्घ भी नहीं हुआ। अतः अमुना रूप बना।

अमूभ्याम्—'भ्याम्' में त्वदाद्यत्व और पररूप होने पर अङ्ग के अदन्त मिल जाने से 'सुपि च' सूत्र से दीर्घ होकर 'अदाभ्याम्' पहले बन गया। तब मुत्वहोकर अमूभ्याम् रूप सिद्ध हुआ। दीर्घ होने से आकार के स्थान में दीर्घ ही ऊकार आदेश हुआ।

अमीभिः—'भिस्' में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर पूर्ववत् अङ्ग के अदन्त बन जाने से 'बहुवचने–' सूत्र से एकार होकर 'अदेभिः' बना। यहां '358 एतईद् बहुवचने' सूत्र से एकार को ईकार और दकार को मकार होने पर अमीभिः रूप सिद्ध हुआ। त्यादाद्यत्व और पररूप होने पर 'अद + भिस्' स दशा में अदन्त अङ्ग होने से '142 अतो भिस ऐस्' से 'भिस्' के स्थान में 'ऐस्' आदेश प्राप्त हुआ। पर उसका 'नेदमदसोरकोः' सूत्र से निषेध हो गया।

अमुष्मै—'ङे' में त्वदाद्यत्व और पररूप करने पर 'अद ङे' इस दशा में अदन्त होने से 'ङे' को 'सर्वनाम्नः–' सूत्र से 'स्मै' आदेश होने पर 'अदसो–' सूत्र से मुत्व हुआ। तब इण् इकार से 'स्मै' (स्थानिवद्भाव से) प्रत्यय से सकार को 'आदेश प्रत्यययोः' सूत्र से मूर्धन्य षकार होकर अमुष्मै रूप सिद्ध हुआ।

अमीभ्यः—की सिद्धि पूर्ववत् 'अदेभ्यः' बनाकर पश्चाद् 'इत ईत्' सूत्र से मत्व और ईकार करने से होती है।

अमुष्मात्—'ङसि' में त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर 'अद ङसि' इस दशा में अदन्त होने से 'ङसिङ्यो–' सूत्र से 'ङसि' को 'स्मात्' आदेश होने पर 'अदसो–' सूत्र से मुत्व हुआ। तब 'अमु स्मात्' इस स्थिति में 'स्मात' (स्थानिवद्भाव से) प्रत्यय के सकार को 'आदेश–' सूत्र से मूर्धन्य षकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

अमुष्य—'ङस्' में त्यादद्यत्व और पररूप करने पर 'अद + ङस्' इस दशा में अङ्ग के अदन्त होने से 'टाङसि–' सूत्र से 'ङस्' को 'स्य' आदेश हुआ। तब मुत्व होने पर 'अमुस्य' इस दशा में 'स्य' (स्थानिवद्भाव से) प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य षकार होकर अमुष्य रूप बना।

अमुयोः—'ओस्' में पूर्ववत् 'अद + ओस्' इस स्थिति के बन जाने पर अङ्ग के अदन्त होन से 'ओसि च' सूत्र से अकार को एकार और एकार को '22 एचोयवा–' सूत्र से 'अय्' आदेश हुआ। तब 'अदयोः' इस अवस्था में मुत्व होकर अमुयो' रूप सिद्ध हुआ।

अमीषाम्—'आम्' में पूर्ववत् 'अद + आम्' इस स्थिति के बन जाने पर अदन्त सर्वनाम होने से 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' सूत्र से 'आम्' को 'सुट्' आगम हुआ। तब झल् सकार आदि बहुवचन परे मिलने से 'बहुवचने–' सूत्र से अकार को एकार होकर 'अदसाम्' यह स्थिति हुई। यहां '38 एत ईद–' सूत्र से एकार को ईकार और दकार को मकार होने पर सकार को मूर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

अमुष्मिन्—'ङि' में 'अद + ङि' इस अवस्था में 'ङसिङ्योः' सूत्र से 'ङि' को स्मिन् आदेश हुआ। तब 'अद स्मिन्' इस दशा में मुत्व होने पर सकार को मूर्धन्य षकार होकर अमुष्मिन् रूप बा।

अमीषु—पूर्ववत् 'अदेसु' बन जाने पर 'एत ईद–' से एकार को ईकार और दकार को मकार होने पर सकार को मूर्धन्य षकार करने पर अमीषु रूप सिद्ध हुआ। सकारान्त शब्द समाप्त।

(हलन्त पुंल्लिङ्गप्रकरण समाप्त।)

(ङ) अथ हलन्तस्त्रीलिXप्रकरणम्

हकारान्त उपानह (जूता) शब्द

नहो घः[1] 8.2.34

नहो हस्य धः स्याद् झलि पदान्ते च।

व्याख्याः 'नह्' धातु के हकारको धकार हो झल् परे रहते और पदान्त में।

झल् परे रहते और पदान्त में कहने से 'सु', भ्याम् 3, भिस्, भ्यस्2, और सुप् इन आठ प्रत्ययों के परे रहते हकार को धकार होगा।

नहि-वति-वषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ 6.1.114

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानद्। उपानहौ। उपानत्सु। क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन घः—उष्णिक्, उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्। द्यौ, दिवौ, दिवः द्युभ्याम्। गीः गिरौ, गिरः। एवम्—पूः। चतस्रः। चतसणाम्। का, के, काः—सर्वावत्।

व्याख्याः क्विबन्त नह्, वत्[1] वष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु परे रहते पूर्वपद को दीर्घ हो।

उपपूर्वक नह् धातु से क्विप् प्रत्यय हुआ और उसका सर्वापहार लोप हो गया, तब 'उप नह्' इस स्थिति में क्विबन्त नह् धातु परे मिल जाने के कारण पूर्वपद 'उप' के अन्त्य अकार को दीर्घ हुआ। तब उपानह् शब्द बना।

उपानद्—प्रथमा के एकवचन में 'उपानह्+सु' इस स्थिति में अपक्त सकार का हल्ङ्यादिलोप होने के अनन्तर पदान्त बन जाने से 'नहो धः—' सूत्र से हकार को धकार हुआ। तब धकार को जश्त्व दकार और उसको अवसान होने के कारण विकल्प से चर तकार होकर उपानद् और उपानत् ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

उपानहौ—विभक्ति के साथ मिला देने से रूप सिद्ध हो गया।

अजादि विभक्तियों में यथापूर्व कोई कार्य नहीं होता। हलादियों में पूर्वोक्त रूप से धकार आदेश होकर उसके जश्त्व दकार होकर रूप बनते हैं।

उपानत्सु—सुप् में पूर्वोक्त प्रकार से हकार को धकार और उसको चर् तकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

उष्णिह् (वेद का एक छन्द)

क्विन्नन्तत्वादिति—उत्पूर्वक स्निह् धातु से 'ऋत्विग्—' सूत्र से क्विन्प्रत्यय होकर 'उष्णिह्' शब्द बना है। अतः क्विन्नन्त होने से इसके हकार को '305 क्विन्प्रत्ययस्य—' से कवर्ग घकार होगा। पदान्त में और झल् परे रहते। अतः 'सु' 'भ्याम्' 'भिस्' 'भ्यस्' और 'सुप्' में हकार को घकार होगा।

उष्णिक्—प्रथमा के एकवचन में 'उष्णिह् + स्' इस स्थित में अपक्त सकार का हल्ङ्यादिलोप होने पर पूर्वोक्त प्रकार से हकार को घकार और उसको जश् गकार तथा उसको विकल्प से चर् ककार होकर रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में—उष्णिग्।

---

1. दीर्घ के अन्य उदाहरण **नीवृत्**—जनपद, प्रान्त वा देश। **प्रावट्**— वर्षाकाल। **मर्माविध्**—मर्मस्थल को भेदनेवाला। **अभीरुक्**—चारों ओर चमकनेवाला। **ऋतीषह**—कष्ट सहने वाला। **परीतत्**—चारो ओर फैलनेवाला।

उष्णिहौ—और का रूप है कोई कार्य नहीं होता।

अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार कोई विशेष कार्य नहीं होता।

उष्णिग्भ्याम्—भ्याम् में हकार को घकार और उसको जश् गकार होकर रूप सिद्ध होता है।

अन्य हलादि विभक्तियों में इतना ही कार्य होता है। सुप् में गकार को चर् ककार होने पर सकार को मूर्धन्य क् ष् के संयोग से 'क्ष' बनकर **उष्णिक्षु** रूप सिद्ध होता है।

वकारान्त दिव् (आकाश) शब्द।

द्यौः—दिव् के सु में 'दिव औत्' सूत्र से औकार अन्तादेश हुआ तदनन्तर सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ।

दिवौ, दिवः—औ और जश् के रूप हैं। इनमें कोई विशेष कार्य नहीं हुआ। सभी अजादि विभक्तियों में रूप इसी प्रकार बनते हैं।

द्युभ्याम्—भ्याम् में 'दिव उत्–' सूत्र से वकार को उकार आदेश होने से यण् होकर रूप बनता है।

'दिव्' शब्द के रूप पुंल्लिङ्ग 'सुदिव्' शब्द के समान ही बनते हैं।

रकारान्त गिर् (वाणी) शब्द।

गीः—गिर् शब्दके सु में रकारान्त उपधा इकार को 'र्वोरुपधायाः–' सूत्र से दीर्घ सु का हल्ङ्यादि लोप तथा रकार को विसर्ग हुआ है।

इसी प्रकार सभी हलादि विभक्तियों में दीर्घ होता है। अजादियों में पूर्ववत् कोई विशेष कार्य नहीं होता।

सप्तमी के बहुवचन में गीर्षु बनता है। यहां 'रोःसुपि' के नियम से रकार को विसर्ग नहीं होते। इण् रकार से पर सकार को मूर्धन्य आदेश होता है।

एवमिति—इसी प्रकार पुर् (नगर) शब्द के भी रूप बनेंगे। पूः, पुरौ, पुरः। पूर्भ्याम् पूर्षु आदि।

चतुर् (चार) शब्द को 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिस–चतस' सूत्रसे 'चतस' आदेश होता है, तब इसके रूप अजन्त 'तिस' शब्द के समान ही बनते हैं।

चतस्रः—जस् और शस् में प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घ को बाधकर 'अचि र ऋतः' सूत्र से ऋकार को रेफ आदेश और सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ।

चतसणाम्— आम् में नुट् होने पर 'नामि' से प्राप्त दीर्घ का 'न तिस–चतस' से निषेध हो जाता है। णत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

चतसभिः, चतसभ्यः 2, चतसषु इन में कोई विशेष कार्य नहीं हाता।

मकारान्त किम् शब्द।

का इति—किम् शब्द को 'किमः कः' सूत्र से 'क' आदेश होता है। तब अकारान्त होने से स्त्रीत्वविवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् प्रत्यय होकर 'का' यह आकारान्त शब्द बन जाता है, सर्वनाम यह है ही, अतः 'सर्वा' शब्द के समान ही इस के रूप बनते हैं।

इदम् (यह) शब्द।

यः सौ 7.2.110

इदमो दस्य यः इयम्। त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्, टाप्, 'दश्च' इति मः—इमे, इमाः। इमाम्। अनया। हलि लोपः—आभ्याम् आभिः। अस्यै। अस्याः। अनयोः। आसाम्। अस्याम्। आसु। त्यदाद्यत्वम्, टाप्, स्या,—त्ये, त्याः। एवम—तद्, एतद्। वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु। 'अप्' शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। 'अप्तन–' इति दीर्घः—आपः। अपः।

व्याख्याः इदम् शब्द के दकार को यकार हो सु परे रहते स्त्रीलिङ्ग में।

[1]**इयम्**—'इदम् स्' इस अवस्था में दकार को यकार हुआ। 'सु' का हल्ङ्याादि लोप होकर सिद्ध हुआ।

त्यदाद्यत्वमिति—यह 'औ' आदि अजादि विभक्तियों के रूपों की साधन प्रक्रिया दिखाई है।

इमे—'इदम् + औ' इस दशा में त्यदाद्यत्वेन मकार को अकार होने पर दकारोत्तरवर्ती अकारका उसके साथ 'अतो गुणे' से पररूप हुआ। तब 'इद औ' इस स्थिति में दकार को मकार हुआ। अकारान्त होने के कारण स्त्रीत्वविवक्षा में यहां भी टाप् (आ) प्रत्यय होगा। तब सवर्णदीर्घ होने पर 'इ मा + औ' इस दशा में आबन्त से परे होने के कारण 'औ' को 'औङः शी' से 'शी' आदेश हुआ। तदनन्तर गुण होकर इमे रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार जस् में इमाः, अम् में इमाम् रूप सिद्ध होते हैं औट् में—इमे, शस् में—इमाः।

त्यदाद्यत्व, पररूप और टाप् करने पर यह इदम् शब्द आकारान्त 'इदा' बन जाता है। तब 'सर्वा' शब्द के समान ही रूप बनते हैं। 'टा' और 'ओस्' में 'इद्' भाग को 'अनाप्यकः' से 'अन्' आदेश होता है और हलादियों में 'हलि लोपः' से 'इद्' भाग का लोप होकर 'आ' मात्र शेष रहता है। ङित् वचन और आम् प्रत्यय स्याट् तथा सुट् आगम होने से हलादि बन जाते हैं। अतः उनमें भी 'इद्' भाग का लोप हो जाता है। रूप इसके मूल मे प्रायः सब आ गये हैं।

दकारान्त त्यद् (वह) शब्द।

त्यदाद्यत्वमिति—त्यद् शब्द के दकार को भी त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर अदन्त बन जाने से स्त्रीत्वविवक्षा होने के कारण टाप् प्रत्यय होता है। तब 'आकारान्त' 'त्या' शब्द बन जाता है। इसके रूप सर्वनाम 'सर्वा' शब्द के समान ही सिद्ध होते हैं।

स्या—सु में 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' से तकार को सकार आदेश हो जाता है। आबन्त से पर होने से सु का लोप हुआ।

एवम्—इसी प्रकार 'तद्' और 'एतद्' के रूप भी सिद्ध होते हैं। पूर्वोक्त प्रकार से त्यदाद्यत्व, पररूप और आ (टाप्) करने पर 'ता' और 'एता' शब्द बन जाते हैं। आकारान्त सर्वनाम होने से सर्वा शब्द के समान रूप सिद्ध होंगे। 'सु' में दोनों के तकार को 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' सूत्र से सकार हो जाता है, 'एतद्' के सकार को इण् से पर होने के कारण मूर्धन्य षकार भी होता है।

प्र.	सा	ते	ताः।	पं.	तस्याः	ताभ्याम्	ताम्भ्यः।
द्वि.	ताम्	"	" ।	ष.	तस्याः	तयोः	तासाम्।
त	तया	ताभ्याम्	ताभिः।	स.	तस्याम्	"	तासु।
च.	तस्यै	"	ताभ्यः।				

तद् शब्द के इन रूपों के पहले 'ए' लगा देने से 'एतद्' के रूप बन जाते हैं।

चकारान्त वाच् (वाणी) शब्द

वाक् वाग्—'सु' का हल्ङ्याादि लोप, पदान्त चकार को जश्त्व जकार, उसको 'चोः कुः' से कवर्ग गकार और गकार को अवसपन में होने के कारण 'वावसाने' से वैकल्पिक चर् ककार होने पर दो रूप सिद्ध होते हैं।

वाचौ—'औ' का रूप है। यहां कोई कार्य नहीं हुआ।

इसी प्रकार अन्य अजादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होता।

वाग्भ्याम्—भ्याम् में चकार को जश्त्व जकार और उसको कुत्व गकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

हलादि विभक्तियों में इसी प्रकार जश्त्व और कुत्व कार्य होता हैं।

---

1. यहां व्यदा द्यत्व नहीं होता, क्योंकि उसको बाधकर 'इदमो मः' से मकार को मकार ही हो जाता है।

वाक्षु—सुप् में जश्त्व और कुत्व होने पर गकार को 'खरि च' से चर्त्व ककार होकर कवर्ग से पर प्रत्यय के सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से मूर्धन्य षकार हुआ। तब क् ष् के संयोग से 'क्ष्' बन गया।

पकारान्त अप् (जल) शब्द

अप् शब्द इति—अप् शब्द नित्य बहुवचनान्त[1] है।

आपः—जस् में सर्वनास्थान परे होने से 'अपतन– [1] सूत्र से उपधा अकार को दीर्घ और सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ है।

अपः—शस् में सकार को रुत्व विसर्ग हुआ। सर्वनामस्थान न होने से उपधा दीर्घ नहीं हुआ।

अपो[6] भि[7] 7.4.48

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भिः। अद्भ्यः2। अपाम् अप्सु। दिक्, दिग्। दिशः। दिग्भ्याम्। 'त्यादादिषु–' इति दशेः क्विन्विधानाद् अन्यत्रापि कुत्वम्-दक् दग्। दशौ। दग्भ्याम्। त्विट्, त्विड्, त्विषौ। त्विड्भ्याम्। 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम्।—सजूः। सजुषौ। सजूर्भ्याम्। सजूःषु, सजूष्षु।

आशीः। आशिषौ। आशीर्भ्याम्। असौ। उत्वमत्वे—अमू, अमूः। अमुया। अमूभिः। अमूष्यै। अमूभ्यः। अमुयोः। अमूषाम्। अमुष्याम्। अमूष।

इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

व्याख्याः अप् शब्द को तकार (अन्तादेश) हो भकारादि प्रत्यय परे रहते।

अद्भिः—'अप् भिस्' इस दशा में पकार को तकार हुआ। उसको जश्त्व दतर होने पर सकार को रुतव विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार अद्भ्यः भी सिद्ध होता है। अपाम् और अप्सु में कोई कार्य नहीं हुआ।

शकारान्त दिश् (दिशा) शब्द।

दिक्, दिग्—दिश् शब्द 'ऋत्विग्–' सूत्र से क्विन्प्रत्यय होने से बना हैं अतः क्विन्प्रत्ययान्त होने से पुंल्लिङ्ग 'तादश' शब्द के समान सु और सुप् में इसको भी क्रमशः ष, ड, ग, क और भ्याम् भिस् तथा भ्यस् में ष, ड, ग होते हैं। अजादियों में कोई विशेष कार्य नहीं होता। अतः इसके रूप पुंल्लिङ्ग 'तादश्' शब्द के समान सिद्ध होंगे।

दश् (आंख)

त्यादिषु इति—त्यद्[2] आदि उपपद रहते दश् धातु से क्विन् का विधान किया गया है, अतः अन्यत्र—त्यद् आदि उपपद न रहते—भी इसको कुत्व हो जाता है।

षकारान्त त्विष् (कान्ति) शब्द

त्विट् ड्—प्रथमा के एकवचन में हल्ङ्यादि लोप होने पर षकार को जश्त्व डकार और अवसान में होने के कारण डकार को चर् टकार विकल्प से होने पर दो रूप सिद्ध हुए।

त्विष् शब्द के रूप पुंल्लिङ्ग 'रत्नमुष्' के समान बनते हैं।

---

1. 'आपः स्त्री भूम्नि वार् वारि सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः।
2. दश् शब्द दश् धातु से क्विनप्रत्यय होकर बना है। अतः क्विनप्रत्ययान्त होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य–' सूत्र से कुत्व प्राप्त नहीं। उसके लिये यह कहा जाता है कि 'क्विन्प्रत्ययस्य' का क्विन् प्रत्ययान्त अर्थ नहीं, अपि तु बहुब्रीहि समास से 'क्विन्प्रत्यय जिससे किया गया हो' यह अर्थ है। इसलिये 'तादश्' आदि शब्दों में 'त्यदादिषु–' सूत्र से क्विन् प्रत्यय की विधि देखे जाने से दशब्द को क्विन्प्रत्ययान्त न होने पर भी कुत्व होगा। अतः इसके रूप भी 'तादश्' के समान ही बनेंगें 'तादश्' शब्द के रूपों में से 'ता' हटा दीजिये 'दश्' के रूप हो जायेंगे।

सजुष्[1] (मित्र) शब्द।

ससजुषो इति—सजुष् शब्द के सु में हल्ङ्याादिलोप होने पर षकार को रुत्व हुआ। तब रेफान्त उपधा को 'र्वोरुपधायाः–' से दीर्घ और रकार को विसर्ग होकर सजूः रूप सिद्ध हुआ।

सजूर्भ्याम्—भ्याम् में उक्त प्रकार से सकार को रुतव और उपधादीर्घ होकर रूप बना।

सजूःषु, सजूष्षु—सुप् में रुत्व उपधादीर्घ और विसर्ग होने पर 'सजूः सु' इस दशा में 'विसर्जनीयस्य–' सूत्र से विसर्ग को सकार प्राप्त हुआ। उसको बाधकर 'वा शरि' सूत्र से वैकल्पिक विसर्ग हुए, पक्ष में सकार हुआ। तब 'सजूःसु' और 'सजूस् सु' इन दोनों पक्षों में 'नुम्विसर्जनीय–' सूत्र से पहली स्थिति में शर् सकार के और दूसरी में विसर्ग के व्यवधान रहते हुए भी इण् जकारोत्तवर्ती ऊकार से पर सकार के स्थान में मूर्धन्य षकार हुआ। तब विसर्ग–पक्ष में सजूःषु रूप बना। सकारपक्ष में 'सजूस् षु' इस दशा में पूर्व सकार को ष्टुत्व षकार होकर सजूष्षु रूप सिद्ध हुआ।

आशिष्[2] (आशीर्वाद) शब्द

आशीः—प्रथमा के एकवचन में 'आशिष् + सु' इस स्थिति मे षकार के असिद्ध होने से सकार को 'ससजुषो–' सूत्र से रु और रकारान्त उपधा को दीर्घ तथा रकार को विसर्ग होने पर आशीः रूप सिद्ध हुआ।

आशीर्भ्याम्—'आशिष् + भ्याम्' इस स्थिति में पूर्ववत् सकार को र और रकारान्त उपधा इकार का दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्र.	आशीः	आशिषौ	आशिषः	च. आशिषे	आशीर्भ्याम्	आशीर्भ्यः
सं.	हे ''	हे ''	हे ''	प. आशिषः	''	''
द्वि.	आशिषम्	''	''	ष. ''	आशिषोः	आशिषाम्
त	आशिषा	आशीर्भ्याम्	आशीर्भिः	स0 आशिषि	''	आशीःषु, ष्षु

सकारान्त अदस् शब्द

असौ—अदस् शब्द के स्त्रीलिंङ्ग में सु परे होने पर पुंल्लिंग के समान ही असौ रूप बनता है। 'अदस औ सुलोपश्च' से सकार को औ और सु का लोप, 'तदोः सः–' सूत्र से दकार को सकार और वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

ध्यान रहे कि अदस् शब्द के स्त्रीलिंङ्ग में 'सु' को छोड़कर सभी विभक्तियों में त्यदाद्यत्व, पररूप स्त्रीत्व विवक्षा के कारण टाप् प्रत्यय और सवर्ण दीर्घ होकर 'अदा' शब्द बन जाता है। तब आबन्त बन जाने से सर्वा शब्द के समान रूप बना लेने के अनन्तर मुत्व करना चाहिये। जहां दीर्घ आकार रहेगा, वहां ऊकार दीर्घ होगा। ङिद् वचनों में ह्रस्व हो जाने से उकार भी ह्रस्व होगा। इस प्रक्रिया को अच्छी तरह_हृदयङ्गम कर लेना चाहिए।

अमू—'औ' में त्यदाद्यत्व और पररूप होने के अनन्तर अकारान्त बन जाने से स्त्रीलिङ्ग में '1245 अजाद्यतष्टाप्' सूत्र से टाप् होकर 'अदा + औ' इस दशा में वद्धि होकर 'अदौ' बन जाने पर ' 357 अदसोसेः–' से उ त्व और मत्व होकर अमू रूप सिद्ध हुआ।

अमूः—जस् में भी पूर्ववत् 'अदा + अस्' ऐसी स्थिति बन जाने पर पूर्वसवर्णदीर्घ होने से 'अदाः' ऐसी दशा में मुत्व होकर अमूः रूप सिद्ध हुआ।

अमुया—'टा' में पूर्ववत् 'अदा + आ' ऐसी स्थिति बन जाने पर 'आङि चापः' सूत्र से प्रातिपदिक के आकार को एकार आदेश और एकार को 'एचोय–' सूत्र से 'अय्' आदेश होने पर 'अदया' यह स्थिति बनी। इसमें मुत्व करने पर अमुया रूप सिद्ध हुआ।

अमूभिः—भिस् में पूर्ववत् 'अदाभिः' बन जाने पर मुत्व करने से अमूभिः रूप सिद्ध हुआ।

---

1. समानं जुषते सेवते इति सजूः।
2. आङ्पूर्वक शास् धातु से क्विप् प्रत्यय होकर 'आशिष्' शब्द बना है 'शासिवसिघसीनां चः' सूत्र से सकार को मूर्धन्य षकार हुआ।

अमुष्यै—'ङे' में पूर्ववत् 'अदा + ए' बन जाने पर आबन्त सर्वनाम होने से 'सर्वनाम्नःस्याड् ह्रस्वश्च्' सूत्र से 'स्याट्' आगम और आबन्त को ह्रस्व तथा 'स्या' के उत्तरवर्ती आ और ङे के ए को वद्धि होकर 'अदस्यै' बन गया। तब मुत्व होने से 'अमुस्यै' इस दशा में उकार इण् से पर प्रत्ययावयव सकार को 'आदेश—' सूत्र से मूर्धन्य आदेश होकर अमुष्यै रूप सिद्ध हुआ।

अमूभ्यः—'अदाभ्य'' बन जाने पर मुत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

अमुष्याः—ङसि और ङस् में 'अदा + अस्' इस दशा में स्याट् आगम और अकार को ह्रस्व तथा सवर्णदीर्घ हाकर 'अदस्याः' इस स्थिति के बन जाने पर मुत्व और षत्व होकर अमुष्याः रूप सिद्ध हुआ।

अमुयोः—'अदा + ओस्' इस दशा में 'आङि चापः' सूत्र से अकार को एकार और एकार को 'अय्' आदेश होने पर बनी हुई 'अदयोः' इस स्थिति में मुत्व होकर अमुयोः रूप बना।

अमूषाम्—'अदा + आम्' यहां 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' से सुट् का आगम होने पर बनी हुई 'अदासाम्' इस स्थिति में मुत्व और षत्व होकर अमूषाम् रूप बना।

अमुष्याम्—'अदस्याम्' बन जाने पर मुत्व और षत्व होकर अमुष्याम् रूप सिद्ध हुआ।

अमूषु—सुप् में 'अदासु' इस स्थिति के बन जानेपर मुत्व और षत्व होकर अमूषु रूप सिद्ध हुआ।

(हलन्तस्त्रीलिंङ्गप्रकरण समाप्त।)

(च) अथ हलन्तनपुंसकलिXप्रकरणम्

स्वमोर्लुक्, दत्वम्—स्वनडुत्, स्वनडुद्। स्वनडुही। 'चतुरन-डुहोः-' इत्यात्वम्-स्वनड्वांहि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। वाः, वारी, वारि। वार्भ्याम्। चत्वारि। किम्, के, कानि। इदम्, इमे, इमानि।

व्याख्याः **स्वमोर्लुक**—नपुंसक लिङ्ग होने से 'स्वमोर्नपुसंकात्' सूत्र से सु और अम् का लोप होता है

यह प्रक्रिया इस प्रकरण में सामान्य रूप से सभी शब्दों के लिये है, यद्यपि यहां 'स्वनडुह्' शब्द के लिए ही उल्लेख की गई—सी मालूम पड़ती है।

दत्वम्—सु और अम् का लोप होने पर 'स्वनडुह्' शब्द के हकार को पदान्त होने से 'वसुस्रंसु—' सूत्र से दकार आदेश होता है।

हकारान्त स्वनडुह्—(अच्छे बैलवाला, कुल आदि) शब्द के 'सु' और 'अम्' का —स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से लोप होने पर पदान्त बन जाने से हकार को 'वसुस्रंसु—' सूत्र से दकार और उसको 'वावसाने' से वैकल्पिक तकार होकर दो रूप सिद्ध हुये **स्वनडुत्** और **स्वनडुद्।**

स्वनडुही—औ को 'नपुंसकाच्च' सूत्र से शी आदेश हुआ। शकार की इत्संज्ञा और लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

स्वनड्वांहि—जस् को 'जश्शसोः शि' सूत्र से 'शि' आदेश और उसकी 'शि सर्वनामस्थानम्' से सर्वनामस्थान संज्ञा होने पर 'चतुर—नडुहोः—' सूत्र से अन्त्य अच् डकारोत्तरवर्ती उकार के आगे आम् आगम, उकारको यण् वकार और 'नपुंसकस्य झलचः' से अन्त्य अच् आकार के आगे नुम आगम तथा नकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार होकर **स्वनड्वांहि** रूप सिद्ध हुआ।

पुनरिति—फिर उसी प्रकार अर्थात् द्वितीया के रूप भी प्रथमा के सामन ही बनते हैं क्योंकि 'सु' के समान 'अम्' का भी लोप हो जाता है और जश् के समान शस् को भी शि आदेश होता है। औ और औट् तो सर्वथा समान है। फलितार्थ यह हुआ कि नपुंसक में प्रथमा और द्वितीया के एक जैसे रूप बनते हैं।

शेषमिति—शेष—ततीया आदि के—रूप —पुंल्लिङ्ग [१] के समान बनते हैं। अर्थात् पुंल्लिङ्ग 'अनडुह्' शब्द के समान ही बनेंगे।

वाः—रकारान्त वार् (जल) शब्द के आगे सु का लोप और रकार को विसर्ग हुए।

वारी—औ को शी आदेश हुआ।

वारि—जस् को 'शि' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

यही रूप द्वितीया के भी बनेंगे। ततीया आदि के रूपों में नपुंसकलिङ्गकृत कोई विशेषता नहीं होती, अतः साधारण नियम से रूप बनेंगे।

चत्वारि—चतुर् शब्द से पर जस् और शस् को 'शि' आदेश और उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा होने पर '२५६

---

१. अजन्तनपुंसकलिङ्ग प्रकरण में बताया जा चुका है कि प्रथमा और द्वितीया के एक समान रूप होते हैं। शेष रूप भी पुंल्लिङ्ग के समान ही होते हैं। अतः एव सिद्ध हुआ कि यहां केवल प्रथमा के रूप ही सिद्ध करने होते हैं—उन्हीं में अन्तर पड़ता है। इनमें भी विशेष रूप से द्विवचन और बहुवचन में। एकवचन में तो 'सु' और 'अम्' का लोप हो जाने से कोई विशेष कार्य नहीं होता। अतः यहां केवल प्रथम तीन रूपों की सिद्धि प्रायः आयेगी, बल्कि दो की ही द्विवचन और बहुवचन की। एकवचन में तो जैसा शब्द का रूप होता है प्रायः वेसा ही होगा। इसमें प्रत्ययलक्षण कार्य भी नहीं होता, 'न लुमताङ्गस्य' के निषेघ होने से।

चतुरनडुहोः–' सूत्र से आम् आगम तथा उकार् को यण् वकार होकर **चत्वारि** रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप साधारण नियम से पुंल्लिङ्ग के समान ही बनेंगे।

किम्–मकारान्त किम् शब्द के सु और अम् का लोप होकर किम्[१] यही रूप बन गया।

के–'औ' में 'किमः कः' से 'क' आदेश होने पर अदन्त शब्द बन गया, तब अदन्त शब्द के समान औ को शी आदेश और गुण एकादेश होकर रूप सिद्ध होगा।

कानि–'जस्' और 'शस्' में 'क' आदेश होने पर पूर्ववत् रूप सिद्ध होगा। शेष रूप पूर्ववत् पुंल्लिङ्ग के समान बनेंगे।

[२]**इदम्**–सु का लोप हुआ और रूप बन गया।

इमे–त्यदाद्यत्व, पररूप, 'औ' को शी आदेश, गुण और 'दश्च' दकार को मकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

इमानि–त्यदाद्यत्व, पररूप, शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा, अकारान्त होने से नुम् आगम, उपधादीर्घ और दकार को मकार होकर रूप बना।

इसी प्रकार द्वितीया के रूप बनेंगे। शेष रूप पुंल्लिङ्ग के समान बनेंगे।

(वा) अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः। एनत्, एनद्। एने। एनानि। एनेन। एनयोः अहः। विभाषा ङिश्योः–अही, अहनी। अहानि।

व्याख्याः अन्वादेश में नपुंसकलिङ्ग में 'इदम्' और 'एतद्' शब्द को 'एनद्' आदेश हो।

यह वार्तिककार का वचन है। इसके आगे भाष्य में कहा है 'एनदिति नपुसकैवचने' अर्थात् 'एनद्' यह आदेश नंपुसक के एकवचन सु अम् में हो। अतः एकवचन सु अम् में ही यह आदेश होता है, अन्यत्र तो 'एन' आदेश ही होता है।

एनत्–'सु' 'अम्' के लोप होने पर 'इदम्' को 'एनद्' आदेश हुआ। तब वैकल्पिक चर्त्व होने से दो रूप बने।

एने–आदि शेष स्थलों में 'एन' आदेश ही हुआ।

अहः–नान्त अहन् (दिन) शब्द के सु का लोप, 'रोसुपि' सूत्र से नकार को रे आदेश और उसको 'खरव–'से विसर्ग होकर रूप बना।

अही, अहनी–'औ' को शी आदेश हाने पर 'विभाषा ङिश्यो' सूत्र से 'अन्' के अकार का लोप विकल्प से होकर दो रूप सिद्ध होते हैं।

अहानि–अस् को शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा, नान्त उपधा अकार को दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार ये ही रूप द्वितीया के भी बनते हैं।

टा में 'अल्लोपोनः' से अन् के अकार का नित्यलोप होने से अह्ना, यह रूप बनता है इसी प्रकार अन्य अजादि विभक्तियों में रूप बनते हैं।

अहन् 8.2.68

अहन् इत्यस्य रुः पदान्ते। अहोभ्याम्। दण्डि।

व्याख्याः अहन् शब्द को रु (अन्त) आदेश हो पदान्त में।

अहोभ्याम्–भ्याम् के हलादि होने से उसके परे रहते पूर्व 'अहन्' शब्द की 'स्वादिष्सर्वनामस्थाने' से पदसंज्ञा होती

---

१. विभक्ति पर न होने से 'क' आदेश नहीं हआ। 'न लुमताङ्गस्य' के निषेध होने से प्रत्ययलक्षण से भी नहीं हो पाता।

२. विभक्ति के लुक् हो जाने से त्यदाद्यत्व नहीं हो पाता। प्रत्ययलक्षण से भी नहीं होता क्योंकि 'न लुमताङ्गस्य' से उसका निषेध हो जाता है। '२७२ इदमो मः' सूत्र से भी त्यदाद्यत्व का बाध होता है।

है। अतः पदान्त होने से नकार को रु आदेश हुआ, उसको 'हशि च' से उ और अकार उकार को ओ गुण एकादेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

अन्य हलादियों में ऐसे ही रूप सिद्धि होती है।

त	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः।	च.	अह्ने,	अहोभ्याम्,	अहोभ्यः।
प.	अह्नः	अहोभ्याम्	अहोभ्यः।	ष.	अह्नः	अह्नोः	अह्नाम।
स.	अह्नि–अहनि		अह्नोः, अहःसु।				

दण्डिन्—(दण्डधारी कुल) शब्द के सु का लोप होने पर 'न लोपः' सूत्र से नकार का भी लोप हुआ। दण्डि रूप सिद्ध हुआ।

(वा) सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः। हे दण्डिन् हे दण्डि। दण्डिनी, दण्डीनि, दण्डिना, दण्डिभ्याम्। सुपथि। भस्य टेर्लोपः—सुपथी। सुपन्थानि। ऊर्क्, ऊर्जी, ऊन्र्जि। नरजानां संयोगः। तत्, ते, तानि। यत्, ये, यानि। एतत्, एते, एतानि। गवाक्, गोची, गवाचि। पुनस्तद्वत्। गोचा। गवाग्भ्याम्। शकृत, शकृती, शकृन्ति। ददत्, ददती।

व्याख्याः सम्बुद्धि में नपुसंकलिङ्ग शब्दों के नकार का लोप विकल्प से होता है।

हे दण्डिन् हे दण्डि—इस वार्तिक से नकार के लोप के विकल्प होने से दो रूप बने।

दण्डिनी—औ को 'शी' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

दण्डीनि—जस् को शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा, उपधादीर्घ होकर रूप सिद्ध हो गया।

द्वितीया के रूप भी ऐसे ही बनते हैं। ततीया आदि विभक्तियों में पुंल्लिङ्ग के समान रूप सिद्ध होते हैं।

सुपथि—सुपथिन् (अच्छे मार्गवाला नगर या वन) शब्द के सु का लोप होने पर नकार का भी लोप हुआ। **सुपथि**—रूप बना।

सुपथि—औ को शी आदेश होने पर नपुंसकलिङ्ग होने से इसकी 'सुडनपुंसकस्य' से सर्वनामस्थानसंज्ञा न होने के कारण 'यचि भम्' से भसंज्ञा हुई। तब 'भस्य टेर्लोपः' सूत्र से टि 'इन्' का लोप होकर सिद्ध हुआ।

[1]**सुपन्थानि**—जस् को शि आदेश और शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा होने पर 'इतोत् सर्वनामस्थाने' सूत्र से इकार को अकार आदेश, 'अतोगुणे' से पररूप और 'थो न्थः' सूत्र से 'न्थ'आदेश करनेपर 'सुपन्थन् इ' ऐसी स्थिति बनी। यहां उपधादीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार द्वितीया के रूप बनेंगे। शेष रूप पुंल्लिङ्ग 'पथिन्' शब्द के समान बनते हैं। सम्बुद्धि में नकारलोप के विकल्प से—**हे सुपथि, हे सुपथिन्।**

जकारान्त ऊर्ज् (बल और तेज) शब्द

ऊर्क्, र्ग्—'ऊर्ज्+सु' इस दशा में सु का लोप होने पर चवर्ग जकार को 'चोःकुः' सूत्र से कवर्ग गकार आदेश हुआ। तब अवसान होने से विकल्प से चर् ककार होकर ऊर्क्, और ऊर्ग् दो रूप सिद्ध हुए।

ऊर्जी—औ को शी आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

ऊन्र्जि—जस् को शि आदेश और उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा होने पर झलन्त होने से '२३६ नपुंसकस्य झलचः' सूत्र से नुम् आगम अन्त्य (व्यपदेशिवद्भाव से) अच् अकार के आगे हुआ। तब उक्त रूप सिद्ध हुआ।

नरजामिति—ऊन्र्जि में न र ज इस क्रम से संयोग है अर्थात् पहले नकार, उसके बाद रकार और तब जकार है। कहने का अभिप्राय यह है कि रकार के बीच में होने से नकार का जकार के साथ योग न होने से यहां श्चुत्व नहीं हुआ।

---

१. शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा होने से भसंज्ञा के अभाव से टि का लोप नहीं हुआ।

दकारान्त सर्वनाम तद्, यद् और एतद् शब्द के सु और अम् के लोप और विकल्प से चर् होने पर तत्, यत् और [1]एतत्—ये रूप सिद्ध होते हैं।

ते, ये, एते—औ परे रहते त्यदाद्यत्व और पररूप तथा औ को शी आदेश और गुण होने पर रूप सिद्ध होते हैं।

तानि, यानि, एतानि—जस् और शस् को शि आदेश, सर्वनामस्थान संज्ञा, त्यदाद्यत्व, पररूप, नुम् और उपधादीर्घ ओकर रूप सिद्ध होते हैं।

शेष रूप पुंल्लिङ्ग के समान ही बनते हैं।

चकारान्त गो अचू[2] शब्द

गवाक्, ग्—गो अच्[3] अर्थ में 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' सूत्र से नकार का लोप होने पर तथा 'सु' का लोप और ओकार को 'अवङ् सफोटायनस्य' से अवङ् आदेश तथा सवर्णदीर्घ हुआ। तब 'गवाच्' इस स्थिति में पहले 'झलां—' सूत्र से चकार की जश् जकार, तब 'क्विन्प्रत्ययस्य—' सूत्र से जकार को कवर्ग जकार और उसको अवसान में होने के कारण चर्त्व विकल्प से होकर गवाक्[4] और गवाग् ये दो रूप सिद्ध हुए।

गोची—औ को शी आदेश और भसंज्ञा[5] होने के करण अकार का 'अचः' सूत्र से लोप होकर रूप बना।

गवाचि— जस् को शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा, ओकार अवङ् आदेश तथा सवर्णदीर्घ होने से 'गवाच् इ; ऐसी स्थिति बनी। यहां झलन्त होने से 'नपुंसकस्य झलचः' से नुम् आगम् नकार को अनुस्वार परसवर्ण होकर रूप सिद्ध हुआ।

पुनरिति—द्वितीया में भी ऐसे ही रूप सिद्ध होते हैं।

गोचा—टा में अजादि सुप् होने से भसंज्ञा होकर 'अचः' सूत्र से अकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

गवाभ्याम्—भ्याम् में हलादि विभक्ति होने से भसंज्ञा न हुई, तब 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से पूर्व की पदसंज्ञा हुई। अवङ् आदेश, सवर्ण दीर्घ, चकार को जश् जकार और जकार को कुत्व गकार होने से रूप बना।

अजादि विभक्तियों में 'गोचा' के समान अकार का लोप होकर रूप बनते हैं और हलादि में 'गवाभ्याम्' के जैसे अवङ् आदेश, सवर्णदीर्घ, जश्त्व, कुत्व होकर 'सुप्' में कुत्व होने पर चर् चकार ककार और सकार को मूर्धन्य षकार तथा क ष के सयोग से क्ष बनकर गवाक्षु रूप बनता है।

शकृत्, द्—तकारान्त शकृत् (विष्ठा, मल) शब्द के सु का लोप होने पर तकार को 'झलां जशः—' से जश् दकार और उसको अवसान होने के कारण विकल्प से चर् तकार होकर शकृत्, शकृद् रूप बनते हैं।

शकृती—औ को शी आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

शकृन्ति—जस् को शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा, झलन्त होने से नुम्, अनुस्वार और परसवर्ण होकर रूप की सिद्धि हुई।

---

१. लोप होने पर विभक्ति पर न होने से त्यदाद्यत्व और तकार को सकार नहीं होता। 'न लुमताङ्गस्य' से निषेध होने से प्रत्ययलक्षण से भी उक्त कार्य नहीं होते।

२. 'गामचति' इस विग्रह में सुबन्त गो शब्द उपपद रहते 'ऋत्विग्—' सूत्र से क्विन्प्रत्यय होता है। क्विन् का सर्वाहार लोप हो जाता है। तब 'गो अच्' शब्द बनता है।

३. गति अर्थ में नकार का लोप होने से 'गो अच्' शब्द होता है। अरच् धातु का पूजा अर्थ भी होता है, पूजा अर्थ में 'नाचेः पूजायाम्' सूत्र से नकार के लोप का निषेध हो जाता है। तब 'गवाङ' आदि रूप होते हैं। यहां मूल में केवल गति अर्थ के ही रूप दिखाये हैं। गति और पूजा अर्थ के मेद से इसके सारे रूप १०६ होते हैं जो कि मध्कौमुदी में दिखाये गये हैं। सिद्धान्त कौमुदी में तो रूप बनाये गये हैं। विस्तार के भय से और अधिक आवश्यक न होने से हिन्दी टीका में भी वे छोड़ दिये गये हैं।

४. यहां केवल अवङ् पक्ष का ही रूप दिखाया गया है। अवङ् विकल्प से होता है, पक्ष में 'सर्वत्र विभाषा गोः' से प्रकृतिभाव विकल्प से, उसके पक्ष में 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप होकर गो अक् और गोक् रूप भी बनते हैं। जिन स्थलों में 'अच्' के अकार का लोप नहीं होता, उन स्थलों में इस प्रकार तीन रूप होते हैं। मूल में नहीं दिखाये गये।

५. नपुंसकलिङ्ग में होने के कारण 'शी' की सर्वनामस्थानसंज्ञा नहीं हाती, अतः इसके परे रहते पूर्व की भसंज्ञा हो जाती है।

द्वितीया के रूप प्रथमा के समान और शेष का पुंल्लिङ्ग 'महत्' के समान बनेंगे।

ददत्—(देता हुआ) शब्द के सु और अम् में ददद् और औ औट् में ददती रूप पूर्ववत् सिद्ध होते हैं।

वा नपुंसकस्य 7.1.79

अभ्यस्तात् परो यः शता, तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने। ददन्ति, ददति। तुदत्।

व्याख्या: अभ्यस्त से परे जो शत प्रत्यय, तदन्त नपुंसकलिङ्ग शब्द को विकल्प से नुम् आगम हो सर्वनामस्थान परे रहते।

ददन्ति, ददति—जस् को शि आदेश और उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा होने पर प्रकृत सूत्र से विकल्प से नुम् हुआ, क्योंकि ददत् की 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र से अभ्यस्त संज्ञा होती है। अतः उक्त दो रूप बने। शस् का भी यही रूप बनेगा।

शेष रूप पूर्ववत् पुंल्लिङ्ग 'महत्' शब्द के समान बनेंगे।

तुदत्—(पीड़ा पहुंचाता हुआ) शब्द के सु और अम् का लोप होकर पूर्ववत् रूप सिद्ध हुआ।

[6]आच्छी[6]नद्योर्नुम्[1] 7.1.80

अवर्णान्ताद् अङ्गात् परो यः शतुरवयवः, तदन्तस्य अङ्गस्य नुम् वा शीनद्योः। तुदन्ती, तुदती। तुदन्ति।

व्याख्या: अवर्णान्त अङ्ग से परे जो शत का अवयव तदन्त अङ्ग को नुम् आगम विकल्प से हो शी और नदी 'ङीप् प्रत्यय के ईकार' परे रहते।

तुदन्ती, तुदती—तुदत्१ शब्द में अवर्णान्त अङ्ग 'तुद्' है, उससे परे शत का अवयव तकार है तदन्त 'तुदत्' अङ्ग को शी परे रहते विकल्प से नुम् होकर दो रूप बने **तुदन्ती, तुदती।**

तुदन्ति—जस् और शस् का रूप है, उनको 'शि' आदेश होने पर यहां 'नपुंसकस्य झलचः' से नित्य नुम् होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप पुंल्लिङ्ग के समान बनेंगे।

[6]शप्श्यनोर्नित्यम्[1] 7.1.81

शप्श्यनोरात् परो यः शतुरवयवः, तदन्तस्य नित्यं नुम् शीनद्योः। पचन्ती। पचन्ति। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति। धनुः। धनुषी। 'सान्त–' इति दीर्घः, 'नुम्विसर्जनीय–' इति षः धनूंषि। धनुषा। धनुर्भ्याम्। एवम्—चक्षुर्हविरादयः। पयः, पयसी, पयांसि। पयसा। पयोभ्याम्। सुपम्, सुपुंसी, सुपुमांसि।

व्याख्या: शप् और श्यन् के अकार[2] से परे जो शत का अवयव, तदन्त को नित्य नुम् को शी और नदी [3] (ङीप् का ईकार) परे रहते।

---

१. तुद् धातु से शत प्रत्यय होने पर धातु से श हुआ। तब 'तुद् अ अत्' इस दशा में श के अकार और शत के अकार को पररूप एकादेश होने पर 'तुदत्' यह शब्द बना है।

२. अवर्णान्त अङ्ग से परे शत का अवयव भ्वादि, दिर्वादि, तुदादि और चुरादि इन चार गणों में मिलता है। भ्वादि और चुरादि में शप् के, दिवादि में 'श्यन्' के यकारोत्तरवर्ती तथा तुदादि में श के अकार से अङ्ग अवर्णान्त बनता है। अतः शप् और श्यन् के स्थल में नित्य नुम् विधान होने से भ्वादि, दिवादि तथा चुरादि धातुओं के शतप्रत्ययान्त शब्दों से 'औ' को शी आदेश होने पर नित्य नुम् होता है, तुदादिगण की धातुओं से सिद्ध शतप्रत्ययान्त शब्दों से विकल्प से शेष गणों की धातुओं से निष्पन्न शब्दों से होता ही नहीं क्योंकि उनमें 'शप' नहीं होता, अतः इन दोनों सूत्रों की प्रवत्ति वहां होती ही नहीं।

३. शतप्रत्ययान्त शब्दों के उगित् होने से स्त्रीत्वविवक्षा में 'उगितश्च' से ङीप् प्रत्यय होता है। ङीप् का ई शेष रहता है। दीर्घ ई होने से इसकी नदी संज्ञा होती है। भ्वादि, दिवादि और चुरादि गण के शतप्रत्ययान्तों से नित्य, और तुदादि के शतप्रत्ययान्त शब्दों से विकल्प से नुम् होता है तथा अन्य गण वालों से नहीं होता। जो रूप शी में बनता है। वही स्त्रीलिङ्ग में भी, समान नियम होने से। यदि शी में नुम् नित्य होगा, तो स्त्रीलिङ्ग में भी नित्य ही होगा और यदि विकल्प से होगा तो स्त्रीलिङ्ग में भी विकल्प से ही होगा तथा यदि शी में नहीं होगा तो स्त्रीलिङ्ग में भी नहीं होगा। यथा—शी—पचन्ती स्त्री—पचन्ती, शी—तुदन्ती, तुदती, स्त्री—तुदन्ती, तुदती। शी—मुष्णती, स्त्री—मुष्णती। इसी प्रकार अन्यत्र समझना चाहिये।

यह नित्य विधान पूर्वोक्त विकल्प का बाधक है।

पचन्ती—पच् धातु से शतप्रत्यय करने पर बीच में शत् होने से 'पच् अ अत्' इस दशा में पररूप होकर पचत् शब्द बनता है। इसमें शप् का अकार 'अन्तादिवच्च' के अतिदेश से है, उससे पर शत का अवयव तकार है। तदन्त पचत् शब्द को शी परे रहते नुम् नित्य हुआ। तब **'पचन्ती'** यह रूप सिद्ध हुआ।

पचन्ति—जस् शस् में तुदन्ति के समान ही सिद्ध होता है।

शेष रूप पुंल्लिङ्ग के समान ही बनते हैं।

दीव्यत्—(खेलता हुआ आदि) शब्द के रूप पचत् के समान ही बनते हैं। इस में श्यन् प्रत्यय होने से शी परे रहते नित्य ही नुम् होता है।

दीव्यन्ती—'दीव्यत् + औ' इस स्थिति में 'औ' को शी आदेश होने पर श्यन् से शत प्रत्यय का अवयव तकार है, अतः तदन्त दीव्यत् शब्द को 'शप्श्यनोर्नित्यम्' सूत्र से नित्य नुम् आगम होगा। नुम् आगम 'मिदचोन्त्यात्परः' इस परिभाषा के बल से अन्त्य अच् रकारोत्तरवर्ती अकार के आगे और उसी का अवयव होकर आयेगा। इस प्रकार इस रूप की सिद्धि होती है।

दीव्यन्ति—जस् और शस् में यह रूप बनता है। इसकी सिद्धि उपर्युक्त प्रकार से ही होती है

षकारान्त धनुष[1] (धनुष्) शब्द के सु का लोप होने पर रुत्व के प्रति तत्व असिद्ध होने से सकार को रुत्व विसर्ग होकर धनुः[2] रूप सिद्ध हुआ।

धनुषी—औ को शी आदेश होने पर रूप सिद्ध हुआ।

धनुंषि—शि आदेश और उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा होने पर झलन्त से परे होने से 'नपुंसकस्य झलचः से नुम् आगम हुआ। तब 'धनु न् स्[3] इ' इस दशा में सर्वनामस्थान पर होने से सान्त संयोग होने से 'सान्तमहतः संयोगस्य' सूत्र से उपधा उकार को ीर्घ हुआ। तदनन्तर नकार को 'नश्चापदान्स्य झलि' से अनुस्वार और नुम्स्थानिक अनुस्वार के व्यवधान होने पर भी 'नुम्विसर्जनीय' सूत्र से सकार को मूर्धन्य प होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार द्वितीया के भी रूप सिद्ध होंगे।

धनुर्भ्याम्—यहां भी षत्व के असिद्ध होने से सकार का रुत्व हुआ।

अन्य हलादि विभक्तियों में भी इसी प्रकार रुत्व होकर रूप सिद्ध होते हैं।

सुप् में—धनुःषु और **चक्षुष्षु** ये दो रूप बनते हैं।

एवमिति—इसी प्रकार **चक्षुष्** (नेत्र), **हविष्** (घी) और **जनुष्** (जन्म) आदि पकारान्त क्लीव शब्दों के भी रूप बनते हैं।

सकारान्त पयस् (जल, दूध) शब्द के सु का लोप होने पर सकार को रुत्व विसर्ग करने से **पयः** रूप सिद्ध हुआ।

पयसी—औ को शी आदेश होकर रूप सिद्ध हो गया।

पयांसि—जस् को शि आदेश और उसकी सर्वनामस्थानसंज्ञा होने पर झलन्त होने से 'नपुंसकस्य झलचः' से नुम् आगम हुआ। तब 'पय न् स् इ' इस स्थिति में सान्त संयोग होने से 'सान्त महतः संयोगस्य' सूत्र से उपधादीर्घ हुआ और नकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार होकर रूप सिद्ध हुआ।

पयोभ्याम्—भ्याम् के हलादि होने से 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से पूर्व की पदसंज्ञा हुई, तब पदान्त होने से सकार को रुत्व हुआ। उसको 'हशि च' से उकार और पूर्व पर के स्थान में ओ गुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

---

१. धन् धातु से औणादिक उस् प्रत्यय करने पर सकार को मूर्धन्य होकर 'धनुष' शब्द बना है। रुत्व के प्रति षत्व असिद्ध है।

२. यहां 'र्वोरुपधायाः' से दीर्घ नहीं हुआ। क्योंकि यहां रकार धातु का नहीं, अपि तु प्रत्यय का है।

३. 'धनु न् स्' यहां बीच में नुम् आ जाने से निमित्त न रह जाने के कारण 'निमित्तापाये' परिभाषा के बल से षकार भी न रहा।

सुप् में सकार को रुत्व और रकार को विसर्ग होने पर 'पयः सु' इस स्थिति में 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से विसर्गों को सकार प्राप्त होता है। उसको बाधकर 'वा शरि' सूत्र से विसर्गों को विकल्प से विसर्ग होकर पयःसु बना और पक्ष में सकार होने पर पयस्सु।

इसी प्रकार सकारान्त नपुंसकलिङ्ग **यशस्** (कीर्ति), **मनस्** (मन) **रक्षस्** (राक्षस्) **महस्** (तेज) **वयस्** (पक्षी, अवस्था) **तेजस्** (तेज) **ओजस्** (बल, तेज) और **ओकस्** (घर) आदि शब्दों के भी रूप बनेंगे।

सुपुंस् (शोभनाः पुमांसो यस्य कुलस्य नगरस्य बा–अच्छे पुरुषवाला कुल या नगर) शब्द के सु का लोप होने पर मकार का संयोग होने से सकार को संयोगान्त लोप हुआ। पर त्रिपादी होने से अनुस्वार संयोगान्त लोप के प्रति असिद्ध है। तब रूप सिद्ध हुआ **सुपुम्**।

सुपुंसी–औ को शी आदेश होकर रूप बन गया।

सुपुमांसि–जस् को शी आदेश और उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा होने पर 'पुंसोसुङ्' से असुङ् आदेश हुआ। तब 'सुपुमस् इ' इस स्थिति में झलन्तलक्षण नुम् और सान्तसंयोग लक्षण उपधादीर्घ तथा नकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' सूत्र से अनुस्वार होने पर रूप की सिद्धि हुई।

इसी प्रकार द्वितीया के भी रूप बनेंगे।

शेष रूप पुंल्लिङ्ग 'पुंस्' के समान।

Unit-III

(लघुसिद्धान्तकौमुदी अथ तिडन्तम्)

अध्याय—6

भ्वादिगण

भ्वादिगणः।

धातु से तिङ् प्रत्यय लगाकर क्रिया रूप बनते हैं। अतः क्रिया रूपों को ही तिङन्त कहते है। रूप रचना की दष्टि से क्रिया रूपों को दस वर्गों में बाँटा जाता है। एक वर्ग की धातुओं को एक स्थान पर एकत्रित किया गया जिन्हें गण कहते हैं। इस प्रकरण में प्रथम गण अर्थात् भ्वादिगण की धातुओं के रूपों का विवरण दिया जाएगा।

लट्. लिट्. लुट्. लट. लेट्. लोट्. लङ्. लिङ्. लुङ्. लङ्. एषु प चमो

लकारश्छन्दोमात्रागोचरः।

व्याख्याः 'लट्' आदि दश लकार हैं।

एषु इतिः इन में पाँचवाँ—लेट् लकार केवल वेद का विषय है अर्थात् इसका प्रयोग वेद में ही होता है, लोक में नहीं। इन दशों में लकार होने के कारण इनको 'लकार' कहा जाता है। इनमें पहले छः टित् हैं और अन्तिम चार ङित्।

ये लकार धातुओं के आगे प्रयुक्त होते हैं। इनके द्वारा धातुवाच्य क्रिया के काल आदि का बोध होता है।

ये लकार सामान्यतः निम्नलिखित अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

1. **लट्ः** वर्तमान काल।
2. **लिट्ः** परोक्ष अनद्यतन भूतकाल।
3. **लुट्ः** अनद्यतन भविश्यत् काल्
4. **लट्ः** सामान्य भविष्यत्।
5. **लेट्ः** शर्त लगाना और शङ्का।
6. **लोट्ः** विधि (प्रेरणा आज्ञा देना) आदि।
7. **लङ्ः** अनद्यतन भूत काल।
8. **लिङ्ः** (क) विधि आदि।
   (ख) आशीर्वाद।
9. **लुङ्ः** सामान्य भूत।
10. **लङ्ः** हेतुहेतुमदभाव के अर्थ में जब क्रिया की असिद्धि हो।

लकारों के अर्थ को स्पष्टतया समझने के लिये निम्नलिखित पदार्थों का ज्ञान होना आवश्यक है।

काल—समय को कहते हैं। क्रिया जिस समय में होती है वह क्रिया का काल कहता है।

काल तीन प्रकार का होता है।—वर्तमान, भविष्यत् और भूत।

वर्तमान काल

जो काल चल रहा है उसे वर्तमान काल कहते हैं। जिस काल में क्रिया प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है उसे वर्तमान कालिक क्रिया कहते हैं। वर्तमान कालिक क्रिया में क्रिया का प्रारम्भ होना तो पाया जाता है, पर समाप्त होना नहीं है। जैसे—'स गच्छति—वह जाता है', यहाँ गमन क्रिया का प्रारम्भ या उसका होना ज्ञात है पर समाप्त होना नहीं। अतः यह वर्तमान काल का प्रयोग है।

भविष्यत् काल

भविष्य में होने वाली क्रिया के काल को भविष्यत् काल कहते हैं। भविष्यत् काल वह है जिसमें क्रिया का प्रारम्भ होना न पाया जाय अपि तु आगे होना पाया जाय। जैसे— 'स गामिष्यति—वह जायगा।' इस वाक्य में गम (जाना) क्रिया का आगे होना पाया जाता है। इस वाक्य के द्वारा मालूम पड़ता है कि क्रिया अभी प्रारम्भ नहीं हुई। अतः यह भविष्यत् काल का प्रयोग है।

भूत काल

प्रत्यक्ष काल से पूर्व जो क्रिया समाप्त हो चुकी है, उसके काल को भूतकाल कहते हैं। अर्थात् भूतकाल वह काल है जिसमें क्रिया की समाप्ति पाई जाय अर्थात् क्रिया आरम्भ होकर समाप्त हो चुकी हो। जैसे —'सोगमत्—वह गया।' इस वाक्य में गमन—जाना—क्रिया की समाप्ति पाई जाती है। अतः वह भूतकाल का प्रयोग है।

अनद्यतन

उस काल को कहते हैं जो आज का न हो।

आजः बारह बजे रात के बाद दूसरी रात के बारह बजे तक अथवा प्रातःकाल से रात्रि की समाप्ति तक कहा जाता है। यदि इतने समय के अन्दर क्रिया हुई तो वह अद्यतन काल की कही जाती है और यदि इसके बाद हो तो अनद्यतन काल की।

भूत और भविष्यत् दो काल अनद्यतन भी होते हैं। वर्तमान में तो अद्यतन और अनद्यतन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

परोक्षः उस काल को कहते हैं जिसमें क्रिया करनेवाले का प्रत्यक्ष में होना न पाया जाय् जैसै—'युधिष्ठिरो बभूव—युधिष्ठिर हुआ'। इस वाक्य में होना क्रिया का करनेवाला युधिष्ठिर इस वाक्य के प्रयोग करनेवाले के प्रति प्रत्यक्ष नहीं वह युधिष्ठिर को देख नहीं रहा है। देवदत्तो जगाम—देवदत्त गया।

इस वाक्य में जाना क्रिया का कर्त्ता देवदत्त जब रहा था था तब इस वाक्य के प्रयोग करनेवाले ने नहीं देखा। परोक्ष का सम्बन्ध केवल भूतकाल से होता है। वर्तमान परोक्ष नहीं होता और भविष्यत् सदा परोक्ष ही रहता है। इसलिये इसका सम्बन्ध केवल भूतकाल से ही है क्योंकि भूतकाल परोक्ष और अपरोक्ष दोनों प्रकार का होता है।

इन पदाथों के ज्ञान के अनन्तर स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान काल के लिये एक लट् लकार का, भविष्यकाल के लिय लुट् और लट् इन दो लकारों का और भूत के लिये लुङ्, लङ इन तीनों का प्रयोग होता है।

लकारार्थ-कालबोधकचक

	काल		लकार	उदाहरण
1	वर्तमान		लट्	स गच्छति
2	भविष्यत्	(क) सामान्य	लृट्	स गमिष्यति
		(ख) अनद्यतन	लुट्	श्वो गन्ता—कल जायगा
3	भूत	(क) सामान्य	लुङ्	सोगमत्
		(ख) अनद्यतन	लङ्	सोच्छत्
		(ग) परोक्ष अन०	लिट्	स जगाम।

यदि क्रिया का अनद्यतन काल में होने का उल्लेख हो तो अनद्यतन काल का प्रयोग अवश्य होना चाहिये, अन्यथा वाक्य अशुद्ध समझा जायगा। जैसे—'श्वो गन्ता' इस वाक्य में श्वो 'पद के द्वारा स्पष्ट है कि क्रिया आज की नहीं। अतः यहाँ अनद्यतन काल के लुट् लकार का प्रयोग आवश्यक है। इस स्थान में 'लट्' का प्रयोग अशुद्ध होगा। जहाँ 'अनद्यतन' का उल्लेख स्पष्ट न हो, वहाँ 'लट्' का प्रयोग हो सकता है। 'स गमिष्यति' इस वाक्य में लट् के प्रयोग से जाना जाता है कि क्रिया भविष्यत्काल की है, आज की है कि नहीं—इसका ज्ञान इससे नहीं होता। इसी प्रकार 'वष्टिरभूत्' वष्टिरभवत्' इन वाक्यों में लकारों के कारण अर्थ भेद हैं। शेष लकार किसी काल का बोध नहीं कराते। वे क्रिया के प्रकार को बताते हैं।

लः कर्मणि च भावे चा कर्मकेभ्यः 2.4.69

लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च।

व्याख्याः लकार सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्ता तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्ता में हों।

इस सूत्र के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये—कर्ता, कर्म, भाव, सकर्मक और अकर्मक को परिभाषा लिखी जाती है।

यहाँ यह जान लेना चाहिए कि प्रत्येक धातु के दो अर्थ होते हैं फल और व्यापार। व्यापार का जो आश्रय होगा वह कर्ता और फल का आश्रय कर्म कहा जाता है।

कर्ता: धातु के द्वारा वाच्य व्यापार के आश्रय तथा व्यापार में स्वतन्त्र रूप से जो विवक्षित हो उसे कर्ता कहते हैं।

कर्म: धातुवाच्य फल के आश्रय को कर्म कहते हैं।

भाव: धातुवाच्य व्यापार को कहते हैं।

सकर्मक धातुः उन धातुओं को कहते हैं जिसके फल और व्यापार के आश्रय भिन्न[1]—भिन्न हो। जैसे—'पच्' धातु। इसका फल गलना चावलों में और पाक व्यापार देवदत्त आदि में रहता है। अतः फल और व्यापार के भिन्न भिन्न अधिकरणों में रहने में 'पच्' धातु सकर्मक है।

अकर्मक धातुः उन्हें कहते हैं जिनके फल और व्यापार एक ही आश्रय में रहते हो। जैसे— शीङ् धातु। इसका फल आराम और व्यापार लेट जाना आदि एक ही आश्रय कर्ता में रहते हैं।

यहाँ 'वाच्य' को समझ लेना अत्यावश्यक है।

वाच्यः क्रिया के प्रकार को कहते हैं जिनके द्वारा यह जानना होता है कि लकार किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह तीन प्रकार का है—1 कर्तवाच्य, 2 कर्मवाच्य, 3 भाववाच्य।

कर्तवाच्य : धातु के उस रूप को कहते हैं जिसमें लकार का संबंध कर्त्ता से हो अर्थात् लकार का अर्थ कर्ता हो।

कर्मवाच्यः धातु के उस रूप को कहते हैं जिसमें लकार का संबंध कर्म से हो अर्थात् लकार का अर्थ 'कर्म' हो।

भाववाच्यः धातु के उस रूप को कहते हैं जिसमें लकार का संबंध भाव अर्थात् क्रिया मात्र से हो अर्थात् लकार का अर्थ 'भाव' है।

क्रिया से इन तीनों प्रकारों में से कर्तवाच्य का ही अधिक प्रयोग होता है। इसीलिये गणों और प्रक्रियाओं में धातुओं के कर्तवाच्य रूप ही बताये गये हैं। भाववाच्य और कर्मवाच्य के रूप केवल 'भावकर्मप्रक्रिया' में बताये गये हैं।

इस प्रकार 'लः कर्मणि—' सूत्र धातु के तीन वाच्य कर्तवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य को बताता है। जब लकार कर्ता में आयगा तब कर्तवाच्य, जब कर्म में आयगा तब कर्मवाच्य और जब भाव में आयगा तब भाववाच्य कहा जायगा। सकर्मक धातुओं को कर्तवाच्य और कर्मवाच्य तथा अकर्मक के कर्तवाच्य और भाववाच्य होते हैं। कर्तवाच्य दोनों का होता है।

---

1. फल—व्यधिकरण—व्यापार—वाचकत्वं सकर्मकत्वम्।
2. फल—समानाधिकरण—व्यापार—वाचकत्वम् अकर्मकत्वम्
3. इन वाच्यों के कारण वाक्य रचना में बहुत भेद पड़ जाता है। उसको भी यहाँ समझ लेना आवश्यक है—

वर्तमाने लट् 3.2.123

वर्तमान क्रिया वत्तेर्धातोर्लट् स्यात्। अटावितौ। उच्चारणसामर्थ्याद् लस्य नेत्त्वम्। 'भू' सत्तायाम्। कर्तविवक्षायां 'भू ल्' इति स्थिते।

व्याख्याः वर्तमान काल की क्रिया में धातु से लट् लकार हो।

अटावितिः 'लट्' के अकार और टकार इत्संज्ञक है।

उच्चारणेतिः उच्चारण सामर्थ्य से लकार की इत्संज्ञा नहीं होती, अन्यथा फिर कुछ शेष न रहने से उच्चारण ही व्यर्थ हो जायगा।

भू इतिः 'भू' धातु का सत्ता होना अर्थ है।

कर्तविवक्षायामितिः इसमें 'कर्ता' की विवक्षा में कर्तवाव्य में लकार करने पर 'भू ल्' यह स्थिति हुई।

तिप्तस्झि-सिप्थस्थ-मिबवस्मस् तातांझ-थासाथांध्वम्-इड्वहिमहिङ् 3.4.99

एतेष्टादश लादेशाः स्युः।

व्याख्याः तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इड्, वहि, महिङ् ये अठारह लकारों के स्थान में आदेश हों।

इन अठारहों को 'तिङ्' कहते हैं। प्रारम्भ में 'ति' से लेकर अत्य 'ङ्' तक 'तिङ्' प्रत्याहार बनता है।

पहले नौ को छोड़कर 'त' से लेकर आगे के नौ को 'तङ्' कहते हैं। 'तङ्' भी प्रत्याहार है। 'त' से लेकर 'महिङ्' के 'ङ्' तक लिया जाता है।

लः परमैपदम् 1.4.99

लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः।

व्याख्याः लकारों के स्थान में जो आदेश हों, वे परस्मैपद संज्ञा वाले हों अर्थात् उनकी परस्मैपदसंज्ञा हो।

पिछले सूत्र से पूर्वोक्त अठारह आदेशों का लकारों के स्थान में विधान किया गया है। अतः लादेश होने से इन सब की परस्मैपद संज्ञा प्राप्त हुई।

तङानावात्मनेपदम् 1.4.100

तङ्प्रर्तयाहारः शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः। पूर्वसंज्ञापवादः।

व्याख्याः तङ्श प्रत्याहार तथा शानच् और कानच् प्रत्ययों की आत्मनेपद संज्ञा हो। पूर्वसंज्ञेति— यह पूर्व (परम्मैपद) संज्ञा का अपवाद —बाधक—है अर्थात् तङ्—त आदि नौ, शानच् और कानच् प्रत्ययों की लादेश होने पर भी पूर्व सूत्र से परस्मैपद संज्ञा नहीं होती, अपि तु विशेष विहित होने से आत्मनेपद संज्ञा होती है।

शानच् और कानच् का केवल आन बचता हैं ये दोनों प्रत्यय कत् प्रकरण में आयेंगे।

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् 1.3.12.

अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेनपदं स्यात।

व्याख्याः अनुदात्तेत् (जिसका अनुदात्त अच इत् हो) और ङित् धातुओं से आत्मनेपद—तङ्, शानच् और कानच्—प्रत्यय हों।

'एध' धातु का धाकरोत्तरवर्तो अकार अनुदार्त्तते और इत्संज्ञक है। इसलिये इससे आत्मनेपद आता है। इसी प्रकार ङ् के इत् होने से 'शीङ्' धातु से भी आत्मनेपद आता है।

अनुदात्तेत् का ज्ञान 'धातुपाठ' से होगा। वहाँ से इतने धातु अनुदात्तेत् हैं— इस प्रकार उल्लेख कर अनुदात्तेत् धातुओं का पथक् परिगणन किया गया है। ङ्ति का ज्ञान तो सरलता से हो जाता है, जिस धातु के साथ ङ् अनुबन्ध लगा है वह ङित् है।

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले 1.3.72

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्नेपदं स्यात् कर्तगामिनि क्रियाफले।

व्याख्याः स्वरितेत्–जिसका स्वरित अच इत् हो और ञित् धातु से आमनेपद प्रत्यय हों, यदि क्रिया का फल कर्तगामी हो अर्थात् कर्ता का मिले।

'यज' धतु का जकारोत्तवर्ती अकार स्वरित है और इत्संज्ञक हैं। इसलिये इस धातु से क्रियाफल के कर्तगामी होने पर आत्मनेपद आयगा। इसी प्रकार ञित् होने के कारण 'श्रिञ्' धातु से क्रियाफल के कर्तगामी होने पर आत्मनेपद आयगा। यह क्रियाफल कर्त 'गामी न होगा तो अग्रिम सूत्र से परस्मैपाद आयेगा।

स्वरितेत् और ञित् का ज्ञान पूर्ववत् धातुपाठ' से होगा।

इससे यह सिद्ध हुआ के स्वरितेत् और ञित् धातु उभयपद हैं अर्थात इनसे दोनों–आत्मनेपद और परस्मैपद प्रत्यय आते हैं। परन्तु यहाँ व्यवस्था की गई है कि क्रियाफल के कर्तगामी होने पर आत्मनेपद और परगामी–अर्थात् कर्ता से भिन्न में–होने पर परस्मैपद आयेगा।

सर्वप्रथम यह निश्चय कर लेना चाहिये कि क्रिया का फल क्या है? तदनन्तर इस बात पर विचार करना चाहिये कि यह फल कर्ता को मिलता है या अन्य को। यदि कर्ता को मिले तो आत्मनेपद और अन्य को मिले तो परस्मैपद का प्रयोग करना चाहिय।

'कृञ्' धातु ञित् हैं इसमें यदि 'सन्ध्या करना' यह हमें बताना हो तो सन्ध्या करने का फल है– प्रत्यवायपरिहार, पाप का अभाव। क्योंकि सन्ध्या नित्यकर्म है और नित्यकर्म का फल न करने से प्राप्त होने वाले पाप का अभाव माना जाता है। यह फल कर्ता को मिलता है। इसलिये यहाँ आत्मनेपद आयेगा, परत्मैपद् नहीं। अत एव सन्ध्या के संकल्प में 'सन्ध्यामहं करिष्ये कहना होगा 'करिष्यामि' नहीं।

क्रिया का मुख्य उद्देश्य–जिनकी सिद्धि के लिये क्रिया की जा रही हो–क्रियाफल को कहा जाता है। 'यज्ञ करना' में पुत्र प्राप्ति आदि–जिस उद्देश्य के लिये–यज्ञ क्रिया की जायगी, वह फल कहा जायगा। इसलिये यदि कर्ता स्वयं अपना यज्ञ करता होगा तो 'यज्ञमहं करिष्ये' ऐसा आत्मनेपद युक्त शब्द कहा जायगा और यदि किसी अन्य का यज्ञ करता हो–जैसे पुरोहित अपने यजमान का यज्ञ किया करता है, तब 'यज्ञमहं करिष्यामि' इस प्रकार परस्मैपद का प्रयोग किया जायगा।

यद्यपि यजमान के यज्ञ करने पर पुरोहित को भी दक्षिणा रूप फल मिलता है, तो भी आत्मनेपद नहीं होगा। क्योंकि दक्षिणा तो पारिश्रमिक–मजदूरी–के समान है, यज्ञ करने का मुख्य उद्देश्य नहीं। मुख्य उद्देश्य पुत्रप्राप्ति आदि–जिस कामना की सिद्धि के लिए यजमान ने यज्ञ रचाया हो–है और वह यजमान को ही मिलेगा जो कि यज्ञक्रिया के कर्ता पुरोहित से भिन्न है। अतः ऐसे स्थल में परगामी क्रिया–फल होने से परस्मैपद आयगा, आत्मनेपद नहीं।

इसलिये स्वरितेत् और ञित् धातुओं के प्रयोग करने में पूरी सावधानी रहनी चाहिये।

शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् 1.3.78

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातोः कर्तरि परस्मैपदं स्यात्।

व्याख्याः आत्मनेपद के निमित्त से हीन धातु से कर्ता–कर्तवाच्य में परस्मैपद हो।

उक्त तीन सूत्र आत्मनेपद और परस्मैपद के सूत्र कहे जाते हैं। ये पदव्यवस्था के समान्य–मूल सूत्र है।

उक्त तीनों सूत्रों का निष्कर्ष यह हुआ कि धातु तीन प्रकारों –कर्तवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य– में से केवल कर्तवाच्य में परमैपद आता है, भाव और कर्मवाच्य में नहीं। भाव और कर्मवाच्य में आत्मनेपद ही होगा–यह निश्चित है। कर्तवाच्य में दोनों पद आते हैं। उनकी व्यवस्था यह है कि 1 अनुदात्तेत 2 ङित् 3 स्वरितेत् कर्तगामि क्रियाफल होने पर, 4 ञित् कर्तगामि क्रिया–फल होने पर –धातुओं से आत्मनेपद आता है और शेष से परस्मैपद आयगा। पूर्वोक्त चार प्रकार के धातुओं से आत्मनेपद आयेगा।

पाणिनि ने धातुपाठ में धातुओं को विभिन्न अनुबन्धों से युक्त पढ़ा है। कुछ धातु ङित् हैं, कुछ धातु ाित्, कुछ में अनुदात्त स्वर का प्रयोग किया गया है तो कुछ में स्वरित का प्रयोग किया गया है। अनुदात्त और स्वरित की इत्संज्ञा होती हैं। ऐसी धातुओं को अनुदात्तेत् अथवा स्वरितेत् कहते हैं। आजकल धातुपाठ में अनुदात्त् स्वरित, चिह्नों का प्रयोग नहीं होता है। केवल प्रयोग से ही ज्ञात होता है कि कौन सी धातु अनुदात्तेत् है और कौन सी स्वरितेत्।

आत्मनेपद और परस्मैपद की उपर्युक्त व्यवस्था पाणिनिकाल में सम्भवतः रही हो परन्तु वास्तविक प्रयोग में पद–संबन्धी उपर्युक्त व्यवस्था पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। साहित्य में उभयपदी धातुओं का स्वेच्छा से आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों में प्रयोग मिलता हैं, क्रिया का फल कर्तगामी है अथवा नहीं इस पर विशेष विचार नहीं किया जाता।

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यामोत्तमाः 1.4.101

तिङ उभयोः पदयास्त्रयस्त्रिकाः क्रमाद् एतत्संज्ञा स्युः।

(एकवचनादिसंज्ञासूत्रम्)

व्याख्याः तिङ इति—तिङ के दोनों पदों—अत्मनेपद और परस्मैपद के जो तीन तीन के समूह—हैं, उनकी क्रम से प्रथम, मध्यम, और उत्तम संज्ञा होती है।

आत्मनेपद और परस्मैपद के नौ नौ प्रत्यय हैं उन नौ प्रत्ययों के तीन वर्ग बने हुए हैं।

परस्मेपद –1 वर्ग –तिप्, तस्, झि, 2 वर्ग–सिप्, थस् थ. 3 वर्ग मिप्, वस्, मस्। आत्मनेपद— 1 वर्ग–त, आताम्, झ, 2 वर्ग–थास्, आथाम् ध्वम, 3 वर्ग–इट्, वहि, महिङ्। इस प्रकार दोनों पदों के तीन तीन वर्ग हुए। इन वर्गों की क्रम से पूर्वोक्त संज्ञायें होती हैं।

तान्येकवचन-द्विवचन-बहुवचनान्येकशः 1.4.102

लब्धप्रथमादिसंज्ञानि तिङंस्त्रीणि त्रीणि प्रत्येकमेकवचनादि संज्ञानि स्युः।

व्याख्याः तिङ् के इन त्रिकों–जिनकी प्रथम आदि संज्ञा की गई है–के तीन प्रत्ययों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा हो।

ऊपर कहे गये प्रत्येक त्रिक–तीन के वर्ग–में तीन तीन प्रत्यय हैं। उनकी क्रम से एकवचन आदि संज्ञाओं का विधान इस सूत्र में होता है। जैसे –तिप् की एकवचन, तस् की द्विवचन और झि की बहुवचन संज्ञा हुई। इन सबका निम्नलिखित चक्र से स्पष्टता के लिये निरूपण किया जाता है–

परस्मैपद			**आत्मनेपद**		
एकवचन,	**द्विवचन,**	**बहुवचन**	**एकवचन,**	**द्विवचन,**	**बहुवचन**
प्रथम–तिप्	तस्	झि	प्रथम– त	आताम्	झ
मध्यम–सिप्	थस्	थ	मध्यम–थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम–मिप्	वस्	मस्	उत्तम–इट्	वहि	महिङ्ँ

अब तक यह निर्णय किया जा चुका है कि इन तिङ् प्रत्ययों में आत्मनेपद और परस्मैपद कहाँ कहाँ आते हैं। वचनों के विषय में सुबन्त प्रकरण में कहा जा चुका है कि बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन, द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन और एकत्व की विवक्षा में एक वचन आता है। प्रथम, मध्यम और उत्तम की व्याख्या अभी नहीं की गई। वह अब अग्रिम तीनों सूत्रों से बताई जाती है–

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः 1.4.205

[1]तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि[2] प्रयुज्जयमानेप्रयुजयमाने च मध्यमः।

व्याख्याः तिङ् का वाच्य जो कारक–कर्ता या कर्म–उसी का वाचक यदि युष्मद् शब्द हो, उसके उपपद रहते हुए उसका चाहे प्रयोग हुआ हो न हुआ हो, लकार के स्थान में मध्यमसंज्ञक तिङ् प्रत्यय हों।

तिङ् प्रत्यय कर्ता और कर्म के वाचक होते हैं। कर्त्तवाच्य में कर्ता के और कर्मवाच्य में कर्म के। यदि कर्त्तवाच्य में कर्ता और कर्मवाच्य में कर्म यदि युष्मद् हो तो मध्यम पुरुष के प्रत्ययों का प्रयोग होता है। युष्मद् का प्रयोग वाक्य में साक्षात् हो अथवा वह गम्यामान हो मध्यम पुरुष के प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

इस बात का स्पष्ट ज्ञान प्रयोग से हो सकता है। युष्मद् शब्द का प्रयोग नियमतः अपेक्षित नहीं। अतः जैसे —'त्वं भवसि'—इत्यादि प्रयोग होते हैं, उसी प्रकार युष्मद् शब्द के प्रयोग के बिना भी 'भवसि' इत्यादि मध्यम पुरुष के प्रयोग होते हैं।

अस्मद्युत्तमः 1.4.207

[3]तथाभूतेस्मदि उत्तमः।

व्याख्याः तिङ का वाच्य यदि अस्मद् शब्द हो, उसका चाहे प्रयोग हुआ हो चाहे न हुआ हो, ऐसी दशा में लकार के स्थान में उत्तमसंज्ञक तिङ् प्रत्यय हो।

शेषे प्रथमः 1.4.208

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात्।

व्याख्याः मध्यम और उत्तम के विषय को छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र लकार के स्थान में प्रथमसंज्ञक प्रत्यय हों।

अतः प्रथम का विषय बहुत व्यापक है।

यहाँ तक धातुओं के रूप सिद्ध करने में सहायक सामान्य नियम कहे गये। अब यहाँ से आगे रूप सिद्ध करने का पूरा प्रकार बताया जायगा। सबसे पहले 'भू' धातु के रूप सिद्ध किये जायेंगे। क्योंकि वह 'धातुपाठ' में प्रथम धातु है।

लट् लकारः प्रथम के एकवचन में लकार के सथान में 'तिप्' यह परस्मैद तिङ प्रत्यय हुआ। 'प्' की 'हलन्त्यम्' सूत्र से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः— सूत्र से लोप हुआं तब 'भू + ति' यह स्थिति हुई।

तिङ्-शित् सार्वधातुकम् 3.4.113

तिङः शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञाः स्युः।

व्याख्याः 'धातोंः 3.1.91' सूत्र के अधिकार में कहे गये तिप् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा हो।

'भू + ति' इस पूर्वोक्त स्थिति में 'भू ति' में तिङ् की सार्वधातुकसंज्ञा हुई क्योंकि यह तिङ् है।।

कर्तरि शप् 3.1.68

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातोः शप्।

व्याख्याः कर्ता अर्थवाले सार्वधातु के परे रहते धातु से शप् हो। कर्त्रर्थ कहने का तात्पर्य यही है कि लकार कर्ता अर्थ में आया

---

1. सूत्रस्थ 'समानाधिकरणे' पद का अर्थ वत्ति में 'तिङ्वाच्यकारकवाचिनि' किया है। सूत्र के 'समानाधिकरणे' पद का अर्थ है एक ही अधिकरण में रहनेवाला।' शब्द अर्थ में वाच्य–वाचक भाव सम्बन्ध से रहता है, इसलिए अर्थ को शब्द का अधिकरण कहा जाता है। यदि दो शब्दों का समान अर्थ हो तो उन्हें 'समानाधिकरण' कहते हैं तिङ् ओर युष्मद् समानाधिकरण तभी हो सकते हैं जब दोनों का अर्थ एक हो। यहाँ दोनों का अर्थ एक ही कारक होता है। अतः 'समानाधिकरणे'पद का 'तिङ्वाच्यकारकवाचिनि' अर्थ किया गया है।

2. 'स्थानिनि' का अर्थ है 'अप्रयुज्माने'। जिसको आदेश किया जाता है उसे 'स्थानी' कहते हैं, आदेश होने के अनन्तर स्थानी का लोप हो जाता है अर्थात् प्रयोग नहीं होता। अतः 'स्थानी' का प्रयोग न होना' इतना अर्थ हुआ। 'अपि' शब्द के द्वारा 'प्रयुज्यमाने' प्रयोग किये जाने पर इस अर्थ का भी संग्रह हो जाता है।

3. 'तथाभूते' अर्थात् पूर्व सूत्र के समान या इस सूत्र का भी यह अर्थ होगा 'तिङ्वाच्यकारकवाचिनि प्रयुज्यमानेप्रयुज्यमाने च।

हो, लकार के स्थान में आदेश आनेवाले तिबादि भी तब कर्त्रर्थ ही कहे जायेगे। अतः शप् कर्तवाच्य में ही होगा।

'शप्' प्रत्यय को 'विकरण' कहते हैं। यह धातु और तिङ् के मध्य में होता है। इसके शकार और पकार इत्संज्ञा होने पर लोप को प्राप्त हो जाते हैं, केवल 'अ' शेष रहता है।

'भू ति' में 'तिङ्' ति सार्वधातुक है। कर्ता में लकार होने से तथा उस लकार के स्थान में आदेश होने से इसका अर्थ कर्ता है। अतः इसके परे रहते 'शप्' हुआ। तब 'भू अ ति' यह स्थिति बनी। यहाँ 'यस्मात्–' सूत्र से धातु 'भू' यह अङ्ग संज्ञा है। और 'भू' यह अङ्ग इगन्त है।

(गुणविसूत्रम्)

सार्वधातुकार्धधातुकयोः 7.3.84

अनयोः परयोगिन्ताङ्गस्य गुणः। अवादेशः– भवति। भवतः।

व्याख्याः सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण हो।

'आर्धधातुक' संज्ञा आगे बताई जायगी।

अलोन्त्य परिभाषा के बल से अङ्ग के अन्त्य इक् को गुण होगा। 'भू अ ति' यहाँ अङ्ग के अन्त्य 'ऊ' का गुण 'ओ' हुआ।

आवदेश इतिः तब 'ओ' को 'अव्' आदेश होकर भवति रूप बना।

भवतः 'भू+तस्' इस स्थिति में 'कर्तरि शप्' सूत्र से शप् प्रत्यय, उसके शकार पकार की इत्संज्ञा 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः। से उकार के स्थान में गुण ओकार एकादेश और ओकार के स्थान में 'अव्' आदेश तथा सकार के स्थान में रुत्व विसर्ग होने पर रूप सिद्ध हुआ।

झोन्तः 7.1.3

प्रत्ययावयवस्य झस्यान्तादेशः। अतो गुणे–भवन्ति। भवसि, भवथः भवथ।

व्याख्याः प्रत्यय के अवयव 'झ् को 'अन्त' आदेश हो।

भवन्ति– प्रथम के बहुवचन में 'भू+झि' इस अवस्था में पूर्ववत् शप्, गुण और अवादेश हुए। प्रत्यय के अवयव 'झ्' को 'अन्त' आदेश होकर 'भव+ अन्ति' यह दशा हुई। इसमें 'अतो गुणे' सूत्रसे 'शप्' के अकार और 'अन्ति' के अकार को पररूप एकादेश होने पर भवन्ति रूप सिद्ध हुआ।

मध्यम के तीनों वचनों के रूप इसी प्रकार सिद्ध होंगें।

भू अ सि–भो अ सि = भवसि। भू अ थस् = भो अ थस् = भवथः।

भू अ थ = भो अ थ– भवथ।

(दीर्घविधिसूत्रम्)

अतो दीर्घो यञि 7.3.101

अतोऽङ्गस्य दीर्घो याादो सार्वधातुके। भवामि भवावः, भवामः। स भवति, तौ भवतः ते भवन्ति। त्वं भवसि, युवां भवथः, युयं भवथ। अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः।

भवामिः उत्तम के एकवचन में 'भू मि' यहाँ शप्, गुण और अवादेश होने पर 'भव मि' इस अवस्था में या् मकार आदि 'मिप्' सार्वधातुक परे होने से अङ्ग 'भव' के अन्त्य अकार को दीर्घ आकार होकर भवामि यह सिद्ध हुआ।

शप् परे रहते केवल 'भू' की अङ्ग होगी और तिङ् परे होने पर शप् के अकार सहित 'भू अ' इसकी।

इसी प्रकार द्विवचन में भू अ वस्–भो अ वस्–भवावः। और बहुवचन में भू अ मस्–भो अ मस्–भव अमस् = भवामः रूप भी सिद्ध होंगें।

इस प्रकार लट् लकार के सम्पूर्ण रूप सिद्ध हुए। (इनको उपपद के साथ फिर मूल में दिखाया गया है। उनका अर्थ उसी क्रम से यहाँ लिखा जाता है।)

स भवतीतिः प्रथम—स भवति वह होता है, तौ भवतः— वे दो होते हैं, ते भवन्तिः—वे बहुत होते हैं।

मध्यमः त्वं भवति—तु होता है, यूवां भवथः—तुम दो होते हो, यूयं भवथ—तुम सब होते हो।

उत्तमः अहं भवामि—मैं होता हूँ, आवां भवावः—हम दो होते हैं, वयं भवामः—हम बहुत होते हैं।

लिट् लकार—

परोक्षे लिट् 3.1.125

भूतानद्यतनपरोक्षार्थवत्तेर्धातोर्लिट् स्यात्। लस्य तिबादयः।

व्याख्याः अनद्यतन भूत और परोक्ष की क्रिया अर्थ में यदि धातु हो तो उससे 'लिट्' लकार हो।

इटो इतौ— 'लिट्' इकार और टकार इत्संज्ञक है। केवल लकार वचता है।

लस्येतिः उसको 'तिप्' आदि आदेश होंगे।

परस्मैपदानां णलतुसुस्-थलथुस-णल्वमाः 3.4.82

लिटस्तिबादीनां नवानां णलादयः स्यु। 'भू अ' इति स्थितौ—

व्याख्याः लिट् के स्थान में आदेश हुए परस्मैपद 'तिप्' आदि नौ को क्रम से निम्नलिखित णलादि आदेश हों—

	स्थानी	आदेश	स्थानी	आदेश,	स्थानी	आदेश
प्रथम—	तिप्	णल्	तस्	अतुस्	झि	उस्
मध्यम—	सिप्	थल्	थस्	अथुस्	थ	अ
उत्तम—	मिप्	णल्	वस्	व	मस्	म

भू अ इति—'तिप्' के स्थान में 'णल् आदेश हुआ। णकार और लकार की इत्संज्ञा होकर लोप होने पर 'भू अ' यह स्थिति हुई।

भुवो वुग् लुङ्लिटोः 6.4.88

भूवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि।

व्याख्याः 'भू' धातु को 'वुक्' आगम हो, लुङ् और लिट् का अच् परे होने पर।

'वुक्' में 'उक् इत्संज्ञक है। अतः कित् होने से यह भू के आगे होगा। यहाँ लिट् का अच् अ (णल्) परे है। तब वुक् आगम होने से 'भूव् अ' ऐसी स्थिति बनी।

लिटि घातोरनभ्यासस्य 6.1.8

लिटि परे अनभ्यासधात्वययवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदि-भूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य। भूव् भूव् अ' इति स्थिते—

व्याख्याः लिट् परे रहते अभ्यास रहित अर्थात् जिसको द्वित्व न हुआ हो—धातु के अवयव प्रथम एकाच् (एक अच्वाले भाग) को द्वित्व हो, यदि धातु अजादि हो तो आदिभूत अच् से परे यदि संभव हो तो द्वितीय एकाच् को हो।

हलादि धातु चाहे एकाच् हो चाहे अनेकाच्, उसके प्रथम एकाच् को द्वित्व—होगा। पर ध्यान रहे कि यदि हलादि धातु एकाच् होगा तो उसमें धातु का अवयवत्व व्यपदेशिवद्भाव से सिद्ध करना होगा।

'चकास्' धातु हलादि अनेकाच् है इसके प्रथम एकाच् भाग 'च' को द्वित्व होगा। 'जि' धातु हलादि एकाच् है, इसके प्रथम एकाच् 'जि' को द्वित्व होगा। 'जि' में प्रथम एकाच्त्व व्यपदेशिवद्भाव से माना जायगा।

'ऊर्णु ।' धातु अजादि अनेकाच् है, इसके द्वितीय एकाच् 'णु' को द्वित्व होगा। 'अत्' धातु अजादि एकाच् है, इसके

व्यपदेशिवद्भाव से–प्रथम एकाच, 'अत्' को हो द्वित्व होगा। एकाच् से तात्पर्य है एक अच युक्त व्यंजन समूह।

इसी व्यवस्था के अनुसार सब धातुओं को द्वित्व होगा।

'अभ्यासरहित' कहने से एकबार द्वित्व करने पर पुनः द्वित्व नहीं होगा।

भूव् इति— इस व्यवस्था के अनुसार 'भूव् अ' यहाँ प्रथम एकाच 'भूव्' को द्वित्व होकर 'भूव् भूव् अ' यह स्थिति हुई। वकार आगम होने से 'भू' का अवयव है और 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तदग्रहणेन गह्यन्ते' परिभाषा के बल से 'भू' से वुक् आगम सहित 'भूव्' का भी ग्रहण होता है। अतः वकार को भी द्वित्व होता है।

पूर्वोभ्यासः 6.1.4

अत्र ये द्वे विहिते, तयोः पूर्वोभ्याससंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः यहाँ जिन दो रूपों का विधान किया गया है अर्थात् जो द्वित्व करके दो रूप बनाये गये हैं, उनमें पूर्वरूप की अभ्यास संज्ञा हो।

'भूव् भूव् अ' यहाँ द्वित्व करके दो 'भूव्' बने हैं। उनमें प्रथम 'भूव्' की अभ्याससंज्ञा हुई।

हलादिः शेषः 7.4.60

अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते । इति वलोपे

व्याख्याः अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है, अन्य हलों का लोप हो जाता हैं।

हलादि धातुओं में आदि हल् रहता है, उनमें तो इस सूत्र की प्रवत्ति निर्बाध हो जाती है। परन्तु अजादि एकाच् 'अत्' आदि धातुओं में आदि हल् नहीं—वहाँ कठिनाई उपस्थित होती हैं उसके लिये 'हलादिः शेषः' सूत्र में 'अहल्' और 'आदि शेषः' ये दो योग किये जाते हें। पहले योग का अर्थ् होता है–'अभ्यास हल् रहित हो।' इस से सभी धातुओं के सभी हलों का लोप प्राप्त होता है। तब दूसरा योग नियम करता है कि –'यदि आदि में हल् हो तो वह शेष रहता है।'

इति वलोपेः 'भूव् भूव् अ' यहाँ अभ्यास में आदि हल् भकार शेष रहा और उससे भिन्न हल् 'व्' का लोप हुआ। तब 'भू भूव् अ' यह स्थिति हुई।

ह्रस्वः 7.4.59

अभ्यासस्याचो ह्रस्वः स्यात्।

व्याख्याः अभ्यास के अच् को ह्रस्व हो।

'भू भूव् अ' यहाँ अभ्यास के अच् ऊकार को इस सूत्र से ह्रस्व हो गया।

भवते (:) र् अः 7.4.73

भवतेरभ्यासस्योकारस्य अः स्याल्लिटि।

व्याख्याः 'भू' धातु के अभ्यास के उकार को अकार हो लिट् पर होने पर।

इस सूत्र से उकार को अकार करने पर 'भू भूव् अ' यह दशा हुई।

अभ्यासे चर् च 8.4.54

अभ्यासे झलां चरः स्युः, जशश्च। झशां जशः, खयां चर इति विवेकः। बभूव, बभूवतुः, बभूवुः।

व्याख्याः अभ्यासे इति–अभ्यास में झलों के स्थान में चर् हो और जश् भी।

झशामितिः झशों को जश् और खयों को चर् हों–यह नियम है।

वर्गों के प्रथम, द्वितीय, ततीय, चतुर्थ वर्ण श, ष, स और ह ये झल् है स्थानी। आदेश हैं चर् और जश्। चर में वर्गों

के प्रथम और द्वितीय वर्ण तथा श ष स ह आते हैं जश् में ज ब ग ड द आते हैं। यहाँ यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थिति होता है कि किस वर्ण के स्थान में कौन सा वर्ण आदेश हो? इसका निर्णय यह है– 'स्थानेन्तरतमः' से प्रथम वर्ण को प्रथम वर्ण, ततीय वर्ण को ततीय वर्ण तथा श ष स को श ष स ही ओदश होंगे अर्थात् अपने स्थान में अपने आप होंगे च को च, ट को ट, ज को ज इत्यादि 'प्रकृति जशां प्रकृति चरां प्रकृति चरः' इस कथन का भी यह आशय है।

द्वितीय वर्ण को प्रथम और चतुर्थ को ततीय होंगे। जैसे –छिद् धातु में छ को च होकर चिच्छेद और 'ढौकृ' में ढ को डकार हो कर डुढौके बनता हैं कवर्ग को तो 'कुहोश्चुः' सूत्र से चवर्ग हो जाता है, जैसे –गम् के गकार को जकार होकर जगाम बनता हैं हकार को भी प्रथम पूर्वोक्त सूत्र से अन्तरतम चवर्ग 'झ' होता हैं पुनः प्रकृत सूत्र से झकार को जश् जकार हो जाता हैं। जेसे– 'हन् के जघान रूप में।

प्रकृत में झल् भकार चतुर्थ वर्ण को जश् ततीय वर्ण बकार हुआ। तब बभूव रूप सिद्ध हुआ।

बभूवतुः, बभूवुः– द्विवचन और बहुवचन में भी रूपसिद्धि इसी प्रकार होगी। द्विवचन में –भू अतुस्–भूव् अतुस–भूव् भूव् अतुस–भू भूव् अतुस–भु भूव् अतुस–भ भूव अतुस् –बभूवत्ः। बहुवचन में –भू उस्–भूव् उस्, भूव् भूव् उस्–भूव् उस्–भु भूव् उस–भ भूव् उस्–बभूवुः।

लिट् च 3.4.115

लिडोदशेस्तिङ् आर्धधातुकसंज्ञः।

व्याख्याः लिट् के स्थान में आने वाले तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा हो। यहाँ तिङ्शित–'सूत्र से प्राप्त सार्वधातुकसंज्ञा प्राप्त थी जिस का यह सूत्र बाधक है।

मध्यम के एकवचन में 'भू थ' इस स्थिति में थे की आर्धधातुकसंज्ञा हुई। तिङ् के स्थान में आदेश होने से थल् स्थानिवद्भाव से तिङ् है।

आर्धधातुकस्येड् वलादेः 7.1.35

वलोदेरार्धधातुकस्य 'इट्' आगमः स्यात्। बभूविथ, बभूवथुः, बभूव। बभूव, बभुविव, बभूविम।

व्याख्याः वलादि आर्धधातु को इट् आगम हो।

बभूविथ– 'भू+थ' इस स्थिति में 'थ' वलादि आर्धधातुक है। अतः उसको इट् आगम हो गया–इट् को 'इ' शेष रहता है। तब 'भू+इथ' ऐसी स्थिति बनने पर लिट् सम्बन्धो अच् परे होने से 'भुवो वुग लुङ् लिटोः, सूत्र से वुक् आगम, उसके उक् की इत्संज्ञा ओर लोप, 'भूव्' की 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' से द्वित्व, 'हलादिः शेषः' से अभ्यास के वकार का लोप, 'ह्रस्वः' से अभ्यास के दीर्घ आकर को ह्रस्व, 'भवतेर् अः' से उकार को अकार आदेश होनेपर 'अभ्यासे चर् च' से भकार को बकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ ध्यान रहे कि इट् पहले होता है और तब वुक् आगम होता है, क्योंकि वुक् अच् परे होने पर होता है 'इट्' होने पर ही अच् परे मिलता है। तब द्वित्व आदि कार्य होते हैं।

द्विवचन में–बभूव् व' यहाँ वलादि आर्धधातुक होने से 'व' को इट् आगम होकर बभूविव रूप बना।

बहुवचन में – बभूव् म' यहाँ पूर्ववत् इट् होकर बभूविम रूप सिद्ध 'व' और 'म' में भी थल् के समान पहले 'इट्' करना चाहिये, तब अच् परे मिलने से वुक् आगम होगा और तभी द्वित्व आदि कार्य किये जायेंगे।

अनद्यतने लुट् 3.3.15

भविष्यर्तयनद्यतनेर्थे धातोर्लुट्।

व्याख्याः अनद्यतन भविष्यत् के अर्थ में धातु से 'लुट्' लकार हो।

काल को अन्वय क्रिया ही में होता है। जब क्रिया का भविष्यत्काल में होना ओर अनद्यतनत्व–आज न होना–बताना अभीष्ट हो, उस समय 'लुट्' का प्रयोग करना इससे विधान किया गया है।

स्य-तासी ल-लुटोः 3.1.33

धातोः स्य-तासी एतौ प्रत्ययौ स्तः, ललुटोः परतः। शबाद्यपवादः। 'ल' इति लङ्लटोर्ग्रहणम्।

व्याख्याः धातु से लट् और लुङ् परे होने पर स्य और लुट् पर होने पर तासि प्रत्यय होते हैं।

शबादीतिः यह विधि 'शप्' आदि की बाधक है। धातुओं से इन लकारों में अपने अपने गण के विकरण शबादि प्राप्त होते हैं। उनको बाधकर ये स्य और तास प्रत्यय होते हैं।

ल इति : सूत्र में 'ल' यह पद कहा गया है, उससे लङ् और लट दोनों का ग्रहण होता है, क्योंकि अनुबन्ध रहित 'ल' कहा गया है और परिभाषा है कि 'निरनुबन्धक ग्रहणे समान्यग्रहणम्' अर्थात्— जहाँ अनुबन्ध रहित का ग्रहण किया गया है, वहाँ सामान्य का ग्रहण होता हैं अतः यहाँ भी 'लट' इस अनुबन्धरहित पद से सामान्य लङ् और लट् का ग्रहण होता है।

अनद्यतन भविष्यत्कालिकता सूचित करने के लिये 'भू' धातु से 'लुट्' लकार आया और उसके स्थान में परस्मैपद 'तिङ्' प्रत्यय आदेश यथाक्रम से हुए। उनमें प्रथम के एक वचन में 'भू ति' इस स्थिति में 'कर्तरि शप्' से 'शप्' प्राप्त है। उसको बाधकर प्रकृत सूत्र से 'तास्' हुआ। तब 'भू तास् ति' यह स्थिति बनी।

आर्धधातुकं शेषं 3.4.114

तिङ्शिद्भ्योन्यः, 'धातोः' इति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात्। इट्।

व्याख्याः तिङ् और शित् प्रत्ययो से भिन्न 'धातोः' इस पचम्यन्त का उच्चारण कर विधान किये हुये प्रत्ययों की आर्धधातुक संज्ञा हो।

'तास्' प्रत्यय का विधान 'धातोः' इस पचम्यन्त पद का उच्चारण करके किया गया है, कयोंकि तास् विधायक 'स्यतासी ल—लुटोः, 3.1.33' सूत्र में 'धातोः कर्मणः समानकर्तकाद् इच्छायां वा 3.1.22 इस सूत्र से 'धातोः' पद की अनुवत्ति होती है, अतः 'तास्' की आर्धधातुक संज्ञा होती है। तास् प्रत्यय तिङ् भी नहीं और शित् भी नही। तब 'भू इतास् ति इस दशा में सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से 'ऊ' को गुण 'ओ' और 'ओ' को 'अव्' आदेश होकर 'भवितास् ति' यह स्थिति हुई।

(डारौरस्विधिसूत्रम्)

लुटः प्रथमस्य डा-रौ-रसः 2.4.85

लुटः प्रथमस्य डा, रौ, रस् एते क्रमात्स्युः। डित्वसामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः -भविता।

व्याख्याः लुट् के प्रथम पुरुष के प्रत्ययों के क्रम से डा, रौ और रस् आदेश हो, अर्थात् तिप् को डा, तस् को रौ और झि को रस् हो।

'डा' में डकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। अतः यह 'डित्' कहा जाता है।

डित्वेतिः यद्यपि यह स्वादि कप् प्रत्ययान्तों में नहीं आता, अतः इसके परे रहते भसंज्ञा नहीं होती और अङ्ग के भसंज्ञक न होने से 'टेः' सूत्र से टि का लोप नहीं प्राप्त होता। तथापि डित् करने के बल के भसंज्ञक न होने पर भी अङ्ग की टि का लोप इसके परे रहते हो जाता है। अन्यथा कोई फल न होने से 'ड' कार की इत्संज्ञा करना व्यर्थ होगा।

भविता—'भवितास्+ति' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से 'ति' के स्थान में 'डा' आदेश हुआ। डकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर पूर्वोक्त प्रकार से डित्व के बल से टि 'आस्' का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

तास्-अस्त्योर्लोपः 7.4.50

तासेरस्तेश्च लोपः स्यात् सादौ प्रत्यये परे।

व्याख्याः सकारादि प्रत्यय परे होने पर तास् और अस् धातु का लोप हो।

'अलोन्त्य' परिभाषा के बल से अन्त्य अल् 'सकार' का लोप होगा।

'तास्' के सकार के लोप का उदाहरण—'भवितास् सि भवितासि' यह आगे मध्यम के एकवचन सिप् में मिलेगा।

'अस्' के सकार के लोप का उदाहरण अदादिगण में जहाँ अस् धातु आयेगी, वहाँ 'अस् सि—असि' इत्यादि रूपों में मिलेगा।

रि च 7.4.51

रादौ प्रत्यये तथा। भवितारौ, भवितारः। भवितासि, भवितास्थः, भवितास्य। भवितास्मि, भवितास्वः भवितास्मः।

व्याख्याः रकारादि प्रत्यय परे होने पर भी पूर्ववत् तास् और अस् का लोप हो'।

यहाँ भी अलोन्त्यपरिभाषा से अन्त्य सकार का ही लोप होगा।

भवितारौः—भू धातु के लुट् के प्रथम पुरुष के द्विवचन में 'भू +तस् इस स्थिति में पूर्वोक्त प्रकार से तास् प्रत्यय, उसकी आर्धध ाातुक संज्ञा, इट् आगम, धातु को आर्धधातुक निमित्तक गुण ओ आदेश, ओ को अव् आदेश होने पर 'भवितास् तस्' ऐस स्थिति बन जाने पर तस् को रौ आदेश हुआ। तब 'रि च' इस प्रकृत सूत्र से तास् के सकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

भवितारः— लुट् के प्रथम पुरुष के बहुवचन में पूर्वोक्त प्रकार से 'भवितास्+ झि' ऐसी स्थिति बन जाने पर झि को 'रस्' आदेश हुआ और तब प्रकृत सूत्र से तास् के सकार का लोप, सकार को रुत्व विसर्ग होने पर रूप सिद्ध हुआ।

भवितासिः-मध्यम के एकवचन में 'भवितास्+सि' यहाँ सकारादि 'सि' प्रत्यय परे होने से 'तास् अस्त्योर्लोपः' सूत्र से तास् के सकार का लोप होने पर रूप बना।

द्विवचन मेंः भवितास्थः। बहुवचन में—भवितास्थ।

उत्तम मेंः भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः—ये रूप हैं।

लट्कार—

लट् शेषे च 6.3.13

भविष्यदर्थाद् धातोर्लट् क्रियार्थायां क्रियायां सत्याम्, असत्याम्। स्यः,इट—भविष्यति, भविष्यतः भविष्यन्ति। भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ। भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः।

व्याख्याः भविष्यत्काल की क्रिया को बताने के लिए लट् लकार का प्रयोग होता है चाहे क्रियार्थ विद्यमान हो अथवा न हो।

'तुमन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् 3.3.1०' इस सूत्र से यहाँ 'क्रियायां क्रियार्थायाम्' की अनुवत्ति आती है।

एक क्रिया यदि दूसरी क्रिया के लिये ही की जा रही हो तो उस क्रिया को 'क्रियार्थ क्रिया कहते हैं। जैसे— 'पठितुं[1] गच्छति—पढ़ने जाता है' यहाँ जाना गमन क्रिया पठन—पढ़ना क्रिया के लिये की जा रही है, अतः गमन क्रिया क्रियार्थ क्रिया है।

प्रकृत सूत्र में कहा गया है कि क्रियार्थ क्रिया का ग्रहण किया गया हो चाहे न किया गया हो, प्रधान क्रिया वाचक धातु से 'लट्' लकार आयेगा। जैसे— क्रियार्थ क्रिया के अप्रयोग में पठिष्यति। प्रयोग में पठिष्यति—इति गच्छति क्रियार्थ क्रिया की विद्यमानता में 'इति' शब्द का प्रयोग भी करना आवश्यक होता है।

1-‸ पठितुं गच्छतिः इस वाक्य में यह भी ध्यान देने योग्य है कि पढ़ना क्रिया भविष्यति काल की है, क्योंकि पढ़ना क्रिया अभी हुई नहीं, उसके लिये अभी ‸गमनश क्रिया हो रही है।

कृदन्त में तुमुन्ण्वुलौ क्रियायाम् क्रियार्थायां 3.3.10श्इस सूत्र के द्वारा कियार्थ क्रिया की विद्यमानता में प्रधान क्रिया वाचक धातु से तुमुन् और ण्वुल प्रत्ययों का विधान किया गया है। अतः पठितुं गच्छतिश्इत्यादि प्रयोग ऐसे स्थलों में होते हैं। यहाँ पठन क्रिया भविष्यत् काल की है।

लट् लकार का प्रयोग सामान्य भविष्यत् काल की क्रिया को प्रकट करने के लिये आता है। जब भविष्यत् काल की क्रिया की अनद्यतनता–आज का न होना–प्रकट हो तब लुट् लकार का ही प्रयोग करना चाहिये, ऐसे स्थल पर 'लट्' का प्रयोग अशुद्ध होगा। परन्तु जब अनद्यतनता की प्रतीति न हो तब 'लट्' का प्रयोग करना उचित है।इसी प्रकार अद्यतनता की प्रतीति में लुट्श्का प्रयोग अशुद्ध होगा, ऐसे स्थल में लट् का ही प्रयोग करना चाहिये।

जैसे–ृ श्वो गन्तास्मिश्इस वाक्य में क्रिया की अनद्यतनता श्वःश्पद से स्पष्ट है, अतः यहाँ लुट् लकार का प्रयोग शुद्ध है, लट् का अशुद्ध। ृ अद्य गामिष्यामिश में अद्यतनता कीृ अद्यश पद से स्पष्ट प्रतीति होने सेृ लट् श का प्रयोग शुद्ध है, लुट् का अशुद्ध।ृ वष्टिर्भविष्यति श वाक्य में अद्यतनता और अनद्यतनता किसी की प्रतीति स्पष्ट नहीं होती, अतः यहाँ सामान्य होने सेृ लट् श का ही प्रयोग समुचित है।

नोटः भविष्यत् काल के विषय में यह व्यवस्था पाणिनि काल में भले ही रही हो परनतु बाद में यह व्यवस्था नहीं रही। प्रायः सभी प्रकार के भविष्यत् काल में लट् और लुट् दोनों का ही प्रयोग रहा है।

भविष्यतिः लट् को यथाक्रम से तिबादि आदेश होंगे। तिप् करने पर सर्व प्रथम ृ स्यतासी ललुटोः श से स्य होगा। स्यश्प्रत्यय आर्धधातुकं शेषःश्से आर्धधातुकसंज्ञक है, अतः वलादि आर्धधातुक होने से उसकी आर्धधातुकस्येड् वलादेःश्से इट् आगम हो जायगा। साथ ही सार्वधातुकार्धधातुकयोःश्से ऊकार को गुण ओकार और उसकीृ अव्श आदेश होकर भविष्यतिश्ऐसी स्थिति बन जाने पर स्य के सकार के स्थान में प्रत्यय का अवयव होने से मूर्धन्य प्रकार होकर भविष्यति रूप सिद्ध होता है।

लोट लकार–

लोट् च 3.3.162

विध्याद्यर्थेषु धातोर्लोट्।

व्याख्याः विधि आदि अर्थ में धातु से लोट् लकार हो।

विधि आदि आगेृ 427 विधि–निमन्त्रणामन्त्रणा–धीष्ट–संप्रश्न–प्रार्थनेषु लिङ् 3.3.131श इस सूत्र में कहे गये हैं। ये सब छ अर्थ हैं– 1विधि 2 निमन्त्रण, 3 आमन्त्रण , 4 अधीष्ट, 5 संप्रश्न, 6 प्रार्थना।

विधि आदि इन छहों का अर्थ प्रेरणा है। परन्तु सब प्रेरणाओं में भेद है–

1. **विधिः** उस प्रेरणा को कहते हें जिसे 'आज्ञा देना' कहा जाता है। जैसे–नौकरों और मजदूरों आदि अपने से निकृष्ट–छोटों को कहा जाता है–भत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्। ओदनं पच वा पचेतम् चावल पकाओ श यहाँ आज्ञा दी जा रही हैं अतः यहृ विधिश रूप प्रेरणा हैं इस प्रकार की प्रेरणा में काम करना अनिवार्य होता है, न करने से दण्ड देना पड़ता है। इसीलिये वेद आदि शास्त्रों के अहरहः सन्ध्यामुपासीतश्प्रतिदिन सन्ध्योपासना करे, इत्यादि वचनों को विधिश्कहा जाता है। इनके अनुसार काम न करने में पापश्लगता है।

2. **निमंत्रणः** उस प्रेरणा को कहते हैं जो अपने समान के बन्धु–बान्धवों दोहित्र आदि को की जाती है। इसमेंृ आज्ञाश का भाव उतना प्रबल नहीं रहता, पर इस प्रेरणा के अनुसार भी काम करना होता है, टाला नहीं जा सकता, इसे आग्रह कह सकते हैं। इसीलिए कहा गया है–निमंत्रणं नियोगकरणम्, आवश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम्। जैसे–भो भागिनेय! सत्यनारायणव्रतोद्यापने श्वो भाविनि त्वमागच्छ, आगच्छेः = भानजे? कल सत्यनारायणव्रत के उद्यापन में त्म आ जाना।

3. **आमन्त्रणः** उस प्रेरणा को कहते हैं जिसमें निमन्त्रण से कम बल रहता है, इस प्रेरणा से प्रेर्यमाण व्यक्ति स्वतन्त्र है उस कार्य के करने में, चाहे करे चाहे न करे। अतएव कहा गया है–आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा अर्थात् आमन्त्रण की प्रेरणा। कामचार की गुजायश रहती है, आमन्त्रित व्यक्ति जिस कार्य के लिये आमन्त्रित किया गया है, उसमें आना न आना उसकी इच्छा पर निर्भर है। आजकल के जितने निमन्त्रण पत्र छपते हैं, वे प्रायः आमन्त्रणश्होते हें। जैसे–मित्रवर, मद्विवाहमुपलक्ष्य क्रियमाणे प्रीतिभोजे भवान् आगच्छतु, आगच्छेद् वा = मित्रवर, मेरे विवाह के सम्बन्ध में पार्टी होगी उसमें तुम पधारना। इसको अनुरोध कहा जा सकता है।

4. **अधीष्टः** उस प्रेरणा को कहते हैं, जिसमें सत्कार भी हो। यह प्रायः उच्चकोटि के लोगों से सम्बन्ध रखता है। अतएव कहा गया है अधीष्टः सत्कार पूर्वको व्यापारःश्सत्कार पूर्वक किसी को कार्य में लगाना। जैसे— अध्यापक को सत्कार पूर्वक कहा जाता है क श्रीमन्, भवान् मम पुत्रमध्यापयतु अध्यापयेद् वा—श्मेरे पुत्र को पढ़ाइये।

5. **संप्रश्नः** उस प्रेरणा को कहते हैं जिसमें परामर्श लेने का भाव हो। संप्रधारणम् संप्रश्नः— निश्चय के लिये कहना। जैसे— कि भो वेदमधीयीय, उत तर्कम्—भगवन्, मैं वेद पढ़ूँ कि न्यायशास्त्र? इसमें भी प्रेरणा है, पर परामर्श अर्थात् सलाह के लिये।

6. **प्रार्थनाः** उस प्रेरणा को कहते हैं जो अपने से बड़ों से की जाती है। इसमें मांगने का भाव रहता है। अतएव प्रार्थनम्—याचना, यह कहा गया है। जेसे—पुस्तकं लभे, लभेय वा—मुझे पुस्तक मिल जाय, मुझे पुस्तक दीजिये।

   इन अर्थों में लिङ् और लोट् दोनों लकार आते हैं अत एव उदाहरणों में दोनों लकारों का उपयोग किया गया है। प्रकरणानुसार पूर्वोक्त अर्थों का निर्णय करना चाहिये कि यहाँ विधि है कि निमन्त्रण आदि। वेदादि शास्त्रों की आज्ञायें विधि हैं और उनमें अधिकतर लिङ् लकार तथा कृत्य प्रत्यय का प्रयोग हुआ है।

आशिषि लिङ् लोटौ 3.3.273

व्याख्याः आशीर्वाद अर्थ में भी लिङ् और लोट् लकार आते हैं।

आशीरितिः आशीःश कहते हैं अप्राप्त इष्ट वस्तु की इच्छा को। जो वस्तु हमें इष्ट हो और अप्राप्त हो उसकी इच्छा जब प्रकट करता हो तब लोट् और लिङ् लकार का प्रयोग होगा। जैसे—पुत्रं ते भवतु, भूयाद् वा—तुम्हारा पुत्र हो। इस वाक्य में पुत्रप्राप्ति की इच्छा प्रकट की गई है। वक्ता जिसे कह रहा है उसके अप्राप्त अर्थात् जो हुआ नहीं उस पुत्र के होने की अभिलाषा उसे है।

लोट् लकार में आशीर्वाद अर्थ में केवल प्रथम और मध्यम के एकवचन में तुह्योस्तातङ् आशिष्यन्यतरस्याम्श सूत्र से दो रूप बनते हैं। अन्य रूप समान ही रहते हैं। परन्तु लिङ् में आशीर्वाद अर्थ में सारे रूप बिल्कुल भिन्न बनते हैं, वहाँ आशीर्लिङ्श नाम से एक लकार ही और बन गया हे, जो आगे बताया जायगा।

भू धातु से विध्यादि अर्थों में लोट् लकार होने पर उसके स्थान में यथाक्रम से तिङ् आदेश होंगे। प्रथम के एक वचन में तिप्श आने पर उसके सार्वधातुक संज्ञक होने से शप्श होगा, पुनः सार्वधातुकनिमित्तक गुण होने पर आदेश होकर भवतिश ऐसी स्थिति बिल्कुल लट् लकार के समान बनेगी।

39 एरुः 3-4-86

लोट इकारस्य उः। भवतु।

(तातङादेशविधिसूत्रम्)

व्याख्याः लोट् के इकार को उकार हो भवतु — भू धातु से लोट् के प्रथम पुरुष के एक वचन में उपर्युक्त प्रकार से भवतिश बन जानेपर इस सूत्र से लोट् (स्थानिक) तिश में वर्तमान इकार को उकार करने से रूप सिद्ध हुआ।

तुह्योस्तातङ् आशीष्यन्यतरस्याम् 7.1.35

आशिषि तुह्योस्तातङ् वा। परत्वात् सर्वादेशः—भवतात्।

व्याख्याः आशीर्वाद अर्थ में लोट् के तुश और हिश को विकल्प से तातङ्श आदेश हो।

तातङ्श क में तात्श शेष रहता है, अङ् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है।

भवतात्— भवतुश में सम्पूर्ण तुश के स्थान में प्रकृत सूत्र से तात्श आदेश होकर भवतात् रूप सिद्ध हुआ, पक्ष में भवतु भी रहेगा।

लोटो लङ्वत् 3.4.85

लोटस्तामादयः, सलोपश्च।

व्याख्याः लोट् के स्थान में लङ् के समान 'ताम्' आदि आदेश हों ओर उसके सकार का लोप होता है।

ताम्श आदि आदेश विधायक तथा सलोप–विधायक सूत्र आगे दिये जा रहे हैं।

तस्-थस्-थ-मिपां तां -तं-तामः 3.4.101

ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात्स्युः। भवताम्। भवन्तु।

व्याख्याः ङित्–लङ्, लिङ्, लुङ् और लङ्–लकारों के चारतस्, थस, थ और मिप्–प्रत्ययों को क्रम से ताम्, तम्, त, और अम् आदेश हों।

क्रम सेश्कहने से तस् को ताम्, थस् को तम्, थ को त और मिप् को अम् आदेश होगा।

भवताम्– भू धातु के लोट् के द्विवचन में पूर्वोक्त प्रकार से बनी भव तस्श्इस दशा में लङ्वत् अतिदेश के बल से प्रकृत सूत्र से ृतस्श के स्थान में ताम्श्आदेश होकर **भवताम्** रूप सिद्ध हुआ।

भवन्तु– झि का रूप है। लट् के झि के रूप ृभवन्तिश्के समान ही सिद्ध होता हे, केवल इकार को ृएरुःश से उकार कार्य अधिक होता है।

ध्यान रहे कि ृलकारश के स्थान में आदेश करते ही ृ एरुःश सूत्र से उकार आदेश कर देना चाहिये, क्योंकि वह निर्निमित्तक विधि होने से अन्य सब की अपेक्षा प्रबल है। साधनप्रक्रिया इसी प्रकार ठीक होगी।

सेर्ह्यपिच्च 3.4.87

लोटः सेर्हिः, सोपिच्च ।

व्याख्याः लोट् के ृ सिश को ृ हिश आदेश हो और वह अपित् हो।ृ अपित्श विधान करने से ृ सार्वधातुकमपित्श सूत्र से वह ङिद्वत् हो जाता है और तब उसके परे रहते ङित्वप्रयुक्त गुणनिषेध आदि कार्य होते हैं। जैसे–ृ स्तुहिश में गुण नहीं हुआ यह ृ स्तुतिश अर्थवाले ृ स्तुश धातु का रूप है।

भव, भवतात्– मध्यम के एकवचन में यहाँ ृ सिश को ृ हिश आदेश हुआ। शेष कार्य शबादि लट् के समान होकर,ृ भव–हिश यह स्थिति बनी। इस में आशीर्वाद अर्थ में ृ हिश के स्थान में ृ तातङ्श आदेश होकर भवतात् रूप बन गया।

तातङ् के अभाव पक्ष में भव हि इस दशा में–

अतो हेः 6.4.105

अतः परस्य हेर्लुक्। भव, भवतात्। भवतम, भवत।

व्याख्याः अदन्त अङ से परे ृहिश का लोप हो।

अदन्त अङ्ग भ्वादि, दिवादि, तुदादि और चुरादि गणों में मिलता है।

इसलिये इन गणों की धातुओं से परे हिश्का लोप इस सूत्र से हो जाता है।

यदि हिश्का लोप हो जाता है तो फिर उसके विधान का क्या प्रयोजन है? इस प्रश्न का उत्तर है–इन चार गणों को छोड़कर शेष गणों के रूप, जिन में अङ्गअदन्त नहीं मिलता, हि विधान के प्रयोजन हैं, वहाँ ृहिश्रहता है, जैसे–अद्धि, जहि, देहि इत्यादि।

भव हिश्में अदन्त अङ्गभवश से परे हि का लोप हुआ तो भव रूप बना। तातङ् पक्ष में–भवतात्।

थस् को तम्श्आदेश होने से भवतम् और थश्को तश्आदेश होने से भवत रूप बनते हैं।

मेर्नि 3.4.89

लोटो मेर्निः स्यात्।

व्याख्याः लोट् के ृ मिश को नि आदेश हो।

लोट् के उत्तम के एकवचन में 'मिप्'श्होने पर 'मि'श्को 'नि'श्हो गया। शबादि कार्य भी पूर्ववत् होंगे।

आड् उत्तमस्य पिच्च 3.4.91

लोडुत्तमस्याट् स्यात् पिच्च ।भवानि। हिन्योरुत्वं न, इत्वोच्चारणसामर्थ्यात्।

व्याख्याः लोट् के उत्तम पुरुष के प्रत्ययों को आट् आगम हो और वह पित् हो।

आट्श के टकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। अतः टित् होने से प्रत्यय का आदि अवयव होता है।ृ पित्श होने से गुण आदि होने में बाधा नहीं पहुँचती।

भवानि— आट्श होने पर भव आनिश्यह स्थिति बनती है, यहाँ सवर्ण दीर्घ करने पर भवानि रूप सिद्ध होता है।

हिन्योरिति—ृ हिश ओर निश्के इकार को एरुःश्सूत्र से उकार नहीं होता क्योंकि इनमें इकार का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा। यदि उकार ही करना होता तोृ हुश औरृ नुश आदेश विधान किये जा सकते थे। अतःृ भवानिश में इकार को उकार नहीं हुआ।

47 ते प्राग् घातोः 1.4.8०

ते गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः।

व्याख्याः गति और उपसर्ग संज्ञावाले प्र आदि शब्दों का धातु से पहले ही प्रयोग करना चाहिये।

जैसे—**प्रभवति, पराभवति, अनुभवति** इत्यादि। इन प्रयोगों मे प्र परा और अनु उपसर्ग धातु से पहले प्रयुक्त हुए हैं।

आनि लोट् 8.4.16

उपसर्गस्थाद् निमित्तात् परस्य लोडादेशस्यृ आनिश इस्यस्य नस्य णः स्यात्। प्रभवाणि।

व्याख्याः उपसर्ग में स्थित निमित्त से परे लोट् के स्थान में हुए 2आदेशृ आनिश के नकार को णकार हो।

प्रभवाणि—प्रभवानिश यहाँ णत्व का निमित्त रकारृ प्रश उपसर्ग में है। उस से परृ आनिश के नकार को णकार होकर प्रभवाणि रूप बना।

यहाँ अखण्ड पद न होने सेृ अट् कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि श से णत्व प्राप्त नहीं थां अतः यह सूत्र बनाना पड़ा।ृ प्रश और भवानिश इन दो पदों के मिलने से यह पद बना है। अतः यह समानपद—अखण्ड पद नहीं है।

वा. दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः। दुःस्थितिः। दुर्भवानि।

व्याख्याः दुर्श को षत्व और णत्व के विषय में उपसर्ग का निषेध कहना चाहिये अर्थात् षत्व और णत्व करना हो तोृ दुर्श को उपसर्ग नहीं माना जाता।

उपसर्ग न होने सेृ दुर्श से परे धातु को षत्व या णत्व कार्य— जो उपसर्ग मानकर प्राप्त हों—वे नहीं होने पाते।

दुःस्थितः यहाँ ृ दुर्श उपसर्ग से परे ृ स्थाश के सकार को ृ उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसे—धसिचसजस्बजाम् श इस सूत्र से षत्व प्राप्त है। उपसर्गत्व का निषेध होने से नहीं होता।

दुर्भवानिः यहाँृ आनि लोट्श सूत्र सेृ दुर्श उपसर्ग में निमित्त रकार की स्थिति होने से उससे परेृ आनिश के नकार को णत्व प्राप्त है। परन्तु उपसर्गत्व के निषेध होने से नहीं होता।

जब उपसर्ग संज्ञा का निषेध हो जाने सेृ दुर्श उपसर्ग ही नहीं है। फिर उपसर्गसंज्ञानिमित्तक कार्य उसके द्वारा कैसे हो सकते हैं?

वा. अन्तः शब्दस्याङ्—विधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम। अन्तर्भवाणि।

व्याख्याः अन्तर्श शब्द को अङ्, किविधि और णत्व के विषय मेंृ उपसर्गश कहना चाहिये अर्थात् इसकी उपसर्ग संज्ञा होती है।

अन्तरश्शब्द प्रादियों में नहीं है, अतः इसकी उपसर्ग संज्ञा उपसर्गाः क्रियायोगेश से प्राप्त नहीं। उपसर्ग संज्ञा होने से 'अन्तर' के द्वारा णत्व और अङ् प्रत्यय आदि कार्य होंगे।

अन्तर्भवाणि यहाँ अन्तर्शशब्द की प्रकृत वार्तिक से उपसर्ग संज्ञा होने पर उस में स्थित रकार निमित्त से परे आनिश्के नकारश्से णत्व हुआ।

अङ्श का उदाहरण—आतश्चोपसर्गेश सूत्र से उपसर्ग अन्तर्श्उपपद रहते धाश्धातु से अङ्श्प्रत्यय होकर अन्तर्धा रूप सिद्ध होता है।

किश्का उदाहरण—उपसर्गे वधोः किःश प्रत्यय होकर अन्तर्धिः रूप बनता हैः॒ किश में ककार इत् है। अतः कित् परे होने से॒ आतो लोप इटि चश्सूत्र से अकार का लोप हो जाता है।

नित्यं ङितः 3.4.19

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः। अलोन्त्यस्यश -इति सलोपः—भवाव, भवाम।

व्याख्याः ङित् लकारो—लङ, लिङ, लुङ् और लङ के सकारान्त उत्तम का निमय लोप हो।

अलोन्त्यस्य इति — इस परिभाषा के बल से अन्त्य अल् सकार का ही लोप इस सूत्र के द्वारा होता है।

यद्यपि यह सूत्र ङित् लकारों के लिये विधान करता है, तथापि॒ लोटो लङ् वत्श के अतिदेश से लोट् में भी प्रवत्त होता है।

भवाम— वस् में शबादि और आट् कार्य करने पर॒ **भवावस्**श इस अवस्था में॒ लोटो लङ्वत्श के अतिदेश से सकार का लोप होकर **भवाव** रूप सिद्ध हुआ।

भवाम— इसी प्रकार बहुवचन में भी रूप सिद्ध होता है।

विधि-निमन्त्रणामन्त्रणाधीष्ट-संप्रश्न-प्रार्थनेषु लिङ् 3.3.131

एष्वर्थेषु धातोर्लिङ्।

व्याख्याः 1 विधि, 2 निमन्त्रण, 3 आमन्त्रण, 4 अधीष्ट, 5 संप्रश्न, 6 प्रार्थना इन अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है।

इन का अर्थ सवस्तिर॒ लोटश लकार में कहा जा चुका है।

यासुट् परस्मैपदेषुदात्तो ङिच्च 3.4.1०3

लिङः परस्मैपदानां यासुड् आगमः, उदात्तो ङिच।

व्याख्याः लिङ् के परस्मैपद प्रत्ययों को॒ यासुट्श आगम हो और वह उदात्त और ङित् भी हो।

यासुट्श्में उट्श्इत्संज्ञक है। टित् होने से यह प्रत्यय का आदि अवयव बनकर उसी के आगे आता है।

ङित्श्होने से यासुट्श्का निमित्त मानकर गुण निषेध आदि होते हैं।

भूश धातु से लिङ् लकार आने पर यथाक्रम से तिबादि आदेश होगे। उनमें प्रथम के एकवचन में॒ तिप्श हुआ। इसके इकार का॒ इतश्चसे लोप हुआ। शप्, गुण, अव् आदेश हुए। तब लिङ् स्थानिक परस्मैपद ॒ तिप्श को॒ यासुटश आगम हुआ। इससे॒ भव यास् त्श यह स्थिति हुई।

लिङः सलोपोनन्त्यस्य 7.2.79

सार्वधातुकलिङोनन्त्यस्य सस्य लोपः। इति प्राप्ते—

व्याख्याः सार्वधातुक लिङ् के अनन्त्य—जो अन्त में न हो—सकार का लोप हो।

॒ भव यास् त यहाँ सार्वधातुक लिङ् यास् त्श है, इसका सकार अन्त्य नही। अतः लोप प्राप्त हुआ।॒ तिप्श तो लिङ् के स्थान में आदेश हुआ है। इसलिये स्थानिवद्भाव से लिङ् है और यासुट् लिङ् स्थानिक तिप् को आगम हुआ है।

॒ यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गह्यन्ते—आगम जिसको हो, उसी का अवयव होता है और उसके ग्रहण से ग्रहण किया जाता है—इस परिभाषा के बल से लिङ् के ग्रहण के समय तत्सहित का ग्रहण होता है। अतः॒ यास् त्श यह सम्पूर्ण लिङ् है।

अतो येयः 7.2.80

अतः परस्य सार्वधातुकावयवस्य ̧यास्श इत्यस्य इय्। गुणः।

व्याख्याः अदन्त अङ्ग से परे सार्वधातुक के अवयव ̧ यास्श को ̧ इय्श आदेश हो।

भव यास् त्श यहाँ अदन्त अङ्ग भवश से परे सार्वधातुक लिङ् ̧ यास् त्श के अवयव ̧ यास्श को ̧ इय्श हुआ। ̧ भव इय् त्शयह स्थिति हुई।

गुण इति— उक्त स्थिति में अकार ओर इकार को ̧ आद् गुणःश से एकार गुण एकादेश होकर ̧ भवेय् त्श यह अवस्था हुई।

लोपो व्योर्वलि 6.1.66

वलि वकारयकारयोर्लोप भवेत्। भवेताम्।

व्याख्याः वल् परे रहते वकार और यकार का लोप हो।

भवेत्— भू धातु से लिङ के प्रथम के एकवचन में पूर्वोक्त प्रकार से ̧ भवेय् त्श इस स्थिति में वल् वकार परे होने से यकार का लोप हुआ।

भवेताम्— द्विवचन में— भू तस—भू अ तस्—भू अ ताम्—भव् अ यास् ताम्—भव इय् ताम्—भवे य् ताम्—इस क्रम से कार्य होने पर रूप सिद्ध होता है।

झेरिति— लिङ् के झिश्को जुस्श्आदेश हो।

झेर्जुस् 3.4.180

लिङो झेर्जुस् स्यात्। भवेयुः। भवेः, भवेतम्, भवेत् भवेयम्, भवेव, भवेम।

व्याख्याः भवेयुः— लिङ् के प्रथम पुरुष के बहुवचन में ̧ झिश्का प्रकृत सूत्र से इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है, सकार के विसर्ग हो जाते हैं। शेष कार्य पूर्ववत् होते हैं।

भवेः—लिङ् के मध्यम पुरुष के एक वचन में भवेय् स्श्ऐसी स्थिति में लोपो वयो र्वलिश्से यकार का लोप हो जाता है। सिप्श्के इकार का ङित् लकार होने से ̧ इतश्चसूत्र से पहले ही लोप हो जाता है। सकार को विसर्ग होते हैं।

भवेतम्—भवेय् तम्—भवेतम्। यकार का लोप हुआ।

भवेत—भवेय् त—भवेय् व—भवेव। भवेम—भवेय् मस्—भवेय् म—भवेम्।

अन्तिम दो रूपों में ̧ नित्यं ङितःश्से सकार का ओर लोपो व्योर्वलिश्से वकार का लोप होता है।

आशीर्लिङ्—

लिङ्-आशिषि 3.4.113

आशिषि लिङस्तिङ् आर्धधातुकसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः आशीर्वाद अर्थ में लिङ् के स्थान में आदेश हुए ̧ तिङ्श की आर्धधातुकसंज्ञा हो।

यह सूत्र ̧ आशीर्लिङ्श के तिङ् की आर्धधातुक संज्ञा करता है। अतः विधिलिङ् सामान्य सूत्र से ̧ सार्वधातुकश है। अतएव वहाँ ̧ शप्श होता है।

किद्-आशिषि 3.4.104

आशिषि लिङो यासुट् कित्। 'स्कोः संयोगाद्योःश्इति संलोपः।

व्याख्याः आशीर्वाद अर्थ के लिङ् को जो यासुट् आगम होता है, वह कित् हो।

भूश्धातु से आशीर्वाद अर्थ में लिङ् आने पर उसके स्थान में यथाक्रम से तिबादि आदेश हुए। उनकी पूर्व सूत्र से आर्धधातुकसंज्ञा हो जाने से शप्श्नहीं होता, क्योंकि शप्श्सार्वधातुक तिङ् परे रहते होता है। तब लिङ् को यासुट् होकर भू यास् त्श्यह स्थिति बनी।

स्कोरिति— इसमें॒ स्कोः संयोगाद्योरन्ते चश सूत्र से पदान्त संयोग॒ स्त्श के आदि सकार का लोप हुआ तब भूयात् यह रूप बना।

यहाँ॒ कित्श करने का फल गुणनिषेध अग्रिम सूत्र से होगा।

ग्क्ङिति च 1.1.5

गित्-कित्-ङित्-निमित्ते इग्लक्षणे गुणवद्धी न स्तः। भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः। भूयाः, भूयास्तम, भूयारत। भूयासम्, भूयास्व, भयास्म।

व्याख्याः गित्, कित् और ङित् प्रत्ययों के परे रहते॒ इग्लक्षणश गुण और वद्धि कार्य नहीं होते। इग्लक्षण गुण और वद्धि वे हें, जिनका विधान उन सूत्रों के द्वारा हुआ हो जिन में॒ इको गुणवद्धी श परिभाषा सूत्र के बल से॒ इकःश पद की उपस्थिति होती है। तब इक् के स्थान में गुण और वद्धि का विधान किया गया हो, जैसे— सार्वधातुकार्धधातुकयोःश और॒ पुगन्तलधूपधस्य चश इत्यादि।॒ वद्धिरेचि श इत्यादि सूत्रों से जो वद्धि और गुण का विधान होता है, उन्हें॒ इग्लक्षणश नहीं कहा जाता, क्योंकि उनमें॒ इकःश पद की उपस्थिति नहीं होती।

भूयात्— भू धातु के आशीर्लिङ् के प्रथम पुरुष के एक वचन में पूर्वोक्त प्रकार से॒ भू यास्त्श इसी स्थिति में॒ स्कोः संयोगाद्योरन्ते चश सूत्र से संयोग॒ स्त्श के आदि सकार का लोप हुआ। सार्वधातुक न होने से॒ लिङः सलोपोनन्त्यस्य श सूत्र से सकार का लोप नहीं होता।॒ यात्श आर्धधातुक परे होने से॒ सार्वधातुकार्धधातुकयोःश सूत्र से इगन्त अङ ॒ भूश के अन्त्य॒ ऊकारश को गुण प्राप्त है। परन्तु आशीर्लिङ् का होने से॒ यासुट्श कित् है, अतः उसके परे रहने से यहाँ गुण नहीं होता, प्रकृत सूत्र से गुण का निषेध हो जाता है।

द्विवचन— भू यास् ताम्—।॒ तस्श को॒ ताम्श आदेश हुआ

बहुवचन—भूयास्+उस्श —भूयासुः।॒ झेर्जुसश से॒ झिश को॒ जुस्श हुआ।

मध्यम एकवचन—भू यास् स्— भूयाः। इकार लोप॒ इतश्चश से। प्रथम सकार का संयोगादि लोप और द्वितीय सकार को विसर्ग।

द्विवचन— भूयास् तम्—भूयास्तम्।॒ थस्श को॒ तम्श आदेश हुआ।

बहुवचन— भूयास् त— भूयास्त।॒ थश को॒ तश आदेश हुआ।

उत्तम एकवचन—भूयास् अम्—भूयासम्।॒ मिप्श को॒ अम्श आदेश हुआ।

द्विवचन—भूयास् वस्—भूयास्व।॒ नित्यं ङितःश से अन्त्य॒ सश का लोप

बहुवचन—भूयास् मस्—भूयास्म।

ङित् का उदाहरण—

इतः। यहाँ अपित् सार्वधातुक होने से तस्॒ अपित् सार्वधातुकम्श सूत्र से ङिद्वत् है। अतः सार्वधातुक गुण नहीं होता।

गित् का उदाहरण—जिष्णुः। यहाँ॒ ग्लाजिस्थश्च गस्नुःश सूत्र से॒ ग्स्नुश प्रत्यय होता है, उसका गकार इत् हैं अतः आर्धधातुक होने से प्राप्त गुण नहीं होता। गित् प्रत्यय बहुत कम हैं, कित् और ङित् प्रत्यय अधिक होने से इस सूत्र के विषय अधिक हैं।

लुङ् लकार—

यहाँ वास् के सकार का लोप॒स्कोः संयोगाद्योरन्ते चश्सूत्र से भी नहीं होता क्योंकि यहाँ संयोग है तो, पर पदान्त नहीं। झल् भी परे नहीं, क्योंकि तकार के आगे अकार है और वह अच् है।

लुङ 3.1.110

भूतार्थे धातोर्लुङ् स्यात्।

व्याख्याः (सामान्य) भूतकाल में क्रिया का होना प्रकट करना हो तो धातु से॒ लुङ्श लकार आता है।

माङि लुङ् 3.3.175

सर्वलकारापवादः।

व्याख्याः माङ्शउपपद रहते धातु से लुङ्शलकार हो।

सर्वेति—यह सब लकारों का अपवाद —बाधक—है, अर्थात् माङ् के योग में सभी लकारों के विषय में॒ लुङ्श ही होता है।

जैसे— शोकं वथा मा कथाः—व्यर्थ शोक न करो वा करे। क्लैव्यं मा गमः— नपुंसकता—कायरता—न करो वा करे इत्यादि। इन वाक्यों में॒ माङ्श उपपद रहने से॒ लङ्श लकार आया है। यहाँ भूतकाल नहीं।

ध्यान रहे आ और आङ् के समान माङ् और मा भी दो पद हैं और प्रयोग में दोनों का॒ माशरूप आता है। अतः किसका प्रयोग हुआ है? यह निर्णय करना कठिन नहीं दोनों का अर्थ॒ निषेधश रूप समान ही है।

मा वद् मा वदेद्श इत्यादि वाक्यों में॒ माङ्श शब्द नहीं अपितु॒ माङ्श से भिन्न निषेधार्थक॒ माश अव्यय पद है। जहाँ माश शब्द के साथ॒ लुङ्श लकार का प्रयोग न हो, वहाँ समझना चाहिये कि यहा॒ माङ्श नहीं और जहाँ॒ लुङ्श का प्रयोग हो, वहाँ॒ माङ्श ही समझना चाहिए।

स्मोत्तरे लङ् च 3.3.176

स्मोत्तरे माङि लङ् स्यात, चात् लुङ्।

व्याख्याः स्म परक माङ् उपपद रहते धातु से लङ्शलकार हो और लुङ् भी।

सूत्र में पठित चकार से लुङ् भी होता है जैसे—॒ मा स्म भवत्, भूत् वा—न हो— इस वाक्य में यथेच्छया स्मशपरक माङ् उपपद रहते लङ् और लुङ् दोनों का प्रयोग किया जा सकता है।

च्लि लुङि 3.1.43

शबाद्यपवादः।

व्याख्याः या॒ च्लि विधि शप्, श्यन् और श आदि विकरणों का अपवाद है।

भूश्धातु से क्रिया का सामान्य भूतकाल में होना प्रकट करने के लिये लुङ् लकार किया। लावस्था में॒ भूश अङ्ग को अट् आगम हुआ। तब लुङ् के स्थान में यथाक्रम से तिप्शआदि आदेश होंगे। प्रथम के एकवचन में तिप् होने पर उसके इकार का इतश्च से लोप होगा। अभू त्श्इस अवस्था में सार्वधातुक तिङ् तिप् परे रहते॒ शप्श प्राप्त होता है। उसको बाधकर प्रकृत सूत्र से॒ च्लिश हो गया। तब॒ अभू च्लि त्श यह दशा बनी।

च्लेः सिच् 3.1.44

इचावितौ

व्याख्याः च्लिश को॒ सिच्श आदेश हो।

इचाविति—॒ सिचश में इकार और चकार इत्संज्ञक—अनुबन्ध—हैं। केवल॒ स्श शेष रहता है।

च्लिश सामान्य बोध के लिये रखा गया है, वैसे इसका प्रयोग कहीं नहीं होता। इसके स्थान में कही चङ् कहीं अङ् और प्रायः सिच् हो जाता है। इनके उदाहरण आगे मिलेंगे।

यहाँ॒ च्लिश के स्थान में सिच् होने पर॒ अ भू स् त्श यह स्थिति हई।

गति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु 2.4.77

एभ्यः सिचो लुक स्यात्। गा-पौश इह ृइणादेश—पिबतीश गह्येते।

व्याख्याः गाा, स्था, घुसंज्ञक, पा और भू धातुओ से परे सिच् का लुक् हो।

गा—पौ इति—गाश्से यहाँ ृ इण्श के स्थान में आदेश होनेवाला लिया जाता है।ृ इणो गाा लुङिश सूत्र से ृ इण्श को ृ गाश आदेश होता है। और ृ पाश से पा पाने का ग्रहण होता है जिसको ृ पिबश आदेश होता हैं अत एव कहा गया है—ृ गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्श अर्थात् ृ गाश ृपाश से ृ इण्श और ृ पा पानेश धातुओं का ग्रहण करना चाहिये।

अभूत्—भू धातु के लुङ लकार के प्रथम पुरुष एक वचन में ृ अभूसत्श इस प्रकृत स्थिति में ृ भूश धातु से परे ृ सिच्श का लोप हो गया। तब फिर ृ अभूत्श बना।

यहाँ सार्वधातुक ृ त्श परे रहते ृ सार्वधातुकार्धधातुकयोःश इस सूत्र से गुण प्राप्त होता है। उसका अग्रिम सूत्र से निषेध होकर अभूत् यही रूप सिद्ध होता है।

भूसुवोस्तिङि 7.3.88

भ्श्सूश एतयोः सार्वधातुके तिङिपरे गुणाो न। अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभू+, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम।

व्याख्याः भूश्और सूश्धातुओं को सार्वधातुक तिङ् परे रहते गुण न हो।

अभूताम्— अभू स् ताम्—अभूताम्। अभूवन्— लुङ् के प्रथम पुरुष के बहुवचन में पूर्वोक्त प्रकार से ृ अ भू अन्तिश इस स्थिति में लुङ् सम्बन्धी अच् परे मिल जाने से ृ भुवो वुग् लुङ्लिटोरचिश सूत्र से धातु को वुक् आगम हुआ। तब ृ अभूव् अन्तिश इस स्थिति में च्लि, सिच्, सिच् का लोप, इकार का लोप और तकार का संयोगान्त लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

अभूः— अभू सि—अभू स्—अभू स् स् —अभू स् अभूः।

अभूवम्— अ भू मि—अ भू अम्—अ भू स् अम्—अभू अम्—अभूव् अम्—अभूवम्।

अभूवन्, अभूवम्—इन प्रयोगों में अजादि प्रत्यय होने से ृ भुवो वुक् लुङ्लिटोरचिश सूत्र से ृ वुक्श आगम होता हैं शेष रूपों की सिद्धि साधारण है। परन्तु ध्यान रहे कि च्लि, च्लि के स्थान में ृ सिच्श आदेश और सिच् के लोप की चर्चा साधन प्रक्रिया में अवश्य की जानी चाहिए।

न माङ्योगे 6.4.74

अडाटौ न स्तः। भा भवान् भूत्। मा स्म भवत्, भा स्म भूत्।

व्याख्याः माङ् के योग में अट् और आट् आगम नहीं होते।

भा भवान् भूत्श इस वाक्य में अट् न होने से ृ भूतत्श यही रूप लुङ् के प्रथम के एकवचन में हुआ। इसी प्रकार स्म भवत्श्और मा स्म भूत्श में भी अट् नहीं हुआ।

लङ् लकार—

लिङ्निमित्ते लङ् क्रियातिपत्तौ 3.3.13

हेतुहेतुमद्वावादि लिङ्निमित्तम्, तत्र भविष्यत्यर्थे लङ् स्यात्, क्रियाया अनिष्पंत्तौ गम्यमानायाम्। अभविष्यत्, अभविष्यताम, अभविष्यन्। अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्यम्, अभविष्याव, अभिष्याम। सुवष्टिचेद् अभविष्यत्, तदा सुभिक्षम्भविष्यत्-इत्यादि ज्ञेयम्।

व्याख्याः लिङ् का निमित्त हेतुहेतुमद्भाव आदि है, उसमें यदि क्रिया का भविष्यत् काल में होना प्रकट करना हो तो धातु से लङ् लकार हो,

कृष्णं नमेत् चेत सुखं यायात्–कृष्ण को नमस्कार करे तो सुख प्राप्त करेश इस वाक्य में नमस्कार–क्रिया सुख–प्राप्ति–क्रिया का हेतु है। सुखप्राप्ति–क्रिया सहेतुक है, इसलिये इसे॰ हेतुमत्श कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ दोनों क्रियाओं का हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध है। इस में हेतुहेतुमतोर्लिङ्श्इस सूत्र से लिङ् लकार होता है।

परन्तु जब हेतुहेतुमद्भाव आदि के स्थल में भविष्यत् काल और क्रिया की असिद्धि प्रतीत होती हो तो हेतु और हेतुमत् दोनों क्रियाओं के लिये लङ् लकार आता है। जैसे —॰ सुवष्टिश्चे द् अभाविष्यत्, तदा सुभिक्षमभविष्यत्–यदि अच्छी वष्टि होगी, तो सुभिक्ष–सुकाल–होगा। श इस वाक्य में वष्टि होना क्रिया सुभिक्ष होना क्रिया का हेतु है और यह भविष्यत् काल की है तथा इनकी असिद्धि यहाँ प्रतीत हो रही है। अतः दोनों से॰ लङ् श लकार आया है।

अभविष्यत्— भू धातु से॰ लङ् श लकार आने पर सर्वप्रथम भूश्अङ्ग को॰ लुङ् लङ् लङ क्ष्वड्डुदात्तः श्सूत्र से अट्श आगम हुआ। तब लकार को यथाक्रम से तिबादि आदेश होंगे। प्रथम के एकवचन में तिप्, इसके इकार का इतश्चसे इत्संज्ञा होकर लोप,॰ स्यतासी ललुटोः श से शप् को बाधकर स्यश प्रत्यय, बलादि आर्धधातुक होने से॰ स्यश को॰ आर्धधातुकत्येड् वलादेःश्से इट् आगम, सार्वधातुकार्धधातुकयोःश्से ऊकार को॰ ओश गुण आदेश और ओकार को अवादेश होने के अनन्तर इट् के इकार इण से परे स्य प्रत्यय के अवयव सकार को आदेशप्रत्यययोःश्से मूर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

अभविष्यताम्— प्रथम पुरुष के द्विवचन में अट्, तस् को ताम् आदेश, स्य, इट, गुण अवादेश षत्व–क्रम से उक्त कार्य होकर सिद्ध हुआ।

अभविष्यन्— प्रथम पुरुष के बहुवचन में अट्, झि, इकार का लोप, झ्, अन्त आदेश, स्य, इट, गुण अव्॰ आदेश, तकार का संयोगान्त लोप और षत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।श

अभविष्यः— मध्यम पुरुष के एकवचन में अट्, सिप्, इकार का लोप, स्य, इट्, गुण, अव् आदेश, रुत्व और विसर्ग षत्व होकर रूप बना।

अभविष्यतम्— मध्यम पुरुष के द्विवचन में अट्, थस्,॰ तम्श आदेश, स्य, इट्, गुण, अव् आदेश और षत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

अभविष्यत— मध्यम पुरुष के बहुवचन में थ को॰ तश आदेश शेष प्रक्रिया पूर्ववत्।

अभविष्यत्— उत्तम पुरुष के एक वचन में अट्, मिप,॰अम्श आदेश स्य, इट, गुण, अव् आदेश और षत्व होकर रूप बना।

अभविष्याव, अभविष्याम—इन उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन के रूपों में॰ अतो दीर्घो यञि श से दीर्घ और॰ नित्यं ङितःश से सकार का लोप पूर्वोक्त कार्यो से विशेष होते हें।

सुवष्टिरिति—सुवष्टि होती तो सुभिक्ष होता। यह क्रिया की असिद्धि स्पष्ट दिखाने के लिए उदाहरण दिया गया है। इसके सम्बन्ध में पहले निरूपण कर दिया है।

इस प्रकार पहली धातु॰ भूश के सब रूप सिद्ध हुए। इनके सिद्धि के प्रकार में कार्यों के पौर्वापर्य का ध्यान अच्छी तरह रहना चाहिए। पौर्वापर्य के ठीक न होने पर सिद्धि प्रकार दूषित होगा। जैसे अभूवन्श में अन्त आदेश किये बिना वुक्श आगम करना असंगत ही होगा। क्योंकि वुक् अच् परे होने पर होता है।

जब तक॰ झश को अन्त आदेश न किया जायगा तब तक॰ वुक्श केसे हो सकता है। इसी प्रकार इसी प्रयोग में और ङित् लकारों के सभी रूपों में॰ अट्श आगम लकार आने के समनन्तर ही अर्थात तिबादि आदेश होने के पहले ही कर देना चाहिये, क्योंकि॰ लावस्थायाम् अट्श लकार अवस्था में ही अट् का विधान है। ङित् लकारों में इकार और सकार का लोप॰ तिप्श आदि आदेश होने के समनन्तर कर देने चाहिये। षत्व और संयोगान्तलोप प्रभति कार्य अन्त में करना चाहिये।

उपसर्ग[1] के योग से धातुओं का अर्थ बदल जाता है। भू धातु का भी उपसर्गों के कारण अर्थ बदल जाता है, जैसे—

प्रभवति—समर्थ होता है या उत्पन्न होता है

पराभवति— तिरस्कार करता है, पराजित करता है।

सम्भवति— संभव है या पैदा होता है।

अनुभवति— अनुभव करता है।

उद्‌मवति—उत्पन्न होता है।

अभिभवति— तिस्कार करता है।

परिभवति— प्रादुस् और आविस् उपसर्ग तो नहीं, पर इनके योग में भी अर्थ भिन्न हो जाता है। प्रादुर्भवति, आविर्भवति प्रकट होता है, उत्पन्न होता है। (दोनों का अर्थ एक है)।

इन लकारों के स्थान में होनेवाले तिबादि प्रत्ययों के परिनिष्ठित रूप यहाँ दिये जाते हें।

2 सार्वधातुक लकार—

लट्—	प्र. पु.	ति,	तः,	अन्ति	।	लङ्—	प्र.	पु	त,	ताम्, अन्।
	म. पु.	सि,	थः,	थ	।		म.	पु.	स्,	तम्, त।
	उ. पु.	मि,	वः,	मः	।		उ.	पु.	अम्,	व, म।
लोट्—	तु—तात् ताम्	अतु			।	विधिलिङ्—		इत्,	इताम्,	इयु।ः।
	हि[1] तात्, तम्,	त			।			इः,	इतम्,	इत।
	आनि, आव,	आम			।			इयम्,	इव,	इम।

विधि लिङ् के ये रूप भ्वादि, दिवादि, तुदादि और चुरादि गणों में होंगे। शेष गणों में रूप होंगे—

यात्	याताम्,	युः।
याः,	यातम्,	यात्।
याम्,	याव,	याम।

आर्धधातुक लकार—

लिट्—	प्र. पु.	अ,	अतु,	उ.।
	म. पु.	थ,	अथुस्,	अ।
	उ. पु.	—ण(अ)	व,	म।

लुट्[2]— प्र. पु. ता, तारौ, तारः। लट्—स्यति, स्यतः स्यन्ति।

म. पु.	तासि,	तास्थः,	तास्थ	।		स्यसि,	स्यथः,	स्यथ।
उ. पु.	तास्मि,	तास्वः,	तास्म	।		स्यामि,	स्यावः,	स्यामः।
आशी—प्र. पु.	यात्,	यास्ताम्,	यासुः	।	लङ्—	स्यत्,	स्यताम्	स्यन्।
र्लिङ्—म. पु.	याः,	यास्तम्,	यास्त	।		स्यः	स्यतम्,	स्यत।
उ. पु.	यासम्,	यास्व,	यास्म	।		स्यम्,	स्याव,	स्याम्

ङित् लकारों में धातु के पहले अ—अट्—अवश्य रहेगा अजादि धातुओं में आ (आट्) रहेगा।

---

1. कहा भी है—ृ उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
   प्रहाराहारसंहार विहारपरिहारवत्।।श

2. यो तोृ तिङ् शित् सार्वधातुकम्, से सभी तिङ् आदेश सार्वधातुक हैं परन्तु ृलिट् चश सूत्र से लिट् और ृ लिङाशिषिश्से आर्शीर्लिङ् के आदेश तिङ् आर्धधातुक होते हें। लुट् में तास्, लट् और ऌट् और ऌङ् में स्य तथा लुङ् में च्लि के आदेश सिच्, अङ् और चङ् ृ आर्धधातुकं शेषःश्से आर्धधातुक होते हैं। अतः लिट् और आशीर्लिङ ही शुद्ध आर्धधातुक लकार हैं। लुट, ऌट्, ऌङ् और लुङ् में पूर्वोक्त प्रत्यय आध ्रधातुक हैं, अतः इन्हें भी आर्धधातुक लकार कहा जाता है। तब शेष लट्, लङ्, लङ् और विधिलिङ् ही सार्वधातुक कहे जाते हें।

अन्य कार्य निमित्त से होते हैं। प्रत्ययों का कार्य इतना ही है इसी में उनका सुगम साधन प्रकार सम्मिलित है।

अत सातत्यगमने

अत् का अकार उदात्त और इत्संज्ञक है। इसका फल परस्मैपद होता है। यदि अनुदात्त होता तो ृ अनुदात्तङित आत्मनेपदम्श से आत्मनेपद होता। धातुओं में अनुबन्ध किस फल के लिये जोड़े गये हैं निम्नलिखित चक्र से स्पष्ट है–

अनुबन्ध	प्रयोजन	उदाहरण
अश (उदात्त)	परस्मैपद	अत–अतति।
अ (अनुदात्त)	आत्मनेपदु	एध–एधते।
अ (स्वरित)	उभयपद	यज–यजति, यजते।
आ ृ	आदितश्च श सूत्र से निष्ठा (क्त, क्तवतु) में इट् का निषेध	ाफिंला–प्रफुल्लः।
इ ृ	इदितो नुम् धातोःश सूत्र से नुम्	विदि–विन्दति।
इर् ृ	इरितो वाश से लुङ् में च्लि को ृ अङ्श	भिदि–अभिदत्।
ई	श्वीदितो निष्ठायाम्श्से निष्ठा में इट् निषेध	चिती–चित्तम्।
उ ृ	उदितो वाश से क्त्वा में विकल्प से इट्	क्रम–क्रमित्वा, क्रान्त्वा
ऊ ृ	स्वरति सूति–सूर्यत–धूा–ऊदितो वाश सूत्र स से विकल्प से इट्।	गुपू–गोपिता, गोप्ता।
_ऋ	'नाग्लोपि–शासु–ऋदिताम्' से 'णि' में उपधा ह्रस्व का निषेध।	लोकृ–प्रलुलोकत्।
	पुषादि–द्युतादि–लदितः परस्मैषदेषुश सूत्र से लुङ् में च्लि को अङ् आदेश।	गम्ल्–अगमत्।
ए	ह्म्यन्त–क्षण–श्वस्–जाग–णि–श्वि–एदिताम्श	कटे–अकटीत्।
ओ ृ	ओदितश्चसे निष्ठा के तकार को नकार।	भुजो–भुग्नः।
ङ् ृ	अनुदात्तङिश कत आत्मनेपदम् इससे आत्मनेपद	शीङ्–शेते।
ा्	स्वरितितिः कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेश इस से उभयपद।	कृा्–करोति, कुरुते।
ाि ृ	ाीतः क्तःश इससे वर्तमान में क्त।	ाभी–भीतः।
टु ृ	ट्वितौथुच्श सूत्र से अथुच्	टुनदि–नन्दथुः।

---

1. भ्वादि, दिवादि, तुदादि और चुरादि गण की धातुओं से परे ृहिश का ृअतो हेःश सूत्र से लोप हो जाता है। स्वादि और तनादि गण की धातुओं से भी यदि उनमें संयाग न हो तो–श्णु (स्वादि), कुरु (तनादि), तथा क्र्यादि में श्ना को शानच् आदेश होने पर अशान, बधान।

2. यदि धातु सेट् हो तो लुट् और लृङ् के इन रूपों में अन्तर पड़ जायगा, इट् होने से इश्बढ़ जायगा। लट् और लङ् में ृइश बढ़ने से सकार को मूर्धन्य भी हो जाता! लिट् के थल, व और म–इन प्रत्ययों में भी इन बढ़ जाता है। धातु सेट् है कि नहीं इसका निर्णय आगे स्पष्ट किया जायगा। लुङ् में भी इकार बढ़ेगा यदि स् (सिच्) विद्यमान हो। यदि लोप हुआ तो नहीं। कहाँ स्–सिच्श का लोप होता है–इसका भी निर्णय आगे किया जायगा।

डु	‚	ड्वितः क्त्रिः इससे क्त्रि।	डुकृ‍्—कृत्रिमम्।
ष्	‚	षिद्भिदादिभ्योङ्श इस से अङ् प्रत्यय भाव में।	त्रपूष्—त्रपा।

ये अनुबन्ध एक से अधिक भी धातुओं के साथ मिलते हैं। जैसें— डुकृ‍्श धातु में ‚डुश और ‚्श दो अनुबन्ध हैं। डुपचष् पाके—में ‚डुश‚अश और ‚ष्श ये तीन अनुबन्ध हैं। सबका अपना—अपना फल है, निष्फल कोई नहीं।

ककारादि और भी अनुबन्ध आते हैं। पर उनका इस प्रकार का कोई विशेष फल नहीं, केवल विशेषता—अन्य से भेद—बताने के लिये हैं। जैसे—इण् धातु में णकार। यह अन्य‚इक् स्मरणेश आदि धातुओं से भिन्नता बताने के लिये है।

अत इतिः अत् धातु का अर्थ—निरंतर जाना है।

अतति— ‚ अत्श धातु से लट् लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन में‚अत्+तिश इस स्थिति में‚कर्तरि शप्श सूत्र से शप् प्रत्यय हुआ। शकर और पकार इत्संज्ञा होकर लोप को प्राप्त हो जाते हें। इस प्रकार यह रूप सिद्ध होता है।

अत् धातु के लट् लकार के रूप —

प्र. पु. अतति, अततः, अतन्ति।

म. पु. अतसि, अतथः, अतथ।

उ. पु. अतामि, अतावः, अतामः।

(दीर्घविधिसूत्रम्)

अत आदेः 7.4.70

अभ्यासस्यादेरतो दीर्घ स्यात्। आत, आततुः आतुः। आतिथ, आतथुः आत। आत, आतिव, आतिम। अतिता, अतिष्यति, अततु।

व्याख्याः अभ्यास के आदि अकार की दीर्घ हो।

यदि‚अ अत्श इस अवस्था में अभ्यास के अकार को दीर्घ का विधान इस सूत्र से न किया जाता तो‚अतो गुणेश से दोनों अकारों के स्थान में एक ही ह्रस्व रह जाता।

आत इति—‚अत्श धातु के लिट् लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन में‚अत् अश इस दशा में,‚अत्श को द्वित्व तथा अभ्यास—कार्य हलादिशेष होने पर‚अ अत्+अश इस स्थिति में अकार को अभ्यास के आदि होने से दीर्घ हो जाता है। तब दूसरे भाग के साथ सवर्ण दीर्घ होने पर रूप सिद्ध होता है।

आततुः, आतुः— लिट् के प्रथम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन में ये रूप पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध होते हैं।

आतिथ—यहाँ वलादि आर्धधातुक होने से इट् आगम होकर रूप सिद्ध होता है।

आतिव, आतिम—लिट् के उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन में भी वलादि होने से इट् आगम होता है।

लुट् लकार में‚इट्श हो जाता है। निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्र० अतिता, अतितारौ, अतितारः।

म० अतितासि, अतितास्थः, अतितास्थ।

उ० अतितास्मि, अतितास्वः, अतितास्मः।

लट् में भी इट् हो जाता है और‚स्यश के सकार को मूर्धस्य षकार भी निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्र० अतिष्यति, अतिष्यतः, अतिष्यन्ति।

म० अतिष्यसि, अतिष्यथः, अतिष्यथ।

उ अतिष्यामि, अतिष्यावः, अतिष्यामः।

लोट् के रूप निम्नलिखित बनते हें—

प्र० अततु—तात्, अतताम्, अतन्तु।

म० आत—तात्, अततम्, अतत।

उ०अतानि, अताव,अताम।

आड् अजादीनाम् 6.4.27

अजादेरङ्स्याट् लुङ्लङ्लङ्क्षु। आतत्। अतेत्। अत्यात्, अत्यास्ताम्। लुङि सिचि इगगमे कृते—

व्याख्याः अजादि अङ्ग को आट् आगम हो लुङ्, लङ् और लङ् परे होने पर।

यह सूत्र लुङ्लङ्लङ्क्ष्वडुदात्तःश का बाधक है। अतः अजादि धातुओं का इस से आट् आगम होगा।

आतत्—अत् धातु के लङ् के प्रथम पुरुष के एक वचन में लावस्था में प्रकृत सूत्र से अजादि होने के कारण अङ्ग को ृआट्श आगम होता है।

तब ृआटश्च सूत्र से ृआट्श के आकार और धातु के ृअकारश की वद्धि एकादेश ृआकारश होता है। ृशप्श का अकार रहता है और शेष कार्य यथा प्राप्त होते हैं। इस प्रकार रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार अन्य रूप भी बनते हैं। लङ् के सम्पूर्ण रूप निम्नलिखित हैं—

प्र० आतत्, आतताम्, आतन्।

म० आतः, आततम्, आतत।

उ० आतम्, आताव, आताम।

विधिलिङ—	आशीर्लिङ्—
प्र० अतेत, अतेताम्, अतेयुः।	प्र० अत्यात्, अत्यास्ताम्, अत्यासुः।
म० अतेः अतेतम्, अतेत।	म० अत्याः, अत्यास्तम्, अत्यास्त।
उ० अतेयम्, अतेव, अतेम।	उ० अत्यासम, अत्यास्व, अत्यास्म।

लुङीति—लुङ् में च्लि को ृसिच्श आदेश होगा। ृसिच्श का ृस्श शेष रहता है। ृसिच्श ृआर्धधातुकं शेषःश से आर्धधातुक है और बलादि भी है। अतः ृआर्धधातुकस्येड् वलादेःश से इट् आगम हो जायगा। तब ृआत् इ स् त ऐसी स्थिति बन जायगी।श

अस्ति-सिचोपक्ते 7.3.93

विद्यमानात् सिचः, अस्तेश्च परस्यापक्तस्य हल ईडागमः।

(सलोपविधिसूत्रम्)

व्याख्याः विद्यमान सिच् और अस् धातु से परे अपक्त हल् को ृईट्श आगम हो।

आत् इ स् त्श यहाँ सिच् विद्यमान है, इससे परे अपक्त हल् तकार है। इसको ृईट्श आगम हो जायगा। तब ृआत्श इ स् ई त् यह स्थिति हुई।

इट ईटि 7.2.27

इटः परस्य सस्य लोपः स्याद् ईटि परे

व्याख्याः इट् से परे सकार का लोप हो ईट् पर होने पर।

आत् इ स् ई त्श तहाँ इट् से परे सकार है और उससे परे इट् भी है, अतः सकार का लोप हो गया तब ृआत् इ ईत्श इस दशा में इकार और ईकार को सवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। परन्तु ृइट ईटि 8।2।28श इस त्रिपादी सूत्र से हुए लोप के असिद्ध होने से बीच में सकार का व्यवधान हो जाता है। इसका वारण अग्रिम वार्तिक से होता है।

(वा) सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः। आतीत् आतिष्टाम्।

(जुसादेशविधिसूत्रम्)

व्याख्याः सिच् का लोप एकादेश के विषय में सिद्ध कहना चाहिये।

इस वार्तिक से सिच् लोप के सिद्ध रहने पर सवर्णदीर्घ होकर आतीत् रूप सिद्ध होता है।

आतिष्टाम्—द्विवचन में ृतस्श को ृताम्श आदेश होता है। सकार को मूर्धन्य षकार हो जाता है। तब ष्टुत्व से तकार को टकार होकर रूप बनता है।

झि में ृअत् इ स् झिश इस दशा के होने पर—

सिज्-अभ्यस्त-विदिभ्यश्च 3.4.109

सिचः, अभ्यस्ताद्, विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस्। आतिषुः। आतीः, अतिष्टम्, आतिष्ट। आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म। आतिष्यत्। षिध गत्याम्।

व्याख्याः सिच् प्रत्यय, अभ्यस्त संज्ञक जाग आदि धातुओं और विद् धातु से परे ङित् लकार सम्बन्धी झि कोृजुस्श्आदेश हो।

सिच् से परे तो लुङ् का ही झि मिलता है, पर अन्य अभ्यस्त आदि से परे अन्य लकारों के भी आते हैं, उनके लिये ङित् सम्बन्धी ृझिश कहा जाता है।

आतिषुः—झि को जुस् होने पर रूप सिद्ध होता है।

आतीः—आदि अन्य रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

लङ् में——	प्र० आतिष्यत्,	आतिष्यताम्,	आतिष्यन्।
	म० आतिष्यः,	आतिष्यतम्,	आतिष्यत
	उ० आतिष्यम्,	आतिष्याव,	आतिष्याम

षिध् धातु

व्याख्याः षिध इति— षिध् धातु का अर्थ ृजानाश है।

ह्रस्वं लघ 1.4.10

व्याख्याः ह्रस्व स्वर की लघु संज्ञा होती है।

संयोगे गुरु 1.4.11

व्याख्याः संयोग परे होने पर ह्रस्व की गुरु संज्ञा होती है।

दीर्घ च 1.4.12

गुरु स्यात्।

व्याख्याः दीर्घ की (भी) गुरु संज्ञा।

पुगन्त-लघूपधस्य च 7.3.86

पुगन्तस्य लघूपधस्य चाङ्गस्येको गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः। धात्वादेः-श इति-सेधति। षत्वम्-सिषेध।

व्याख्याः पुगन्त (पुक् आगम जिसके अन्त में हो) और लघूपध (जिसकी उपधा लधु) अङ्गके इक् को गुण हो सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते।

पुगन्त अङ्गकेंउदाहरण ृहेपयतिश आदि ण्यन्त प्रकिया में है।ृह्रीश धातु से णि आने पर अर्तिह्रीब्लीरिक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ् णौश इस से पुक् आगम होता है। उपधा यहाँ लघु नहीं, क्योंकि ृइकार उपधा दीर्घ है और दीर्घ की गुरुसंज्ञा होती है। अतः यहाँ गुण करना ृपुगन्तश कहने का फल है।

लघूपध का उदाहरण ृसिध्श धातु ही है, इसमें उपधा इकार लघु है।

धात्वादेरिति–ृधात्वादेः षः सःश सूत्र से धातु का आदि षकार सकार बन जाता है, प्रयोग में सकार ही मिलता है। षोपदेश का फल षत्व है, जो आगे मालूम पड़ेगा।

सेधति–सिध् के लट् लकार में प्रथम के एकवचन तिप् में शप् आने पर प्रकृत सूत्र से लघु उपधा इकार को गुण होकर रूप सिद्ध होता है।

लट् के अन्य रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

प्र०	सेधति,	सेधतः,	सेधन्ति।
म०	सेधसि,	सेधथः,	सेधथः।
उ०	सेधामि,	सेधाने	सेधामः।

सिषेध–लिट् के प्रथम के एकवचन में तिप् को णल् आदेश, धातु को द्वित्व, अभ्यास कार्य, उपधा को लघु होने से गुण होकर ृसिसेधश ऐसी स्थिति बन जाने पर अभ्यास के इकार इण् से परे अभ्यास से परे के सकार को आदेश रूप होने से ृआदेशप्रत्यययोश्से मूर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

असंयोगाल्लिट् कित् 1.2.5

असंयोगात् परोपित् लिट् कित् स्यात् सिषिधतुः, सिषिधुः। सिषेधिथ, सिषिधथुः, सिषिध। सिषेध, सिषिधिव, सिषिधिम। सेधिता, सेधिष्यति। सेधतु। असेधत्। सेधेत्। सिध्यात्। असेधीत्। असेधिष्यत्।

व्याख्याः असंयोग (संयोग भिन्न) से परे अपित् लिट् कित् हो।

णल्, थल् और णल् पित्, सिप् और मिप् इन तीन पित् तिङों के स्थान में होते हैं। इन को छोड़कर शेष सभी आदेश अपित् हैं। अतः ये सब इस सूत्र से कित् हो जाते हैं। यहाँ कित् होने का फल ग्क्ङिति चश्सूत्र से गुण निषेध है।

सिषिधतुः– यहाँ प्रकृत सूत्र से अतुस् के कित् हाने से लघूपध गुण न हुआ। शेष कार्य पूर्ववत् होंगे। लिट् के अन्य रूप भी इसी प्रकार बनेंगे।

शेष लकारों के रूप प्रायः ृअत्श धातु के समान बनेंगे। उन सब को यहाँ लिखा जाता है। सिद्धि भी साधारणतः ृअत्श धातु के रूपों के समान होगी।

लुट्–	प्र० सेधिता,	सेधितारौ,	सेधितारः।	लट–प्र०	सेधिष्यति	सेधिष्यतः,	सेधिष्यन्ति।
	म० सेधितासि	सेधितास्थः,	सेधितास्थ।	म०	सेधिष्यमि,	सेधिष्यथः	सेधिष्यथ।
	उ० सेधितास्मि	सेधितास्वः,	सेधितास्म।	उ०	सेधिष्यामि	सेधिषवः	सेधिष्यामः।
लोट्–	प्र० सेधतु–तात्	सेधताम्,	सेधन्तु।	लङ्–प्र०	असेधत्,	असेधताम्,	असेधन्
	म० सेध– ,,	सेधतम्	सेधत।	म०	असेधः,	असेधतम्,	असेधत।
	उ० सेधानि,	सेधाव,	सेधाम।	उ०	असेधम्,	असेधाव,	असेधाम्
विधिलिङ्–				आशीर्लिङ्–			
	प्र० सेधेत्,	सेधेताम्,	सेधेयुः।	प्र०	सिध्यात्,	सिध्यास्ताम्,	सिध्यासुः।
	म० सेधेः,	सेधेतम्	सेधेत।	म०	सिध्याः,	सिध्यास्तम्,	सिध्यास्त।
	उ० सेधेयम्,	सेधेव	सेधेम।	उ०	सिध्यासम्,	सिध्यास्व,	सिध्यास्म।
लुङ्–	प्र० असेधीत्	असेधिष्टाम्,	असेधिषुः।	लङ्– प्र०	असेधिष्यत्,	असेधिष्यताम्,	असेधिष्यन्।
	म० असेधीः	असेधिष्टम,	असेधिष्ट।	म०	असेधिष्यः,	असेधिष्यतम्,	असेधिष्यत।
	उ० असेधिषम्,	असेधिष्व	असेधिष्म।	उ०	असेधिष्यम्,	असेधिष्याव,	असेधिष्याम।

उपसर्गो के योग में–निषेधति–मना करता है। प्रतिषेधति–मना करता है।

चिती संज्ञाने शुच शोके गद व्यक्तायां वाचि.

गदति

व्याख्या: इसी प्रकार चिती (होश में आना) और शुच (चिन्ता या शोक करना) धातुओं के रूप भी बनते हैं। इन दोनों धातुओं के प्रत्येक लकार का एक एक रूप नीचे दिया जाता है—

चिती—चेतति। चिचेत। चेतिता। चेतिष्यति। चेततु। अचेतत्। चेतेत्। चित्यात् अचेतीत्। अचेतिष्यत्।

शुच— शोचति। शुशोच। शोचिता। शोचिष्यति। शोचतु। अशोचत्। शोचेत्। शोच्यात्। अशोचीत्। अशोचिष्यत्।

गद इति—गद धातु व्यक्त बोलने अर्थ में आता है। व्यक्त—स्पष्ट—बोलना मनुष्यों का होता है। पशु पक्षी आदि का बोलना अस्पष्ट होता है।

इसके लट् में रूप पूर्ववत् बनेंगे—

प्र० गदति, गदतः, गदन्ति।

म० गदसि, गदथः गदथ।

उ० गदामि, गदावः, गदामः।

(णत्वविधिसूत्रम्)

नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्रातिप्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्घिषु च 8.4.17

उपसर्गस्थात् निमित्तात् परस्य नेर्णो गदादिषु परेषु। प्रणिगदति।

व्याख्या: उपसर्ग में स्थित निमित्त—रकार—से परे ृनिश उपसर्ग के नकार को णकार हो ृगदश आदि धातु परे होने पर।

नेर्गद— क सूत्रस्थ गद्शआदि धातुओं का परिचय—

1 गद्—स्पष्ट बोलना (भ्वादि)।	1०. वा बहना (हवा का) (अदादि)।
2 नद्—अस्पष्ट बोलना ,, ।	11. द्रा—चलना ,, ।
3 पत्—गिरना ,, ।	12. प्सा—खाना ,, ।
4 पद्—चलना (दिवादि)।	13. वप्—बोना (भ्वादि) ।
5 घुसंज्ञक ृदाश ृधाश आदि।	14. वह्—ले जाना ,, ।
6 मा—नापना ।	15. शम्—शान्त होना (दिवादि)।
7 षे—नाश करना (दिवादि)।	16. चि—इकठ्ठा करना (स्वादि)।
8. हन्—मारना (अदादि) ।	17. दिह्—लीपना (अदादि) ।
9.या—जाना (अदादि) ।	

जब धातु के पहले ृनिश उपसर्ग होगा और उससे पहले एक और उपसर्ग होगा—जिसमें णत्व का निमित्त रेफ होगा, तब इस सूत्र से ृनिश उपसर्ग के नकार को णकार होगा।

समानपद—अखण्डपद—न होने से ृअट् कुप्वाङ्नुम्'श सूत्र से यहाँ णत्व प्राप्त नहीं था। अतः इस सूत्र के द्वारा णत्व का विधान किया गया।

प्रणिगदति—यहाँ उपसर्ग ृप्रश में निमित्त रकार स्थित है। उससे परे ृनिश उपसर्ग है, उसके नकार को णत्व हुआ।

इसी प्रकार—प्रणिनदति, प्रणिपतति, प्रणिपद्यते, प्रणिदधाति, प्रणिददाति, प्रणियच्छति, प्रणिद्यति, प्रणिदयते, प्रणिमाति, प्रणिष्याति, प्रणिहन्ति, प्रणियाति, प्रणिवाति, प्रणिद्राति, प्रणिप्साति, प्रणिवपति, प्रणिवहति, प्रणिशाम्यति और प्रणिचनोति।

कुहोश्चुः 7.4.62

अभ्यासकवर्ग-हकारयोश्चवर्गादेशः।

व्याख्याः अभ्यास के कवर्ग और हकार को चवर्ग हो।

कवर्ग के वर्णों को क्रमशः चवर्ग के वर्ण आदेश होंगे, प्रथम को प्रथम इत्यादि। हकार को आन्तरतम्य से झकार होगा। सपादसप्तध्यायी का होने से इस सूत्र की प्रवत्ति पहले होगी।॒अभ्यासे चर्च 8।4।54श से चर् और जश् आदेश बाद की होंगे। जैसे –॒चखानश्यहाँ पहले खश्को चवर्ग छश्आदेश होगा, उसके बाद चर् च होगा। जघानश्में पहले हकार को चवर्ग झकार होगा, तब जश् जकार होगा।

प्रकृत में गद्श्धातु के लिट् लकार में द्वित्व और हलादि शेष करने पर इस सूत्र से अभ्यास के कवर्ग गकार को चवर्ग जकार होता है। प्रथम के एकवचन में॒जगद् अश यह स्थिति हुई।

अत उपधाया 7.2.116

उपधाया अतो वद्धिः स्यात् ग्ति णिति च प्रत्यये परे। जगाद, जगदतुः, जगदुः। जगदिथ, जगदथुः जगद।

व्याख्याः उपधा अकार को वद्धि हो ग्ति् और णित् प्रत्यय परे होने पर।

जगाद— गद् धातु के लिट्, लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन में पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धि हुई॒जगद् +अ स्थिति में णित् प्रत्यय णल् (अ) परे है। अतः उपधा अकार को वद्धि आकार हो गया। तब जगाद रूप बना।

जगदतुः— आदि रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होंगे।

णल् उत्तमो वा 7.1.91

उत्तमो णल् वा णित् स्यात्। जगाद, जगद। जगदिब। जगदिम। गदिता। गदिष्यति। गदतु। अगदत्। गदेत्। गद्यात्।

व्याख्याः उत्तम का णल् विकल्प से णित् हो।

णित्श्पक्ष में वद्धि कार्य होगा। अभाव पक्ष में वद्धि न होगी।

जगाद— प्रकृत में णित् पक्ष में अत उपधायाःश से वद्धि होकर रूप बना। अभाव पक्ष में वद्धि न हुई तो जगद रूप बना।

जगदिव और जगदिम— वश्और मश्में वलादि आर्धधातुक होने से॒आर्धधातुकस्येड् वलादेःश से इट् आगम होकर रूप बनेंगे।

शेष लकारों के रूप में पूर्ववत् बनते हैं।

अतो हलादेर्लधोः 7.1.7

हलादेर्लघोरकारस्य वद्धिर्वा इडादौ परस्मैपदे सिचि। अगादीत्, अगदीत्। अगदिष्यत्।

व्याख्याः हलादि अङ्ग के अवयव लघु अकार को वद्धि विकल्प से हो, इडादि परस्मैपद सिच् परे होने पर।

अगादीत्— लुङ में अट्, तिप्, इकार लोप, च्लि, च्लि को सिच् आदेश, सिच् को इट् आगम और अपक्त सकार को ईट्श आगम होने पर॒अगद् इ स् ईत्श ऐसी स्थिति बन जाने पर हलादि अङ्गगद्श है उससे परे इडादि परस्पमैपद सिच् भी है अतः इसके लघु–गकारोत्तरवर्ती–अकार की वद्धि हुई। तब सिच् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ। अभाव पक्ष में अगदीत्।

लुङ् के शेष रूप पूर्ववत् बनें–

प्र० अगादीत्–अगदीत्; अगादिष्टाम्–अगदिष्टाम; अगादिषु–अगदिषुः; म० अगादीः–अगदीः; अगादिष्टम्–अगदिष्टम्; अगादिष्ट–अगदिष्ट। उ० अगादिषम्–अगदिषम्; अगादिष्व–अगदिष्व; अगादिष्म, अगदिष्म।

अगदिष्यत् आदि— लङ् के रूप भी पूर्ववत् सिद्ध होंगे।

णद् अव्यक्त शब्दे

णद् धातु का अर्थ अस्पष्ट शब्द —अर्थात् पशु आदियों का शब्द है।

णो नः 6.1.65

धात्वादेर्णस्य नः णोपदेशास्तु अनर्द-नाटि-नाथ-नाध-नन्द-नक्क-नॄ नतः

व्याख्याः धातु के आदि णकार को नकार हो।

इस सूत्र से सभी णकारादि धातु नकारादि बन जाते हें। प्रयोग में सब नकाराादि ही रहेंगे। इस दशा में यह निर्णय न हो सकेगा कि कौन सी धातु णकारादि है और कौन नकारादि। इसके लिये निम्न निर्णय भाष्य के अनुसार हुआ है—

णोपदेशा इति— 1 नर्द शब्दे (भ्वादि) अस्पष्ट बोलना, 2 नट अवस्कन्दे 8) चुरादि नाचना, 3 नाथ याच्ञोपतापैश्वर्याशीषुः (भ्वादि) मांगना आदि 4 नाध याचादिषु 5 टुनदि समद्धौ (भ्वादि) आनन्दित होना, 7 नक्क नाशने (चुरादि) नाश करना, 7 नॄ नये (भ्वादि, कथादि) ले जाना, 8 नती गात्रविक्षेषे (दिवादि) नाचना—इन आठ धातुओं को छोड़कर शेष नकारादि धातु णोपदेश हैं अर्थात् उनका नकार णकार से बना हुआ है।

णोपदेश होने का फल णत्व है। वह आगे बताया जायगा।

उपसर्गाद् असमासेपि णोदपदेशस्य 7.8.14

उपसर्गस्थात् निमित्तात् परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः। प्रणदति। प्रणिनदति। नदति। ननाद।

व्याख्याः उपसर्ग में स्थित निमित्त—रेफ—से परे णोपदेश धातु के नकार को णकार हो।

पूर्वोक्त आठ धातुओं से भिन्न होने के कारण नदश्धातु णोपदेश है।

इसके नकार को प्र उपसर्ग में स्थित निमित्त रकार से पर होने के कारण णकार हो जायगा, अतः प्रणदति रूप बना।

प्रणिनदति—यहाँ नेर्गदनद—आदि सूत्र से निश्के नकार को णकार हुआ है।

नदति—यह लट् के प्रथम के एकवचन का रूप है। इसकी सिद्धि गदतिश्आदि के समान होती है।

ननाद—नद् धातु के लट्, प्रथम पुरुष, एकवचन मेंृनद्+अश इस स्थिति में द्वित्व, अभ्यासकार्य होने पर अत उपधायाःश से उपधावद्धि होती है।

अत एकहलमध्येनादेशादेर्लिटि 6.4.120

लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गम्, तदवयवस्यासंयुक्तहल् मध्यस्थस्यात एत्वम्, अभ्यासलोपश्च किति लिटि। नेदतुः नेदुः।

व्याख्याः जिस अङ्ग के आदि वर्ण के स्थान में लिट् को निमित्त मानकर आदेश न हुआ हो, उसके अवयव, संयोग—रहित हल के साथ वर्तमान ह्रस्व अकार को एकार और अभ्यास का लोप हो कित् लिट् परे होने पर।

यह सूत्र दो कार्य—एत्व और अभ्यास का लोप करता है।

इस सूत्र की प्रवत्ति के लिये चार बातों का ध्यान रखना चाहि' 1 ह्रस्व अकार हो, 2 संयोग न हो, 3 अङ्ग के आदि वर्ण को लिट् को निमित्त बनाकर आदेश न हुआ हो, 4 कित् लिट् परे हो। इसीलिये—ृसिषिधतुःश में सूत्र की प्रवत्ति नहीं हुई क्योंकि यहाँ अकार नहीं। ररासेश्में ह्रस्व अकार न होने से, तत्सरतुःश्में संयोगरहित न होने से और जगदतुःश्में आदेश होने से सूत्र की प्रवत्ति नहीं हुई। आदेश भी लिट् को निमित्त मानकर हुआ हो, तब सूत्र प्रवत्त होगा। जैसे—नेदतुःश्और सेहेश्इत्यादि इनमें जो नकारश्और सकारश्आदेश णो नःश्और घात्वादेः षः सःश सूत्रों से हुए हैं, वे लिट् को निमित्त मानकर नहीं हुए हैं, ये आदेश निर्निमित्तक हैं। ननादश में कित् लिट् न होने से सूत्र प्रवत्त नहीं होता।

नेदतुः—प्रकृत नद् धातु में ृनद् नद् अतुस्श इस दशा में इस सूत्र की प्रवत्ति होगी। क्योंकि इसमें ह्रस्व अकार भी है, संयोग का अभाव भी है, लिट्निमित्तक आदेश यहाँ नहीं हुआ है, कित् लिट् अतुस् परे हैं अतः इस सूत्र से अभ्यास का लोप और अकार को एकार हो गया। तब नेदतुः रूप सिद्ध हुआ।

नेदुः— यह रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होता है।

थलश सिप् के स्थान में होने से पित् है। अतः पित्भिन्न न होने से ृअसंयोगात् लिट्—कित्श से कित् नहीं हुआ। अतः इसमें उक्तकार्य प्राप्त नहीं।

थलि स सेटि 6.4.129

नेदिथ, नेदथुः, नेद। ननाद-ननद, नेदिव, नेदिम। नदिता। नदिष्यति। नदतु। अनदत्। नदेत्। नद्यात्। अनादीत्, अनदीत्। अनदिष्यत्। प्रागुक्तं स्यात्

व्याख्याः इट्युक्त—थल परे रहते भी पूर्वोक्त दशा से पूर्वोक्त कार्य—एत्व और अभ्यास का लोप—होते हैं।

नेदिथ-नद् धातु का थल् में नेदिथ रूप सिद्ध होता है। यहाँ इट् हुआ है, अतः सेट् थल् परे होने से एत्व और अभ्यास का लोप हुआ।

कित् लिट् में पूर्वसूत्र और थल में यह सूत्र एत्व और अभ्यास का लोप कर—देता है, तब बचे रहते हैं—प्रथम और उत्तम के एकवचन—ये दो। अपित् लिट् होने से द्विवचन और बहुवचन के सभी प्रत्यय ृअसंयोगात् लिट् कित्श से कित् हैं। अतएव आगे—नेद, नेदिव, नेदिम रूप बनते हैं

ननाद, ननद- ये दो रूप उत्तम के एकवचन में बनते हैं। क्योंकि वहाँ ृणलुत्तमो वाश से णल् विकल्प से णित् है। णित् पक्ष में ृअत उपधायाश से वद्धि हो जाती है। और अभावपक्ष में वद्धि नहीं होती।

नदिता आदि शेष लकारों के रूप की सिद्धि पूर्ववत् होती है।

अनादीत्—अनदीत्—ये दो रूप लुङ् के प्रथम के एकवचन हैं। यहाँ ृअतो हलादेर्लघोःश से वद्धि विकल्प से होती है। वद्धिपक्ष में अनादीत् और अभावपक्ष में अनदीत् रूप बनते हैं।

इस धातु का प्रयोग जोर के शब्द करने में होता है। जैसे—बैल, वीर पुरुष मेघ और सिंह आदि के। वषभो नदति—बैल—सांड—डुकरता है। मेघा नदन्ति—बादल गरजते हैं। सिंहो नदति—सिंह गरजता है।

उपसर्गों के योग से इस धातु का अर्थ बदलता नहीं, पर हाँ, धातु के अर्थ में उत्कर्ष (जोर) पैदा हो जाता है जैसे—प्रणदति—जोर से गरजता है। इसी प्रकार —प्रणिनदति, निनदति आदि।

टुनदिं सभद्धौ

टुनदि धातु समद्धि अर्थ में आता है। समद्धि से तात्पर्य यहाँ आनन्द से है क्योंकि समद्धि का फल आनन्द है।

टुनदिश(समद्धि, आनन्द) धातु के उपदेश अवस्था में वर्तमान आदि ृटुश की इत्संज्ञा हुई। तब लोप हुआ।

टुश्की इत्संज्ञा का फल ृट्वितोथुच्श सूत्र से अथुच् प्रत्यय होकर नन्दथुः है।

आदिर्ञि-टु-डवः 1.3.5

उपदेशे धातोराद्या एते इतः स्युः।

व्याख्याः उपदेश में धातु के आदि ञि, टु और डु की इत्संज्ञा हो।

इ कार भी अनुबन्ध है। 'नद्'शबचा रहता है। इकार के इत् होने का फल अग्रिम सूत्र से नुम् होता है।

96 इदितो नुम् धातोः 7.1.58

नन्दति। ननन्दं नन्दिता। नन्दिष्यति। नन्दतु। अनन्दत्। नन्देत्। नन्द्यात्। अनन्दीत्। अनन्दिष्यत्।

व्याख्याः इदित् जिसके ह्रस्व इकार की इत्संज्ञा हुई हो—धातु को नुम् आगम हो।

नुम्श के उकार मकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। अतः मित् होने से ृमिद्चोन्त्यात्परःश सूत्र से यह अन्त्य अच् के आगे होता है।

यह नुम् आगम निर्निमित्तक है। इसलिये यह सबसे पहले होगा। इदित् धातुओं की रूपसिद्धि में सबसे पहले ृनुम्श आगम दिखलाना चाहिये।

प्रकृत धातु को भी सबसे प्रथम ृनुम्श होगा। तब नन्द् यह रूप बना। इसी के रूप बनेंगे। रूपसिद्धि का प्रकार पूर्ववत् ही है लिट् में नुम् हो जाने के अनन्तर संयोग हो जान से एत्व और अभ्यास का लोप नहीं होता, निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्र० ननन्द, ननन्दतु, ननन्दुः। म० ननन्दिथ, ननन्दथुः, ननन्द। उ० ननन्द, ननन्दिव, ननन्दिम।

संयोग से पूर्व होने के कारण अकार गुरु हो जाता है, लघु नहीं रहता। अतः अत उपधायाः से वद्धि नहीं होती।

अनन्दीत् में संयोग परे हाने से गुरु हो जाने के कारण लघु न होने से ृअतो हलोदेर्लघोःश्से वैकल्पिक वद्धि नहीं हुई।

वा. अर्च पूजायाम। अर्चति।

व्याख्याः अर्च पूजायाम् इति—अर्च धातु पूजा अर्थ में है।

अर्चति—लट् के प्र. पु. एकवचन तिप् में शप् होकर रूप सिद्ध होगया। इसी प्रकार लट् के अन्य रूप भी सिद्ध होते हैं।

तस्माद् नुड् द्विहलः 7.4.71

द्विहलो दीर्घीभूताद् अकारात् परस्य नुट् स्यात्। आनर्च, आनर्चतुः। अर्चिता। अर्चिष्यति। अर्चतु। आर्चत् अर्चेत्। अर्च्यात्। आर्चीत्। आर्चिष्यत्।

व्याख्याः दो हल् जिस धातु में हों, उसके दीर्घ हुए अकार से पर को नुट् हो।

दो हल् से तात्पर्य अनेक हल् का है अर्थात् एक से अधिक हल् होने चाहिये—दो हों या उससे भी अधिक हों।

दीर्घ हुएश अकार का तात्पर्य यह है कि ृअत आदेःश से अकार को दीर्घ हुआ हो।

आनर्च—अर्च धातु के लिट् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन णल् में द्वित्व होकर अभ्यास कार्य होने पर ृअ अर्च अश इस दशा में ृअत आदेःश से अभ्यास के अकार को दीर्घ होने पर ृअ अर्च अश इस स्थिति में धातु में रकार और चकार ये दो हल् हैं। और दीर्घ हुए अभ्यास में स्थित आकार भी यहाँ है, अतः उससे परे अकार को नुट् आगम होगा। टित् होने से उस अकार के पहले ृनुट्श होगा। इस प्रकार रूप सिद्ध हुआ।

लिट् के अन्य रूपों में भी ृनुट्श होगा। ये रूप बनेंगे—

प्र० आनर्च,आनर्चतुः आनर्चुः। म० आनर्चिथ, आनर्चथुः आनर्च।० आनर्च, आनर्चिव, आनर्चिम।

अन्य लकारों के रूप पूर्ववत् ही बनेंगे। ङित् लकारों में अजादि होने से आडजादीनाम्श्से आट् आगम और आटश्च से वद्धि होगी।

व्रज गतौ

व्रजति।वव्राज। व्रजिता। व्रजिष्यति। व्रजतु। अव्रजत्। व्रजेत्। व्रज्यात्।

व्याख्याः व्रज् धातु का ृजानाश अर्थ है। इसके रूप भी पूर्वधातुओं के समान ही बनते हें। लिट् में निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्र० वव्राज, वव्रजतुः वव्रजुः। म० वव्रजिथ, वव्रजथुः, वव्रज। उ० वव्राज—वव्रज, वव्रजिव, वव्रजिम।

यहाँ एत्व और अभ्यास का लोप नहीं होता क्योंकि यहाँ 'व्र' में संयोग है और असंयुक्त हल्मध्यस्थ अकार को एत्व होता है तथा वहीं अभ्यास का लोप होता है।

वद-व्रज हलन्तस्याचः 7.1.3

एषामचो वद्धिः सिचि परस्मैपदेषु। अव्राजीत्। अव्रजिष्यत्।

व्याख्याः वद्, व्रज और हलन्त धातुओं के अच् को वद्धि हो परस्मैपदपरक सिच् परे रहते।

यद्यपि वद् और व्रज भी हलन्त धातु हैं, तथापि ृनेटिश सूत्र से प्राप्त वद्धिनिषेध के बाध के लिये यहाँ इनका ग्रहण किया गया है।

अव्राजीत—ृ'व्रज्' धातु के अच् को वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अन्य रूप भी बनेंगे।

उपसर्ग के योग में—प्रव्रजति, परिव्रजति—संन्यास लेता है।

अनुव्रजति—पीछे चलता है।

कटे वर्षावरणयोः

कटति। चकाट, चकटतुः। कटिता। कटिष्यति। कटतु। अकटत्। कटेत्! कट्यात्।

(वद्धिनिषेधसूत्रम्)

व्याख्याः कटे धातु का अर्थ वर्षा और ढक देना है। इसका एकार इत् है। इसके रूप भी पूर्व धातुओं के समान बनते हैं।

लिट् के कित् वचनों और थल में एत्व और अभ्यास लोप नहीं होता। क्योंकि यहाँ लिट् निमित्तक आदेश होता है। अभ्यास के ककार को ृकुहोश्चुःश्से चवर्ग चकार हुआ।

प्र० चकाट, चकटतुः, चकटुः। म० चकटिथ, चकटथुः चकट। उत्तं चकाट—चकट, चकटिव, चकटिम।

कटिता। अन्य लकारों के रूप पूर्वोक्त साधारण प्रक्रिया से ही बनेंगे।

ह्यन्त-क्षण-श्वस जाग-णि-श्व्येदिताम् 7.2.5

हमयान्तस्य क्षणादेर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वद्धिर्नेडादौ सिचि। अकटीत्। अकटिष्यत्।

व्याख्याः हकारान्त, मकारान्त और यकारान्त तथा क्षण, श्वस, जाग, ण्यन्त, श्वि, एवं एदित् धातुओं के अच् की वद्धि नहीं हो, इडादि सिच् परे रहते।

इनके उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

हकारान्त—मह पूजायाम्—पूजा करना, अमहीत्।

मकारान्त—क्रमु पादविक्षेपे—चलना, अक्रमीत्।

यकारान्त—हय गतौ—जाना, अहयीत्।

क्षणु हिंसायाम्—हिंसा करना, अक्षणीत्।

श्वस् प्राणने—सांस लेना, जीना, अश्वसीत्

जाग निद्राक्षये—जागना, अजागरीत्।

ण्यन्त—इन धातुओं से पर च्लि को सिच् नहीं होता, अपि तु णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्श्से चङ् आदेश हो जाता है। ऐसी दशा में ण्यन्त से परे सिच् मिलता ही नहीं, फिर सिच् परे रहते निषेध करना व्यर्थ प्रतीत होता है। केवल वेद में इसका उदाहरण है। जब ृनीनयतिध्वनयत्येलयत्यक्ष्यतिभ्यःश सूत्र से चङ का निषेध हो जाता है, तब सिच् होकर इसका उदाहरण बनता है। ऊन परिहाणे—कम होना म भवान् ऊनयीत्।

एतिद्— इसका उदाहरण प्रकृत ृकटेश धातु ही है। यह एदित है। अतः इसके अच् को वद्धि का निषेध होने से ृअकटीत्श रूप सिद्ध होगा।

(टुओ) श्वि गतिवद्ध्योः—चलना और बढ़ना—अश्वयीत।

गुपू रक्षणे 12

व्याख्याः गुपू धातु का अर्थ रक्षा है। इसका ऊकार इत् है।

गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः 3.1.28

एभ्यः ॢआयश प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे।

व्याख्याः गुपू (रक्षा करना), धूप् (तप्त करना), विच्छ (जाना) और पण् तथा पन् (व्यवहार और स्तुति) धातुओं से आयश्प्रत्यय हो स्वार्थ में।

स्वार्थ में विधान होने से यह स्वार्थिक प्रत्यय है। जो प्रत्यय प्रकृति के अर्थ में कोई विशेषता पैदा नहीं करता उसे स्वार्थिकश कहते हैं। इस ॢआयश प्रत्यय से प्रकृति रूप धातुओं के अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

आयश प्रत्यय स्वार्थिक होने से निर्निमित्तक है। अतः यह सब से पहले आयेगा। आयश्प्रत्यय की ॢआर्धधातुकं शेषःश्से आर्धधातुक संज्ञा है। अतः उसके परे रहते लघूपध अङ्गगुप के इक् उकार को पुगन्तलघूपधस्य चश्सूत्र से गुण ओकार हुआ तब गोपाय बना।

'आय'श्प्रत्यय अकारान्त है इसका ध्यान रहना चाहिये।

सनाद्यनता घातवः 3.1.32

सनादयः कमेर्णिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञकाः। धातुत्वाल्लडादयः-गोपायति।

व्याख्याः सन्श से लेकर ॢकमेर्णिङ्श सूत्र से विहित णिङ्शतक जो बारह प्रत्यय हैं, वे जिनके अन्त में हों, उनकी धातुसंज्ञा हो।

आयश प्रत्यय अन्त में होने से ॢगोपायश की धातु संज्ञा हुई।

सन्श आदि बारह निम्नलिखित कारिका में बताये गये हैं—

सन्—क्यच्—काम्यच्—क्यड्—क्यषोथाचारक्विब्—णिज्—यङस्तथा। यगायेयङ् णिङ्चेति द्वादशामी सनादयः। इति।।

ये प्रत्यय भिन्न भिन्न सूत्रों से विहित होते हैं।

धातुत्वादिति— धातु संज्ञा होने से ॢलःकर्मणि—श सूत्र से लकारों की उत्पत्ति होती है।

गोपायति—वर्तमान काल में लट् आने पर उसके स्थान में यथाक्रम से तिवादि आदेश होंगे। तदनन्दर कर्तरि शप्श्से शप् होगा। गोपाय अ तिश्इस अवस्था में शप् के अकार गुण परे रहते आयश्प्रत्यय के अन्त्य अकार को अतो गुणे से पररूप एकादेश होकर रूप सिद्ध होता हे।

सभी सार्वधातुक लकारों में इसी प्रकार ॢआयश प्रत्यय के अकार का ॢशप्श के अकार के साथ पररूप करना चाहिये।

प्र०गोपायति, गोपायतः, गोपायन्ति। म० गोपायसि, गोपायथः, गोपायथ। उ० गोपायामि गोपायावः गोपायामः।

आय्-आदय आर्धधातुके वा 3.1.31

आर्धधातुकविवक्षायामायादयो वा स्युः।

व्याख्याः आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में धातु से 'आय' आदि प्रत्यय विकल्प से हों।

(वा) कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः। आ कासोराम्विधानान् मस्य नेत्वम्।

व्याख्याः कास् (चमकना) और अनेकाच् धातुओं से आम् प्रत्यय कहना चाहिये।

आस्काससोरिति— आस् और कास् को आम् विधान करने से उसके मकार की इत् संज्ञा नहीं होती।

अर्थात् यदि आम् का मकार इत्संज्ञक हो तो मित् होने से आम अन्त्य अच् के आगे होगा। ऐसी दशा में ॢआसश्और कासश्धातु के अन्त्य अच् अकार के आगे आमश्का अकार आयगा और तब सवर्ण दीर्घ किये जाने पर आस्श्और कास्श्जेसे के तैसे रह जायँगे। इस प्रकार आम्श्विधान व्यर्थ होगा। अतः आस्श्और कास्श्धातु को आम् विधान से सूचित होता है कि आम्श्के मकार की इत्संज्ञा नहीं होती। आस्श्धातु को दयायासश्चश्सूत्र से आम्श्होता है।

लिट् लकार की विवक्षा में गुप्श्से आम्श्प्रत्यय विकल्प से होगा। क्योंकि लिट् लकार॰लिट् चश्सूत्र से आर्धधातुक है।

आर्धधातुक की विवक्षा मेंश्कहने से आयश्प्रत्यय सब से पूर्व होता है, तथा विवक्षा करने मात्र से ही हो जाता है। यदि आर्धधातुक परे रहतेश्ऐसा कहा जाता तो लिट्श्आदि होने के बाद ही आयश्हो सकता।

आयश्होने पर गोपाय यह रूप बना। इनकी पूर्ववत् धातुसंज्ञा हुई, यह, अनेकाच् है। अतः लिट् लकार आने पर इसके आगे आम्श्आया। तब गोपाय आम् लिट्श यह स्थिति हुई।

आम्श्भी आर्धधातुकं शेषःश्से तिङ शित् भिन्न होने के कारण आर्धधातुक है।

अतो लोपः 6.4.48

आर्धधातुकोपदेशे यददन्तं तस्यातो लोप आर्धधातुके।

(लिङ्लुग्विधिसूत्रम्)

व्याख्याः आर्धधातुक के उपदेश काल में जो अदन्त अङ्ग उसके अवयय अकार का लोप हो आर्धधातुक परे रहते।

लिट् या आम इन आर्धधातुक संज्ञको के उपदेश काल में॰गोपायश यह अदन्त है, अतः॰आम्श आर्धधातुक् परे रहते। इसके अवयव अकार का लोप हुआ। तब 'गोपाय् आम् लिट्' यह स्थिति हुई।

आमः 2.4.81

आमः परस्य लुक्।

व्याख्याः आम्श्से परे लिट्श्का लुक् (लोप) हुआ।

गोपायश्आम् लिट्श्यहाँ आम् से परे लिट्श्का लोप हुआ। तब गोपायाम्श्यह शेष रहा।

कृ् चानुप्रयुज्यते लिटि 3.1.40

आमन्तात् लिट्पराः कृभ्वस्तयोनुप्रयुज्यन्ते। तेषां द्वित्वादि।

व्याख्याः आमश जिसके अन्त में उससे परे लिट् परक कृ, भू और अस् धातुओं का अनुप्रयोग होता है अर्थात् आमन्त के साथ उसके पीछे इसका प्रयोग होता है।

कृ्श यह प्रत्याहार है। इसके अन्दर कृ, भू और अस् धातुएँ आती हैं।

तेषामिति—उन अनुप्रयुक्त॰कृश आदि को द्वित्व आदि कार्य किये जाते हें।

गोपायाम्श से आगे पर्याय से लिट्परक॰कृश आदि का अनुप्रयोग हुआ। उसमें प्रथम॰कृश्के अनुप्रयोग में रूप सिद्ध किये जायँगे, तदनन्तर॰भूश और॰अस्श के अनुप्रयोग में। लिट् को यथाक्रम से तिबादि और उनको णलादि आदेश होंगे।

णल् में गोपायाम् कृ अश्इस दशा में लिटि धातोरनभ्यासस्यश्से द्वित्व हुआ। तब गोपायाम् कृ कृ अश्ऐसी स्थिति हुई।

उरत् 7.4.66

अभ्यास ऋवर्णस्यात् स्यात्। वद्धिः-गोपायाचकार। द्वित्वात् परत्वाद् यणि प्राप्ते-

व्याख्याः अभ्यास के अवयव ऋवर्ण को॰अत्श आदेश हो।

गोपायाचकार—यहाँ पूर्वोक्त स्थिति में उरण्श्रपरः से अकार रपर होता है। अर् करने पर गोपायाम् कर् कृ अश्ऐसी अवस्था हुई। यहाँ हलादिः शेषःश्से रकार का लोप, अत उपधायाःश्से अभ्यास के उत्तर खण्ड के ऋकार को वद्धि और, कुहोश्चुःश्से अभ्यास के कवर्ग ककार को चवर्ग—चकार आदेश, मकार को नश्चपदान्तस्य झलिश्से अनुस्वार और उसको॰अनुस्वारस्य ययि परसवर्णःश से परसवर्ण ।कार होकर गोपायाचकार रूप सिद्ध हुआ।

द्वित्वादिति–द्विवचन में ृअतुस्ॅ आदेश होने पर ृगोपायाम् कृ अतुस्ॅ इस अवस्था में धातु के एकाच् को द्वित्व और ऋकार को यण् प्राप्त हुआ। द्वित्व की अपेक्षा पर होने से ृविप्रतिषेधे परं कार्यम्ॅ से यण् प्रबल होने के कारण प्राप्त होता है उसके प्राप्त होने पर (अग्रिम सूत्र ृद्विर्वचनेचिॅ से यण् का निषेध हो जाता है)

द्विर्वचनेचि 1.1.50

द्वित्त्वनिमित्तेचि अच आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये। गोपायाचक्रुः।

व्याख्याः द्वित्व निमित्तक अच् (अजादि प्रत्यय) परे होने पर अच् के स्थान में आदेश (अजादेश) न हो द्वित्व करना हो तो।

गोपायाचक्रतुः–ृगोपायाम् कृ अतुस्ॅ द्वित्व का निमित्त अजादि प्रत्यय है, क्योंकि लिट् परे रहते द्वित्व होता है और यह लिट् के स्थान में होने से अजादेश है। अतः द्वित्व करने से पहले यहाँ यण् आदेश न होगा। यदि द्वित्व होने के पूर्व यण् आदेश हो जाय तो ऋकार को रकार हो जाने से ृक्र्ॅ बन जायगा, तब यह ृएकाच्ॅ नहीं रहेगा, अच् इस में है ही नहीं। अच्रहित होने से एकाच् नहीं, फिर द्वित्व न हो सकेगा। प्रकृत सूत्र अजादेश की अपेक्षा द्वित्व के पहले विधान की अनुमति देता है। द्वित्व होने के अनन्तर यथा प्राप्त अजादेश हो सकते हैं।

इसीलिये यहाँ द्वित्व होने पर अभ्यास कार्य और अजादेश यण् होंगे। तब रुत्व विर्ग होने पर गोपायाचक्रतुः रूप सिद्ध हो सकते हैं।

गोपायचक्रुः–लिट् के प्रथम पुरुष के बहुवचन–उस्ॅमें रूप पूर्ववत् सिद्ध होता है।

थल् में यथा प्राप्त सब कार्य होने पर गोपायाचकृ थॅइस दशा में वलादि आर्धधातुक होने से थल् को आर्धधातुकस्येड् वलादेः सूत्र से इट् आगम प्राप्त है।

एकाच उपदेशेनुदात्तात् 7.2.10..

उपदेशे यो धातुरेकाज् अनुदात्तश्चतत आर्धधातुकस्येण् न।

ऊद्-ऋदन्तैयौति रु-क्ष्णु-शी-स्नु-नु-श्वि-डीङ्-श्रिभिः। वङ्-वाभ्यां च विनैकाचोजन्तेषु निहताः स्मताः

कान्तेषु –शक्ल (1) एकः।

चान्तेषु–पच् 1, मुच् 2, रिच् 3, वच् 4, विच् 5, सिच् 6, षट्।

छान्तेषु- पच्छि 1 एकः।

जान्तेषु–त्यज 1, निजिर् 2, भज 3, भज 4, भुज् 5, भ्रस्ज् 6, मस्ज 7, यज् 8, युज् 9, रुजु 1०, रज् 11, विजिर् 12, स्वज् 13, सज 14 सृज् 15, पचदश।

दान्तेषु-अद् 1, क्षुद् 2, खिद् 2, छिद् 4, तुद् 5, नुद् 6, पद्य 7, भिद् 8, विद्यति 9, विनद् 1०, विन्द् 11, शद् 12, सद् 13, स्विद्य् 14, स्कन्द 15, हद् 16 षोडश।

धान्तेषु–क्रुध् 1, क्षुध् 2, बुध् 3, बन्ध् 4, युध् 5, रुध 6, राध 7, व्यध् 8, शुध् 9, साध् 1०, सिध्य 11 एकादश।

नान्तेषु -मन्य 1, हन् 2 द्वौ।

पान्तेषु-आप् 1, क्षुप् 2, क्षिप् 3, तप् 4, तिप् 5, तप्य 6, दप्य 7, लिप् 8, लुप् 9, वप् 1०, शप् 11, स्वप् 12, सृपः 13 त्रयोदश।

भान्तेषु -यभ् 1 रभ् 2, लभः 3 त्रयः।

मान्तेषु -गम् 1, नम् 2, यम् 3, रम् 4 चत्वारः।

शान्तेषु-कुश् 1 दंश् 2, दिश् 3, दश् 4, मश् 5, रिश् 6, रुश् 7, लिश 8, विश् 9, स्पशः 1० दश।

षान्तेषु-कृष् 1, त्विष 2, तुष् 3, द्विष्, 4, दुष् 5, पुष्य 6, पिष् 7, विष् 8, शिष् 9, शुष् 1० श्लिषः 11 एकादश।

सान्तेषु-घस् 1, वसती 2 द्वौ।

हान्तेषु -दह् 1, दिह् 2, दुह 3, नह 4, मिह 5, रुह 6, लिह 7, वह् 8, अष्टौ।

अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम्।

गोपायाच कर्थ, गोपायाच कथुः, गोपायाच क्र।

गोपायाच कार-गोपायाच कर, गोपायाच कृव, गोपायाच कृम।

गोपायाम्बभूव। गोपायामास।

जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः।

व्याख्याः उपदेश अवस्था में जो धातु एकाच् और अनुदात्त हों, उससे परे आर्धधातुक को इट् आगम न हों।

गोपायाचकृ थश यहाँ ृकृश धातु है, जो उपदेश अवस्था में एकाच् और अनुदात्त भी है। इसलिये इट् का निषेध हो जायगा।

धातुओं का उपदेश ृधातुपाठश में है। वहाँ देखने से तथा धातुओं के स्वरूप से पता चल जाता है कि वह एकाच् है कि नहीं। पर अनुदात्त मालूम करना कठिन है। क्योंकि ृधातुपाठश में यह तो लिखा नहीं कि यह अनुदात्त है, न कोई अनुदात्त का चिह्न ही है, शायद पहले कोई चिह्न रहा हो। अब तो भाष्यकार आदि पूर्व आचार्यों के कथनानुसार ही निर्णय हो सकता है। उसी के अनुसार यहाँ परिगणन किया गया है।

अनुदात्तेत् ओर अनुदात्त– ये दो भिन्न बातें हैं और दोनों का फल भी भिन्न–भिन्न है। अनुदात्तेत् का फल आत्मनेपद विधान है और अनुदात्त का इट् निषेध। अनुदात्तेत् का निर्देश ृएधादयः कत्थन्ताः षट्त्रिंशत् अनुदात्तेतः– ृएध्श आदि कत्थश पर्यन्त छत्तीस धातुयें अनुदात्तेत् हैं, इत्यादि वचनों के द्वारा धातुपाठ में किया है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जो धातु अनुदात्त हो, वह अनुदात्तेत् भी हो। ृशक्लश धातु अनुदात्त है पर अनुदात्तेत नहीं, एक धातु अनुदात्तेत् है पर अनुदात्त नहीं।

मूल में अनुदात्त एकाच् धातुओं की सचूी दी गई है, जिससे ढूँढने का कष्ट न रहे। अजन्तों में अनुदात्त अधिक हैं और उदात्त कर्म। इसलिये उदात्तों को गिनकर बता दिया गया है। उनसे भिन्न अनुदात्त हैं। हलन्तों में अनुदात्त अल्प हैं, उनका स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाता है।

ऊदिति–ऊकारान्त और ऋकारान्त धातु तथा यु आदि बारह 12 धातुओं को छोड़ कर शेष अजन्त एकाच् धातु हैं।

कारिकास्थ ृनिहताश शब्द का अर्थ अनुदात्त है।

यु आदि का अर्थ सहित परिचय नीचे दिया जाता है–

1. यु मिश्रणामिश्रणयोः (अदादि) मिलाना, अलग करना।
2. रु शब्दे (अदादि) मिलाना, अलग करना।
3. क्ष्णु तेजने ,, तेज करना।
4. शीङ् स्वप्ने ,, सोना।
5. स्नु प्रेस्रवणे ,, चूना, गाय आदि का पसमाना।
6. नु स्तुतौ (अदादि) स्तुति करना
7. टुक्षु शब्दे ,, शब्द करना, छींकना।
8. टुओ श्वि गतिवद्ध्योः (भ्वादि) जाना, बढ़ना।
9. डीङ् विहायसा गतौ (दिवादि) उड़ना।
10. श्रिा् सेवायाम् (भ्वादि) सेवा करना, आश्रय लेना।
11. वङ् संभक्तौ (क्र्यादि) सेवा करना।
12. वा् वरणे (स्वादि, चुरादि स्वीकार करना।

हलन्त एकाच् धातुओं का संग्रह–

1 ककरान्त 1 पाके (भ्वादि) पकाना। 2 मोक्षणे (तुदादि)–छोड़ना। 3 विरेचने (रुधादि)–दस्त होना। 4 परिभाषणे (अदादि)–निन्दा करना। 5 पथग्भावे (रुधादि)–अलग होना। 6 क्षरणे (तुदादि)–सींचना, चूना।

1 छकारान्त 1 जीप्सायाम् (तुदादि)–पूछना।

15 जकारान्त 1 हानौ (भ्वादि)–तयागना। 2 शौचपोषणयोः (जुहोत्यादि) –शुद्ध करना, बढ़ाना। 3 सेवायाम (भ्वादि)–सेवा करना। 4 आमर्दने–(रुधादि)–तोड़ना। 5 पालनाभ्यवहारयोः (रुधादि)–पालन करना, खाना। 6 पाके (तुदादि)–भूनना। 7 शुद्धौ (तुदादि)–शुद्ध करना, डुबकी लगाना। 8 देवपूजादिषु (भ्वादि)–यज्ञ करना आदि। 9 योगे (रुधादि)–जोड़ना, समाधौ (दिवादि)–समाधि लगाना। 1० भङ (तुदादि)–तोड़ना, रोगी करना। 11 रागे (दिवादि, भ्वादि)–रंगना, अनुरक्त होना। 12 पथग्भावे (जुहोत्यादि)– अलग होना। 13 परिष्वङ (भ्वादि)–आलिङ करना। 14 सङे (भ्वादि)–मिलना। विसर्गे (दिवादि, तुदादि)–छोड़ना।

16 दकारान्त 1 भक्षणे (अदादि)–खाना। 2 संपेषणे (रुधादि)–पीस देना, कूटना। 3 दैन्ये (दिवादि)–खेद करना। 4 द्वैधीभावे (रुधादि)–टुकड़े करना, काटना। 5 यथने (तुदादि)–पीड़ा पहुँचाना। 6 प्रेरणे (तुदादि)–प्रेरित करना। 7 गतौ (दिवादि)–जाना। 8 विदारणे (रुधादि)–तोड़ना। 9 सत्तायाम् (दिवादि)–होना। 1० विचारणे (तुदादि)–विचार करना। 11 लाभे (तुदादि)–प्राप्त करना। 12 शातने (भ्वादि)–नष्ट होना। 13 विशरणादिषु (भ्वादि)–नष्ट होना, जाना आदि। 14 गात्रप्रक्षरणे (दिवादि)–पसीना होना। 15 गतिशोषणयोः (भ्वादि)–जाना, सुखाना। 16 पुरीषोत्सर्गे (भ्वादि)–मल त्याग करना।

11 धकारान्त 1 क्रोधे (दिवादि)–क्रोध करना। 2 बुभुक्षायाम् (दिवादि)–भूख लगना। 3 अवगमने (दिवादि)–जानना। 4 बन्धने (कूयादि)–बांधना। 5 संप्रहारे (दिवादि)–युद्ध करना। 6 आवरणे (रुधादि)–रोकना। 7 संसिऋद्धौ (दिवादि)–सिद्ध करना। 8 ताडने (तुदादि)–बेधना, मारना। 9 शौचे (दिवादि)–शुद्ध होना। 1० संसिऋद्धौ (दिवादि)–सिद्ध करना। 11 संराद्धौ (दिवादि)–सिद्ध होना।

2 नकारान्त 1 ज्ञाने (दिवादि)–जानना, मानना। 2 हिंसागत्योः (अदादि)–मारना और जाना।

13 पकारान्त 1 व्याप्तौ (स्वादि)–प्राप्त करना। 2 स्पर्शे (तुदादि)–छूना। 3 प्रेरणे (तुदादि)–फेंकना। 4 सन्तापे (भ्वादि)–तपना। 5 क्षरणार्थे (भ्वादि)–चूना, टपकना। 6 प्रीणने (दिवादि)–प्रसन्न करना या होना। 7 दप्तौ (दिवादि)–घंमड में आना। 8 उपदेहे (तुदादि)–लीपना। 9 छेदने (तुदादि)–काटना, लोप करना। 1० बीजसन्ताने (भ्वादि)–बोना। 11 उपालम्भे (भ्वादि)–शाप देना, शपथ लेना। 12 शये (अदादि)–सोना। 13 गतौ (भ्वादि)–चलना, सरकना।

3 भकारान्त 1 मैथुने (भ्वादि)–मैथुन करना। 2 राभस्ये (भ्वादि)–आरम्भ करना, 3 प्राप्तौ (भ्वादि)–प्राप्त करना।

4मकारान्त 1 गतौ (भ्वादि)–जाना। 2 प्रह्वत्वे शब्दे च (भ्वादि)–झुकना, प्रणाम करना और शब्द करना। 3 उपरमे (भ्वादि)–शान्त होना। 4 क्रीडायाम् (भ्वादि)–क्रीड़ा करना, रमण करना।

1० शकारान्त 1 आक्रांशे (भ्वादि)–जोर से रोना चिल्लाना। 2 दशने (भ्वादि)–डँसना। 3 अतिसर्जने (तुदादि)–स्पर्श करना, मालुम करना। 4 प्रेक्षेण (भ्वादि)–देखना। 5 आमर्शने (तुदादि)–स्पर्श करना, मालूम करना। 6–7 हिंसायाम् (तुदादि)–हिंसा करना। 8 अल्पीभावे (तुदादि)–घटना। 9 प्रवेशने (तुदादि, दिवादि)–प्रवेश करना। 1० संस्पर्शे (तुदादि)– स्पर्श करना, छूना।

11पकारान्त 1 विलेखने (भ्वादि तुदादि)–हल जोतना, खींचना। 2 कान्तौ (भ्वादि)–चमकना। 3 तप्तौ (दिवादि)–तप्त होना। 4 अप्रीतौ (अदादि)–द्वेष करना। 5 वैकृत्ये–(द्विवादि)–दूषित होनां 6 पुष्टौ (दिवादि)–पुष्ट होना। 7 संचूर्णने (रुध ादि)–पीसना। 8 सेचने (भ्वादि)–सींचना। विप्रयोगे (क्र्यादि)–अलग होना। व्याप्तौ (जुहोत्वादि)–व्याप्त होना। 9 असर्वोपयोगे (रुधादि)–वच रहना। 1० शोषणे (दिवादि)–सूखना। 11 आलिङने (दिवादि)– आलिङन करना।

2 सकारान्त 1 अदने (भ्वादि)–खाना। 2 निवासे (भ्वादि)–रहना।

8 हकारान्त 1 भत्मोकरणे (भ्वादि)–जलाना। 2 उपचये (अदादि)–वद्धि होना। 3 प्रपूरणे (अदादि)–दुहना। 4 बन्धने (दिवादि)–बाँधना। 5 सेचने (भ्वादि)–7चाटना। 8 प्रापणे (भ्वादि)–ले जाना।

अनुदात्ता इति-हलन्त धातुओं में अनुदात्त ये 1०3 हैं।

इनको अनुदात्त होने से इट् नहीं होता।

गोपायाचकर्थ–लिट् लकार के प्रथम पुरुष एकवचन थल् में ृगोपायाम् चकृ थश इस स्थिति में यहाँ ृकृश धातु अजन्त एकाच् है। ऊद्ऋदन्तैः– इत्यादि कारिका में वर्जित धातुओं में न होने से यह अनुदात्त है। अतः ृएकाच उपदेशेनुदात्तात्श इस सूत्र से इट् का निषेध हो जायगा, तब गुण होकर रूप बनेगा।

गोपायाचकथुः गोपायाचक्र–यहाँ अपित् लिट् होने से अथुस्शऔर अश्के असंयोगात् लिट् कित्श्से कित् होने के कारण गुण निषेध होकर यण् आदेश हुआ।

गोपायाचकार–गोपायाचकर–ये दो रूप उत्तम के णल् के हैं। यह णल् णलुत्तमो वाश से विकल्प से णित् है। णित् पक्ष में ृअचो ञ्णितिश से वद्धि हो जाती है। अभाव पक्ष में गुण।

गोपायाचकृव, गोपायाचकृम– यहाँ इट् का निषेध हुआ है और असंयोगात् लिट् कित्श इस सूत्र से संयोग रहित कृश धातु से पर अपित् लिट होने के कारण वश्और मशकित् से गुण नहीं हुआ।

गोपायाचकार आदि रूप कृश्धातु के अनुप्रयोग में बने हैं।

गोपायाम्बभूव–आदि रूप भूश्के अनुप्रयोग में बनें।ृगोपायाम्श्के साथ भूश्के लिट् के रूप जोड़ देने मात्र से रूप बन जायँगे।

गोपायामास–अस् के अनुप्रयोग में अस्श्के लिट् के रूप जोड़ देने के रूप बन जायँगे। अस् के रूप अत्श्के समान बनेंगे–

प्र० गोपायामास, गोपायामासतुः, गोपायामासुः।

म० गोपायामासिथ, गोपायामासथुः, गोपायामास।

उ० गोपायामास, गोपायामासिव, गोपायामासिम।

उपर्युक्त ये सभी रूप ृआयश पक्ष में बनते हैं। आगे ृआयश के अभाव पक्ष के रूप दिये जा रहे हैं।

जुगोप– ृआयश के अभाव पक्ष में ृगुप्श को द्वित्व, अभ्यास कार्य हलादिशेष, चुत्व, लघूपध गुण होने पर रूप बनेगा

जुगुपतुः, जुगुपुः–अतुस और उस् के असंयोग से पर होने के कारण ृअसंयोगात् लिट् कित्श सूत्र से कित् होने से गुण निषेध हो जाता है।

स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-ऊदितो वा 7.2.44

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड वा। जुगोपिथ, जुगोप्थ। गोपायिता, गोपिता, गोप्ता। गोपायिष्यति; गोपिष्यति; गोप्स्यति, गोपायतु। अगोपायत्। गोपायेत् गोपाय्यात्। अगोपायीत्।

व्याख्या: स्व (शब्दोपतापयोः–शब्द करना और दुःख देना, भ्वादि) षूङ् (प्राणिगभविमोचने–पैदा करना, अदादि), षूङ् (प्राणि प्रसवे–पैदा करना, दिवादि) धूञ् कम्पने–हिलाना) और ऊदित् (जिनका दीर्घ ऊकार इत् हुआ हो) धातुओं से पर वलादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से हो।

गुप्श धातु का दीर्घृऊकारश इत् हुआ है। अतः ृऊदित्श होने से इसके आगे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट होगा।

जुगोपिथ, जुगोप्थ–वलादि आर्धधातुक थल् को विकल्प से इट् हुआ। अतःदो रूप बने, अन्य कार्य साधारण तो होंगे ही।

इसी प्रकार वश्और मश्में भी दो–दो रूप बनते हैं–जुगुपिव, जुगुप्व, जुगुपिम, जुगुप्म।

गोपायिता, गोपिता, गोप्ता– लुट् लकार में ृतास्श प्रत्यय आता है और वह आर्धधातुक है। अतः विकल्प से ृआयश प्रत्यय होगा।ृआयश प्रत्यय होने पर ृगोपायश धातु बनता हैं यह अनेकाच होने से सेट् है। इट् होने पर ृअतो लोपःश से ृआयश के अन्त्य अकार का लोप होकर गोपायिता रूप बनता है। आयश्के अभाव पक्ष में ऊदित होने से इट्

विकल्प के द्वारा गोपिता और गोप्ता ये दो दो रूप बनते हें। इस प्रकार ृआयश और ृइट्श इन दो विकल्पों से तीन रूप बनते हें

इसी प्रकार अन्य आर्धधातुक लकारों में लुट् लकार में ृआयश और ृइट्श दोनों के विकल्प से भी तीन–तीन रूप सिद्ध होंगे। लट् में –गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति।

सार्वधातुक लकारों में अर्थात लोट, लङ् और विधिलिङ् में ृआयश को विकल्प नहीं होता, अतः एक एक ही रूप बनता है।

लोट् में –गोपायतु आदिं लुङ् में –अगोपायत् आदि। विधिलिङ् में –गोपायेत् इत्यादि।

गोपाय्यात्, गुप्यात–आशीर्लिङ् में–यद्यपि यह आर्धधातुक है, तथापि–दो ही रूप बनते हैं। क्योंकि यहाँ यासुट् होता है और वह वलादि नहीं। अतः आय पक्ष में ृअतो लोपःश से आय के अन्त्य अकार का लोप होकर गोपाय्यात् और अभावपक्ष में गुप्यात् रूप बनते हैं। आशीर्लिङ् का यासुट् ृकिदाशिषिश से कित् है अतः गुण निषेध हो जाता है।

अगोपायीत्–लुङ् में ृआयश पक्ष में अगोपायीत आदि रूप बनते हैं। यहाँ भी ृआयश के अन्त्य अकार का लोप हो जाता है। अन्य प्रक्रिया पूर्ववत् होती है।

ृआयश के अभावपक्ष में ृसिच्श को विकल्प से इट् होता है। इट् होने पर ृवदव्रजहलन्तस्याचःश से धातु के अच् उकार को वद्धि प्राप्त होती है।

इसका निषेध अग्रिम सूत्र से हो जाता है।

116 नेटि 7.2.4

इडादौ सिचि हलन्तस्य वद्धिर्न। अगोपीत्। अगौप्सीत्। अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म।

व्याख्याः इडादि सिच् परे होने पर हलन्त धातु के अच् को वद्धि न हो।

इससे वद्धि का निषेध होने पर ृपुगन्तलधूपधस्य चश से लधूपध गुण हो जाता है। निम्नलिखित रूप बनते हैं–

प्र० अगोपीत्, अगोपिटाम्, अगोपिषुः।

म० अगोपीः अगोपिष्टम्, अगोपिष्ट।

उ० अगोपिषम्, अगोपिष्व, अगोपिष्म।

अगौप्सीत्–इडभाव पक्ष में–इट् न होने से ृइट ईटिश के द्वारा सिच् का लोप नहीं होता। शेष कार्य पूर्ववत् होते हैं। इट् न होने के कारण इडादि सिच् न मिलने से ही ृनेटिश से वद्धि का निषेध भी नहीं होता।

झलो झलि 8.2.26

झलः परस्य सस्य लोपो झलि। अगौप्ताम्, अगौप्सुः। अगौप्सीः, अगौप्तम्, अगौप्त। अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत् अगौप्स्यत्।

व्याख्याः झल् से पर सकार का लोप हो झल् परे होने पर।

अगौप्ताम्–अगौप् स ताम्श इस स्थिति में झल् पकार से पर सकार का झल् तकार परे होने से लोप हो जायगा, तब रूप बना।

अगौप्सुः–बहुवचन में ृसिजभ्यस्तविदिभ्यश्चसे झि को जुस्श्आदेश हो जाने से रूप बनता है।

अगौप्सीः–मध्यम के एकवचन में अट्, सिप्, इकार लोप, ईट्, वद्धि आदि कार्य होकर रूप सिद्ध होता है।

अगौप्तम, अगौप्त–तम्श और ृतश में भी झल परे मिल जाने से सकार का लोप हो जाता है। इस प्रकार ये दो रूप बनते हैं।

मिप् में ृअम्श आदेश हो जाने से अगौप्सम् और वस् मस् में अगौप्स्व, अगौप्स्म रूप बनते हैं

अगोपयिष्यत्–लङ् लकार में आर्धधातुक होने से आय का विकल्प और उदित् होने से इट् का विकल्प होने से तीन–तीन रूप होते हैं।

क्षि क्षये

क्षयति। चिक्षाय, चिक्षियतुः, चिक्षियुः। एकाचः-श इति निषेधे प्राप्ते-

व्याख्याः क्षि–धातु का अर्थ नाश होनाश्है। यह इकारानत अजन्त धातु है अतः लट् में साधन प्रक्रिया भूश्धातु के समान ही होगी। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ इकार को एश्गुण होकर अय्श्आदेश होगा।

प्र० क्षयति, क्षयतः, क्षयन्ति। म० क्षयसि, क्षयथः, क्षयथ। उ क्षयामि, क्षयावः, क्षयामः।

चिक्षाय–लिट् लकार में प्रथम के एकवचन णल् में धातु को द्वित्व,ृहलादि शेषःश से क्ष के आदि हल् ककार का शेष रहना, उसको चुत्व से चकार अभ्यासोत्तरखण्ड के इकार कोृअचो ञिणतिश से वद्धि ऐकार और उसकोृआमश आदेश होकर रूप बना।

चिक्षियतुः–अतुस्श में कित् होने से गुण निषेध हो जाने के कारणृअचिश्नु–धातुभ्रुवा य्वोरियङुवङौश सेृइयङ्श आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

चिक्षियुः–इसी प्रकारृउस्श में रूप बनता है।

एकाच इति–थल् मेंृएकाचश उपदेशेनुदात्तात्श सूत्र से इट् का निषेध प्राप्त होता है। इसके सम्बन्ध में निर्णय आगे किया जाता है।

कृ-स-भ-व-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवो लिटि 7.2.13

क्रादिभ्य एव लिट इट् न स्यात्, अन्यस्मादनिटोपि स्यात्।

व्याख्याः कृ आदि से ही परे लिट् को इट न हो, इनसे भिन्न धातुओं से चाहे वे अनिट्–अनुदात्त–हों, इट् हो।

यह नियम एकाच् अनुदात्त होने से है। क्योंकिृएकाच उपदेशेनुदात्तात्श सूत्र से इनको इट् निषेध सिद्ध है; पुनः इस सूत्र से उसका विधान किया गया है। औरृसिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमार्थो भवति–सिद्ध होनेपर भी जिस कार्यका पुनः विधान किया गया है। वह विधान नियमार्थ होता है।श यह वचन नियम करता है कि इन्हीं धातुओं को लिट् में इट् निषेध हो, अन्य को नहीं।

इस नियम के अनुसारृक्षिश धातु के लिट् को इट प्राप्त हुआ। क्योंकिृक्षिश धातुृकृश आदि आठ धातुओं में नहीं है, उनसे भिन्न को लिट् में इट् होता है चाहे वह अनिट् ही क्यों न हो।ृऊद्ॠदन्तैः–श इत्यादि कारिका सेट् अजन्त–धातुओं में न होने के कारणृक्षिश अनिट् है।

लिट् के थल्, व और म– ये तीन प्रत्यय हैं, जो वलादि होने के कारण इट् होने की योग्यता रखते हें। इन तीनों के लिये ही पूर्वोक्त नियम बना है। इस नियम को क्रासादि नियम कहते हैं। परन्तु थल् के लिए कुछ विशेष नियम हैं, जो आगे के सूत्रों से बनाये जाते हैं।

अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम् 7.2.61

उपदेशेजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट्, ततः परस्य थल् इट् (ण्) न।

व्याख्याः उपदेश में अजन्त जो धातु तास् में नित्य अनिट् हो उससे परेृथल्श को इट् न हो।

पूर्वोक्त क्रादि नियम से प्राप्त इट् का निषेध इस सूत्र से किया जाता है।

ृक्षिश धातु उपदेश में अजन्त भी है और तास् में नित्य अनिट भी है, क्योंकि अनुदात्त होने सेृएकाच उपदेशेनुदात्तात्श सूत्र से इसको निषेध हो जाता है। अतः इससे परे थल् को इट् का निषेध प्राप्त हुआ।

इस सूत्र का पदकृत्य अत्यावश्यक होने से ध्यान देने योग्य है–अजन्त धातु क्यों कहा? इसलिये कि बिभेदिथ में निषेध न हो, यहृभिद्श धातु का रूप है,ृभिद्श धातु अजन्त नहीं, इसलिये यहाँ निषेध की प्रवत्ति नहीं हुई।

उपदेश– में धातु अजन्त हो–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि जह्र्थ में भी इट् का निषेध हो, यह ह्रश्धातु का रूप है, गुण होने से अजन्त नहीं रह जाता, परन्तु उपदेश अवस्था में अजन्त है, अतः निषेध प्रवत्त हो जाता है।

नित्य अनिट् हो—यह क्यों कहा? इसलिए कि ृस्वश धातु में निषेध न हो क्योंकि ृवश धातु को ृस्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वाश से विकल्प से इट होता है, अतः नित्य अनिट् न होने से निषेध की प्रवत्ति नहीं होती।

तास् में अनिट् हो—ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि बभूविथ में निषेध न हो क्योंकि ृभूश धातु ृश्र्युकः कितिश और सनिग्रहगुहोश्च से इट् निषेध होने से ृभूत्वाश ओर बुभूषति यहाँ क्त्वा और सन् प्रत्यय में तो अनिट् है पर तास् में नहीं। ृतास्श में तो सेट् ही है, अतः इनको निषेध नहीं हुआ।

तास् में कहने का यह भी फल है कि जघसिथ में निषेध नहीं लगता क्योंकि ृघस्श का तास् में प्रयोग होता ही नहीं, वह तो ृलिट्यन्यतरस्याम्श सूत्र से लिट् में अद् के स्थान में होता है अतः तास् का अभाव होने से तास् में नित्य अनिट् होने की चर्चा इसके सम्बन्ध में नहीं जा सकती।

थल् में क्यों कहा? इसलिये कि चिक्षियिव और चिक्षियम यहाँ निषेध न हो। ये वश्और म के रूप हैं।

उपदेशेत्वतः 7.2.62

उपदेशेकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इट् न स्यात्।

व्याख्याः उपदेश में अकारवान् और तास् में नित्य अनिट धातु से पर थल् को इट् न हो।

इसका उदाहरण—पपक्थ। यह पच् धातु के थल् का रूप है। पच् धातु हलन्त अनुदात्त धातुओं में परिगणित होने से तास् में नित्य अनिट् है और उपदेश में अकारवान् भी है, अतः यहाँ इट् का निषेध हो गया।

इस सूत्र का भी पदकृतीय अत्युपयोगी होने से ध्यान देने योग्य है। उपदेश में अकारवान् हो ऐसा इसलिए कहा गया है कि जहाँ बाद को गुण आदि होकर अकारवान् बना हो, वहाँ निषेध न प्रवत्त हो जैसे—चकर्षिथ। यह कृष बिलेखनेश धातु का रूप है, उपदेश अवस्था में यहाँ ृऋकार है, अकार नहीं, गुण होने पर अवश्य अकार हो जाता है। इसलिए उपदेश में अकारवान् न होने से निषेध की प्रवत्ति नहीं हुई।

अकारवान् इसलिए कहा बिभेदिथ में निषेध हो। यह ृभिद्श धातु का रूप है, भिद् धातु अकारवान् नहीं।

तपर—ह्रस्व अकार कहने से ररोधिथ में निषेध नहीं हुआ। यह राध्श्धातु का रूप है, राध्श्धातु में ह्रस्व अकार नहीं।

तास् में नित्य अनिट् कहने से—जग्रहिथ में निषेध नहीं हुआ। यह ग्रहश्धातु अकारवान् तो है, पर तास् में नित्य अनिट् नहीं। हाँ ृजिघक्षतिश्यहाँ सन् में ृसनि ग्रहगुहोश्चश्से निषेध होने से अनिट् है। चक्रमिथ में भी इसलिए निषेध नहीं हुआ। यह क्रमश्धातु का रूप है और उसको ृस्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्तेश सूत्र से आत्मनेपद तास् में तो निषेध होता है, परस्मैपद में नहीं। अतः यह तास् में नित्य अनिट् नहीं। अतएव इसमें इस निषेध की प्रवत्ति नहीं हुई।

यद्यपि इन सूत्रों का तथा अग्रिम सूत्र का ृक्षिश धातु में उपयोग नहीं, तथापि थल् के इट् निषेध प्रसङ में ये सब कह दिये गये हैं।

ऋतो भारद्वाजस्य 7.2.63

तासौ नित्यानिट ऋदन्तादेव थलो नेड् भारद्वाजस्य मतेन। तेन अन्यस्य स्यादेव।

अयमत्र संग्रहः—

अजन्तोकारवान् वा यस्तास्यनिट्-थलि वेड् अयम। ऋदन्त ईदङ् नित्यानिद्, क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्।

चिक्षयिथ-चिक्षेथ, चिक्षियथुः चिक्षिय। चिक्षाय-चिक्षय, चिक्षियिव, चिक्षियिम। क्षेता। क्षेष्यति। क्षयतु। अक्षयत्। क्षयेत्।

(दीर्घविधिसूत्रम्)

व्याख्याः तास् में नित्य अनिट् ऋदन्त ही धातु से परे थल् को इट् न हो भारद्वाज के मत से।

इसलिए ऋदन्त भिन्न धातु से पर थल् को इट् आगम होगा ही।

पाणिनि मुनि ृअचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्श से सभी अजन्तों को थल् में इट् का निषेध करते हैं, परन्तु भाद्वाज केवल ऋदन्त को ही थल् में इट् का निषेध मानते हैं। पाणिनि ने उनका भी मत आदरार्थ प्रकट किया है। उस समय उन के मत से भी प्रयोग होता रहा होगा।

इस सूत्र के विषय को भारद्वाज–नियम भी कहा जाता है, इन चारों सूत्रों से प्रतिपादित विषय का अत्यावश्यक होने से एक कारिका में संग्रह कर दिया गया है, वह आगे लिखी जाती है।

अयमिति-यहाँ यह संग्रह हुआ।

अजन्त इत्यादि–अजन्त अथवा अकारवान् जो धातु तास् में अनिट् हो, उसको थल् में इट् विकल्प से होता है इस प्रकार –अर्थात् तास् में नित्य अनिट् के ऋकारान्त धातु को थल में इट् का नित्य निषेध होता है।ृकृश आदि से भिन्न अनिट् धातु को लिट्–व और म–में इट् हो।

तात्पर्य यह है किृकृ स भ वश के नियम में उन आठ धातुओं को छोड़कर सभी अनुदात्त–अनिट्–धातुओं को लिट्–थल्, व और म–में इट् सिद्ध होता है। उसमें थल के लिए पुनः विशेष नियम बना है। भारद्वाज ने थल् में केवल ऋदन्त धातुओं को इट् का निषेध किया है। उसके मत से ऋदन्त भिन्न अन्य अजन्त तथा हलन्त धातुओं को क्रादि नियम से इट् सिद्ध है परन्तु पाणिनि सभी अजन्त और हलन्तों में अकारवान् धातुओं को निषेध करते हैं। इस मतभेद के फलरूप में अजन्त–ऋदन्त से भिन्न और हलन्त अकारवान् धातुओं से परे थल् को इट् का विकल्प से होना सिद्ध होता है। ऋदन्त धातु को पाणिनि भीृअचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्श सूत्र से अजन्त होने के कारण निषेध करते हैं। इसलिए दोनों का एकमत होने से ऋदन्त धातु से परे थल् को इट् होता ही नहीं–यह फलित होता है। थल के निर्णय के अनन्तरृवश औरृमश बच रहते हैं। उनके लिए क्रादि नियम है। उन आठ धातुओं को छोड़कर सभी अनिट् धातुओं काृवशृमश में इट् हो जाता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए–यदि धातु अनेकाच् है, तब वह सेट् है। जैसे–जाग, चकास आदि। इनके विषय में निःशंक इट् कर देना चाहिये। ण्यन्त, सन्नन्त और यङन्त धातु भी अनेकाच् होने से सभी सेट् होते हैं।ृसनाद्यन्ता धातवःश से जिनकी धातुसंज्ञा होती है, वे धातु प्रायः –क्विबन्त आदि किसी–किसी को छोड़कर–अनेकाच् बन जाते हैं। अतः वे सभी सेट् है। इनके रूप बनाने में निःशंक इट् कर देना चाहिये।

धातु यदि एकाच् हो तो पहले यह देखना चाहिये कि यह अनुदात्त है कि नहीं? इसका पताृऊद्ऋ–श आदि संग्रह से चलता है। वहाँ से यह निर्णय करने के बाद–कि यह धातु अनिट है–लिट् का विचार करना चाहियै। अनिट् धातु के ही लिट् में इट् के निर्णय की आवश्यकता पड़ती है। यदि धातुृकृश आदि आठ धातुओं में हो तो उनकी सभी रूपों में लिट् में इट् का निषेध समझना चाहिये यदि इनसे भिन्न हो तो व और म में इट् कर देना चाहिये। थल् में–यदि ऋकारानत धातु हो तो इट् न करना चाहिये, यदि अजन्त अथवा अकारवान् हो तो विकल्प से करना चाहिये, इनसे भिन्न हो तो नित्य करना चाहिये।
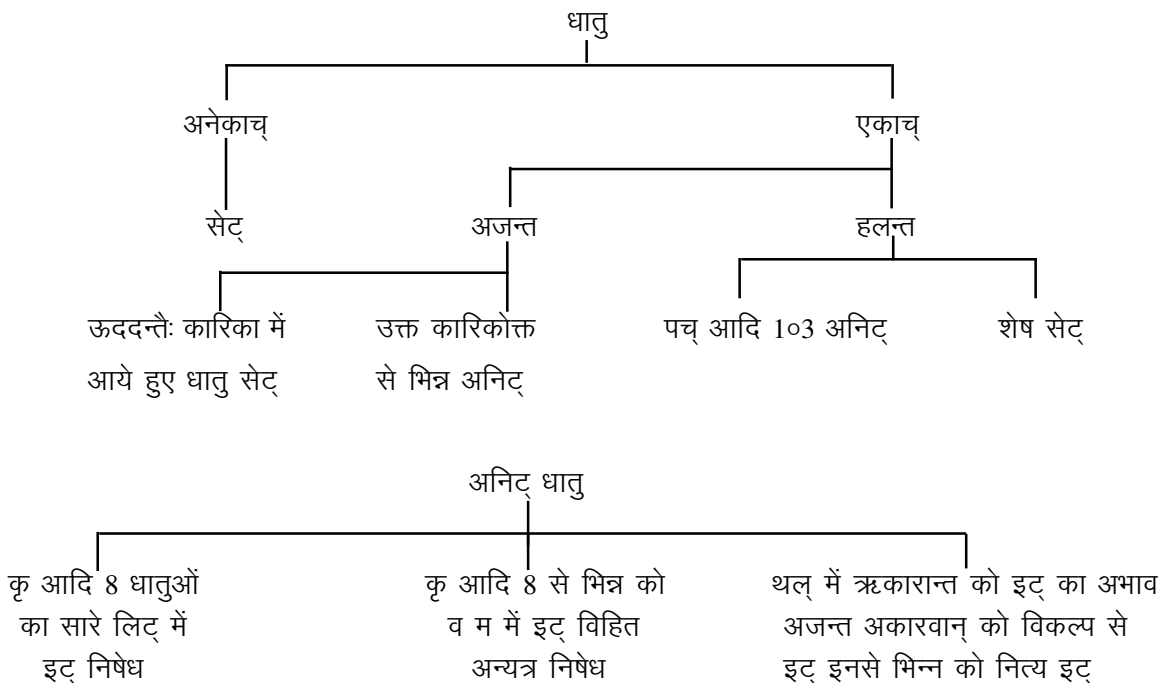
प्रकृत ृक्षिश धातु अनिट् और अजन्त है। इसलिये इससे परे थल् को भारद्वाज नियम से विकल्प से इट् होता है और व तथा म को क्रादि नियम से नित्य होता है, क्योंकि ृकृश आदियों में यह नहीं आया है।

चिक्षयिथ, चिक्षेथ—सिप् के स्थान में थल् होता है। तास् में नित्य अनिट् होते हुए अजन्त होने से संग्रह कारिका में बताये प्रकार से थल् को विकल्प से इट आगम होता है अतः स्थानिवद्भाव से थल पित् है। एवं अपित् न होने से असंयोगल्लिट् कित्श से कित् नहीं होता। तब आर्धधातुक गुण हो जाता है। इट् पक्ष में अच् परे होने से गुण एकार को अय् आदेश होता है। इडभावपक्ष में वैसे ही रहता है।

चिक्षियथुः–ृअथुस्श में गुण नहीं होता, अपितु ृइयङ्श होता है। क्योंकि ृअथुस्श अपित् लिट् होने से कित् है, उसके कारण गुण–निषेध हो जाता है।

इसी प्रकार अश्वश्और मश्में भी गुण नहीं, इयङ् होता है।

क्षेता—लुट् में तास् आने पर प्राप्त इट् का अनुदात्त होने से ृएकाच उपदेशेनुदात्तात्श से निषेध हो जाता है। तब आर्धधातुक गुण होकर क्षेता आदि रूप बनते हैं।

क्षेष्यति—लट् में भी ृस्यश आने पर पूर्ववत् इट ् का निषेध और गुण होने पर रूप बनता है।

लोट् लङ् और विधिलिङ् में शप् आने से पित् सार्वधातुक निमित्त गुण होकर रूप सिद्ध होते हैं।

अ-कृत्-सार्वधातुकयोः 7.4.25

अजन्ताङ्गस्य दीर्घो यादौ प्रत्यये, न तु कृत्सार्वधातुकयोः। क्षीयात्।

व्याख्याः अजन्त अङ की दीर्घ हो यकरादि प्रत्यय परे रहते, परन्तु कृत् और सार्वधातुक प्रत्यय परे हो तो न हो।

क्षीयात्–ृक्षि यात्श यहाँ आशीर्लिङ् में यकारादि यासुट् प्रत्यय परे होने से दीर्घ होकर रूप सिद्ध होता है। लिङाशिषिश से आशीर्लिङ् आर्धधातुक है, सार्वधातुक नहीं।

कृत् और सार्वधातुक प्रत्यय में निषेध करने से ृसंचित्यश और ृचिनुयात्शआदि स्थलों में दीर्घ नहीं हुआ। संचित्य यहाँ ल्यप् प्रत्यय हुआ है, वह यकारादि है पर कृत् है। अन्यथा यकारादि प्रत्यय पर होने से दीर्घ ही जाता, तब ृह्रस्वस्य पिति कृति तुक्श से ह्रस्वनिमित्तक तुक् आगम न हो सकता।ृचिनुयात्श में यकारादि यासुट् प्रत्यय है, पर यह सार्वधातुक है। विधिलिङ् में सामान्य –नियम से लिङ् सार्वधातुक होता है।

सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु 7.1.9

इगन्ताङ्गस्य वद्धिः स्यात् परस्मैपदे सिचि। अक्षैषीत्। अक्षेष्यत्।

व्याख्याः इगन्त अङ को वद्धि हो परस्मैपद के सिच् पर रहने पर।

अलोन्त्य परिभाषा के बल से वद्धि अङ्ग के अन्त्य इक की ही होगी।

अक्षैषीत–क्षिश्धातु के इगन्त अङ्गहोने से उसके इक् को प्रकृत सूत्र से वद्धि हो जाती है। तब यह रूप सिद्ध होता है।

प्र० अक्षैषीत्, अक्षैष्टाम्, अक्षैषुः म० अक्षैषीः अक्षैष्टम् अक्षैष्ट। उ० अक्षैषम्, अक्षैष्व, अक्षैष्म।

अक्षेष्यत्–लङ् में गुण होकर अक्षेष्यत् आदि रूप बनते हैं

तप सन्तापे

तपति। तताप, तेपतुः तेपुः। तेपिथ, ततप्थ। तप्ता। तप्स्यति। तपतु। अतपत्। तपेत्। तप्यात्। अताप्सीत्। अतप्स्यत्।

व्याख्याः तप इति–तप् धातु का अर्थ सन्तप्त होना–जलना–है।

तपति—लट् के प्रथम पुरुष के एकवचन में ृतप्+तिश इस दशा में शप् होकर रूप सिद्ध हुआ।

तताप—लिट् के प्रथम पुरुष के एकवचन में तिप् को णल् आदेश होने पर ृतप् अश इस दशा में धातु के एकाच को द्वित्व अभ्यासकार्य और उत्तरखण्ड को ृअत उपधायाःश से उपधा दीर्घ होने से रूप सिद्ध होता है।

तेपतुः—इसके कित् लिट् में ृअत एक हल्मध्येनादेशादेर्लिटिश सूत्र से अकार को एवं आदेश और अभ्यास का लोप होने पर रूप सिद्ध होगा।

तेपिथ ततथ्—इसी प्रकार थल् में भी इट् पक्ष में ृथलि च सेटिश से पूर्वोक्त कार्य होते हैं। इसको तास् में नित्य अनिट और अकारवान् होने से थल् में वैकल्पिक इट् होता है। जब इट् होता है तब सेट थल परे होने से अकार को एकार और अभ्यास का लोप होकर तेपिथ रूप बनता है। जब इट् नहीं होता, तब—ततप्थ रूप होता है।

तप्ता आदि—अन्य लकारों के रूपों में कोई विशेष कार्य नहीं होते।

अताप्सीत्—लुङ् प्रथम पुरुष के एकवचन में लुङ् लकार को तिप् आदेश और उसके इकार के लोप होने पर ृअतप् त्श इस दशा में च्लि, च्लि को सिच्, इच् की इत्संज्ञा लोप, अपक्त तकार को इट् आगम होने पर वदव्रजहलन्तस्याचः से धातु के अङ्गअकार को वद्धि होकर अताप्सीत् आदि रूप बनते हैं।

क्रमु पाद विक्षेपे. 124

(श्यन्प्रत्ययविधिसूत्रम्)

क्रम धातु का अर्थ ृचलनाश है।

वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-क्लमु-त्रसि-त्रुटि-लषः 3.1.70

एभ्यः श्यन् वा कर्त्रर्थे सार्वधातुकं परे। पक्षे-शप्।

(दीर्घविधिसूत्रम्)

व्याख्याः भ्राश्(चमकना) ,भ्लाश् (चमकना) ,भ्रम् (घूमना), क्रम् (चलना), क्लम् (खिन्न होना), त्रस् (डरना), त्रुट् (टुटना) और लष् (इच्छा करना) इन धातुओं से श्यन प्रत्यय हो कर्त्रर्थ (कर्तवाच्य) सार्वधातुक परे रहते विकल्प से।

श्यन् का यकार बचता है। शित् होने से यह भी सार्वधातुक है।

क्षे शबिति—पक्ष में शप्शहोगा। ये सब दिवादिगण की धातुयें हैं। इनका श्यन् का विधान किया गया है। और विकल्प से विधान के कारण सार्वधातुक लकारों में दो रूप बनते हैं।

क्रमः परस्मैपदेषु 7.3.76

क्रमो दीर्घः परस्मैपदे शिति। क्राम्यति, क्रामति। चक्राम। क्रमिता। क्रमिष्यति। क्राम्यतु, क्रामतु। अक्राम्यत्, अक्रामत्। क्राम्येत् क्रामेत्। क्रम्यात्। अक्रमीत्। अक्रामिष्यत्।

व्याख्याः क्रमश धातु के अच् को दीर्घ हो परस्मेपद शित् प्रत्यय पर होने पर।

अच् ही दीर्घ होताहै। अतः यहाँ अच् अकार को ही दीर्घ होगा।

क्राम्यति, क्रामति—श्यन् और शप् दोनों शित् हैं, अतः दोनों स्थलों में दीर्घ होने से रूप सिद्ध हुए हैं।

परस्मैपद पर रहते विधान होने से आत्मनेपद में दीर्घ नहीं होता। अतः आत्मनेपद में क्रमते रूप बनता है। क्रम धातु यहाँ तो परस्मैपदी बताई गई है, पर अकर्मक होने में ृअकर्मकाच्चश सूत्र से और प्र तथा उप उपसर्ग के योग में ृप्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् सूत्र से आत्मनेपदी हो जाता है। और भी कुछ स्थल हैं जहाँ क्रम धातु आत्मनेदी हो जाता है। उन सब स्थलों में दीर्घ नहीं होगा।

लिट् में—प्र० चक्राम—चक्रमतुः, चक्रमुः,। म० चक्रमिथ, चक्रमथुः, चक्रम। उ० चक्राम—चक्रम, चक्रमिव, चक्रमिम।

अक्रमीत्—लुङ् में मान्त होने से हलन्तलक्षण वद्धि का ृह्ययन्तक्षणश्व सजागणिश्व्येदिताम्श इस सूत्र से निषेध होकर अक्रमीत् आदि रूप बनते हैं।

उपसर्ग के योग में —

प्रक्रमते—आरम्भ करता है। प्रक्रामति—जाता है।

उपक्रमते आरम्भ करता है। संक्रामति—संक्रमण करता है।

आक्रमते–प्रकाश निकलता है।	आक्रामति–धूम आदि निकलता है। आक्रमण करता है।
विक्रमते–शक्ति प्रकट करता है।	विक्रामति–फटता है।
पराक्रमति–पराक्रम करता है।	

पा पाने

पा धातु का अर्थ पीना है।

पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दशि-अर्ति-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ मन यच्छ-पश्य-ऋच्छ-धौ-शीय-सीदाः 7.3.78

पादीनां पिबादय स्युरित्संज्ञकशादौ प्रत्यये परे। पिबादेशोदन्तः, तेन न गुणः-पिबति।

व्याख्या5 पाश आदि धातुओं को ृपिबश आदि आदेश (क्रम से) हों, शित् प्रत्यय परे रहने पर।—

ये आदेश निम्नलिखित प्रकार से होंगे—

धातु	आदेश	अर्थ	धातु	आदेश	अर्थ
पा	पिब	पीना।	दाण्	यच्छ	देना
घ्रा	जिघ्	सूघना।	द्दश्	पश्य	देखना
ध्मा	धम	फूँकना, शंख। का बजना।	ऋ स	ऋच्छ धौ	जाना दौड़ना
स्था	तिष्ठ	ठहरना, रहना।	शद	शीय	नष्ट होना
म्ना	मन	अभ्यास करना।	सद	सीद	जाना या नष्ट होना

पिबादेश इति—पिब आदेश अकारान्त है, अतः पूर्व वर्ण होने से वकार की उपधा संज्ञा होगी, इकार की नहीं अतः उपधा न होने से इकार को ृपुगन्तलघूपधस्य चश से लघूपध गुण नहीं होता।

पिबति—पाश को इस सूत्र से अदन्त पिब आदेश होने पर उसके अकार तथा शप् के अकार का साथृअतो गुणेश से पररूप एकादेश होकर रूप सिद्ध होता हे।

पिबन्तिश में ृपिबश के अकार और शप् के अकार को पहले पररूप होगा। उसके अनन्तर अन्ति के अकार के साथ पररूप होता है।

प्र० पिबति, पिबतः, पिबन्ति। म० पिबसि, पिबथः, पिबथ। उ० पिबामि, पिबावः, पिबामः।

आत और णलः 7.1.34

आदन्ताद् धातोर्णल औकारादेश स्यात्। पपौ।।

व्याख्याः आकारान्त धातु से परे णल् के स्थान में औकार आदेश हो।

पपौ–ृपाश के आकारान्त होने से णल् को ृऔश आदेश हो जायगा। पा+औ यह स्थिति होने पर द्वित्व, अभ्यास कार्य ह्रस्व होकर ृपपा औरश इस स्थिति में आकार और औकार को सामान्य वद्धि एकादेश हाने पर पपौ रूप की सिद्धि हुई। पपा+अतुस् होने पर —

आतो लोप इटि च 6.4.64

अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः। पपतुः पपुः। पपिथ-पपाथ, पपथुः, पप। पपौ, पपिव, पपिम। पाता। पायति। पिबतु। अपिबत्। पिबेत।

व्याख्याः आर्धधातुक अजादि कित् डित् प्रत्यय और इट् आगम परे होने पर धातु के अवयव आकार का लोप हो।

आर्धधातुक का अन्वय इट् के साथ भी है। आर्धधातुक को आगम होने से ृयदागमा तद्गुणीभूताः तद्ग्रहणेन् गह्यन्ते–जिसको आगम हो वह आगम उसी का अङ्गबन जाता है और उसके ग्रहण से आगम का भी ग्रहण होता हैश इस परिभाषा के अनुसार इट् भी आर्धधातुक है।

पपतुः—अपित् लिट् होने से ृअतुस्श् ृअसंयोगल्लिट् कित्श से कित् होता है और वह अजादि भी है। अतः उसके परे रहते धातु के अवयव आकार का लोप हो जाता है। इस प्रकार पप् + अतुस् पपतुः रूप बना।

पपुः—इसी प्रकार ृउस्श में भी आकार का लोप होकर पपुः बना।

थल् व और म में इट् होने से लोप होता है। थल् में इट् विकल्प से होता है, क्योंकि यह अजन्त अनिट् धातु है। इट् पक्ष में आकार का लोप होकर पपिथ और अभावपक्ष में पपाथ रूप बनता है।

पाता लुट्, पास्यति लट्, पिबतु लोट्, और अपिबत् लङ्, पिबेत् विधिलिंङ् में प्रथम के एकवचन के रूप हैं। इनकी सिद्धि में कोई विशेष कार्य नहीं। इसी प्रकार अन्य वचनों ओर मध्यम तथा उत्तम पुरुष के रूप बनते हैं।

एर्लिङि 6.4.11०

घुसंज्ञकाना मा-स्थादीनां च एत्वं स्यात, आर्धधातुके किति लिङि। पेयात्।

ृगातिस्था-श इति सिचो लुक्-अपात्, अपाताम्।

व्याख्याः घुसञ्ज्ञक, मा, स्था, गा, पा, हा और सन् धातु को एत्व हो। घु मा आदि की अनुवत्ति।

घु–मा स्था–गा–पा जहाति–सां हलिश्सूत्र से आई है।

घुसंज्ञक धातु पीछे ृ455 नेर्गद –नद–पत–पद–घु–श इस सूत्र की टीका और टिप्पणी में बताये जा चुके हें।

अलोन्त्य परिभाषा से अन्त्य अल् को एकार होगा।

पेयात्–आशीर्लिङ् के स्थान में हुए आदेश तिङ् आर्धधातुक होते हैं और यासुट् आगम ृकिदाशिपिश से कित् है। आदेश के द्वारा लिङ् कित् है। इस प्रकार आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने से धातु के आकार को एकार होकर पेयात् रूप बनता है।

प्र० पेयात्, पेयास्ताम्, पेयासुः। म० पेयाः, पेयास्तम्, पेयास्त। उ० पेयासम्, पेयास्व, पेयास्म।

गातिस्थेति–लुङ् लकार में ृ441 गाति–स्था–घु–पा–भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु 2।4।77।श से सिच् का लोप हो जाता है। अतः–अपात्, अपाताम् रूप बनते हैं।

आतः 3. 4.110

सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस्।

व्याख्याः सिच् का लोप जहाँ हुआ हो, वहाँ आदत धातु से परे ही ृझिश को जुस् हो।

'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' सूत्र से झि को नित्य जुस् प्राप्त है। इस सूत्र के द्वारा यहाँ नियम बनाया गया है कि सिच् लोप होने पर आकारान्त धातु से परे ही झि को जुस् हो । लोप होने पर भी सिच् स्थानिवद्भाव से रहता है।

पा धातु से परे ृझिश को जुस् होने पर ृअपा उस्श यह स्थिति बनी।

उसि-अपदान्तात् 6.1.16

अपदान्ताकाराद् उसि पररूपमेकादेशः। अपुः। अपास्यत्।

व्याख्याः अपदान्त अवर्ण से परे उस् हो तो पूर्व पर दोनों के स्थान में पररूप एकादेश हो।

अपुः—अपा+ उस् इस स्थिति में ृउस्श के अच् ृउकारश के साथ आकार का पररूप होता है। अतः आकार और उस् के उकार के स्थान में पर उकार का पररूप एकादेश होने से रूप बनता है।

ग्लै हर्षक्षय

ग्लायति।

(आत्वविधिसूत्रम्)

ग्लैश का अर्थ है ृहर्ष का नाश होनाश अर्थात दुःखी होना।

ग्लायति–लट् को तिबादि आदेश होने पर शप् होगा और उसके अकार के परे रहते ऐकार को ृआय्श आवेश होकर रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार लट् के अन्य रूप भी बनते हैं। लिट् लकार में ग्लै+णल्

आद् एच उपदेशेशिति 6.4.45..

उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्वम्, न तु शिति। जग्लौ। ग्लाता। ग्लास्यति। ग्लायतु। अग्लायत्। ग्लायेत्।

व्याख्याः उपदेश में एजन्त धातु को आत्व हो, परन्तु शित् प्रत्यय परे रहते न हो।

अलोन्त्यश परिभाषा से धातु के अन्त्य एच् को ही आत्व होता है।

ग्लैश धातु उपदेश अवस्था में एजन्त है, इसके ृऐश कार को आत्व होता है।, लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में शप् होने से यह नहीं होता। शेष शिद् भिन्न स्थलों में होता है। लिट् में शप् होता नहीं, अतः आत्व हो जाता है। आत्व होने पर धातु आकारान्त बन जाता है, तब आकारान्त ृपा पानेश धातु के समान ही रूप बनते हैं।

जग्लौ–आत्व, णल् को औ आदेश, द्वित्व, अभ्यासकार्य और वद्धि करने से रूप सिद्ध हुआ।

प्र० जग्लौ, जग्लतुः जग्लुः। म० जग्लिथ–जग्लाथ, जग्लथुः जग्ल। उ० जग्लौ, जग्लिव, जग्लिम।

लुट् में–ग्लाता, लट् में–ग्लास्यति, लोट् में –ग्लायतु, लङ् में–अग्लायत् और विधिलिङ् में–ग्लायेत् रूप बनते हैं। आशीर्लिङ में–

वान्यस्य संयोगादेः 6.4.68

घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात एत्वं वार्धाधातुके किति लिङि। ग्लेयात ग्लायात्।

(इट्–सक् विधिसूत्रम्)

व्याख्याः आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने पर घुमास्था आदि से भिन्न संयोगादि धातु के आकार को एकार विकल्प से हो।

ग्लेयात्, ग्लायात्–ृग्लैश धातु पूर्वोक्त घु–मा–स्था आदि से भिन्न है और संयोगादि भी है, अतः आशीर्लिङ् आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते एत्व विकल्प होकर ृग्लेयात्श और ृग्लायात्श ये दो रूप बनते हैं।

यम-रम-नम-आतां सक् च 7.2.73

एषां सक् स्याद् एभ्यः सिच् इट् स्यात् परस्मैपदेषु अग्लासीत्। अग्लास्यत्।

व्याख्याः यम् (निवत्त होना), रम् (क्रीड़ा करना, रमण करना), नम् (नम्र होना, प्रणाम करना) और आकारान्त धातुओं को सक् आगम हो तथा इनसे पर सिच् को इट् हो परस्मैपद में।

सक् में केवल ृसश शेष रहता है और यह धातु को होता है, अतएव धातु का अवयव बनता है। इट् सिच् को होता है।

अग्लासीत्–ृग्लैश को ृआदेच उपदेशेशितिश से लुङ् में आकार अन्तादेश होकर ृग्लाश आकारान्त बन जाता है। अतः अ ग्ला स् ई त्श इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से धातुको सक् और सिच् को इट् आगम हो जाते हें। तब ृअग्ला स् इ स् ई त्श यह दशा होती है। इसमें ृइट ईटिश से सिच् का लोप होकर सवर्ण दीर्घ करने पर ृअग्लासीत्श रूप सिद्ध होता है।

यद्यपि इट् करने से सिच् का लोप हो जाता है और पुनः सक् करके ृ'स'श्लाकर ृअग्लासीत्श रूप बनाया गया है।

ऐसी प्रक्रिया में गौरव मालूम पड़ता है। उसकी अपेक्षा इस सूत्र को न लगाकर इट् के अभाव होने पर सिच् का लोप न कर, सश रहने देकर रूप सिद्ध करने में लाघव है। तथापि, अग्लासिष्टाम्श आदि में सिच् और सक् दोनों का श्रवण रहता है—वहाँ यह विधि चरितार्थ है। उन स्थलों के लिये आवश्यक होने से यहाँ भी प्राप्ति होने से यह सूत्र प्रवत्त हो जाता है।

ग्लैश धातु अनिट् है, इसलिये सिच् को इट् प्राप्त नहीं था।

द्विवचन ताम् में सिच् होने पर, अग्ला स् तामश इस दशा में सक् और सिच् को इट् आगम होने से, अग्लास् इ स् ताम्' यह स्थिति बनती है। इसमें प्रत्यय सिच् के सकार को इण् इट् के इकार से परे होने के कारण मूर्धन्य षकार होने पर ष्टुत्व से तकार को टकार होकर, अग्लासिष्टाम्श रूप बनता है।

बहुवचन में, झिश को, जुस्श होकर पूर्ववत् सारे काम करने पर अग्लासिषुः रूप बनता है।

इसी प्रकार—म० अग्लासीः, अग्लासिष्टम्, अग्लासिष्ट।

उ० अग्लासिषम, अग्लासिष्व, अग्लासिष्म। ये रूप बनते हें।

अग्लास्यत्—लङ् के प्रथम पुरुष के एकवचन में अट्, लकार को तिप्, पकार का लोप, इकार का लोप और स्य प्रत्यय होने पर, आदेच उपदेशेशितिश सूत्र से धातु के एच ऐकार को आकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

ह्व कौटिल्ये

ह्वरति।

व्याख्याः ह्व धातु का अर्थ है कुटिल आचरण करना।

ह्वरति—लट् में तिप् शप् और सार्वधातुक गुण करने पर, ह्वरतिश रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य रूप बनते है। लिट्, परे होने पर—

ऋतश्च संयोगादेर्गुणः 7.4.10

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो लिटि।

पधाया वद्धिः-जह्वार, जह्वरतुः, जह्वरुः। जह्वर्थ, जह्वरथुः, जह्वर। जह्वार-जह्वर, जह्वरिव, जह्वरिम। ह्वर्ता।

व्याख्याः ऋदन्त संयोगादि अङ्ग को गुण हो लिट् परे होने पर।

अलोन्त्यश परिभाषा से गुण अन्त्य अच् को होता है।

जह्वार—ह्व धातु के लिट् में इस सूत्र से गुण होगा। क्योंकि यह ऋदन्त भी है और संयोगादि भी। प्रथम के एकवचन में तिप्, उसको णल आदेश, णित् होने से अचो ञ्णितिश्से ऋकार को वद्धि प्राप्त होती है, उसको बाधकर पर होने के कारण पहले इस सूत्र से गुण होगा। तब, जह्वर् अश्ऐसी स्थिति बनने पर, अत उपधायाःश्से उपधा अकार को आकार वद्धि होकर, जह्वारश रूप बनता है।

यद्यपि पहले ही ऋकार को आर् वद्धि कर देने से भी यह रूप सिद्ध हो सकता है, पहले गुण की प्रवत्ति होगी। इसका फल कित् लिट् में भी है। अतः

जह्वरतुः—यहाँ अतुस् अपित् लिट् होने से कित् है। अतः आर्धधातुक गुण का निषेध यहाँ हो जाता है। ऐसी दशा में यह सूत्र गुण करता है।

जह्वर्थ—यहाँ यद्यपि थल् के पित् होने से कित् न होने के कारण आर्धधातुक गुण करने से रूप सिद्ध हो जाता है, तथापि पर होने से इसी सूत्र के द्वारा गुण होता है। इस प्रकार यह रूप सिद्ध होता है।

ऋदन्त ईदङ् नित्यानिट्श के अनुसार ऋदन्त होने से इसके थल् को इट् नहीं होता। पाणिनि के मत में अजन्त होने से, अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्श से और भारद्वाज के मत से ऋदन्त होने के कारण, ऋतो भारद्वाजस्यश से इट निषेध हो जाता है।

जह्वरिव, जह्वरिम—वश और ृमश में क्रादि नियम से इट् प्रकृत सूत्र से ऋकार को गुण अर् आदेश होकर ृजह्वरिवश और जह्वरिम रूप सिद्ध होते हें।

ह्वर्ता—आदि रूप लुट् में बनते हैं। ह्व अजन्त धातु है, अजन्त सेट् संग्रहकारिका ऊद्ऋदन्तैः—में ग्रहण न होने से यह अनुदात्त है, अतः इसके आगे वलादि आर्धधातुक को इट् नहीं होता तब आर्धधातुक गुण होकर रूप सिद्धि होती है।

ऋद्धनोः स्ये 7.2.70

ऋतो हन्तेश्च स्यस्येट् ह्वरिष्यति। ह्वरतु। अह्वरत्। ह्वरेत्। 141

व्याख्याः ह्रस्व ऋकारान्त और हन् धतु से परे स्यश्को इट् हो।

ह्रस्व ऋकारान्त धातु ृऊद्ऋदन्तै— कारिका में परिगणित न होने से और ृहन्श भी हलन्त अनुदात्तों में पाठ होने से अनिट हैं। उन्हें ृस्यश में विशेष रूप से इस सूत्र से इट् विधान किया गया है।

ह्वरिष्यति—ृह्वश धातु ऋकारान्त है। अतः इससे पर ृस्यश को इट् बनते हैं।

हन् का उदाहरण हनिष्यति अदादि गण में आयगा।

ह्वरतु, अह्वरत्, ह्वरेत्—लोट्, लङ् और विधिलिङ् के रूप यथा पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध होते हैं। आशीर्लिङ् में—

गुणोर्ति-संयोगाद्योः 7.4.29

अर्तेः संयोगादेऋदन्तस्य च गुणः स्यात्, यकि यादावार्धधातुके लिङि च ह्वर्यात्। अह्वार्षीत्। अह्वरिष्यत्।

व्याख्याः ऋ (जाना आदि) और संयोगादि ऋदन्त धातु को गुण हो, यक् और यकारादि आर्धधातुक लिङ् परे रहते।

अलोन्त्यपरिभाषा के बल से गुण अन्त्य ऋकार को होता है। यक् और यकारादि अर्धधातुक लिङ् के कित् होने से निषेध हो जाने के कारण यहाँ गुण प्राप्त नहीं था, अतः इस सूत्र से विधान किया गया।

आशीर्लिङ् आर्धधातुक लिङ् है, क्योंकि उसके स्थान में हुए तिङ् आदेशों की ृलिङाशिषिश से आर्धधातुक संज्ञा है, आदेश के द्वारा लिङ् भी आर्धधातुक कहा जाता है।

ह्वर्यात्—ृह्व+यात्श इस अवस्था में ऋ को गुण होकर ह्वर्यात् रूप बना।

ऋश का उदाहरण—अयात् आगे जुहोत्यादि गण में मिलेगा।

अह्वार्षीत्—लुङ् लकार में अट्, तिप्, इकार लोप, सिच्, अपक्त तकार को ईट आगम होने पर धातु के ऋकार को ृसिचि वद्धिः परस्मैपदेषुश्से हलनत लक्षण वद्धि ृआर्श होकर रूप सिद्ध होता है। वद्धि होने पर इण् रकार से पर प्रत्यय के अवयव सकार को ृआदेशप्रत्यययोःश से मूर्धन्य षकार हुआ।

अह्वरिष्यत्—लङ् में ृस्यश को ृऋद्धनोः स्येश से इट् होकर रूप बना।

श्रु श्रवणे

व्याख्याः श्रु धातु का अर्थ सुनना है।

श्रुवः श च 3.1.74

श्रुवः 'श्' इत्यादेशः स्यात्, 'श्नु' प्रत्ययश्च। शृणोति,

व्याख्याः श्रुधातु को श्ः आदेशहो औरृश्नुश्प्रत्यय भी।

श्नुश्का श्श्इत्संज्ञक है, अतः शित् होने से यह सार्वधातुक है।

यह श्नुश्प्रत्यय ृशप्श का अपवाद है, अतः इसकी प्रवत्ति शप् के विषय कर्त्रर्थ सार्वधातुक में ही होती है। अतः लुट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में ही ृश्नुश प्रत्यय और श नु तिश यह स्थिति हुई। यहाँ तिप् सार्वधातुक के परे होने से नुश के उकार को अङ्ग के अन्त्य होने से सार्वधातुकर्धधातुकयोः, से गुण ओकार हुआ। तब ृऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्श से नकार को णकार होकर रूप सिद्ध हआ।

यहाँ ृश्नुश प्रत्यय के अपित् होने के कारण ृसार्वधातुकमपित्श सूत्र से ङिद्वत् होने से उसको निमित्त मानकर ृश्रश के ऋकार को गुण नहीं होता।

सार्वधातुकमपित् 1.2.4

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वत्। शृणुतः।

व्याख्याः अपित् सार्वधतुक ङित् के समान होता है अर्थात् ङित् को निमित्त मानकर जो गुण–वद्धि निषेध आदि कार्य होते हैं, वे इनमें भी होते हैं।

शृणुतः–तस् में पूर्ववत् श्नु प्रत्यय और ृश्रश आदेश होने पर णत्व होकर रूप सिद्ध होता है।

यहाँ नुश्के उकार को तस् सार्वधातुक निमित्तक गुण प्राप्त होता है।

तस्श अपित् सार्वधातुक है अतः इसको ङिद्वद्भाव हो जाता है। तब गुण का निषेध होता है।

हु-श्नुवोः सार्वधातुके 6.4.87

हुश्नुवोरनेकाचोसंयोगपूर्वस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके। शृण्वन्ति। शृणोषि, शृणुथः, शृणुथ। शृणोमि।

व्याख्याः हु[1] धातु तथा अनेकाच् श्नु–प्रत्ययान्त अङ्गके असंयोगपूर्व उवर्ण को यण् आदेश हो अजादि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

यह उवङ्श्का अपवाद है। ृआप्नुवन्तिश आदि में संयोगपूर्व श्नु के उकार को यण् का निषेध करने से उवङ् भी चरितार्थ हो जाता है।

शृण्वन्ति–यहाँ ृश्र णु + अन्तिश इस स्थिति में अपित् सार्वधातुक होने के कारण ृअन्तिश को ङिद्वद्भाव हो जाता है। अतः प्राप्त सार्वधतुक गुण का निषेध होता है। तब ृअचि श्नु धातुभ्रुवा य्वोरियङुवङौश से श्नु के उकार को उवङ् आदेश प्राप्त होता है। उसका बाध प्रकृत यण् विधि से होता है क्योंकि यहाँ श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग शृणुश है, उसका उकार असंयोपूर्व भी है। अतः प्रकृत सूत्र से यण् होकर रूप सिद्ध होता है।

हुश के उकार को यण् आदेश का उदाहरण ृजुह्वतिश इत्यादि जुह्वोत्यादि गण में मिलेंगे।

शृणोषि–में शृणोति के समान सारे कार्य होते हैं। षकार यहाँ विशेष है।

शृणुथः, शृणुथ–ृथस्श और ृथश के अपित् सार्वधातुक होने के कारण ङिद्वत् होने से 'श्नु' के उकार को गुण नहीं होता है।

शृणोमि–शृणोति के समान सिद्ध होता है।

'वस्' और 'मस्' में श्नु प्रत्यय और श्र आदेश तथा णत्व आदि करने पर 'शृणुवः' और 'शृणुमः' यह स्थिति बनती है।

लोपश्चस्यान्यतरस्यां भवोः 6.4.1०7

असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारम्य लोपो वा म्वोः परयोः। शृण्वः-शृणुवः, शृण्मः, शृणुमः। शुश्राव, शुश्रुवतुः, शुश्रुवुः। शुश्रोथ, शुश्रुवथुः शुश्रुव। शुश्राव-शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम।

व्याख्याः प्रत्यय के असंयोगपूर्व उकार का लोप हो विकल्प से मकार और वकार परे रहते।

शृण्वः, शृण्मः– 'शृणुवः' और 'शृणुमः' में प्रत्यय 'श्नु' का उकार है, उसके पूर्व संयोग भी नहीं, उससे पर वस् और मस् हैं अतः उसका विकल्प से लोप हो जाता है। इस प्रकार दो दो रूप बनते हैं।

उकार का विशेषण 'अससंयोगपूर्वस्य' देने का फल है–'आप्नुमः' इत्यादि स्थलों में उकार का लोप न होना। इन स्थलों में प्रत्यय के उकार के पूर्व संयोग है, अतः इस सूत्र की प्रवत्ति नहीं होती।

---

1. इस सूत्र की परष्कित वत्ति यह है–'जुहोतेः श्नुप्रत्ययान्तस्यानेका चोङ्गस्य चासंयोगपूर्वोवर्णस्य यण् स्यात् अजादौ सार्वधातुके'।

शुश्राव—लिट् में तिप्, णल् आदेश , द्वित्व, अभ्यासकार्य, वद्धि तथा आव्श्आदेश होकर रूप बनता है।

शुश्रुवतुः, शुश्रुवुः—अतुस् और उस् में उवङ् आदेश होकर रूप बनते हैं।

शुश्रोथ—थल् में पित् होने से आर्धधातुक गुण होकर रूप सिद्ध होता है। यहाँ 'कृसभवस्तुद्रुस्त्रुश्रुवो लिटि' सूत्र से 'श्रु' धातु का ग्रहण होने से इट् का निषेध हो जाता है।इसी से 'व' और 'म' में भी इट् नहीं होता है।

शुश्रुवथुः, शुश्रुव—अथुस् और अ में उवङ् आदेश होकर रूप होते हैं।

श्रोता—लुट में तास् और उसका कार्य होकर आर्धधातुक गुण से श्रोता आदि रूप बनते हैं।

श्रोष्यति—लट् में स्य, गुण और मुर्धन्य होकर रूप बन जाते हैं।

शृणोत्— लोट् में शप् का विषय परे रहते 'श्नु' प्रत्यय के उकार को गुण हो जाता है। तातङ् के ङित् होने से गुण न होकर श्रृणुतात् बनता है।

शृणुताम्— तस् के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वद्भाव के कारण गुण निषेध होता है।

शृण्वन्तु- अन्ति में 'हुश्नुवोः सार्वधातुके से यण् होता है।

लोट् के मध्यम पुरुष के एकवचन में सिप् में श्नुप्रत्यय और श्र आदेश तथा सिप् को हि आदेश होने पर 'शृणुहि' यह स्थिति हुई।

उतश्चप्रत्ययाद् असंयोगपूर्णात् 6.4.160

असंयेगपूर्वात् प्रत्ययाद् उतो हेलुक्। शृणु, शृणुतात् शृणुतम्, शृणुत।

गुणावादेशौ-शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम।

अशृणोत्,	अशृणुताम,	अशृण्वन्।
अशृणोः	अशृणुतम्	अशृणुत।
अशृणवम्,	अशृण्व—अशृणुव,	अशृण्म—अशृणुम।
शृणुयात्,	शृणुयाताम्,	शृणुयुः।
शृणुयाः,	शृणयातम्,	शृणुयात।
शृणुयाम्,	शृणुयाव,	शुणुयाम।

श्रुयात्। अश्रौषीत। अश्रोष्यत्।

व्याख्याः असंयोग[1] पूर्व जो प्रत्यय का उकार, तदन्त अङ्ग से परे 'हि' लुक् हो।

शृणु— 'शृणुहि' में 'णु' में स्थित उकार प्रत्यय का है और उससे पूर्व संयोग भी नहीं है, अतः तदन्द अङ्ग 'शृणु' से पर 'हि' का लोप हो गया। तब रूप सिद्ध हुआ। तातङ् पक्ष में—शृणुतात् ही बनेगा।

शृणवानि—मिप् में मि को 'नि' आदेश और पित् आट् का आगम होने पर 'नु' के उकार को गुण और 'अव' आदेश होकर रूप बनते हैं।

शृणवाव, शृणवाम—इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

अशृणोत्—लङ के प्रथम के एकवचन में। अशृणुताम— द्विवचन में गुण नहीं होता। अशृण्वन—बहुवचन में 'हुश्नुवोः सार्वधातुके से यण् होने से रूप बनता है। अशृणोः—सिप् में।

अशृणवम्—यहाँ मिप् को अम् होता है और उसके पित् होने से पूर्व श्नु के उकार को गुण होकर अवादेश होता है।

अशृण्व—अशृणुव, अशृण्म—अशृणुम—'वस्' और 'मस्' में 'लोप श्चान्यतरस्यां म्वोः' सूत्र से विकल्प से प्रत्यय के उकार का लोप होने से दो दो रूप बनते हैं।

---

1. असंयोगपूर्वो यः प्रत्ययोकारः, तदन्तादङ्गात्परस्य हेर्लुक्'इस परिष्कृत वत्ति के अनुसार यह अर्थ किया गया है।

श्रणुयात्–विधिलिङ् में श्नुप्रत्यय और श्र आदेश होने पर रूप सिद्ध होते हैं। यासुट् के ङित् होने से श्नु के उकार को गुण नहीं होता।

श्रूयात्–आशीर्लिङ् में अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होता है।

अश्रौषीत्–लुङ् में 'सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु' से वद्धि होती है।

प्र० अश्रौषीत्, अश्रौष्टाम्, अश्रौषुः। म० अश्रौषीः, अश्रौष्टम्, अश्रौष्ट। उ० अश्रौषम्, अश्रौष्व, अश्रौष्म।

उपसर्ग के योग में–आश्रणेति–नम्रता दिखाता है।

प्रतिश्रणोति–प्रतिज्ञा करता है।

इस धातु का अर्थ 'जाना' है। यह अनुदात्त–अनिट् भी है।

गम्ऌ गतौ

इस धातु का अर्थ 'जाना' है। यह अनुदात्त–अनिट् भी है। गम्+शप्+ति–

इषु-गमि-यमां छः 7.1.77

एषां छः स्यात् शिति। गच्छति, जगाम।

व्याख्याः इष् (इच्छा करना) गम् (जाना) और यम् (निवत्त होना) धातुओं को छकार आदेश हो शित् प्रत्यय परे होने पर।

अलोन्त्यपरिभाषा से छकार इनके अन्त्यवर्ण के स्थान में होता है।

सार्वधातुक लकारों में ही शप् शित् प्रत्यय परे होता है उन्हीं में छकार होगा।

गच्छति–गम् धातु के लट् में पित् और शप् होने पर अन्त्य मकार को छकार होगा और छकार को 'छे च' से तुक् आगम तथा तकार को श्चुत्व चकार होकर रूप बनता है।

इसी प्रकार अन्य रूप भी बनते हैं।

जगाम–लिट् में णल् में गम् गम् अ' इस दशा में हलदिशेष, चुत्व और उपधावद्धि होकर रूप सिद्ध होता है। गम्+ अतुस् होन पर–

गम-हन-जन-खन-घसां लोपः क्ङित्यनङि 6.4.98

एषामुपधाया लोपोजादौ क्ङिति, न त्वङि। जग्मतुः, जग्मुः। जगमिथ-जगन्थ, जग्मथुः, जग्म। जगाम-जगम, जग्मिव, जग्मिम। गन्ता।

व्याख्याः गम् (जाना), हन् (हिंसा करना), जन् (पैदा होना), खन् (खनना) और घस् (खाना) धातुओं की उपधा का लोप हो, अजादि कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर, परन्तु अङ् परे रहने पर न हो।

जग्मतुः–अतुस् में 'जगम् अतुस्' इस स्थिति में इससे उपधा लोप होने पर रूप बना।

जग्मुः– उस् में 'जग्मतुः' के समान रूप सिद्धि होती है।

जगमिथ–जगन्थ–थल् में इट विकल्प से होता है, क्योंकि गम् धातु तास् में नित्य अनिट् होते हुए अकारवान् है। इट् पक्ष में जगमिथ। इडभावपक्ष में मकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार और उसको 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण नकार होकर जगन्थ रूप बनता है।

जग्मिव, जग्मिम––'व' और 'म' में क्रादि नियम से नित्य इट् और अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वद् हुए व म प्रत्यय परे रहते 'गम्–हन्–जन्–इत्यादि सूत्र से उपधालोप होकर रूप सिद्ध होते हैं।

गन्ता–लुट् में अनुदात्त होने से 'एकाच उपदेशेनदात्तात्' सूत्र से इट् का निषेध हो जाता है और मकार को अनुस्वार, अनुस्वार को परसवर्ण नकार होकर गन्ता आदि रूप बनते हैं।

लट् में भी अनुदात्त होने से इट् का निषेध होता है–

गमेरिट् परस्मैपदेषु 7.2.58

गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु। गमिष्यति। गच्छतु। अगच्छत्। गच्छेत्। गम्यात्।

व्याख्याः गम् धातु से परे सकारादि आर्धधातुक को इट् हो परस्मैपद प्रत्यय पर होने पर।

गमिष्यति–यहाँ 'गम् स्य ति' इस स्थिति में गम् धातु से परे सकारदि आर्धधातुक स्य को परस्मैपद प्रत्यय ति परे होने से प्रकृत सूत्र के द्वारा इट् हो जाता है। तब इट् के इकार इण् से परे होने के कारण 'स्य' प्रत्यय के अवयव सकार को षकार आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

लट् के अन्य रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

गच्छतु– आदि में शित् प्रत्यय शप् परे होने से षकार का 'छ' हुआ है।

पुषादि-द्युतादि-लदितः परस्मैपदेषु 3.1.55

श्यन्विकरणपुषादेः, द्युतादेः, लदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु। अगमत् अगमिष्यत्। इति परस्मैपदिनः

व्याख्याः दिवादिगण के पुष् आदि, द्युत् आदि तथा लदित् धातुओं से परे 'च्लि' को अङ् आदेश ही परस्मैपद में।

अगमत्–गम् धातु के लदित् होने से लुङ् में 'च्लि' को अङ् होता है। –अङ्' क 'अ' शेष रहता है। यथा प्राप्त अन्य कार्य होकर रूप सिद्ध होता है।

प्रं अगमत्, अगमताम्, अगमन्। म० अगमः, अगमतम्, अगमत। उ० अगमम्, अगमाव, अगमाम।

अगमिष्यत्–लङ् में 'स्य' को 'गमेरिट्' सूत्र से इट् होकर 'अगमिष्यत्' आदि रूप बनते हैं।

अथ आत्मनेपदिनो धतवः.

अब आत्मनेपदी धातुयें प्रारम्भ की जाती है।

एध वद्धौ

व्याख्याः यह एध वद्धौ धातु वद्धि अर्थ में आता है।

टित आत्मनेपदानां टेरे 6.4.79

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम् एधते।

व्याख्याः टित् लकारों के स्थान में आदेश हुए आत्मनेपद प्रत्ययों के टि के स्थान में 'ए' कार आदेश हो।

'एध धातु से कर्त्ता अर्थ (कर्तवाच्य) में लट् लकार आने पर इसके स्थान में आत्मनेपद के प्रत्यय तङ् आदि होते हैं। क्योंकि 'एध' का अकार अनुदात्त और इत्संज्ञक है। अतः 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' के नियम से 'तिप्तस्झि' इत्यादि सूत्र से यथाक्रम से त आदि आदेश सिद्ध होते हैं।

एधते उनमें प्रथम के एकवचन में 'त' आदेश होने पर उसकी 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' से सार्वधातुक संज्ञा होती है। तब 'कर्तरि शप्' से शप् होकर 'एधत' यह स्थिति बनती हैं। यहाँ 'टि' को एकार करने पर रूप सिद्ध होता है।....

द्विवचन में 'आताम्' आदेश होने पर 'शप्' होकर 'एध् अ आताम्' यह दशा बनी। यहाँ'आताम्' अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है।

आतो ङितः 7.2.81

अतः परस्य ङिमाकारस्य 'इय्' स्यात्।एघेते। एधन्ते।

व्याख्याः अकार से पर ङित् प्रत्ययों के आकार को 'इय्' आदेश हो।

एधेते–'एध् अ आताम्' यहाँ आकार से परे ङित् प्रत्यय 'आताम्' के आदि आकार के स्थान में 'इय्' आदेश हुआ। तब 'एध् अ इय् ताम्' इस दशा में अकार और इकार को एकार गुण एकादेश, वल् तकार परे होने से 'लोपो व्योर्वलि' से यकार का लोप और टि 'आम्' को एकार होने पर रूप बनता है।

एधन्तै—बहुवचन में शप् होने पर 'झ्' को 'अन्त' आदेश 'टि' को एकार और शप् के अकार का अन्त के अकार के साथ पररूप होकर रूप सिद्ध होता है।

मध्यम के एकवचन में शप् होने पर 'एधथास' इस दशा में 'टित आत्मनेपदाना टेरे' से 'टि' को एकार प्राप्त होता है।

थासः सेः 3.4.80

टितो लस्य थासः से स्यात्। एधसे। एधेथे, एधध्वे। अतो गुणे-एधे, एधावहे, एधामहे।

व्याख्याः टित् लकारों के 'थास्' के स्थान में 'से' आदेश हो।

एधसे—इससे थास् को 'से' आदेश होने पर रूप सिद्ध होता है।

एधेथे—मध्यम के द्विवचन 'आथाम्' आने पर शप्, ङित् होने से प्रथम आकार को 'इय्' आदेश, आकार और इकार को एकार गुण एकादेश, टि 'आम्' को 'ए' होने पर रूप सिद्ध होता है।

एधध्वे—बहुवचन 'ध्वम्' की 'टि' 'आम्' को 'ए' होकर बनता है।

एधे—उत्तम के एकचन इट् में शप् आने पर 'एध् अ इ' इस दशा में टि 'इ' को एकार हो जाता है। 'अतो गुणे' से शप् के अकार का पररूप होने से रूप सिद्ध होता है।

एधावहे, एधामहे—द्विवचन में टि को एकार और 'अतो दीर्घो यञि' से यञादि वहि प्रत्यय परे रहते'एधावहे' और बहुवचन में इसी प्रकार 'एधामहे' रूप सिद्ध होता है। लिट् लकार में—

इजादेश्च गुरुमतोनच्छः 3.1.36

इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छत्यन्यः, तत आम् स्याल्लिटि।

व्याख्याः 'ऋच्छ' धातु से भिन्न गुरुवर्णवाले इजादि धातु से 'आम्' हो लिट् परे रहते।

'एध्' धातु का 'ए' एच् आदि है और वह गुरुमान् भी है, अतः इससे 'आम्' होने पर 'आमः' से लिट् का लोप हो जाता है। तब 'एधाम्' यह स्थिति बनी है। आमन्त होने से 'कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि' से लिडन्त कृ, भू और अस् का अनुप्रयोग होता है 'कृ' के अनुप्रयोग होने पर 'एधाम् कृ लिट्' यह दशा होती है। जब लिट् के स्थान में परस्मैपद आदेश प्राप्त है—

आम्प्रत्ययवत् कृञोनुप्रयोगस्य 1.3.63

आम् प्रत्ययो यस्माद् इति-अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात् कृञोप्यत्मनेपदम्।

व्याख्याः आम् प्रत्यय जिस धातु से होता है, आम प्रकृतिभूत उस धातु के समान अनुप्रयुज्यमान कृञ् धातु से भी आत्मनेपद हो।

आम् प्रत्यय इति—सूत्रस्थ 'आम्प्रत्ययवत्' पद में 'वत्' 'इव' के अर्थ में है और 'आम्प्रत्यय' यह बहुव्रीहि समास है। बहुव्रीहि भी 'अतद्गुणसंविज्ञान' है। 'आम्' प्रत्ययो यस्मात्—आम् प्रत्यय हुआ है जिससे' यह इसका विग्रह है।

तात्पर्य यह है कि कृञ् धातु ञित् होने से उभयपद है। अतः कर्तभिन्न परगामी क्रियाफल होने पर परस्मैपद प्राप्त होता है। उसकी यह सूत्र व्यवस्था करता है कि जिस धातु से आम् हुआ है यदि वह धातु आत्मनेपद है तो अनुप्रयुक्त कृञ् से भी आत्मनेपद हो अन्यथा नहीं। इस कारण 'गोपायाचकार' में आत्मनेपद नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ आम् की प्रकृति 'गुप्' धातु परस्मैपदी है।

प्रकृत में आम् 'एध्' धातु से हुआ है। वह आत्मनेपदी है, अतः उससे अनुप्रयुक्त कृञ् से भी 'आत्मनेपद' होता है।

यहाँ 'तद्गुणसंविज्ञान' का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। बहुव्रीहि दो प्रकार का होता है –1 तद्गुणसंविज्ञान, 2 अतद्गुणसंविज्ञान। 'तस्य अन्यपदार्थस्य प्रधनीभूतस्य, गुणाः विशेषणानि, संविज्ञायन्ते क्रियान्वचितया ज्ञायन्ते यत्र स तद्गुणसंविज्ञानः' यह तदगुणसंविज्ञान का विग्रह है। तात्पर्य यह है कि बहुव्रीहि में प्रायः अन्यपदार्थ प्रधान होता है और उसका ही क्रिया में अन्वय होता है। जहाँ विशेषणीभूत पदार्थो का भी अन्वय क्रिया में होता है, उसे तद्गुणसंविज्ञान कहा जाता है जैसे—पीताम्बरमानय—पीले कपड़ेवाले व्यक्ति को लाओ। यहाँ 'पीताम्बर' बहुव्रीहि

समास है। यहाँ अन्य पदार्थ पुरुष के विशेषणीभूत पदार्थ 'पीले कपड़े' का भी 'लाना' क्रिया में अन्वय होता है। उस पुरुष को कपड़ों सहित लाया जाता है। इस प्रकार यह 'तद्गुणसंविज्ञान' हुआ।

'तस्य–प्रधानीभूतस्य अन्यपदार्थ तय, गुणाः–विशेषणानि, न संविज्ञायन्ते–क्रियान्वयितया न प्रतीयन्ते इति' यह 'अतद्गुणसंविज्ञान' का विग्रह है। इसका तात्पर्य यह है–जहाँ प्रधान–अन्यपदार्थ–के विशेषण रूप में आये हुए पदार्थों का क्रिया में अन्वय नहीं होता, उसे 'अतद्गुणसंविज्ञान' कहते हैं। जैसे–'दष्टकाशीकमानय–जिसने काशी देखी हो, उसे लाओ।' यहाँ अन्यपदार्थ पुरुष के विशेषण रूप में आये हुए 'काशी' पदार्थ का आनयन–लाना–क्रिया में अन्वय नहीं होता, पुरुष के साथ काशी नहीं लाई जाती। अतः यह अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है।

प्रकृत में 'आम्प्रत्यय' पद में अतद्गुणसविज्ञान बहुव्रीहि है। क्योंकि अन्य पदार्थ धातु के साथ विशेषणीभूत आम् प्रत्यय का आत्मनेपद होने की क्रिया में अन्वय नहीं होता, आम्प्रत्यय आने पर तदन्त से तो कोई पद आता ही नहीं, वहाँ तो कृ आदि का अनुप्रयोग हो जाता है। अतः यह अतद्गुणसंविज्ञान है। अतएव वत्ति में इसका अर्थ 'आम्प्रकृति' किया गया है। आम्प्रत्यय के प्रकृतिभूत धातु के समान अनुप्रयुक्त कृा् से भी आत्मनेपद आता है' यह सारभूत अर्थ उक्त अतद्गुण–संविज्ञान का ही फल है।

'एधाम् कृ त' यह अवस्था हुई। इस अवस्था में–

लिटस्त-झयोरेश्-इरेच् 3.4.81

लिडादेशयोस्तझयोः 'एश्' इरेच्' एतौ स्तः। एधाचक्रे, एधाचक्राते, एधाचक्रिरे। एधाचकृषे, एधाचक्राथे–

व्याख्याः लिट् के स्थान में आदेश हुए 'त' और 'झ' को 'एश' और 'इरेच्' आदेश क्रम से हों।

'एश्' में शकार इत् है, अतः शित् होने से वह सम्पूर्ण 'त' को आदेश होती है। 'इरेच्' का चकार इत्संज्ञक है। यह अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'झ' के स्थान में आदेश होता है।

एधाचक्रे– इससे प्रकृत में 'त' को 'एश्' आदेश होने पर 'एधाम् कृ ए' इस दशा में द्वित्व, उरत्, चुत्व, यण्, म को अनुस्वार और उसको परसवर्ण होकर यह रूप बनता है।

एधाचक्राते– 'झ' में 'झ' को इरेच् आदेश् होने से सिद्ध होता है।

एधाचकृषे– थास् में उसको 'से' आदेश होकर सकार को इण् ऋकार से पर होने के कारण मूर्धन्य षकार हो 'एधाचकृषे' रूप होता है। वलादि आर्धधातुक होने से प्राप्त इट् का 'कृसभवस्तुद्रुस्त्रुश्रुवो लिटि' से निषेध हो जाता है।

एधाचक्राथे–आथाम् में पूर्ववत् सिद्धि होती है।

इणः षीध्वं-लुङ् लिटां धोङ्गात् 8.3.78

इण्णन्ताद् अङ्गत् परेषां षीध्वं -लुङ्-लिटां धस्य ढः स्यात। ए धाचक्रे एधाचकृवहे। एधाम्बभूव। एधामास। एधिता, एधितारौ, एधितारः। एधितासे, एधितासाथे-

व्याख्याः इण्णन्त अङ्ग से परे षीध्वम्, लुङ् और लिट् के धकार को ढकार हो।

एधाचकृढ्वे– 'ध्वम्' में ध्वम् के अन्तिम भाग 'अम' टि के स्थान में एकार होने पर सिद्ध हुई स्थिति 'एधाचकृ' अन्त में ऋकार होने से इण्णन्त है और उससे पर लिट् के मध्यम के बहुवचन 'ध्वम्' का धकार है, उसके स्थान में प्रकृत सूत्र से ढकार होकर रूप की सिद्धि होती है।

एधाचक्रे– 'इट्' में टि इकार को एकार होकर रूप सिद्ध होता है।

एधाचकृवहे, एधाचकृमहे– 'व' और 'म' में रूप बनते हैं। इनमें भी 'कृसभ' आदि सूत्र से इट् का निषेध होता है।

एधाम्बभूव, एधामास–भू के अनुप्रयोग में 'एधाम्बभूव' आदि और अस् के अनुप्रयोग में 'एधामास' आदि रूप बनते हैं।

लुट् में प्रथम के रूप परस्मैपदी धातुओं के समान ही बनते हैं–एधिता, एधितारौ, एधितारः।

एधितासे–मध्यम में–थास् को 'से' आदेश होने पर 'तासस्त्योर्लोपः' से सकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

एधितासाथे–आथाम् में टि 'आम्' को एकार होकर रूप बनता है।

धि च 8.2.25

धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः। एधिताध्वे।

व्याख्याः धकारादि प्रत्यय परे होने पर सकार का लोप हो।

एधिताध्वे–'एधितास् ध्वे' इस दशा में इससे सकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

ह एति 7.4.52

तासस्त्योः सस्य हः स्याद् एति परे। एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे। एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे।

('आम्' आदेशविधिसूत्रम्)

व्याख्याः तास् और अस् धातु के सकार को हकार हो एकार परे होने पर।

एधिताहे– 'एधितास् ए' यहाँ एकार परे होने से तास् के सकार को हकार होकर रूप सिद्ध होता है।

एधितास्वहे, एधितास्महे–यहाँ टि को ए हुआ है।

लट् में विशेष कार्य 'टि' को एकार आदेश करना है। शेष कार्य परस्मैपद के समान ही होते हैं।

लोट् के प्रथम पुरुष के एकवचन में टि को एकार करने पर 'एधते' यह स्थिति हुई।

आमेतः 3.4.90

लोट एकारस्याम् स्यात्। एधताम् एधेताम्, एधन्ताम।

व्याख्याः लोट् के एकार को 'आम्' आदेश हो।

एधताम्–'एधते' में एकार को 'आम्' आदेश करने पर रूप बनता है।

एधेताम्, एधन्ताम्–द्विवचन और बहुवचन में भी लट् के समान 'एधेते' और 'एधन्ते' बनाने के अनन्तर एकार को 'आम्' आदेश होकर रूप सिद्ध होते हैं।

मध्यम के एकवचन में लट् के समान एधसे' बनने पर 'आमेतः' से एकार को आम प्राप्त होता है।

स-वाभ्यां वामौ 3.4.19..

स-वाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद् वामौ स्तः। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्।

व्याख्याः वकार परे लोट् के एकार को क्रम से 'व' और 'अम्' आदेश हो।

यह सूत्र 'आमेतः' का अपवाद है।

एधस्व–सकार से पर ऐकार को व होकर रूप बना। इसी प्रकार ध्वम् लट् के समान 'ध्वे' बनने पर प्राप्त आम् आदेश को बाधकर 'अम्' होने से एधध्वम् रूप बनता है।

उत्तम में लट् के समान 'एधे' एधावहे, एधामहे' बनने पर एकार को आम् प्राप्त होता है। यहाँ आट् का आगम होता है। इसलिए इट् में 'एघ् अ आ ए' यह स्थिति रहती है। इसे सवर्ण दीर्घ होकर एधा ए' यह स्थिति बनती है।

एत ऐ 3.4.93..

लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात्। एधै, एधावहै, एधामहै। आटश्च-ऐधत, ऐधताम्, ऐधन्त। ऐधथा, ऐधेथाम्,ऐधध्वम् ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि।

व्याख्याः लोट् के उत्तम के एकार को ऐ हो।

यह भी 'आमेतः' का अपवाद है।

एधै–प्रकृत सूत्र से एकार को ऐकार होने पर आट् के साथ वद्धि होकर रूप बनता है।

एधावहै, एधामहै—द्विवचन और बहुचन में 'एध् अ आ वहि' और 'ए ध् अ आ महि' इस दशा में सवर्णदीर्घ और टि को ए होने पर 'एधावहे और 'एधामहे' इस दशा में एकार को प्राप्त आम् को बाधकर ऐकार आदेश हुआ। तब 'एधावहै' और 'एधामहै' रूप सिद्ध होते हैं।

लङ् में अजादि होने से 'आडजादीनाम्' सूत्र से अङ्ग को आट् का आगम होता है। तब 'आटश्च' से वद्धि एकादेश ऐकार होकर 'ऐधत' आदि रूप बनते हैं।

ऐधे—यहाँ शप् के अकार और इट् के इकार का गुण 'ए' कार होता है।

ऐधावहि, ऐधामहि—यहाँ शप् के अकार को याादि प्रत्यय 'वहि' ओर 'महि' परे होने से 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ होता है।

लिङः सीयुट 3.4.1०2..

'लिङात्मनेपदस्य सीयुडागमः स्यात्'। सलोपः-एधेत, एधेयाताम्।

व्याख्याः लिङ् के स्थान में आदेश हुए आत्मनेपद प्रत्ययो को सीयुट्' आगम हो।

सलोप इति—विधिलिङ् में सार्वधातुक होने से 'सीयुट' के सकार का लिङः सलोपोनन्त्यस्य' से लोप होता है।

एधेत—प्रथम के एकवचन में शप् होने पर 'एध् अ सीय् त' यह अवस्था हुई। यहाँ सार्वधातुक लकार होने से तदवयव सीयुट् के सकार का 'लिङःसलोपोनन्त्यस्य' से लोप होता है। तथा 'लोपो व्योर्वलि' से वल् तकार परे होने से यकार का भी लोप होता है। तब 'एध् अ ई त' इस दशा में 'आद् गुणः' से रूप बनता है।

एधेयाताम्— आताम् में सकार का लोप और अकार तथा ईकार को गुण एकार होकर 'एधेयाताम्' रूप सिद्ध होता है।

झ में सीयुट, उसके सकार का लोप और शबादि होने पेर एधेय् झ' या स्थिति होती है।

झस्य रन् 3.4.105..

लिङो झस्य रन् स्यात्। एधेरन्। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेव्वम्।

व्याख्याः लिङ् के 'झ' को रन् आदेश हो।

एधेरन्—'एधेय् झ' यहाँ 'झ' को रन् आदेश होने पर 'लापो व्योर्वलि' के यकार का लोप होकर 'एघेरन्' रूप सिद्ध होता है।

एधेथाः, एधेध्वम्—इनमें भी यकार का लोप हो जाता है।

इटोत् 3.4.1०6.

लिङाादेशस्य इटोत् स्यात्। एधेय एधेवहि, एधेमहि।

व्याख्याः **इति**—लिङ् के स्थान में हुए आदेश इट् को अत् आदेश हो।

'अत्' का अकार शेष रहता है।

एधेय—'एधेय् इ' यहाँ 'इ' को अकार करने पर 'एधेय' रूप बनता है।

एधेवहि, एधेमहि—यहाँ यकार का लोप हो जाता है।

आशीर्लिङ् में आर्धधातुक होने से 'सीयुट्' के सकार का लोप नहीं होता और वलादि आर्धधातुक होने से इट् आगम हो जाता है। तब 'ए ध् इ सीय् त' यह स्थिति बनती है।

सुट् तिथोः 3.4.1०7.

लिङस्तथोः सुट्। यलोपः आर्धधातुकत्वात् सलोपो न। एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन्। एधिषीष्ठाः एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वसम्। एधीषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि। ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्-

व्याख्याः लिङ् के तकार और थकार को 'सुट्' आगम हो।

यलोप इति—इस सूत्र से तकार और थकार को सुट् आगम होने पर 'एध् इ सीय् स् त' इस स्थिति में वलादि आर्धधातुक परे होने से यकार का लोप हुआ।

आर्धधातुकत्वादिति—आर्धधातुक होने से 'लिङः सलोपः–' से 'सीयुट्' के सकार का लोप नहीं होता।

तब 'एध् इ सी स् त' इस दशा में इण् से परे होने के कारण दोनों प्रत्यय के अवयव सकारों के मूर्धन्य षकार आदेश और ष्टुत्व से तकार का टकार हो कर एधिषीष्ट रूप सिद्ध होता है।

आताम् में तकार को सुट् होने से एधिषीयास्ताम् और झ में 'रन्' आदेश होने से यकार का लोप होकर एधीषीरन् रूप बनते हैं।

एधिषीष्ठाः थास् में थकार को सुट् आगम होकर मूर्धन्य आदेश होने पर थकार को ष्टुत्व ठकार होकर एधिषीष्ठाः यह रूप बनता है।

एधिषीध्वम्—यहाँ इण् इट् के इकार से पर 'षीध्वम्' है, पर अङग इण्णन्त नहीं, क्योंकि इट् आगम सीयुट् को होता है, उसी का अवयव वह है, उसके ग्रहण से उसका भी ग्रहण होगा। अतः यहाँ 'इषीध्वम्' इतना 'षीध्वम्' है और अङ्ग 'एध' इतना। इस प्रकार अङग इण्णन्त नहीं अतः 'इणः षीध्वम्' इत्यादि सूत्र से धकार को ढकार नहीं होता।

एधिषीय—यहाँ 'एध् + इ सीय् इ' इस स्थिति मं 'ईट्' को 'इटोत्' से अकार होने पर सीयुट् के सकार को मूर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध हुआ है।

ऐधिष्ट– एध् (लुङ्) आट्, वद्धि, त, च्लि्, उसको सिच्, इट्, षत्व और ष्टुत्व होकर रूप सिद्ध हुआ है।

एधिषाताम्– एध्, लुङ्, आट्, वद्धि, आताम् आदेश, च्लि, उसको सिच्, उसको इट् और षत्व करने से उक्त रूप सिद्ध होता है।

आत्मनेपदेष्वनतः 1.1.5.

अनकारात् परस्यात्मनेदेषु झस्य 'अत्' इत्यादेशः स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठाः ऐधिषाथाम्, ऐधिढ्वम। ऐधिषि, ऐधिष्वहि, ऐधिष्महि। ऐधिष्यत ऐधिष्येताम्, एधेधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि।

व्याख्याः अकारभिन्न वर्ण से पर आत्मनेद 'झ्' के स्थान में 'अत्' आदेश हो।

यह 'झोन्तः' का अपवाद है।

ऐधिषत—एध् धातु से पर 'झ्' को 'अत्' आदेश होगा, क्योंकि यहाँ वह अकार से पर नहीं, सिच् के सकार से परे है। इस प्रकार 'ऐधिषत' रूप बनता है।

ऐधिष्ठाः—एध् से लुङ्, आट् वद्धि, च्लि, सिच्, थास्, इट्, षत्व और ष्टुत्व ठकार होकर यह रूप सिद्ध होता है।

ऐधिढ्वम—एध् से लुङ, आट्, वद्धि, ध्वम्, च्लि, सिच्, इट, सलोप और ढत्व होकर रूप सिद्ध होता है।

यहाँ सकार का लोप 'धि च' से होता है और ढत्व 'इणः षीध्वं लुङ लिटां धोङ्गात्' से क्यों कि ध्वम् प्रत्यय पर रहते इण्णन्त अंग 'ऐधि' है, सिच् प्रत्यय धातु से होता है, और इट् आगम सिच का अवयव है। इस प्रकार 'तदादि' इण्णन्त अङ्ग मिल जाने से ढत्व हो जाता है।

ऐधिष्यत—आदि रूप लङ् लकार में बनते हैं। प्रक्रिया में कुछ अधिक विशेषता नहीं। लट् के समान ही कार्य होते हें। यहाँ ङित् लकार होने से आट् अधिक होता है और टित् लकार न होने से टि को एकार नहीं होता।

कमु कान्तौ.

इसका अर्थ है इच्छा करना।

कमेर्णिङ् 3.1.30

स्वार्थे। ङित्वात् तङ-कामयते।

व्याख्याः 'कम्' धातु से णिङ् प्रत्यय हो स्वार्थ में।

अय् आम्अन्ताल्वाय्येन्विष्णुषु 6.4.55..

आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु इष्णु-षु णेरयादेशः स्यात्। कामायाचक्रे। 'आयादयः-इति णि् ण् वा-चकमे चकमाते चकमिरे।चकमिषे चकमाथे, चकमिध्वे। चकमे, चकमिवहे, चकमिमहे। कामयिता, कमिता। कामयितासे। कामयिष्यते, कमिष्यते। कामयताम्। अकामयत। कामयेत। कामयिषीष्ट।

व्याख्याः णिङ् स्वार्थिक प्रत्यय है अर्थात् इसके द्वारा प्रकृति के अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता। इसके णकार और इकार इत्संज्ञक हैं,णि् होने का फल वद्धि आदि होना और ङित् होने का फल आत्मनेपद होता है।

कम् से णिङ् आने पर 'कम् इ इस' दशा में 'अत उपधायाः' से उपधावद्धि होकर 'कामि' बनता है। इसकी 'सनाद्यनता धातवः' से धातुसंज्ञा होकर लकारों की उत्पत्ति होती है।

ङित्वादिति—ङित् होने से कामि धातु से आत्मनेपद (तङ्) आता है।

कामयते—लट् में त, शप्, गुण, अय् आदेश और टि को एकार करने से यह रूप बनता है।

आगे भी इसी प्रकार रूप बनते हैं—कामयते, कामयते, कामयन्ते। कामयसे, कामयेथे, कामयध्वे। कामये, कामयावहे, कामयामहे।

लिट लकार में।

व्याख्या—आम, अन्त, आलु आय्य, इत्नु, और इष्णु इन प्रत्ययों के परे रहते णि को 'अय्' आदेश हो।

यह 'अम्' आदेश की विधि 'णेरनिटि' सूत्र से प्राप्त 'णि' लोप का अपवाद है।

कामयाचक्रे —**'**णिङ्' पक्ष में आम् होने पर णि को 'अय्' आदेश होकर 'कामयाम्' बनता है। 'कृ' का अनुप्रयोग होकर निम्नलिखित रूप बनते हैं।

कामयाचक्रे, कामयाचक्राते, कामयाक्रिरे।

कामायाचकृषे, कामयाचक्राथे, कामयाचकृढवे।

कामायाचक्रे कामयाचकृवहे कामयाचकृमहे।

आयादय इति—यहाँ 'आयादय आर्धधातुक वा' सूत्र से णिङ् विकल्प से होता है क्योंकि यह णिङ् आय् आदियों में आता है।

चकमे इत्यादि रूप णिङ् के अभाव में बनते है।

कामयिता, कमिता—लुट् में णिङ् विकल्प से दो दो रूप बनते है।

कामयताम्—आदि शेष रूप 'एध्' के समान ही बनते है।

विभाषेटः 8.3.79..

इणः परो य इट् ततः परेषा षीध्वं-लुङ्-लिटां धस्य वा ढ। कामयिषीढ्वम्, कामयिषीध्वम्। कमिषीष्ट, कमिषीध्वम्।

व्याख्याः इण् से परे जो इट्, उससे पर षीध्वम, लुङ् और लिट् के धकार को विकल्प से ढकार हो।

कामयिषीढ्वम इति—आशीर्लिङ के णिङ् पक्ष में ध्वम् में 'कामयिषीध्वम' इस दशा में इण् यकार से परे इट् है, उससे परे 'षीध्वम्' के धकार को विकल्प से ढकार होकर दो रूप बनते हैं।

कमिषीष्ट—यह आशीर्लिङ् का णिङ् के अभाव पक्ष का सूत्र है। यहाँ प्रथम पुरुष के एक वचन में 'कम् त' इस स्थिति में सीयुट, उट् का लोप, इट् आगम, तकार को 'सुट् तिथोः' से सुट् आगम, उट् का लोप, यकार का वलादिलोप और

सीयुट् के तथा सुट् के सकारों को मूर्धन्य षकार करने पर लकार को ष्टुत्व से टकार कर रूप सिद्ध होता है।

कमिषीध्वम्—णिङ् के अभावपक्ष में ध्वम् का रूप बनता है। यहाँ 'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोङ्गात्' इस सामान्य सूत्र से भी ढत्व नहीं होता, क्योंकि 'कम्' यह अङ्ग इण्णन्त नहीं, इट् तो सीयुट् का अवयव होने से अङ्ग का अवयव नहीं।

लुङ् लकार में 'अ काम इ च्लि त' इस अवस्था मे—

णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्यः कर्तरि चङ् 3.1.48.

ण्यन्तात् श्रयादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे। 'कामि अ त' इति स्थिते।

व्याख्याः ण्यन्त और श्रि, द्रु तथा स्रु धातु से पर 'च्लि' को चङ हो कर्त्रर्थ (कर्तवाच्य) लुङ् परे रहते।

इस सूत्र से 'च्लि' को चङ् हो गया। 'चङ्' के चकार और ङकार इत्संज्ञक हैं। केवल 'अ' कार बचता हैं ण्यन्त होने से यहाँ चङ् होता है। तब 'अ काम् इ अ त' यह स्थिति हुई।

'चङ्' की 'आर्धधातु' संज्ञा है।

णेरनिटि 6.4.51.

अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोपः स्यात्।

व्याख्याः 'अनिडादि (जिसके आदि में इट् हो) आर्धधातुक परे रहते 'णि' का लोप हो।

'अकाम् इ अ त' इस दशा में अनिडादि आर्धधातुक चङ् के पर होने से 'णि' का लोप हुआ। तब 'अ काम अ त' यह दशा हुई।

णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः 7.4.1..

चङ्परे णौ यदङ्गम्, तस्योपधाया ह्रस्वः स्यात्।

व्याख्याः चङ् है पर जिस से, ऐसे णि परे रहते जो अङ्ग, उसकी उपधा को ह्रस्व हो।

'अकाम् अ त' इस दशा में चङ् पर णि है, अर्थात् णि से परे चङ् है अतः अङग् 'काम्' की उपधा को ह्रस्व हो जायगा। अब 'अ कम् अ त' यह स्थिति बनी।

चङि 6.1.11..

चङि परे अनभ्यासस्य धात्ववयवस्येकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः अजादेर्द्वितीयस्य।

व्याख्याः चङ् परे रहते अभ्यासरहित (अर्थात् जिसको पहले द्वित्व न हुआ हो) धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व हो, किन्तु यदि धातु अजादि हो तो उसके द्वितीय एकाच् को हो।

प्रकृत में धातु का अवयव प्रथम एकाच् व्यपदेशिवद्भाव से 'कम्' है, यह अभ्यासरहित है और इससे चङ् परे है। अतः द्वित्व हो जायगा। तब 'अ कम् कम् अ त्' यह स्थिति हुई।

यहाँ अभ्यासकार्य करने पर 'अ च कम् अ त' यह स्थिति होती है।

सन्वत् लघुनि चङ् परेनग्लोपे 7.4.93..

चङ्परे णौ यदङ्, तस्य योभ्यासो लघुपरः, तस्य सनीव कार्यं स्वात्, णावग्लोपेसति।

व्याख्याः णि प्रत्ययान्त अङ्ग से परे चङ् हो, उस अङ्ग को अभ्यास से परे लघुवर्ण हो तथा अङ्ग के अक् का णि के कारण लोप न हो तो णि परे होने पर अङ्ग पर सन्वत् कार्य होते हैं, अर्थात् जो कार्य सन् प्रत्यय परे होने पर होते हैं वही कार्य होते हैं।

'अच कम् अ त' यहाँ चङ्—परक णि स्थानिवद्भाव से है। उसके परे रहते अङ्ग है 'अचकम्', इसका अवयव अभ्यास है च' वह लघु पर भी है, क्योंकि उसके आगे 'क' है, वह लघुस्वरयुक्त होने से लघु है, अतः यहाँ वे कार्य होंगे जो सन् परे रहते होते हैं। वे कार्य आगे बताये जा रहे हें। यहाँ पर णिनिमित्तिक अक् का लोप भी नहीं हुआ है।

सन्वद्भाव के दो फल है।, एक तो 'सन्यतः' से अभ्यास के अकार को इकार होना और दूसरा अभ्यास के लघु अच् को 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ करना है।

यदि णिनिमित्तक अक् का लोप हुआ हो, तो धातु को सन्वद्भाव नहीं होगा और अतएव वहाँ अभ्यास के अकार को इकार और दीर्घ न होंगे।

जैसे—अचकथत्। यह कथ्' धातु के लुङ् का रूप है। 'कथ' धातु चुरादि गण का है और अदन्त है, 'णि' आने पर 'अतो लोपः' से आर्धधातुक णि परे होने से अकर का लोप होता है। अकार अक् है, अतः यह णिनिमित्तक अग्लोपी है। अतएव सन्वद्भाव नहीं होता।

'णिनिमित्तक' कहने से यदि अन्य कारण से अक् का लोप हुआ हो तो वहाँ सन्वद्भाव हो जाता है। जैसे—'डुपचष्' धातु है, यहाँ अकार का लोप होता है, पर णि को निमित्त मानकर नहीं, अपितु 'उपदेशेजननुनासिक इत्' सूत्र से किसी विशेष निमित्त के बिना ही हो जाता है। अतः यहाँ सन्वद्भाव का निषेध नहीं होता। सन्वद्भाव होने पर अभ्यास अकार को इकार और उसको दीर्घ हो जाता है। तब 'अपीपचत्' रूप बनता है।

सन्यतः 7.4.79..

अभ्यासस्यात इत् स्यात् सनि।

व्याख्याः अभ्यास के अकार को इकार हो सन् परे होने पर। इसके उदाहरण सन्नन्त—प्रक्रिया में 'जिगमिषति' आदि मिलेंगे।

प्रकृत में सन्वद्भाव होने के कारण इसकी प्रवत्ति होगी। 'अ च कम् अ त' इस दशा में अभ्यास के अकार को इकार कर देने से 'अ चिकम् अ त' यह दशा हुई।

दीर्घो लघोः 7.4.94..

लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भावविषये। अचीकमत। णिङभावपक्षे-

व्याख्याः अभ्यास के लघु को दीर्घ हो सन्वद्भाव के विषय में अर्थात् जहाँ सन्वद्भाव होता हो, वहाँ अभ्यास के लघु को दीर्घ हो।

सन्वद्भाव होता है चङ्—परक णि परे रहते जो अङ्ग उसके लघुपरक अभ्यास को, अतः यह सूत्र भी उपयुक्त स्थल में ही काम करेगा।

अचीकमत—'अचि कम् अ त' इस स्थिति में सन्वद्भाव का विषय होने से प्रकृत सूत्र से अभ्यास के लघु इकार को दीर्घ करने पर रूप सिद्ध हुआ।

अचीकमत,	ओचकमेताम,	अचीकमन्त।
अचीकमथाः,	अचीचकमेथाम,	अचीकमध्वम्
अचीकमे	अचीकमावहि,	अचीकमामहि।

णिङ् के अभावपक्ष में—

(वा) कमेश्च्लेश्लचङ् वाच्यः। अचकमत।

व्याख्याः कम् धातु से परे 'च्लि' को चङ् हो।

अचकमत—चङ् होने से द्वित्व होता है और तब द्वित्व आदि कार्य करने पर रूप बनता है।

इसमें णि के न होने से सन्वद्भाव नहीं होता अतएव अभ्यास को इकार और इकार को दीर्घ भी नहीं होता।

अकामयिष्यत—यह लङ् प्रथम प्ररुष एक वचन का णिङ् के अभाव पक्ष का रूप है।

अय गतौ .185

('लत्व' विधिसूत्रम्)

व्याख्याः इस धातु का अर्थ जाना है।

अयते—आदि लट् में रूप बनते हैं। शप् प्रत्यय और टि को एकार कार्य होते हैं।

उपसर्गस्यायतौ 8.2.19.

अयतिपरस्योपसर्गस्य यो रेफः, तस्य लत्वं स्यात। प्लायते। पलायते।

व्याख्याः अय् धातु परे हो जिससे, उस उपसर्ग के रेफ को लकार होता है।

प्लायते, पलायते (भागता है)– 'प्रायते' और 'परायते' में 'अयते' अय धातु का रूप परे है, उसके पूर्व उपसर्ग 'प्र' और 'परा' के रेफ को लकार होने से प्लायते और पलायते रूप सिद्ध होते हैं। इनका अर्थ –'भागना' है। उपसर्ग के कारण धातु का अर्थ बदल जाता है।

दयायासश्च 3.1.37..

दय, अय, आस् एभ्य आम् स्यात् लिटि। अयाचक्रे। अयिता। अयिष्यते। अयताम्। आयत। अयेत। अयिषीष्ट। विभाषेटः–'अयिषीढ्वम्' अयिषीध्वम्। आयिष्ट। आयिढ्वम्, आयिध्वम्। आयिष्यत। ,

व्याख्याः दय, अय् और आस् धातुओं से आम् हो लिट् परे रहते।

अयाचक्रे – अय् धातु से आम् आने पर लिट् का लोप हुआ। तब कृ आदि का अनुप्रयोग होता है। कृ के अनुप्रयोग में ये रूप बनते हैं।

'भू' तथा 'अस्' के अनुप्रयोग में अयाम्बभूव और अयामास इत्यादि।

अयिता–लुट् के प्र० पु० एक वचन में तास्, उसको इट् आगम, तिप् के स्थान में 'डा' आदेश, डित्व सामर्थ्य से तास् के टि आस् का लोप होकर रूप सिद्ध होता है। लुट् के अन्य रूप इसी प्रकार सिद्ध होंगे।

अयताम्–लोट् के प्र० पु० एक वचन में आट्, त् शप् होकर रूप सिद्ध हुआ। लङ् के शेष रूपों की सिद्धि इसी प्रकार होगी।

अयिषीष्ट–आशीर्लिङ् प्र० पु० एक वचन में त, शप्, सीयुट, उट्, लोप, सकार लोप, गुण और यकार का वलयादि लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

विभाषेट इति– आशीर्लिङ् और लुङ् के ध्वम् में 'विभाषेटः' से ढत्व विकल्प से हो जाता है, क्योंकि यहाँ इण् यकार से परे इट् है, उससे परे 'षीध्वम्' और 'लुङ्' का धकार है। अतः अयिषीढ्वम् अयिषीध्वम् और आयिढ्वम् आयिध्वम् ये रूप सिद्ध होते हैं।

लुट–प्र० अयिता, अयितारौ, अयितारः। म० अयितासे, अयितासाथे, अयिताध्वे। उ० अयिताहे, अयितास्वहे, अयितास्महे।

लोट्–प्र० अयताम्, अयेताम्, अयन्ताम्। म० अयस्व, अयेथाम, अयध्वम्। उ० आये, आयावहि, आयामहि।

लङ्– प्र० आयत, आयेताम्, आयन्त। म० आयथाः, आयेथाम आयध्वम्। उ० आये, आयावहि, आयामहि।

विधिलिङ्–प्र० अयेत, अयेयाताम्, अयेरन्। म० अयेथाः, अयेयाथाम्, अयेध्वम्। उ० अयेय , अयेवहि, अयेमहि।

आशीर्लिङ्–प्र० अयिषीष्ट, अयिषीयास्ताम्, अयिषीरन्। म० अयिषीष्ठाः, अयिषीयास्थाम्, अयिषीढ्वम् अयिषीध्वम्। उ० अयिषीय, अयिषीवहि, अयिषीमहि।

लुङ्–प्र० आयिष्ट, आयिषाताम्, आयिषत। म० आयिष्ठाः, आयिषाथाम्, आयिढ्वम्, आयिध्वम्। उ० आयिषि, आयिष्वहि, आयिष्महि।

द्युत दीप्तौ द्योतते 88

व्याख्याः इसका अर्थ है चमकना।

द्योतते–द्युत धातु के लट् के प्र० पु० एकवचन में 'द्युत्+त' इस स्थिति में शप्, उकार को लघूपध गुण तथा प्रत्यय की टि को एकार आदेश करने पर रूप सिद्ध हो जाता है।

द्युति-स्वाप्योः संप्रसारणम् 7.4.67.

अभ्यासस्य। दिद्युते।

व्याख्याः द्युत और स्वप् धातु के अभ्यास को संप्रसारण हो। ......

दिद्युते–लिट् में द्वित्व होने पर अभ्यास के यकार को संप्रसारण और अकार का 'संप्रसाणाच्च' से पूर्वरूप होने पर रूप सिद्ध होता है।

प्र० दिद्युते, दिद्युताते, दिद्युतिरे, । म० दिद्युतिषे, दिद्युताथे, दिद्युताध्वे। उ० दिद्यु, दिद्युतिवहे, दिद्युतिमहे।

लुट् –द्योतिता। लट्–द्योतिष्यतेः। लोट्–द्योतताम्। लङ–अद्योतत। विधिलिङ–द्योतेत। आशीर्लिङ्–द्योतिषीष्ट।

19० द्यु द्भ्यो लुङि 1.3.19.

द्युतादिभ्यो लुङः परस्मेपदं वा स्यात्। 'पुषादि-' इत्यङ्-अद्युतत्, अद्योतिष्ट। अद्योतिष्यत। एवम्-श्विता वर्णे।।5।। ञिमिदा स्नेहने ।।6।। ञिष्विदा स्नेहनमोचनयोः।।7।। 'मोहनयोः' इत्येके। 'ञिक्ष्विदरा' चेत्येके। रुच दीप्तौ, अभिप्रीतौ च।।8।। घुट परिवर्तने।।9।। शुभ दीप्तौ।।1०।। क्षुभ संचलने।।11।। णभ हिंसायाम्।।12।। तुभ हिंसायाम् ।।13।। स्त्रंसु।।14।। भ्रंसु।।15।। ध्वंसु अवस्त्रंसने।।16।। ध्वंसु गतौ च।। 17।। स्त्रम्भु विश्वासे।।17।।

व्याख्याः इति। द्युत आदि धातुओं से पर लुङ् को परस्मैपद विकल्प से हो।

अद्युतत्–परस्मैपद होने पर 'च्लि' को 'पुषादि–द्युतादि–लदितः परस्मैपदेषु' से अङ् आदेश होकर रूप बनता है। अङ् के ङित् होने से गुणनिषेध हो जाता है।

आत्मनेपद में च्लि को सिच् और इट् आगम आदि कार्य होते हैं।

प्र० अद्योतिष्ट, अद्योतिषाताम्, अद्योषित। म० अद्योतिष्ठाः, अद्योतिषाथाम्, अद्योतिध्वम्। उ० अद्योतिषि, अद्योतिष्वहि, अद्योतिष्महि।

एवमिति–द्युतादिगण में 14 धातुएँ दी हैं। इन में 'श्विता' आदि के रूप द्युत के समान ही बनते हैं। में अत एव इनके रूप नहीं दिखाये गये। सुविधा के लिये यहाँ इनके आवश्यक कुछ रूप लिखे जाते हैं।

श्विता(श्वेत, सुफेद रंग में रंगना)–श्वेतते। शिश्विते। श्वेतिता। श्वेतिष्यते। श्वेतताम्। अश्वेतत। श्वेतेत। श्वेतिषीष्ट। अश्वितत्, अश्वेतिष्ट। अश्वेतिष्यत।

6. मिद् (चिकना होना)–मेद्यते। मिमिदे। मेदिता। मेदिष्यते। मेद ताम्। अमेदत। मेदेत मेदिषीष्ट। अमिदत अमेदिष्ट। अमेदिष्यत।

7 स्विद् (पसीना होना, छोड़ना) –स्वेदते। सिष्वदे । स्वेदिता। स्वेदिष्यते। स्वेदताम्। अस्वेदत। स्वेदेत। स्वेदिषीष्ट। अस्विदत। अस्वेदिष्ट। अस्वेदिष्यत।

मोहनयोरिति–कोई इसका अर्थ 'छोड़ने' के स्थान में 'मोहित होना' कहते हैं।

ञिक्षिवदा–इति–कोई 'ष्विदा' स्थान पर 'ञिक्ष्विदा' पाठ बताते हैं।

8 रुच् (चमकना, पसन्द[1] आना)– रोचते। रुरुचे। रोचिता। रोचिष्यते। रोचताम्। अरोचत। रोचेत। रोचिषीष्ट। अरुचत। अरोचिष्ट। अरोचिष्यत।

9. घुट् (घोंटना) –घोटते। जुघुटे। घोटिता। घोटिष्यते। घोटताम्। अघोटित। घोटेत। घोटिषीष्ट। अघुटत, अघोटिष्ट। अघोटिष्यत।

1० शुभ (चमकना, शोभा होना) –शोभते। अशुभत। अशोभिष्ट।

11 क्षुभ् (विचलित होना, व्याकुल होना)–क्षोभते। अक्षुभत, अक्षोभिष्ट।

---

1. पसन्द करने अर्थ में जब रुच् धातु का प्रयोग आता है, तब पसन्द करनेवाले के याचक शब्द से 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' सूत्र से चतुर्थी आतील है, जैसे–बालकेभ्यः क्रीडनं रोचते–बालकों को खेल पसन्द आता है।

12णभ (हिंसा करना) –नभते। नेभे। अनभत। अनभिष्ट।

13 तुभ (हिंसा करना) – तोभते। अतुभत, अतोभिष्ट।

14 स्रसु (गिरना)–स्रंसते। सस्रंसे। स्रंसिता। स्रसिषीष्ट। अस्रसत[2], अस्रंसिष्ट।

15 भ्रंस (गिरना) –भ्रंसते। बभ्रंसे। अभ्रसत्, अभ्रंसिष्ट।

16 ध्वंस् (नराश होना)–ध्वंसत। दध्वंसे। अध्वसत्, अध्वंसिष्ट।

17. ध्वंसु का अर्थ 'जाना' भी है।

18. स्रम्भ (विश्वास करना) –स्रम्भते। सस्रम्भे। अस्रभत्, अस्रभिभष्ट।

स्रम्भ धातु के साथ 'वि' उपसर्ग अवश्य रहता है। तभी 'विश्वास' अर्थ स्पष्ट प्रकट होता है।

वतु वर्तने.

वर्तते। वर्वते। वर्तिता।

व्याख्याः होना।

वर्तते–में शप् और गुण तथा टि को एकार होता है।

ववते–में 'ऋदुपधेभ्यो लिट् कित्वं गुणातपूर्वविप्रतिषेधेन' वार्तिक के बल से गुण होने से पूर्व लिट् कित् हो जाता है, तब 'ग्क्ङिगित च' के निषेध के प्रवत्त होने से पुनः गुण नहीं हो पाता।

वर्तिता–लुट् के प्र. पु. एकवचन में इट् और गुण होकर रूप सिद्ध होता है लट् के शेष रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

वद्भ्यः स्य-सनोः 1.3.91.

वतादिभ्यः पचभ्यो वा परस्मैपदं स्यात् स्ये सनि च।

व्याख्याः व्त्[1] आदि पाँच धातुओं से विकल्प से परस्मैपद हो, स्य और सन् के विषय में।

'स्य' में परस्मैपद होने पर 'वत्–स्यति' इस दशा में इट् प्राप्त है।

न वद्भ्यश्चतु र्भ्यः 7.2.59.

वतु-वधु-श्धु-स्यन्दूभ्यः सकारादेरार्धधातुकस्येण् न स्यात् तङानयोरभावे। वत्स्र्यति, वर्तिष्यते। वर्तताम्। अवर्तत। वर्तेत। वर्तिषीष्ट। अवर्तिष्ट। अवत्स्र्यत्, अवर्तिष्यत।

व्याख्याः 'वत, वध, श्ध् और स्यन्द'–इन चार धातुओं से पर सकारादि आर्धधातुक को इट् न हो, तङ् और आन (शानच, कानच्) के अभाव में अर्थात् परस्मैपद में।

वत्स्र्यति– यहाँ इट् का निषेध होने पर गुण होकर रूप सिद्ध होता है। परस्मैपद के अभावपक्ष में आत्मनेपद रहने से परस्मैपदनिमित्तक इट् का निषेध नहीं होता। तब 'वर्तिष्यते' रूप बनता है।

अवत्स्र्यत्–लङ् लकार में भी 'स्य' होने से परस्मैपद विकल्प से और परस्मैपद पक्ष में इट् का निषेध भी होता है।

अवर्तिष्यत–दूसरे पक्ष में इट् हो जाता है।

उपसर्ग के योग में–

प्रवर्तते – प्रवत्त होता है। परावर्तते – लौटता है।

---

1. यहाँ अङ् के ङित् होने से 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से नकार का लोप हो जाता है। इसी प्रकार अन्य नकारवाली धातुओं में भी 'न' का लोप होता है।

2. वतु वर्तने (होना), 2 वधु वद्धौ (बढ़ना), 3 श्धु शब्दकुत्सायाम् (कुत्सित शब्द करना, अपान वायु का शब्), 4 स्यन्दू प्रस्रवणे (बहाना) 5 कप् सामर्थ्ये (समर्थ होना), ये पाँच वतादि हैं। ये द्युतादिगण में भी है। यहीं द्युतादिगण समाप्त हो जाता है।

अनुवर्तते – पीछे चलता है। निर्वर्तते – समाप्त करता है।

विवर्तते – बदलता है। परिवर्तते – बदलता है।

आवर्तते – आवत्ति होती है। निवर्तते – विरत होता है–लौटता है।

प्रत्यावर्तते – लौटता है।

इसी प्रकार वधु [1]–वर्धते। ववधे। वर्धिता। वर्त्स्यति, वर्धिष्यते वर्धताम्। अवर्धत। वर्धेत। वर्धिषीष्ट। अवर्धिष्ट। अवर्त्स्यत्, अवर्धिष्यत।

स्यन्दू–स्यन्दते। सस्यन्दे। स्यन्दिता, स्यन्ता। स्यन्त्स्यति। 2स्यनिदष्यते, स्यन्त्स्यते। स्यन्दताम्। अस्यन्दत। स्यन्देत। स्यन्दिषीष्ट। अस्यन्तदत्, अस्यन्दिष्ट, अस्यनत। अस्यन्त्स्यत्, अस्यन्दिष्यत्अस्यन्त्स्यत।

दद दाने.

ददते।

व्याख्याः इसका अर्थ है –देना।

ददते, ददेते, ददन्ते। ददसे, ददेथे, ददध्वे। ददे, ददावहे, ददामहे।

न शस-ददवादि-गुणानाम् 6.4.126.

शसेर्ददेर्वकारदीनां गुणशब्देन विहितो योकारः, तस्य च एत्वाभ्यासलोपौ न। ददते, दददाते; ददिदिरे। ददिता। ददिष्यते। ददताम्। अददत। ददेत। ददिषीष्ट। अददिष्ट। अददिष्यत।

व्याख्याः शस (हिंसा करना), दद् (देना) वकारादि धातुओं को और गुणशब्द से विहित अकार को, एत्व और अभ्यासलोप न हों।

ददद–'दद्' धातु को लिट् में 'अत एकहल्मध्येनादेशादेर्लिटि' से एत्व और अभ्यासलाप प्राप्त था, उसको इससे निषेध हो गया। आत्मनेपद के सभी प्रत्यय अपित् होने से 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् हैं। अतः सभी के परे रहते उक्त दोनों कार्य प्राप्त होते हैं। 'ददद' आदि रूप बनते हैं।

इसके शेष रूप साधारण प्रक्रिया से ही बनते हैं।

त्रपूष लज्जायाम्

त्रपते।

व्याख्याः इसका अर्थ है–लज्जित होना।

तृ -फल-भज-त्रपश्च 6.4.122.

एषामत एत्वमभ्यासलोपश्चस्यात् किति लिटि सेटि थलि च। त्रेपे। त्रपिता, त्रप्ता। त्रपिष्यते, त्रप्स्यते। त्रपताम्। अत्रपत। त्रपेत। त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट। अत्रपिष्ट, अत्रप्त। अत्रपिष्यत, अत्रप्स्यत। इत्यात्मनेपदिनः।

व्याख्याः तृ (तैरना), फल् (फलना), भज् (सेवा करना) और त्रप् (लज्जा करना) धातुओं के ह्रस्व अकार को एत्व और अभ्यास का लोप हो कित् लिट् और सेट् थल पर होने पर।

'त्रप्' धातु आत्मनेपदी है, इसके सभी लिट्स्थानिक प्रत्यय कित् हैं। अतः सभी में उक्त दोनों कार्य होते हैं–

प्र० त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे। म० त्रेपिष, त्रेपाथे, त्रेपिध्वे। उ० त्रेपे, त्रेपिवहे–त्रेप्वहे, त्रेपिहमहे–त्रेप्महे।

---

1. वधु, शधु और स्यन्द धातुओं को मूल में नहीं दिखाया गया है। आवश्यक होने से टीका में उनके रूप दिखा दिये हैं।
2. ऊदित होने से स्यन्द धातु से वलादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से होता है।
3. त्रपूष धातु के अकार और पकार इत्संज्ञक हैं। षकार के इत् होने का फल 'षिदादिभ्योङ्' से अङ् प्रत्यय होकर 'त्रपा' शब्द बनता है और ऊदित् होने का वलादि आर्धधातुक प्रत्ययों को विकल्प से इट् होना है।

वलादि आर्धधातुक को यहाँ धातु के ऊदित होने के कारण 'स्वरतिसूतिसूय तिधूदितो वा' से इट् विकल्प से होता है। अतः लुट् (तास्), लट् (स्य), आशीर्लिङ् (सीयुट्) और लङ् (स्य) में दो दो रूप बनते हैं।

अथ उभयपदिनः

अब उभयपदी धातुयें प्रारम्भ होती हैं।

श्रि सेवायाम्

श्रयति, श्रयते। शिश्राय, शिश्रिये। श्रयिता। श्रयिष्यति, श्रयिष्यते। श्रयताम्। अश्रयत्, अश्रयत। श्रीयात्, श्रयिषीष्ट। चङ-अशिश्रियत। अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत।

व्याख्याः श्रिा [1]–इसका अर्थ है सेवा करना।

लिट् परस्मैपद में –प्र० शिश्राय, शिश्रियतुः शिश्रियुः। म० शिश्रयिथ, शिश्रियतुः,शिश्रिय। उ० शिश्राय, शिश्रियिव, शिश्रियिम।

शिश्राय– लिट्, तिप, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, णित् होने से वद्धि हुई।

शिश्रियतुः–कित् लिट् होने से गुण का निषेध होने पर इयङ् हुआ।

शिश्रयिथ–'ऊदृदन्तैः–' कारिका में 'श्रि' को उदात्त बताया गया है।

अतः यहाँ इट् निषेध नहीं होता। सिप् के स्थान में होने से थल भी पित् है, अतः गुण होकर अयादेश हुआ।

शिश्रियिव और शिश्रियिम–यहाँ भी धातु के सेट् कारिका में पठित होने से इट् हुआ। पर कित् लिट् होने से गुण का निषेध होने पर 'इयङ्' हुआ।

आत्मनेपद में सभी प्रत्यय कित् है, अतः सर्वत्र गुण का निषेध होने से इयङ् होता है–

प्र० शिश्रिये, शिश्रियाते, शिश्रियिरे। मं शिश्रियिषे, शिश्रियाथे, शिश्रियिध्व। शिश्रिये, शिश्रियिवहे, शिश्रियिमहे।

लुट्–	परस्मैपद	आत्मनेपद
प्र०	श्रयिता, श्रयितारौ श्रयितारः।	श्रयिता, श्रयितारौ, श्रयितारः।
म०	श्रयितासि, श्रयितास्थः, श्रयितास्थः।	श्रयितासे, श्रयितासाथे, श्रयिताध्वे।
उ०	श्रयितास्मि, श्रयितास्वः, श्रयितास्मः।	श्रयिताहे, श्रयितास्वहे, श्रयितास्महे।

श्रीयात्– यह आशीर्लिङ् का रूप है। यहाँ 'अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होता है।

अशिश्रियत्–यह लुङ का रूप है। यहाँ 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' से च्लि को चङ् और 'चङि' से द्वित्व अभ्यास कार्य और इयङ् होते हैं।

भा भरणे

भरति, भरते। बभार, ब्रभ्रतुः, बभ्रुः, बभर्थ, बभव, बभम। बभ्रे, बभषे। भर्तासि, भर्तासे। भरिष्यति, भरिष्यते। भरतु, भरताम्। अभरत्, अभरत। भरेत, भरेत।

व्याख्याः भा (पालन करना)–यह धातु भी ाित् होने से उभयपदी है।

बभर्थ, बभव और वभम–ये क्रमशः थल्, व और म के रूप है।

कृसभवस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि' से यहाँ इट् का निषेध होता है।

आत्मनेपद में –प्र० बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे। म० बभषे बभ्रो बभध्वे। उ० बभ्रे, बभवहे, बभमहे।

---

1. श्रि धातु का कार इत् हे। अतः ति होने से यह उभयपदी है। 'स्वरित–ाितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इस सूत्र से कर्तगामी क्रियाफल की विवक्षा में आत्मनेपद और कर्तभिन्न (पर) गामी फल की विवक्षा में परस्मैपद आयगा। इसी बात को ध्यान में रखकर आत्मनेपद ओर परस्मेपद का प्रयोग करना चाहिए।

भरिष्यति, भरिष्यते—लट् के रूप हैं। 'ऋद्धनोःस्ये' सूत्र से ऋदन्त होने के कारण स्य को इट् होता है।

आशीर्लिङ् में 'भयात्' इस दशा में 'अकृत्सार्वधातुकयोदीर्धः' इस सूत्र से दीर्घ प्राप्त होता है।

रिङ् श-यग्-'लिङ्क्षु 7.4.28.

शे यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङ् आदेशः स्यात्। रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्याद् दीर्घो न-भ्रियात्।

व्याख्याः श प्रत्यय, यक् और यकारादि आर्धधातुक लिङ् परे रहते ऋकार को रिङ् आदेश हो।

रिङ् का ङकार इत्संज्ञक है।

रीङि प्रकृते इति—'रिङ् ऋतः' इस पूर्व सूत्र से इसमें रीङ् की अनुवत्ति आ सकती थी। पुनः ह्रस्व 'रिङ्' कहना 'अकृत्सार्वधातुकयोः' से प्राप्त दीर्घ के निवारण के लिए है। अन्यथा रीङ् का ही विधान करते और बल्कि पिछले सूत्र से उसकी अनुवत्ति आ जाने से यहाँ ग्रहण भी न करना पड़ता।

भ्रियात्—ऋकार को 'रि' आदेश होने पर 'भ्रियात्' रूप सिद्ध होता है।

उश्च 1.2.12.

ऋवण्प्रत् परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि। भषीष्ट, भषीयास्ताम्। अभार्षीत।

व्याख्याः ऋवर्ण से रे झलादि लिङ् और सिच् कित् होते हैं आत्मनेपद में।

भषीष्ट—आशीर्लिङ् आत्मनेपद में 'भ सी स् त' इस अवस्था में इट् तो होता नहीं, क्योंकि धातु अनुदात्त है। इट् न होने से सीयुट् झलादि रहेगा। वह लिङ् को होता है। अतः लिङ् भी झलादि है। इस सूत्र से अत एव कित्व हो जाने से गुण का निषेध हो जाता है। तब दोनों सकारों को मूर्धन्य षकार और कुत्व से तकार को रकार होकर रूप बनता है।

अभार्षीत्— में 'सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु' से ऋकार को 'आर' वद्धि होती है। प्र० अभार्षीत्, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः। मं अभार्षीः अभार्ष्टम् अभार्ष्ट। उ० अभार्षम् अभार्ष्व, अभार्ष्म।

आत्मनेपद में सिच् होने पर 'अ भ स् त' यह अवस्था होती है। यहाँ अनिट होने से इट् नहीं होता। अतः झलादि होने से सिच् 'उश्च' से कित् होता है। कित् होने से गुण नहीं होता।

ह्रस्वादङ्गत् 8.2.27.

सिचो लोपो झलि। अभषाताम्। अभरिष्यत्, अभरिष्यत।

व्याख्याः ह्रस्वान्त अङ्गसे 'अभ' है और झल् कार परे है। अतः सिच् का लोप हो जाता है।

अभषाताम्— में झल् परे नहीं। अतः सिच् का लोप नहीं हुआ।

प्र० अभत, अभषाताम अभषत। म० अभथाः, अभषाथाम्, अभध्वम्। उ० अभषि, अभष्वहि, अभष्महि।

अभरिष्यत—में 'ऋद्धनाः स्ये' से इट् होता है।

ह्रा हरणे

हरति, हरते। जहार, जहर्थ, जह्रिव, जह्रिव, जह्रिम। जहे, जह्रिषे। हर्ता। हरिष्यति, हरिष्यते। हरतु,हरताम्। अहरत्, अहरत। हरेत्, हरेत। ह्रियात्, हृषीष्ट, हृषीयास्ताम। अहार्षीत, अहृत। अहरिष्यत् अहरिष्यत।

व्याख्याः ले जाना, हरना, चुराना।

ह्रा धातु के रूप 'भा्' के बिलकुल समान बनते हैं। केवल लिट् के व म, से, वहि और महि में क्रादिनियम से यहाँ इट् अधिक हो जाता है।

उपसर्ग के योग में—

प्रहरति — प्रहार करता है। आह्रति — लाता है।

प्रहरति – चुराता है। परिहरति – छोड़ता है।

संहरति – नाश करता है। उद्धरति – उद्धार करता है।

उपसंहरति – समाप्त करता है। प्रतिहरति – पहरा देता है।

अनुहरति – समानता करता है। उपहरति – भेंट देता है।

विहरति – क्रीड़ा करता है। अभ्यवहरति – खाता है।

धा् धारणे.

धरति, धरते।

व्याख्याः 4 धा् (धारण करना)– धातु के सम्पूर्ण रूप ह्रा् के समान बनते हैं। दधार, दधर्थं, दध्रिव,। दध्रिम। दध्रे, दध्रिषे, दध्रिवहे, दध्रिमहे। धर्ता, धरिष्यति, धरिष्यते। धरतु, धरताम् अधरत अधरत। धरेत्, धरेत। ध्रियात्, धषीष्ट। अधार्षीत्, अधत। अधरिष्यत, अधरिष्यत।

णीा् प्रापणे.

नयति, नयते।

व्याख्याः णीा् (ले जाना)–यह धातु अजन्तं एकाच् है और अजन्त–सेट्–धातु संग्रह कारिका 'ऊद् ऋदन्तैः–' में ग्रहण न होने से अनिट् है।

इसके रूप लिट् में निम्नलिखित बनेंगे–

प्र० निनाय, निन्यतुः, निन्युः। मं निनयिथ–निनेथ, निन्यथुः, निन्य। उ० निनाय–निनय, निन्यिव, निन्यिम।

अजन्त अनिट् होने से थल् में विकल्प से और व तथा म में क्रादिनियम से नित्य इट होता है।

आत्मनेपद में क्रादिनियम के द्वारा से, ध्वम्, वहि ओर महि चारों में नित्य इट् होता है।

प्र० निन्ये, निन्याते, निन्यिरे। म० निन्यिषे, निन्याथे, निन्यिध्वे निन्ये, निन्यिवहे, निन्यिमहे।

लुट्–नेता। लट्–नेष्यति, नेष्यते। लोट्–नयतु, नयताम्। लङ्–अनयत्, अनयत। विधिलिङ–नयेत्, नयेत। आशीर्लिङ् 7नीयात्, नेषीष्ट। लुङ्–अनैषीत्, अनैष्ट। लङ्–अनेष्यत्, अनेष्यत।

उपसर्ग के योग में–

प्रणयति = ले जाता है, प्रेम करता है। उपनयति = दूर ले जाता है, हटाता है।

अनुनयति = मानाता है। निर्णयति = निर्णय करता है।

विनयतs = शिक्षा देता है, कर्ज चुकाता है। आनयति = लाता है।

अवनयति = अवनत करता है। उन्नयति = उन्न करता है।

अभिनयति = अभिनय करता है। परिणयति = विवाह करता है।

उपनयति = भेंट ले जाता है।

यहाँ तक जो पाँच धातु उभ्यपदी हैं वे ाित् हैं। अब स्वरितेत् होने से जो उभयपदी हैं, उन धातुओं को बताते हैं।

डुपचष् पाके

पचति, पचते। पपाच, पेचिथ, पपक्थ। पेचे। पक्ता।

व्याख्याः (पकाना)–इस धातु का केवल 'पच्' बचता है। अकार इसका स्वरित है। अतः स्वरितेत् होने से यह उभयपदी है।

पेचिथ –पपक्थ–थल् में अनिट् अकारवान् होने से विकल्प से इट् होता है। इट् पक्ष में 'थलि च सेटि– से एत्व और अभ्यासलोप होकर पेचिथ' बनता है।

इडभाव पक्ष में 'चोः' कुः' से चकार को ककार होकर 'पपक्थ'।

'व' और 'म' में क्रादिनियम से नित्य इट् होता है। प्र० पपाच, पेचतुः, पेचुः। म० पेचिथ–पपक्थ, पेचथुः, पेच। उ० पपाच–पपच, पेचिव पेंचिम।

कित् लिट में 'अत एकहल्मध्येनादेशादेर्लिटि' से धातु के अकार को एत्व और अभ्यास का लोप और क्रादिनियम से सर्वत्र यथा प्राप्त इट होता है।

प्र० पेचे, पेचाते, पेचिरे। म० पेचिषे, पेचाथे, पेचिध्वे। उ० पेचे पेचिवहे, पेचिमहे।

लुट् में –पक्ता। लट्–पक्ष्यति, पक्ष्यते। लोट् –पचतु। आत्मनेपद् में प्र० पचताम्, पचेताम्, पचन्ताम्। म० पचस्व, पचेथाम्, पचध्वम्। उ० पचै, पचावहै, पचामहै।

लङ्–अपचत्, अपचत। विधिलिङ्–पचेत, पचेत। आशीर्लिङ्–पच्यात, पक्षीष्ट।

लुङ् –प्र० अपाक्षीत्, अपाक्ताम्, अपाक्षुः। म० अपाक्षीः, अपाक्तम् अपाक्त। उ० अपाक्षम्, अपाक्ष्व, अपाक्ष्म।

यहाँ चोः कु' से चकार को ककार होरे पर इज् ककार से परे मिल जाने से सिच् के सकार की मूर्धन्य हो जाता है। दोनों के संयोग से 'क्ष' बन जाता है। वद–ब्रज–हलन्तस्याचः' से वद्धि होती है।

अपाक्ताम्,

अपाक्तम् और अपाक्त में 'झलो झलि' से सकार का लोप हो जाता है।

प्र० अपक्त, अपक्षाताम्, अपक्षत। म० अपक्थाः, अपक्षाथाम्, अपग्ध्वम्। उ० अपक्षि, अपक्ष्वहि, अपक्ष्महि।

यहाँ त, थास् और ध्वम् में झल् परे होने के कारण मूर्धन्य षकार होने पर दोनों को मिल कर 'क्ष' हो जाता है।

लट्–अपक्ष्यत्, अपक्ष्यत्

'पच्' धातु के चकार को ककार 'चोः कु' से होता है। जहाँ झल् परे मिलता है, वहाँ चकार को ककार हो जाता है। इसका ध्यान रखना चाहिए।

भज सेवायाम्

भजति,भजते। बभाज, भेजे। भक्ता। भक्ष्यति, भक्ष्यते। अभाक्षीत्। अभक्त, अभक्षाताम्।

व्याख्याः (सेवा करना)–धातु के रूप पच् के बिल्कुल समान बनते हैं। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ जकार को पहले 'चोः कुः' से गकार करना होता है; फिर उसको 'खरि च' से ककार होता है। यह धातु पच् के समान अनिट् है।

यज देवपूजा-संगतिकरण -दानेषु..

यजति, यजते।

व्याख्याः यज्–(देव–पूजा, यज्ञ करना आदि) धातु के जकार को भी पूर्वोक्त प्रकार से पहले गकार और फिर ककार होता है। यह धातु भी अनिट[2] (अनुदात्त) है।

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् 6.1.97.

वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाभ्यासस्य संप्रसारणं लिटि। इयाज।

व्याख्याः वच् आदि और ग्रह आदि दोनों गण की धातुओं के अभ्यास को संप्रसारण हो लिट् परे रहते।

वच् आदि 'वचिस्वपि–यजादीनां किति' सूत्र में और ग्रह आदि 'ग्रहिज्या–वयि–व्यधि–वष्टि–विचति, वश्चति–भज्जतीनां ङिति च' सूत्र में कहे गये हैं।

---

1. विपूर्वक नी धातु से शिक्षा देने तथा कर्ज चुकाना आदि अर्थों में सदा आत्मनैपद ई आता है।
2. यहाँ बताई हुई 'उभयपदी धातुओं में केवल श्रि धातु सेट है, शेष सभी अनिट् हैं।

इयाज–यज् धातु से लिट् में ति्, णल् द्वित्व, अभ्यासकार्य होने पर 'य यज् अ' इस अवस्था में अभ्यास के यकार को संप्रसारण करने पर अकार का 'संप्रसारणाच्च' से पूर्वरूप होगा। उपधावद्धि होकर 'इयाज' रूप बनता है।

वचि-स्वपि यजादीनां किति 6.1.15.

वचिस्वप्योर्यजादीनां च सप्रसारणं स्यात् किति। ईजतुः, ईजु। इयजिथ, इयष्ठ। ईजे। यष्टा।

व्याख्याः वच् (बोलना), स्वप् (सोना) और यज् आदि धातुओं को संप्रसारण हो कित् प्रत्यय परे होने पर।

निम्नलिखित पद्य में यज् आदि धातुयें गिनाई गई हैं'–

'यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वे् व्ये् इत्यपि।

ह्वे्–वदी श्वयतिश्चेति यजाद्याः स्युरिमे नव।।

पर होने से यह संप्रसारण द्वित्व के पहले होता है, उसके बाद द्वित्व होता हैं यही नहीं, संप्रसारणनिमित्तक पूर्वरूप भी पहले होता है। अतएव कहा जाता है 'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्' अर्थात् संप्रसारण और तदाश्रय (पूर्वरूप आदि) कार्य बलवान् होता हैं।

ईजतुः– 'यज् अतुस्' इस अवस्था में द्वित्व से पहले संप्रसारण और

तदाश्रय पूर्वरूप कार्य हो जाते हैं। तब 'इज् अ' ऐसी स्थिति बन जाने पर 'इज्' को द्वित्व होता है। अभ्यासकार्य करने पर 'इ इज् अतुस्' यह स्थिति बनती है। सवर्णदीर्घ होकर 'ईजतु' रूप सिद्ध होता है।

इयजिथ, इयष्ठ–थल् में अनिट् अकारवान् होने से वैकल्पिक इट् होता है। इट् पक्ष में इयजिथ रूप बनता है। 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से संप्रसारण होता है। इडभाव पक्ष में जकार को 'व्रश्च भ्रस्ज–सज–मज–यज– राज–भ्राज–च्छ–शां –षाः से मूर्धन्य षकार होकर थकार को ष्टुत्व ठकार होता है। तब इयष्ठ रूप बनता है। 'व' और 'म' में क्रादिनियम से नित्य इट् होता है–

प्र० इयाज, ईजतुः1, ईजु, । म० इयजिथ–इयष्ठ, ईजथुः, ईज। उ० इयाज–इयज, ईजिव, ईजिम।

ईजिवहे, ईजिमहे।

यष्टा–लुट् में जकार को 'व्रश्च–'सूत्र से जकार को मूर्धन्य षकार होता है। तब 'यष स्यति' यह स्थिति बनती है।

षढोः कः सि 8.2.41.

यक्ष्यति, यक्ष्यते। इज्यात्, यक्षीष्ट। अयाक्षीत्, अयष्ट।

व्याख्याः षकार और ढकार को ककार हो सकार परे होने पर।

यक्ष्यति–'यष् स्यति' में सकार परे होने से षकार को ककार हो गया। तब ककार इण् से पर प्रत्यय स्य के सकार को मूर्धन्य षकार होकर दोनों को मिलकर क्ष हुआ। तब यक्ष्यति रूप सिद्ध हुआ। आत्मनेपद में–यक्ष्यते।

लोट्–यजतु, यजताम्। लङ्–अयजत्, अयजत। विधिलिङ्– यजेत्, यजेत्।

इज्यात्–आशीर्लिङ् परस्मैपद में 'किदाशिषि' से यासुट् के कित् होने से 'वचि–स्वपि–यजादीनां किति' से संप्रसारण होकर इज्यात् आदि रूप बनते हैं।

यक्षीष्ट–आत्मनेपद में सीयुट् होने पर कार को 'व्रश्भ्रस्ज–' से षकार और उसकी 'पढोः कः सि' से ककार होता है। तब क–प के संयोग से क्ष बनाकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

प्र० यक्षीष्ट, यक्षीयास्ताम्, यक्षीरन्। म० यक्षीष्ठाः, यक्षीयास्थाम्। यक्षीध्वम्। उ० यक्षीय, यक्षीवहि, यक्षीमहि।

लुङ्–प्र० अयाक्षीत्, अयाष्टाम्, अयाक्षुः। म० अयाक्षीः, अयाष्टम्। उ० अयाक्षम्, अयाक्ष्व अयाक्ष्म।

---

1. ध्यान रहे–कित् लिट् में संप्रसारण द्वित्व से पहले होता है। आत्मनेपद के सारे प्रत्यय कित् होते हें। अतः सब में संप्रसारण कार्य होगा और होगा भी द्वित्व से पहले–'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्ये बलवत्–संप्रसारण और तदाश्रय कार्य बलवान् होता हे' इस वच नन से।

अयाक्षीत्– में लुङ्, अट्, तस्, तास, च्लि, सिच् वद्धि सकारलोप, जकार को षकार, उसकी ककार , सकार को मूर्धन्य षकार, ये कार्य होते हैं।

अयाष्टाम्–में लुङ्, अट्, तस्, ताम्, च्लि, सिच्, वद्धि, हलन्त लक्षण, वद्धि, इट, जकारको पकार, उसको ककार, सकार को मूर्धन्य षकार ये कार्य होते हैं।

इन दो के समान ही अन्य रूप सिद्ध होते हैं।

लङ् में–अयक्ष्यत्, अयक्ष्यत।

वह प्रापणे.

वहति, वहते। उवाह, ऊह्थुः, ऊवहिथ।

व्याख्याः त्रहना, ले जाना।

लिट् के रूप यज् के समान बनते हैं। यह यजादि है, अतः संप्रसारण होता हे। णल्, थल् में 'लिट्चीयासस्योभयेषाम्' से अभ्यास को संप्रसारण होता है। अन्यत्र कित् होने से 'वचि स्वपि–यजादीनां किति' से द्वितव होने के पहले ही होता है।

उवहिथ–अनिट् अकारवान् होने से थल् में वैकल्पिक इट् होता है। इट् पक्ष में यह रूप बनता है।

इडभाव पक्ष में 'उवह्थ' के हकार को ढकार हो जाता है।

झपस्त-थोर्धोअधः 8.2.40.

झषः परयोस्तथोर्धः स्यात, न नु दधातेः

व्याख्याः झष् से परे तकार और थकार को धकार हो, पर जुहो– त्यादिगण की 'धा' धातु के अवयव झप् से पर को न हो।

लिट् के थल् परे होने पर इट् के अभाव पक्ष में स्थिति होती है उ वह्+थ। ह् को ढ् होने पर स्थिति हुई उवढ्+थ। अब प्रकृत सूत्र से थ् को ध् आदेश हुआ। तब स्थिति हुई उ वढ् + ध्। ध् को ष्टुत्व होकर स्थिति हुई उ वढ्+ढ।

अवोढ–'उवढ् थ' यहाँ झप् ढकार है, उससे परे थकार को धकार ही गया। तब 'उवढ् ध' यह स्थिति हुई। यहाँ ष्टुत्व से ध्कार की ढकार हो जाता है।

ढो ढे लोपः 8.3.112

लोपः स्यात् ढे परे।

व्याख्याः ढकार परे रहते ढकार का लोप हो।

'उ वढ् + ढ' में ढ का लोप होकर स्थिति हुई।

'उ व + ढ'

सहि-वहोरोद् अवर्णस्य 6.3.13.

अनयोरवर्णस्य ओत् स्यात् ढूलोपे। उवोढ। ऊहे। वीढ़ा अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षुः। अवोढ, अवाक्षाताम्, अवाक्षत, अवाक्षीः, अवोढम्, अवोढ। अवोढाः, अवाक्षाथाम्, अवोढ्वम।अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म। अवाक्षि, अवक्ष्वहि अवक्ष्महि। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।

व्याख्याः सह और वह् धातु को ओकार आदेश हो जब ढ् का लोप हुआ हो।

उव + ढ में ढ् का लोप हुआ है। अतः अन्तिम वर्ण अ को ओ आदेशहोकर उवोढ रूप बना।

वह धातु के शेष रूपों में कोई नया सूत्र नहीं लगता

भ्वादिगण समाप्त

अध्याय—7

अथ अदादिगणः

सामान्य परिचय

धातुपाठ में जो धातु अद् से लेकर आगे पढ़ी गई हैं उन्हें अदादिगण की धातुएँ कहते हैं। अदादिगण की धातुओं में शप् विकरण का लोप हो जाता है और सन्धिनियमों के अनुसार वर्णों में परिवर्तन होकर रूप बनते हैं। एम. ए. प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रम में अदादिगण की केवल पाँच धातुएँ निर्धारित हैं–अद्, हन्, अस्, दुह तथा इण्। परन्तु विद्यार्थियों के ज्ञान के लए लघुसिद्धान्त कौमुदी में दी गई सभी धातुओं को यहाँ दिया जा रहा है ताकि वे सभी प्रमुख धातुओं के रूपों को समझ सकें और उपयुक्त धातुओं के रूपों में लगने वाले सूत्र जो बीच में आए है, उन्हें समझ सकें।

अद भक्षणे

खाना। राक्षस आदियों के खाने के लिये इसका प्रयोग होता है।

अदि-प्रभतिभ्यः शपः 2.4.72

लुक् स्यात। अत्ति, अत्तः, अदन्ति। अत्सि, अत्थः, अत्थ। अद्मि अद्वः अद्मः।

व्याख्याः अदादि गण की धातुओं से परे शप् का लोप हो।

अत्ति– अद् के लट् में तिप् आदि आदेश होने पर 'कर्तरि शप्' से शप होता है। उसका प्रकृत सूत्र से लोप हो जाता है तब 'अद् ति' दकार को 'खरि च' से दकार होने से रूप सिद्ध होता है।

अत्तः– इसी प्रकार तस् में सिद्ध होता है।

अदन्ति—झि के झकार को अन्त आदेश हो जाने पर रूप बनता है।

सिप् में—अत्सि। थस् और थ में भी दकार को चर् तकार होने से अत्थः, अत्थ रूप होते हें। मिप्, वस् और मस् में दकार ही रहता है।।

लिट्यन्यतरस्याम् 2.4.40

अदो घस्लृ वा स्यात् लिटि। जघास। उपधालोपः-

व्याख्याः 'अद्' धातु को 'घस्लृ' आदेश विकल्प से हो लिट् परे रहते।

'घस्लृ का''लृ' इत्संज्ञक है।

जघास—'घस्' आदेश होने पर द्वित्व, अभ्यासकार्य हलादिशेष तथा 'कुहोश्चुः' से चवर्ग झकार और उसकी 'अभ्यासे चर्च' से जश् जकार होता है। 'अत उपधायाः' से णल् के परे रहते उपधा अकार को वद्धि होती है।

उपधालोप इति– कित् होने से अतुस् में 'जघस् अतुस्' इस अवस्था में 'गम–हन–जन–खन–घसां लोपः क्ङित्यनङि' सूत्र से उपधा अकार का लोप होता है। तब 'ज घ् स् अतुस्' यह स्थिति बनती है।

शासि-वसि-घसीनां च 8.3.60

इण-कुभ्यां परस्यैषां सस्य षः स्यात्। घस्य चर्त्वम्—जक्षतुः, जक्षुः। जघसिथ, जक्षथुः जक्ष। जघास-जघस, जक्षिव, जक्षिम। आद, आदतुः, आदुः।

व्याख्याः इण् और कवर्ग से पर शास् (शासन करना), वस् (रहना) और घस् (खाना) धातुओं के अवयव सकार को ष कार हो। 'आदेशप्रत्यययोः' से इनके सकार का षकार नहीं हो सकता। क्योंकि इनका सकार न आदेशरूप है और न प्रत्यय का अवयव ही । आदेशरूप और प्रत्यय के अवयव सकार को ही 'आदेशप्रत्यययोः' 'सूत्र' मूर्धन्य करता है। यद्यपि 'घस्' आदेश है, अतः सकार आदेश का अवयव है, परन्तु आदेशरूप सकार को पूर्वोक्त सूत्र मूर्धन्य करता है। यह सकार आदेश का अवयव है, आदेशरूप नहीं। अतः उक्त स्थलों में मूर्धन्य आदेश सिद्ध नहीं थे ओर अतएव यह सूत्र बनाना पड़ा।

जक्षतुः—'ज घ्स् अतुस्' यहाँ मूर्धन्य षकार होने पर षकार को 'खरि च' से चर् ककार होता है। क–ष संयोग में क्ष होकर रूप सिद्ध होता है।

जक्षुः— इसमें भी पूर्ववत् सिद्धि होती है।

जघसिथ—में नित्य इट् होता है, क्योंकि 'घस्' आदेश के लिट् और लुङ् में ही होने के कारण तास् में प्रयोग होता नहीं, अतः यह तास् में नित्य अनिट् नहीं। इसीलिये 'अजन्तोकारवान् वा' यह नियम यहाँ नहीं लगता। क्रादि नियम से इट् हो जाता है। इसी प्रकार 'जक्षिव' और 'जक्षिम' में भी।

घस् आदेश के अभावपक्ष में आद, आदतुः, आदुः रूप बनते हैं।

इड् अत्यर्ति व्ययतीनाम् 7.2.66

अद्, ऋ व्यो एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात्। आदिथ। अत्ता। अत्स्यति। अत्तु-अत्तात्, अत्ताम्, अदन्तु।

व्याख्याः अद् (खाना,), ऋ (जाना) और व्यो (ढकना) धातुओं से परे थल् को नित्य् इट् हो।

आदिथ— अद् धातु के थल् को धातु के उपदेश में अकारवान् होने से वैकल्पिक इट् प्राप्त था। प्रकृत सूत्र से नित्य होता है। तब 'आदिथ' रूप सिद्ध होता है।

आदिव, आदिम—'व' और 'म' में क्रादिनियम से नित्य इट् होकर रूप बनते हैं।

अत्ता— लुट् में अनिट् होने से इट् नहीं होता, दकार को चर् तकार होता है।

अत्स्यति—यह रूप भी पूर्वोक्त प्रकार से बनता है।

अत्तु, अत्तात्, अत्ताम् इन प्रयोगों में भी शप् के लोप होने पर दकार को तकार रूप सिद्ध होता है।

हु-झल्भ्यो हेर्धि 6.4.101

होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात्। अद्धि-अत्तात्, अत्तम, अत्र। अदानि, अदाव, अदाम।

व्याख्याः हु (हवन करना, खाना) और झलन्त धातुओं से पर 'हि' को 'धि' आदेश हो।

अद्धि— अद धातु दकारान्त होने से झलन्त है, अतः इससे परे 'हि' को 'धि' होता है। तब रूप सिद्ध होता है।

अदानि, अदाव, अदाम—उत्तम में प्रत्ययों को 'आडुत्तमस्य पिच्च' सूत्र से [1]आट् आगम होकर रूप बनते हैं।

लङ् में धातु को आट् आगम होता है, क्योंकि यह अजादि धातु है। 'आद् त्' यह स्थिति बनती है।

अदः सर्वेषाम् 7.3.100

अदः परस्यापक्तसार्वधातुकस्य अट् स्यात् सर्वमतेन। आदत्, आत्ताम्, आदन। आदः, आत्तम्, आत्त। आदम्, आद्व, आद्म। अद्यात्, अद्याताम्, अद्युः। अद्यात्, अद्यास्ताम्, अद्यासुः।

व्याख्याः अद् धातु से परे अपक्त सार्वधातुक को 'अट्' आगम हो सब के मत से।

---

१. आट् करने का फल भ्वादिगण में तो है नहीं, क्योंकि वहाँ शप् रहताहै, उसके अकार को 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ करने से भी यथेष्ट रूप बन जाते हैं। वहाँ तो सूत्र की प्राप्ति होती है, इसलिए प्रवत्ति होती है। अदादिगण में शप् का लोप हो जाता है, वहाँ आअ् की प्रतीति स्पष्ट होती है, आट् करने का फल मालूम पड़ जाता है। इसी प्रकार अन्य गणों में भी फल है—जिनमें अकार नहीं मिलता–दिवादि, तुदादि और चुरादि में भी भ्वादि के समान आट की प्रतीति स्पष्ट नहीं होती। क्योंकि उनमें भी अकार मिलता है।

आदत्—'आद् त्' यहाँ अद् से परे अपक्त सार्वधातुक त् को अट् आगम हो जायगा। तब 'आदत्' रूप बनता है।

आदः—'सिप्' का भी केवल 'सकार' बचा रहता है, अतः अपक्त होने से इसे भी अट् होकर आद् रूप बनता है।

आदन्—झि में 'झ' को अन्त आदेश होने से आदम् रूप सिद्ध होता है।

आदम्—'मिप्' को 'अम्' आदेश होने से आदम रूप सिद्ध होता है।

शेष—ताम्, तम्, त में चर् होता है। वस्, मस् में चर् भी नहीं।

अद्यात् अद्याताम्—विधिलिङ् में सार्वधातुक लकार होने से 'लिङः सलोपोनन्त्यस्य' से यासुट् के सकार का लोप हो जाता है। शप् के लोप होने से अकार वहाँ नहीं मिलता, अतएव 'अतो येयः' की प्रवत्ति नहीं मिलती।

अद्यात् अद्यास्ताम्—आशीर्लिङ् के आर्धधातुक होने से सकार का लोप नहीं होता । अतः यहाँ विधिलिङ् और आशीर्लिङ् के रूपों में सकार के लोप होने में ही अन्तर पड़ता है।

एकवचन में तो कोई अन्तर नहीं रहता, क्योंकि वहाँ आशीर्लिङ् में भी संयोग आदि होने के कारण 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' सूत्र से सकार का लोप हो जाता है। द्विवचनादियों में भी सकार संयोगादि रहता है, पर संयोग न पदान्त होता है और न उससे झल् परे ही मिलता है। जैसे —'अद्यास्ताम्' यहाँ 'स्त्' संयोग है, यह पदान्त नहीं, पदान्त तो म् है और न इससे झल् परे है, इससे परे तो 'आ' अच् हैं अतः 'स्कोः संयोगद्योरन्ते च' से भी लोप नहीं हो पाता। अजादियों में भी पूर्वोक्त दो निमित्त पदान्त और झल् परे न मिलने से सकार का लोप नहीं हेता।

म० अद्याः अद्यातम्, अद्यात। अद्याः, अद्यास्तम्, अद्यास्त।

उ० अद्याम, अद्याव, अद्याम,। अद्यासम्, अद्यास्व, अद्यास्म।,

सिप् में भी समान रूप बन जाते हैं। क्योंकि आशीर्लिङ् में संयोग 'स्स्' पदान्त में मिल जाता है।

लुङ-सनोर्घस्ल 2.4.37

अदो घस्लृ स्यात् लुङि सनि च।

लृदित्वादङ्-अघसत्। आत्स्यत्

व्याख्याः अद् धातु को 'घस्लृ' आदेश हो लुङ् और 'सन्' परे रहते।

अघसत्—'अद्' को 'घस्लृ' आदेश होने पर 'अ घस् च्लि त्' इस अवस्था में लृदित् होने से 'पुषादि–द्युतादि–लृदितः परस्मैपदेषु' से 'च्लि' को 'अङ्' आदेश होता है। तब यह रूप सिद्ध होता है।

प्र० अघसत्, अघसताम्, अघसन्।

म० अघसः, अघसतम्, अघसत।

उ० अघसम्, अघसाव, अघसाम।

आत्स्यत्—लृङ् में आट्, तिप्, इकार लोप, स्य प्रत्यय, दकार को चर् तकार होकर रूप सिद्ध होता है।

अद् धातु के दसों लकारों में रूप

लट् लकार—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र.पु.	अत्ति	अत्तः	अदन्ति
म.पु.	अत्सि	अत्थः	अत्थ
उ.पु.	अद्मि	अद्व	अद्भः

लिट् लकार—

	ए.व.	द्वि.व.	बहु,व.
प्र.पु.	जघास	जक्षतुः	जक्षुः

म.पु.	जघासिथ	जक्षथुः	जक्ष
उ.पु.	जघास, जघस	जघसिव	जघसिम

वैकल्पिक रूप—

	ए.व.	द्वि.व.	बहु,व.
प्र.पु.	आद	आदतु	आदुः
म.पु.	आदिथ	आदथुः	आद
उ.पु.	आद	आदिव	आदिम

लुट् लकार—

	ए.व.	द्वि.व.	बहु,व.
प्र.पु.	अत्ता	अत्तारौ	अत्तारः
म.पु.	अत्तासि	अत्तास्थः	अत्तास्थ
उ.पु.	अत्तास्मि	अत्तास्वः	अत्तास्मः

लट् लकार—

	ए.व.	द्वि.व.	बहु,व.
प्र.पु.	अत्स्यति	अत्स्यतः	अत्स्यन्ति
म.पु.	अत्स्यसि	अत्स्यथ	अत्स्यथ
उ.पु.	अत्स्यामि	अत्स्यावः	अत्स्याम्

हन हिंसागत्योः हन्ति.

(हिंसा करना, जाना)—

हन्ति—शप् के लोप होने पर 'हन् ति' इस अवस्था में 'नश्ापदान्तस्य झलि' सूत्र से अपदान्त नकार को अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से अनुस्वार को परसवर्ण—पर तकार का सवर्ण—नकार होकर 'हन्ति' रूप सिद्ध होता है। यद्यपि इतनी प्रक्रिया करने पर भी रूप में कोई वैषम्य नहीं, तथापि शास्त्र की प्राप्ति होती है, इसलिए करना आवश्यक है।

अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम् अनुनासिकलोपो झलि क्ङिति 6.4.37

अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्यात्, झलादौ किति ङिति परे। यमि-रमि-नमि-गमि-हनि-मन्यतयोनुदात्तोपदेशाः। 'तनु-क्षणु-क्षिणु-ऋणु-तणु-घणु-वनु-मनु' तनोत्यादयः। हतः, ध्नन्ति। हंसि, हथः, हथ। हन्मि, हन्वः, हन्मः। जघान, जध्नतुः जध्नुः।

व्याख्याः अनुदात्तापेदेश (उपदेश में जो अनुदात्त पढ़े गऐ हों) वन् और तन् आदि गण को अनुनासिकान्त (अनुनासिक वर्ण जिनके अन्त में हो) धातुओं का लोप हो, झलादि कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर।

अलोन्त्यपरिभाषा से लोप इनके अन्त्य अनुनासिक वर्ण का ही होता है।

यमि—इति—उपदेश में अनुदात्त अनुनासिकान्त धातु निम्नलिखित छः हं—

यम् उपरमे (निवत्त होना)	णम् प्रह्वत्वे (नमत्कार करना)
रम् क्रीडायाम् (क्रीड़ा करना)	गम् गतौ (जाना)
हन हिंसागत्योः (हिंसा करना, जाना)	मन् (दिवादि) ज्ञाने (मानना, जानना)

तनु इति—तन्[1] आदि अनुनासिकान्त धातु निम्नलिखित ८ आठ हैं—

तन् विस्तारे (फैलना)	तण् अदने (खाना)

क्षण् हिंसायाम् (हिंसा करना)	घण दीप्तौ (चमकना)
क्षिण् हिंसायाम् (हिंसा करना)	घण् दीप्तो (ज्ञान करना)
ऋण् गतौ (जाना)	वनु याचने (मांगना)

हतः— प्रकृत में हन् धातु अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश है। अतः झलादि ङित् प्रत्यय 'तस्' के परे रहते अनुनासिक नकार का लोप होने से 'हतः' रूप सिद्ध होता है। 'तस्' अपित् सार्वधातुक होने से 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र से ङिद्वत् होता है।

ध्नन्ति—में 'झि' अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है, अतः 'गम–हन–जन–खन–घसां लोपः क्ङित्यनङि' सूत्र से उपधा अकार का लोप होने से 'ह् न् ति' इस अवस्था में नकार परे होने के कारण इकार को 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' सूत्र से कवर्ग–आन्तरतम्य से–घकार होकर रूप सिद्ध होता है।

हंसि— यहाँ हल पर होने से नकार को अनुस्वार होता है।

हथः, हथ— में झलादि ङित् प्रत्यय होने से अनुनासिक का लोप हो जाता है।

जघान— लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व और हलादि शेष करने पर 'हहन् अ' इस अवस्था में 'कुहोश्चुः' से अभ्यास के हकार को आन्तरतम्य होने से घकार और उसको 'अभ्यासे चर्च' से जश् गकार होता है। उपधा अकार को 'अत उपधायाः' से वद्धि 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से णित् प्रत्यय णल् परे होने से अभ्यासोत्तरखण्ड के हकार को कवर्ग घकार होने से रूप सिद्ध होता है। 'हो हन्तेः–' की प्रवत्ति अन्त में होती है।

जध्नतुः—में 'गम–हन–जन–खन घसां लोपः क्ङित्यनङि' सूत्र से उपधा अकार का लोप होने पर अभ्यास के हकार को 'कुहोश्चु' से चुत्व झकार और उसको 'अभ्यासे चर्च' से 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से कुत्व होता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है।

जध्नुः—की सिद्धि 'जध्नतुः' के समान होती है।

अभ्यासाच्च 7.3.55

अभ्यासात् परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। जघनिथ-जघन्थ, जध्नथुः, जध्न। जघान-जघन, जध्निव, जध्निम। हन्ता। हनिष्यति। हन्तु हतात्, हताम्, ध्नन्तु।

व्याख्याः अभ्यास से परे हन् धातु के हकार को कवर्ग हो। आन्तरतम्य होने से हकार के स्थान में घकार होता है।

जघनिथ, जघन्थ—थल् में भरद्वाज–नियम से इट् विकल्प होने पर 'जहनिथ' और 'जहथ' यह स्थिति होती है। प्रकृतसूत्र[२] से इन दोनों स्थलों में अभ्यास से परे हकार को कुत्व घकार होने पर 'जघनिथ' और 'जघन्थ' रूप सिद्ध होते हैं।

जध्निव और जध्निम—इन में उपधालोप होने पर नकार परे होने से 'हो हन्तेः–' से कुत्व होता है। इट् क्रादिनियम से नित्य होता है।

हन्ता— लुट् के तिप् में उपदेश में अनुदात्त होने से 'एकाच उपदेशेनुदात्तात्' से इट् का निषेध होता है और नकार को अनुस्वार तथा उसकी परसवर्ण से पुनः नकार पूर्ववत् होता है।

हनिष्यति—लट् में 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् होता है।

हन्तु—लोट् के तिप् में अनुस्वार और परसर्वण यथापूर्व होते हैं।

हतात् और हताम् में 'अनुदात्तोपदेश—' से अनुनासिक नकार का लोप होता है। शेष प्रक्रिया सामान्य ही होती है।

---

१. इन में वन् का पथक उपादान किया गया है। तनादियों के साथअनुनाकिान्त विशेषण कहने से केवल एक 'डुकृा करणे' धातु छूटती है, गणकी शेष सभी धातु आ जाती है।

२. यहाँ 'हो हन्तेः–' से कुत्व नहीं होता, क्योंकि न तो यहाँ ञित् और णित् प्रत्यय परे है और न नकार ही।

३. इसमें नकार को अनुस्वार और उसको परसवर्ण करना आवश्यक है। तभी प्रक्रिया ठीक होती है।

ध्नन्तु—लोट् के झि में उपधालोप होने पर नकार परे मिल जाने से हकार को 'हो हन्ते–' से कवर्ग घकार आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

हन्तेर्जः 6.4.36

हौ परे।

व्याख्याः हन् धातु को 'ज' आदेश हो 'हि' परे होने पर।

जहि— हन् धातु के लोट् के मध्यम के एकवचन में सिप् को 'हि' आदेश होने पर 'हन्' को 'ज' आदेश हुआ। तब जहि रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ 'ज' आदेश होने पर अकारान्त से परे मिल जाने के कारण 'अतो हेः' से 'हि' का लोप प्राप्त होता है। इसके वारण के लिये उपाय आगे का सूत्र है।

असिद्धवदत्राभात् . 6.4.22.

इत ऊर्ध्वमापादसमाप्तेराभीयम्। समानाश्रये तस्मिन् कर्तव्ये तद् असिद्धम। इति जस्यासिद्धत्वान्न हेर्लुक्—जहि-हतात्, हतम्, हत। हनानि, हनाव, हनाम।

अहन्, अहताम्, अध्नन्। अहन्, अहन्, अहतम्, अहत।

अहनम्, अहन्व, अहन्म। हन्यात्।

व्याख्याः समानाश्रय आभीय कार्य करना हो तो पहले का किया हुआ आभीय कार्य असिद्ध के समान हो जाता है।

अत ऊर्ध्वमिति—छठे अध्याय के चतुर्थ पाद के इस २२ वें सूत्र से प्रारम्भ कर पाद की समाप्ति तक के सूत्रों से विहित कार्य 'आभीय' हैं।

समानाश्रय का अर्थ है— समान है आश्रय जिसका अर्थात् जिन कार्यो का निमित्त समान हो, उन्हें समानाश्रय कहते हैं।

प्रकृत में 'ज' आदेश और 'हि का लुक्' आभीय कार्य हैं और वे समानाश्रय भी हैं। क्योंकि ज' आदेश का आश्रय (निमित्त) प्रकृति 'हन्' और प्रत्यय 'हि दोनों हैं, तथा 'हि' लोप का आश्रय भी अदन्त अङ्ग ज (हन्) और प्रत्यय दोनों हैं। अतः दोनों के समानाश्रय आभीय कार्य होने से पहले किया हुआ 'ज' आदेश तत्पश्चात् प्राप्त 'हि' लोप के करते समय असिद्ध (के समान) हो जाता है। असिद्ध होने से हि लोप के प्रति 'हन्' ही रहता है जो अदन्त नही, इसीलिये लोप नहीं होता।

ताप्पर्य यह है कि जो कार्य हो जाने पर भी न हुआ माना जाये वह असिद्ध कहलाता है। जैसे हन्तेर्जः सूत्र की संख्या ३.४.३६ है अतः यह आभीय खण्ड में है। ज+हि ऐसी स्थिति में अतो हेः' सूत्र से हि का लोप प्रान्त होता है। किन्तु हन् के स्थान पर जो ज आदेश हुआ है वह असिद्ध है। अतः ज आदेश हो जाने पर भी अतो हेः' सूत्र के प्रति असिद्ध है अर्थात् हुआ नहीं माना जाएगा और हन्+हि यही स्थिति समझी जाएगी। इसलिए अदन्त न होने के कारण हि का लोप नहीं होगा।

हन्नानि, हनाव, हनाम—उत्तम में आट् का आगम होकर रूप बनते है।

अहन्—लङ् लकार के तिप् में अट् तथा शप् और इकार का लोप होने पर 'अहन् त्' इस दशा में 'ति' के अपक्त हल् तकार का हल् नकार से पर होने के कारण 'हल्ङ्य'ाब्यो दीर्घात् सुतिस्यपक्त हल्' सूत्र से लोप होकर 'अहन्' रूप सिद्ध होता है।

अहताम्—द्विवचन में नकार अनुनासिक का 'अनुदात्तोपदेश–' इत्यादि सूत्र से लोप होता है। अध्नन् उपधा अकार का लोप होने पर नकार पर मिल जाने से 'हो हन्तेः–' से हकार को कुत्व घकार होकर 'अध्नन्' रूप सिद्ध होता है।

अहन्—सिप् में भी इसी प्रकार इकार का लोप होने पर 'सि' के अपक्त हल् सकार का हलङ्यादि लोप होने से ही रूप बनता है।

अह्तम्, अहत—मध्यम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन में अहताम् के समान रूपसिद्धि होती है।

हन्यात्, हन्याताम्, हन्युः—इत्यादि रूप विधिलिङ के बनते हैं।

आर्धधातुके 2.4.35

इत्यधिकृत्य।

व्याख्याः यह अधिकार सूत्र है। इसका यहाँ कोई विशेष अर्थ नहीं जैसा कि अधिकार सूत्र के विषय में होता है, अग्रिम सूत्रों के साथ मिलकर यह सार्थक और चरितार्थ होता है।

हनो वध लिङि 2.4.42

हनो 'वध' इत्यादेशः स्यात् आर्धधातुके लिङि।

व्याख्याः हन् धातु का 'वध' आदेश हो आर्धधातुक लिङ् के विषय मे[1] आशीर्लिङ में अर्थात् उसके आने के पूर्व ही प्रकृत सूत्र से हन् को 'वध' आदेश होता है।

लुङि च 2.4.43

वधादेशोदन्तः। आर्धधातुके इति विषयसप्तमी। तेनार्धधातुकोपदेशेदन्तत्वाद् अतो लोपः-वध्यात्, वध यास्ताम्। अवधीत् अहनिष्यत्।

व्याख्याः लुङ् के विषय में (भी) हन् को 'वध' आदेश हो।

वधादेश इति—'वध' आदेश अदन्त है।

आर्धधातुके इति—'आर्धधातुके' यह विषयसपतमी[१] है, अर्थात् वैषयिक आधार में है, न कि पर अर्थ में। अतः 'आर्धधातुक' के परे होने की आवश्यकता नहीं, उस का विषय होना चहिये अर्थात् आर्धधातुक प्रत्यय आने के पूर्व ही यह आदेश हो जाता है। तदनन्तर 'वध' से आर्धधातुक प्रत्यय आता है।

तेनेति— इससे आर्धधातुक के उपदेश काल में अदन्त होने से 'अतो लोपः' से अकार[२] का लोप हो जाता है।

वध्यात्, वध्यास्ताम्—अकार के लोप होने पर रूप बनते हैं।

अवधीत्—लुङ् प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप हैं यहाँ 'नेटि' से वद्धि का निषेध हो जाता है। अवधिष्टाम, अवधिषुः। अवधीः, अवधिष्टम्, अवधिष्ट। उ० अवधिषम्, अवधिष्म, अवधिष्म।

यु मिश्रणामिश्रणयोः

मिलना और अलग करना।

उतो वद्धिर्लुकि हलि 7.3.89

लुग्विषये उतो वद्धिः पिति हलादौ सार्वधातुके, न त्वभ्यस्तस्य। यौति, युतः युवन्ति। यौषि, युथः, युथ। यौमि, युवः, युमः। युयाव। यविता। यविष्यति। यौतु-युतात। अयौत्, अयुताम्, अयुवन्। युयात-हइ उतो वद्धिर्न, भाष्ये 'ङिच्च पिन्न चि ङिन्न' इति व्याख्यानात्; युयाताम् युयुः। यूयात्, यूयास्ताम्। यूयासुः। अयावीत्। अयविष्यत्।

---

१. यदि आर्धधातुक यह विषयसप्तमी न हो तो परस्पतमी होने स आर्धधातुक के परे रहते 'वध' आदेश होगा। ऐसी दशा में आर्धधातुक के उपदेशकाल में 'वध' के न होने से 'अतो लोपः' की अकारलोप में प्रवत्ति न होगी। इस प्रकार 'आर्धधातुक' में विषयसप्तमी का फल वध के अकार का लोप है।

२. अकार के लोप का लिङ् में विशेष फल नहीं। 'लुङ' में अकार लोप के स्थानिवद्भाव से उपधा में अकार न मिलने के कारण 'अतो हलादेर्लघोः' से वैकल्पिक वद्धि नहीं हो पाती। इसलिये अकारलोप का तथा वध को अदन्त करने का फल'वद्धि का अभाव' सिद्ध होता है।

व्याख्याः लुक् के विषय् में धातु के उकार को वद्धि हो, पित् हलादि सार्वधातुक प्रत्यय पर होने पर, परन्तु अभ्यस्त संज्ञक धातु के उकार को न हो।

इस सूत्र में 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ७।३।८७।।' ' इस पूर्व सूत्र से 'नाभ्यस्तस्य' इसकी अनुवत्ति आती है। अतः अभ्यस्त–संज्ञक धातु की वद्धि का निषेध किया गया है, इसका फल जुहोत्यादिगण की हु धातु के उकार को वद्धि न होना है। इसीलिये यहाँ 'जुहोति' में वद्धि नहीं हुई।

पित् सार्वधातुक प्रत्यय तिप्, सिप् और मिप् है और ये हलादि भी हैं। इन्हीं के परे रहते वद्धि होती है। प्राप्त सार्वधातुक गुण का बाध इससे होता है। शेष सार्वधातुक प्रत्यय अपित् हैं, अतः वहाँ वद्धि नहीं होती। ङिद्वत होने के कारण निषेध हो जाने से गुण भी नहीं होता।

यौति—लट् के तिप् में पित् होने से प्रकृत सूत्र से वद्धि होकर रूप बनता है।

युतः— तस् में अपित् सार्वधातुक होने से वद्धि नहीं हुई, और न गुण ही।

युवन्ति—झि में भी अपित् होने से वद्धि नहीं हुई उवङ् आदेश हुआ।

यौषि—सिप् के पित् होने से वद्धि हुई।

युथः, युथ—थस् और थ के पित् न होने से वद्धि नहीं हुई।

यौमि-मिप् के पित् होने से वद्धि हुई।

युवः, युमः—वस् और मस् के पित् न होने से वद्धि नहीं हुई।

लिट् में—प्र० युयाव, युयुवतुः, युयुवुः। म०युयविथ, युयुवथुः, युयुव। उ० युयाव–युयव, युयुविव, युयुविम।

अतुस् आदि कित् प्रत्ययों में गुण निषेध होने से उवङ् होता है। 'ऊद्–ॠदन्तै–यौति–' इत्यादि सेट् कारिका में पाढ़ी होने से यह धातु सेट् (उदात्तोपदेश) है, अतः थल् व, और म में इट् होता है।

यविता, यविष्यति—लुट् और ऌट् में भी इट् और गुण तथा अवादेश होकर रूप बनते हैं।

यौतु—लोट् के प्रथम के एकवचन में 'तु' पित् होने से वद्धि ही होती है।

प्र० यौतु–युतात्, युताम्, युवन्तु। म० युहि–युतात्, युतम्, युत। उ० यवानि, यवाव, यवाम। 'हि' के अपित् होने से वद्धि नहीं होती और ङिद्वत् होने से गुण भी नहीं होता। उत्तम में आट् होने पर गुण होता है। आट् पित् तो है, पर हलादि नहीं, अतः वद्धि नहीं होती।

लङ् में—तिप और सिप् में तो वद्धि होगी। पर मिप् में अम् आदेश हो जाने पर हलादि प्रत्यय न मिलने से नहीं होती।

प्र० अयौत्, आयुताम्, अयुवन्। म० अयौः, अयुतम्, अयुत। अयवम्, अयुव, अयुम।

युयात्—विधिलिङ् में 'युयात्' आदि रूप बनते हैं।

इह उत इति— यहाँ वद्धि नहीं होती, क्योंकि यासुट् ङित् हैं यद्यपि वह तिप् को होता है अतः उसे भी पित् होना चाहिये, तथापि यासुट् को विशेष रूप से 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इस सूत्र से ङित्व विधान गया है। अतः विशेषरूप से विहित ङित्त्व से सामान्य पित्त्व का बाध हो जाता है इस आशय का भाष्यकार का यह वचन है—ङिच्च पिन्न, पिच्च, ङिन्न रूप सिद्ध होते हैं।

लुङ् में—'सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु' से उकार को 'औ वद्धि होने पर 'आव' होकर रूप बनते हैं—प्र० अयावीत्, अयाविष्टाम्, अया विष्टुः। म० अयावीः, अयाविष्टम, अयाविष्ट। उ० अयाविषम्, अयाविष्व, अयाविष्म। तिप् और सिप् में अपक्त हल होने से 'अस्तिसिचोपक्त से इट् आगम होने पर 'इट ईटि' से सिच् का लोप हो जाता है। अन्यत्र सिच विद्यमान रहता है।

अयविष्यत्—स्य में इट् होकर 'अयविष्यत्' आदि रूप बनते हैं।

---

३. लुक् का विषय अदादिगण है। लुक् तो अभाव रूप होता है, उसका परे रहना तो हो नहीं सकता, अतः 'लुकि' को विषयसप्तमी कहा गया है।

या प्रापणे 4

याति, यातः यान्ति। ययौ। याता यास्यति। यातु। अयात्, अयाताम्।

(पहुँचना, जाना)

ययौ—यहाँ अकारान्त होने से 'आत औ णलः' सूत्र से णल् को 'औ आदेश होता है। तब वद्धि आदि होकर 'ययौ' रूप बनता है।

प्र० ययौ, ययतुः, ययुः। म० ययिथ—ययाथ, ययथुः, यय। उ० ययौ, ययिव, ययिम।

यहाँ अतुस् आदि अजादि कित् प्रत्ययों के परे रहते 'आतो लोप इटि च' सूत्र से आकार का लोप होता है। अनिट् अजन्त होने से थल् में वैकल्पिक इट् होता है। इट् पक्ष में आकार का लोप होता है। इडभापवक्ष में अजादि न होने से नहीं होता।

लङः शाकटायनस्यैव 3.4.111.

आदन्तात् परस्य लङो झेर्जुस् वा स्यात्। अयुः, अयान्।

व्याख्याः आदन्त से परे लङ् के झि को जुस् हो विकल्प से।

अयुः—या धातु आकारान्त है, अतः इससे परे झि को 'जुस्' हुआ। फिर 'उस्यपदान्तात्' से आकार का पररूप होकर रूप बना।

अयान्— उस् के अभाव पक्ष में 'झ' को अन्त् आदेश और तकार का संयोगान्त लोप होकर रूप बनता है।

अयासीत्—लुङ् में 'यम–रम–नमातां सक् च' सूत्र से इट् और सक् होता है।

शेष रूप—प्र० अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः। अयासीः अयासिटम् अयासिष्ट। अयासिषम् अयासिष्व, अयासिष्म।

यहाँ पर उल्लिखित शेष सभी धातुओं के रूप आकारान्त होने से 'या' के समान बनेंगे।

वा गतिगन्धनयोः

वा (चलना[1] सूचित करना)

वाति। ववौ। वाता। वास्यति। वातु। अवात्, अवु—अवान्। वायात्। वायात्। अवासी। अवास्यत्।

'निर्' उपसर्ग के योग से इनका 'शान्त होना' अर्थ होता है। जैसे—'दीपो निर्वाति—दिया बुझता है—शान्त होता है

भा दीप्तौ

(चमकना)—भाति। बभौ। भाता। भास्यति। भातु। अभात्, अभुः—अभान्। भायात्। भायात्। अभासीत्। अभास्यत्।

आभाति और विभाति आदि में उपसर्ग के योग से अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं आता परन्तु चमकने की विशेषता प्रतीत होती है।

ष्णा[1] (नहाना)—स्नाति। सस्नौ। स्नाता। स्नास्यति। स्नातु अस्नात्। नायात्। स्नेयात्[2], स्नायात्। अस्नासीत्। अस्नास्यत्।

ष्णा शौचे

व्याख्याः 'नि' उपसर्ग के योग में इसका अर्थ 'प्रवीण होना ' होता है। यथा न्ष्णिाति—प्रवीणता प्राप्त करता है।

श्रा पाके

व्याख्याः श्रा (पकाना)—श्राााति। शश्रौ। श्राता। श्रास्यति। श्रातु। अश्रात्। श्रायात्। श्रेयात्, श्रायात्। अश्रासीत्। अश्रास्यत्।

१. इसका प्रयोग हवा के 'चलने' अर्थ में होता है न कि सामान्य रूप से यथा—वायुर्वाति—हवा चलती है।

द्रा कुत्सायां गतौ

व्याख्याः (बुरी चाल चलना)—द्रााति। दद्रौ। द्राता। द्रास्यति। द्रातु। अद्रात्। द्रायात्। द्रायात्। द्रेयात्, द्रायात्। अद्रासीत्। अद्रास्यत।

'नि' उपसर्ग के योग में इसका अर्थ 'सोना' होता है। यथा—निद्राति = सोता है। उदाहरण—'निद्राति नान्तःशुचा' 'तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः'।

प्सा भक्षणे

व्याख्याः प्सा (खाना)—प्साति। पप्सौ। प्साता। प्सास्यति। प्सातु। अप्सात्। प्सायात्। प्सेयात्, प्सायात्। अप्सासीत्।अप्सास्यत्।

रा दाने

व्याख्याः रा (देना)— राति। ररौ। राता। रास्यति। रातु। अरात्। रायात्। रायात्। अरासीत्। अरास्यत्।

ला आदाने

व्याख्याः ला (लेना)— लाति। ललौ। लाता। लास्यति। लातु। अलात्। लायात्। लायात्। अलासीत्। अलास्यत्।

दाप् लवने

व्याख्याः दाप् (काटना)—दाति। ददौ। दाता। दास्यति। दातु। अदात्। दायात्। दायात्[३]। अदासीत्। अदास्यत्।

पा रक्षणे

व्याख्याः पा (रक्षा करना)—पाति। पपौ। पाता। पास्यति। पातु। अपात्।पायात्। पायात्[४]। अपासीत्। अपास्यत्।

ख्या प्रकथने

अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः.

व्याख्याः ख्या[५] (कहना)—ख्याति। ख्यातु। अख्यात् ख्यायात्।

अयमिति— इस धातु का सार्वधातुक में ही प्रयोग करना चाहिये।

विद ज्ञाने

व्याख्याः (जानना सेट्)

विदो लटो वा 3.4.83

वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः। वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद-विद, विद्व, विद्म। पक्षे-वेत्ति, वित्तः, विदन्ति।

व्याख्याः विद् धातु (अदादिगणीय) से परे लट् के परस्मैपद प्रत्ययों को णल् आदि आदेश हों विकल्प से।

वेद—णल् आदि आदेश होने पर वेद आदि रूप बनते हैं। यहाँ द्वित्व होता, क्योंकि द्वित्व का विधान लिट् में ही

---

१. इस धातु का अर्थ शौच (शुद्धि) है, वह सब प्रकार की हो सकती है, तथापि यहाँ स्नान—नहाना ही अर्थ अभिप्रेत है।

२. संयोगादि होने से आशीर्लिङ् में 'वान्यस्य संयोगादेः' सूत्र से एत्व विकल्प होता है। इसी प्रकार श्रा, द्रा और प्सा में भी समझना चाहिये।

३. 'दाधा ध्वदाप्' सूत्र में 'दाप्' की घुसंज्ञा का निषेध होने से 'दर्लिङ' से यहाँ एत्व नहीं हुआ।

४. 'घुमास्थागापा—' आद्रि में 'गापविह इणाादेशपिबती गह्यते' इस बचन से भ्वादि 'पा' धातु ही ग्रहण होने के कारण यहाँ पूर्वोक्त एत्व नहीं हुआ। लुङ् लकार में 'गति—स्या' सूत्र से सिच् का लोप नहीं होता।

५. वि और आङ्—इन दोनों उपसर्गों के योग से व्याख्या करना अर्थ होता है। यथा७व्याख्याति। केवल वि और प्र के योग में प्रसिद्ध होना अर्थ होता है, यथा—बिख्याति, प्रख्याति।

किया गया है—'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति। पक्ष में वेत्ति आदि रूप बनते हें 'वस्' और 'मस्' में दोनों पक्षों में एक जैसे रूप बनते हैं, केवल विसर्गों का अन्तर पड़ता है। आदेश पक्ष में विसर्गरहित—विद्व, विद्म और अभावपक्ष में विसर्ग सहित—विद्वः, विद्मः।

उष-विद-जागभ्योन्यतरस्याम् 3.1.38

एभ्यो लिटि आम् वा स्यात्। विदेरदन्तप्रतिज्ञानाद् आमि न गुणः—विदाचकार। विवेद। वेदिता। वेदिष्यति।

व्याख्याः उष्। (जलाना), विद (जानना) और जाग (जागना) इन धातुओं से लिट् परे रहते 'आम्' हो विकल्प से।

विदेरिति—'विद' धातु को अकारान्त माना गया है। 'अतो लोपः' से उस अकार का लोप हो जाता हैं अतः अकारलोप के स्थानिवn~Hkव होने से 'लघूपध' न मिलने के कारण आम् परे रहते लघूपध गुण नहीं होता।

विदाचकार — आम् होने पर 'कृ' का अनुप्रयोग होकर रूप बनते हैं। 'आम्' के अभावपक्ष में –प्र० विवेद, विविदतुः, विविदुः। म० विवेदिथ, विविदथुः, विविद। उ० विवेद, विविदिव, विविदिम। ये रूप बनते हें। यह सेट् धातु है, क्योंकि अनिट् धातुओं में दिवादिगण का 'विद सत्तायाम्' धातु गिना गया है, यह नहीं। अतः इसको लिट् में भी नित्य ही इट् होता है।

वेदिता, वेदिष्यति—तास् और स्य को भी अत एव इट् होता है।

'विदाङ्कुर्वन्तु' इत्यन्यतरस्याम् 3.1.41

वेत्तेर्लोटि आम्, गुणाभावो, लोटो लुक्, लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगाश्च वा निपात्यते। पुरुषवचने न विवक्षिते।

व्याख्याः विद् धातु से लोट् परे रहते आम् होता है, आम् परे रहते लधूपध गुण नहीं होता, लोट् का लङ् होता हैं और लोडन्त 'कृ' धातु का अनुप्रयोग होता है। ये चारों कार्य विकल्प से निपातित होते हैं।

पुरुषेति—'विदाङ्कुर्वन्तु' में पुरुष और वचन विवक्षित नहीं अर्थात् यह न समझ लेना चाहिये कि प्रथम के बहुवचन में ये कार्य होते हें अपितु लोट के सभी पुरुषों और वचनों में ये चारों कार्य होते हैं।

तनादि-कृभ्य उः 3.1.79

तनादेः कृञश्च उः प्रत्ययः स्यात् शपोपवादः। विदाङ्करोतु।

व्याख्याः तनादि धातुओं से और कृञ् धातु से 'उ' प्रत्यय हो।

शप्— का अपवाद है।

विदाङ्करोतु—इससे शप् को बाधकर 'उ' प्रत्यय होने पर 'विदाम् कृ उ ति' यह अवस्था हुई। यहाँ 'उ' प्रत्यय के तिङ्–शित् भिन्न होने से आर्धधातुक होने के कारण तन्निमित्तक गुण ऋकार का होता है, तथा तिप् सार्वधातुक है, अतः तन्निमित्तक गुण 'उ' प्रत्यय को हो जाता है। 'ति' के इकार को उकार सामान्य प्रक्रिया के अनुसार होता है। 'म्' को अनुस्वार और उसका परसवर्ण भी यथाशास्त्र उक्त सिद्ध होता है।

तातङ् पक्ष में विदाङ्कर् ड तात्' इस दशा में 'कृ' के ऋकार को तो 'उ' आर्धधातुनिमित्तक गुण हो जाता है। परन्तु तातङ् के ङित् होने से 'उ' को गुण नहीं हो पाता। तब 'विदाङ्कर्उतात्' यह अवस्था होती बनती है।

अत उत् सार्वधातुके 6.4.10

'उ' प्रत्ययान्तस्य कृोत उत् सार्वधातुके क्ङिति। विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुताम्, विदाङ्कुर्वन्तु। विदाङ्कुरु।विदाङ्करवाणि। अवेत्, अवित्तम्, अविदुः।

व्याख्याः 'उ' प्रत्ययान्त 'कृञ्' धातु के अकार को उकार हो कित् और ङित् सार्वधातुक परे रहते।

विदाङ्कुरुतात्—तातङ् सार्वधातुक है उसके परे रहते 'उ' प्रत्ययान्त होने से 'कृञ' के अकार को उकार होकर उक्त सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'ताम्, तम् और त' में अकार को उकार होकर विदाङ्कुरुताम्, विदाङ्कुरुतम् और विदाङ्कुरुत रूप सिद्ध होते हैं।

विदुाङ्कुर्वन्तु—'अन्तु' में उकार को यण् होता है, और ङित् सार्वधातुक पर होने से पूर्ववत् अकार को उकार होने से रूप बनता है।

विदाङ्कुरु—'सिप्' में 'हि' का 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' से लोप होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

विदाङ्करवाणि—उत्तम में 'आडुत्तमस्य पिच्च' से पित् आट् आगम होता है। अतः 'अत उत् सार्वधातुके' सूत्र से अकार को उकार नहीं होता। पित् होने से 'उ' कार को सार्वधातुक गुण भी हो जाता है। तब 'ओ' को 'अव्' आदेश होने पर विदाङ्करवाणि, विदाङ्करवाव, विदाङ्करवाम सिद्ध होते हैं।

इन चारों कार्यों के अभाव पक्ष में —प्र० वेत्तु—वित्तात्, वित्ताम, विदन्तु। म० विद्धि—वित्तात्, वित्तम्, वित्त। म० वेदानि वेदाव, वेदाम।

'वेदानि' आदि उत्तम पुरुष के रूपों में 'आड् उत्तमस्य पिच्च' सूत्र से आट् आगम होता है और वह पित् भी बताया गया है, अतः लघूपध गुण हो जाने से रूप सिद्ध होते हें। इनमें आट की प्रतीति स्पष्ट होती है।

अवेत्—लङ् के प्रथम के एकवचन में 'अवेद् त्' इस दशा में 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपक्तं हल्' सूत्र से तिप् के अपक्त तकार का हल् दकार से परे होने के कारण लोप हो जाता है। तब दकार को 'वावसाने' से वैकल्पिक चर् होकर 'अवेत्' और 'अवेद्' रूप बनते हैं।

अवित्तम्—द्विवचन में अपित् सार्वधातुक होने से गुण नहीं होता।

अविदुः—बहुवचन में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'झि' को 'जुस' होकर 'अविदुः' बनता है।

मध्यम के एकवचन में 'अवेद् स्' इस दशा में सिप् के अपक्त सकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाता हैं तब 'अवेद्' यह अवस्था होती है।

दश्च 8.2.75

धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि परे रुर्वा। अवेः-अवेत्। विद्यात्, विद्याताम्। विद्यास्ताम्। अवेदीत्। अवेदिष्यत्।

व्याख्याः धातु के पदान्त दकार को सिप् परे रहते 'रु' विकल्प से हो।

अवेः—इससे दकार को 'रु' होने पर विसर्ग होकर 'अवेः' रूप सिद्ध होता है। अभावपक्ष में वैकल्पिक चर् होकर 'अवेत्, अवेद्' रूप तिप् के समान होते हैं। अवेदम्, अविद्व, अविद्म—ये रूप उत्तम में बनते हैं।

लुङ में—प्र० अवेदीत्, अवेदिष्टाम्, अवेदिषुः। म० अवेदीः, अवेदिष्टम्, अवेदिष्ट। उ० अवेदिषम्, अवेदिष्व, अवेदष्मि।

अस् भुवि अस्ति.

(होना)

श्नसोरल्लोपः 6.4.111

श्नस्य, अस्तेश्च अतो लोपः सार्वधातुके किति ङिति। स्तः, सन्ति। असि, स्थः, स्थ। अस्मि, स्वः, स्मः।

व्याख्याः श्ना प्रत्यय—क्र्यादिगण के विकरण और अस् धातु के अकार का लोप हो सार्वधातुक कित् प्रत्यय परे रहते।

तिप्, सिप् और मिप् पित् हैं। इनके परे रहते जकार का लोप नहीं होता, शेष तस् आदि प्रत्यय अपित् सार्वधातुक होने से 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत् हैं, अतः उनके परे रहते लोप हो जाता है। इसलिए स्तः, सन्ति आदि रूप बनते हैं।

असि—'सिप' परे रहते 'तासस्त्योर्लोपः' से अस् के सकार का लोप हो जाता है, तब 'असि' रूप सिद्ध होता है।

उपसर्ग-प्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः 8.3.87

उपसर्गेणः प्रादुसश्चास्तेः सस्य षो यकारेचि च परे। निष्यात्। प्रनि-षन्ति। प्रादु-षन्ति। यच्परः किम्-अभि-स्तः।

व्याख्याः उपसर्ग के इण् और 'प्रादुस्' अव्यय से परे अस् धातु के सकार को षकार हो यकार और अच् परे रहते।

निष्यात्—'निस्यात्' इस अवस्था में उपसर्ग 'नि' के इकार इण् से परे अस् धातु के सकार को षकार होकर 'निष्यात्' रूप बनता है। यहाँ स्थानी सकार से यकार परे है। 'स्यात्' रूप अस् धातु के विधिलिङ् प्रथम के एकवचन का है।

प्रनिषन्ति—'प्रनिसन्ति' इस अवस्था में 'सन्ति' रूप अस् का है। इस सकार का उपसर्ग 'नि' के सकार इण् से परे होने के कारण षकार हुआ। यहाँ सकार से अच अकार परे है।

प्रादुःषन्ति— 'प्रादुःसन्ति' इस दशा में 'प्रादुस्' अव्यय से परे अस् के सकार को षकार हो जाता है, उससे परे अच् अकार है।

यच्पर इति—'सकार से परे यकार या अच् होना चाहिये'— ऐसा कयों कहा? इसलिये कि 'अभिस्तः' इत्यादि स्थलों में सूत्र की प्रवत्ति न हो। यहाँ 'अभि' उपसर्ग है। 'स्तः' अस् के लट् प्र० पु० द्विवचन का रूप है, इस में अस् धातु का सकार तो है, पर इससे परे तकार है, यकार या अच् नहीं।

अस्तेर्भूः 2.4.52

आर्धधातुके। बभूव। भविता। भविष्यति। अस्तु-स्तात, स्ताम्, सन्तु।

व्याख्याः आर्धधातुक के विषय में 'अस्' धातु को 'भू' आदेश हो।

इस सूत्र से आर्धधातुक लकारों में 'अस्' को 'भू' आदेश हो जाने से उसी के समान रूप बनते हैं।

लोट् में—अस्तु। तातङ् पक्ष में ङिद्वद्भाव होने से अकार का लोप हो जाता है, अतः स्तात् रूप बनता है। ताम् और अन्तु में भी ङिद्वद्भाव होने से अकार का लोप होकर स्ताम् और सन्तु रूप सिद्ध होते हैं।

मध्यम के एकवचन में सिप् को 'हि' आदेश होने पर 'अस् हि' यह अवस्था होती है। यहाँ 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' सूत्र से झल् से परे होने के कारण 'हि' को 'धि' प्राप्त होता है। पर होने से अग्रिम सूत्र उसे बाध लेता है।

ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च 6.4.119.

घोरस्तेश्च एत्वं स्याद् हौ परे अभ्यासलोपश्च। एतस्यासिद्धत्वाद् हेर्धिः। 'श्नसोः-' इत्यल्लोपः। तातङ्पक्ष एत्वं न, परेण तातङा बाधात्। एधि-स्तात्, स्तम्, स्त। असानि, असाव, असाम् आसीत्, आस्ताम्, आसन्। स्यात्, स्याताम्, स्युः। भूयात्। अभूत्। अभविष्यत्।

व्याख्याः घुसंज्ञक और अस् धातु को एकार और अभ्यास का लोप भी हो 'हि' पर होने पर।

अलोन्त्यपरिभाषा से एकार अन्त्यवर्ण को होता है। 'अस्' के अन्त्यवर्ण सकार को और घुसंज्ञक 'दा, धा' आदि धातुओं में ही होता है, अस् के साथ असंभव होने से इसका अवयव नहीं है।

इस प्रकार इस सूत्र के दो विधेय हैं—१ एकार आदेश। २ अभ्यास का लोप।

एत्वस्येति— इस सूत्र के द्वारा विहित एत्व के आभीय कार्य होने से असिद्ध होने पर सकार झल् मिल जाता है, अतः झल् से पर होने के कारण 'हुझलभ्यो हेर्धिः' से 'हि' को 'धि' आदेश हो जाता है।

एधि—'अस् हि' यहाँ 'हि' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वद्भाव हो जाता है, तब 'श्नसोरल्लोपः' सूत्र से अकार का लोप होने पर 'स्+हि' यह स्थिति बनती है। यहाँ अन्त्यवर्ण सकार को प्रकृत सूत्र से 'एकार' होजाता है। तब आभीय होने से एकार के असिद्ध होने के कारण धातु को मानकर उससे परे ' हि' को 'धि' आदेश होने पर से 'एधि' रूप सिद्ध होता है।

स्तात्— तातङ् पक्ष में एकार नहीं होता, क्योंकि तातङ् आदेश पर होने से इसे बाध लेता है। पहले तातङ् आदेश होने से फिर 'हि' परे न मिलने के कारण 'एकार' नहीं होता।

असानि, असाव, असाम—उत्तम में आट् का आगम होता है, वह पित् होता है। अतः अकार का लोप नहीं होता।

आसीत्—लङ् में प्रथम के एकवचन में 'आ अस् त्' इस दशा में 'अस्तिसिचोपक्ते' से 'ईट्' आगम होकर 'आसीत्'

रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार सिप् में भी इकार का लोप होने पर अपक्त होने से 'इट्' का आगम होकर 'आसीः' रूप बनता है।

आस्ताम—आदि में आकार आट् का है। धातु के अकार का तो 'श्नसोरल्लोपः से लोप हो जाता है।

शेष रूप—आसीः, आस्तम्, आस्त। आसम्, आस्व, आस्म।

विधिलिङ्—स्यात्, स्याताम्, स्युः। स्याः, स्यातम्, स्यात। स्याम् , स्याव, स्याम।

विधिलिङ् के इन प्रयोगों में यासुट् के ङित् होने के कारण अकार का लोप होता है।

आशीर्लिङ् आदि शेष लकारों में आर्धधातुक होने से 'भू' आदेश होता हैं 'भू' के समान रूप बनते हैं।

इण् गतौ

एति, इतः

व्याख्याः जाना।

एति—सार्वधातुक गुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

इतः—तस् के अपित होने से ङिद्वत् होने के कारण गुण नहीं हुआ।

इणो यण 6.4.81

अजादौ प्रत्यये परे. यन्ति.

व्याख्याः इण् धातु के डकार को यण हो अजादि प्रत्यय परे होने पर।

यन्ति—'इ+अन्ति' इस दशा में 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरिङुवङौ' सूत्र से इयङ् प्राप्त है, उसका अपवाद यह यण् आदेश है। 'इ' को यण् यकार होने से 'यन्ति' रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप—म० एषि, इथः, इथ। उ० एमि, इवः, इमः।

अभ्यासस्यासवर्णे 6.4.78

अभ्यासस्य इवर्णोवर्णयोरियङुवङौ स्तोसवर्णेचि । इयाय।

व्याख्याः अभ्यास के इवर्ण और उवर्ण को क्रम से इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं असयर्ण अच् परे होने पर।

इयाय—इण् धातु से णल् में 'इ इ अ' ऐसी अवस्था में 'अचो ञ्णिति' से अभ्यास के उत्तरखण्ड इकार को वद्धि ऐकार और उसको 'आय्' आदेश होने पर 'इ आय् अ' इस दशा के होने पर प्रकृत सूत्र से असवर्ण अच् आकार परे होने से अभ्यास के इकार को 'इयङ् आदेश हुआ। तब 'इयाय' रूप सिद्ध हुआ।

अतुस् में द्वित्व होने पर कित् होने से गुण नहीं होता। अतः 'इ इ अतुस्' इस दशा में उत्तरखण्ड के इकार को 'इणो यण्' से यण् यकार होता है, तब 'इय् अतुस्' यह स्थिति होती है।

दीर्घ इणः किति 7.4.69

इणोभ्यासस्य दीर्घ स्यात् किति लिटि। ईयतुः ईयुः। इययिथ, इयेथ। एता। एष्यति। एतु। ऐत्, ऐताम्, आयन्। इयात् ईयात्।

व्याख्याः इण् धातु के अभ्यास को दीर्घ हो कित् लिट् परे होने पर।

ईयतुः—'इ य् अतुस्' इस स्थिति में कित् लिट् अतुस् परे होने से इण् धातु के अभ्यासरूप 'इकार' को दीर्घ होकर 'ईयतुः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'उस्' में 'ईयुः' रूप बनता है।

इययिथ—थल् में पित् होने से गुण होकर 'इ ए थ' यह दशा होती है। अनिट् अजन्त होने से वैकल्पिक इट् होता है। अभ्यास इकार को असवर्ण अच् परे होने से इयङ् आदेश हो जाता है। इट् पक्ष में 'ए' को 'अय्' आदेश होकर 'इययिथ' रूप बनता है। इडभावपक्ष में 'इयेथ'।

अन्य रूप—ईयथुः, ईयुः। इयाय—इयय, ईयिव, ईयिम।

लोट् में—एतु—इतात्, इताम, इयन्तु। इहि—इतात्, इतम्, इत। अयानि, अयाव, अयाम।

'हि' के अपित् होने से ङिद्वत् होने के कारण उसके परे रहते गुण नहीं होता। उत्तम में आट् के पित् होने से सार्वधातुक गुण हो जाता है, तब 'ए' कार को 'अय्' आदेश होता है।

ऐत्—लङ् के तिप् के इकार के लोप और आट् के साथ धातु के इकार को वद्धि एकादेश होने से यह रूप सिद्ध होता है।

आयन्—लङ् के प्रथम पुरुष के बहुवचन झि में इकार का लोप तथा झकार को 'अन्त्' आदेश होने पर 'इ अन्' इस स्थिति में इणो यण्' से यण् होता है। तब 'यन्' बनने पर आभीय होने के कारण यण् के असिद्ध होने से अजादि मानकर 'आट्' होता है।

लङ् के शेष रूप—म० ऐः, ऐतम्, ऐत। उ० आयम्, ऐव, ऐम।

'आयम्' में भी आयन् के समान पहले इकार को यण् होता है, बाद में आभीय होने के कारण यण् के असिद्धवत् होने से अजादि मानकर 'आट्' होता है।

विधिलिङ में—प्र० इयात्, इयाताम् इयुः। म० इयाः, इयातम्, इयात। उ० इयाम्, इयाव् इयाम।

ईयात्—आशीर्लिङ् में 'अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होकर—ईयात् ईयास्ताम्, इयासुः आदि रूप सिद्ध होते हैं।

एतेर्लिङि 7.4.24

उपसार्गात् परस्य इणोणो ह्रस्व आर्धधातुके किति लिङि। निरियात्। (प०) 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्-' अभीयात। अण, किम्-समेयात्।

व्याख्याः उपसर्ग से परे इण् धातु के अण् को ह्रस्व हो आर्धधातुक कित् लिङ् परे होने पर।

निरियात्—'निर् इयात्' इस दशा में आशीर्लिङ् का होने से 'ईयात्' आर्धधातुक कित् लिङ् है। उसके परे रहते इण के अण 'ई' कार को उपसर्ग निर् से परे होने के कारण ह्रस्व होकर 'निरियात्' रूप सिद्ध होता है।

उभयत इति—दोनों ओर से आश्रयण करने में अन्तादिद्भाव नहीं होता अर्थात् पूर्ववद्भाव और अन्तबद्भाव दोनों एक साथ नहीं होते।

अभीयात्— यहाँ उक्त परिभाषा के बल से ह्रस्व नहीं हो पाता। कयोंकि यहाँ 'अभि+ईयात्' इस स्थिति में दीर्घ हुआ है। तब यदि 'अन्तादिवच्च' सूत्र से पूर्वान्तवद्भाव से 'अभी' में उपसर्गत्व धर्म लाया जाय तो आगे 'यात्' रह जाता है, यह इण् धातु नहीं अर्थात् आगे इण् धातु नहीं मिलता। यदि परादिवद्भाव से 'ईयात्' में इण्त्व लाया जाय तो इधर 'अम्' बचता है, वह उपसर्ग नहीं। यदि पूर्वान्तवद्भाव से एकादेशयुक्त 'अभी' में उपसर्गत्व और 'भीयात्' में इणधातुत्व दोनों लाये जायँ तो कार्य हो सकता है, परन्तु दोनों बातें एक साथ नहीं होती, क्योंकि दोनों परस्परविरोधी हैं। दोनों विरुद्ध कार्य एक साथ हो नहीं सकते। इसलिये यहाँ ह्रस्व नहीं होता।

अण इति—अण् को ह्रस्व होता है—यह क्यों कहा? इसलिये कि समेयात्' में सूत्र की प्रवत्ति न हो। 'सम्+आ ईयात्' इस स्थिति में गुण होकर 'सम्+एयात्' बना है। यहाँ सम् उपसर्ग है और एकादेशविशिष्ट 'एयात्' में 'अन्तादिवच्च' से परादिवद्भाव से इण्धातुत्व है, परन्तु पूर्व अण् नहीं मकार है। इसलिये ह्रस्व नहीं होता।

इणो गा लुङि 2.4.45

'गातिस्था-' इति सिचो लुक्—अगात्। ऐष्यत्।

व्याख्याः इण धातु को 'गा' आदेश हो लुङ् के विषय में।

'गा' आदेश पहले हो जाता है। तब अजादि न मिलने से आट् नहीं होता।

अगात्—इण् धातु के लुङ् के प्रथम पुरुष एकवचन में 'गा' आदेश होने पर 'अ गा स् त्' इस अवस्था में 'गातिस्था' इत्यादि सूत्र से 'सिच्' का लोप होने पर 'अगात्' रूप सिद्ध होता है।

'गाति—स्था—' इस सूत्र में 'गा' से इण् के स्थान में होनेवाला आदेश 'गा' लिया जाता है इस बात को भ्वादिगण में बताया जा चुका है।

प्र० अगात्, अगाताम्, अगुः। म० अगाः, अगातम्, अगात। उ० अगाम्, अगाव, अगाम। 'अगुः' में सिच् होने पर 'आतः' सूत्र से झि को जुस् होता है और तब 'उस्यपदान्तात्' से आकार का पररूप।

लृङ् में प्र० ऐष्यत्, ऐष्यताम्, ऐष्यन्। म० ऐष्यः, ऐष्यतम्, ऐष्यत। उ० ऐष्यम्, ऐष्याव, ऐष्याम।

उपसर्ग के योग में—

अपैति = हटता है।	अन्वेति = पीछे चलता है, सम्बन्ध करता है।
अवैति = जानता है।	व्येति = विकृत होता है।
ऐति = आता है।	अभ्येति = जानता है।
उदेति = उदय होता है।	प्रत्येति = विश्वास करता है।
समुदेति = प्रकट होता है।	अभ्युदेति = प्रकट होता है।
अभिप्रैति = अभिप्राय रखता है।	

शीङ स्वप्ने

व्याख्याः सोना 'सेट्।'

शीङः सार्वधातुके गुणः 7.4.21

'क्ङिति च' इत्यस्यापवादः। शेते, शयाते।

व्याख्याः इति—शीङ् धातु को गुण हो सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर।

क्ङितोति—शीङ् धातु ङित् होने से आत्मनेपदी है। अतः आत्मनेपद के 'त' आदि प्रत्यय उससे परे आते हैं। वे अपित् होने से 'सार्वधातुकमपित्' से सार्वधातुक लकारों में ङिद्वत् होते हैं। उनके परे रहते 'क्ङिति च' से गुण का निषेध प्राप्त होता है। उसका अपवाद यह सूत्र है।

शेते—लट् के त में टि को एकार होने पर 'शी ते' इस अवस्था में सार्वधातुक 'त' प्रत्यय परे होने से 'ई' कार को प्रकृत सूत्र से गुण एकार होकर 'शेते' रूप सिद्ध होता है।

शयाते—'आताम्' में भी ईकार को एकार गुण होता है। एकार को 'अय्' आदेश हो जाता है। तथा टि 'आम्' को एकार होने पर 'शयाते' रूप बनता है।

झ् को 'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'अत्' आदेश होता है। टि को एकार तथा 'शीङ् सार्वधातुके गुणः' से गुण होकर 'शे अते' यह अवस्था हुई।

शीङो रुट् 7.1.7

शीङः परस्य झादेशस्यातो रुडागमः स्यात्। शेरते; शेषे, शयाथे, शेध्वे; शये, शेवहे, शेमहे। शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे। शयिता। शयिष्यते। शेताम्, शयाताम्, शेरताम्। अशेत्, अशयाताम्, अशेरत। शयीत, शयीयाताम्, शयीरन्। शयिषीष्ट। अशयिष्ट। अशयिष्यत।

व्याख्याः शीङ् से परे 'झ' के आदेश को रुट् आगम हो। शेरते रुट् आगम होने पर 'शेरते' रूप सिद्ध होता है। लट् के शेष रूपों में 'शीङः सार्वधातुके गुणः' सूत्र से गुण होता है।

शिश्ये——लिट् के 'एश्' में 'शी' के द्वित्व, अभ्यास को ह्रस्व और उत्तरखण्ड के 'ई' कार को यण् होकर 'शिश्ये' रूप सिद्ध होता है।

लिट के 'शेष रूप निम्नलिखित हैं—म० शिश्यिषे, शिश्याथो, शिश्यिढ्वेशिश्यिध्वे। उ० शिश्ये, शिश्यिवहे, शिश्यिमहे।

अजनत—सेट्कारिका में 'शीङ्' का ग्रहण है, अतः यह धातु सेट् है। बलादि आर्धधातुक को इसीलिये इट् होगा।

यहाँ ध्वम् में इण् यकार से परे इट् से परे होने के कारण 'ध्वम्' के धकार को 'विभाषेटः' सूत्र से ढकार विकल्प से होकर दो रूप बनते हैं।

शयिता—लुट् के प्र० पु० एकवचन में तास् आने पर इट् आगम, धातु के ईकार को आर्धधातुक गुण, अय् आदेश तिप् को 'डा' आदेश और डित्व सामर्थ्य से तास् की आस् टि का लोप होने पर रूप सिद्ध होता है।

शयिष्यते—लृट् में स्य को इट् आगम होता है। शेष कार्य यथावत् होता है।

लोट् में लट् के समान गुण होता है। 'झ' से रुट् का आम होता है। शेष रूप निम्नलिखित हैं—म० शेष्व, शयाथाम्, शेध्वम्। उ० शयै, शयावहै, शयामहै।

लङ् के शेष रूप—म० अशेथाः, अशायाथाम्, अशेध्वम्। उ० अशयि, अशेवहि, अशेमहि।

विधिलिङ् के शेष रूप— शयीथाः, शयीयाधाम्, शयीथ्वम्। उ० शयीय, शयीवहि, शयीमहि।

आशीर्लिङ्—प्र० शयिषीष्ट, शयिषीयास्ताम्, शयिषीरन्

म० शयिषीष्ठाः, शयिषीयास्थाम, शयिषीढ्वम्—शयिषीध्वम् उ० शयिषीय् शयिषीवहि, शयिषीमहि।

लुङ् में प्र० अशयिष्ट, अशयिषाताम्, अशयिषतै।

म० अशयिष्ठाः, अशयिषाथाम्, अशयिढ्वम—अशयिध्वम्।

उ० अशयिषि, अशयिष्वहि, अशयिष्महि।

यहाँ यह ध्यान रहे कि 'शीङ्' धातु सेट् है। 'ऊद्—ॠदन्तैः— इत्यादि कारिका में इसे सेट धातुओं में परिगणित किया है।

उपसर्ग के योग में—

संशेते, विशेते = संशय करता है। अनुशेते = अनुशेते = पश्चात्ताप करता है।

अधिशेते = लेटता है। अशिते = आशय रखता है।

इङ् अध्ययने

व्याख्याः पढ़ना (अनिट्)

इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिचरतः। अधीते, अधीयाते, अधीयते।

व्याख्याः इङिकाविति—इङ् धातु और 'इक् स्मरणे' धातु 'अधि'[1] उपसर्ग के बिना प्रयोग में नहीं आते अर्थात् इनके साथ सदा 'अधि' उपसर्ग रहता है।

इङ् धातु ङित् होने से आत्मनेपदी है।

अधीते—सवर्णदीर्घ होकर 'अधीते, अधीयाते, अधीयते' रूप सिद्ध होते हैं। 'आते' 'अते' में अजादि प्रत्यय परे होने से 'अचि श्नुघातु—' इत्यादि से इयङ् आदेश हो जाता है। तब सवर्ण दीर्घ होता है। गुण तो होता नहीं, क्योंकि अपित् होने से ये ङिद्वत् हैं।

शेष रूप ये हैं—म० अधीपे, आधीयाथे, अधीध्वे।

उ० अधीये, अधीवहे, अधीमहे।

गाङ् लिटि 2.4.49

इङो गाङ् स्यात् लिटि। अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे।

अध्येता। अध्येष्यते।

अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयाताम्। अधीष्व, अधीयाथाम् अधीध्वम्। अध्ययै, अध्यावहै, अध्ययामहै।

अध्येत, अध्यैययाताम्, अध्यैयत। अध्यैथाः, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम्। अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि।

अधीयीत, अधीयीयाताम्। अधीयीरन्। अध्येषीष्ट।

व्याख्या: इङ् धातु को 'गाङ्' आदेश हो लिट् परे होने पर (अथवा लिट् की विवक्षा में)

लावस्था में या लिट् की विवक्षा होने पर यह 'गाङ्' आदेश होता है।

अधिजगे—'गाङ्' आदेश होने पर 'गा' को द्वित्व होता है। अीयास को ह्रस्व और कुत्व भी होता है। तब 'आतो लोप इटि च' सूत्र से आकार का लोप होने पर रूप सिद्ध होता है।

प्रथमपुरुष के एश्, आते, इरेच प्रत्यय अजादि हैं। आथाम् और इट भी अजादि हैं। 'से, ण्वम् वह और महे' को क्रादिनियम से इट् होता है, इस प्रकार ये भी अजादि बन जाते हैं। अतः सभी के अजादि होने से उनके परे रहते 'आतो लोप इटि च' सूत्र से आकार का लोप होता है।

शेष रूप म० अधिजगिषे, अधिजगाथे, अधिजगिध्वे।

उ० अधिजगे, अधिजगिवहे, अधिजगिमहे।

अध्येता, अध्येष्यते—लुट् और लृट् में 'एता' और 'एष्यति' आदि रूप बनते हैं क्योंकि यह धातु अनिट् ही है।

लोट् लकार में अजादि प्रत्ययों में इयङ् आदेश होता है, तब 'अधि' के साथ सवर्णदीर्घ होता है, अन्यत्र हलादियों में केवल सवर्णदीर्घ होता है।

अध्ययै—उत्तम के एकवचन में अधि इ+इ, अधि इ+आ इ, अधि इ+ आ ऐ, अधि इ+ऐ, धि ए+ऐ, अधि अयै+अध ययै। इस प्रकार रूप सिद्ध होता है। आट् ऐकार आदेश, वद्धि धातु के इकार को गुण, अय् आदेश और उपसर्ग के इकार को यण् कार्य यहाँ होते हैं।

अध्यया है, अध्ययामहै—द्विवचन और बहुवचन में भी इसी प्रकार वद्धि को छोड़कर सारे कार्य होने पर रूप सिद्ध होते हैं।

अध्यैत—लङ् में आट् और उसके आकार तथा धातु के इकार को 'आटश्च्' से वद्धि होकर 'ऐत' रूप बनता है। तब उपसर्ग के कार को यण् होकर 'अध्यैत' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य रूप भी बनते हैं।

अधीयीत— विधिलिङ् में 'अधि इत' इस स्थिति में सीयुट, सुट्, दोनों सकारों का लोप और यकार का लोप किये जाने पर 'अधि इ ईत' इस दशा में 'सीयुट्' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् होने के कारण धातु के इकार को 'इयङ्' आदेश होता है। 'अधि इयीत' इस अवस्था में उपसर्ग के इकार तथा धातु के इकार को सवर्णदीर्घ होकर 'अधीयीत' यह रूप सिद्ध होता है।

अधीयीयाताम्—आताम्, में पूर्वाक्त सारे कार्य सीयुट् के यकार लोप को छोड़कर होते हैं। तब 'अधीयीयाताम्' रूप बनता है।

अधीयीरन्—'झ' को रन् आदेश होने पर यकार का लोप होने से पूर्ववत् सारे कार्य यथाक्रम से होकर 'अधीयीरन्' रूप बहुवचन में सिद्ध होता है।

शेष रूप भी इसीप्रकार सिद्ध होते हैं—म० अधीयीथाः, अधीयीयाथाम्, अधीयीध्वम्। उ० अधीयीय, अधीयीवहि, अधीयीमहि।

अध्येषीष्ट—आशीर्लिङ् में सीयुट सुट्, आर्धधातुक गुण, यण, और षत्व—होकर 'अध्येषीष्ट' रूप सिद्ध होता है।

आशीर्लिङ्—

प्र० अध्येषीष्ट, अध्येषीयास्ताम, अध्येषीरन्।

म० अध्येषीष्ठाः, अध्येषीयास्थाम् अध्येषीढ्वम्।

उ० अध्येषीय्, अध्येषीवहि, अध्येषीमहि।

विभाषा लुङ्-लृङोः 2.4.50

इङो गाङ् वा स्यात्।

१. पहले धातु से प्रत्यय के आने पर सारे कार्य हो जाते हैं। तब सिद्ध रूप के साथ उपसर्ग का सम्बन्ध होता है। यथा—'इते, इयाते, इयते' ये रूप लट् के पहले बन जाते हैं, तब 'अधि' उपसर्ग का योग होता है।

व्याख्याः इङ् धातु को गाङ् आदेश विकल्प से हो लुङ् और लृङ के विषय में।

लकार आने के पूर्व ही इङ् को इससे गाङ् आदेश होता है।

गाङ्-कुटादिभ्योणिन्ङित् 1.2.1

गाङादेशात् कुटादिभ्यश्च परेणितः प्रत्ययाः ङितः स्युः।

व्याख्याः 'गाङ्' आदेश और 'कुट[1]' आदि धातुओं से परे ञित् तथा णित् भिन्न प्रत्यय ङित् हों।

'अगा स् त' इस दशा में गाङ् आदेश से परे ञित् और णित् भिन्न सिच प्रत्यय है। यह ङित् हो जाता है।

घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि 6.4.66

एषामात ईत् स्यात् हलादौ क्ङिति-आर्धधातुके। अध्यगीष्ट, अध्यैष्ट। अध्यगीष्यत्, अध्यैष्यत।

व्याख्याः घुसंज्ञक, मा (नापना), स्था (ठहरना), गा (पढ़ना), पा (पीना), ओहाक् (त्यागना) और षो (नाश करना)–इन धातुओं के आकार को ईकार हो हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे होने पर।

गा को छोड़कर अन्य धातुओं के उदाहरण कर्मवाच्य में यक् के कित् होने से मिलते हैं। जैसे –दा–दीयते। धा–धीयते। भा–भीयते। स्था–स्थीयते। पा–पीयते। हा–हीयते। षो–सीयते।

गा का उदाहरण यहीं इङ् के स्थान में 'गाङ्' आदेश होने पर मिलता है।

अध्यगीष्ट–लुङ् के प्र० पु० एक वचन में 'अ गा स् त' इस स्थिति में हलादि ङित् आर्धधातुक 'सिच्' के परे होने पर 'गा' के अकार को 'ई' कार होता है। तब षत्व यकार आदेश कर के रूप सिद्ध होता है।

सम्पूर्ण रूप–

प्र० अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्,अध्यगीषत
म० अध्यगीष्ठाः, अध्यगीषाथाम,अध्यगीढ्वम्
उ० अध्यगीषि, अध्यगीष्वहि,अध्यगीष्महि

अध्यैष्ट

गाङ् के अभाव पक्ष में अधि या इस त इस स्थिति में इकार को गुण, आट् की वद्धि षत्व और ष्टुत्व–होने पर ऐष्ट, रूप बनता है, तब उपसर्ग के इकार को यण् होकर अध्यैष्ट रूप बनता है।

सम्पूर्ण रूप–

प्र० अध्यैष्टः, अध्यैषाताम्, अध्यैषत्।
म० अध्यैष्ठाः, अध्यैषाथाम्, अध्यैढ्वम।
उ० अध्यैषि, अध्यैष्वहि, अध्यैष्महि।

अध्य – लृङ् में गाङ् आदेश, 'गाङ्कुटादिभ्यः–' से स्य की ङित्त्व, 'घुमास्था' से ईत्त्व होकर 'अध्यगीष्यत' रूप बनता है।

सम्पूर्ण रूप–

प्र० अध्यगीष्यत अध्यगीष्येताम् अध्यगीष्यन्त
म० अध्यगीष्यथाः अध्यगीष्येथाम् अध्यगीष्यध्वम्
उ० अध्यगीष्ये अध्यगीष्यावहि अध्यगीष्यामहि

गाङ् आदेश के अभावपक्ष में –प० अध्यैष्यत, अध्यैष्येताम्, अध्यैष्यन्त। म० अध्यैष्यथाः, अध्यैष्येथाम्, अध्यैष्यध्वम्। उ० अध्यैष्ये, अध्यैष्यावहि, अध्यैष्यामहि।

'आताम्' और 'आथाम्' में अकार से परे होने के कारण आकार को 'आतो ङित' से इय् होकर उसके यकार का लोप होता है। तब 'स्य' के अन्त्य अकार और इय् के इकार को गुण एकादेश होता है।

---

१. 'कुट्' आदि गण तुदादिगण में आयगा।

दुह प्रपूरणे दोग्धि, दुग्धः, दुहन्ति; धोक्षि.

दुग्धे, दुहाते, दुहते; धुक्षे, दुहाथे, धुग्ध्वे; दुहे, दुह्वहे, दुह्महे।

दुदोह, दुदुहे। दोग्धा। धोक्ष्यति, धोक्ष्यते।

दोग्धु-दुग्धात्, दुग्धाम्, दुहन्तु; दुग्धि-दुग्धात्, दुग्धम्, दुग्ध; दोहानि, दोहाव, दोहाम।

दुग्धाम्, दुहाताम्, दुहताम्। धुक्ष्व, दुहाथाम्, धुग्ध्वम्। दोहै, दोहावहै, दोहामहै।

अधोक्, अदुग्धाम्, अदुहन्। अदोहम्, अदुग्ध, अदुहाताम्, अदुहत। अधुग्ध्वम्।

दुह्यात्, दुहीत।

व्याख्याः (दुहना)—दुह् धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी है।

इसके रूपों की सिद्धि में 'दादेर्धातोघः' 'झलां जश् झशि' 'झषस्तथोर्धोधः' और 'एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' इन चार सूत्रों की अत्यधिक आवश्यकता पड़ती है अर्थात् घ, ग, प्रत्यय के त और थ को ध तथा धातु के द को ध ये कार्य विशेष रूप से होते हें।

ध्यान रहना चाहिए कि प्रत्यय दो ही प्रकार के तो हैं—अजादि और हलादि।

अजादि प्रत्ययों के परे रहते तो उक्त कोई नहीं होते और न मकारादि तथा वकारादि प्रत्ययों के परे रहते ही।

हलादियों में झलादि अर्थात् तकारादि और थकरादि प्रत्ययों के परे रहते हकार को धकार, घकार को गकार तथा तकार और थकार को धकार आवश्यक होता है।

सकारादि प्रत्ययों के परे रहते घत्व होने पर भष्भाव से दकार को धकार भी होता है और इसके अतिरिक्त घकार को चर् ककार और सकार को मूर्धन्य षकार तथा क—ष के संयोग से क्ष होता है।

धकारादि केवल एक 'ध्वम्' प्रत्यय हैं उसके परे रहते हकार को घकार और उसकी गकार तथाा भष्भाव से दकार को धकार होता है।

लुट् लकार के दोनों पदों में तास् हो जाता है। अतः तकारादि प्रत्ययय होने से घत्व, गंत्व और तकार के स्थान में धत्व कार्य होते हैं।

ऌट् और ऌङ् में स्य आने से, आशीर्लिङ् आत्मनेपद में सीयुट् के सकार के लोप न होने से, लुङ—लकार में च्लि का 'क्स' आदेश हो जाने से तथा लट् के सिप् और से, लोट् के स्व में सकारादि प्रत्यय मिलते हैं। अतः इनमें घत्व भष्भाव, कत्व, षत्व, क्ष ये कार्य होते हैं।

'ध्वम्' के सभी स्थलों में घत्व, भष्भाव और गत्व होते हैं।

इन बातों का पूर्ण ध्यान रहेगा तो 'दुह्' के रूप बनाने कठिन न होंगे। मूल में अधिकांश आवश्यक रूप दे दिये गये हैं, अतः यहाँ देने की आवश्यकता नहीं।

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु 1.2.11

इक्समीपाद् हलः परो झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तः, तिङि। धुक्षीष्ट।

व्याख्याः इक् के समीप स्थित हल् से परे झलादि लिङ् और सिच् कित् होते हैं, तिङ परे होने पर।

लिङ् और सिच् का झलादि होना इट् के होने न होने पर निर्भर है। दुह धातु अनिट् है, इसलिए यहाँ झलादि, लिङ् और सिच् मिल जायेंगे। विधिलिङ् आत्मनेपद में सीयुट के सकार का लोप हो जाने से झलादि नहीं रहता। परस्मैपद में यासुट् होता है; वहाँ भी झलादि नहीं मिलता। केवल आशीर्लिङ् आत्मनेपद में सीयुट् इट् न होने की दशा में झलादि लिङ् मिलता है। लुङ् में दुह् धातु से परे च्लि को क्स हो जाता है; अतः सिच् न मिलने से वहाँ भी प्रवत्ति न होगी। सिच् का उदाहरण आगे मिलेगा।

धुक्षीष्ट—दुह धातु में इक् उकार के समीप हल् हकार स्थित है। इससे परे झलादि लिङ् आत्मनेपद का आशीर्लिङ्

सीयुट्रहित है। अतः यह प्रकृत सूत्र से कित् हो जायगा। कित् होने से गुण का निषेध हो जायगा।

सम्पूर्ण रूप—

प्र० घुक्षीष्ट, धुक्षीयास्ताम्, धुक्षीरन्।

म० धुक्षीष्ठाः, धुक्षीयास्थाम, धुक्षीध्वम्।

उ० धुक्षीय, धुक्षीवहि, धुखीमहि।

शल इगुपधाद् अनिटः क्सः 3.1.45

इगुपधो यः शलन्तः, तस्मादनिटश्च्लेः 'क्स' आदेशः स्यात्। अधुक्षत।

व्याख्याः इगुपध जो शलन्त धातु, उस अनिट् धातु से परे 'च्लि' को 'क्स' आदेश हो।

'क्स' अदन्त है और ककार इत्संज्ञक है।

अधुक्षत—दुह् धातु का उपधा उकार इक् है, अन्त में हकार शल् है। अतः यह इगुपध शलन्त धातु है। अनिट् भी यह है ही। अतः इससे परे 'च्लि' को 'क्स' आदेश हो जायगा। तब प्रत्यय सकारादि हो जाता है। घत्व, भष्भाव, कत्व, षत्व, क्षत्व होकर 'अधुक्षत्' आदि रूप बनते हैं।

सम्पूर्ण रूप—

प्र० अधुक्षत्, अधुक्षताम् अधुक्षन्।

म० अधुक्षः, अधुक्षतम्, अधुक्षत।

उ० अधुक्षम, अधुक्षाव, अधुक्षाम।

लुग् वा दुह-दिह-लिह-गुहामात्मनेपदे दन्त्ये 7.3.73

एषां क्सस्य लुग्वा स्यात्, दन्त्ये तङि। अदुग्ध-अधुक्षत।

व्याख्याः दुह्, दिह्, लिह् और गुह् धातुओं के 'क्स' का लुक् विकल्प से हो दन्त्य तङ् परे होने पर।

'तङ्' का अर्थ 'आत्मनेपद' होता है। इसमें अन्त्य तङ्—त, थास् और ध्वम् हैं। इन तीनों में 'क्स' का लोप होता है। लोप पक्ष में लङ् के समान रूप हो जाते हैं। 'वहि' में भी लोप होता है, उस पक्ष में जिस में 'व' कार का दन्त्य स्थान भी माना जाता है, जिस पक्ष में नहीं माना जाता उसमें नहीं।

लोपपक्ष में त का रूप—अदुग्ध। अभावपक्ष में—अधुक्षत।

क्सस्याचि 7.3.72

अजादौ तङि क्सस्य लोपः। 'अलोन्त्यस्य' इत्यकारलोपः। अधुक्षाताम्, अधुक्षन्त; अदुग्धाः-अधुक्षथाः, अधुक्षाथाम्, अधुगध्वम्-अधुग्ध्वम्। अधुक्षि, अदुह्वहि-अधुक्षावहि, अधुक्षामहि। अधोक्ष्यत्, अधोक्ष्यत।

व्याख्याः अजादि तङ् परे होने पर 'क्स' के अन्त्य अकार का लोप होता है।

अधुक्षाताम्—'आताम्' में 'अधुक्ष आताम्' इस दशा में अकार से परे मिल जाने के कारण आकार को 'आतो' ङितः, से 'इय्' प्राप्त होता है। उसके अपवाद रूप में प्रकृत सूत्र से 'क्स' के अकार के लोप का विधान किया गया है। अतः 'क्स' के अकार का लोप होने पर 'अधुक्षाताम्' रूप सिद्ध हुआ।

अधुक्षन्त—यहाँ 'अन्त्[1]' आदेश होने पर 'क्स' के अकार का लोप होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

दिह उपचये

व्याख्याः इसी प्रकार दिह् (वद्धि होना) धातु के भी रूप बनते हैं। 'दुह्' में जो कार्य होते हैं, वे सभी 'दिह्' को भी होते हैं।

उपसर्ग के योग में—

उपदेग्धि—लीपता है। संदेग्धि—सन्देह करता है।

देह—शब्द इसी धातु से बना है। देह का अर्थ शरीर है— यह बढ़ता रहता है।

लिह आस्वादने

लेढि, लीढः, लिहन्ति। लेक्षि। लीढे, लिहाते, लिहते; लिक्षे, लिहाथे, लीढ्वे। लिलेह, लिलिहे। लेढासि, लेढासे। लेक्ष्यति, लेक्ष्यते। लेढु, लीढाम, लिहन्तु; लीढि; लेहानि। लीढाम्। अलेट-अलेड्। अलिक्षत्, अलिक्षत-अलीढ। अलेक्ष्यत्, अलेक्ष्यत।

व्याख्याः (चाटना)—'लिह' धातु में दकार न होने से भष्भाव और धतव नहीं होते। इसके हकार 'हो ढः' से ढकार आदेश होता है। दुह् के समान अजादि और वकारा दि तथा मकारादि प्रत्ययों के परे रहते कोई विशेष कार्य नहीं होता।

हलादियों में तकारादि तथा थकारादि परे रहते हकार को ढकार, प्रत्यय के तकार और थकार को 'झषस्तथोर्धोधः' से धकार, धकार को ष्टुत्व ढकार, 'ढो ढे लोपः' से पूर्व ढकार का लोप होने पर यदि गुण की प्राप्ति होती है तो गुण होता है नहीं तो 'ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोणः' से इकार को दीर्घ होता है। 'ध्वम्' में भी यही प्रक्रिया होती है।

सकारादि प्रत्ययों के परे रहते हकार को ढकार, ढकार को 'षढोः का सिः' से ककार, सकार को इण् ककार से परे होने के कारण मूर्धन्य षकार ओर 'क् ष' संयोग से 'क्ष' होती है।

यही प्रक्रिया है जिससे 'लिह्' के रूप सिद्ध होते हैं।

लेढि—तिप् में शप के लोप होने पर गुण ढत्व, धत्व, ष्टुत्व और ढलोप होते हैं।

लीढ़ः—ढत्व, धत्व, ष्टुत्व ढलोप और इकार को दीर्ध होता है।

लेक्षि— सिप् में ढत्व, कत्व, षत्व होते हैं।

लिक्षे— आत्मनेपद से, ढ् क् ष्।

लीढि— लोट् के सिप् को अपित् 'हि' आदेश होने पर, उस हि को 'धि' आदेश, ढत्व, ष्टुत्व, ढलोप और दीर्घ कार्य होते हैं।

लेहानि—में आट् के पित होने से गुण हो जाता है।

लोट—आत्मनपद में —

प्र० लीढाम्, लिहाताम, लिहताम।

म० लिक्ष्व, लिहाथाम्, लीढ्वम्।

उ० लेहै, लेहावहै, लेहामहै।

लङ् प०—

प्र० अलेट्—ड्, अलीढाम, अलिहन्।

म० अलेट्—ड् अलीढम्, अलीढ।

उ० अलेहम्, अलिह्व, अलिह्म।

यहाँ तिप् में शप् के लुक् होने पर इकार का लोप, हल्ङ्यादि लोप, हकार को ढकार और चर्त्व विकल्प से होता है। 'मिप्' में पित् होने से गुण हो जाता है।

---

१. इसमें 'अन्त्' आदेश होने पर ही अजादि प्रत्यय परे मिलता है। इस लिए 'क्स' के अकार के लोप होने से पहले 'अन्त्' आदेश हो जाता है। उस समय 'क्स' के अकार से परे होने के कारण 'आत्मनेपदेष्वनतः' सूत्र से 'झ्' को 'अत्' आदेश नहीं हो पाता। इस बात का ध्यान रहना चाहिए।

आ० प०—

प्र० अलीढ, अलिहाताम, अलिहत।

म० अलीढाः, अलिहाथाम्, अलीढ्वम्।

उ० अलिहि, अलिह्वहि, अलिह्महि।

विधिलिङ् परस्मैपद में –लिह्याताम, इत्यादि और आत्मनेपद में–लिहीत, लिहीयाताम्, लिहीरन् आदि रूप बनते हैं।

आशीर्लिङ् परस्मैपद में – लिह्यात्, लिह्याताम् इत्यादि और आत्मनेपद में–लिहीत, लिहीयाताम्, लिहीरन् आदि रूप बनते हैं।

लुङ् में–

प्र० अलिक्षत्, अलिक्षताम्, अलिक्षन्।

म० अलिक्षः, अलिक्षतम् अलिक्षत।

उ० अलिक्षम् अलिक्षाव, अलिक्षाम।

आत्म० प०

प्र० अलिक्षत–अलीढ, अलिक्षाताम, अलिक्षन्त।

म० अलिक्षथाः–अलीढाः, अलिक्षाथाम्, अलिक्षध्वम्–अलीढ्वम्।

उ० अलिक्षि, अलिक्षावहि–अलिह्वहि, अलिक्षामहि।

यहाँ दन्त्य तङ् प्रत्ययों में 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' सूत्र से 'क्स' का लोप होने से लङ् के समान भी रूप बनते हैं।

'अवलेह' शब्द इसी धातु से बना है। अवलेह् का अर्थ चटनी होता है।

ब्रू व्यक्तायां वाचि

व्याख्याः (व्यक्त वाणी)–वयक्त वाणी का अर्थ स्पष्ट बोलना है। अर्थात् जिस वाणी में सार्थक शब्द हों–ऐसी वाणी मनुष्यों की ही होती है। अतः इस धातु का प्रयोग मनुष्यों के बोलने अर्थ में होता है।

ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः 3.4.88

ब्रुवो लटस्तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्चवा स्युः, ब्रुवश्चाहादेशाः। आह, आहतुः, आहुः।

व्याख्याः इति–'ब्रू' धातु से पर लट्स्थानीय तिप् आदि पाँच प्रत्ययों को णल् आदि पाँच आदेश विकल्प से हों और 'ब्रू' को 'आह्' आदेश हो।

आह–ब्रू धातु से लट् के तिप् की णल् आदेश और प्रकृति को 'आह्' आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

आहतुः और आहुः भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

सिप् को थल् और प्रकृति को 'आह्' होने पर 'आह् थ' यह स्थिति होती है।

आहस्थः 8.2.35

इलि परे। चर्त्वम्–आत्थ, आहथुः।

व्याख्याः 'आह्' को 'थकार' आदेश हो झल् परे होने पर।

'अलोन्त्य' परिभाषा से अन्त्य हकार को थकार होता है।

आत्थ–'आह+थ' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से हकार को थकार आदेश होने पर थकार को चर्त्त्व तकार होकर रूप बनता है।

ब्रुव ईट् 7.3.93

ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात्। ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति। ब्रूते, ब्रुवाते, ब्रुवते।

व्याख्याः 'ब्रू' से पर हलादि पित् प्रत्यय को 'इट्' आगम हो। हलादि पित् प्रत्यय पित्, सिप् और मिप् ये तीन हैं। इनकी ईट् भी होगा और इनके परे होने पर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः से गुण भी होता है। 'अन्त' में अपित् होने से ङित् होने के कारण गुण न होकर 'अचि श्नुधातुभ्रुवांय्वोरियङुवङौ' से उवङ् आदेश होता है। इसी प्रकार आत्मनेपद के अजादि प्रत्यय आते, अते, आथे,, ए–में भी 'उवङ' आदेश होता है।

लट् के शेष रूप–

म० ब्रवीषि, ब्रूथः, ब्रूथ,। ब्रूषे, ब्रुवाथे, ब्रूध्वे।

उ० ब्रवीमि ब्रूवः व्रूमः। ब्रु वे, ब्रूवहे, ब्रूमहे।

ब्रुवो वचिः 2.4.53

आर्धधातुके। उवाच, ऊचतुः ऊचुः। उवचिथ-उवक्थ। ऊचे। वक्ता। वक्ष्यति, वक्ष्यते। ब्रवीतु-ब्रूतात्, ब्रूताम्, ब्रुवन्तु, ब्रूहि।

व्याख्याः इति–ब्रू को 'वच्' आदेश हो आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर

उवाच– आर्धधातुक होने से लिट् में 'वच' आदेश हो जाता है। तब णल् में द्वित्व होने पर अभ्यास वकार की 'लिट्चभ्यासस्योभयेषाम्' से संप्रसारण उकार होकर 'उवाच' रूप बनता है।

ऊचतुः, ऊचुः–'अतुस्' आदि कित् प्रत्ययों में 'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्य बलवत्' परिभाषा के बल से 'वचिस्वपियजादीना'–किति' सूत्र से द्वित्व से पहले संप्रसारण और तदाश्रित कार्य पूर्ववत् होते हैं। तब द्वित्व आदि अन्य कार्य होते हैं।

उवचिथ, उवक्थ–तास् में नित्य अनिट् अकारवान् होने से यहाँ वैकल्पिक इट् होता है। इडभावपक्ष में 'चोः कुः' से चकार को ककार होता है।

ऊचे–आत्मनेपद के प्रत्यय अपित होने से 'असंयोगाल्लिट् कित्' सूत्र से कित् होते हैं। अतः इनमें द्वित्व से पहले संप्रसारण होता है।

सम्पूर्ण रूप–

आ० ऊचे, ऊचाते, ऊचिरे।

म० ऊचिषे, ऊचाथे ऊचिध्वे।

उ० ऊचे, ऊचिवहे, ऊचिमहे।

लुट् के परस्मैपद में –वक्ता, वक्तारौ, वक्तारः। वक्तासि आदि रूप और आत्मनेपद में–वक्तासे, वक्तासाथे आदि रूप बनते है।

वक्ष्यति–लृट् में चकार की कुत्व होने पर 'स्य' प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य आदेश होकर दोनों के संयोग से 'क्ष' हो जाता है।

इसी प्रकार लृङ में और आशीर्लिङ के सीयुट् में–क्योंकि आर्धधातुक होने से वहाँ सकार का लोप नहीं होता–'क्ष' हो जाता है। अतएव इन स्थलों में 'वह' धातु के समान ही रूप हो जाते हैं, 'वह्' के हकार को पहले ढकार होता है, तब उसको 'षढोः कः सि' से ककार, तब षत्य होकर क्ष' हो जाता है।

लृट में –वक्ष्यति, वक्ष्यतः वक्ष्यन्ति। वक्ष्यते, वक्ष्येते, वक्ष्यन्ते इत्यादि। लृङ् में –अवक्ष्यत्, अवक्ष्यात्, अवक्ष्यन्। अवक्ष्यत, अवक्ष्येताम्, अवक्ष्यन्त इत्यादि। आशीर्लिङ् आत्मनेपद में–वक्षीष्ट, वक्षीयास्ताम्, वक्षीरन् इत्यादि।

लोट में– तिप् को ईट् होता है। सिप् को अपित् 'हि आदेश होने से और मिप् को आट् आगम होने के कारण हलादि न मिलने से 'ईट्' नहीं होता।

प० प्र० ब्रवीतु—ब्रूतात, ब्रूताम्, ब्रुवन्तु।

म० ब्रूहि—ब्रूतात, ब्रूतम्, ब्रूत।

उ० ब्रवाणि, ब्रवाव, ब्रवाम।

आ० प्र० ब्रूताम, ब्रुवाताम्, ब्रुवताम।

म० ब्रूष्व, ब्रुवाथाम्, ब्रूध्वम्।

उ०, ब्रवं ब्रवावहै, ब्रवामहै।

लङ्—प० प्र० अब्रवीत्, अब्रूताम, अब्रुवन्।

म० अब्रवीः, अब्रूतम्, अब्रूत।

उ० अब्रवम्, अब्रूव, अब्रूम।

आ० प्र० अब्रूते, अब्रुवाताम्, अब्रुवन्त।

म० अब्रूथाः, अब्रुववाथाम्, अब्रूध्वम्।

उ० अब्रुवि, अब्रुवहि, अब्रूमहि।

'अब्रवीत्' और 'अब्रवीः' में हलादि पित् सार्वधातुक होने से 'ब्रुव ईट्' से ईट् हुआ। मिप् को अम् होने पर हलादि न मिलने से नहीं हुआ।

'ङित् अजादि प्रत्यय 'अन्ति' आदि के परे रहते उवङ् आदेश होता है

विधिलिङ्—प० प्र० ब्रूयात, ब्रूयाताम्, ब्रूयुः।

म० ब्रूयाः, ब्रूयातम्, ब्रूयात।

उ० ब्रूयाम, ब्रूयाव, ब्रूयाम।

आ० प्र०—ब्रुवीत, ब्रुवीयाताम्, ब्रुवीरन।

म० ब्रुवीथाः ब्रुवीयाथाम्, ब्रुवीध्वम्।

उ०ब्रुवीय, ब्रुवीवहि, ब्रुवीमहि।

आशीलिङ्— प० प्र० उच्यात्, उच्यास्ताम् उच्यासुः।

म० उच्याः उच्यास्तम्, उच्यास्त।

उ० उच्यासम्, उच्यास्व, उच्यास्म।

यहाँ परस्मैपद में यासुट के 'किदाशिपि' से कित् होने के कारण संप्रसारण हो जाता है। आत्मनेपद में सीयुट् कित् नहीं, संप्रसारण नहीं होता अतः 'वक्षीष्ट' आदि रूप बनते हैं।

अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योङ् 3.1.55

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्।

व्याख्याः अस् (दि० फेंकना), वच् (अ० बोलना) और ख्या (अ० कहना) धातुओं से पर च्लि को अङ् आदेश हो।

लुङ् में च्लि आने पर आर्धधातुक होने से 'ब्रू' को 'वच्' आदेश होता है। उससे पर 'च्लि' को अङ् आदेश प्रकृत सूत्र से हो जाने पर 'अवच् अ त्' यह स्थिति बनती है।

वच उम् 7.4.10

अङि परे। अवोचत्। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।

(ग० सू०) चर्करीत। च। चर्करीतमिति यङ्लुगन्तम् तददादौ बोध्यम।

व्याख्याः वच् को उम् आगम हो अङ् परे होने पर।

अवोचत्—यहाँ 'अ वच् अ त्' इस पूर्वोक्त स्थिति में प्रकृत सूत्र से उम् अन्त्य अच् वकारोत्तरवर्ती अकार के आगे होता है। अ—व उ च् अ त्' इस अवस्था में गुण होने पर 'अवोचत्' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार —प०

प्र० अवोचताम्, अवोचन्।

म० अवोचः, अवोचतम्, अवोचत।

उ० अवोचम्, अवीयाव, अवोचाम।

आ० प्र० अवोचत, अवोचेताम्, अवोचन्त

म० अवोचथाः, अवोचेथाम्, अवोचध्वम्।

उ० अवोचि, अवोचावहि, अवीचामहि—

ये रूप बनते हैं।

(ग० सू०) चर्करीतमिति—'चर्करीत'[1] यङ् लुगन्त को कहते हैं उसको अदादिगण में समझना चाहिये अर्थात् जो कार्य शप् का लुक् अदादिगण में होता है, वह यङ् लुगन्त धातुओं को भी हो।

यह गणसूत्र हैं अदादिगण का निरूपण करते हुए यह कहा गया है। अतः यङ् लुगन्त धातु अदादिगण के अन्तर्गत हुए। अतः यङ् लुगन्त में शप् का लुक् होगा। जैसे—बोभोति। 'बोभू' यह यङ् लुगन्त धातु है। अदादि होने से इससे शप का लुक् हो जाता है।

ऊर्णु‌ञ् आच्छादने 24

व्याख्याः २४ ऊर्णु (ढकना)—यह धातु ञित् होने से उभ्य पदी है और अनेका—च् होने से सेट् भी।

ऊर्णोतेर्विभाषा 7.3.10

वा वद्धिः स्याद् हलादौ पिति सार्वधा तु के। ऊर्णोति-ऊर्णोति, ऊर्णुवन्ति। ऊर्णुवाते, ऊर्णुवाते, ऊर्णुवते।

व्याख्याः 'ऊर्णु' धातु को विकल्प से वद्धि हो हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर।

'अलोन्तयस्य' परिभाषा से वद्धि अन्त्य अल उकार को होगी।

हलादि पित् सार्वधातुक तिप्, सिप्, मिप्—ये तीन हैं। इनके परे रहते उकार को वद्धि होगी, अभावपक्ष में सार्वधातुक गुण होगा। शेष में अपित् होने से ङिद्वत् होने के कारण गुण भी न होगा। अजादियों में उवङ् आदेश होगा। आत्मनेपद के सभी प्रत्यय अपित् होने से ङिद्वत् हैं, अतः वहाँ वद्धि और गुण—दोनों नहीं होते, सर्वत्र उवङ् आदेश होता है।

शेष रूप —

प्र० ऊर्णौषि—ऊर्णोषि, ऊर्णुथः, ऊर्णुथ।

उ० ऊर्णौमि—ऊर्णोमि, ऊर्णुवः, ऊर्णुमः।

आ० म० ऊणौ, ऊर्णुवाथे, ऊर्णुध्वे।

उ० ऊर्णुवे, ऊर्णुवहे, ऊर्णुमहे।

(वा) ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्।

व्याख्याः (वा) ऊर्णोतेरिति— ऊर्णु धातु से आम् न हो—यह कहना चाहिये। इजादि गुरुमान् होने से 'इजादेश्च गुरुमतोनच्छः' सूत्र से यहाँ आम् प्राप्त थां इस वार्तिक से निषेध किया गया है। इच् ऊकार है और वह दीर्घ होने से गुरु भी है। अतः यह 'ऊर्णु' धातु इजादि गुरुमान् है।

आम् के निषेध होने पर लिट् में द्वित्व प्राप्त होता है। यह अजादि धातु है, अतः द्वितीय एकाच को द्वित्व होगा। द्वितीय एकाच् 'र्णु' है। इसमें रेफ को भी द्वित्व प्राप्त होता है।

न न्द्रा संयोगादयः 6.1.3

अचः पराः संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति। 'नु'शब्दस्य द्वित्वम्। ऊर्णुनाव, ऊर्णुनुवतुः, ऊर्णुनुवुः।

व्याख्याः इति–अच् से पर वर्तमान संयोगादि नकार, दकार और रेफ को द्वित्व न हो।

'ऊर्णु' में रेफ अच् ऊकार से पर है और संयोग 'ण्' के आदि में है। अतः प्रकृत सूत्र से उसको प्राप्त द्वित्व का निषेध हो जाता है।

नु–शब्दस्येति–तब 'नु'[1] शब्द को द्वित्व होता है। द्वित्व होने पर अभ्यास के नकार को पुनः रेफ से पर होने के कारण णत्व हो जाता है परन्तु अभ्यास के उत्तरखण्ड में नकार ही रहता है।

ऊर्णुनाव—पूर्वोक्त प्रकार से द्वित्व होने पर 'ऊर्णुनु अ' इस दशा में अचो ञ्णिति' से औ वद्धि होने पर 'आव्' आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

ऊर्णुनुवतुः और ऊर्णुनुवुः– में अपित् लिट् के कित् होने से उकार को गुण तो नहीं हो पाता, उवङ् आदेश हो जाता है।

विभाषोर्णोः 1.2.3

इडादिप्रत्यवो वा ङित् स्यात्। ऊर्णुनुर्थि-ऊर्णुनविथ। ऊर्णुविता-ऊर्णविता। ऊणुविष्यति-ऊर्णविष्यति। ऊर्णोतु-ऊर्णोतु-ऊर्णोतु। ऊर्णवानि, ऊर्णवै।

व्याख्याः 'ऊर्णु' धातु से पर इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित् हो। ङित्पक्ष में गुण का निषेध हो जायगा और तब 'उवङ्' आदेश होगा। अभावपक्ष में गुण होगा। इस प्रकार दो दो रूप बनेंगे।

क्योंकि यह धातु अनेकाच् होने से सेट् है, अतः इसकी इट् सर्वत्र होता है। थल् में इडादि प्रत्यय मिलता है, और इसीलिये प्रकृत सूत्र से ङित् विकल्प से होता है। ङित्पक्ष में उवङ् और अभावपक्ष में गुण और अव् आदेश होंगे।

म० ऊर्णुनुविथ–ऊर्णनविथ, ऊर्णुनुवथुः, ऊर्णुनव।

उ० ऊर्णुनाव,ऊर्णुनव, ऊर्णुविव ऊर्णुनविव, ऊर्णुनुविम–ऊर्णुनविम।

आ० प्र० ऊर्णुनुवे, ऊर्णुनुवाते, ऊर्णुनुविरे।

म० ऊर्णुनुविषे–ऊर्णुनविषे, ऊर्णुवथे, ऊर्णुविढ्वे–ऊर्णुनुविध्वे।

उ० ऊर्णुनुवे, ऊर्णुनुविवहे–ऊर्णुनविवहे, ऊर्णुविमहे–ऊर्णुनविमहे।

लुट्–प० प्र० ऊर्णुविता, ऊर्णुवितारौ, ऊर्णुवितारः। ऊर्णुविता, ऊर्णुवितारौ ऊर्णुवितारः।

म० ऊर्णुवितासि, ऊर्णुवितास्थ५, ऊर्णुवितास्थ। ऊर्णुवितासि, ऊर्णुतिास्थः, ऊर्णुवितास्थ।

उ० ऊर्णुवितास्मि, ऊर्णुवितास्वः, ऊर्णुवितास्मः। ऊर्णुबितासिम, ऊर्णुवितास्वः, ऊर्णुवितास्मः।

आ० म० ऊर्णुवितासे, ऊर्णुवितासाथे, ऊर्णुविताहे, ऊणुवितासे, ऊर्णुवितासाथे, ऊर्णुविताथ्वे।

उ० ऊर्णुविताहे, ऊर्णुवितास्वहे, ऊर्णुवितास्महे। ऊर्णुविताहे, ऊर्णुवितास्वहे, ऊर्णुवितास्महे।

लृट् प० प्र० ऊर्णुविष्यति, ऊर्णुविष्यतः, ऊर्णुविष्यन्ति। ऊर्णुविष्यति, ऊर्णुविष्यतः, ऊर्णुविष्यति।

म० ऊर्णुविष्यसि, ऊर्णुविष्यथः, ऊर्णुविष्यथ। ऊर्णुविष्यसि, ऊर्णुविष्यथः, ऊर्णुविष्यथ।

उ० ऊर्णुविष्यामि, ऊर्णुविष्याा, ऊर्णुविष्यामः। ऊर्णुविष्यामि, ऊर्णुविष्यावः, ऊर्णुविष्याम्।

आ० प्र० ऊर्णुविष्यते, ऊर्णुविष्येते, ऊर्णुविष्यन्ते। ऊर्णुविष्यते, ऊर्णुविष्येते, ऊर्णुविष्यन्ते।

म० ऊर्णुविष्यसे, ऊर्णु विष्येथे, ऊर्णुविष्यध्वे। ऊर्णुविष्यसे, ऊर्णुविष्येथे, ऊर्णुविष्यध्वे।

---

१. यङ् लुगन्त की प्राचीन आचार्यों ने 'चर्करीत' यह संज्ञा रखी है। क्योंकि 'चर्करीत' यङ् लुगन्त से ही बना है। परिचय के लिये यह संज्ञा समुचित है। इसी प्रकार ण्यनत की 'कारित' और सन्नन्त की 'चिकीर्षित' संज्ञा है।

उ० ऊर्णुविष्ये, ऊर्णुविष्यावहे, ऊर्णुविष्यन्ते।

म०ऊर्णुविष्यसे, ऊर्णुविष्येथे, ऊर्णुविष्यध्वे। ऊर्णुविष्यसे ऊर्णुविष्येथे, ऊर्णुविष्यध्वे।

उ० ऊर्णुविष्ये, ऊर्णु विष्यावहे, ऊर्णुविष्यामहे। ऊर्णुविष्ये, ऊर्णुविष्यावहे, ऊर्णुविष्यामहे।

लोट प० प्र० ऊर्णोतु–ऊर्णोतु ऊर्णुतात, ऊर्णुताम्, ऊर्णुवन्तु।

म० ऊर्णुहि–ऊर्णुतात्, ऊर्णुतम्, ऊर्णुत।

उ० ऊर्णुवानि, ऊर्णुवाव, ऊर्णुवाम।

आ० प्र० ऊर्णुताम्, ऊर्णुवाताम, ऊर्णुवताम्।

म० ऊर्णुष्व ऊर्णुवाथाम्, ऊर्णुध्वम्।

उ० ऊर्णुवै, ऊर्णुवावहै, ऊर्णुवामहै।

गुणोपक्ते 7.3.91

ऊर्णोतेगुणोपक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके। वद्धचपवादः। और्णोत्, और्णोः। ऊर्णुयात्, ऊर्णुयाः। ऊर्णुवीत। ऊर्णुयात्। ऊर्णुविषीष्ट-ऊर्णविषीष्ट।

व्याख्याः 'ऊर्णु' धातु को गुण हो अपक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे होने पर।

वद्धचपवाद इति– यह सूत्र 'उर्णोतेर्विभाषा सूत्र से प्राप्त वद्धि का बाधक है।

लङ् लकार में 'तिप्' और 'सिप्' के इकार का 'इतश्च' के लोप होने से अपक्त हलादि पित् सार्वधातुक मिलता है, इनमें वद्धि को बाधकर गुण हो जाता है। 'मिप् को 'अम्' आदेश हो जाने से हलादि नहीं रह जाता, अतः वहाँ वद्धि प्राप्त भी नहीं होती। वहाँ सामान्य सार्वधातुक गुण होता है।

प० –

प्र० और्णोत्, और्णुताम्, और्णुवन।

म० और्णोः, ओर्णुतम्, और्णुत।

उ० और्णवम्, और्णुव, और्णुम।

आ –

प्र० और्णुत, और्णुवाताम, और्णुवत।

म० और्णुथाः, और्णुवाथाम्, और्णुध्वम्।

उ० और्णुवि, और्णुवहि, औणुमहि।

विधिलिङ्–

प० ऊर्णुयात्, ऊर्णुयाताम्, ऊर्णुयुः।

म० ऊर्णुयाः ऊर्णुयातम्, ऊर्णुयात।

उ० ऊर्णुयाम्, ऊर्णुयाम्, ऊर्णुयाव ऊर्णुयाम।

आ०

प्र० ऊर्णुवीत, ऊर्णुवीयाताम्, ऊर्णुवीरन।

म० ऊर्णुयाः ऊर्णुयातम्, ऊर्णुयात।

उ० ऊर्णुवीय, ऊर्णुवीवहि, ऊर्णुवीमहि।

---

१. यहाँ य ध्यान रहना चाहये कि धातुओं में जाहँ रेफ से पर णकार है, वह नकार के ही स्थान में हुआ–यह निश्चित है। इसके अतिरिक्त–नकार 'नकाराजावनुस्वार–पचमौ झलि धातुषु। सकाराजः षकाश्च षाट्टवर्गस्तवर्गजः।।' इति।। अर्थात् धातुओं में जो झल्पर अनुस्वरार या पचम वर्ण मिलते हैं, वे नकार–स्थानिक हैं, षकार सकार–स्थानिक और पकार से पर टवर्ग तवर्ग–स्थानिक हैं।

आशीर्लिङ् –

प० ऊर्णुयात्, ऊर्णुयास्ताम, ऊर्णुयासुः।

म० ऊर्णुयाः, ऊर्णुयास्तर्म, ऊर्णुयास्त।

उ० ऊर्णुयासम्, ऊर्णुयास्व, ऊर्णुयास्म।

यहाँ अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होता है।

आ०–

प्र० ऊर्णुविषीष्ट, ऊर्णुविषीयास्ताम्, ऊर्णुविषीरन, ऊर्णुविषीष्ट, ऊर्णुविषीयास्ताम, ऊर्णुविषीरन्।

म० ऊर्णुविषीष्ठाः, ऊर्णुविष्ञीयास्थाम्, ऊर्णुविष्ञीध्वम्। ऊर्णुविषीष्ठाः, ऊर्णुविषीयास्थाम्, ऊर्णुविषीध्वम्।

उ० ऊर्णुविषीय, ऊर्णु विषीवहि, ऊर्णुविषीमहि। ऊर्णुविषीय ऊर्णुविषवहि, ऊर्णुविषीमहि।

यहाँ इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित् होता है। ङित्पक्ष में उवङ् और अभावपक्ष में गुण यथापूर्व होता है।

ऊर्णोतेर्विभाषा 7.2.6

इडादौ परस्मैपदे परे सिचि वा वद्धिः। पक्षे गुणः। और्णावीत्–और्णुवीत्-और्णवीत्। और्णाविष्टाम्- और्णुविष्टाम्-और्णविष्टाम्। और्णुविष्ट, और्णविष्ट। और्णविष्यत्। और्णुविष्यत्, और्णविष्यत्।

व्याख्याः ऊर्णोतेरिति 'ऊर्णु' धातु की इडादि परस्मैपद सिच् परे रहते विकल्प से वद्धि हो।

पक्षे इति–पक्ष में गुण होता है।

इस प्रकार लुङ् में भी इडादि प्रत्यय मिलता है। वह जब ङित् होता है तब उवङ् आदेश हो जाता है और अभावपक्ष में गुण को बाधकर प्रकृत सूत्र से वद्धि विकल्प से होती है। वद्धि के अभावपक्ष में गुण हो जाता है। इस प्रकार लुङ् परस्मैपद में तीन रूप बनते हैं।

और्णुविष्ट–और्णविष्ट–आत्मनेपद में वद्धि तो होती नहीं, क्योंकि उसका विधान परस्मैपद में ही किया गया है, अतः ङिद् विकल्प से दो दो रूप बनते हैं।

पहले कह दिया गया है कि परस्मैपद में तीन तीन रूप बनेंगे। आत्मनेपद में दो दो बनेंगे।

ऌङ् लकार में भी ङिद् विकल्प से दो –दो रूप बनते हैं।

(अदादिगण समाप्त)

अध्याय—8

अथ जुहोत्यादिगणः

हु दानादनयोः

यह धातु अजन्त एकाच् है। और सेट् कारिका में इसका पाठ नहीं अतः यह अनिट है।

हु ([1]देना और खाना)—जुहोत्यादिगण में 'हु' धातु प्रथम है। अतः उसके ही रूप सब से पहले सिद्ध किये जाते हैं।

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः 2.4.75

व्याख्याः शयः श्लुः स्यात् जुहोत्यादिगण की धातुओं से परे शप् का श्लु (लोप) हो।

'श्लु' का अर्थ भी लोप ही होता हैं परन्तु भिन्न कार्य करने के लिए पथक् शब्द कहा गया है। 'श्लु' का फल अग्रिम सूत्र से द्वित्व होना है।

'हु' धातु से लट् के स्थान में तिप् होने पर 'कर्तरि शप्' से शप् आया। उसका प्रकृत सूत्र से श्लु (लोप) हो गया। तब 'हु+ति' यह दशा हुई।

श्लौ 6.1.10

धातोर्द्वे स्तः। जुहोति, जुहुतः।

व्याख्याः श्लु परे होने पर अर्थात् जहाँ शप् को श्लु हुआ है, वहाँ धातु को द्वित्व हो जुहोति—यहाँ श्लु हुआ है, अतः द्वित्व होता हैं तब 'हु हु ति' इस दशा में पूर्वखण्ड अभ्यास को 'कुहोश्चुः' से चवर्ग 'झ' और 'अभ्यासे चर्च' से जश् जकार तथा उत्तरखण्ड में सार्वधाातुक गुण हो 'जुहोति' रूप सिद्ध हुआ।

जुहुतः—तम् के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् हो जाने के कारण गुण नहीं होता। अतः 'जुहुतः' रूप बनता है।

अत-अभ्यस्तात् 7.1.4

झस्यात् स्यात्। 'हुश्नुवोः' इति यण-जुह्वति।

व्याख्याः अभ्यस्त से परे 'झ' को 'अत्' आदेश हो।

'झोन्तः' से प्राप्त 'अन्त्' आदेश का यह बाधक है।

'उभे अभ्यस्तम्' से जुहोत्यादिगण की धातुयें अभ्यस्तसंज्ञक हैं, क्योंकि — 'श्लौ ६।१।१०' सूत्र से यहाँ द्वित्व होता है जो कि छठे अध्याय के इस सूत्र के द्वारा विहित होने से षाष्ठ द्वित्व है।

जुह्वति—'हु' धातु से परे 'झ' को प्रकृत सूत्र से अत् आदेश होता है। 'जुहु अति' इस दशा में उवङ् प्राप्त होता है। विशेष विहित होने से उसको बाधकर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण् होकर 'जुह्वति' रूप बनता है।

शेष रूप —म० जुहोति, जुहुथः जुहुथ। उ० जुहोमि, जुहुवः, जुहुमः।

भी-ह्री-भ-हुवां श्लुवच्च 3.1.39

एभ्यो लिटि आम् वा स्यात, आमि श्लाविव कार्यं च। जुहवाञ्चकार, जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु-जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतुः, जुहुधि, जुहवानि। अजुहोत, अजुहुताम्।

---

१. देने का तात्पर्य यहाँ (डालना) से है। प्रक्षेप भी यहाँ साधारण नहीं, अपितु विधिपूर्वक मन्त्रपाठ करते हुए 'हवि' का अग्नि में डालना लिया जाता है। इस प्रकार 'हवन करना' या 'आहुति डालना' अर्थ इस धातु का फलित होता है।

व्याख्याः भीह्री इति— भी (डरना) ह्री (लजाना), भृ (पालन करना) और हु (हवन करना) इन धातुओं से आम् प्रत्यय हो लिट् परे होने पर विकल्प से, तथा श्लु के विषय में जो कार्य (द्वित्व) होता है वह भी हो।

यहाँ 'हु' धातु से लिट् पर होने पर आम् आयेगा और श्लुवद्भाव होने से द्वित्व होने पर अभ्यासकार्य आदि होंगे। तब 'जुहवाम्' यह दशा होगी। लिट् का 'आमः' से लोप हो जायगा। तदनन्तर लिट्परक कृ भू और अस् का अनुप्रयोग होगा। निम्नलिखित प्रकार से अनुप्रयोग के रूप बनेंगे।

प्र० जुहवाचकार, जुहवाचकतुः जुहवाचक्रुः।

म० जुहवाचकर्थ, जुहवाचक्रथुः, जुहवाचक्र।

उ० जुहवाचकार–जुहवाचकर, जुहवाचकृव, जुहवाचकृम।

इसी प्रकार जुहवाम्बभूव और जुहवामास इत्यादि रूप बनेंगे।

'आम्' के अभावपक्ष में 'हु' को द्वित्व होने पर अभ्यास कार्य आदि होकर निम्नलिखित रूप बनेंगे –

प्र० जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः।

म० जुहोथ–जुहविथ, जुहुवथुः, जुहुव।

उ० जुहाव–जुहव, जुहुविव, जुहुविम।

लुट् में–होता, होतारौ, होतारः इत्यादि रूप बनते हैं।

यहाँ धातु के अनिट् होने से इट् आगम नहीं होता। धातु के उकार को आर्धधातुक गुण हो जाता है। इसी प्रकार ऌट् में–होष्यति, होष्यतिः, होष्यन्ति आदि रूप सिद्ध होते हैं।

लोट् में लट् के समान शप् का श्लु और द्वित्व आदि कार्य होंगे।

जुहुधि–यह 'सिप्' का रूप है। सिप् को 'हि' होता है और उसको 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'धि' आदेश होकर रूप बनता है।

जुहवानि–उत्तम में आट् के पित् होने से 'हुश्नुवोः–' के यण् को बाधकर गुण और अवादेश होकर जुहवानि, जुहवाव, जुहवाम रूप बनते हें।

लङ् में तिप् का अजुहोत् और तस् का अजुहुताम् रूप बनता है।

अभ्यस्त से परे होने के कारण 'झि' को 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से 'जुस्' होता है। अपित् होने से 'झि' ङित् होता है, अतः गुण का निषेध होकर उवङ् प्राप्त होता है। उसको बाधकर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण् प्राप्त है, उसका अपवाद अग्रिम सूत्र है।

जुसि च 7.3.83

इगन्ताङ्गस्य गुणोजादौ जुसि। अजुहवुः। जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्। अहोष्यत्।

व्याख्याः जुसीति–इगन्त अङ्ग को गुण हो अजादि जुस् परे होने पर।

लिङ् में यास् और लुङ् में सिच् के कारण जुस अजादि नहीं रहता– अतः वहाँ यण् न हो, इस के लिये यह विशेषण दिया गया है।

अजुहवुः–'अजुहु+उस्' इस दशा में उवङ् आदेश को बाधकर प्रकृत सूत्र से गुण होने पर 'अव्' आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

म० अजुहोः, अजुहुतम्, अजुहुत।

उ० अजुहवम्, अजुहुव, अजुहुम।

जुहुयात्–विधिलिङ् में जुहुयात्, जुहुयाताम, जुहयुः आदि रूप बनते हैं।

हूयात्–आशीर्लिङ् में 'अकृत्सार्वधातुकयोः–' से दीर्घ होकर हूयात् हूयारस्ताम्, हूयासुः आदि रूप सिद्ध होते हैं।

अहौषीत—लुङ् में सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से उकार को वृद्धि होती है। अनिट् धातु है। अतः अहौषीत, अहोष्टाम्, अहौषुः इत्यादि रूप बनते हैं। लृङ् में अहोष्यत्, अहोष्यताम्, अहोष्यन् आदि रूप होते हैं।

(ii) भी भये बिभेति .

व्याख्याः भी (डरना) —यह धातु अनिट् है।

बिभेति—लट, तिप्, शप, श्लु,द्वित्व, अभ्यासकार्य, उत्तरखण्ड के ईकार को गुण होकर यह रूप सिद्ध हुआ।

भियोऽन्यतरस्याम् 6.4.115

इकारो वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके।बिभितः -बिभीतः, बिभ्यति। बिभ्याचकार, बिभाय। भेता। भेष्यति।बिभेतु- बिभितात्-बिभीतात्। अबिभेत्। बिभियात्-बिभीयात्। भीयात्। अभैषीत्। अभेष्यत्।

व्याख्याः 'भी' धातु को ह्रस्व इकार अन्तादेश हो विकल्प से कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

बिभितः,बिभीतः—लट् का तस् हलादि और अपित् सार्वधातुक होने से ङिवेद्भाव के द्वारा ङित् है उसके परे रहते दीर्घ इकार को ह्रस्व विकल्प से हो कर उक्त दो रूप सिद्ध होंगे।

इसी प्रकार लट् के थस, थ, वस्, और मस्—हलादि ङित् सार्वधातुक होने से इत्व विकल्प के कारण दो दो रूप बनेंगे।

शेष रूप—

म० बिभेषि, बिभिथः—बिभीथः, बिभिथ—बिभीथ।

उ० विभेमि, बिभिवः—बिभीवः, बिभिमः—बिभीमः।

बिभयाचकार —लिट् में 'भीहीभृहुवां श्लुवच्च' सूत्र से आम् और श्लु के समान द्वित्वादि कार्य होकर 'बिभयाम्' ऐसी स्थिति होने पर 'कृ' आदि धातुओं का अनुप्रयोग होता है।

अनुप्रयोग के अभावपक्ष में

प० बिभाय, बिभ्यतुः, बिभ्युः।

म० बिभयिथ—बिभेथ, बिभ्यथुः, बिभ्य।

उ० बिभाय—बिभय, बिभ्यिव, बिभ्यिम।

यहाँ थल में अजन्त अनिट् होने से भारद्वाजनियम से विकल्प से और व तथा म में क्रादिनियम से इट् होता है।

भेता, भेष्यति—लुट् और लृट् के ये रूप साधारण प्रक्रिया से सिद्ध होते हैं।

लोट् में हलादि प्रत्ययों में ह्रस्व विकल्प होता है—

प्र० बिभेतु—बिभितात्—बिभीतात्, बिभिताम्—बिभीताम्, बिभ्यतु।

म० बिभिहि—बिभीहि—बिभितात्—बिभीतात्। बिभितम्—बिभीतम्, बिभित—बिभीत।

उ० बिभयानि, बिभयाव, बिभयाम।

उत्तम पुरुष में आट् हो जाने से गुण और अयादेश होते हैं। हलादि न रह जाने से ह्रस्व विकल्प नहीं होता।

लङ् में -

प्र० अबिभेत्, अबिभिताम्—अबिभीताम्, अबिभयुः।

म० अबिभेत्, अबिभितम्—अबिभीतम्, अबिभित—अबिभीत।

उ० अविभयम्, अबिभिव—अबिभीव, अबिभिम—अबिभीम।

विधिलिङ् —

प्र० बिभियात्—बिभीयात्, बिभियाताम्—बिभीयाताम्, बिभियुः—बिभीयुः।

म० बिभियाः–बिभीयाः, बिभियातम्–बिभीयातम्, बिभियात–बिभीयात।

उ० बिभियाम्–बिभीयाम्; बिभियाव–बिभीयाव, बिभियाम–बिभीयाम।

यहाँ 'यास्' के द्वारा हलादि ङित् सार्वधातुक होने से ह्रस्व विकल्प होता है।

आशीर्लिङ् में– भीयात्, भीयास्ताम्, भीयासुः इत्यादि रूप बनते हैं।

लुङ् में–'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्र से इगन्त अङ्ग को वृद्धि हो जाती है। तब –

प्र० अभैषीत्, अभैष्टाम्, अभैषुः।

म० अभैषीः, अभैष्टम्, अभैष्ट।

उ० अभैषम्, अभैष्व, अभैष्म।

ये रूप बनते हैं।

लृङ् में साधारण प्रक्रिया से अभेष्यत्, अभेष्यताम्–इत्यादि रूप बनते हैं।

ह्री लज्जायाम्

जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति। जिह्रयाचकार, जिह्राय। ह्रेता। ह्रेष्यति। जिह्रेतु। अजिह्रेत्। जिह्रीयात्। अह्रैषीत्। अह्रेष्यत्।

व्याख्याः ह्री (लजाना)–इस धातु के रूपों की साधन प्रक्रिया प्रायः भी के समान है।

लट् के झि में अत् आदेश होने पर संयोग पूर्व होने से 'एरनेकांचोसंयोगापूर्वस्य' से यण् नहीं होता, तब 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' से इयङ् आदेश होता है। लिट् में आम् विकल्प से होता है।

पॄ पालनपूरणयोः

व्याख्याः पॄ (पालन और पूर्ण करना)–दीर्घ ॠकारान्त होने से यह धातु सेट् है।

अर्ति-पिपर्त्योश्च 7.4.77

अभ्यासस्य इकारोन्तादेशः स्यात् श्लौ। पिपर्ति।

व्याख्याः ॠ और पॄ धातु के अभ्यास को इकार अन्तादेश हो श्लु के विषय में।

पिपर्ति–पॄ धातु से लट् के स्थान में तिप् के आने पर शप् का श्लु (लोप) होकर द्वित्वादि कार्य होते हैं। तब पॄ पॄ ति' इस दशा में अभ्यास के अन्त्य ॠकार के स्थान में प्रकृत सूत्र से रपर इकार आदेश होता है। रेफ का हलादिशेष लोप और अभ्यासोत्तरखण्ड के ॠकार को सार्वधातुक गुण होने पर 'पिपर्ति' रूप सिद्ध होतो है।

उद् ओष्ठ्यपूर्वस्य 7.1.102

अङ्गवयवौष्ठ्यपूर्वो य ॠत्, तदन्तस्याङ्गस्य उत् स्यात्।

व्याख्याः अङ्ग का अवयव ओष्ठ्य (जिसका ओष्ठ स्थान हो) वर्ण पूर्व में है जिस ॠकार के, तदन्त अङ्ग को उकार (अन्तादेश) हो।

तस् में 'पिॄ तस्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से ॠकार को रपर उकार होता है, क्योंकि यहाँ अङ्ग का अवयव ओष्ठ्य वर्ण पकार ॠकार से पूर्व है। तस् के ङित् होने से गुण नहीं होता। तब 'पिपुर् तस्' यह स्थिति हुई।

हलि च 8.2.77

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि। पिपूर्तः, पिपुरति। पपार।

व्याख्याः –रेफ और वकार अन्त में है जिसके, उस धातु के उपधा इक् को दीर्घ हो हल् परे होने पर।

पिपूर्तः –पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध 'पिपुर् तस्' ऐसी स्थिति में धातु 'पिपुर्' रेफान्त है उसके उपधाभूत उकार को दीर्घ हाकर 'पिपूर्तः' रूप सिद्ध हुआ।

पिपुरति–'झि' में अत् आदेश होता है। ङिद्वत् होने से झि परे रहते गुण नहीं होता। तब 'उर्' आदेश होकर 'पिपुरति' रूप बनता है।

शेष रूप भी इसी प्रकार बनेंगे, उर् सर्वत्र होगा, दीर्घ केवल हलादियों में।

म० पिपर्षि, पिपूर्थः, पिपूर्थ।

उ० पिपर्मि, पिपूर्वः, पिपू।

पपार–लिट के णल में साधारण[1] प्रक्रिया से 'पपार' रूप बनता है।

शॄ-दॄ-प्रां ह्रस्वो वा 7.4.12

एषां किति लिटि ह्रस्वो वा स्यात्। पप्रतुः।

व्याख्याः शॄ, दॄ और पॄ धातुओं को कित् लिट् परे रहते ह्रस्व विकल्प से हो।

पप्रतुः–ह्रस्व होने पर यण् रकार 'पप्रतुः' रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार –पप्रुः, म० पप्रथुः, पप्र; पाप्रिव, पप्रिम–ये रूप भी बनते हैं। ये अपित् होने से 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् हैं, अतः इनमें वैकल्पिक ह्रस्व होता है। ह्रस्व होने पर यण हो जाता है। दीर्घपक्ष में अग्रिम सूत्र की प्रवत्ति होती है।

ऋच्छत्यॄताम् 7.4.11

तौदादिकऋच्छेर्ऋधातोर्ॠतां च गुणो लिटि। पपरतुः, पपरुः।

व्याख्याः तुदादिगण की ऋच्छ धातु, 'ऋ' धातु और ॠदन्त धातुओं को गुण हो लिट् परे रहते।

पपरतुः–यह ॠकारान्त धातु है, इसलिये ह्रस्व के अभावपक्ष में दीर्घ ॠकार को गुण हो जायगा।

पपरुः– इसकी सिद्धि की प्रक्रिया पूर्ववत् है।

शेष रूप–

म० पपरिथ, पप्रथुः–पपरथुः, पप्र–पपर।

उ० पपार–पपर, पप्रिव–पपरिव, पप्रिम–पपरिम।

दीर्घ ॠकारान्त होने से 'ऊदॄदन्तै–' के अनुसार यह धातु सेट् (उदात्त) है। अतः थल् में भी नित्य इट् होता है।

वॄतो वा 7.2.38

वङ्वाभ्यामॄदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्यात्, न तु लिटि। परीता, परिता। परीष्यति, परिष्यति। पिपर्तु। अपिपः, अपिपूर्ताम्, अपिपरुः। पिपूर्यात्। पूर्यात्। अपारीत्।

व्याख्याः वङ्, वा और दीर्घ ॠकारान्त धातुओं से पर इट् को दीर्घ विकल्प से हो, परन्तु लिट् परे रहते न हो।

परीता, परिता–लुट् में इट् होने पर 'पर् इता' इस दशा में दीर्घ ॠकारान्त 'पॄ' धातु से पर इट् के इकारको विकल्प से दीर्घ होकर दो दो रूप बनते हैं।

परीष्यति, परिष्यति–पूर्वोक्त प्रकार से लृट् में भी इट् को विकल्प से दीर्घ होकर दो दो रूप बनते हैं।

लोट् के रूप ये हैं–

प्र० पिपर्तु–पिपूर्तात्, पिपूर्ताम, पिपुरतु।

म० पिपूर्हि–पिपूर्तात्, पिपूर्तम, पिपूर्त।

---

१. पर इतना ध्यान रहे कि आगे आनेवाले 'ऋच्छत्यॄताम्' सूत्र से गुण पहले होता है। तब 'पपर् अ' इस दशा में 'अत उपधायाः' से उपधादीर्घ होता है। यद्यपि केवल 'अचो ञ्णिति' से वद्धि होने से भी रूप सिद्ध हो सकता है, तथापि प्राप्ति होने से 'ऋच्छत्यॄताम्' सूत्र को लगाना ही चाहिये, यही शास्त्रीय प्रक्रिया है।

उ० पिपराणि, पिपराव, पिपराम।

तात्, तम्, झि, हि, तम्, और त में ङित् होने से गुण न होकर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से 'उर्' होता है और 'हलि च' से दीर्घ भी। 'झि' में अत् होने पर हल् परे न होने के कारण दीर्घ नहीं होता। शेष में पित होने से गुण होता है। उत्तम में आट् होता है और वह पित् है।

अपिपः—लङ् के तिप् में 'अपिपर् त्' इस दशा में अपत्त तकार का हल्ङ्यादिलोप हो जाता है। तब 'र्' को विसर्ग होकर 'अपिपः' रूप बनता है।

इसी प्रकार सिप् के अपक्त सकार के लोप होने पर भी 'अपिपः' ही रूप बनता है। मिप् को अम् होता है पर पित् होने से गुण हो जाता है तब रूप 'अपिपरम्' बनता है। शेष में ङित् होने से गुण नहीं होता, तब ऋकार को 'उर्' होता है। निम्नलिखित रूप बनते हैं—

म० अपिपः, अपिपूर्तम, अपिपूर्त।

उ० अपिपरम्, अपिपूर्व, अपिपूर्म।

विधिलिङ् में यावुट् के ङित् होने से गुण न होकर ऋकार को 'उर्' औ उकार को 'हलि च' से दीर्घ होकर निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्र० पिपूर्यात् पिपूर्याताम्, पिपूर्युः।

म० पिपूर्याः, पिपूर्यातम्, पिपूर्यात।

उ० पिपूर्याम्, पिषूर्याव, पिपूर्याम।

आशीर्लिङ् में भी पूर्वोक्त दोनों कार्य होकर रूप सिद्ध होते हैं। विधिलिङ् के रूपों में से अभ्यास 'पि' को हटाने ओर या के साथ सकार रख देने से आशीर्लिङ् के रूप बन जाते हैं। 'तिप्' और 'सिप्' में 'पूर्यात्' और 'पूर्याः' यही रूप बनेंगे। क्योंकि यहाँ भी 'स्कोः संयोगाद्यारन्ते च' से सकार का लोप हो जाता है। 'अम्' में 'पूर्यासम्' बनेगा।

लुङ् में 'सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु' से वद्धि होगी। तब निम्नलिखित रूप बनेंगे—

प्र० अपारीत्, अपारिष्टाम्, अपारिषुः।

म० अपारीः, अपारिष्टम्, अपारिष्ट।

उ० अपारिषम्, अपारिष्व, अपारिष्म।

यहाँ इट् को 'वृतो वा' से प्राप्त दीर्घ का अग्रिम सूत्र से निषेध होता है।

सिचि च परस्मैपदेषु 7.2.40

अत्र इटो न दीर्घः। अपारिष्टाम्। अपरीष्यत्-अपरिष्यत्।

व्याख्याः परस्मैपद पर सिच् परे रहते वङ्,वा् और ऋदन्त धातु से पर इट् को दीर्घ न हो।

लुङ् में इट् को इस से दीर्घ का निषेध होता है।

अपरीष्यत्—अपरिष्यत्—लङ् में इट् को यथापूर्व विकल्प से दीर्घ होगा।

ओ-हाक् त्यागे 5

जहाति।

व्याख्या— हा (छोड़ना)—यह ओदित्[1] अनिट् धातु है।

जहातेश्च 6.4.116

इघ वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। जहितः।

---

१. ओकार इत् है। उसका फल 'ओदितश्च से निष्ठा के सकार को ण्कार करना है—हीनम्।

व्याख्या: ओहाक् धातु को इकार अन्तादेश विकल्प से ही हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

लट् में 'तस्' आदिक अपित् होने से ङिद्वत् हैं, अतः उनके परे रहते आकार को इकार होता है।

जहितः—लट् के तस् में 'ज हा तस्' इस दशा में प्रकृत सूत्र से आकार को इकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

ई हल्यधोः 6.4.113

श्नाभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि, न तु घोः। जहीतः।

व्याख्या: 'श्ना' प्रत्यय और अभ्यस्तसंज्ञक धातु के आकार का ईकार हो सार्वधातुक कित् ङ्ति हलादि प्रत्यय परे रहते, परन्तु घुसंज्ञक धातु के आकार को उक्त कार्य न हो।

जहीतः—हा धातु के लट् के तस् में इकार के अभावपक्ष में अभ्यस्त होने से प्रकृत सूत्र से आकार को ईकार होता है। यहाँ हलादि ङ्ति सार्वधातुक 'तस्' परे हैं अतः दो रूप बने—जहितः—जहीतः।

श्नाभ्यस्तयोरातः 6.4.112

अनयोरातो लोपः क्ङिति सार्वधातुके। जहति। जहौ। हाता। हास्यति। जहातु-जहितात्-जहीतात्।

व्याख्या: श्ना और अभ्यस्त धातु के आकार का लोप हो कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते।

जहति—'झि' में 'अद् अभ्यस्तात्' सूत्र से झकार को अत् आदेश होने के अनन्तर 'जहा—अति' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से आकार का लोप हो जाता है, क्योंकि 'झि' ङित् सार्वधातुक है। अतः 'जहति' रूप बना।

हलादि प्रत्यय परे रहते पूर्व सूत्र 'ई हल्यघोः' से आकार को ईकार होता है, अतः बच रहते हैं अजादि प्रत्यय, उनके ही परे रहते आकार का लोप होगा।

म० जहासि, जहिथः—जहीथः, जहिथ—जहीथ।

उ० जहामि, जहिवः—जहीवः, जहिमः—जहीमः।

जहौ—आकारान्त होने से 'पा' आदि धातुओं के समान लिट् के रूप सिद्ध होते हैं।

प्र० जहौ, जहतुः, जहुः।

म० जहिथ—जहाथ, जहथुः, जह।

उ० जहौ, जहिव, जहिम।

हाता, हास्यति—लुट और ऌट् में रूपों की सिद्धि का प्रकार साधारण ही है।

लोट् के प्रथम के द्विवचन में —'जहिताम्—जहीताम्' और बहुवचन में जहतु रूप सिद्ध होते हैं।

आ च हौ 6.4.117

जहातेर्हौ परे आ स्यात्, चाद् इद्-ईतौ। जहाहि-जहिहि-जहीहि। अजहात्, अजहुः।

व्याख्या: 'हा' धातु के आकार को 'हि' परे रहते आकार (भी) हो।

चादिति—चकार (भी) कहने से इकार और 'ई हल्यधोः ६।४।११३' इस सूत्र से इकार 'जहातेश्च ६।४।११६'सूत्र से ईकार भी होते हैं।

वास्तव में पूर्वोक्त सूत्रों से इकार और ईकार प्राप्त था, उनके करने से आकार न रहता, अतः आकार को आकार का विधान किया गया।

इस प्रकार —जहाहि—जहिहि—जहीहि—ये तीन रूप 'हि' में बनते हैं।

तम्—जहितम्—जहीतम्, त—जहित—जहीत। मिप्—जहानि, वस्—जहाव। मस्—जहाम्। उत्तम में आट् होने पर सवर्णदीर्घ हो जायगा। आकार का लोप नहीं होगा, क्योंकि 'आट्' पित् है। यद्यपि लोप करने न करने में रूप में कुछ अन्तर नहीं पड़ता, तो भी शास्त्र की प्रक्रिया का निर्वाह करना ही होगा।

लङ्—

प्र० अजहात्, अजहिताम्—अजहीताम्, अजहुः।

म० अजहाः, अजहितम्—अजहीतम्, अजहित—अजहीत्।

उ० अजहाम्, अजहिव—अजहीव, अजहिम—अजहीम।

यहाँ मिप् में अम् आदेश करने पर सवर्णदीर्घ करना होगा, क्योंकि मिप् के पित् होने से आकार का लोप नहीं हो सकता।

लोपो यि 6.4.118

जहातेरालोपो यादौ सार्वधातुके।

जह्यात्। लिंङि-हेयात्। अहासीत्। अहास्यत्।

व्याख्याः 'हा' धातु के आकार का लोप हो यकारादि सार्वधातुक परे रहते।

जह्यात्—विधिलिङ् में 'जहा यात्' इस अवस्था में यकारादि सार्वधातुक 'यात्' के परे रहने से आकार का लोप हो जाता है। इस प्रकार जह्यात्, जह्याताम् आदि रूप बनते हैं।

हेयात्—आशीर्लिङ् में 'एर्लिङि' से आकार को एकार होकर हेयात् हेयास्ताम् आदि रूप बनते हैं।

अहासीत—लुङ् में आकारान्त होने से 'यमरमनमातां सक् च' से इट् और सक् होने से निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्र० अहासीत, अहासिष्टाम्, अहासिषुः।

म० अहासीः, अहासिष्टम, अहासिष्ट।

उ० अहासिषम, अहासिष्व, अहासिष्म।

माङ् माने शब्दे च 6

व्याख्याः मा (नापना और शब्द करना)—यह धातु आत्मनेपदी —और अनिट् है।

भाम् इत् 7.4.76

भा, माङ्, ओहाङ्-एषां त्रयाणामभ्यासस्य 'इत्' स्यात् श्लौ। मिमीते, मिमाते। ममे। माता। मास्यते। मिमीताम्। अमिमीत। मिमीत। मासीष्ट। अमास्त। अमास्यत।

व्याख्याः भामिति—भा (पालन करना), माङ् (नापना) और ओहाङ (जाना) इन तीन धातुओं के अभ्यास को इकार अन्तादेश हो श्लु के विषय में

मिमीते—'मा मा ते' इस अवस्था में अभ्यास के आकार को प्रकृत सूत्र से इकार तथा उत्तरखण्ड के आकार को 'ई हल्यघोः' से ईकार होकर मिमीते रूप बनता है।

मिमाते—'आताम्' में 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

मिमते—झि में भी आकार का लोप होने से मिम रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप निम्नलिखित हैं—

म० मिमीषे, मिमाथे, मिमीध्वे।

उ० मिमे,, मिमीवहे, मिमीमहे।

लोट्-

प्र० मिमीताम्, मिमातम्, मिमताम्।

म० मिमीष्व, मिमाथाम्, मिमीध्वम्।

उ० मिमै, मिमावहै, मिमामहै।

लङ्

प्र० अमिमीत, अमिमाताम्, अमिमत्।

म० अमिमीथाः, अमिमाथाम्, अमिमीध्वम्

उ० अमिमे, अमिमीवहि, अमिमीमहि।

विधिलिङ् –

प्र० मिमीत, मिमीयाताम्, मिमीरन्।

म० मिमीथाः, मिमीयाथाम्, मिमीध्वम्।

उ०मिमीय, मिमवहि, मिमीमहि।

उपसर्ग के योग में –निर्मिमीते–निर्माण करना है। अनुमिमीते–अनुमान करता है। उपमिमीते–तुलना करता है।

ओहाङ् गतौ 7

जिहीते, जिहाते, जिहते। जहे। हाता।हास्यते। जिहिताम्। अजिहीत। जिहात। हासीष्ट। अहास्त। अहास्यत।

व्याख्याः हा (जाना)–ओहाङ् धातु गत्यर्थक है और ङित् होने से आत्मनेपदी।

जिहीते–लट् के एकवचन में श्लु होने पर द्वित्व होता है। अभ्यास में 'भाामित्' से इकार अन्तादेश और उत्तरखण्ड में 'त' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् होने के कारण 'ई हल्यघोः' से ईकार होता है।

जिहाते–आताम् में 'श्नाभ्यस्तयोरातः' सूत्र से रूप सिद्ध होता है जिहते – अदभ्यस्तात् सूत्र से 'झ' को 'अत्' आदेश होने पर आकार का पूर्ववत् लोप होने से रूप बनता है।

शेष रूप निम्नलिखित हैं–

म० जिहीषे, जिहाथे, जिहीध्वे।

उ० जिहे, जिहीवहे, जिहीमहे।

लिट्-

प्र० जहे, जहाते, जहिरे।

म० जहिषे, जहाथे, जहिध्वे।

उ० जहे, जहिवहे, जहिमहे।

से वहि और महि में क्रादि–नियम से इट् होता है।

लोट्-

प्र० जिहीताम्, जिहाताम्, जिहताम्।

म० जिहीष्व, जिहाथाम्, जिहीध्वम्।

उ० जिहै, जिहावहै, जिहामहै।

यहाँ उत्तम में आट् आगम के पित् होने से आकार का लोप नहीं होता। एकवचन में आट् के तथा धातु के आकार को सवर्णदीर्घ होकर प्रत्यय के इकार के स्थान में हुए ऐकार के साथ वद्धि 'ऐकार' हो जाता है अन्यत्र पूर्ववत् सवर्णदीर्घ।

लङ्-

प्र० अजिहीत, अजिहाताम्, अजिहत।

म० अजिहीथाः, अजिहाथाम्, अजिहीध्वम्।

उ० अजिहि, अजिहीवहि, अजिहीमहि।

विधिलिङ–

प्र० जिहीत, जिहीयाताम्, जिहीरन्।

म० जिहीथाः, जिहीयाथाम्, जिहीध्वम्।

उ० जिहीय, जिहीवहि, जिहीमहि।

लुङ्–

प्र० अहास्त, अहासाताम्, अहासत।

म० अहास्थाः, अहासाथाम्, अहाध्वम्।

उ० अहासि अहास्वहि अहास्महि।

यह धातु अनिट् है, अतः सिच् को इट् नहीं होता और दीर्घान्त होने से 'ह्रस्वाद्अड्गात्' से 'सिच्' का लोप भी नहीं होता।

डु भा् धारणपोषणयोः 8

बिभर्ति, बिभतः, बिभ्रति। बिभते, बिभ्राते, बिभ्रते। बभ्रे।

बिभाराचकार। बभार, बभर्थ, बभव। बिभराञ्चक्रे, भर्ता। भरिष्यति, भरिष्य।

बिभर्तु; बिभराणिः बिभताम्। अबिभः, अबिभताम्, अबिभः अबिभत। बिभयात्, बिभ्रीत।

भ्रियात्, भषीष्ट। अभार्षीत्, अभत। अभरिष्यत, अभरिष्यत।

व्याख्याः भाः (धारण और पालन करना)–ति् होने से यह उभयपदी है।

लट्, लोट, लङ् औरविधिलिङ्–इन चार सार्वधातुक लकारों में जिन में शप् होता है और उसका श्लु होने से ये 'श्लु' के विषय बन जाते हैं, अभ्यास को 'भाामित्' से इकार होता है।

बिभर्ति–यह रूप लट् के प्रथम के एकवचन का है। यहाँ तिप् के पित् होने से गुण हो जाता है। शप् का श्लु, द्वित्व, अभ्याकार्य और 'भाामित्' से अभ्यास के अकार को इकार होकर रूप सिद्ध होता है।

बिभत– तस् के अपित् होने से ङित् हो जाने के कारण गुण का निषेध होने पर रूप बनता है।

बिभ्रति–यह रूप 'झि' में बनता है। यहाँ भी ङित् होने से गुण निषेध हो जाने के कारण यण् होता है।

शेष रूप निम्नलिखित बनते हैं–

म० बिभर्षि, बिभथः, बिभथ।

उ० बिभर्मि, बिभवः, बिभमः।

आत्मनेपद के प्रत्यय अपित् होने से सभी ङिद्वत होते हैं, अतः उनमें गुण निषेध होता है।

उसके शेष रूप निम्नलिखित हैं –

प्र० बिभते, बिभ्राते, बिभ्रते।

म० विभषे, बिभ्राथे, बिभध्वे।

उ० बिभ्रे, बिभवहे, बिभमहे।

लिट् में 'भीह्रीभहुवां श्लुवच्च' से आम् और श्लुवद्भाव होने से बिभराचकार, बिभराचक्रे आदि रूप बनते हैं तथा आम् के अभाव में बभार, बभ्रे आदि। यहाँ 'कृसभवस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि' सूत्र से सर्वथा इट् का निषेध होता है। इसलिये थल् में–बभर्थ और व तथा म में –बभव और बभम रूप सिद्ध होते हैं। आत्मनेप्रद में भी–से, ध्वे, वहि, महि में बभषे, बभध्वे, बभवहे, बभमहे इत्यादि इट् रहित रूप बनते हैं।

ल्टृमें 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् होकर भरिष्यति आदि रूप होते हैं।

लोट्–

प० प्र० बिभर्तु–बिभतात्, बिभताम्, बिभ्रतु।

म० बिभहि–तात्, बिभतम्,बिभत।

उ० बिभराणि, बिभराव, बिभराम।

आ० –

प्र० बिभताम्, बिभ्राताम् बिभ्रताम्।

म० विभष्व, बिभ्राथाम, बिभध्वम्।

उ० बिभरै, बिभरावहै, बिभरामहै।

लङ्–

प० प्र० अबिभः, अबिभताम्, अबिभरुः।

म० अबिभः, अबिभतम्, अबिभत।

उ० अबिभरम् अविभव, अबिभम।

प्रथम और मध्यम के एकवचन में गुण होने पर अपक्त 'त्' और 'सु' का इल्ङ्यादि लोप हो जाता है और रेफ के विसर्ग। अभ्यस्त होने से झि को जुस और 'जुसि' से गुण होता है।

लङ्–

आ० प्र० अबिभत, अबिभ्रताम्, अबिभ्रत।

म० अबिभथाः, अबिभ्राथाम्, अबिभध्वम्।

उ० अबिभ्रि, अबिभवहि, अबिभमहि।

विधिलिङ् परस्मैपद में बिभयात्, बिभयाताम्, बिभयुः आदि रूप बनते हैं, सार्वधातुक होने से यहाँ 'रिङ् श–यग्–लिङ्क्षु' से रिङ् आदेश नहीं होता। आत्मनेपद में 'बिभ्रीत, बिभ्रीयाताम्, बिभ्रीरन् आदि रूप बनते हैं।

आशीर्लिङ् में (परस्मैपद) आर्धधातुक होने से रिङ् होकर भ्रियात्, भ्रियास्ताम्, भ्रियासुः, तथा आत्मनेपद में 'उश्च' सूत्र से सीयुट् के कित् होने के कारण गुण निषेध हो जाने से भषीष्ट भषीयास्ताम्, भषीरन् आदि रूप होते हैं।

लुङ् परस्मैपद में 'सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु' से वद्धि होकर –

प्र० अभार्षीत, अभार्ष्टाम्, अभार्षुः।

म० अभार्षीः, अभार्ष्टम्, अभार्ष्ट।

उ० अभार्षम्, अभार्ष्व, अभार्ष्म।

ये रूप बनते हैं। यहाँ धातु के अनिट् होने से सिच् को इट् नहीं होता। आत्मनेपद में झलादि (त, थास्, ध्वम्) प्रत्ययों में 'ह्रस्वाद्–अङ्गात्' से सिच् का लोप होता है–

प्र० अभत, अभषाताम्, अभषत।

म० अभथाः, अभषाथाम्, अभध्वम्।

उ० अभषि, अभष्वहि, अभष्महि।

ये रूप सिद्ध होते हैं।

डु दाा दाने 9

ददाति, दत्तः, ददति; दत्ते, ददाते, ददते। ददौ, ददे। दातासि, दातासे। दास्यति, दास्यते। ददातु।

व्याख्याः दा (देना)–ाित् होने से यह भी उभयपदी है।

ददाति–लट् (प०) के प्रथम के एकवचन में श्लु, द्वित्व और अभ्यास को ह्रस्व होकर रूप सिद्ध होता है।

दत्तः–तस् में ङिद्वत होने से अभ्यासोत्तरखण्ड के आकार का 'श्नाभ्यस्तसयोरातः' से लोप होने पर अवशिष्ट दकार को चर् तकार होकर रूप बनता है।

ददति–'झि' में अत् आदेश होने पर आकार का श्नाभ्यस्तयोः– ६।४।१ २।।' इत्यादि से लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप निम्नलिखित बनते हैं–

म० ददासि, दत्थः, दत्थ।
उ० ददामि, दद्वः, दद्मः।

आ०–

प्र० दत्ते, ददाते, ददते।
म० दत्से, ददाथे, दद्ध्वे।
उ० ददे, दद्वहे, दद्महे।

ददौ–लिट् (प) में आकारान्त होने से 'आत औ णलः' से णल् को औकार होकर 'पपौ' आदि के समान रूप बनता है।

अन्य रूप –

प्र० ददतुः, ददुः।

म० ददिथ–ददाथ, ददथुः दद।

उ० ददौ, ददिव, ददिम।

ये बनते हैं।

आत्मनेपद –

प्र० ददे, ददाते, ददिरे।

म० ददिषे, ददाथे, ददिध्वे।

उ० ददे, ददिवहे, ददिमहे।

इट् क्रादिनियम से होता है। थल् में भारद्वाज नियम से विकल्प से इट् होता है। 'आता लोप इटि च ६।४।६४।।' इससे आकार का लोप होता है।

लोट् में –ददातु–दत्तात्, दत्ताम्, ददतु ये प्रथम पुरुष में बनते हैं।

दा-घा घु-अदाप् 1.1.20

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञा स्युः, दाप्-दैपौ विना। ध्वसोः-' इत्येत्वम्-देहि। दत्तम्। अददात्, अदत्त। दद्यात्, ददीत। देयात्, दासीष्ट। अदात्, अदाताम् अदुः।

व्याख्याः 'दा'– रूप और 'धा' रूप धातुओं की 'घु' संज्ञा हो दाप् और दैप् को छोड़ कर।

'दा' रूप धातु चार हैं–१ डु दाा् धारन्य दो है – १. डुधाञ् दोन जुहोव्यादि, २. दाण दाने भ्वादि, ३. दो अवखण्ड ने दिवादि, ४. देङ् रक्षणे। भ्वादि धारणपोषणयोः जुहोत्यादि, २ घेट् पाने भ्वादि। घाा् स्वाभाविक और घट् लाक्षणिक धारूप है।

'घु' संज्ञा के मुख्य फल ये हैं–

१–कित् प्रत्ययों में 'घु–मा–स्था–गा–पा–जहाति–सां हलि' सूत्र से धातु के आकार को 'ईकार' आदेश।

२–लोट् के म० पु० ए० व० हि में 'ध्वसो रेत् हौ अभ्यास लोपश्च' सूत्र से धातु के आकार को 'एकार' आदेश और अभ्यास का लोप।

३– कित् लिङ् में 'एर्लिङि' सूत्र से धातु के आकार को 'एकार' आदेश।

४–लुङ् परस्मैपद में 'गाति–स्था–घु–पा–भूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' सूत्र से सिच् का लोप।

देहि–प्रकृत 'दा' धातु के घुसंज्ञक होने से लोट् के मध्यम के एकवचन में 'द दा हि' इस अवस्था में 'ध्वसोदद्वावभ्यासलोपश्च' से आकार को एकार और अभ्यास का लोप होकर 'देहि' रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप–

म० देहि, दत्तम, दत्त।

उ० ददानि, ददाव, ददाम।

आ०–

प्र० दत्ताम्, ददाताम, ददताम्।

म० दत्स्व, ददाथाम, दद्ध्वम्।

उ० ददै, ददावहै, ददामहै।

ङिद्वद्भाव होने से आत्मनेपद के रूपों में 'श्नाभ्यस्योरातः' से आकार का लोप होता है।

लङ् –

प०प्र० अददात्, अदत्ताम, अददुः।

म० अददाः, अदत्तम, अदत्त।

उ० अददम, अदद्व, अदद्म।

'अददुः' में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से झि को जुस् होता है।

आ०–

प्र० अदत्त, अददाताम्, अददत।

म० अदत्थः, अददाथाम्, अदद्ध्वम्।

उ० अददि, अदद्वहि, अदद्महि।

वि०लि०–

प० प्र० दद्यात, दद्याताम्, दद्युः।

म० दद्याः, दद्यातम्, दद्याम।

उ० दद्याम, दद्याव, दद्याम।

आ० –

प्र० देयात्, देयास्ताम्, देयासुः।

म० देयाः, देयास्तम्, देयास्त।

उ० देयासम्, देयास्व, देयास्म।

यहाँ परस्मैपद में ङित् यासुट् परे होने से 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार का लोप होता है और आशीर्लिङ् में 'एर्लिङि' से आकार को एकार आदेश।

वि० लि०–

आ० प्र० ददीत, ददीयाताम्, ददीरन्।

म० ददीथाः, ददीयाथाम्, ददीध्वम्।

उ० ददीय, ददीवहि ददीमहि।

आ० लि०–

प्र० दासीष्ट, दासीयास्ताम्। दासीरन्।

म० दासीष्ठाः, दासीयास्थाम्, दासीध्वम्।

उ० दासीय, दासीवहि, दासीमहि।

लुङ् में गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' से सिच् का लोप हो जाता है। इस प्रकार से एकवचन में –अदात्, द्विवचन में –अदाताम्, बहुवचन में –अदुः रूप बनते हैं। बहुवचन में सिच् का लोप होने पर 'आतः' सूत्र से झि को जुस् आदेश और आकार का 'उस्यपदान्तात्' से पररूप होता है। शेष रूप–

म० अदाः, अदातम्, अदात।

उ० अदाम, अदाव, अदाम

होते हैं।

स्था-ध्वोरिच्च 1.2.17

अनयोः 'इद्' अन्तादेशः, सिच कित् स्याद् आत्मनेपदे। अदित। अदास्यत्, अदास्यत।

व्याख्याः स्था और घुसंज्ञक धातुओं को इकार अन्तादेश हो और सिच् कित् हो आत्मनेपद प्रत्यय परे रहते।

अदित्–घुसंज्ञक दा धातु के लुङ में 'अदा स् त' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से आकार को इकार आदेश और सिच् को कित्त्व होने पर 'ह्रस्वादअङ्गात्' सूत्र से झल् तकार परे होने के कारण सिच् का लोप होकर 'अदित' रूप होता है। यहाँ 'त' के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वद् होने के कारण गुण निषेध होता है।

सिच् के कित् करने का फल द्विवचन में होता है। क्योंकि आताम् में झलादि न होने से सिच् का लोप नहीं होता, उसके कित् होने से इकार को गुणनिषेध हो जाता है।

सम्पूर्ण रूप–

प्र० अदित, अदिषाताम्, अदिषत।

म" अदिथाः–अदिषाथाम्, अदिध्वम।

उ० अदिषि, अदिष्वहि, अदिष्महि।

'दा' धातु के साथ 'आङ्' उपसर्ग का योग होने पर 'लेना' अर्थ होता है और तब 'आङो दोनास्यविहरणे' सूत्र से आत्मनेपद ही आता है, परस्मैपद नहीं। विद्यामादत्ते–विद्या ग्रहण करता है।

'प्र नि' इन दो उपसर्गों के योग होने पर 'नि' के नकार को 'नेर्गदनदपदपतघु–' इत्यादि सूत्र से घुसंज्ञक दा के परे होने से णत्व हो जाता है। प्राणिददाति आदि रूप बनते हैं।

डु धाा् धारणपोषणयोः 10

दधाति।

व्याख्याः (धारण और पोषण करना)– यह धातु अनिट् है।

दधाति–इसके अभ्यास के धकार को 'अभ्यासे चर्च' से जश् दकार हो जाता हे। अतः लट् के प्रथम के एकवचन तिप् में उक्त रूप बनता है।

तस् में श्लु, द्वित्व और अभ्यास को जश् होने पर 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार का लोप होकर 'दध् तस्' यह स्थिति बनती है।

दघस्तथोश्च 8.2.38

दिरुक्तस्य झषन्तस्य धाो वशो भष् स्यात्, तथोः परयोः स्ध्वोश्च परतः। धत्तः दधति, दधासि, धत्थः, धत्थ। धत्ते, दधाते, दधते, धत्से घद्ध्वे।

'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च'-धेहि। अदधात्, अधत्त। दध्यात्, दधीत। धेयात्, धासीष्ट। अधात्, अधित। अधास्यत्, अधास्यत।

व्याख्या: कृतद्वित्व (जिसको द्वित्व किया गया हो) झषन्त धा् धातु के बश् को भष् हो तकार, थकार, सकार और ध्व परे होने पर।

'द्वित्व होने पर' कहने से यह सूत्र लट् लोट्, लङ् और विधिलिङ् में ही प्रवत्त होगा, क्योंकि इन्हीं लकारों में द्वित्व होता है। 'झषन्त' कहने से इस सूत्र की प्रवत्ति उन्हीं स्थलों पर होती है जहाँ श्नाभ्यस्तयो रातः से आकार का लोप होता है क्योंकि लोप होने पर धकार बचता है, अतः धातु झषन्त हो जाता है। आकार का लोप होने पर भी चार स्थलों में तकार, धकार, सकार और ध्व परे रहते ही प्रवत्ति होती है। विधिलिङ् में आकार का लोप होने पर भी प्रवत्ति नहीं होती, क्योंकि यासुट् का व्यवधान होने से तकार आदि कोई भी परे नहीं मिलते। अभ्यास में 'अभ्यासे चर्च' से धकार को जो दकार होता है, उसको इस सूत्र से पुनः भष्भाव के द्वारा धकार हो जाता है।

धत्तः–पूर्वोक्त 'दध् तस्' इस स्थिति में दकार को इस सूत्र से भष्भाव धकार होता है। तब उत्तर धकार को चर् तकार होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी इस सूत्र की प्रवत्ति का प्रकार समझना चाहिये।

इस भष्भाव के अतिरिक्त अन्य रूपों की सिद्धि का प्रकार 'दा' धातु के बिल्कुल समान ही हैं इसलिये सारे रूप यहाँ नहीं लिखे जाते, कुछ रूप मूल में दे ही दिये गये हैं।

उपसर्ग के योग में–

सन्दधाति = मिलता है।	आदधाति = रखता है।
अवदधाति = ध्यान देता है।	विदधाति = करता है।
परिदधाति = (कपड़े) पहनता है।	अभिदधाति= करता है।
निदधाति = रखता है।	अपिदधाति[1]= ढकता है।
समादधाति = समाधान करता है।	अनुसन्दधाति = खोज करता है।
प्रणिदधाति = मन लगाता है।	श्रद्दधाति = विश्वास करता है।

'श्रद्' उपसर्ग नहीं है किन्तु इनके योग में भी अर्थ बदल जाता है इसलिये इसका योग भी दिखा दिया है। इनके आत्मनेपद में भी यही अर्थ रहता है।

णिजिर् शौच-पोषणयोः 11

व्याख्या: (शुद्ध करना अर्थात् धोना तथा पोषण करना)–इसका 'इर्' इत्संज्ञक है।

(वा) इर इत्संज्ञा वाच्या।

व्याख्या: (वा) इर इति–'इर्' की इत्संज्ञा हो।

इस वार्तिक से 'णिजिर्' के 'इर्' की इत्संज्ञा होती है और तब लोप हो जाता है। इस प्रकार 'णिज्' शेष रहता है। 'इर्' की इतसंज्ञा का फल 'इरितो वा' सूत्र से च्लि को अङ् विकल्प से होता है।

णकार को 'णो नः' से नकार हो जाता है।

लट् के तिप् में श्लु और द्वित्व होने पर अभ्यासोत्तखण्ड से इकार को सार्वधातुक गुण होकर 'नि नेज् ति' यह स्थिति बनती है।

णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ 7.4.75

णिज्, विज्, विषामभ्यासस्य गुणः स्यात् श्लौ। नेनेक्ति, नेनिक्तः, नेनिजति। निनेज, निनिजे। नेक्त। नेक्ष्यति, नेक्ष्यते। नेनेक्तुः नेनिग्धि।

---

१. यहाँ 'अपि' के अकार का भागुरि आचार्य के मत से लोप होकर पिदधाति भी बनता है।

व्याख्याः णिज्, विज[1] और विष धातुओं के अभ्यास को गुण हो श्लु[2] के विषय में।

नेनेक्ति– प्रकृत णिज् धातु में पूर्वोक्त 'निनेज् ति' इस स्थिति में अभ्यास को गुण होता है। तदनन्तर जकार को 'चोः कुः' से कुत्व गकार और उसको चर ककार होकर रूप सिद्ध होता है।

नेनेक्तिः–यहाँ 'अद् अभ्यसात्' सूत्र से झि को अत् आदेश होता हैं

नेनेक्षि–सिप् में जकार को ककार होने पर अग्रिमसकार को मूर्धन्य और क ष संयोग से 'क्ष' होकर रूप बनता है। प्रथम इकार को अभ्यास गुण और द्वितीय को सार्वधातुक गुण होता है।

थस्–नेनिक्थः। थ–नेनिक्थ। मिप्–नेनेज्मि। वस्–नेनिज्वः। मम्–नेनिज्मः।

आ०–

प्र० नेनिक्त, नेनिजाते, नेनिजते।

म० नेनिक्षे, नेनिजाथे, नेनिग्ध्वे।

उ० नेनिजे, नेनिज्वहे, नेनिज्महे।

लिट् प०–

प्र० निनेज, निनिजतुः, निनिजुः।

म० निनेजिथ, निनिजथुः, निनिज।

उ० निनेज–निनिज, निनिजिव, निनिजिम।

आ०–

प्र० निनिजे, निनिजाते, निनिजिरे।

म० निनिजिषे, निनिजाथे, निनिज्ध्वे।

उ० निनिजे, निनिजिवहे, निनिजिमहे।

निज् धातु अनिट् है। लिट् में क्रादिनियम से इट् होता है।

लोट् के प्रथम में–प्र० नेनेक्तु–नेनिक्तात्, नेनिक्ताम्, नेनिजतु। –हि में नेनिग्धि। यहाँ झलन्त होने से 'हि' को 'धि' होता है। थस्–नेनिक्तम् थ० नेनिक्त।

नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके 7.3 87

लघूपधगुणो न स्यात्। नेनिजानि। नेनिक्ताम्। अनेनेक् अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः; अनेनिजम्; अनेनिक्त। नेनिज्यात्, निज्यात्, नेनिजीत, निक्षीष्ट।

व्याख्याः अजादि पित् सार्वधातुक परे होने पर अभ्यस्त धातु को लधूपध गुण न हो।

लोट् के उत्तम में आट् के पित् होने से लधूपध गुण प्राप्त है, उसका इस सूत्र से निषेध होता है। अतः नेनिजानि, नेनिजाव, नेनिजाम–ऐसे रूप बनते हैं।

आत्मनेपद में –

प्र० नेनिक्ताम्, नेनिजाताम्, नेनिजताम्।

म० नेनिक्थाः, नेनिजाथाम्, नेनिग्ध्वम्।

उ० नेनिजै, नेनिजावहै, नेनिजामहै।

---

१. विजिर् पथगीावे (अलग होना), विष्लृ व्याप्तौ (व्याप्त होना) ये धातुयें जुहोत्यादिगण की ही हैं, परन्तु लघुकौमुदी में नहीं आती। 'वेवेक्ति, वेविक्तः वेविजतिः वेवेष्टि, वेविष्टः, बेविषति' आदि रूप बनते हैं।

२. इस अभ्यासगुण का श्लु के विषय में विधान किया गया है, अतः इसके होने में प्रत्यय का ङित् आदि होना बाधक नहीं, क्योंकि यह प्रत्ययनिमित्तक नहीं। प्रत्ययनिमित्तक गुण का ही निषेध उसके ङि आदि से होता है।

लङ् प०—

प्र० अनेनेक, अनेनिक्ताम्, अनेनिजुः।

म० अनेनेक्, अनेनिक्तम्, अनेनिक्त।

उ० अनेनिजम्, अनेनिज्व, अनेनिज्म।

अनेनिजम् में अजादि पित् सार्वधातुक अम् परे होने से लघूपध गुण का 'नभ्यस्तस्य—' से निषेध हो जाता है।

आ०—

प्र० अनेनिक्त, अनेनिजाताम्, अनेनिजत।

म० अनेनिक्थाः, अनेनिजाथाम्, अनेनिग्ध्वम्।

उ० अनेनिजि अनेनिज्वहि, अनेनिज्महि।

विधिलिङ् प०—

प्र० नेनिज्यात्, नेनिज्याताम्, नेनिज्युः।

म० नेनिज्याः, नेनिज्यातम्, नेनिज्यात।

उ० नेनिज्याम्, नेनिज्याव, नेनिज्याम्

आ०—

प्र० नेनिजीत, नेनिजीयाताम्, नेनिजीरन्।

म० नेनिजीथाः, नेनिजीयाथाम्, नेनिजीध्वम्।

उक्त नेनिजीय, नेनिजीवहि, नेनिजीमहि।

यहाँ सीयुट् के सकार का लोप होने पर अजादि पित् सार्वधातुक मिल जाने से लघूपध गुण का निषेध हो जाता है।

आशीर्लिङ् प०—

प्र० निज्यात्, निज्यास्ताम्, निज्यासुः।

म० निज्याः, निज्यास्तम्, निज्यास्त।

उ० निज्यासम्, निज्यास्व, निज्यास्म।

अ०—

प्र० निक्षीष्ट, निक्षीयास्ताम्, निक्षीरन्।

म० निक्षीष्ठाः, निक्षीयास्थाम, निक्षीध्वम्।

उ० निक्षीय, निक्षीवहि, निक्षीमहि।

आत्मनेपद में 'लिङ् सिचावात्मनेपदेषु' सूत्र से सीयुट् कित् होकर गुण निषेध करता है।

इरितो वा 3.1.57

इरितो धातोश्च्लेरङ् वा परस्मैपदेषु। अनिजत्-अनैक्षीत्, अनिक्त। अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यत्।

व्याख्याः इरित् धातु से पर च्लि को अङ् आदेश विकल्प से हो परस्मैपद परे रहते।

अङ् के ङित् होने से गुण वद्धि नहीं होती। पक्ष में हलन्तलक्षण वद्धि होती है।

अङ्पक्ष—

प्र० अनिजत्, अनिजताम्, अनिजम्।

म० अनिजः, अनिजतम्, अनिजत।

उ० अनिजम, अनिजाव, अनिजाम।

सिच्पक्ष–

प्र० अनैक्षीत, अनैक्ताम, अनैक्षुः

म० अनैक्षीः, अनैक्तम्, अनेक्त।

उ० अनैक्षम्, अनैक्ष्व, अनैक्ष्म।

यहाँ झलादि में 'झलो झलि' से सिच् के सकार का लोप होता है। शेष स्थलों में जकारस्थानिक चर् ककार से पर सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'क्ष' बन जाता है। इसी प्रकार आत्मनेपद में भी होता है।

आ० –

प्र० अनिक्त, अनिक्षाताम्, अनिक्षत।

म० अनिक्थाः, अनिक्षाथाम्, अनिग्ध्वम्।

उ० अनिक्षि, अनिक्ष्वहि, अनिक्ष्महि।

(जुहोत्यादिगण समाप्त)

अध्याय–9

अथ दिवादिगणः

दिवु क्रीडा-विजिगीषा- व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न कान्ति गतिषु 1

व्याख्याः दिव् (क्रीड़ा, जूआ खेलना, व्यवहार, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, नशा करना, सोना, इच्छा करना, चलना)–यह धातु सेट् है।

दिवादिभ्यः श्यन् 3.1.69

शपोपवादः।

'हलि च'–इति दीर्घः-दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्। एवम्-षिवु तन्तुसन्ताने।।२।। नती गात्रविक्षेपे।।३।। न त्यति। ननर्त। नर्तिता।

व्याख्याः दिवादिगण की धातुओं से श्यन् प्रत्यय हो (कर्त्रर्थ सार्वधातुक परे रहते)

शप इति– यह श्यन् शप् का अपवाद (बाधक) है।

इसके शकार और नकार, इत्संज्ञक हैं। शकार के इत्संज्ञक होने से इसकी सार्वधातुक संज्ञा होती है। नकार के इत् होने का फल 'नित्यादिर्नित्यम्' से आद्युदात्त स्वर होना है। शेष 'य' रहता है।

दीव्यति– यह श्यन् शित् होने से 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' स्त्र से सार्वधातुक है और अपित् सार्वधातुक होने से 'सार्वधातुकमपित् सूत्र से ङिद्वद् होता है। दिव् धातु से लट् में श्यन् आने पर वकारान्त उपधा इकार को हल् यकार परे होने से 'हलि च' से दीर्घ होता है।

इसी प्रकार –दीव्यतः, दीव्यन्ति आदि रूप बनते हैं।

लिट् में–

प्र० दिदेव, दिदिवतुः, दिदिवुः।

म० दिदेविथ, दिदिवथुः, दिदिव।

उ० दिदेव, दिदिविव, दिदिविम।

यह धातु सेट् हैं अतः वलादि आर्धधातुक को सर्वत्र इट् आगम हो जाता है।

तास् और स्य को इट् होकर देविता, देवितारौ, देवितारः आदि रूप लुट् में और देविष्यति, देविष्यतः, देविष्यन्ति आदि ऌट् में बनते हैं।

लोट् लङ् और विधिलिङ् में श्यन् होने पर 'हलि च' से दीर्घ होता है। लोट् के सिप् में श्यन् के अकार से परे होने के कारण 'अतो हेः' से 'हि' लोप होकर दीव्य रूप बनता है। विधिलिङ् में यास् को अतो येयः से इय् आदेश होकर भ्वादि के समान रूप बनते हैं।

लुङ् में– प्र० अदेवीत्, अदेविष्टाम्, अदेविषुः म० अदेवीः, अदेविष्टम्, अदेविष्ट। उ० अदेविषम्, अदेविष्व, अदेविषम।

षिवु (सिव्– सिलाई करना) धातु के रूप भी दिवु के समान ही बनते हैं– सीब्यति। सिषेव। सेविता। सेविष्यति। सेविष्यति। सीव्यतु। असीव्यत्। सीव्येत्। सीव्यात्। असेवीत्। असेविष्यत।

सिव्– इस धातु का अर्थ यद्यपि तन्तुसन्तान–धागों का फैलाना अर्थात् कपड़ा बुनना कहा गया है, तथापि इसकी प्रसिद्धि सीने–पिरोने अर्थ में ही है। सलाईयों से बुनने के लिए भी इसी का प्रयोग होता है– विषीव्यति– (स्वेटर आदि) बुनता है।

यह धातु षोपदेश है। इसलिये षोपदेशनिमित्तक षत्व कार्य 'परिनिविभ्यः–' इत्यादि सूत्र के द्वारा होता है। यथा– 'विषीव्यति' आदि।

नत् (नाचना सेट्)– गात्रविक्षेप गात्रों का–अङ्गों का विशेष रूप से फेंकना अर्थात नाचना। इस धातु के रूप भी प्रायः पूर्व प्रक्रिया से ही बनते हैं। सार्वधातुकमपित्' सूत्र से श्यन्ङित् होता है। इसलिए इसके परे रहते लघूपध गुण नहीं होता। लट् में–नत्यति, नत्यतः, नत्यन्ति रूप बनते हैं।

लिट्– प्र. ननर्त, ननततुः,। म. ननर्तिथ, ननतथुः, ननत। उ. ननर्त, ननतिव, ननतिम। अतुस् आदि अपितु लिट् होने से 'असंयोगाद् लिट् कित्' से कित् हैं, अतः इनके परे रहते गुण नहीं होता।

यह धातु भी सेट् है, अतः वलादि आर्धधातुक को हट् होता है।

लुट् में अतएव नर्तिता, नर्तितारः आदि रूप बनते हैं।

सेसिचि कृत-चत-छत-तद-नतः 7.2.57

एभ्यः परस्य सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा।

नर्तिष्यति-नत्स्र्वति। न त्यतु। अनत्यत्। न त्येत्। नत्यात्। अनर्तीत्। अनर्तिष्यत्-अनत्स्र्यत।

त्रसी उद्वेगे।।४।। 'वा भ्राश-' इति श्यन् वा-त्रस्यति-त्रसति। तत्रास।

व्याख्याः कृती (काटना, तुदादि), चती (मारना, खोलना, तुदादि) छदिर् (चमकना, क्रीड़ा करना, रुधादि), तदिर् (हिंसा करना और अनादर करना, रुधादि) तथा नती (नाचना, दिवादि) धातुओं से परे सिच् भिन्न सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय को इट् विकल्प से हो।

नर्तिष्यति–नत्स्र्यति–ऌट् में सकारादि आर्धधातुक 'स्य' प्रत्यय को यहाँ प्रकृत सूत्र से इट् विकल्प से होकर दो दो रूप बनते हैं।

लुङ में –

प्र० अनर्तीत, अनर्तिष्टाम्, अनर्तिषुः।

म० अनर्तीः, अनर्तिष्टम्, अनर्तिष्ट।

उ० अनर्तिषम्, अनर्तिष्व, अनर्तिष्म।

अनर्तिष्यत्–अनत्स्र्यत्–ऌङ् में सकारादि आर्धधातुक 'स्य' के मिलने से वैकल्पिक इट् होकर रूप बनते हैं।

त्रस– (डरना, घबराना सेट्)– इस धातु के 'वा भ्राश–भ्लाश–भ्रमु–क्रमु–क्ल–त्रसि–त्रुटि–लषः' सूत्र से वैकल्पिक श्य्न होने से सार्वधातुक लकारों में दो दो रूप होते हैं।

श्यन्पक्ष में– त्रस्यति आदि और श्यन् के अभाव में शप् होकर त्रसति आदि रूप होते हैं।

तत्रास– लिट् के प्रथम के एकवचन में द्वित्व और अभ्यासकार्य आदि होकर 'तत्रास' रूप होता है।

वा जॄ-भ्रमु-त्रसाम् 6.4.124

एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्वाभ्यासलोपौ वा। त्रेसतुः तत्रसतुः, त्रेसिथ-तत्रसिथ। त्रसिता। शो तनूकरणे।।५।।

व्याख्याः जॄ (जीर्ण होना, दिवादि), भ्रमु (घूमना, भ्वादि) और त्रस् (दिवादि) इन तीनों धातुओं को कित् लिट् और सेट थल् परे रहते एत्व और अभ्यास का लोप हो विकल्प से।

इन में 'जॄ' को आदेश होने तथा 'भ्रम्' और –त्रस्' को संयोग होने से 'अत एकहल्मध्ये–' सूत्र से एत्व और अभ्यास लोप प्राप्त नहीं था। अप्राप्त होने पर विकल्प से विधान करने के कारण यह अप्राप्तविभाषा हैं इसलिये इनके उक्त स्थलों में दो दो रूप बनते हैं।

सम्पूर्ण रूप–प्र० त्रेसतुः तत्रसतुः, तत्रसुः। म० त्रेसिथ–तत्र सिथ, त्रेसथुः–तत्रसथुः, त्रेस–तत्रस। उ० तत्रास–तत्रस, त्रेसिव–तत्रस, त्रेसिव–तत्र सिव, त्रेसिम–तत्रसिम।

लुट्– त्रसिता। लृट्–त्रसिष्यति। लोट्–त्रस्यतु–त्रस्तु। लङ्–अत्रस्यत्–अत्रसत्। वि० लि०'त्रेस्येत्–त्रसेत्। आ० लि०–त्रस्यात्। लुङ–अत्रासीत्–अत्रसीत्। लङ्–अत्रसिष्यत्। लुङ् में 'अतो हला देलंघोः' से वैकल्पिक वद्धि होती है।

शो– (पतला करना, कम करना)–

ओतः श्यनि 7.3.71

लोपः स्यात् श्यनि। श्यति, श्यतः, श्यन्ति। शशौ, शशतुः। शाता। शास्यति।

व्याख्याः ओकर का लोप हो श्यन् परे रहते।

शो धातु से लट् लकार में श्यन् आने पर इस सूत्र से ओकार का लोप हो जाने से धातु का केवल एक वर्ण शकार ही बच रहता है, तब प्र० श्यति, श्यतः, श्यन्ति। म० श्यसि, श्यथः, श्यथ। उ० श्यामि, श्यावः, श्यामः– रूप सिद्ध होते हैं।

लोट्, लङ् और विधि लिङ् में श्यन् होने से ओकार का लोप होता है। इनके रूप निम्नलिखित होते हैं।

लोट्– प्र० श्यतु–श्यतात्, श्याताम्, श्यन्तु। म० श्य–श्यतात्, श्यतम्, श्यत। उ० श्यानि, श्याव, यहाँ मध्यम पुरुष के एकवचन में श्यन् के अकार से परे होने के कारण 'हि' का लोप हो जाता है।

लङ्– प्र० अश्यत्, अश्यताम्, अश्यन्। म० अश्यः अश्यतम्, अश्यत। उ० अश्यम्, अश्याव, अश्याम।

विधिलिङ्– प्र० श्येत्, श्येताम्, श्युः। म० श्येः, श्येतम्, श्येत। उ० श्येम्, श्येव, श्येम।

लिट् में 'आदेच उपदेशेशिति' सूत्र से ओकार को आकार होने पर आकारान्त हो जाने से उसी के समान रूप बनते हैं।

प्र०– शशौ, शशतुः शशुः। म० शशिथ–शशाथ, शशथुः शशुः। उ० शशौ, शशिव, शशिम।

इसी प्रकार अन्य आर्धधातुक लकारों में भी ओकार को आकार हो जाने से आकारान्त धातु जैसे बनते हैं। लुट्–शास्यति आ० लि० शाश्यात्।

विभाषा घ्रा-घेट्-शा-च्छा-सः 2.4.78

एभ्यः सिचो लुग् वा स्यात् परस्मेपदे परे। अशात्, अशाताम्, अशुः। इट्सकौ-अशासीत्, अशासिष्टाम्।

छो छेदने।।६।। छयति। षो अन्तःकर्मणि।।७।। स्यति। ससौ। दो अवखण्डने।।८।। द्यति। ददौ। देयात्। अदात्। व्यध ताडने।।८।।

व्याख्याः बिभाषेति घ्रा (सूँघना, भ्वादि), धेट् (पीना, भ्वादि), शो (पतला करना, दि०), छो (काटना, दि०), षो (नाश करना दि०) इन धातुओं से पर सिच् का लोप हो विकल्प से परस्मैपद परे रहते।

अशात्–यहाँ प्रकृत सूत्र से शा धातु से पर सिच् का लोप होकर रूप बनता है।

अशुः– झि को 'आतः' सूत्र से जुस् आदेश होता है और आकार का 'उस्यपदान्तात्' से पररूप होकर रूप सिद्ध होता है।

सिच् लोप के अभावपक्ष में 'यमरमनमातां सक् च' सूत्र से इट् और सक् होकर अशासीत्, अशासिष्टाम्, अशासिषुः आदि रूप बनते हें।

६ छो (काटना) ७ सो (नाश करना) ८ दो (काटना)

इन धातुओं के रूप भी 'शो' के समान ही बनते हैं। इनके लोट् के हि का लोप होने पर छय, स्य और द्य रूप बनते हैं। 'षा' का आशीर्लिङ् से एत्व होकर 'सेयात्' और दो को घुसंज्ञक होने से पूर्ववत् आशीर्लिङ् में 'देयात्' तथा लुङ् में 'गातिस्थाधु–' इत्यादि सूत्र से सिच का लोप होकर 'अदात्' आदि रूप बनते हैं। इनके रूपों में केवल यही अन्तर पड़ता है।

उपसर्ग के योग में–

अवस्यति–निश्चय करता है। व्यवस्यति–उद्योग करता है।

ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टिविचति-वश्चति-पच्छति-भंजतीनां ङिति च 6.1. 16

एषां सम्प्रसारणं स्यात् किति ङिति च।

विध्यति। विव्याध, विविधतुः, विविधुः। विव्यधिथ, विव्यद्ध। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्येत्। विध्यात्। अव्यात्सीत्। पुष पुष्टौ।।१०।। पुष्यति। पुपोष, पुपोषिथ। पोष्टा। पोक्ष्यति। 'पुषादि'-इत्यङ्-अपुषत्। शुष शोषणे।।११।। शुष्यति। शुशोष। अशुषत्। णश अदर्शने।।१२।। नश्यति। ननाश, नेशतुः।

व्याख्याः ग्रह् (करना, क्र्यादि), ज्या (वद्ध होना, क्र्यादि), वे्‌ (बुनना, भ्वादि), व्यध् (वेधना, दिवादि), वश् (इच्छा करना, अदादि), व्यच् (ठगना, तुदादि), व्रश्च् (काटना, तुदादि), प्रच्छ् (पूछना, तुदादि), और भ्रस्ज् (भूनना, तुदादि)–इन धातुओं को सम्प्रसारण हो कित् और ङित् प्रत्यय परे रहते।

श्यन्' अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है। अतः इसके परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है।

विध्यति–व्यध् धातु के यकार को सम्प्रसारण होकर लट् में 'विध्यति' आदि रूप बनते हैं।

लिट् में पित् प्रत्यय णल् थल् और णल् में 'लिट्यभ्यासस्यो भयेषाम्' सूत्र से अभ्यास को सम्प्रसारण होकर विव्याध, बिध्यधिथ–विव्यद्ध, विव्याध–विव्यध रूप बनते हैं। 'अतुस्' आदि कित् प्रत्ययों में 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्य बलवत्' परिभाषा के बल से द्वित्व से पहले सम्प्रसारण होने पर द्वित्व होकर विविधतुः आदि रूप बनते हैं। थल् में भारद्वाज नियम से वैकलिपक इट् होता है। अभावपक्ष में थ को 'झषस्तथोर्धोधः' से धकार और धातु के घकार को जश्त्व दकार होता है।

इसी प्रकार लुट् में तास् के तकार को धकार होकर व्यद्धा आदि रूप बनते हैं।

ऌट् में 'स्य' आने पर धकार को चर् तकार होकर व्यत्स्यति आदि रूप सिद्ध होते हैं।

लोट्, लङ् और विधिलिङ् में सम्प्रसारण होने से–विध्यतु, अविध्यत्, विध्येत् आदि रूप बनते हैं।

विध्यात्-आशीर्लिङ् के यासुट् के 'किद् आशिषि' सूत्र से कित् होने के कारण वहाँ भी प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण हो जाता है।

अव्यात्सीत्-लुङ् में प्रथम के एकवचन में हलन्तलक्षणा वद्धि और धकार को चर्त्व तकार होकर रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'तम्' ओर 'त' में भी सिच् का लोप होकर कार्य होते हैं। शेष प्रत्ययों में सिच् रहता है।

लुङ् के सारे रूप–

प्र० अव्यात्सीत्, अव्याद्धाम्, अव्यात्सुः।

म० अव्यात्सीः, अव्याद्धम्, अव्याद्ध।

उ० अव्यात्सम्, अव्यात्स्व, अव्यात्स्म।

---

१. 'राघव स्य शरैर्घोरैर्घोरं रावणमाहवे। अत्र क्रि पदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः।' इस कूट के पद्य में 'स्य' क्रियापद है, जो प्रकृत 'षो अनतःकर्मणि–नाश करना, धातु के लोट् म–पु. ए. व. रूप है। 'राघव' सम्बोधन पद है। 'राघवस्य' यह षष्ट्यन्त पद मालूम पड़ता है, जिस से क्रिया पद का अभाव यहाँ खटकने लगता है। इस पद्य का अर्थ है–'हे राम, इस भयंकर रावण को तीक्ष्ण वाणों से मार डालो। इस पद्य में क्रिया पद गुप्त–छिपा हुआ–है, जो उसे जानता है, वह पण्डित है।'

पुष्यति– श्यन् के ङिद्वत् होने से उसके परे रहते लघ्धपधगुण का निषेध हो गया।

पुपोषिथ– थल् में क्रादि नियम से नित्य इट् हुआ, क्योंकि न तो यह अजन्त है और न अकारबान्, अतः भारद्वाज नियम का विषय यह धातु नहीं है। लुट् में ष्टुत्व होकर पोष्टा, पोष्टारौ, पोष्टारः आदि रूप बनते हैं।

लट् में ष्टुत्व होकर पोक्ष्यति आदि रूप बनते हैं।

लट् में धातु के षकार को 'षढोः कः सि' से ककार होने पर 'स्य' के सकार को मूर्धन्य षकार होता है, तब क ष के संयोग होने से 'क्ष' होकर पोक्ष्यति आदि रूप सिद्ध होते हैं।

लुङ् में 'पुषादि–द्युतादि–लदितः परस्मैपदेषु' से च्लि को अङ् होकर अपुषत् आदि रूप बनते हैं।

शुष् (सूखना)–धातु भी अनिट् है तथा पुषादि गण की है। अतः इसके सारे रूप 'पुष' के समान सिद्ध होंगे।

नश् (नाश होना)–नश् धातु के लिट् के किद् वचनों में तथा सेट् पक्ष में 'अत एक–हल्मध्ये–' और 'थलि च सेटि' से एत्व और अभ्यासलोप होता है। इसलिये अतुस् में नेशतुः और उस् में नेशुः रूप बनता है।

यह धातु है तो अनिट्, परन्तु 'रधादिभ्यः' सूत्र इसे 'वेट्' कर देता है।

रधादिभ्यश्च 7.2.45

रध, नश, तप, दृप्, द्रुह, मुह, स्नुह, स्निुह-एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट् स्यात्। नेशिथ।

व्याख्याः रधादिभ्य इति–रध् आदि आठ धातुओं से पर आर्धधातुक प्रत्यय को इट् विकल्प से हो।

नेशिथ–थल् को इट् होने पर 'थलि च सेटि' से एत्व और अभ्यासलोप होकर रूप बनता है।

मस्जि-नशोर्झलि 7.1.60

नुम् स्यात्। ननंष्ठ। नेशिव-नेश्व नेशिम-नेश्म। नशिता-नंष्ठा। नशिष्यति-नङ्क्ष्यति। नश्यतु। अनश्यत्। नश्येत्। नश्यात् अनशत्।

षूङ प्राणिप्रसवे।।१३।। सूयते। क्रादिनियमाद् इट्-सुषुविषे, सुषुविवहे, सुषुविमहे। सोता, सविता।

दूङ् परितापे।।१४।। दूयते। दीङ्क्षये।।१५।। दीयते।

व्याख्याः मस्जि इति–मस्ज् और नश् धातु को झलादि प्रत्यय परे रहते नुम् आगम हो।

ननंष्ठ–थल् में इट् के अभाव पक्ष में झलादि प्रत्यय मिल जाता है। अतः प्रकृत सूत्र से नुम् होकर उसके नकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार तथा 'व्रश्च–' से शकार को षकार और थकार को ष्टुत्व ठकार होने पर रूप बनता है।

सेट् थल् परे रहते विधान होने से एत्व और अभ्यासलोप यहाँ नहीं हुए।

नेशिव–नेश्व, नेशिम–नेश्म–'व' और 'म' में भी विकल्प से इट् होने के कारण दो दो रूप बनते हैं। इट् और इडभाव दोनों पक्षों में एत्व और अभ्यासलोप होकर रूप बनते हैं।

नंष्टा– लुट् में झलादि प्रत्यय तास् परे नुम् होकर पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। पक्ष में –नशिता–इट् होकर रूप बनता है।

नंक्ष्यति–ल्टट् में इडभाव पक्ष में शकार को 'व्रश्चभ्रस्ज–' सूत्र से मूर्धन्य षकार और उसको 'षढोः कः सि' से ककार तथा क ष संयोग से 'क्ष' होता है। तब नुम् और उसको यथाप्राप्त अनुस्वार होकर रूप बनता है।

अनशत्–पुषादि हाने से लुङ् में च्लि को अङ् होकर रूप बनता है।

सू (पैदा होना) प्राणियों के जन्म लेने अर्थ में ही इस धातु का प्रयोग होता है।

क्रादि नियमाद् इति– इस धातु के लिट् में क्रादिनियम से इट् होता है। 'सुषुविषे' सुषुविवहे, सुषुविमहे इन में क्राादि नियम से नित्य इट् हुआ है। अन्य स्थलों में 'स्वरति–सूतिसूयतिधूञूदितोवा' इस सूत्र में 'सू' धातु का ग्रहण–होने से वैकल्पिक इट् होता है।

ऌट्–सविष्यते, सोष्यते। लोट्–सूयताम्। लङ में–असूयत। विधिलिङ् में–सूयेत। आ० लि०–सविषीष्ट, सोपीष्ट। लुङ्–असविष्ट, असोष्ट। ऌङ् असविष्यत, असोष्यत।

१४ दू (दुःखी होना)– इस धातु के रूप भी 'सूङ' के समान ही बनेंगे। केवल इट् का विकल्प नहीं होता। दीघ्र ऊकान्रान्त होने से यह धातु सेट् है।

लिट् –

प्र० दुदुवे, दुदुवाते, दुदुविरे।

म० दुदुविषे, दुदुवाथे, दुदुविध्वे।

उ० दुदुवे, दुदुविवहे, दुदुविमहे।

ऌट्– दविता। ऌट्–दविष्यते। लोट्–दूयताम्। लङ्–अदूयत। वि० लि०– दूयेत। आ लि०–दविषीष्ट। लुङ्–अदविष्ट। ऌङ् अदविष्यत।

दी (नाश होना) अनिट्।

दीङो युट् अचि क्ङिति 6.4.63.

दीङः परस्याजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट्।

(वा) वुग्युटौ-उवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ। दिदीये।

व्याख्याः दीङ् इति–दीङ् धातु से पर अजादि कित् और ङित् आर्धधातुक को 'युट्' आगम हो।

वुग्युटाविति–उवङ् ओर यण् के विषय में वुक् और युट् सिद्ध हों।

दिदीये– दी धातु को लिट के एकवचन एश् में द्वित्व होने के अनन्तर अजादि प्रत्यय परे होने से युट् आगम होता है। उट् की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है। तब 'दिदीय्‌ए' इस दशा में 'असिद्धवदत्राभात्' सूत्र से युट् के असिद्ध होने से 'एरनेकाचोसंयोगपूर्वस्य' इससे यण् प्राप्त होता है। उसका प्रकृत वार्तिक से युट् को सिद्ध विधान करने से वारण हो जाता है।

इसी पकार

प्र० दिदीयाते, दिदीयितरे।

म० दिदीयिषे,दिदीयाथे, दिदीयिध्वे।

उ० दिदीये, दिदीयिवहे, दिदीयिमहे।

ये रूप बनते है।

मीनाति-मिनोति-दीङां ल्यपि च 6.1.50

एषामात्वं स्यात् ल्यपि, चाद् अशित्येजिनिमित्ते। दाता दास्यति।

व्याख्याः मी् (हिंसा करना, क्रयादि), मि (फेंकना, स्वादि)– इन दो धातुओं को आकार (अन्तादेश) हो, ल्यप् तथा गुण वद्धि निमित्त शिद्भिन्न प्रत्यय परे रहसे।

चाद्–इति–चकार (भी) कहने के कारण शित्–भिन्न एज़्निमित्त प्रत्ययों का भी निमित्त कोटि में यहाँ ग्रहण होता है।

तास्, स्य आदि प्रत्यय शिद्भिन्न हैं और गुण वद्धि के हेतु भी हैं। अतः इनके परे रहते उपर्युक्त धातुओं को आकार आदेश होगा।

'दी' को लुट् में आकार होने से दाता आदि और ऌट में–दास्यते आदि रूप बनेंगे। लोट्–दीयताम्। लङ् –अदीयत। विधिलिङ्–दीयेत। आशीर्लिङ्–दासीष्ट।

(वा) स्थाध्वोरित्वे दीङः प्रतिषेधः। अदास्त

व्याख्याः (वा) स्थाध्वोरिति–घुसंज्ञक धातुओं को लुङ् में 'स्थाध्वोरिच्च' सूत्र से जो इकार आदेश प्राप्त है, उसमें 'दीङ्' का प्रतिषेध हो, अर्थात् दीङ् को न हो।

दीङ धातु दारूप होने से घुसंज्ञक है, अतः इत्व प्राप्त था, उसका निषेध इस वार्तिक से होता है। अतः अदास्त, अदासाताम्, अदासत आदि रूप बनते हैं।

डीङ् विहायसा गतौ।।१६।। डीयते। डिड्ये। डयिता।

व्याख्याः १६ डीङ् (उड़ना, सेट्) इस धातु के रूप दीङ् से कुछ भिन्न होंगे, सार्वधातुक लकारों में अवश्य समान होंगे। लुट्–डयिता। 'ऊद्ऋदन्तैः–' इत्यादि सेट्–कारिका में पाठ होने से यह धातु सेट् है। लृट्–डयिष्यते। लोट्–डीयताम्। लङ्–अडीयत् वि० लि०–डीयेत। आ० लि०–डयिषीष्ट। लुङ्–अड़यिष्ट। लृङ्–अडयिष्यत।

इसका प्रयोग प्रायः उद्–उपसर्गपूर्वक होता है।

पीङ् पाने ।।१७।।

पीयते। पेता, अपेष्ट।

माङ् माने।।१८।। मायते। ममे।

व्याख्याः माङ् (मापना)– मायते। ममे। माता। मास्यते। मायताम्। अमायंत। मायेत। मासीष्ट। अमास्त। अमास्यत।

जनी प्रादुर्भावे।।१६।।

व्याख्याः जन् (उत्पन्न होना)सेट्। आत्मनेपदी।

ज्ञा-जनोर्जा 7.2.79

अनयोर्जादेशः स्यात् शिति। जायते। जज्ञे। जनिता। जनिष्यते।

व्याख्याः (जानना क्र्यादि) और जन् धातु को 'जा' आदेश हो शित् प्रत्यय परे रहते।

श्यन् शित् है, अतः जन् धातु को सार्वधातुक लकारों में 'जा' आदेश हो जाता है। लट्–जायते। लोट्–जायताम्। लङ्–अजायत्। बि० लि०–जायेत।

जज्ञे–लिट् में 'जन' को द्वित्व होने पर 'जन् जन् ए' इस दशा में 'गमहनजनखन–' इत्यादि सूत्र से उपधालोप हो जाता है। तब 'ज जन् ए' इस स्थिति में नकार को श्चुत्व ञकार होकर 'जज्ञे' रूप बनता है। इसी प्रकार आगे के रूप भी बनते हैं।

प्र० जज्ञाते, जज्ञिरे।

म० जज्ञिषे, जज्ञाथे, जज्ञिध्वे।

उ० जज्ञे, जज्ञिवहे, जज्ञिमहे।

दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योन्यतरस्याम् 3.1.61

एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यात्, एकवचने तशब्दे परे।

व्याख्याः दीपजनेति–दीप् (चमकना, दिवादि), जन् (उत्पन्न होना), बुध् (जानना), पूरि (भरना) ताय् (फैलना, पालना) प्याय (फूलना)– इन धातुओं से पर च्लि के स्थान में विकल्प से चिण् आदेश हो, एकवचन 'त' शब्द परे रहते।

चिणो लुक् 6.4.104

चिणः परस्य तशब्दस्य लुक् स्यात्।

व्याख्याः चिण् से पर 'त' शब्द का लुक् (लोप) हो।

अजनि–'अजन्इत्' इस दशा में इससे 'त' का लोप होकर रूप बनता है।

जनि-वध्योश्च 7.3.35

अनयोरुपधाया वद्धिर्न स्यात चिणि णिति कृति च। अजनि, अजनिष्ट।

दीपा दीप्तौ।।२०।। दीयते। दिदीपे। अदीपि, अदीपिष्ट।

पद गतौ।।२१।। पद्यते। पेदे। पत्ता। पत्सीष्ट।

व्याख्या: जन् और वध् धातुओं की उपधा को वद्धि न हो चिण् तथा ाित्, णित् कृत् प्रत्यय परे रहते।

चिण् के णित् होने से 'अत उपधायाः' से 'अजनि' में वद्धि प्राप्त थी, उसका इसमें निषेध हो गया।

चिणभव पक्ष में सिच् होता है। सिच् को इट् होकर अजनिष्ट रूप बनता है। आगे–अजनिषाताम् आदि रूप बनते हैं।

दीप् (चमकना) धातु के रूप भी इसी प्रकार बनते हैं। लुङ् के प्रथम के एकवचन में चिण् विकल्प से दो रूप बनते हैं–अदीपि, अदीपिष्ट।

पद (जाना) यह धातु अनिट् हैं पद्यते। पेदे। पत्ता। पत्स्यते। पद्यताम्। अपद्यत। पद्येत। पत्सीष्ट।

चिण् ते पदः 3.1.60

पदेश्च्लेश्चिण स्यात् त शब्दे परे। अपादि, अपत्साताम्, अपत्सत।

व्याख्या: पद् धातु से पर च्लि को चिण् हो त शब्द परे रहते।

अपादि– 'चिल' को चिण् आदेश होने पर उपधावद्धि और प्रकृत सूत्र से तकार का लोप होकर रूप बनता है।

अपत्साताम्– आताम् में च्लि को सिच् होने से 'अपत्साताम्' और झ में अपत्सत रूप सिद्ध होता है। शेष रूप–

म० अपत्थाः, अपत्साथाम्, अपद्ध्वम्। उ० अपत्सि, अपत्स्वहि, अपत्स्महि।

'थास्' और 'ध्वम्' में 'झलो झलि' से सिच् के सकार का लोप हो जाता है।

उपसर्गों के योग में–

प्रपद्यते–ग्रहण करता है।	निष्पद्यते –होता है।
सम्पद्यते–सम्पन्न होता है।	विपद्यते–मरता है।
आपद्यते–आपत्ति होती है।	उत्पद्यते–पैदा होता है।
उपउद्यते –उपपन्न होता है।	

विद सत्तायाम्।।२२।। विद्यते। वेत्ता। अवित्त।

व्याख्या: विद्यते। विविदे। वेत्ता। विद्यताम्। अविद्यत। विद्येत। वित्सीष्ट। अवित्त।

यह धातु अनिट हैं, आशीर्लिङ् में 'लिङ्सिचावत्मनेपदेषु' सूत्र से सीयुट् को कित्त्व होने से गुण का निषेध हो जाता है।

बुध अवगमने।।२३।। बोद्धा। भोत्स्यते। भुत्सोष्ट। अबोधि, अबुद्ध, अभुत्साताम्।

व्याख्या: यह धातु अनिट् है।

सकारादि अर्थात् स्य, सीयुट् और सिच् के सकार परे रहते 'एकाचो बशो ...' सूत्र से बकार की भष्भाव से भकार हो जाता है लुङ् के एकवचन में 'दीपजनबुध ...' इस सूत्र से च्लि को वैकल्पिक चिण् होने से दो रूप बनते हैं।

प्र० अबोधि–अबुद्ध, अभुत्साताम्, अभुत्सत।

म० अबुद्धाः, अभुत्साथाम्, अभुद्धम्।

उ० अबोधिषि, अबुध्व, अबुध्म।

युध संप्रहारे।।२४।। युध्यते। युयुधे। योद्धा। आयुद्ध।

व्याख्याः युद्ध करना। अनिट् आत्मनेपदी।

युध्यते—लट् के त में श्यन् और 'त्' की टि को एकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

युयुधे—लिट् को त, त को एश आदेश, द्वित्व, अभ्यासकार्य होकर रूप सिद्ध हुआ।

लिट् के शेष रूप—

प्र० युयुधाते, युयुधिरे।

म० युयुधिषे, युयुधाथे, युयुधिध्वे।

उ० युयुधे, युयुधिवहे, युयुधिमहे।

यहाँ वलादि आर्धधातुक में क्रादिनियम से नित्य इट् हुआ।

योद्धा— लुट् में त को डा आदेश, तास् को टि 'आस्' का लोप, लधूपध गुण, तकार को 'झषस्तथोर्धोधः' से धकार को जश् दकार होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

अनुदात्तोपदेश धातुओं में परिगणन होने से 'युध्' धातु अनिट् है। अतएव तास् में इट् नहीं हुआ।

लुट् के शेष रूप—

प्र० योद्धा यौद्धारौ, योद्धारः।

म० योद्धासे, योद्धासाथे, योद्धध्वे।

उ० योद्धाहे, योद्धास्वहे, योद्धास्महे।

लृट्— योधिष्यते। लोट्—अयुध्यताम्। लङ् अयुध्यत। विधिलिङ्—युध्येत। आशीर्लिङ्—युत्सीष्ट।

लृङ् में—प्र० अयोत्स्यत, अयोत्स्येताम, अयोत्स्यन्त—आदि रूप सिद्ध होते हैं।

सज विसर्गे।।२५।। सज्यते। ससजे। ससजिषे।

व्याख्याः (छोड़ना—अनिट् आत्मनेपदी)

लट्—स ज्यते। लिट् प्र० ससजे, ससजाते, ससजिरे। ससजिषे।

लिट् के थास् को 'से' आदेश और वलादि आर्धधातुक होने से उसे क्रादिनियम से नित्य इट् होकर उक्त रूप की सिद्धि हुई।

लिट् के शेष रूप—म० ससजाथे, ससजिध्वे। ससजे, ससजिवहे, ससजिमहे।

सजि-दशोर्झ ल्यम्-अकिति 6.1.58

अनयोः 'अम्' आगमः स्याद् झलादौ-अकिति। स्रष्टा। स्रक्षयति। सक्षीष्ट। असक्षाताम्।

व्याख्याः सज् औद दश् धातुओं को 'अम्' आगम हो झलादि किद्भिन्न प्रत्यय परे रहते।

स्रष्टा-लुट् के त में तास् ओर त को डा आदेश होने पर प्रकृत सूत्र से 'आम्' आगम होगा। तब 'स अ ज् ता' इस दशा में ऋकार को यण् रकार आदेश तथा जकार को 'व्रश्च—भ्रस्ज—सज—' इत्यादि सूत्र से षकार और तास् के तकर को ष्टुत्व टकार होकर उक्त रूप बन गया। ,

सज् धातु का भी अ नुदात्तोपदेश धातुओं में परिगण होने से अनिट्त्व सिद्ध है। अतः इट् न होने से तास् झलादि प्रत्यय है तथा कित् न होने से किद्भिन्न भी है।

शेष रूप —

प्र० स्रष्टारौ, स्रष्टारः।

म० स्रष्टासे, स्रष्टासाथे, स्रष्टाध्वे।

उ० स्रष्टाहे, स्रष्टास्वहे, स्रष्टास्महे।

स्त्रक्ष्यते– ऌट् में स्य, झलादि और किद्भिन्न प्रत्यय है। अतः 'अम्' आगम होता है। 'अम्' के अकार परे रहते ऋकार को यण् रकार आदेश , जकार तथा 'स्य' के सकार को मूर्धन्य षकार, क् ष् के संयोग से 'क्ष' सिद्ध होकर रूप बना।

लोट्–सज्यताम्। लङ्–असज्यत। विधिलिङ्–सज्येत।

सक्षीष्ट–आशीर्लिङ् में सीयुट्, सुट्, जकार को षकार, उसको 'षढोः कः सि' से ककार , सीयुट् दोनों के सकार को मूर्धन्य षकार, क ष के संयोग से क्ष तथा 'त' के ष्टुत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ 'अम्' आगम नहीं हुआ, क्योंकि 'सीयुट्' लिङ्सिचावात्मनेपदेषु १।२।११।' सूत्र से कित है।

आशीर्लिङ् के शेष रूप ...

प्र० सक्षीयास्ताम्, सक्षीरन्।

म० सक्षीष्ठाः, सक्षीयास्थाम, सक्षीध्वम्।

उ० सक्षीय, सक्षीवहि, सक्षीमहि।

असष्ट–लुङ् के त में सिच् और उसका 'झलो झलि' से लोप होने पर जकार को षकार तथा तकार को ष्टुत्व तकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ भी पूर्वोक्त 'लिङ् सिचावात्मनेपदेषु १।२।२१।' सूत्र से सिच् के कित् हो जाने से प्रकृते सूत्र से 'अम्' आगम नहीं होता।

असक्षाताम्–आताम् में सिच्, जकार को षकार और षकार को 'षढोः कः सि' से ककार होने पर सिच् के सकार को मूर्धन्य षकार तथा क ष के संयोग से क्ष होकर रूप बना।

लुङ् के शेष रूप–

प्र० असक्षत।

म० असष्ठाः, असक्षथाम्, असढ्वम।

उ० असक्षि, असक्ष्वहि, असक्ष्महि।

लुङ् में–

प्र० अस्त्रक्ष्यत, अस्त्रक्ष्येताम्, अस्त्रक्ष्यन्त।

म० अस्त्रक्ष्यथाः, अस्त्रक्ष्येथाम्, अस्त्रक्ष्वध्वम्।

उ० अस्त्रक्ष्ये, अस्त्रक्ष्यावहि, अस्त्रयामहि।

मष तितिक्षायाम् 26

मष्यति, मष्यते। ममर्ष, ममषिंथ, ममषिषे। मर्षितासि, मर्षितासे। मर्षिष्यति। मर्षिष्यति, मर्षिष्यते।

व्याख्याः मष् (सहना सेट्)– यह धातु स्वरितेत् होने से उभयपदी है।

मष्यति– लट् तिप् और श्यन् होकर रूप सिद्ध हुआ।

मष्यते–लट्, त, श्यन् और 'त' की टि को एकार होकर रूप बना।

ममर्ष–लिट्, तिप, णल, द्वित्व अभ्यासकार्य तथा अभ्यास के उत्तरखण्ड में लधूपध गुण हुआ।

अतुस्–ममषतुः, अस्–ममषुः–ये रूप बनते हैं। इनमें कित् होने के कारण गुण नहीं होता।

मभर्षिथ–थल् में पित् होने से गुण होता है और क्राादिनियम से नित्य इट्

शेष रूप–

म० ममषथुः, ममष।

उ० ममर्ष, ममषिव, ममषिम ।

व और म के कित् होने से गुण नहीं हुआ।

ममषिषे–लिट् आत्मनेपद के मध्यम पुरुष के एकवचन थास में 'से' आदेश, द्वित्व, अभ्यासकार्य और क्राादिनियम से नित्य इट् होकर रूप सिद्ध हुआ।

लिट् आत्मनेपद के रूप –

प्र०ममषे, ममषाते, ममषिरे।

म० मभषिषे, ममषाथे, ममषिध्वे।

उ० ममषे, ममषिवहे, ममषिमहे।

मर्षितासि–'लुट् के मध्यम पुरुष के एकवचन का रूप है। सिप, तास् सकार का लोप, इट् और गुण कार्य होते हैं।

मर्षितासे–यह लुट् के मध्यम पुरुष के एकवचन का आत्मनेपद का रूप है। थास् को 'से' आदेश हुआ, शेष कार्य परस्मैपद के समान ही होते हैं।

लोट्– मष्यतु, मष्यताम्। लङ्–अमष्यत्, अमष्यत। विधिलिङ– मष्येत्, मष्येत। आशीर्लिङ्–मष्यात्, मषिषीष्ट। लुङ्–अमर्षीत्, अमर्षिष्ट। ऌङ्–अमर्षिष्यत् अमर्षिष्यत।

'वि' उपसर्ग के योग में इसका अथ 'विचार करना' हो जाता है–विमष्यति विचार करता है।

णह बन्धने।।२७।। नह्यति, नह्यते। ननाह, नेहिथ-ननद्ध। नेहे। नद्धा। नत्स्यति। अनात्सीत्। अनद्ध।

व्याख्याः नह् (बांधना –अनिट्)–यह धातु भी स्वरितेत् होने से उभयपदी है।

नह्यति, नह्यते–परस्मैपद और आत्मनेपद के लट के प्रथम पुरुष के एकवचन के रूप हैं।

अतुस्–नेहतुः, उस्–नेहुः इनमें अतुस् और उस् के कित् लिट् होने स उनके परे रहते 'अत एकहल्मध्येनादेशादेर्लिटि' से एत्व और अभ्यास का लोप होता है।

नेहिथ–इट् पक्ष में 'न नह् ह थ' इस दशा में 'थलि च सेटि' से एत्व और अभ्यासलोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

ननद्ध– 'नह् थ' इस दशा में तास् में नित्य अनिट् और आकारवान् होने से थल् को भारद्वाज नियम से वैकल्पिक इट् होने पर इडभाव पक्ष में द्वित्व और अभ्यासकार्य करने पर 'नहो घः' सूत्र से हकार को धकार 'झषस्त–थोर्धोधः' से थकार को धकार तथा पूर्वधकार को जश् दकार होकर रूप बना।

शेष रूप–

म० नेहथुः, नेह।

उ० ननाह–ननह, नेहिव, नेहिम।

नेहे-लिट् आत्मनेपद प्रथम पुरुष एकवचन। 'न नह् ए' इस दशा में एश् के कित् लिट् होने से उसके परे रहते एत्व और अभ्यास लोप होकर रूप बना।

शेष रूप–

प्र० नेहाते, नेहिरे।

म० नेहिषे, नेहाथे, नेहिध्वे।

उ० नेहे, नेहिवहे, नेहिमहे।

कित् लिट् होने से यहाँ सर्वत्र एत्व और अभ्यासलोप हुआ। वलादि प्रत्ययों में क्राादिनियम से नित्य इट् होता है।

नद्धा–'नह ता' इस दशा में 'नहो धः' से हकार को धकार तथा तास् के तकार को 'झषस्तथोः–' से धकार ओर तब पूर्व धकार को जश् दकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

लुट् के रूप –

प्र० नद्धा, नद्धारौ, नद्धारः।

नद्धासि, नद्धास्थः, नद्धरास्थ।

नद्धास्मि, नद्धास्वः, नद्धास्मः।

आ० –

प्र० नद्धा, नद्धारौ, नद्धारः।

म० नद्धासे, नद्धासाथे, नद्धाध्वे।

उ० नद्धापहे, नद्धास्वहे, नद्धास्महे।

नत्स्यति–लृट् में 'नह् स्यति' इस दशा में 'नहो धः' से हकार को धकार और धकार को चर्त्व तकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

लोट्–नह्यतु, नह्यताम्। लङ् अनह्यत्, अनह्यत। विधिलिङ्–नह्येत्, नह्येत। आशीर्लिङ्–नह्यात्, नत्सीष्ट।

अनात्सीत्–लुङ् में 'अ नह् स् त' इस दशा में अनिट् होने से इट् तो हुआ नहीं, तब ईट् और हकार को धकार और उसको चर् तकार तथा हलन्तलक्षणा वद्धि होकर रूप बना।

शेष रूप –

प्र० अनाद्धाम्, अनात्सुः।

म० अनात्सीः, अनाद्धम्, अनाद्ध।

उ० अनात्सम्, अनात्स्व, अनात्स्म।

यहाँ 'ताम्' में झल् पर होने से सिच् का लोप हो जाता है, तब हकार को धकार भी हो जाता है। इसी प्रकार 'तम्' और 'त' में भी।

अनद्ध–लुङ् आत्मनेपद में 'अनह् त' इस दशा में सिच् होने पर उसका 'झलो झलि' से लोप हो जाता है, तब हकार को धकार तथा तकार को भी धकार और पूर्व धकार को जश् दकार होकर रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप–

प्र० अनत्साताम्, अनत्सत।

म० अनद्धाः, अनत्साथाम्, अनद्धम्

उ० अनत्सि, अनत्स्वहि, अनत्स्महि।

लृङ्–अनत्स्यत्, अनत्स्यत।

सम उपसर्ग के योग में इसका अर्थ 'तैयार होना' होता है–सन्नह्यति–तैयार होता है।

(इति दिवादयः)

अध्याय—10

अथ स्वादिगणः

षु॒ अभिषवे 1

ऋदन्तात् संयोगादेः परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात् तङि। स्तरिषीष्टस्तषीष्ट। अस्तरिष्ट-अस्तत।

व्याख्याः अभिषव का अर्थ है स्नान करना, निचोड़ना, स्नान करना और सुरासन्धान अर्थात् सुरा निकालना—सोमलता का रस निकालना।

यह धातु उपदेश में षकारादि हैं इसका अकार इत्संज्ञक है, अतः यह उभयपदी है।

स्वादिभ्यः श्नुः 3.1.73

शपोवादः। सुनोति, सुनुतः, 'हुश्नुवोः-' इति यण-सुन्वन्ति। सुन्वः-सुनुवः। सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते। सुन्वहे-सुनुवहे। सुषाव, सुषुवे। सोता। सुनु, सुनवानि, सुनवै। सुनुयात्। सूयात्।

व्याख्याः स्वादिगण के धातुओं से 'श्नु' प्रत्यय हो।

शप इति— यह 'श्नु' प्रत्यय 'शप्' का बाधक है, अतः स्वादि गण की धातुओं से शप् न होकर 'श्नु' होता है।

सुनोति—लट् में 'सु ति' इस दशा में प्रकृत सूत्र से 'श्नु' होने पर उसके उकार को सार्वधातुक गुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

धातु के उकार को गुण नहीं होता क्योंकि बीच में 'श्नु' का व्यवधान है और 'श्नु' के ङिद्वत होने से तिन्नमित्तक गुण भी नहीं होता।

सुनुतः—लट् में 'सु तस्' इस दशा में 'श्नु' प्रत्यय होकर रूप बना। यहाँ शनु के उकार को गुण नहीं हुआ क्योंकि तस् अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है।

सुन्वन्ति—झि में 'सु नु अन्ति' इस दशा में ङित् प्रत्यय परे होने से 'अचि श्नुधातुभ्रुवां—' से प्राप्त उवङ् को बाधकर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्र० सुनोषि, सुनुथः,।

उ० सुनोमि। **सुन्वः, सुनुवः**— लट् में 'सुनु वस्' इस दशा में 'लोपश्चस्यान्यतरस्यां म्वो' इससे वकार परे होने के कारण 'श्नु' के उकार का विकल्प से लोप होकर दो रूप बने।

इसी प्रकार मस् मं सुन्मः, सुनुमः, ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

सुनुते— आत्मनेपद लट् के त में श्नु प्रत्यय और टि को एकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ त प्रत्यय के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् होने के कारण 'श्नु' के उकार को गुण नहीं हुआ।

सुन्वाते—लट् आताम् में 'सुनु आताम्' में आताम् की टि 'आम्' को एकार और 'हुश्नुवोः सार्वधतुके' से 'श्नु' के उकारको यण् होकर रूप सिद्ध हुआ।

सुन्वते—लट् के झ में 'सु नु झ' इस दशा में अकार से पर न होने के कारण झ को 'आत्मनेपदेष्वनतः' सूत्र से अत् आदेश हुआ तब 'श्नु' के उकार को पूर्ववत् यण् होकर रूप बना।

शेष रूप —म० सुनुषे, सुन्वाथे, सुनुध्वे, सुन्वे।

सुन्वहे-सुनुवहे—'वहि' में भी 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' से श्नु के उकार का विकल्प से लोप हुआ।

इसी प्रकार 'महि' में उकार का विकल्प से लोप होकर सुन्महे—सुनुमहे ये दो रूप बनते हैं।

सुषाव—लिट्, ति, णल्, द्वित्व अभ्यासकार्य और वद्धि होने पर अभ्यासोत्तर धातु के सकार का मूर्धन्य षकार होकर रूप बनाा।

शेष रूप—

प० प्र० सुषुवतुः, सुषुवुः।

म० सुषविथ—सुषोथ, सुषुवथुः, सुषुव।

उ० सुषाव—सुषव, सुषुविव, सुषुविम।

यहाँ वलादि प्रत्ययों में से थल् में भारद्वाज नियम से विकल्प से और शेष में क्राादिनियम से नित्य इट् हुआ।

सुषुवे—लिट्, त, एश् आदेश, द्वित्व और , उवङ् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

आ० प्र० सुषुवाते, सुषुविरे।

म० सुषुविषे, सुषुवाथे, सुषुविध्वे।

उ० सुषुवे, सुषुविवहे, सुषुविमहे।

वलादि प्रत्ययों में क्रादिनियम से नित्य इट् हुआ।

सोता—लुट् के प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप है।

लृट् में —सोष्यति, सोष्यते—आदि रूप बनेंगे।

लोट् में परस्मैपद प्र सुनोतु—सुनुतात्, सुनुताम्, सुन्वन्तु।

सुनु—लोट् के हि में 'सुनु हि' इस दशा में 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' सूत्र से 'हि' का लोप होकर सिद्ध हुआ।

तम् में सुनुतम, त में—सुनुत—ये रूप बनते हैं।

सुनवानि—लोट् उत्तम पुरुष एकवचन में मि को नि आदेश और उसको आट् आगम होने पर 'सुनु आ नि' इस दशा में आट् के पित् होने से 'नु' के उकार को तन्निमित्तक गुण होकर अवादेश होने पर रूप बना।

वस् में—सुनवाव, मस् में सुनवाम।

सुनवै—आत्मनेपद के उत्तम पुरुष के एकवचन इट् में आट् होने पर श्नु के उकार को गुण, अव् आदेश आट् के आकार और प्रत्यय के ऐकार को, जो इकार को टि एत्व ओर 'एत ऐ' से बना है वद्धि ऐकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

लङ् पर०—

प्र० असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन्।

म० असुनोः, असुनुतम्, असुनुत।

उ० असुनवम्, असुन्व, असुन्म।

आ० प्र० असुनुत, असुन्वाताम्, असुन्वत।

म० असुनुथाः, असुन्वाथाम्, असुनुध्वम।

उ० असुन्वि असुन्वहि, असुन्महि।

सुनुयात्— यह रूप विधिलिङ् तिप् में यासुट् होने पर सकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

सूयात्— आशीर्लिङ् में यास् के सकार का संयोगादि लोप हुआ। और धातु के उकार को 'अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होकर रूप बना।

आ० विधिलिङ्

प्र० सुन्वीत, सुन्वीयाताम्, सुन्वीरन्।

म० सोषीष्ठा; सोषीयास्थाम्, सोषीध्वम्।

उ० सोषीय, सोषीवहि, सोषीमहि।

आ० आशीर्लिङ्

प्र० सोषीष्ट, सोषीयास्ताम, सोषीरन्।

म० सोषीष्ठा; सोषीयास्थाम्, सोषीध्वम्।

उ० सुन्वीय, सुन्वीवहि, सुन्वीमहि।

स्तु-सु-धूभ्यः परस्मैपदेषु 7.2.72

एभ्यः सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। असावीत्, असोष्ट।

व्याख्याः स्तु, सु और धूा धातुओं से पर सिच् को 'इट्' आगम हो, परस्मैपद प्रत्ययों के परे रहते।

अनिट् होने से इसके सिच् को इट् प्राप्त नहीं था।

असावीत्–लुङ्लकार में 'अ सु स् त्' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से सिच् को 'इट्' आगम हुआ, अपक्त तकार को ईट्, सिच् का लोप,इट् और ईट को सवर्ण दीर्घ, धातु के उकार को 'सिचि वद्धि–' सूत्र से वद्धि औकार होने पर उसको 'आव्' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–

प्र० असावीत् असाविष्टाम्, असाविषुः।

म० असावीः, असाविष्टम्, असाविष्ट।

उ० असाविषम्, असाविष्व, असाविष्म।

असोष्ट– लुङ् आत्मनेपद में 'अ सु स् त' इस दशा में आर्धधातुक गुण, सिच् के सकार को मूर्धन्य षकार तथा प्रत्यय के तकार को ष्टुत्व टकार होकर रूप बना।

रूप–

प्र० असोष्ट असोषाताम्, असोषत।

म० असोष्ठाः, असोषाथाम्, असोध्वम्।

उ० असोषि, असोष्वहि, असोष्महि।

ऌङ में–असोष्यत् आदि रूप बनेंगे।

चिा् चयने 2

चिनोति, चिनुते।

व्याख्याः चि (चुनना) – यह धातु भी िात् होने से उभयपदी है। अनुदात्तोपदेश होने से अनिट् है।

चिनोति– 'सुनोति' के समान सिद्ध होता है।

चिनुते–'सुनुते' के समान इसकी सिद्धि होती है।

विभाषा चेः 7.3.61

अभ्यासात् परस्य कुत्वं वा स्यात् सनि लिटि च। चिकाय-चिचाय, चिक्ये, चिच्ये। अचैषीत्, अचेष्ट।

व्याख्याः अभ्यास से पर 'चि' के काट को कुत्व हो विकल्प से सन् और लिट् परे रहते।

चिकाय– लिट् में 'चि चि अ' इस दशा में अभ्यास से पर भाग 'चि' के चकार को कुत्व हुआ तथा 'अचो णिति सूत्र से अजन्त–लक्षणा वद्धि और 'आय्' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ। कुत्व के अभाव पक्ष में चिचाय रूप बना।

रूप–

प्र० चिकाय–चिचाय चिक्युतुः–चिच्यतुः, चिक्युः–चिच्युः।

म० चिकेथ–चिकयिथ, चिचेथ–चिचयिथ, चिक्यथुः–चिच्यथुः, चिक्य–चिच्य।

उ० चिकाय–चिकय, चिचाय–चिचय, चिक्यिव–चिच्यिव, चिक्यिम–चिच्यिम।

थल् में अनिट् अजन्त होने से भरद्वाज नियम से वैकल्पिक तथा 'व' और 'म' में क्रादिनियम से नित्य इट् हुआ।

चिक्ये–चिच्ये–लिट् आत्मनेपद से प्र.पु.ए.व. में 'चि चि ए' इस स्थिति में विकल्प होने से दो रूप बने।

इसी प्रकार अन्य रूप भी बनते हैं, वलादि प्रत्ययों में क्रादिनियम से नित्य इट् होता है।

लुट्–चेता। लृट्–चेष्यति, चेष्यते। लोट्–चिनोतु, चिनुताम्। लङ्–अचिनोत्, अचिनुत। वि० लि०–चिनुयात्, चिन्वीत। आ० लि०–चीयात्, चेषीष्ट। लुङ् में 'अ चि स् त' इस दशा में अनिट् होने से इट् तो होता नहीं तब ईट् और 'सिच् वद्धिः परस्मैपदेषु' इस सूत्र से इगन्तलक्षणा वुद्धि तथा सकार को मूर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध होता है।

अचेष्ट– लुङ् आत्मनेपद में सिच, गुण, षत्व और ष्टुत्व होकर रूप बनता है।

उपसर्गों के योग में

सचि नोति–संग्रह करता है। अवचि नोति–नीचे की ओर से चुनता है।

निश्चिनोति–निश्चय करता है। उपचिनोति–बढ़ाता है।

उपचिनोति–घटता है। उच्चिनोति–ऊँचे से चुनता है।

स्ता् आच्छादने 3

स्तणोति, स्तणुते।

व्याख्याः स्तु (ढक देना)– यह धातु भी सेट् कारिका में परिगणित न होने से अनिट् है।

स्तणोति–'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से नकार को णकार हो जाता है।

शर्-पूर्वाः खयः 7.4.61

अभ्यासात् शर्पूर्वाःखयः शिष्यन्ते। अन्ये हलो लुप्यन्ते। तस्तार, तस्तरतुः। तस्तरे। 'गुणोर्ति-'इति गुणःस्तर्यात्।

व्याख्याः शर्पूर्वा इति– अभ्यास के शर्पूर्व (जिनके पहले शर् हों) खय् शेष रहते हैं, अन्य हलों का लोप हो जाता है।

यह 'हलादिः शेषः' का बाधक हैं 'स्त' धातु में द्वित्व होने पर 'हलादिः शेषः' से आदि हल् सकार का शेष रहना तथा अन्य हल् तकार का लोप प्राप्त था, उसको बाधकर प्रकृत सूत्र से शर् सकार पूर्व होने से खय् तकार शेष रहता है और अन्य हल् सकार का लोप हो जाता है।

तस्तार–लिट् में 'स्तर स्त अ' इस दशा में शरपूर्व खय् तकार के शेष रहने तथा अन्य हल् सकार तथा रकार के लोप होने पर 'ऋतश्च संयोगदेर्गुणः' से गुण होकर रूप बना।

लिट् के शेष रूप भी इसी प्रकार बनते हैं।

तस्तरे–लिट् आत्मनेपद में गुण 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' से होता है।

लिट् के शेष रूप–

प० प्र० तस्तरु।

म० तस्तर्थ, तन्तरथुः, तस्तर।

उ० तस्तार–तस्तर, तस्तरिव, तस्तरिम।

ऋदन्त होने से थल् में इट् नहीं हुआ तथा 'व' और 'म' में क्रादिनियम से नित्य इट् हुआ।

आ० –प्र० तस्तरे तस्तराते, तस्तरिरे।

म० तस्तरिषे, तस्तराथे, तस्तरिध्वे।

उ० तस्तरे, तस्तरिवहे, तस्तरिमहे।

लुट्–स्तर्ता। लृट्–स्तरिष्यति, स्तरिष्यते। यहाँ 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् हुआ। लोट्–स्तृणोतु, स्तृणुताम्। लङ्–अस्तृणोत्–अस्तृणुत। वि० लि०–स्तृणुयात्, स्तृणवीत।

स्तर्यात्– आशीर्लिङ् में 'स्त या त्' इस दशा में संयोगादि धातु होने से 'गुणोर्ति–संयोगाद्योः' से गुण होकर रूप बना।

ऋतश्च संयोगादेः 7.2.43

व्याख्याः ऋदन्त संयोगादि धातु से पर लिङ् और सिच् को 'इट्' आगम विकल्प से हो तङ् अर्थात् आत्मनेपद प्रत्यय परे रहते।

'स्त' को अनिट् होने से प्राप्त नहीं था अतः संयोगादि धातु होने से प्रकृत सूत्र से हो जाता है। विधिलिङ् के आत्मनेपद में सीयुट्के सकार का लोप हो जाने से इट् नहीं हो पाता। अशीर्लिङ् में सीयुट के सकार का लोप नहीं हो पाता। अतः उसको प्रकृत सूत्र से इट् हो जाता है।

स्तरीषीष्ट– अशीर्लिङ् में 'सत' सी–स् त' इस दशा में प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक इट् होने पर आर्धधातुक गुण, दोनों सकारों को मूर्धन्य षकार तथा तकार को ष्टुत्व टकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

स्तषीष्ट– पूर्वोक्त स्थल में जब इट् नहीं हुआ तब झलादि मिल जाने के कारण 'उश्च–१।२।१२।।' से लिङ् कित् हो गया, अतः गुण नहीं हुआ।

लुङ् परस्मैपद में–

प्र० अस्तार्षीत्, अस्तार्ष्टाम, अस्तार्षु।

म० अस्तार्षीः, अस्तार्ष्टम्, अस्तार्ष्ट।

उ० अस्तार्षम् अस्तार्ष्व, अस्तार्ष्म।

यहाँ इगन्तलक्षणा वद्धि होती है।

अस्तरिष्ट–अस्तत–लुङ् आत्मनेपद में 'ऋतश्च संयोगादेः' से इड् विकल्प होने से दो दो रूप बनते हैं। 'त' में इट् पक्ष में गुण हो जाता है। इडभाव पक्षों 'उश्च–१।२।१२' से सिच् के कित् हो जाने से गुण नहीं होता और 'ह्रस्वाद–अङ्गात्' से सिच् के सकार का लोप हो जाता है।

लृङ् में–अस्तरिष्यत्, अस्तरिष्यत। यहाँ 'स्य' को 'ऋदनोः स्ये' से इट् होता है।

उपसर्ग के योग में–

विस्तृणोति–फैलाता है, विस्तर बिछाता है।

आस्तृणोति–आसन बिछाता है।

आस्तृणोति–आसन बिछाता है।

परिस्तृणोति–बिछाता है।

धूञ् क म्पने 4

धूनोति, धूनुते। दुधाव; 'स्वरति-' इति वेट दुधविथ-दुधोथ।

व्याख्याः धू (कंपाना, हिलाना)—यद्यपि 'ऊद् ऋदन्तैः–' इत्यादि कारिका में दीर्घ ऊकारान्तों का परिगणन होने से यह धातु सेट् सिद्ध होती है, तथापि विशेष रूप से विहित होने के कारण 'स्वरति–सूति–सूयति–धूञ्–ऊदितो वा' से वेट् हो जाती है। अतः वलादि आर्धधातुक में इसके दो दो रूप बनते हैं।

धूनोति, धूनुते ये रूप लट् परस्मैपद और आत्मनेपद में साधारण प्रक्रिया से सिद्ध होते हैं।

दुधाव–लिट् परस्मैपद णल् में द्वित्व, अभ्यासकाग्र और अजन्तलक्ष्ज्ञणा।

दुधाव–लिट् परस्मैपद णल् में द्वित्व , अभ्यासकार्य और अजन्तलक्षणा वद्धि तथा आव् आदेश होने पर रूप सिद्ध होता है।

दुधविथ–दुधोथ–थल् में 'स्वरति–' इत्यादि सूत्र से वैकलिपक इट् होकर दो रूप बने हैं।

श्रयुकः किति 7.2.11

श्रिः, एकांचः, अगन्ताच्च गित्-कितोरिण् न।

परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्याद् अनने निषेधे प्राप्ते क्राादिनियमाद् नित्यमिट्। दुधुवे। अधावीत्, अधविष्ट-अधोष्ट। अधविष्यत्-अधोष्यत्, अधविष्यताम्-अधोष्यताम्, अधविष्यत-अधोष्यत। इति स्वादयः।

व्याख्याः श्रयुक इति–श्रि और एकाच् उगन्त धातु से पर गित् कित् वालदि आर्धधातुक को 'इट्' न हो।

परमपीति–यद्यपि 'स्वरतिसूति–' इत्यादि विकल्प पर है, तथापि उसको प्रकृत निषेध बाध लेता है ,क्यों कि इट् निषेध के सूत्र पहले कह गये हैं, यदि उनका अग्रिम सूत्रों से बाध हो जाय तो, निषेधसूत्र व्यर्थ हो जायेंगे, अतः निषेध प्रकरण के पहले प्रारम्भ करने के कारण 'स्वरति–' आदि विकल्प को बाधकर प्रकृत निषेध प्राप्त हुआ। उसको भी बाधकर क्रादिनियम से नित्य इट् होता है, तव दुधुविव, दुधुविम रूप सिद्ध होते हैं।

लिट् आ० दुधुवे। लुट् –धविता–धोता। लोट् –धविष्यति–धोष्यति। धविष्यते–धोष्यते। लोट् –धूनोतु, धूनुताम्। लङ्७अधूनोत्, अधूनुत। वि० लि–धूनुयात्, धून्वीत। आ० लि०– धूयात्, धविषीष्ट–धोषीष्ट।

अधावीत्–लुङ् परस्मेपद में 'अ धू स् त्' इस दशा में 'स्वरति–' इत्यादि स्वादिगण में यह प्रथम धातु है। यहाँ केवल चार धातुयें बताई गई हैं। चारों ाित् होने से उभपदी हैं।

स्वादिगण का विकरण 'श्नु' है–जैसा किआगे बताया जा रहा है। 'श्नु' प्रत्यय शित् होने से सार्वधातुक है और अपित् होने से ङि्त। अत एव एतन्निमित्तक गुण आदि नहीं होते।

यह अजन्त एकाच् धातु है और 'ऊद् ॠदन्तैः–' कारिका में संगहीत न होने से अनिट् है।'इट्' इङ् विकल्प प्राप्त था, उसको बाधकार 'स्तु–सु धूभ्यः परस्मैपदेषु' से नित्य इट् हो गया। तब ईट्, इगन्तलक्षणा वद्धि ओर आव् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–

प्र० अधाषिष्टाम्, अधाविषुः।

म० अधावीः, अधाविष्टम, अधाविष्ट।

उ० अधाविषम, अधाविष्व, अधाविष्म।

अधविष्ट–अधोष्ट–लुङ् आत्मनेपद में स्वरत्यादि विकल्प से दो दो रूप बनते हैं।

ऌङ् में भी सर्वत्र 'स्य' के कारण दो दो रूप बनते हैं।

(स्वादिगण समाप्त।)

अथ तुदादिगणः

तुद व्यथने 1

व्याख्याः १ तुद् (पीड़ा पहुँचाना)– यह धातु तथा इसके आगे 'लिप्' धातु तक दश धातुएं स्वरितेत् होने से उभयपदी हैं। अनुदात्तोपदेश धातुओं में परिगणन होने से 'तुद्' धातु अनिट् है।

तुदादिभ्यः शः 3.1.77

शपोपवादः। तुदति, तुतोद, तुतोदिथ। तुतुदे। तोत्ता। अतौत्सीत्, अतुत्त।

व्याख्याः तुदादि गण की धातुओं से 'श' प्रत्यय हो (कर्त्रर्थ सार्वधातुक परे रहते)।

शप इति– यह 'श' प्रत्यय शप् का बाधक हैं यद्यपि 'शप्' और 'श' दोनों का 'अ' कार ही शेष रहता है और दोनों ही शित् भी हैं, तथापि इनमें थोड़ा सा अन्तर है–शप् पित् है, अतः उसके परे रहते गुण हो जाता है और 'श' पित् नहीं है, अतः 'सार्वधातुकमपित्' से सह ङिद्वत् हो जाता है जिससे उसके परे रहते गुण नहीं होता और ङिन्निमित्तक संप्रसारण आदि कार्य हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त 'शप्' प्रत्यय पित् होने से 'अनुदात्तौ सुप्–पितौ' से अनुदात्त होता है और 'श' 'आद्युदात्तश्च' से उदात्त। इस प्रकार इन दो का स्वर में भी भेद पड़ता है।

तुदति– लट् में 'तुद् ति' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से 'श' प्रत्यय होने पर उसके अनुबन्ध शकार का लोप होकर सिद्ध होता हैं यहाँ अपित् सार्वधातुक होने के कारण 'श' के ङिद्वत् हो जाने से लधूपध गुण का निषेध हो जाता है।

तुद्ते–यह रूप लट् आत्मनेपद में पूर्ववत् सिद्ध होता है।

तुतोद– लिट् के तिप् को ण् आदेश होने पर द्वित्व, अभ्यास कार्य और उत्तरखण्ड में गुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

तुतोदिथ–थल् में द्वित्व, अभ्यासकार्य, गुण और इट् होकर रूप सिद्ध हुआ। तुद धातु न तो अजन्त है और न अकारवान्, अतः भारद्वाज नियम तो यहाँ लगता नहीं। तब क्रादिनियम से नित्य इट् होता है।

तुतुदे–लिट् आत्मनेपद में एश् आदेश, द्वित्व और अभ्यास कार्य होने पर रूप बनता है। 'असंयोगाद् लिट् कित् से लिट् के कित् होने के कारण यहाँ गुण नहीं होता।

तोत्ता–लुट् में तास्, तिप् को डा आदेश, टि का लोप,लधूपध गुण और दकार को चर्त्व तकार होकर रूप सिद्ध होता है।

ऌट्–तोत्स्यति, तोत्स्यते। लोट्–तुदतु, तुदताम्। वि० लि०–तुदेत्, तुदेत। आ० लि०–तुद्यात, तुत्सीष्ट।

यहाँ 'तुदेत्' में 'श' के अकार से पर होने के कारण 'या' को 'अतो येयः' से 'इय्' होता है और 'तुदेत' में 'श' के अकार और सीयुट् के इकार को गुण होता है।

अतौत्सीत्–लुङ् परस्मैपद में 'अतुद् स् त्' इस दशा में हलन्तलक्षणा वद्धि, ईट् आगम अपक्त तकार को और दकार को चर् तकार होकर रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप–

प्र० अतौत्तम्, अतौत्सुः।

म० अतौत्सीः, अतौत्तम, अतौत्त।

उ० अतौत्सम्, अतौत्स्व, अतौत्स्म।

यहाँ ताम् तम्, और त झल् परे मिल जाने से 'झलो झलि' से सिच् के सकार का लोप हो जाता है।

अतुत्त लुङ् आत्मनेपद में 'अतुद स् त' इस दशा में 'झलो झलि' से सिच् के सकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप—

प्र० अतुत्साताम्, अतुत्सत।

म० अतुत्थाः, अतुत्साथाम्, अतुद्ध्वम्।

उ० अतुत्सि, अतुत्स्वहि, अतुत्स्महि।

लृङ्—अतोत्स्यत्, अतोत्स्यत।

णुद प्रेरणे 2

नुदति, नुदते। नुनोद। नोत्ता।

व्याख्याः नुद् (प्रेरणा करना)—यह धातु णोपदेश है, अतः उपसर्ग के रकार से पर होने पर नकार को णकार हो जाता है—प्रणुदति। अनुदात्तोपदेशों में परिगणित होने से यह भी अनिट् हैं इसके रूप 'तुद्' के समान ही बनते हैं।

उपसर्ग के योग में —अपनुदति—दूर करता है। विनुदति—हटाता है। ण्यन्त में विनोदयति—बहलाता है।

भ्रस्ज पाके 3

'ग्रहि -ज्या-' इति सम्प्रसारणम्, सस्य श्चुत्वेन शः, शस्य जश्त्वेन जः-भज्जति, भज्जते।

व्याख्याः भ्रस्ज् (भूनना)—यद्यपि मूल में 'पाक' अर्थ कहा गया है, परन्तु यहाँ ओदनपाकादि का पाक विवक्षित नहीं, अपितु चने आदि दानों का 'भूनना' रूप विशेष पाक अभिप्रेत है।

यह धातु भी पूर्ववत् अनिट् है।

भज्जति, भज्जते—लट् में 'भ्रस्ज् ति' और 'भ्रस्ज् त' इस दशा में श प्रत्यय होने पर उसके ङित् होने के कारण 'ग्रहिज्या—' इत्यादि सूत्र से रकार को ऋकार संप्रसारण तथा अकार का पूर्वरूप, सकार को 'स्तोः श्चुना श्चुः' से शकार आदेश और शकार को, झश् जकार परे से होने 'झलां जश् झशि' से स्थानेन्तरतमः से जश् जकार होकर उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार —

प० प्र० भज्जतः, भज्जन्ति।

म० भज्जसि, भज्जथः, भज्जथ।

उ० भज्जामि, भज्जावः, भज्जामः।

आ० प्र०— भज्जते, भज्जेते, भज्जन्ते।

म० भज्जसे, भज्जेथे, भज्जध्वे।

उ० भज्जे, भज्जावहे, भज्जामहे।

ये रूप भी सिद्ध होते हैं।

भ्रस्जो रोपधयो रम् अन्यतरस्याम् 6.4.47

भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने 'रम्' आगमो वा स्याद्, आर्धधातुके। मित्वाद् अन्त्याद् अचःपरः। स्थानषष्ठी-निर्देशाद् रोपधयोर्निवत्तिः। बभर्ज, बभर्जतुः; भर्जिथ-बभर्ष्ठ। बभ्रज्ज, बभ्रज्जतुः; बभ्रज्जिथ। 'स्कोः-' इति सलोपः;

'व्रश्च=' इति षः बभ्रष्ठ।

बभज-बभ्रज्ज। भर्ष्टा-भ्रष्टा। भर्क्ष्यति, भ्रक्ष्यति।

व्याख्याः भ्रस्ज इति–भ्रस्ज धातु के रेफ और उपधा दोनों के स्थान 'रम्' का आगम हो विकल्प से, आर्धधातुक परे रहने पर।

'रम्' का केवल 'र्' रहता है, अकार और मकार इत् हैं

मित्त्वादिति–मित् होने के कारण 'रम्' अन्त्य अच् से पर होता है।

स्थानषष्ठीति–सूत्र में 'रोपधयोः' यहाँ स्थानषष्ठी कही गई है। अतः 'रम्' के आगम होने पर और आगम के मित्रवत् किसी के हटाये बिना होने से भी रेफ और उपधा सकार की निवत्ति हो जाती है। अन्यथा स्थानषष्ठी का उच्चारण व्यर्थ हो जाता।

बभर्ज–लिट् में 'भ्रस्ज् अ, इस दशा में प्रकृत सूत्र से 'रम्' आगम रकारोत्तवर्ती अकार के आगे हुआ और रेफ तथा उपधा सकार की निवत्ति हो गई। तब 'भर्ज् अ' इस स्थिति में द्वित्व और अभ्यास कार्य होकर रूप बना।

बभर्जतुः– अतुस् में पूर्ववत् रम् आगम और रेफ तथ उपधा की निवत्ति हो गई। तब 'भर्ज्' को द्वित्व और अभ्यासकार्य होकर रूप बना।

बभर्जिथः– तास में नित्य अनिट् होते हुए अकारवान् होने के कारण भारद्वाज नियम से वैकल्पिक इट होने पर इट्, पक्ष में यह रूप बनता है।

बभर्ष्ठ–इडभाव पक्ष में झल् परे मिल जाने से 'व्रश्च–भ्रस्ज–' इस सूत्र से जकार को षकार तथा थकार को ष्टुत्व ठकार होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

इन प्रयोगों में 'ग्रहिज्या–' से संप्रसारण नहीं होता, क्योंकि वह कित् ङित् परे रहते प्रवत्त होता है, यहाँ लिट् के प्रत्यय कोई भी कित् ङित् नहीं। संयोग होने से 'अतुस्' आदि अपित् लिट् भी 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् नहीं होता।

बभ्रज्ज–'रम्' के अभावपक्ष में 'भ्रस्ज्' को द्वित्व होता है, अभ्यासकार्य, सकार को श्चुत्व शकार और शकार का जश्त्व जकार होकर रूप सिद्ध होता है।

बभ्रज्जतुः– रमभाव पक्ष के अतुस् में पूर्ववत् रूपसिद्धि होती है।

बभ्रज्जतुः–'रमभाव पक्ष में भारद्वाज नियम से वैकल्पिक इट् होने पर इट्पक्ष में पूर्ववत् रूपसिद्धि होती है।

बभ्रष्ट–रमभाव के इडभाव पक्ष में संयोगादि होने से सकार को 'स्कोः संयोगाद्योः–' से लोप, जकार को 'व्रश्चभ्रश्ज–' से षकार और थकार को ष्टुत्व ठकार होकर रूप सिद्ध होता है।

इस प्रकार लिट् में सर्वत्र 'रम्' के विकलप से दो दो रूप बनते हैं। थल् में भारद्वाज नियम के इट् विकल्प से चार रूप बन जाते हें।

न केवल लिट् में ही, अपितु सर्वत्र आर्धधातुक में दो दो रूप बनते हैं।

बभर्ज, बभ्रज्जे–लिट् के आत्मनेपद में 'रम्' के विकल्प से दो रूप बनते हैं।

ध्यान रहे रम् पक्ष में सकार का लोप हो जाता है और उसके अभाव में सकार को शकार तथा उसको जकार होकर दो जकार हो जाते हैं। सर्वत्र रूपों में यही प्रकार मिलेगा।

भर्ष्टा–लुट् में तास्–प्रत्यय आने पर तथा तिप् के स्थान में डा उसका आ, और टि का लोप होने पर 'भ्रस्ज् ता' इस दशा में 'रम्' आगम तथा रेफ और सकार का लोप हो जाता है, तब 'भर्ज् ता' इस स्थिति में 'व्रश्चभ्रस्ज–' से जकार को षकार और तकार को ष्टुत्व टकार होकर रूप बनता है।

भ्रष्टा–'रम्' अभावषक्ष में 'स्कोः संयोगाद्योः' से सकार का लोप, जकार को षकार और तकार की ष्टुत्व टकार्र होने पर रूप सिद्ध होता है।

भर्क्ष्यति–लट् में 'स्य' आने पर रम् आगम के साथ रेफ और सकार का लोप हो जाता है। तब 'भज्स्यति' इस

स्थिति में जकार को षकार, उसको 'षढोः कः सि' से ककार और ककार कवर्ग से पर होने के कारण प्रत्यय 'स्य' के सकार को मूर्धन्य षकार तथा क ष संयोग से क्ष होकर रूप बना।

भ्रक्ष्यति–'रम्' अभावपक्ष में 'भ्रस्ज् स्यति' इस दशा में सकार का संयोगआदि लोप, जकार को षकार, उसको ककार, उससे पर सकार को मूर्धन्य षकार और क ष के संयोग से क्ष होकर रूप सिद्ध हुआ।

लोट्–भज्जतु, भज्जताम्। लङ्–अभज्जत्, अभज्जत।वि० लि० भज्जेत्, भज्जेत।

(वा) क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन।

भज्यात, भज्यास्ताम्, भज्यासुः। भर्क्षीष्ट-भ्रक्षीष्ट। अभार्क्षीद्-अभ्राक्षीत्। अभर्ष्ट-अभ्रष्ट।

व्याख्याः कित् और ङित् आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'रम्' आगम को बाधकर संप्रसारण हो पूर्वविप्रतिषेध से।

भज्ज्यात् –आशीर्लिङ् में 'भ्रस्ज् यास् त्' इस दशा में 'किदाशिषि' से यासुट् कित् है। यहाँ संप्रसारण भी प्राप्त है और 'रम्' आगम भी। 'रम्' आगम यद्यपि 'विप्रतिषेध परं कार्यम्' के बल से पर होने के कारण बलवान् है, तथपि प्रकृत वार्तिक से संप्रसारण पहले हो जाता है तब सकार के स्थान में श्चुत्व शकार और उसको जश्त्व जकार होकर रूप सिद्ध होता है।

भज्ज्यास्ताम्, भज्ज्यासुः – इनकी सिद्धि का प्रकार प्रायः भज्ज्यात् के समान है।

भर्क्षीष्ठ, भ्रक्षीष्ट– ये दो रूप आशीर्लिङ् आत्मनेपद में सीयुट् आने पर 'भर्क्ष्यति' और 'भ्रक्ष्यति' के समान सिद्ध होते हैं।

अभार्क्षीत्–लुङ् के परस्मैपद में अभ्रस्ज् स त्' इस दशा में 'रम्' आगम और रेफ तथा सकार के लोप होने पर 'अ भर्ज् स् त' यह स्थिति बनती है। इस में हलन्तलक्षणा वद्धि, जकार का षकार, षकार को ककार, तब सिच् के सकार को मूर्धन्य षकार और अपक्त तकार की इट् होकर रूप सिद्ध होता है।

अभ्राक्षीत– 'रम्' अभाव पक्ष में 'अभ्रस्ज् स् त्' इस दशा में सकार का संयोगादि लोप, हलन्तलक्षणा वद्धि, जकार को षकार ओर उसकी ककार सिच् के सकार को मूर्धन्य ईट् होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप (रम् पक्ष में)–

प्र० अभार्ष्टाम्, अभार्क्षुः।

म० अभार्क्षाः, अभार्ष्टम्, अभार्ष्ट।

उ० अभार्क्षम्, अभार्क्ष्व, अभार्क्ष्म।

(रम् अभाव पक्ष में)

प्र० अभ्राष्टाम्, अभ्राक्षुः।

मअभ्राक्षीः, अभ्राष्टम्, अभ्राष्ट।

उ० अभ्राक्षम्, अभ्राक्ष्व,अभ्राक्ष्म।

अभर्ष्ट–लुङ् आत्मनेपद में 'अभ्रस्ज् स् त' इस दशा में 'रम्' आगम और रेफ तथा उपधा सकार के लोप होने पर, 'अभर्ज् स् त' इस दशा में 'झलो झलि' से सिच् का लोप, जकार को षकार और तकार को ष्टुत्व टकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

अभ्रष्ट–'रम्' अभावपक्ष में प्रथम सकार का संयोगादिलोप, द्वितीय सकार का 'झलो झलि' से लोप, जकार को षकार और तकार को ष्टुत्व टकार होकर रूप बना।

आत्मनेपद के शेष रूप (रम् पक्ष)–

प्र० अभर्क्षाताम्, अभर्क्षत।

म० अभर्ष्ठाः, अभर्क्षाथाम्, अभर्ढ्वम्।

उ० अभर्क्षि, अभक्ष्वहि, अभक्ष्महि।

(रम् अभाव पक्ष में)

प्र० अभ्रक्षाताम्, अभ्रक्षत।

म० अभ्रष्टाः, अभ्रक्षाथाम्, अभ्रढ्वम।

उ० अभ्रक्षि, अभ्रक्ष्वहि, अभ्रक्ष्महि।

लृङ् में —अभर्क्ष्यत्—अभ्रक्ष्यत्, अभर्क्ष्यत, अभ्रक्ष्यत।

कृष विलेखने 4

कृषति, कृषते। चकर्ष, चकृष।

व्याख्याः कृष् – (हल चलाना, खींचना, स्वरितेत् उभयपदी) —अनुदात्तोपदेश धातुओं में परिगणित होने से यह धातु अनिट् है।

कृषति, कृषते—लट् में श। प्रत्यय होने पर उसके अपित् होने से ङिद्वत् होने के कारण गुण नहीं हुआ।

चकर्ष— लिट् में तिप् णल्, द्वित्व, अभ्यास ऋ को अत् आदेश, हलादि शेष उत्तर खण्ड के ऋकार को गुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

चकृषे—आत्मनेपद में ऋ को अत् आदेश, हलादि शेष उत्तर खण्ड के ऋकार कोगुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

चकृषे— आत्मनेपद में 'ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन' से कित्व पहले हो जाने से गुण न हुआ।

शेष रूप—

प० प्र० चकृषतुः, चकृषुः।

म० चकर्षिथ, चकृषथुः, चकृष,

उ० चकर्ष, चकृषिव, चकृषिम।

यहाँ वलादि प्रत्ययों में क्रादिनियम से नित्य इट् हुआ।

आ० प्र० चकृषतुः चकृषुः।

म० चकृषिषे, चकृषाथे, चकृषिध्वे,

उ० चकृषे, चकृषिवहे, चकृषिमहे।

अनुदात्तस्य च-ऋदुपधस्यान्यतरस्याम् 6.1.59

उपदेशेनुदात्तो य ऋदुपधः, तस्य 'अम्' वा स्याद् झलादौ अकिति। क्रष्टा-कर्ष्टा। कृक्षीष्ट।

व्याख्याः उपदेश में जो ऋदुपद्य धातु अनुदात्त हो, उसको विकल्प से अम् का आगम हो कित्—भिन्न झलादि प्रत्यय परे रहते। लुट् में 'कृष् ता' इस दशा में प्रकृत सूत्र से 'अम्' आगम हो जाता है, क्योंकि यहाँ कृष धातु उपदेश में अनुदात्त है और उसकी उपधा ह्रस्व ऋकार भी है तथा झलादि प्रत्यय तास् परे है वह कित्भिन्न भी है। अतः मित् होने से 'अम्' आगम ऋकार के आगे हो गया। तब 'कृ अ ष् ता' ऐसी स्थिति बन जाने पर ऋकार को यण् रकार तथा तकार को ष्टुत्व टकार होकर क्रष्टा रूप बन गया।

कर्ष्टा—'अम्' के अभावपक्ष में 'कृष् ता' इस दशा में आर्धधातुक गुण और तकार को ष्टुत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

इस प्रकार अम्विकल्प से लुट् में दो दो रूप सिद्ध होते हैं।

लृट् में भी लुट् के समान दो दो रूप बनते हैं। क्रक्ष्यति—कर्क्ष्यति, क्रक्ष्यते। कर्क्ष्यते।

लोट्—कृषतु, कृषताम्। लङ्—अकृषत्, अकृषत। विधिलिङ्—कृषेत्, कृषेत। प०आ० लि० —कृष्यात्।

कृक्षीष्ट—आशीर्लिङ् आत्मनेपद में 'कृष् सी स् त' इस दशा में षकार को 'षढोः कः सि' से ककार और दोनों सकारों को मूर्धन्य आदेश, तकार को ष्टुत्व टकार होकर रूप सिद्ध हुआ। यहाँ 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इससे लिङ् के कित् हो जाने से 'अम्' नहीं हुआ और न गुण ही।

शेष रूप—

प्र० कृक्षीयास्थाम्, कृक्षीरन्।

म० कृक्षीष्टाः, कृक्षीयास्थाम्, कृक्षीध्वम।

उ० कृक्षीय, कृक्षीवहि, कृक्षीमहि।

(वा) स्पश-मश-कृष -तष-दपां च्लेः सिज्वा वाच्यः।

अक्राक्षीत्-अकार्क्षीत। अकृष्ट, अकृक्षाताम्, अकृक्षत। क्सपक्षे-अकृक्षत, अकृक्षाताम्, अकृक्षन्त।

व्याख्याः (वा) —स्पश्, मश्, कृष् तप् (तप्त होना) और दप् (घमंड करना) धातुओं से पर 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हो।

कृष धातु अनिट् और शलन्त है, अतः 'च्लि' को 'शल इगुपधाद् अनिटः क्सः' इस सूत्र से 'क्स' आदेश प्राप्त था, इस को बाधकर प्रकृत वार्तिक से सिच् आदेश विकल्प से होता है। सिच् पक्ष में 'अम्' विकल्प होता है। सिजभाव पक्ष में 'क्स' होता है। इस प्रकार लुङ् परस्मैपद में तीन—तीन रूप सिद्ध होते हैं।

सिच् पक्ष में (अम् आगम होने पर) अक्राक्षीत्, (अम् अभाव में) अकार्क्षीत्, यहाँ हलन्तलक्षणा वद्धि होती है, क्स पक्ष में —अकृक्षत। 'क्स' के कित् होने से यहाँ 'अम्' आगम नहीं होता।

अकृष्ट— लुङ् आत्मनेपद 'त' में सिच् पक्ष में सिच् के सकार का 'झलो, झलि' से लोप और तकार को ष्टुत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

अकृक्षाताम्—'आताम्' में अकृष् स् आताम्' इस स्थिति में 'षढोः कः सि' से षकार को ककार और उससे पर सकार को मूर्धन्य होकर रूप सिद्ध होता है।

अकृक्षत— 'झ' में 'अत्' आदेश ष को क और स को ष होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप—

म० अकृष्ठाः, अकृक्षाथाम्, अकृड्ढ्वम्।

उ० अकृक्षि, अकृक्ष्वहि, अकृक्ष्महि।

यहाँ 'लिङ्सिचावार्तमनेपदेषु' से सिच् के कित् होने से अम् नहीं हो पाता।

अकृक्षत्—यह भी क्स पक्ष का 'आताम्' में रूप है। 'अकृष् स आताम्' इस दशा में 'क्सस्याचि' से क्स के अकार का लोप होजाता है, तब भकार को ककार और सकार को मूर्धन्य षकार होकर रूप बनता है।

ध्यान रहे सिच् पक्ष और क्स पक्ष दोनों के आताम् का रूप एक समान बनता है, पर प्रक्रिया में भेद है।

अकृक्षन्त—क्स पक्ष में झ में 'अकृष् स झ' इस दशा में अकार से पर होने के कारण 'आत्मनेपदेष्वनतः' की प्रवत्ति नहीं होती, तब 'झोन्तः' से 'झ्' की 'अन्त्' आदेश हो जाता है। तदनन्तर 'कसस्याचि' से क्स के अकार का लोप होने पर षकार को ककार और सकार को मूर्धन्य षकार होकर उक्त रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप—

म० अकृक्षथाः, अकृक्षाथाम्, अकृड्ढ्वम।

उ० अकृक्षि, अकृक्षावहि, अकृक्षामहि।

सिच और क्स पक्ष के कई रूप समान बनते हैं, पर उनकी प्रक्रिया में भेद है।

ऌङ्—अक्रक्ष्यत्—अकर्क्ष्यत, अक्रक्ष्यत्, अकर्क्ष्यत।

उपसर्ग के योग में —

विकृषति— दूर ले जाता है। निष्कृषति— सार निकालता है।

मिल संङ्गमे 5

मिलति, मिलते। मिमेल। मेलिता। अमेलीत्।

व्याख्याः मिल् (मिलना)— यह धातु अनुदात्तोपदेश धातुओं में परिगणित न होने से सेट् हैं इसके रूप सरल हैं।

सम् उपसर्ग के योग में इस धातु का 'बहुतों का इकट्ठा होना' अर्थ हो जाता है—सम्मिलित।

मुच्लृ मोचने 6

व्याख्याः मुच् (छोड़ना)— यह धातु अनुदात्तोपदेश धातुओं में परिगणित होने से अनिट् है।

शे मुचादीनाम् 7.1.59

मुच्-लिप्-विद्-लुप्-खिद्-पिशां 'नुम्' स्यात् शे परे। मुचति, मुचते। मोक्ता। मुक्षीष्ट। अमुचत, अमुक्त, अमुक्षाताम्।

व्याख्याः मुच्, लिप् (लीपना), विद् (प्राप्त करना), लुप् (लोप करना), सिच् (सींचना), कृत् (काटना), खिद् (खिन्न करना) और पिश् (पीसना) धातुओं को 'नुम्' आगम हो श प्रत्यय परे होने पर।

मुचति—मुचते—लट् में 'मुच् अ ति' और 'मुच् अ त' इस दशा में प्रकृत सूत्र से मकारोत्तरवर्ती उकार के आगे 'नुम्' आगम होने पर उसको 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार ओर अनुस्वार को 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से पर चकार का सवर्ण ञकार होकर रूप सिद्ध हुए।

'श' के परे रहते 'नुम्' का विधान होने से लट्, लोट, लङ् और विधिलिङ् में यह होता है परन्तु ध्यान रहे कि इन आठ धातुओं के उक्त लकारों के रूपों के अनुनासिकयुक्त होने से इनके रुधादिगण का होने का भ्रम होने लगता है, क्योंकि रुधादिगण[१] में श्नम् विकरण होने से अनुनासिक मिलता है। अतः इन धातुओं के तुदादिगणीय होने का विशेषरूप में ध्यान रखना चाहिये।

लिट्

ए० प्र० मुमोच, मुमुचतुः, मुमुचुः।

म० मुमोचिथ, मुमुचथुः, मुमुच।

उ० मुमोच—'मुमुच, मुमुचिव, मुमुचिम।

आ० प्र० मुमुचे, मुमुचाते, मुमुचिरे।

म० मुमुचिषे, मुमुचाथे, मुमुचिध्वे।

उ० मुमचे, मुमुचिवहे, मुमुचिमहे।

लुट् —मोक्ता। लृट्—मोक्ष्यति, मोक्ष्यते। लोट्—मुचतु, मुचताम्।

लङ्—अमुचत। विधिलिङ्—मुचेत्, मुचेत।

मुक्षीष्ट— आशीर्लिङ् में लिङ्सिचावात्मनेपदेषु से सीयुट् के कित् होने से गुण नहीं होता, चकार को कुत्व ककार और सकार को मूर्धन्य षकार रूप बनता है।

अमुचत्— लुङ् परस्मैपद में लृदित होने से च्लि को 'पुषादि—द्युतादिलृदितः परस्मैपदेषु' से अङ् आदेश होकर रूप सिद्ध होता है।

अयुक्त— आत्मनेपद में सिच् होता है, उसके सकार का 'झलो झलि' से लोप हो जाता है। तब चकार को ककार होकर रूप बनता है।

अमुक्षाताम्— आताम् में झल् परे न मिलने से सिप् का लोप नहीं होता, तब चकार को कुत्व ककार और सकार को मूर्धन्य षकार तथा उनके संयोग से 'क्ष' होकर रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार— प्र० अमुक्षत।

---

१. यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि फिर इन धातुओं को रुधादिगण में ही क्यों नहीं पढ़ा गया, इस प्रकार नुम् करने का प्रयास भी न करना पड़ता। इस का उत्तर यह है कि स्वर में भेद पड़ता है।

म० अमुक्थाः,अमुक्षाथाम्, अमुग्ध्वम्।

उ० अमुक्षि, अमुक्ष्वहि, अमुक्ष्महि—

ये रूप भी सिद्ध होते हैं।

ऌङ्—अमोक्ष्यत्, अमोक्ष्यत।

लुप्ऌ छेदने 7

लुम्पति, लुम्पते। लोप्ता। अलुपत, अलुप्त।

व्याख्याः लुप् (लोप करना)—लुप् भी अनिट् है और मुचादियों में होने से इसे श परे रहे नुम् भी होता है। लदित् होने से लुङ् परस्मैपद में च्लि को अङ् भी होता है। इस प्रकार सर्वथा 'मुच्' के समान होने के कारण इसके रूप भी 'मुच्' के समान ही बनते हैं।

विद्ऌ लाभे 8

विन्दति, विन्दते। विवेद, विविदे। व्याघ्रभूतिमते सेट्-वेदिता। भाष्यमतेनिट्-परिवेत्ता।

व्याख्याः विद् (प्राप्त करना)— इस धातु के भी रूप मुच् के समान बनते हैं—क्योंकि यह उभयपदी भी है, ऌदित् भी है। भाष्यकार के मत से यह अनिट् है। व्याघ्रभूति आचार्य के मत से अनुदात्तापदेश धातुओं में पाठ होने से यह सेट् भी है। कहा भी है—

'विन्दतिश्चान्द्रदौर्गादेरिष्टो भाष्येपि दश्यते।

वयाधूभूत्यादयस्त्वेनं नेह पेठुरिति स्थितम्।।'

अर्थात् तुदादिगण का विन्द् धातु, चन्द्र और दुर्ग आचार्य के मत से अनुदात्तोपदेश धातुओं में है, भाष्य में भी ऐसा ही मिलता है। परन्तु व्याघ्रभूति आदि आचार्यों ने इसे यहाँ अर्थात् अनुदात्तोपदेश धातुओं में नहीं पढ़ा।

अतः पूर्वोक्त मतभेद के कारण इसको इट् विकल्प होगा।

वेदिता—तास् में व्याध्रभूति के मत से इट् होकर रूप बना है।

परिवेत्ता— यह तच् का रूप है। यहाँ वलादि आर्धधातुक तच् को भाष्यकार के मत में इट् नहीं हुआ। परि का अर्थ यहाँ 'वर्जन' है। ज्येष्ठ भ्राता के विवाह होने के पहले ही जो कनिष्ठ भ्राता का विवाह कर लेता है, उसे 'परिवेत्ता' कहा जाता है।

षिच क्षरणे 9

सिचते।

व्याख्याः सिच् (सींचना अनिट्)— यह षोपदेश धातु है, अतः इण् से पर इसके सकार को आदेश रूप होने से मूर्धन्य षकार हो जाता है।

सिचति—लट् परस्मैद प्र पु. ए. व. तिप में 'सिच्+ति' इस स्थिति में श होने पर मुचादि होने के कारण 'शे मुचादीनाम्' सूत्र से नुम् आगम हुआ। नुम् के उम् का लोप होने पर नकार को अनुस्वार ओर उसको परसवर्ण मकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

सिचते—लट् आ. प.प्र. पु. ए. व. में पूर्वोक्त प्रकार से रूप सिद्ध हुआ।

लिट् प०

प्र० सिषेच, सिषिचतुः, सिषिचुः।

म० सिषेचिथ, सिषिचथुः, सिषिच।

उ० सिषेच सिषिचिव, सिषिचिम।

आ० प्र० सिषिचेचे, सिषिचाते, सिषिचिरे।

म० सिषिचिषे सिषिचाथे सिषिचिध्वे।

उ० सिषिचे, सिषिचिवहे, सिषिचिमहे।

यहाँ वलादि प्रत्ययों का क्रादिनियम से नित्य इट् हुआ है।

लुट्–सेक्ता। ऌट्–सेक्ष्यति, सेक्ष्यते। लोट्–सिचतु, सिचताम्।

लङ् ' असिचत्, असिचत। वि. लि. – सि़चेत्, सिचेत। आ.लि. – सिच्यात्, सिक्षीष्ट।

लिपि सिचि ह्वश्च 3.1.53

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्। असिचत्।

व्याख्याः लिप्, सिच् और ह्वेञ् (स्पर्धा करना) धातुओं से परे च्लि को अङ् आदेश होता है। इसलिए अ सिच् अत् अर्थात् असिचत् रूप बना। इसी प्रकार लुङ् परस्पैपद के अन्य रूप बनेंगे।

आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् 3.1.54

लिपि सिचिह्वः परस्य च्लेरङ् वा तङि। असिचत, असिक्त।

व्याख्याः आत्मनेपद प्रत्यय परे रहते पूर्वोक्त तीनों धातुओं से परे च्लि को अङ् आदेश विकल्प से होता है।

अङ् आदेश होने से असिचत, सिचेताम्, असिचन्त आदि रूप बनते हैं। अङ् के अभावपक्ष में असिक्त, असिक्षाताम्, असिक्षत आदि रूप बनते हैं।

इसी प्रकार लिप उपदेहे (लीपना), धातु के रूप बनते हैं।

कृती द्वेदने (काटना), खिद् परिघाते (दुःखी होना), पिश् (पीसना) परस्मैपदी धातुओं के रूप पूर्वोक्त प्रक्रिया से बनते हैं।

ओव्रश्चू छेदने 14

वश्चति। वव्रश्च। वव्रश्चिथ, वव्रष्ट। व्रश्चिता, व्रष्टा। व्रश्चिष्यति, व्रक्ष्यति। वश्च्यात्। अव्रश्चीत्, अव्राक्षीत्।

व्याख्याः ओव्रश्चू (काटना) परस्मैपदी धातु है। ओकार और ऊकार इत्संज्ञक हैं। व्रश्च् शेष रहता है। ऊदित होने के कारण वेट् है।

वश्चति : – लट् लकार में ग्रहिज्या .... से र को सम्प्रसारण ऋ होकर रूप बनता है।

वव्रश्चः – वश्च् + णल् = इस अवस्था में द्वित्व और अभ्यास को लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् से सम्प्रसारण, पूर्णरूप, उरत् से अर् और हलादिशेष होकर रूप बना।

वव्रश्चतुः –' अतुस् में 'वव्रश्च' की प्रक्रिया से रूप सिद्ध होता है।

यहाँ संयोग से पर होने के कारण 'अतुस्' कित् नहीं, क्योंकि किद्विधायक सूत्र 'असंयोगाद् लिट् कित्' असंयोग से परे ही विधान करता है। अतः यहाँ 'ग्रहिज्या–' से सम्प्रसारण नहीं होता।

वव्रष्ठ– थल् में ऊदित् होने से वैकल्पिक इट् होता है। इट् अभावपक्ष का यह रूप है। 'वव्रश्च थ' इस दशा में सकार का संयोगादि लोप, चकार को 'व्रश्च–' आदि से षकार और थकारको ष्टुत्व ठकार होकर रूप सिद्ध होता है।

वव्रश्चिव, वव्रश्चिम– यहाँ 'व' 'म' को ऊदित् होने से 'स्वरति–सूति सूयति–धू–ऊदितो वा' इस सूत्र से प्राप्त 'इट्' विकल्प को बाधकर क्रादिनियम से नित्य इट् होता है।

व्रश्चिता–लुट में इट् होने पर यह रूप बनता है।

व्रष्टा–इट् के अभावपक्ष में सकार का संयोगादिलोप और चकार को षकार तथा तकोर को ष्टुत्व टकार होकर रूप बनता है।

व्रक्ष्यति–जब 'स्य' को इट् नहीं हुआ। तब 'व्रश्च् स्यति' इस दशा में सकार का संयोगादि लोप, चकार को षकार, उसको ककार, स्य के सकार को मूर्धन्य षकार तथा क ष मिलकर क्ष बनने पर रूप सिद्ध होता है।

लोट्-वश्चतु । लङ्–अवश्चत्। वि०लि० वश्चेत्।

वश्च्यात् –आशीर्लिङ् में 'किदाशिषि' से यासुट् के कित् होने से उसके परे रहते 'ग्रहिज्या–' से सम्प्रसारण होकर रूप सिद्ध हुआ।

लुङ् (इट् पक्ष में)

प्र० अव्रश्चीत, अव्रश्चिष्टाम्, अव्रश्चिषुः।

म० अव्रश्चीः, अवश्चिष्टम, अव्रश्चिष्ट।

उ० अव्रश्चिषम्, अव्रश्चिष्व, अव्रश्चिष्म।

इट् के अभाव में–

प्र० अव्राक्षीत्, अव्राष्टाम्, अव्राक्षुः

म० अव्राक्षीः, अव्राष्टम्, अव्राष्ट

उ० अव्राक्षम्, अव्राक्ष्व, अव्राक्ष्म

यहाँ हलन्तलक्षणा वद्धि, चकार को षकार, ताम्, तम् और त को छोड़कर अन्यत्र षकार को ककार, सिच् के सकार को मूर्धन्य षकार–ये कार्य होते हैं।

उपर्युक्त तीन स्थलों में धातु के सकारका संयोगादि और सिच् के सकार का 'झलो झलि' से लोप होने पर चकार को षकार और तकार की ष्टुत्व टकार होता है।

ऌङ्–अव्रश्चिष्यत, अव्रक्ष्यत्।

व्यच् व्याजीकरणे 15

विचति। विव्याच।विविचतुः। व्यचिता। व्यचिष्यति। विच्यात्। अव्याचीत्। अव्यचीत्। 'व्यचेःकुटादित्वमनसि' इति तु नेह प्रवर्तते। अनसीति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात्।

व्याख्याः (ठगना)– यह धातु सेट् है।

विचति–लट् में 'व्यच् अ ति' इस दशा में 'ग्रहिज्या–' सूत्र से संप्रसारण होने पर अकार का पूर्वरूप होकर रूप सिद्ध हुआ।

'ग्रह' आदि धातुओं में इसका पाठ होने से कित् और ङित् प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होता है। 'श' अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है, अतः लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में पूर्वोक्त सम्प्रसारण कार्य होकर रूप बनते हैं।

विव्याच–लिट् के प्र. पु. ए. व. णल् में द्वित्व होने पर 'व्य व्यच् अ' इस स्थिति में 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' सूत्र से अभ्यास को सम्प्रसारण होकर रूप सिद्ध होता है।

विविचतुः– अतुस् में द्वित्व से पूर्व सम्प्रसारण होने पर 'विच्' को द्वित्व होता है और तब अभ्यास के चकार का हलादि शेष लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

कित्लिट् में सर्वत्र सम्प्रसारण द्वित्व से पूर्व होता है।

लिट् के शेष रूप–

प्र० विविचुः।

म० विव्यचिथ, विविचथुः, विविच।

उ० विव्याच–विव्यच, विविचिव, विविचिम।

---

१. पर्युदास और प्रसज्य भेद से ना् दो प्रकार का है। पर्युदास सदश का ग्रहण करता है। प्रसज्य ना् अभाव का बोध कराता है–'इह भूतले घटो इति। सर्वथा निषेध प्रसज्य के स्थल में हाता है।

व्यचिता–लुट् में धातु के सेट् होने से 'इट्' होकर रूप सिद्ध होता है।

व्यचिष्यति–लृट् में भी इट् होकर रूप बनता है।

लोट्-विचतु। लङ् अविचत्। विधिलिङ्–विचेत। विच्यात्–आशीर्लिङ् में 'किदाशिषि' से यासुट् के कित् होने से सम्प्रसारण होकर रूप बनता है।

अव्याचीत, अव्यचीत्–लुङ् में सिच् को इट् और अपक्त प्रत्यय को ईट् होने पर 'अयच् इ च ईत्' इस दश में 'इ ईटि' से सिच् का लोप हो हो जाता है हलन्तलक्षणा वद्धि का 'नेटि' से निषेध होने पर 'अतो हलादेर्लधोः' से वैकल्पिक वद्धि होकर दो रूप सिद्ध होते हैं।

व्यचेरिति–व्यच् धातु को कुटादिगण में समझना चाहिये अस्भिन्न प्रत्यय परे रहते। यह वार्विक अस्भिन्न सिच् आदि प्रत्यय के स्थल में प्रवत्त नहीं होता। क्योंकि 'अनसि' में ना् [१] पर्युदासार्थक है। अतः इसका विषय केवल कृत् प्रत्यय है। इस कारण सिच् आदि के स्थल में यह कुटादि–गणीय नहीं होता। पर्युदास के स्थल में तद्भिन्न तत्सदश अर्थ लिया जाता है, जैसे 'अब्राह्मणमानय' ऐसा कहे जाने पर ब्राह्मणभिन्न परन्तु ब्राह्मणसदश क्षत्रिय आदि लाया जाता है न कि ब्राह्मणभिन्न पत्थर आदि। ब्राह्मण भिन्न ब्राह्मणसदश को लाने में ही वहाँ वक्ता का तात्यर्य तथा शब्द की शक्ति रहती है। इसी प्रकार यहाँ भी अनसि' अस्–भिन्न अस्सद्श अर्थात् कृत्प्रत्यय परे रहते व्यच् धातु कुटादि समझी जायगी। सिच् प्रत्यय कृत् नहीं है, अतः यहाँ कुटादित्व धातु को नहीं होता। अन्यथा कुटादि होने पर 'गाङ् कुटादिभ्योणिन् ङित्' से सिच् आदि ङित् हो जाता और तब वद्धि न हो सकती और 'व्यचिता' तथा 'व्यचिष्यति' आदि स्थल में सम्प्रसारण होने लगता।

उछि उछे 16

उछति। 'उछः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः।

व्याख्याः (उछ वत्ति से निर्वाह करना)–यह धातु इदित् है, अतः नुम् होकर 'उछ' बन जाता है। यह धातु सेट् भी है।

लिट् –उच्छाचकार। नुम् होने से संयोग बन जाने पर उससे पूर्व उकार को गुण हो जाता है तब इजादि गुरुमान् होने से आम् होकर 'कृ' आदि का अनुप्रयोग होता है।

लुट्–उछिता। लृट्–उछिष्यति। लोट्–उछतु। लङ् औछत्। वि० लि० –उछेत। आ० लि०– उछ्यात। इदित् होने से नुम् का लोप नहीं हुआ।

लुङ्–औछीत। लृङ् औछिष्यत।

उछ इति–कण कण को लेना उछ है और कनियों का संग्रह करना शिल कहा जाता है। यह वचन यादव कोष का है।

ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलय-मूर्तिभाावेषु 17

ऋच्छति। ऋच्छत्यृतामिति गुणः, द्विहल्ग्रहणस्यानेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्-आनर्च्छ, आनर्च्छतुः। ऋच्छिता।

व्याख्याः ऋच्छ (जाना, इन्द्रियों का नाश तथा निश्चेष्ट बन जाना) यह धातु सेट् है।

ऋच्छत्यृतामिति–लिट् के प्रथमपुरुष एकवचन णल् में ऋच्छ– अ' इस स्थिति में 'ऋच्छत्यृताम्' इस सूत्र से ऋकार को गुण 'अर्' हुआ।

द्विहल इति–'तत्सान्नुङ् द्विहलः' सूत्रमें 'द्विहल्' का उपादान एक से अधिक हल को बताने के लिये है अर्थात् एक हल् न होना चाहिये, एक से अधिक होने चाहिये, चाहे दो हों या तीन, केवल दो होना जरूरी नहीं। अत 'र् च् छ' इन तीन हलों के कारण 'अर्च्छ् अ' इस दशा में भी नुट् आगम् हो गया।

आनर्च्छ–'अर्च्छ् अ' इस दशा में द्वित्व और अभ्यासकार्य होने पर नुट् आगम होने पर रूप बना।

'इजादेश्च गुरुमतोनच्छः'– इस सूत्र में 'अनच्छः' इस शब्द के द्वारा ऋच्छ धातु का निषेध होने से इजादि गुरुमान् होने पर भी 'आम्' नहीं हुआ।

आनर्च्छतुः–प्रथमपुरुष के द्विवचन अतुस् में 'ऋच्छत्यृताम्' से ऋकार को गुण 'अर्' करनेपर द्वित्व, अभ्यासकार्य,

नट् आगम होने पर रूप सिद्ध हुआ।

ऋच्छिता– लुट् प्रथमपुरुष एकवचन में 'ऋच्छ्+ता' इस स्थिति में वलादिलक्षण इट् होने पर रूप बना।

लृट–ऋच्छिष्यति। लोट्–ऋच्छतु। लङ्–आर्च्छत्। विधिलिङ्–ऋच्छेत। आ० लि०–ऋच्छ् यात्। लुङ्–आर्च्छीत्, आर्च्छिटाम, अर्च्छिषुः इत्यादि।

उज्झ उत्सर्गे 18

उज्झति।

व्याख्याः उज्झ–(छोड़ना)–सेट्। लिट–उज्झाचकार। लट्–उज्झिता। लृट् उज्झिष्यति। लुङ् –औज्झीत्।

लुभ विमोहने 19

लुभति।

व्याख्याः लुभ– (मोहित होना अर्थात् लोभ करना)–सेट्।

तीष (ति-इष)-सह-लुभ-रुष-रिषः 7.2.48

इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्। लोभिता, लोब्धा। लोभिष्यति।

व्याख्याः इष, सह, लुभ, रुष और रिष् धातुओं से परे तकारादि आर्धधातुक को इट् आगम विकल्प से हो।

लोभिता, लोब्धा–'लुभ् ता' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से तकारादि आर्धधातुक 'ता' के लुभ धातु से परे होने के कारण विकल्प से इट् आगम हुआ। इट् आगमपक्ष में गुण होने पर 'लोभिता' रूप बना और अभावपक्ष में 'लुभ–ता' इस स्थिति में 'झषस्तथोर्धोधः' सूत्र से तकार को धकार हुआ तब पूर्व पकार को जश बकार होने पर 'लोब्धा' रूप सिद्ध हुआ।

लोभिष्यति–लृट् में इट् नित्य हुआ। लुङ् –अलोभीत्।

तप तम्फ तप्तौ 20 21

तपति। ततर्प। तर्पिता। अतर्पीत्।

व्याख्याः तप तम्फ (तप्ति करना) सेट् धातु है। अतर्पीत् लुङ्, अट्, तिप, च्लि, सिच्, इट्, ईट, सिच्लोप गुण आदि कार्य होने पर यह रूप सिद्ध हुआ।

तम्फति– तम्फ, धातु के लट् प्रथमपुरुष एकवचन में शकार विकरण के अपित् सार्वधातुक होने के कारण 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' सूत्र से नकार का लोप हुआ। तब आगे आनेवाल 'शे तम्फादीनाम्–' इस वार्तिक से नुम् आगम, नकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' इस सूत्र से अनुस्वार और उसे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' मकार होने पर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) शे तम्फादीनां नुम्वाच्यः।

आदिशब्दः प्रकारे, तेन येत्र नकारानुषक्तास्ते तम्फादयः। ततम्फ। तम्फ्यात्।

व्याख्याः (वा) शे तम्फादीनामिति–तम्म्फ् आदि (सदश) धातुओं को नुम् आगम होता है।

आदिशब्द इति–'शे तम्फादीनाम्' में आदि शब्द प्रकार अर्थात् सा अर्थ में है। इसलिये इस प्रकरण में जिन धातुओं के साथ नकार जुड़ा हो वे सब तम्फादि समझने चाहिये।

तफ्यात्–आशीर्लिङ् में यासुट् के कित् होने के कारण 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से नकार [१] का लोप हुआ।

---

१. कदाचित् यह कोई कहे कि यहाँ नकार नहीं अपि तु मकार है फिर 'शे तम्फादीनाम्' की प्रवत्ति कैसे हो सकती है। इसके उत्तर में यह समझना चाहिये कि यह नकार है उसी को अनुसवार और परसवर्ण मकार हुआ है। 'अनिदितां हलः–' की दष्टि में अनुस्वार और परसवर्ण असिद्ध कहा है– नकारजावनुस्वारपंचमौ झलि धातुषु। सकारजः शकरश्च षाट्ठवर्गास्तवर्गजः।

मड पड सुखने 22.23

मडति। पडति।

व्याख्याः मड्, पड् (सुख देना)—सेट्। लिट्—ममर्ड, पपर्ह। लुङ् —अमर्डीत, अपर्डीत्।

शुन गतौ 24

शुनति।

व्याख्याः शुन् (जाना—सेट्)। लिट्—शुशोन। लुट् शोनिता। लृट्— शोनिष्यति। लोट्—शुनतु। लङ्—अशुनत्। वि० लि०—शुनेत्। आ० लि०— शुन्यात्। लुङ्—अशोनीत्। लृङ् —अशोनिष्यत्।

इषु इच्छायाम् 25

इच्छति। एषिता, एष्टा। एषिष्यति। इष्यात्। ऐषीत्।

व्याख्याः (इच्छा करना)—सेट्

इच्छति—'इष् —अ ति' इस स्थिति में। 'इषुगमियमां छः' इस सूत्र से षकार को छकार होने पर रूप बन गया।

लिट्—इयेष, ईषतुः, ईषुः।

एषिता, एष्टा—'इष्—ता' इस दशा में 'तीषसह—' इत्यादि सूत्र से तकारादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से होने के कारण उक्त दो रूप बने। इट् के अभावपक्ष में इकार को गुण होने के साथ तकार को ष्टुत्व हुआ।

लोट्—इच्छतु लुङ्—ऐच्छत्। वि० लि० इच्छेत।

ऐषीत्— लुङ्, आट्, वद्धि, तिप, च्लि, सिच्, इट्, ईट्, और सिच् के लोप होने से रूप बना।

शेष रूप —ऐषिष्टाम्, ऐषिशुः। ऐषीः, ऐषिष्टम्, ऐषिष्ट। ऐषिषम, ऐषिष्व, ऐषिष्म।

कुट कौटिल्ये 26

गाङ्कुटादीति ङित्त्वम्-चुकुटिथ। चुकुट। कुटिता।

व्याख्याः कुट् (कुटिलता करना)—सेट्। लट्—कुटति,कुटतः, कुटन्ति। लिट्—चुकोट, चुकुटतुः, चुकुटुः।

चुकुटिथ—थल् में द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा थल् को इट् आगम होने पर 'गाङ्कुटादिभ्योणित् ङित' इस सूत्र से पूर्ववत् 'ता' ङित् हुआ और तब 'क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध हो गया।

लृट्—कुटिष्यति। लोट्—कुटतु। लङ्—अकुटत। वि० लि०—कुटेत। आ० लि०—कुट्यात। लुङ्—अकुटीत्। लृङ्—अकुटिष्यत।

पुट संश्लेषणे 27

पुटति। पुटिता।

व्याख्याः पुट् (जोड़ना)—सेट्।

पुटिता—कुटादि होने से यहाँ भी 'ता' ङित् होता है और तब गुण का निषेध हो जाता है।

स्फुट विकसने 28

स्फुटति। स्फुटिता।

व्याख्याः स्फुट् (खिलना)—सेट्। यह धातु भी कुटादि है, इसके रूप 'कुट' के समान ही बनते हैं।

स्फुर स्फुल संचलने 29-30

स्फुरति। स्फुलति।

व्याख्याः स्फुर, स्फुल् (चेष्टा करना, हिलना–डुलना, हरकत करना)।

स्फुरति-स्फुलत्योर्निर्निविभ्यः 8.3.76

षत्वं वा स्यात्। निष्फुरति, निस्फुलति।

व्याख्याः स्फुरतीति–निर्, नि और वि उपसर्गों से पर सेट् स्फुर और स्फुल् धातुओं के सकार को षकार विकल्प से होता है।

निष्फुरति, निष्फुलति–यहाँ 'नि' उपसर्ग से परे होने के कारण धातु के सकार को मूर्धन्य षकार विकल्प से हुआ। अभावपक्ष में –निस्फुरति, निस्फुलति ऐसे ही रूप रहेंगे।

लिट्–पुस्फोल। लुट्–स्फुलिता। लोट्–स्फुरतु, स्फुलतु। लङ्–अस्फुरत्। वि० लि० –स्फुरेत्, स्फुलेत्। आ० लि०–स्फुर्यात्, स्फुल्यात्। लुङ्–अस्फुरीत्, अस्फुलीत।

णू स्तवने 32 'परिणूतगुणोदयः'.

नुवति। नुविता।

व्याख्याः णू (स्तुति करना)– सेट्। यह धातु दीर्घ ऊकारान्त है।

परितेति–'परिणूतः प्रशस्तः गुणानामुदयो यस्य' अर्थात् जिसके गुण प्रशंसनीय हैं।

यह काव्य का उद्धरण इस धातु के दीर्घ ऊकारान्त होने के फल रूप में दिया गया है अर्थात् दीर्घ ऊकारान्त होने का फल का प्रत्यय हो। यह इस काव्योद्धरण से सिद्ध किया गया है।

तात्पर्य यह है कि तुदादिगण के विकरण श के ङिद्वत् होने से सार्वधातुक लकारों में गुण का निषेध होने से ऊकार को उवङ् आदेश हो जाता है और आर्धधातुक लकारों में भी इट् होने पर कुटादि होने के कारण ङिद्वद्भाव हो जाने से उवङ् हो जाता है, लुङ् में ऊकार की इगन्तलक्षणा वद्धि हो जाती है। ये सब कार्य ह्रस्व उकार को भी हो सकते हैं, रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ सकता, इसलिये धातु के दीर्घ ऊकारान्त होने का कोई प्रयोजन यहाँ नहीं मालूम पड़ता, इसके समाधान के रूप में 'परिणूत' यह क्त प्रत्यय का रूप दिया गया है अर्थात् यहाँ प्रत्यय होने पर उवङ् आदि कार्य नहीं होता, अतः यहाँ ऊकार का श्रवण होता है। यदि धातु ह्रस्व उकारान्त हो तो यहाँ दोष होगा।

यदि यह कहा जाय कि दीर्घ ऊकारान्त होने से 'ऊददन्तै–' के नियम से यह धातु सेट् है। अतः यहाँ भी इट् होने से उवङ् आदेश होगा। फिर दीर्घ ऊकार का कोई प्रयोजन नहीं। इसका समाधान यह है कि यहाँ 'श्र्युकः किति' सूत्र से इट् का निषेध हो जाता है। इसलिये इट न होने से यहाँ उवङ् भी नहीं होता और तब दीर्घ ऊकार का श्रवण होता है। इस प्रकार धातु का दीर्घ ऊकारान्त होना निष्फल नहीं।

नुवति– लट् के प्रथमपुरुष एकवचन तिप् में विकरण श के आने पर अपित् सार्वधातुक होने से 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र से ङिद्वत् हो जाने के कारण गुण का निषेध हो जाता है। तब 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' सूत्र से ऊकार को उवङ् आदेश होने पर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

नुनाव–लिट् प्रथमपुरुष एकवचन णल् में द्वित्व, अभ्यास को ह्रस्व और उत्तर खण्ड के अकार को 'अचो ञ्णिति' से वद्धि औकार और उसे 'आव्' आदेश होने पर उक्त रूप बना।

नुविता– लुट् के प्रथम पुरुष एकवचन में इट् हुआ। कुटादि होने से इडादि प्रत्यय ङिद्वत हो गया। तब गुण का निषेध होने से 'उवङ्' आदेश होने पर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

लृट्–नुविस्यति। लोट्–नुवतु। लङ्–अनुवत्। विधिलिङ्–नुवेत्। आशीर्लिङ्–नूयात। लुङ्–अनावीत्। लृङ्–अनुविष्यत्।

टुमस्जो शुद्धौ 32

मज्जति। ममज्ज। 'मस्जि-नशो' निति नुम्।

व्याख्याः टुमस्जो (शुद्ध करना अर्थात् स्नान)– यह धातु अनिट् है। 'टु' इसका इत् है, उसका फल है 'ट्वितोथुच्' से अथुच्

प्रत्यय होकर 'मज्जथुः' शब्द की सिद्धि। ओदित् होने से निष्ठा के तकार को नकार हो जाता है। अतः क्त प्रत्यय में 'मग्नः' और क्तवतु में 'मग्नवान्' प्रयोग बनते हैं।

मज्जति—लट् प्रथम पुरुष एकवचन पित् में 'मस्ज् अति' इस स्थिति में पहले 'स्तोः श्चुना श्चुः' इस सूत्र से सकार के स्थान में शकार हुआ, तब उस के स्थान में 'झलां जश् झशि' सूत्र से जश् जकार हाने पर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

ममज्ज—लिट् प्रथमपुरुष के एकवचन णल् में द्वित्व, अभ्यासकार्य हाने के साथ पूर्ववत् सकार को पहले शकार हुआ और तब उसे जश् जकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

मस्जिनशोरिति—थल् में जब इट् नहीं हुआ तब झलादि प्रत्यय होने से 'मस्जिनशोर्झलि' इस सूत्र से नुम् आगम हुआ।

(वा) मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम् वाच्यः।

संयोगादिलोपः-ममङ्क्थ,। ममज्जिथ। मङ्क्ता। मङक्ष्यति। अमाङ्क्षीत्, अमाङ्क्षुः।

व्याख्याः मस्ज् धातु में अन्त्य वर्ण से पूर्व नुम् कहना चाहिये।

बात यह है कि मित् नुम् आदि आगम 'मिदचोन्त्यात्परः' इस नियम से अन्त्य अच् के आगे होते हैं। यहाँ 'मस्ज' धातु में अन्त्य अच् मकारोत्तवर्ती अकार है उसके आगे अर्थात् सकार के पूर्व नुम प्राप्त होता है। सकार के पूर्व नुम् होने पर संयोग का आदि नुम् का नकार होता है सकार नहीं, तब 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से होनेवाला संयोग के आदि सकार का लोप यहाँ नहीं हो पाता। जब अन्त्य वर्ण से पूर्व नुम् आगम प्रकृत वार्तिक से होता है तब वह जकार से पूर्व होता है और सकार के बाद। 'मस् न् ज्' यह स्थिति बनती है यहाँ संयोग का आदि होने से तकार का लोप सिद्ध होता है।

संयोगादिलोप इति—'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इस सूत्र से 'स्न्' इस संयोग के आदि सकार का लोप 'म मस् न् ज् थ' इस स्थिति में हुआ।

मङक्थ—लिट् मध्यपुरुष एकवचन थल् में इट् के अभावपक्ष में द्वित्व, अभ्यासकार्य, नुम्, पूर्वोक्त प्रकार से सकार का लोप, जकार का कवर्ग गकार उसको चर् ककार, नकार को अनुस्वार और उसको परसवर्ण ङकार होने पर रूप सिद्ध होता है।

ममज्जिथ—तास् में नित्य अनिट् होते हुए अकारावान् होने से थल में भारद्वाजनियम से विकल्प से इट् होता है। यह इट् पक्ष का रूप है।

मङ्क्ता—लुट् प्रथमपुरुष के एकवचन में झलादि प्रत्यय को पूर्वोक्त प्रकार से नुम् अन्त्य वर्ण जकार से पूर्व हुआ। तब 'स्न्' इस संयोग के आदि सकार का लोप, जकार, को कुत्व गकार, उसको चर, ककार, नकार को अनुस्वार, उसको परसवर्ण ङ्कार होकर रूप सिद्ध होता है।

मङक्ष्यति—ऌट् प्रथमपुरुष एकवचन में 'मस्ज्+स्यति' ऐसी स्थति में 'मस्जिनशोर्झलि' से नुम् आगम 'अन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्यः' नियम से जकार के पूर्व हुआ। तब 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च इस सूत्र से सकार का लोप होने पर जकार को कवर्ग गकार और उसको चर् ककार हुआ। तदनन्तर सकार को मूर्धन्य षकार और नकार को अनुस्वार परसवर्ण ङकार होकर रूप बन गया।

अमाङ्क्षीत्—लुङ्, अट्, वि, च्लि, सिच्, नुम्, सलोप, वद्धि, कुत्व,चरत्व, षत्व, नकार को अनुस्वार और परसवर्ण ङकार होने पर रूप सिद्ध हुआ।

अमाङ्क्ताम्—लुङ् प्रथमपुरुष के द्विवचन में सारे कार्य पूर्ववत् होते हैं। केवल 'झलो झलि' सूत्र से सिच् से सिच् का लोप होता है।

अमाङ्क्षुः— यह लुङ प्रथम पुरुष के बहुवचन का रूप है। 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' सूत्र से 'झि' को जुस् हो गया। शेष कार्य 'अमाङ्क्षीत्' के समान बनते हैं।

शेष रूप— अमाङ्क्षीः, अमाङ्क्त। अमाङ्क्षम्, अमाङक्ष्व, अमाङ्क्ष्म।

रुजो भङ्गे 33

रुजति ।रोक्ता। रोक्ष्यति। अरोक्षीत्।

व्याख्याः रुज् (तोड़ना)–अनिट्, ओदित्। ओदित होने का फल निष्ठा के तकार को नकार होना है। जैसे –रुग्णः। रोग से कष्ट पहुँचाने अर्थ में इसका प्रयोग होता है। जैसे–विपादिका रुजति–बेवाई दुःख देती है। रोग इसी से बनता है।

रोक्ता– लुट् प्रथमपुरुष एकवचन में 'रुज्+ता' इस स्थिति में लधूपध गुण और जकार को कुत्व गकार और चर् ककार होने पर रूप सिद्ध हो गया।

रोक्ष्यति–लट् प्रथमपुरुष एकवचन में 'रुज्+स्यति' इस दिशा में गुण, जकार को कुत्व गकार, गकार को चर् ककार, सकार को मूर्धन्य षकार और क ष के संयोग से क्ष बनकर रूप बना।

अरौक्षीत्–लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन में अट्, तिप्, सिच्, उकार को हलन्तलक्षण वद्धि, जकार को कुत्व गकार, गकार को चर् ककार, सकार को षकार, क ष के संयोग से क्ष होने पर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–

अरौक्ताम्, अरौक्षुः।

अरौक्षीः, अरौक्तम्, अरौक्त।

अरौक्षम्, अरौक्ष्व, अरौक्ष्म।

भुजो कौटिल्ये 34

रुजिवत्।

व्याख्याः (कुटिल होना)–अनिट्। ओदित्–भुग्नः। मोड़ने अर्थ में इसका प्रयोग होता है। इसके रूप 'रुज्' के समान ही बनते हैं।

विश प्रवेशने 35

विशति।

व्याख्याः विश् (घुसना)–अनिट्। लट्–विशति। लिट्–विवेश। लुट्–वेष्टा। श्ट्–वेक्ष्यति। लोट्–विशतु। लङ्–अविशत्।
वि० लि०–विशेत्। आ० लि–विश्यात्। लुङ्–अविक्षत्। ऌङ– अवेक्ष्यत

उपसर्गों के योग में–

प्रविशति–प्रवेश करता है।उपविशति –बैठता है।

निविशते[1]– चुभता है।अभिनिविशते–मन लगाता है।

मश आमर्शने 36

आमर्शनम्-स्पर्श। अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्-अम्राक्षीत्, अमार्क्षीत्, अमक्षत्।

व्याख्याः मश (स्पर्श करना)–अनिट्।

आमर्शनम् इति–आमर्शन स्पर्श को कहते हैं।

मश्धातु का अर्थ निर्देश किया गया है 'आमर्शने'। आमर्शन के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये यह वाक्य कहा गया है।

हिन्दी में इस का अर्थ होगा–मलना या हाथ फेरना, जैसे–मुखम्, आमशति–मुख पर हाथ फेरता है। नेत्रे आमश्य–आँख मलकर।

---

१. निपूर्वक 'विश' धातु से 'नेर्विशः' सूत्र से आत्मनेपद आता है। श्रीहर्ष ने नैषध में कहा है–'निविशते यदि शूकाशिखा पदे'।

लट्–मशति। लिट्–ममर्श। लुट्–मर्ष्टा। लृट्–मक्ष्र्यति। लोट्–मशतु। लङ्–अमशत्। वि० लि०–मशेत्। आ० लि०–मश्यात्।

अम्राक्षीत्–लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन, अट्, पित्, सिच, ईट, 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्तरस्याम्' इस सूत्र से ऋकार के आगे अम् आगम, ऋकार को यण् रकार, अकार को हलन्तलक्षणा वद्धि, जकार को कुत्व गकार, गकार को चर् ककार, सकार को मूर्धन्य षकार, क ष संयोग से क्ष होकर रूप बन गया।

शेष रूप–

अम्राष्टाम्, अम्राक्षुः।

अम्राक्षीः, अम्राष्टम्, अम्राष्ट।

अम्राक्षम्, अम्राक्ष्व, अम्राक्ष्म।

अमार्क्षीत्–अम् के अभावपक्ष में सारे कार्य पूर्ववत् होते हैं केवल ऋकार को हलन्तलक्षणा वद्धि 'आर्' होती है।

शेष रूप–

अमार्ष्टाम्, अमार्क्षुः।

अमार्क्षीः, अमार्ष्टम्, अमार्ष्ट।

अमार्क्षम्, अमार्क्ष्व, अमार्क्ष्म।

अमक्षत्–'स्पशमशकृषतपदपां च्लेः सिज्वा वाच्यः' इस वार्विक से क्स को बाधकर च्लि को सिच् विकल्प से होता है। सिच्पक्ष में विकल्प से अम् होता है, ये दोनों रूप ऊपर दिखाये गये हैं। सिच् के अभावपक्ष में 'शल इगुपधादनिटः क्स– इस सूत्र से च्लि को 'क्स' आदेश होता है। क्स का सकार शेष रहता है। 'क्स' के कित् होने से वद्धि का निषेध हो जाता है। शेष कार्य कुत्व आदि पूर्ववत् होकर रूप सिद्ध होता है।

शेष रूप–

अमक्षताम्, अमक्षन्।

अमक्षः, अमक्षम्, अमक्षत।

अमक्षम्, अमक्षाव, अमक्षाम।

षद्लृविशरणगत्यवसादनेषु 37

सीदति-इत्यादि।

व्याख्याः षद्लृ (फटना, जाना, दुःखी होना)–अनिट्, लृदित् होने से लुङ् में च्लि को अङ् होता है।

सीदति–'पाघ्राध्मा–' इत्यादि सूत्र से सार्वधातुक लकारों में 'सीद्' आदेश हो जाता है।

लिट्–ससाद, सेदतुः, सेदुः। लुङ् सत्ता। लृट्–सत्स्यति, लोट्–सीदतु। लङ्–असीदत्। वि० लि० सीदेत्। आ० लि०–सद्यात्। लुङ्– असदत्; लृङ्–असत्स्यत्।

उपसर्गों के योग में–

प्रसीदति–प्रसन्न होता है। अवसीदति –दुःखी होता है।

निषीदति–बैठता है। असीदति–पास पहुँचता है।

विषीदति–विषाद करता है। प्रत्यासीदति–निकट आता है।

शद्लृ शातने 38

व्याख्याः शद्लृ (नाश होना)–अनिट्। लदित्।

शदेश्शितः 1.3.60

शिद्भाविनोस्मात्ताङानौ स्तः। शीयते। शीयताम्। अशीयत। शीयेत। शशाद। शत्ता। शत्स्यति। अशदत्। अशत्स्यत्।

व्याख्याः शदेश्शित इति– शद् धातु जब शिद्भावी हो अर्थात् जब उससे शित् प्रतयय होने वाला हो तो आत्मनेपद प्रत्यय आते हैं।

शीयते–लट् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'शदेश्शितः' सूत्र से आत्मनेपद तङ् और शद् को शीय् आदेश होकर रूप बन गया।

लिट्–शशाद, शेदतुः शेदुः।

शीयताम्–लोट् में आत्मनेपद और 'शद्' को 'शीय्' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

अशीयत्–लङ् में पूर्ववत रूप सिद्ध हुआ।

अशदत्–लुङ् में 'च्लि' को 'पुषादिद्युतादि–ऌदितः परस्मैपदेषुः' सूत्र से 'अङ्' आदेश होकर रूप बना।

कॄ विक्षेपे 31

व्याख्याः कॄ (बिखेरना)–सेट्।

ॠत इद्धातोः 7.1.100

ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत्स्यात्। किरति। चकार, चकरतुः, चकरुः। करीता, करिता। कीर्यात्।

व्याख्याः ॠतु इति–दीर्घ ॠकारान्त धातु रूप अङ्ग को 'इत्' आदेश हो। 'अलोन्त्यस्य' सूत्र से 'इ' कार अङ्ग के अन्त्य ॠकार को ही होता है। ॠकार के स्थान में विधान होने से 'उरण् रपरः' सूत्रसे रपर 'इर्' आदेश होता है।

किरति–लट् प्रथमपुरुष के एकवचन में तिप्, श विकरण होने पर ''ॠत इद्धातोः सूत्र से ॠकार के स्थान में 'इर्' आदेश होकर रूप सिद्ध हो गया।

चकार–लिट् प्रथम पुरुष एकवचन णल् 'ॠच्छत्यॄताम्' से ॠकार को गुण, द्वित्व, अभ्यासकार्य, अकार को 'अत उपधायाः' से उपधा वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ

चकरतुः–लिट् प्रथम पुरुष द्विवचन अतुस् में 'ॠच्छत्यॄताम्' सूत्र से. ॠकार को गुण तथा अन्य कार्य यथापूर्व होकर रूप बना।

चकरुः– लिट् के प्रथमपुरुष बहुवचन उस् में पूर्ववत् कार्य होकर रूप बना।

करीता, करिता–लुट् के प्रथमपुरुष एकवचन में इट् और ॠकार को गुण अर् आदेश होने पर 'वॄतो वा' इस सूत्र से इट् को विकल्प से दीर्घ होकर उक्त दो रूप बने।

कीर्यात्– आशीर्लिङ में यासुट् के कित् होने के कारण ॠत इद्धातोः' सूत्र से ॠकार को इर् आदेश और 'हलि च' सूत्र से इकार को दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

लुङ्–अकारीत, अकारष्टिाम्, अकारिषुः। अकारीः, अकारिष्टम्, अकारिष्ट। अकारिषम्, अकारिष्व,अकारिष्म।

लुङ् में 'सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु' से इगन्तलक्षणा वद्धि होती है।

किरतौ लवने 6.1.140

उपात् किरतेः सुट् छेदने। उपस्किरति।

व्याख्याः किरतौ इति–उप उपसर्ग से परे कॄ धातु को सुट् आगम होता है काटने के अर्थ में।

उपस्किरति–यहाँ उप से परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से कॄ धातु को सुट् आगम हुआ।

(वा) अङ्-अभ्यास-व्ययायेपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम्।

उपास्किरत्। उपचस्कार।

व्याख्या: अडभ्यासेति—अट् और अभ्यास के व्यवधान होने पर भी यथाप्राप्त सुट् आगम होता है तथा वह ककार से पूर्व ही होता है।

उपास्किरेत्—यहाँ 'उप+अकिरत्' इस दशा में उप से परे होने के कारण अट् के व्यवधान में भी ककार से पूर्व कॄ धातु को अभ्यास के व्यवधान होने पर भी ककार से पूर्व सुट् आगम हुआ।

हिंसायां प्रतेश्च 6.1.41

उपात्प्रतेश्च किरतेः सुट् स्यात् हिंसायाम्। उपस्किरति। प्रतिस्किरति।

व्याख्या: हिंसायमिति—उप और प्रति से पर कॄ धातु को अभ्यास के व्यवधान होने पर भी ककार से पूर्व सुट् आगम हुआ।

उपस्किरति, प्रतिस्किरति—यहाँ उपसर्ग उप ओर प्रति से परे कॄ धातु को सुट् आगम हुआ। यहाँ अर्थ हिंसा है।

गॄ निगरणे 40

व्याख्या: गॄ (निगलना)—सेट्।

अचि विभाषा 8.2.21

गिरते रेफस्य लोजादौ प्रत्यये।गिलति, गिरति। जगाल, जगार। जगलिथ, जगरिथ। गलीता, गलिता। गरीता, गरिता।

व्याख्या: अचि इति—गॄ धातु के रेफ का लकार होता है विकल्प से अजादि प्रत्यय परे रहते।

गिलति, गिरति—गॄ धातु के लट् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'श' होने पर 'ऋत इद्धातोः' सूत्र से ऋकार को 'इर्' आदेश होता है। तब अजादि प्रत्यय श के परे होने के कारण 'अचि विभाषा' सूत्र से रेफ को लकार विकल्प से होकर दो रूप बने।

जगाल, जगार—'चकार' के समान रूप सिद्ध होता है। केवल लकार का अन्तर पड़ता है। यहाँ अजादि प्रत्यय णल् परे है।

जगलिथ, जगरिथ—यहाँ भी रूप सिद्ध 'चकरिथ' के समान होती है, यहाँ अजादि प्रत्यय 'इक' यह इट्—सहित थ है, अतः लकार विकल्प होने से दो रूप बनते हैं।

गलीता, गलिता, गरीता, गरिता—इट् के दीर्घ विकल्प और रेफ के लकार विकल्प से चार रूप बन गये।

ऌट्—गलीष्यति, गलिष्यति, गरीष्यति, गरिष्यति।

लोट्——गिलतु, गिरतु।लङ्—अगिलत्, अगिरत्। वि० लि०—गिलेत्। गिरेत्। आ० लि०—गीर्यात्,। लुङ् —अगालीत्, अगारीत्, अगालिष्टाम् अगारिष्टाम, अगालिष्ट, अगारिष्ट। ऌङ्—अगालिष्यत् अगारिष्यत् इत्यादि।

उपसर्गों के योग में—

निगिलति—निगलता है।

सगिरते[१]—प्रतीक्षा करता है।

प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् 41

'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणम्-पच्छति। प्रपच्छ, पप्रच्छतुः, पप्रच्छुः। प्रष्टा। प्रक्ष्यति। अप्राक्षीत्।

व्याख्या: प्रच्छ—(जानने की इच्छा अर्थात् पूछना)—अनिट्।

पच्छति —लट् प्रथमपुरुष एकवचन णल् में द्वित्व और अभ्यासकार्य होने पर रूप बन गया।

प्रपच्छतुः, पप्रच्छुः—लिट् प्रथमपुरुष के द्विवचन और बहुवचन में पूर्ववत् द्वित्व और अभ्यास कार्य होने पर रूप

१. सम्पूर्वक गॄ धातु से प्रतिज्ञा अर्थ में 'समः प्रतिज्ञाने' इस सूत्र से आत्मनेपद होता है।

सिद्ध हुआ।

प्रष्टा– लुट, प्रथमपुरुष के एकवचन में 'प्रच्छ्+ता' इस दशा में 'व्रश्चभ्रस्ज–' सूत्र से 'च्छ' को षकार हुआ। तब तकार के स्थान में ष्टुत्व टकार होने पर रूप सिद्ध हुआ।

प्रक्ष्यति–लृट् प्रथमपुरुष एकवचन में 'प्रच्छ–स्यति' इस स्थिति में 'च्छ' को पूर्ववत् षकार होने पर 'षढोः कः सि' इस सूत्र से उसे ककार हुआ। तब स्यके सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'क ष' के संयोग से 'क्ष' बनकर रूप बना।

लोट्–पच्छतु। लङ्–अपच्छत्। वि० लि०– पच्छेत्। आ० लि०– पच्छ्यात।

अप्राक्षीत्–लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन में 'अ प्रच्छ् स् ई त्' इस स्थिति में अकार को हलन्त लक्षण वद्धि से आकार आदेश, 'च्छ' को षकार और उसे ककार तथा सकार को मूर्धन्य ष होने पर क ष के संयोग से 'क्ष' बनकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप –अप्राष्टाम, अप्राक्षुः। अप्राक्षीः, अप्राष्टम, अप्राष्ट। अप्राक्षम्, अप्राक्ष्व, अप्राक्ष्म।

'अप्राष्टाम्' आदि रूपों में च्छ को षकार होने के साथ ही 'झलो झलि' से सिच् से सकार का लोप हो जाता है।

लृङ्–अप्रक्ष्यंत्।

मङ् प्राणत्यागे 41

व्याख्याः म (मरना)–अनिट्।

म्रियतेर्लुङ्-लिङोश्च 1.3.61

लुङ्-लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मङस्तङ् नान्यत्र। रिङ्, इयङ् म्रियते। ममार। मर्ता। मरिष्यति। मषीष्ट। अमृत।

व्याख्याः म्रियतेरिति–लुङ्, लिङ् और शित् के प्रकृतिभूत अर्थात् सार्वधातुक के विषय में म धातु से तङ् होता है अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार मङ् धतु से लट, लोट्, लङ्, वि० लिङ, आ० लिङ् और लुङ में आत्मनेपद तथा लिट्, लुट्, लृट, लृङ्–इन चारा लकारों में परस्मैपद रहता है।

म्रियते–लट् के प्रथमपुरुष के एकवचन में 'म अ ते' इस दशा में 'रि शयग्लिङ क्षु' इस सूत्र से 'ऋ'कार को 'रि' आदेश हुआ तब इकार को इयङ् आदेश होने पर रूप सिद्ध हुआ।

ममार–लिट् के प्रथमपुरुष एकवचन में द्वित्व अभ्यासकार्य वद्धि आदि होने पर रूप बन गया।

मरिष्यति–लृट् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'ऋद्धनोः स्ये' सूत्र से इट् आगम हुआ।

लोट्– म्रियताम्। लङ्–अम्रियत। वि० लिग०–म्रियेत।

मषीष्ट–अशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष में सीयुट, सुट् होते हैं। 'उश्च १।२।१२।।' सूत्र से सीयुट् कित् हो जाता है। तब ऋकार को प्राप्त गुण का निषेध हो जाता है।

अमत–लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन में 'ह्रस्वादङ्गात्' सूत्र से सिच् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–अमषाताम्, अमषत। अमथाः, अमषाथाम्, अमइढ्वम।अमषि, अमष्वहि,, अमष्महि।

पङ् व्यायामे 43

प्रायेणायं व्याङ्पूर्वः। व्यापप्रे, व्यापप्राते। व्यापरिष्यते। व्यापत, व्यापषाताम्।

व्याख्याः पङ् (व्यापार–चेष्टा करना)–अनिट्।

प्रायेणेति–यह धातु प्रायः वि आङ् पूर्व होता है अर्थात् इसके साथ वि और आङ् उपसर्ग का प्रायः प्रयोग होता है।

व्याप्रियते–लट् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'रिङ् शयग्लिङ्क्षु' इस सूत्र से ऋकार को रिङ् आदेश और पुनः इकार

को 'अचि श्नुधातुभ्रुवां–' से इयङ् आदेश होकर रूप बन गया।

व्यापप्रे–लिट् प्रथमपुरुष एकवचन में 'व्या प+ए' इस दशा में द्वित्व, अभ्यासकार्य होने पर उत्तर खण्ड के ऋकार को यण् रकार होकररूप सिद्ध हुआ।

व्यापरिष्यते–लृट् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'ह्रस्वादङ्गात्' सूत्र से सिच् का लोप हुआ।

व्यापत–लृङ् प्रथमपुरुष एकवचन में 'ह्रस्वादङ्गात्' सूत्र से सिच् का लोप हुआ।

व्यापषाताम्–लुङ् प्र० प्र० द्वि० व में 'व्या प+ आताम्' इस स्थिति में सिच् और उसके सकार को मर्धन्य होकर रूप बनता है।

जुषी प्रीतिसेवनयोः 44

जुषते। जुजुषे।

व्याख्याः जुष (प्रीति और सेवन)–सेट्। ईदित् होने से निष्ठा को इट् का निषेध हो जाता है–जुष्ट इत्यादि।

लट्–जुषते। लिट्–जुजुषे। लुट–जोषिता। लृट्–जोषिष्यते। लोट्–जुषताम्। लङ्–अजुषत्। वि० लि० –जुषेत। आ० लि० जोषिषीष्ट। लुङ्–अजोषिष्ट। लृङ् –अजोषिष्यत।

ओविजी भयचलनयोः 45

प्रायेणायमुत्पूर्वः। उद्विजते।

ओविजी (भय और काँपना)–ओदित् तथा ईदित् है। ओदित होने से निष्ठा के तकार को नकार और ईदित् होने से इट् का निषेध होता है। जैसे उद्विग्नः। सेट्।

अर्थात् इसका प्रयोग 'उत्' उपसर्ग के बिना नहीं होता।

लट्–उद्विजते। लिट्–उद्विविजे।

विज इट् 1.2.2

विजः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत्'। उद्विजिता।।इति तुदादयः।।

व्याख्याः विज इति–विज् से परे इडादि प्रत्यय ङिद्वत् होता है।

ङिद्वत् होने का फल गुण का निषेध है।

लिट्–उद्विविजे। लुट्–उद्विजिता। लृट्–उद्विजिष्यते। लोट्–उद्विजताम्–लङ्–उद्अविजत। वि० लि०–उद्विजेत। आ० लि०–उद्विजिषीष्ट। लुङ्–उद्अविजिष्ट। लुङ्–उद्अविजिष्यत।

(तुदादिगण समाप्त)

अथ रुधादयः

रुधिर आवरणे 1

व्याख्याः रुधिर –(रोकना)–अनिट् इर् इत्संज्ञक है। लुङ् में च्लि को विकल्प से चङ् होना इरित् होने का फल है। उतदिर् तक ६ धातुएँ इरित् और उभयपदी हैं।

रुधादिभ्यः श्नम् 3.1.78

शपोवादः। रुणाद्धि। श्नसोरल्लोपः -रुन्धन्ति। रुणत्सि, रुन्धः, रुन्ध। रुणध्मि, रुन्ध्वः,रुन्ध्मः। रुन्धे, रुन्धाते,रुन्धते। रुरोध, रुरुधे। रोद्धा। रोतस्यति रोत्स्यते।

रुणद्धु-रुन्धात्।

रुन्धाम, रुन्धन्तु। रुन्धि। रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम। रुन्धाम्, रुन्धाताम्, रुन्धताम्। रुन्त्स्व। रुणधै, रुणधावहै, रुणधामहै।अरुणत् अरुणद्, अरुन्धाम्, अरुन्धान्। अरुणत्, अरुणः। अरुन्ध। अरुन्धताम्, अरुन्धत। अरुन्धाः। रुन्ध्यात्। रुन्धीत। रुध्यात् रुत्सीष्ट। अरुधत, अरौत्सीत, अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत। अरोत्स्यत, अरोत्स्यत।

व्याख्याः रुधादि धातुओं से परे श्नम् होता है।

श्नम् के शकार और मकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो जाता है, केवल 'न' बचा रहता है।

शप–इति यह श्नम्, प्रत्यय शप् का अपवाद है।

रुणाद्धि–एकवचन 'रुध्+ति' इस स्थिति में श्नम् हुआ। वह रकारोत्तरवर्ती उकार के आगे मित् होने के कारण हुआ। तब 'झषस्तथोर्धोध'' सूत्र से तकार को धकार तथा धातु के धकार को जश् दकार हुआ और नकार को णकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

श्नसोःइति–श्नः के अकार का हलादि ङित् सार्वधातुक परे रहते 'श्नसोरल्लोपः' सूत्र से लोप होता है। 'रुन्धः' में हलादि ङित् होने से उक्त अकार का लोप होता है।

रुन्धः–लट् प्रथमपुरुष द्विवचन में श्नम् होने पर 'रुन्ध+तस्' इस दशा में अपित् सार्वधातुक होने से तस् के ङित् होने के कारण उसके परे रहते 'श्नसोरल्लोपः' सूत्र से अकार का लोप हुआ। तस् के तकार को झषस्तथोर्धाधः सूत्र से धकार हुआ। 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र से पूर्व धकार का विकल्प से लोप होने पर रूप बनता है। तब णत्व के असिद्ध होने से नकार के स्थान में 'नश्चापदान्तस्य झलि' इस सूत्र से नकार को अनुस्वार और उसे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इस सूत्र से परसवर्ण नकार होता है। परसवर्ण के असिद्ध होने से पुनः णत्व नहीं होता। लोप के अभावपक्ष में पूर्व धकार को जश् दकार होकर रुन्द्धः रूप होता है।

रुन्धन्ति–लट् प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'झि' के झकार को 'अन्त' आदेश होने पर श्नम् के अकार का लोप, अनुस्वार, परसवर्ण आदि कार्य होकर रूप सिद्ध हुआ।

रुणात्सि–लट् के मध्यमपुरुष के एकवचन में श्नम् होने पर धकार को चर् तकार होने पर रूप बना।

रुन्धः, रुन्ध–मध्यमपुरुष के द्विववचन थस् में प्रथमपुरुष के द्विवचन के समान ही रूपसिद्धि होती है। यहाँ थकार का 'झषस्तथोर्घोघः' से धकार आदेश होता है।

रुन्धे, रु ध ते, रुन्धते–लट् आत्मनेपद प्रथम पुरुष के ये रूप हैं। आत्मनेपद के सभी प्रत्यय अपित् हैं, इसलिये ङिद्वत् हो जाने के कारण श्नम् के अकार का लोप हो गया है।

शेष रूप –रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्ध्वे। रुन्धे, रुन्ध्वहे, रुन्ध्महे।

लिट् –रुरोध, रुरुधतुः, रुरुधुः। रुरोधिथ, रुरुधथुः रुरुध। रुरोध, रुरुधिव, रुरुधिम। आ० पद–रुरुधे, रुरुधाते, रुरुधिरे।रुरुधिषे, रुरुधाथे, रुधिध्वे, रुरुधे, रुरुधिवहे, रुरुधिमहे।

तास् में नित्य अनिट् होते हुए भी यह धातु न अजन्त है और न अकारवान्। इसलिये थल में भी यहाँ क्रादि नियम से नित्य इट् होताहै।

रोद्धा–लुट्, के प्रथमपुरुष एकवचन में 'रुध+ ता' इस दशा में 'झपस्तथोर्धोधः' सूत्र से तकार को और धातु के धकार को जश् दकार और उकार को लघूपधगुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

रुन्धि –लोट के मध्यमपुरुष एकवचन में 'हुझल्यो हेर्धिः' से 'हि' को 'धि' हुआ। शेष कार्य 'रुन्धः' के समान ही होते हैं।

रुणधानि–लोट् उत्तमपुरुष एकवचन में 'आडुत्तमस्य पिच्च' इस सूत्र से आट् आगम और वह पित् होता है। इसलिये श्नम् के अकार का लोप नहीं होता।

इसी प्रकार रुणधाव, रुणधाम भी सिद्ध होते हैं।

रुन्धाम्–लोट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन में प्रत्यय की टि को आम्, श्नम् के अकार का लोप, तकार को धकार, पूर्व धकार का 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र से वैकल्पिक लोप। नकार को अनुस्वार और परसवर्ण होने पर रूप सिद्ध हुआ।

रुन्त्स्व–लोट् आ० प० मध्यमपुरुष एकवचन में श्नम् के अकार का लोप ओर धकार को चर् होकर रूप बना।

रुणधै–लोट् आत्मनेपद उत्तमपुरुष एकवचन में आट् के पित् होने से श्नम् के अकार का लोप नहीं हुआ। और प्रत्यय इट् के इकार को पहले एकार फिर ऐकार आदेश, तथा आट् के आकार और ऐकार को वद्धि एकादेश होने पर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार–रुणधावहै रुणधामहै–रूप सिद्ध होते हैं।

अरुणः –लङ्पर प, मध्यमपुरुष एकवचन में सिप् के लोप होने पर झकार को जश दकार और उसे चर् तकार विकल्प से हुआ। दकारपक्ष में 'दश्च' सूत्र से दकार को रु होकर विसर्ग हुआ।

रुत्सीष्ट –आ लिङ् प्रथमपुरुष एकवचन में 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' सूत्र से 'सीयुट्' के कित् होने से गुण नहीं हुआ।

अरुधत्–लुङ् परस्मैपद में इरित् होने के कारण च्लि को 'इरितो वा' से विकल्प से अङ् हुआ।

अरौत्सीत्–लुङ् परस्मैपद में अङ् अभाव पक्ष में सिच् लगकर रूप बना।

अरुद्ध– लुङ् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन में 'झलो झलि' से सिच् का लोप, तकार को धकार और धातु के धकार को जश् दकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

भिदिर बिदारणे 2

व्याख्याः २ भिदिर् (तोड़ना)–अनिट्। इरित्।

लट्–भिनत्ति, भिन्ते। लिट्–बिभेद, बिभिदे। लुङ्–भेत्ता। ऌङ्–भेत्स्यति। भेत्स्यते। लोट्–भिनत्तु, भिन्ताम्। लङ्–अभिनत, अभिन्त।वि० लि–भिन्देत, –भिन्दीत। आ० लि०– भिद्याात्, भित्सीष्ट। लुङ्–अभिदत्, अभैससीत, अभित्त। लङ्–अभेत्सयत्, अभेत्स्यत।

छिदिर द्वैधीकरणे 3

व्याख्याः ३ छिदि (काटना)–अनिट्। उभयदी।

लट्–छिनत्ति, छिन्ते। लिट्–च्छिेद, चिच्छिदे। लुट्–छेत्ता। ऌट्–छेत्स्यति, छेत्स्यते। लोट्–छिनत्तु, छिन्ताम्। लङ्–अच्छिनत्, अच्छिन्त। वि० लि०–छिन्देत्, छिन्दीत। आ० लि०–छिद्यात्, छित्सीष्ट। लुङ्–अच्छिदत्, अछैत्सीत्, अछित्त। ऌङ्–अच्छेत्स्यत्, अच्छेत्स्यत।

उपसर्ग के योग में–

परिच्छिनत्ति–नापता है। उच्छिनत्ति –नाशकरता है।

युजिर् योगे 4

व्याख्याः ४ युजिन (मिला)––अनिट्। इरित्। उभयपदी।

लट्–युनक्ति, युङ्क्ते। लिट्–युयोज, युयुजे। लुट्–योक्ता। लृट्–योक्ष्यति, योक्ष्यते। लोट्–युनक्तु, युङ्क्ताम् लङ्–अयुनक्, अयुङ्क्त। वि० लि०–युजेत्, युजीत। आ० लि०–युज्यात्, युक्षीष्ट। लुङ्–अयुजत्, अयौक्षीत्, अयुक्त। लृङ्–अयोक्ष्यत्, अयोयत।

उपसर्ग के योग में–

प्रयुङ्क्ते –प्रयोग करता है।अनुयुङ्क्ते–प्रश्न करता है।

नियुनक्ति–नियुक्त करता है।उद्युङ्क्ते–उद्योग करता है।

उपयुङ्क्ते–उपयोग करता हे। वियुनक्ति –अलग होता है।

रिचिर् बिरेचने 5

रिणक्ति, रिङ्क्ते। रिरेच। रेक्ता। रेक्ष्यति।। अरिणक्। अरिचत्, अरेक्षीत्, अरिक्त।

व्याख्याः रिचिर् (खाली होना)–अनिट्। इरित् उभयपदी।

रिणक्ति–लट् प्रथम पुरुष एकवचन में विकरण श्नम् होने पर चकार को कुत्व ककार और नकार को णकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

रिङ्क्ते–लट् प्रथम पुरुष एकवचन में 'रिच् ते' इस स्थिति में श्नम् 'श्नसोरल्लोपः' इस से श्नम् के अकार का लोप, नकार को अनुस्वार परसवर्ण चकार को कुत्व ककार होकर रूप सिद्ध हुआ।

रिरेच–लिट् के प्रथम पुरुष के एकवचन णल् में द्वित्व, अभ्यासकार्य अभ्यास के उत्तरखण्ड में इकार को गुण होकर बना।

रेक्ता–लट् प्रथमपुरुष एकवचन में गुण एकार ओर चकार को कुत्व ककार होकर रूप बना।

रेक्ष्यति–लृट् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'रिच्+स्यति' इस स्थिति में इकार का लघूपध गुण और चकार को कुत्वककार होने पर सकार को मूर्धन्य षकार तथा क ष संयोग से क्षकार होकर रूप बना।

शेष रूप–अरिङ्चम्, रिचन्। अरिणक्, अरिङ्क्तम्, अरिङ्क्त। अरिणचम्, अरिचम।

अरिचत्, अरैक्षीत्–लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन में अट्, तिप्, च्लि, को इरित्त्वात् अङ् विकल्प से हुआ तो 'अरिचत्' रूप बना। जब अङ् नहीं हुआ तब च्लि को सिच्, इकार को हलन्तलक्षणा वद्धि, चकार को कुत्व ककार, सकार को मूध्रन्य षकार तथा क ष के संयोग से क्ष होने पर रूप सिद्ध हुआ।

अरिक्त–लुङ् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन में 'झला झलि' से सिच का लोप होने पर चकार को कुत्व ककार होकर रूप सिद्ध हुआ।

उपसर्ग के योग मे।–

अतिरिणक्ति–बढ़ता है।

विचिर् पथग्भावे 6

विनक्ति, विङ्क्ते।

व्याख्याः विचिर् (अलग होना)–अनिट्। इरित्। उभयपदी। इसके रूप रिचिर् के समान बनते हैं।

उपसर्ग के योग से–

विविनक्ति–विवेक करता है।

क्षुदिर सम्पेषणे 7

क्षुणत्ति, क्षुन्ते। क्षुत्ता। अक्षुदत, अक्षौत्सीत्, अक्षुत्त।

व्याख्याः – क्षुदिर (मसल डालना)–अनिट्। इरित्। उभयपदी।

उच्छदिर् दीप्तिवनयोः 8

छणत्ति, छन्ते। चच्छर्द। सेसिचीति वेट्–चच्छदिषे चच्छत्से। छर्दिता। छर्दिष्यति, छर्त्सति। अच्छदत्, अच्छर्दीत। अच्छर्दिष्ट।

व्याख्याः उच्छदिर् (चमकना, जुआ खेलना)–सेट्। इरित्, उदित्। उभयपदी।

चच्छदिषे, चच्छत्से–लिट् आत्मनेपद मध्यमपुरुष एकवचन में द्वित्व, अभ्यासकार्य होने पर 'सेसिचि कृतचतछदतदनतः' सूत्र से इट विकल्प से हुआ। जब इट् हुआ तब सकार को षकार हुआ और जब इट् नहीं हुआ तब दकार को चर् तकार हुआ।

छर्दिष्यति, छत्स्र्यति–लृट् प्रथमपुरुष एकवचन में पूर्व इट् विकल्प होने के कारण दो रूप बने।

अच्छदत्, अच्छर्दीत्–लुङ् परस्मैपद प्रथमपुरुष एकवचन में च्लि को जब अङ् हुआ तब 'अच्छदत्' रूप बना। अङ् के अभावपक्ष में सिच् हुआ तथा ईट्, सिच् का लोप होकर गुण होने पर 'अच्छर्दीत' रूप सिद्ध हुआ।

उतदिर हिंसानादरयोः 9

तणत्ति। तन्ते।

व्याख्याः उतदिर (हिंसा और अनादर करना)–सेट्। उभयपदी।

तन्ते–लट् आत्मनेपद प्रथमपुरुषएकवन में श्रम, श्रम् के अकार का लोप, दकार को चर् तकार और उसका 'झरो झरि सवर्णे', से वैकल्पिक लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

लिट्–ततर्द, ततर्दे लुट्–तर्दिता। लृट्–तर्दिष्यति, तर्दिष्यते। लोट्–तणत्तु, तन्ताम्। लङ्–अतणत्, अतन्त। वि०–लि०–तन्देत, तन्देत। आ० लि० –त ति, र्दिषीष्ट। लुङ–अतदत्, अतर्दीत्, अतर्दिष्ट। लृङ–अतर्दिष्यत्, अतर्दिष्यत।

कृती वेष्टने 10

कृणत्ति।

व्याख्याः कृती (घेरना)–सेट्। ईदित्। परस्मैपदी।

तह हिसि हिंसायाम् 11.12

व्याख्याः तह, हिसि (हिंसा करना)–सेट्। परस्मैपदी।

तणह इम् 7.3.92

तहः श्नमि कृते 'इम' आगमो हलादौ पिति। तणेढि, तण्ढः। ततर्ह। तर्हिता। अतणेट्।

व्याख्याः तणह इति–तह धातु को श्नम् करने पर 'इम्' आगम होता है हलादि पित् प्रत्यय परे होने पर।

तणेढि–लट् प्रथमपुरुष एकवचन में श्नम् करने पर 'तन ह ति' इस स्थिति में 'तणह् इम्' सूत्र से इम् आगम हुआ। मित् होने से वह अन्त्य अच् नकारोत्तरवर्ती अकार के आगे हुआ। तब अकार और उस इकार को गुण एकार हुआ। 'तनेह् ति' इस दशा में हकार को ढकार और तकार को 'झषस्तथोर्धोधः' से धकार तथा उसे ष्टुत्व ढकार होने पर 'ढो ढे लोपः– से पहले ढकार का लोप तथा नकार को णकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

तण्ढः– लट् प्रथमपुरुष द्विवचन में 'तनह तस्' इस दशा में श्नम् के अकार का 'श्नसोरल्लोपः' से लोप, हकार को ढकार, तकार को धकार, पहले ढकार का लोप तथा नकार को णकार होकर रूप बन गया।

लट्–तणेढि, तण्ढः, तंहन्ति। तणेक्षि, तण्ढः, तण्ढ। तणेह्मि, तंह्व, तंह्मः।

अतणेट्–लङ् प्रथमपुरुष एकवचन में श्रम् करने पर इम् आगम, हल्ङ्यादि लोप, ढत्व, जश्त्व और चर्त्व होने पर रूप बना।

शेष रूप–अतण्ढाम्, अतंहन्। अतणेट्, अतण्ढम्, अतण्ढ। अतणहम्, अतंह्व, अतंह्म।

श्नात् नलोपः 6.4.23

श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात्। हिनस्ति। हिंसिता।

व्याख्याः श्नात् नेति–श्नम् से परे नकार का लोप हो।

हिनस्ति–इदित् होने से हिस् धातु को नुम् आगम हुआ। तब लट् के प्रथमपुरुष के एकवचन में श्नम् होने पर 'हिन न् स् ति' इस स्थिति में श्नम से पर नकार का लोपहोने पर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–हिंस्तः, हिंसन्ति। हिनस्सि, हिंस्थः, हिंथ। हिनस्मि, हिंस्वः, हिंस्मः।

लिट्–जिहिंस, जिहिंसतुः, जिहिंसुः। लुट्–हिंसिता। ऌट्–हिंसिष्यति। लोट्–हिनस्तु।

तिप्यनस्तेः 8.2.73

पदान्तस्य सस्य दः स्यात्तिपि न त्वस्तेः। 'ससजुषोरुः' इत्यस्यापवादः। अहिनत-अहिनद्, अस्तिाम्, अहिंसन्।

व्याख्याः तिप्यनस्तेरिति–पदानत सकार को दकार हो तिप् परे रहते परन्तु अस् के सकार को नहीं होता।

ससजुषोरिति– यह सकार की दकार करना 'ससजुषोः रुः' का अपवाद है।

अहिनत्, अहिनद्–लङ् प्रथमपुरुष के एकवचन में श्नम् होने पर सकार को जब रुत्व प्राप्त हुआ। उसको बाधकर 'तिप्यनस्तेः' इस सूत्र से सकार को दकार हुआ। उसकी चर् तकार विकल्प से हुआ और इसलिये दो रूप बने। तिप् के अपक्त तकार का हल्ङ्यादि लोप हो जाता है।

अहिंस्ताम्–लङ् प्रथमपुरुष द्विवचन में श्नम, उसके अकार का लोप होने पर रूप बना।

सिपि धातो रुर्वा 8.2.74

पदान्तस्य धातोः सस्य रुः स्याद् वा। पक्षे 'झलां जशोन्ते' इति जश्त्वम्-अहिनः, अहिनत्, अहिनद्।

व्याख्याः सिपि धातोरिति–पदान्त धातु के सकार को रु हो विकल्प से।

अहिनः लङ् मध्यमपुरुष एकवन में सिप् का हल्ङ् यादि लोप होने पर सकार को 'सिपि घातोः' से रु और उसे विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ।

रू के अभावपक्ष में सकार को 'झलां जशोन्ते' से जश् दकार हुआ तब चर् तकार विकल्प से हुआ। इस प्रकार रूप बना।

शेष रूप–अहिंसन्। अहिनत्–द् अहिंस्तम्, अहिंस्त। अहिनसम्, अहिंस्व, अहिंस्म।

वि० लि०–हिंस्यात्। आ० लि०–हिंस्यात्। लुङ्–अहिंसीत्। ऌङ्–अहिंसिष्यत्।

उन्दी क्लेदने 13

उदनत्ति, उन्तः, उन्दन्ति। उन्दाचकार। औनत्, औन्ताम्, औन्दन्। औनः औनत्। औनदम्

व्याख्याः उन्दी (गीला करना)–सेट्। इदित्। परस्मैपद।

उनत्ति–लट् प्रथमपुरुष एकवचन में श्नम् होने पर 'उ नन्दी ति' इस स्थिति में 'श्नान्नलोपः' सूत्र से नकार का लोप होने पर रूप बना।

उन्तः–लट् प्रथमपुरुष के द्विवचन में रम् होने पर 'झरो झरि सवर्णे' से दकार का विकल्प से लोप होने पर दो रूप बनते हैं।

उन्दांचकार–लिट् में इजादि गुरुमान् होने से आम् होता है और तब 'कृ' आदि का अनुप्रयोग होकर रूप बनते हैं।

लुट्–उन्दिता। लृट्–उन्दिष्यति।

औनत्–लङ् प्रथमपुरुष एकवचन में आट्, वद्धि, श्नम्, से पर नकार का लोप, तिप् का हल्ङ्यादि लोप और दकार को चर् तकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

औन्ताम्–लङ् प्र. पु. द्वि. में श्नम् से पर नकार का लोप, श्नम् के अकार का लोप और दकार का सवर्ण पर झर् लोप होने पर दो रूप बनते हैं। एक में तकार द्वित्व रहेगा और दूसरे में एक।

औनः, औनत्–लङ् सिप् में सिप् का हल्ङ्यादि लोप होने पर दकार को 'दश्च' सूत्र से रु विकल्प होने पर दो रूप बनते हैं।

विधिलिङ्–उन्द्यात्। आ. लि.–उद्यात्। लुङ्–ओन्दीत्। लृङ्–औन्दिष्यत्।

अजू व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गातिषु 14

अनक्ति, अङ्क्त, अजन्ति। आनज। आनजिथ, आनङ्क्थ। अजिता, अङ्क्ता। अङ्ग्धि। अनजानि। आनक्।

व्याख्याः अज–(स्पष्ट होना, साफ होना, इच्छा और जाना)–ऊदित् होने से यह धातु वेट् है।

अनक्ति–लट् प्रथमपुरुष द्विवचन में श्नम्, नकार का लोप, श्नम् के अकार का लोप होने पर 'अन्ज+ तस्' इस दशा में जकार का कुत्व गकारऔर उसे चर् ककार हुआ। तब नकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार और उसे अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' सूत्र से परसवर्ण ङकार होकर रूप बना।

अजन्ति–लट् प्रथमपुरुष एकवचन में श्रम्, नकार का लोप, नकार को अनुस्वार परसवर्ण से अकार होने पर रूप सिद्ध हुआ।

आनंज–लिट् प्रथमपुरुष बहुवचन में द्वित्व, अभ्यासकार्य होने पर 'आ अज् अ' इस दशा में 'तस्मान्नुड् हिलः' सूत्र से नुड् आगम होने से रूप सिद्ध हुआ।

आनजिथ, आनङ्क्थ–लिट् मध्यमपुरुष एकवचन थल् में द्वित्व, अभ्यासकार्य हुआ। ऊदित् होने से थल को 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' सूत्र से विकल्प से इट हुआ। इट् पक्ष् में पहला रूप बना। इट के अभाव में जकार की कुत्व गकार, चर्त्व से ककार ओर नकार को अनुस्वार पर्सवर्ण से ङकार होकर दूसरा रूप सिद्ध हुआ।

अजिता, अङ्क्ता–लुट् प्रथमपुरुष एकवचन में ऊदित्वात् इट् विकल्प से होकर दो रूप बनते हैं। इट् के अभाव में जकार को कुत्व गकार, चर्त्व से ककार और नकार को अनुस्वार परसवर्ण से ङकार होकर दूसरा रूप बना।

लृट् में –अजिष्यति, अङक्ष्यति। लोट्–अनक्त, अङ्क्ताम्, अजन्तु।

अङ्ग्धि–लोट् मध्यमपुरुष एकवचन हि में 'हुझलभ्यो हेर्धिः' सूत्र से हि को धि आदेश हुआ हि के अपित् होने से ङिद्वत् होने के कारण श्रम् के अकार का लोप हुआ। जकार काकुत्व राकार होने पर नकार को अनुस्वार परसवर्ण से ङकार होने पर रूप सिद्ध हुआ।

अनजानि–लोट् उत्तमपुरुष एकवचन में आट् के पित् होने से श्नम् के अकार का लोप नहीं हुआ। धातु के नकार का 'श्नान्नलोपः' से लोप यथा प्राप्त होता है।

आनक्–लङ प्रथमपुरुष एकवचन में आट्, वद्धि, श्रम, धातु के नकार का लोप, तिप् का हल्ङ्यादि लोप होने पर जकार को कुत्व और चर्त्व से ककार होकर रूप बन गया।

अजेः सिचि 7.2.71

अजेः सिचो नित्यमिट् स्यात्। आजीत्।

व्याख्याः अजेरिति–अज् धतु से पर सिच् को इट् नित्य होता है।

ऊदित् होने के कारण विकल्प से प्राप्त इट् का इस सूत्र से नित्य विधान किया गया हे।

आजीत्–लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन में आट्, वद्धि, 'च्लि' उसको सिच्, तिप् के इकार का लोप, उसे ईट्, सिच् को 'अजेः सिचि' से नित्य इट्, सिच का लोप, इट् और ईट् को सवर्ण दीर्घ –इतने कार्य होने पर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप –आजिष्टाम्, आजिषुः। आजीः, आजिष्टम्, आजिष्ट। आजिषम, आजिष्व, आजिष्म। लृङ् –आजिष्यत्, आङ्क्ष्यत्।

उपसर्ग के योग में–

अभ्यनक्ति–मालिस करता है।

व्यनक्ति–प्रकट करता है।

अभ्यङ्ग–मालिस करना, व्यङ्ग प्रकट करना– ये शब्द इन्हीं उपसर्गों के योग में अज् धातु से बने हैं। 'व्यङ्गय' शब्द साहित्य शास्त्र में बहुत प्रचलित और महत्वूपर्ण है।

शुद्ध धातु का प्रयोग आँखों पर अजन सुरमा आदि लगाने अर्थ में प्रयुक्त होता है–सौवीरमनक्ति नेत्रयोः। –सुरमा आँखों पर लगाता है।

तचू संकोचने 15

तनक्ति। तङक्ता, तचिता।

व्याख्याः तचू (संकुचित करना)–ऊदित्, वेट्। परस्मैपदी। इसके रूप प्रायः 'अज्' के जैसे बनते हैं।

लुङ्–अतचत्, अताङ्क्षीत्।

ओ-विजी भयचलनयोः 16

विनक्ति। 'विज इड्' इति ङित्म् विविजिथ। विजिता। अविनक्। अविजीत्।

व्याख्याः ओविजी (डरना और हिलना)– ओदित, ईदित्। इसके रूप सार्वधातुक में श्नम् होने से 'तच्' आदि के समान और आर्धधातुक में तुदादिगण के इस धातु के समान बनते हैं।

शिष्लृ विशेषणे 17

शिनष्टि, शिंष्टः, शिंषन्ति। शिनक्षि। शिशेष। शिशेषिथ। शेष्टा। शेक्ष्यति। हेर्धिः-शिण्ढि। शिनषाणि। अशिनट्। शिंष्यात्ष शिष्यात्। अशिष्ज्ञत्।

व्याख्याः शिष्लृ (विशेषता बताना)अनिट्। लृदित् होने से लुङ् में च्लि को अङ् होता है।

शिनष्टि–लट् प्रथमपुरुष एकवचन में श्नम् और तकार को ष्टुत्व टकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

शिंष्टः–लट् प्रथमपुरुष द्विवचन में अपित् सार्वधातुक के ङिद्वत् होने से श्नम् के अकार का लोप होने पर नकार को अनुस्वार और तकार को ष्टुत्व टकार होकर रूप बना।

शिनक्षि –लट्, मध्यमपुरुष में श्नम्, षकार को 'षढोः कः सि' से ककार और सिप् के सकार को मूर्धन्य षकार तथा क ष के संयोग से क्ष बनकर रूप सिद्ध हुआ।

लिट्–शिशेष, शिशिषतुः, शिशिषुः। शिशेषिथ, शिशिषथुः, शिशिष। शिशेष, शिशिषिव, शिशिषिम।

लोट्– शिनष्टु, शिंष्टाम्, शिंषन्तु।

शिण्ढि–लोट् मध्यमपुरुष एकवचन में हि के अपित् होने से श्नम् के अकार, का लोप हुआ। 'हि' को 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'धि' आदेश, षकार को जश् डकार धकार को ष्टुत्व ढकार, डकार का सवर्ण झर् लोप और नकार को अनुस्वार

पर सवर्ण से णकार होकर रूप बना।

शिनषाणि– लोट् उत्तमपुरुष एकवचन में आट् के पित् होने से श्रम् के अकार का लोप नहीं हुआ। 'आनि' के नकार को णत्व हुआ।

अशिनट्–लङ् प्रथमपुरुष एकवचन में अट्, तिप् का हल्ङ्यादि लोप होने पर धकार को जश् डकार और उसे चर् टकार विकल्प से होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–अशिंष्टाम्, अशिंषन्। अशिनट्–ड्, अशिंष्टम्, अशिंष्ट। अशिनषम्, अशिंष्व, अशिंष्म।

शिंष्यात्–वि.लि. प्रथमपुरुष एकवचन में यासुट् के ङित् होने से श्नम् के अकार का लोप होने पर नकार को अनुस्वार हुआ।

शिष्यात्– आ. लि. प्रथमपुरुष एकवचन में आर्धधातुक होने से श्नम् नहीं हुआ।

अशिषत्–लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन में अट्, तिप्, च्लि, च्लि, को लदित होने से 'पुषादिद्युतादिलदितः परस्मैपदेषु' से अङ् होने से रूप सिद्ध हुआ।

एवं पिष्लृ संचूर्णने 18

व्याख्या: पिष्लृ (पीसना)–अनिट्। लदित। परस्मैपदी। इसके रूप शिष् के समान बनते हैं।

भजो आमर्दने 19

श्नान्नलोपः भनक्ति। बभजिथ, बभङ्क्थ। भङ्क्ता। भङ्ग्धि। अभाङ्क्षीत्।

व्याख्या: भजो (तोड़ना)–अनिट्। ओदित् होने से निष्ठा में भग्नः, भग्न वान् तकार को नकार होता है। इसके नकार को श्नम् से परे लोप हो जाता है।

बभजिथ, बभङ्क्थ– लिट् मध्यमपुरुष एकवचन थल् में द्वित्व और अभ्यासकार्य होने पर तास् में नित्य अनिट् होते हुए अकारवान् होने से भारद्वाज नियम से विकल्प से इट् हुआ। इट्पक्ष में पहला रूप बना। इट् के अभाव में जकार को कुत्व और चर्त्व से ककार, और नकार को अनुस्वार परसवर्ण से ङकार होकर दूसरा रूप बना।

लुट्–भङ्क्ता। लृट–भङ्क्षयति। लोट्–भनक्तु, भङ्क्ताम्, भजन्तु।

भङ्ग्धि–लोट मध्यमपुरुष एकवचन में हि के अपित् होने से ङिद्वत् होने के कारण श्नम् के अकार का लोप हुआ। 'हि' को 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'धि' आदेश, जकार को कुत्व गकार और नकार को अनुस्वार परसवर्ण ङकार होकर रूप बना।

शेष रूप–भङ्क्तत, भङ्क्त। भनजानि, भनजाव, भनजाम। लङ्–अभनक् वि० लि०– भज्यात्। आ० लि०–भज्यात्।

अभाङ्क्षीत्–लुङ् प्रथमपुरुष एकवचन में अट, तिप, च्लि, विच, ईट, हलन्तलक्षणा वद्धि, जकार को कुत्व, चर्त्व ककार, नकार को अनुस्वार परसवर्ण से ङकार, सकार को षकार, क ष के संयोग से क्ष होने पर रूप बना।

शेष रूप–अभांङ्क्ताम्, अभाङ्क्षुः। अभाङ्क्षीः, अभाङ्क्तम्, अभाङ्क्त। अभाङ्क्षम्, अभाङ्क्ष्व, अभाङ्क्ष्म। लृङ–अभङ्क्ष्यत्।

उपसर्ग के योग में –विभनक्ति बाँटना है।

भुज पालनाभ्यवहारयोः 2०

भुनक्ति। भोक्ता। भोक्षयति। अभुनक्।

व्याख्या: भुज् (पालन करना) और खाना– अनिट्।

पालन करने अर्थ में परस्मैपदी ओर खाने में आत्मनेपदी है।

भुनक्ति–लट् प्रथमपुरुष एकवचन में श्नम्, जकार को कुत्व और चर्त्व होकर ककार हुआ।

शेष रूप–भूङ्क्तः, भुजन्ति। भुनक्षि, भुङ्क्थः, भुङ्क्थ। भुनज्मि, भुज्वः, भंज्मः। लिट्–बुभोज।

भोक्ता –लुट् प्रथमपुरुष एकवचन में लघूपधगुण, जकारको कुत्व और चर्त्व के द्वारा ककार होकर रूप बना।

भोक्ष्यति– लुट् प्रथमपुरुष एकवचन में लघूपधगुण, जकार को कुत्व और चर्त्व के द्वारा ककार,स्य के सकार को मूर्धन्य षकार और क ष के संयोग से क्ष होकर रूप सिद्ध हुआ।

अभुनक्–लङ् प्रथमपुरुष एकवचन में अट्, श्नम, तिप् का हल् ङ्यादि लोप, जकार को कुत्व गकार और अवसान में चर् ककार विकल्प से होकर रूप बना।

शेष रूप–अभुङ्क्ताम्, अभुजन्। अभुनक्–ग्, अभुङ्क्तम्, अभुङ्क्त अभुजम्, अभुज्व, अभुज्म।

वि० लि०–भुज्यात्। आ० लि०– भुज्यात्। लुङ्–अभोक्षीत्। लृङ् अभोक्ष्यत्।

भुजोनवने 1.3.66

तङानौ स्तः। ओदनं भुङक्ते। अनवने किम्-महीं भुनक्ति।

व्याख्याः भुज इति–भुज् धातु से आत्मनेपद के प्रत्यय आते हैं पालना करना अर्थ में भिन्न अर्थ में अर्थात् खाने अर्थ में

ओदनं भुङक्ते–यहाँ 'भुज' धातु का अर्थ भोजन करना है पालन करना नहीं। इसलिये आत्मनेपद का प्रयोग हुआ।

आत्मनेपद के शेष रूप– लिट्–वुभुजे। लुट्–भोक्ता । लृट्–भोक्ष्यते। लोट्–भुङ्क्ताम्, भुजाताम्, भुजताम्। भुङ्क्ष्व, भुजाथाम्, भुङ्ग्ध्वम्।अभुङ्क्थाः,अभुजाथाम, अभुङ्ग्ध्वम्। अभुजि, अभुज्वहि, अभुजमहि। वि० लि०–भुजीत। आ० लि०–भुक्षीष्ट। लुङ्– अभुक्त, अभुक्षाताम्, अभुक्षत। अभुक्थाः, अभुक्षाथाम,अभुग्ध्वम्। अभुक्षि, अभुक्ष्वहि, अभुक्ष्महि। लृङ् –अभीक्ष्यत।

अनवने इति–'पालन से भिन्न अर्थ में आत्मनेपद होता है।' ऐसा क्यों कहा? उसका समाधान किया है। महीं भुनक्ति–पथ्वी का पालन करता है। यहाँ पालन अर्थ होने से आत्मनेपद नहीं हुआ।

ञिइन्धी दीप्तौ 21

इन्धे, इन्धाते, इन्धते। इन्त्से। इन्ध्वे। इन्धाचक्रे। इन्धिता। इन्धाम्, इन्धाताम्, इनधै। ऐन्ध। ऐन्धाताम्। ऐन्धाः।

व्याख्याः इन्धी (चमकना)–सेट्। ञिदित्। ईदित्। आत्मनेपदी।

इन्धे–लट् प्रथमपुरुष एकवचन में श्नम् धातु के नकार का लोप, अपित् सार्वधातुक होने से त परे रहते श्नम् के अकार का लोप त के तकार को 'झष स्तथोर्धधः' से धकार, पूर्व धकार का सवर्ण झर् लोप रूप सिद्ध हुआ। लोप के अभाव पक्ष में पूर्व धकार को जश् दकार होकर 'इन्द्धे' रूप बना।

इन्धाचक्रे–इजादि गुरुमान् होने स इन्ध धातु से लिट् में आत् आता हे। तब 'कृ' के अनुप्रयोग से रूप सिद्ध हुआ। इन्धाम्–लोट् प्रथमपुरुष एक वचन में श्नम्, धातु के नकार का लोप, श्नम् के अकार का लोप , तकार को धकार, सवर्ण झर् लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

इनधै–लोट् उत्तमपुरुष एकवचन में श्नम्, धातु के नकार का लोप आट्, वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

ऍन्ध–लङ् प्रथमपुरुष एकवचन में आट्, वद्धि श्नम्, धातु के नकार का लो, श्नम् के अकार का लोप, सवर्ण झर् का लोप होने पर रूप बना।

ऐन्धाः–लङ् मध्यमपुरुष एकवचन में आट्, वद्धि श्नम्, धातु के नकार का लोप, श्नम के अकार का लोप, थकार को धकार, पूर्वधकार का सवर्ण झर का लोप होकर रूप बना।

वि० लि० –इन्धीत। आ० लि० –इन्धिषीष्ट। लुङ्–ऐन्धिष्ट। लृङ्–ऐन्धिष्यत।

विद विचारणे 22

विन्ते। वेत्ता।। इति रुधादयः।।

व्याख्याः विद् (विचार करना)–आत्मनेपदी। अनिट्

विन्ते—लट् प्रथमपुरुष एकवचन में श्नम् के अकार का लोप, दकार का सवर्ण झर् लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप—विन्दाते, विन्दते, विन्दते। विन्त्से, विन्दाथे, विन्द्ध्वे। विन्दे, विन्द्वहे, विन्द्महे, लिट्—विविदे।

वेत्ता—लुट् प्रथमपुरुष एकवचन में लधूपध गुण और दकार को चर् तकार होकर रूप बना।

लृट्—वेत्स्यते। लोट्—विन्ताम्। लङ् अविन्त। वि० लि०—विन्दीत् आ० लि०— वित्सीष्ट। लुङ्—अवित्त। लृङ् अवेत्स्यत।

(रूधादिगण समाप्त)

अथ तनादयः।

तनु विस्तारे 1

व्याख्याः तनु (फैलाना)। उभयपदी, उदित जिसका फल – है निष्ठा में इट् का निषेध।

तनादिकृभ्य उः ३.१.७६

शपोपवादः। तनोति, तनुते। ततान, तेन; तनितासि, तनितासे। तनिष्यति, तनिष्यते। तनोतु, तनुताम्। अतनोत्, अतनुत। तनुयात्, तन्वीत। तन्यात्, तनिषीष्ट। अतानीत्, अतनीत्।

व्याख्याः तनादीति– तन् आदि और कृ धातु से उ प्रत्यय हो

शप इति– यह शप् का अपवाद है।

तनोति– लट् प्रथमपुरुष एकवचन में 'तन् + ति' इस दशा में 'तनादिकृम्य उः' इस सूत्र से उ विकरण हुआ। उसको पित् तिप् परे रहते सार्वधातुक गुण होने पर रूप सिद्ध हुआ।

तुनते– लट् आत्मनेपद प्रथम पुरुष एकवचन में त के अपित् सार्वधातुक होन से ङिद्वत् हो जाने के कारण उ प्रत्यय को गुण नहीं हुआ।

शेष रूप– परस्मैद–तनोति, तनुतः तन्वन्ति। तनोषि, तनुथः, तनुथ। तनोमि, तनुवः, तनुमः। आत्मनेपद–तनुते, तन्वाते, तन्वते। तनुषे, तन्वाथे, तनुध्वे। तन्वे, तनुवहे, तनुमहे।

ततान– लिट् परस्मैपद प्रथमपुरुष एकवचन में द्वित्व, अभ्यास–कार्य और उपधावद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप– तेनतुः, तेनुः। तेनिथ, तेनथुः, तेन। ततन, तेनिव, तेनिम। कित् लिट् में 'अत एक हल्मध्ये–' इस सूत्र से एत्व और अभ्यास का लोप हुआ।

तेने– लिट् आत्मनेपद प्रथमपुरुष एकवचन में त के अपितु सार्वधातुक होन से ङिद्वत् हो जाने के कारण एत्व और अभ्यास का लोप हुआ।

शेष रूप– तेनाते, तेनिरे। तेनिषे, तेनाथे, तेनिध्वे। तेने, तेनिवहे, तेनिमहे।

तनादिभ्यस्तथासोः 2.4.79

तनादेः सिचो वा लुक् स्यात् त-थासोः। अतत, अतनिष्ट। अतथाः, अतनिष्टाः। अतनिष्यत्, अतनिष्यत।

व्याख्याः तन् आदि से पर सिच् का विकल्प से लोप होता है त और थास् परे रहते।

अतत – लुङ् आत्मनेपद प्रथमपुरूष एकवचन में 'तनादिभ्यः–' सूत्र से सिच् का लोप हाने पर 'अनुदात्तोपदेश–' इस सूत्र से नकार का लोप होकर रूप बना। जहाँ सिच् का लोप नहीं हुआ, वहाँ उसे इट् होकर 'अतनिष्ट' रूप बना।

अतथाः, अतनिष्ठाः–लुङ् आत्मनेपद प्रथमपुरूष एकवचन थास् में सिच् लोप होकर अनुनासिक लोप होने पर पहला रूप बना और सिच् के लोप के अभाव में दूसरा रूप।

षेणु दाने ।।२।। सनोति, सुनते

व्याख्याः सन् (दान देना) – सेट्। उभयपदी। आदि ष् को स्। लट् लकार में परस्मैपद् में उ को गुण होकर सनोति रूप बना। आत्मनेपद में सनुते।

ये विभाषा 6.4.43

जन-सन-खनामात्वं वा यादौ किति। सायात्, सन्यात्। असानात्

व्याख्या: जन्, सन् और खन् धातुओं को आत्व विकल्प से हो यकारादि कित् प्रत्यय परे रहते।

अलोन्त्य–परिभाषा के अनुसार आकार अन्त्य नकार को होता है।

सायात्, सन्यात्। आ.लि. परस्मैपद प्रथमपुरूष एकवचन में यासुट् के कित् होने में 'ये विभाषा' सूत्र से नकार को विकल्प से आकार होकर उक्त दो रूप बने।

असानीत्, असनीत्–लुङ् परस्मै० प्र० १ में 'अतो हलादेर्लघोः' सूत्र से वैकल्पिक वद्धि होने से दो रूप बने।

जन-सन-खनां सञ्झलोः 6.4.42

एषामाकारोन्तादेशः स्यात् सनि झलादौ क्ङिति। असात असनिष्ट। असाथाः, असनिष्ठाः।

व्याख्या: जन्, सन् और खन् धातुओं को आकार अन्तादेश हो सन् और झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते।

असात, असनिष्ट–लुङ् आत्मनेपद प्रथमपुरूष एकवचन में 'तनादिभ्यस्तथासोः' सूत्र से सिच् का विकल्प से लोप हुआ। लोप पक्ष में झलादि ङित् प्रत्यय त के परे होने के कारण 'जनसन–' सूत्र से नकार को आकार होकर पहला रूप बना। लोप के अभाव में सिच् को इट् आगम हुआ, तब झलादि न होने से आत्व नहीं हुआ। इस प्रकार दूसरा रूप सिद्ध हुआ।

असाथाः, असनिष्ठाः–लुङ् थास् में पूर्ववत् सिच्–लोपपक्ष में आत्व हुआ और अभावपक्ष में सिच् को इट्

शेष रूप–असनिषाताम्, असनिषत। असनिषाथाम्, असनिढ्वम्। असनिषि, असनिष्वहि, असनिष्महि।

क्षणु हिंसायाम् 2

क्षणोति, क्षणुते। ह्म्यन्तेति न वद्धिः- अक्षणीत् अक्षत, अक्षणिष्ट। अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः।

व्याख्या: सेट्। उदित्। उभयपदी।

ह्म्यन्तेति–लुङ् में 'वदव्रज–' से प्राप्त हलन्तलक्षणा वद्धि का 'नेटि' सूत्र से निषेध हुआ। पुनः 'अतो हलादेर्लघोः' से वैकल्पिक वद्धि प्राप्त हुई। उसका 'ह्म्यन्तक्षण–' इत्यादि सूत्र से निषेध हो गया।

अक्षणीत्–पूर्वोक्त प्रकार से रूप की सिद्धि होती है।

अक्षत–लुङ् आत्मनेपद प्रथमपुरूष एकवचन में 'तनादिभ्यस्तथासोः' सूत्र से सिच् का लोप होने पर 'अनुदात्तोपदेश–' इत्यादि सूत्र से अनुनासिक णकार का भी लोप हो गया।

अक्षथाः–लुङ् मध्यमपुरूष एकवचन थास् में 'अक्षत' के समान कार्य हुए।

क्षिणु च 4

उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा-क्षेणोति। क्षिणोति। क्षेणिता। अक्षेणीत्, अक्षित, अक्षेणिष्ट।

व्याख्या: सेट्। उदित्। उभयपदी।

उ प्रत्यये इति–उ प्रत्यय परे रहते लघूपध गुण विकल्प से होता है।

तात्पर्य यह है कि एक परिभाषा है 'संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः' अर्थात् जिस विधि में संज्ञा निमित्त हो वह अनित्य होती है।

'पुगन्तलघूपधस्य च' यह विधि भी उपधासंज्ञा–निमित्तक होने से संज्ञा–पूर्वक है। अतः अनित्य होने से गुण नहीं होता। परन्तु संज्ञापूर्वक विधि की अनित्यता भाष्य में नहीं कहीं गई, इसलिये भाष्यकार के मत से उक्त लघूपध गुण हो जाता है। इस प्रकार लघूपध गुण विकल्प से होता है।

उ–प्रत्यय–निमित्तक लघूपध गुण जब हुआ तब 'क्षेणोति' और जब गुण न हुआ तब 'क्षिणोति' रूप बना।

तणु अदने 5

तर्णोति, तणोति। तर्णुते, तणुते।

व्याख्याः सेट्। उदित्। उभयपदी।

तर्णोति, तणोति—जब भाष्यकार के मत से लघूपध गुण हुआ तब पहला रूप बना और जब संज्ञापूर्वक विधि के अनित्य होने से गुण नहीं हुआ तब दूसरा रूप बना।

डुकृञ् करणे 6

करोति।

व्याख्याः डुकृञ् (करना) – अनिट्, ञित् उभयपदीं डित्। ड्वित् होने से 'ड्वितः क्त्रिः ३।३।८८' इस सूत्र से 'क्त्रि' प्रत्यय होकर 'कत्रिमम्' रूप बनता है।

करोति—लट् प्रथमपुरूष एकवचन में उ—प्रत्यय—निमित्तक गुण ऋकार को अर् और उ प्रत्यय को तिप्—निमित्तक ओ गुण होकर रूप बना।

अत उत् सार्वधातुके 6. 4. 110

उप्रत्ययान्तकञेकारस्य उत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति। कुरुतः।

व्याख्याः उ—प्रत्ययान्त कञ् धातु के अकार को उकार होता है सार्वधातुक कित् ङित् प्रत्यय परे रहते।

कुरुतः—लट् प्र० पु० द्विवचन में ऋकार को उ—प्रत्यय—निमित्तक गुण अर् हुआ। तब 'कर् उ तस्' इस दशा में अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् होने के कारण 'अत उत्—' इत्यादि सूत्र से अकार को उकार होकर रूप सिद्ध हो गया।

तस् के ङिद्वत् होने से उ प्रत्यय को गुण नहीं हुआ।

न भ-कुर्छुराम् 8. 2. 79

भस्य कुर्छुरोरुपधाया न दीर्घः। कुर्वन्ति।

व्याख्याः भ—संज्ञक तथा कुर् और छुर् की उपधा को दीर्घ नहीं होता।

कुर्वन्ति—लट् प्र० पु० बहु० में 'क+अन्ति' इस दशा में विकरण उ प्रत्यय हुआ। तब ऋकार को गुण अर् हुआ। इसके बाद 'अत उत्—' सूत्र से अकार को उकार आदेश हुआ। 'हलि च' सूत्र से उकार को दीर्घ प्राप्त हुआ। उसका 'न भकुर्—' सूत्र से निषेध हो गया।

म० पु०—करोषि, कुरूथः, कुरूथ। उ० पु०—करोमि।

नित्यं करोतेः 6. 4108

करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो म्वोः परयोः। कुर्वः। कुर्मः। कुरूते। चकार, चक्र। कर्ता। करिष्यति, करिष्यते। करोतु। कुरूताम्।

व्याख्याः क धातु से पर प्रत्यय उकार का नित्य लोप हो मकार और वकार परे रहते।

कुर्वः, कुर्मः—लट् उ० पु० द्वि बहु० वस् और मस् में उ—प्रत्यय—निमित्तक गुण और अकार को 'अत उत्—' से उकार होने पर 'नित्यं करोतेः' से उ प्रत्यय का लोप हुआ।

लट् आ० प०—कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते। कुरुषे, कुर्वार्थ, कुरुध्वे। कुर्वे।

कुर्वहे, कुर्महे। लिट् परस्मै० चकार, चक्रतुः, चक्रुः। चकर्थ, चक्रथुः, चक्र। चकार, चकव, चकम। आ० प० चक्रे, चक्राते, चक्रिरे।

करिष्यति, करिष्यते—लट् में 'ऋद्धनोः स्ये' सूत्र से वलादि आर्धधातुक 'स्य' को इट् आगम हुआ।

लोट्–करोतु–कुरूतात्, कुरूताम्, अकुर्वन्। लङ्–अकरोत् 'अकुरुतांम्' अकुर्वन् अकरोः, अकुरूतम्, अकुरूत। अकरवम, अकुर्व, अकुर्म। आ० प०–अकुरूत, अकुर्वाताम्, अकुर्वत। अकुरूथाः, अकुर्वाथाम्, अकुरूध्वम्। अकुर्वि, अकुर्वहि, अकुर्महि।

ये च 6. 4. 109

कञ उलोपो यादौ प्रत्यये परे। कुर्यात्। कुर्वीत। क्रियात्, कषीष्ट। अकार्षीत्, अकत। अकरिष्यत्, अकरिष्यत।

व्याख्याः कञ् से पर उ प्रत्यय का लोप हो यकारादि प्रत्यय परे रहते।

कुर्यात्–वि० लि० परस्मै० प्र० ए. व. में विकरण उ–प्रत्यय–निमित्तक गुण अर् ऋकार को हुआ और अकार को 'अत उत्–' सूत्र से उकार, तब यकारादि प्रत्यय यास् परे होने के कारण 'उ', प्रत्यय का 'ये च' सूत्र से लोप होकर रूप बना।

यहाँ भी 'हलि च' सूत्र से प्राप्त दीर्घ का 'न भ–कुर्–छुराम्' सूत्र से निषेध होता है।

शेष रूप–कुर्याताम्, कुर्युः। कुर्याः, कुर्यातम्, कुर्यात। कुर्याम्, कुर्याव, कुर्याम। आ० प०–कुर्वीत, कुर्वीयाताम्, कुंर्वीरन्। कुर्वीथाः, कुर्वीयाथाम्, कुर्वीध्वम्। कुर्वीय, कुर्वीवहि, कुर्वीमहि।

क्रियात्–आ० लि० परस्मै० प्र० पु० १ में 'रिङ् श–यग्–लिङ्क्षु' सूत्र से ऋकार को रिङ होकर रूप सिद्ध हुआ।

कषीष्ट –आ० लि० आ० प० प्र० पु० ए व में 'उश्च' सूत्र से 'सीयुट्' के कित होने से ऋकार को गुण नहीं हुआ।

अकार्षीत्–लुङ् परस्मै० प्र० पु० ए. व. में अट्, च्लि, सिच्, तिप् के इकार का लोप, और उसे ईट् आगम 'सिचि वद्धिः परस्मैपदेषु' से ऋकार को आर् वद्धि, सकार को मूर्धन्य षकार होकर रूप बना।

शेष रूप–अकार्ष्टाम्, अकार्षुः। अकार्षीः, अकार्ष्टम्। अकार्ष्ट। अकार्षम्, अकार्ष्व, अकार्ष्म।

अकत–लुङ् आ० प० प्र० एकवचन में 'ह्रस्वादङ्गात्' सूत्र से सिच् का लोप होकर रूप बना।

शेष रूप–अकषाताम्, अकषत। अकथाः, अकषाथाम्, अकध्वम्। अकषि, अकष्वहि, अकष्महि।

सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे 6. 1. 137

समवाये च 6.1.138

सम्परिपूर्वभ्य करोतेः सुट् स्याद् भूषणे संघाते चार्थे।

संस्करोति = अलंकरोतीत्यर्थः। संस्कुर्वन्ति = संघीभवन्तीत्यर्थः।

सम्पूर्वस्य क्वचिद् अभूषणेपि सुट् –"संस्कत भक्षाः" इति ज्ञापकात्।

व्याख्याः सम् और परि उपसर्गपूर्वक क धातु को सुट् आगम हो भूषण–सजाना और समूह अर्थ में।

संस्करोति (सजाता है)–यहाँ 'सजाना' अर्थ होने के कारण सम्पूर्वक क धातु को सुट् आगम हुआ।

संस्कर्वन्ति (इकट्ठे होते हैं)–यहाँ संघ अर्थ होने के कारण सम्पूर्वक क धातु को सुट् आगम हुआ।

सम्पूर्वभ्येत–सम्पूर्वक क धातु को कहीं सजाने से भिन्न अर्थ में भी सुट् आगम होता है, 'संस्कतं भक्षाः ४।२।१६।।' इस ज्ञापक से। उपर्युक्त ज्ञापक में सजाना अर्थ नहीं, संस्कार करना अर्थ है, पर सुट् किया गया है। इसलिये 'अन्नं संस्करोति' में भी सुट् हो जाता है।

उपात्प्रतियत्न-वैकत-वाक्याध्याहारेषु च 6. 1. 139

उपात् कञः सुट् स्यादेष्वर्थेषु चात् प्रागुक्तयोरर्थयोः।

प्रतियत्नो = गुणाधानम्। विकतमेव वैकतम् = विकारः। वाक्याध्याहारः = आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम्। उपस्कता कन्या। उपस्कता ब्राह्माणाः। एधोदकस्योपस्कुरूते।

उपस्कतं भुङ्क्ते। उपस्कतं ब्रूते।

व्याख्याः उप उपसर्ग से पर कञ् को सुट् आगम हो प्रतियत्न, विकार और वाक्याध्याहार अर्थों में भी।

चाद् इति–चकार (भी) कहने से पहले कहे गये 'सजाना' और 'इकट्ठा होना' अर्थ में भी उप से पर कञ् को सुट् से आगम होता है।

ऊपर ये अर्थ कहे गये हैं–१ प्रतियत्न–गुण–रंग ग्रहण करना। २ वैकत–विकार। ३ वाक्याध्याहार–वाक्य में जिसकी आकाङ्क्षा हो उस एक देश को पूरा करना।

उपस्कता कन्या (कन्या सजाई)–यहाँ सजाना अर्थ होने से उप से पर क को सुट् आगम हुआ।

उपस्कता ब्राह्माणाः (ब्राह्मण इकट्ठे हुए)–यहाँ संघ अर्थ होने से उप से पर क को सुट् आगम हुआ।

एधो दकस्योपस्कुरूते (लकड़ी जल में रङ्ग पैदा करती है)–यहाँ गुण का प्रधान अर्थ होने से उप से पर क का सुट् आगम हुआ।

उपस्कतं भुङक्ते (विकत चीज को खाता है)–यहाँ विकार अर्थ होने से उप से पर क को सुट् आगम हुआ।

उपस्कतं ब्रूते (वाक्य का अध्याहार करते हुए बोलता है)–यहाँ वाक्याध्याहार अर्थ होने से उप से पर 'क' को सुट् हुआ।

वनु याचने 7

वनुते। ववने।

व्याख्याः सेट्। उदित्। आत्मनेपदी।

ववने–लिट् प्र० पु० ए० व० में द्वित्व और अभ्यासकार्य हुआ। 'अत एकहलमध्येनादेशादेर्लिटि' सूत्र से प्राप्त एत्व, अभ्यासलोप का 'न शसददवादिगुणानाम्' से निषेध हो गया।

मनु अवबोधने 8

मनुते। मेने। मनिता। मनिष्यते। मनुताम्। अमनुत। मन्वीत। मनिषीष्ट। अमनिष्ट। अमत। अमनिष्यत।। इति तनादयः।।

व्याख्याः सेट्। उदित्। आत्मनेपदी।

लट्–मनुते, मन्वाते, मन्वते। मनुषे, मन्वाथे, मनुध्वे। मन्वे, मन्वहे, मन्महे।

अमत–लुङ् प्र० पु० एकवचन में 'तनादिभ्यस्तथासोः' से सिच् का लोप होने पर 'अनुदात्तोपदेश–' सूत्र से अनुनासिक नकार को लोप होकर रूप बना। सिच् के लोप के अभाव में सिच् को इट् होकर 'अमनिष्ट' रूप बना।

अथ क्र्यादयः।

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये 1

व्याख्याः अनिट्। ड्वित्। ञित् उभयपदी।

क्र्यादिभ्यः श्ना 3. 1. 81

क्रीणाति। ई हल्यघोः—क्रीणीतः। श्याभ्यस्तयोरातः—क्रीणन्ति। क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ। क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः। क्रीणीते, क्रीणीते, क्रीणते। क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे। क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे।

चिक्राय, चिक्रियतुः, चिक्रियुः। चिक्रेथ, चिक्रयिथ। चिक्रिये। क्रेता। क्रेष्यति, क्रेष्यते। क्रीणातु, क्रीणीतात्। क्रीणीताम्। अक्रीणात्, अक्रीणीत। क्रीणीयात्, क्रीणीत। क्रीयात्, क्रेषीष्ट। अक्रैषीत्, अक्रेष्ट। अक्रेष्यत्, अक्रेष्यत।

व्याख्याः क्री आदि धातुओं से श्ना प्रत्यय हो।

शप इति—श्ना शप् का अपवाद है। शकार इसका इत् है।

क्रीणाति—लट् परस्मै० प्र० पु० ए. व. में श्ना विकरण हुआ। तब णत्व होकर रूप सिद्ध हुआ।

क्रीणीतः—लट् तस् में श्ना के आकार को 'ई हल्यघोः' सूत्र से ईकार होकर रूप बना।

क्रीणन्ति—लट् अन्ति में श्ना के आकार को 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इस सूत्र से लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

क्रीणीथः, क्रीणीथ, क्रीणीवः, क्रणीमः—थस्, थ, वस्, मस् के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् हो जाने के कारण 'ई हल्यघोः' से श्ना के आकार को ईकार हुआ।

क्रीणीत—लट् आ० प० प्र० पु० ए. व. त के अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् हो जाने के कारण 'ई हल्यघोः' से श्ना के आकार को ईकार होकर रूप बना। आत्मनेपद के सभी हलादि प्रत्ययों में इसी प्रकार आकार को ईकार होता है।

क्रीणाते—लट् आ० प० प्र० पु० द्वि. व. आताम् में अजादि प्रत्यय परे होने से 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आकार का लोप होकर रूप बना।

क्रीणते—लट् आ० प० प्र० पु० बहु० में झ को 'अत्' आदेश और टि को एकार होने पर आकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार अजादि प्रत्यय पर रहते श्ना के आकार का लोप अन्यत्र भी होता है।

चिक्राय—लट् परस्मै० प्र० पु० ए. व. णल् में द्वित्व, अभ्यासकार्य और अभ्यास के उत्तरखण्ड के ईकार को 'अचो ञ्णिति' से वद्धि ऐ और आय् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

चिक्रियतुः—लिट् परस्मै० प्र० पु० द्विवचन अतुस् के धातु के अन्त्य ईकार से कित होने के कारण 'असंयोगात् लिट् कित् से कित् होने से गुण का निषेध हो जाता है। तब 'अचि श्नु—धातुभ्रुवां य्वोरियुङुवङौ' से 'ई'कार को इयङ् आदेश होकर रूप बना।

इसी प्रकार चिक्रियुः तथा चिक्रिये, चिक्रियाते—इन आत्मनेपद के रूपों में भी इयङ् होता है।

क्रीणीतात्—लोट् में तातङ् के ङित् होने से श्ना के आकार को 'ई हल्यघोः' से ईकार हो गया।

लोट के रूप परस्मै०—क्रीणातु, क्रीणीताम्, क्रीणन्तु। क्रीणीहि, क्रीणीतम्, क्रीणीत। क्रीणानि, क्रीणाव, क्रीणाम। आ०

प०–क्रीणीताम्, क्रीणाताम्, क्रीणताम्। क्रीणीष्व, क्रीणीथाम्, क्रीणीध्वम्। क्रीणै, क्रीणावहै, क्रीणामहै।

लङ परस्मै०–अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणन्। अक्रीणाः, अक्रीणीतम्, अक्रीणीत। अक्रीणाम्, अक्रीणीव, अक्रीणीम। आ० प० अक्रीणीत, अक्रीणाताम्, अक्रीणत। अक्रीणीथाः, अक्रीणाथाम्, अक्रीणीध्वम। अक्रीणे, अक्रीणीवहि, अक्रीणीमहि।

विधिलिङ् परस्मै०–क्रीणीयात्, क्रीणीयाताम्, क्रीणीयुः। क्रीणीयाः, क्रीणीयातम्, क्रीणीयात। क्रीणीयाम्, क्रीणीयाव, क्रीणीयाम। आ० प० क्रीणीत, क्रीणीयाताम्, क्रीणीरन्। क्रीणीथाः, क्रीणीयाथाम्, क्रीणीध्वम्। क्रीणीय, क्रीणीवहि, क्रीणीमहि।

यहाँ आ० प० में 'ई' सीयुट् का है और 'श्ना' के आकार का 'श्नाभ्यस्तयोरातः' सूत्र से लोप हुआ है। परस्मै० में यासुट् के ङित् होने से श्ना के आकार को 'ई हल्यघोः' से ईकार हुआ।

अक्रैषीत्–लुङ् परस्मै० प्र० पु० ए० व में अट्, च्लि, तिप्, उसके इकार का लोप, च्लि को सिच्, इट्, इगन्त–अङ्–लक्षणा वद्धि होने पर सकार को मूर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–अक्रैष्टाम्, अक्रैषुः। अक्रैषीः, अक्रैष्टम्, अक्रैष्ट। अक्रैषम्, अक्रैष्व, अक्रैष्म।

'वि' पूर्वक क्री धातु का अर्थ बेचना होता है और तब '३७ परि–व्यवेभ्यः क्रियः १। ३। १७।।' इस सूत्र से धातु आत्मनेपदी होती है।

विक्रीणीते–बेचता है।

प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च 2

प्रीणाति, प्रीणीते।

व्याख्याः अनिट्। ञित् उभयपदी। इसके रूप 'क्री' के समान ही बनते हैं।

श्रीञ् पाके 3

व्याख्याः अनिट्। ञित् उभयपदी। इसके रूप में भी 'क्री' के समान ही बनते हैं।

श्रीणाति. श्रीणीते. मीञ् हिंसायाम् 4

व्याख्याः अनिट्। ञित् उभयपदी।

हिनु-मीना 8. 4. 15

उपसर्गस्थात् निमित्तात् परस्यतयोर्नस्य णः स्यात्। प्रमीणाति, प्रमीणीते। मीनाति इत्यात्वम्-ममौ। मिम्यतुः। ममिथ, ममाथ। मिम्ये। माता। मास्यति। मीयात्। मासीष्ट। अमासीत्, अमासिष्टाम्। अमास्त।

व्याख्याः उपसर्ग में स्थित निमित्त से पर हि और मी धातु के नकार को णकार होता है।

प्रमीणाति, प्रमीणीते–यहाँ उपसर्ग में स्थित निमित्त रेफ से पर 'मी' धातु के नकार को णकार 'हिनुमीना' इस सूत्र से हुआ।

ममौ–लिट् प्र० पु० ए० व० णल् में 'मीनाति'–इस से ईकार को आत्व हुआ। तब 'आत औ णलः' इस सूत्र से णल् को 'औ' होता है। द्वित्व और अभ्यासकार्य तथा वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

मिम्यतुः–लिट् प्र० पु० द्वि० व० अतुस् में द्वित्व और अभ्यासकार्य हाने पर यण् आदेश होकर रूप बना।

'मीनाति–' इत्यादि सूत्र तिप्–सिप्–मिप् गुणवद्धियोग्य में ही प्रवत्त होता है, इसलिए 'अतुस' में आत्व नहीं होता।

ममिथ, ममाथ–लिट् म. पु. ए. व. थल् में 'मीनाति–मिनोति–' इत्यादि सूत्र से आत्व होकर द्वित्व और अभ्यासकार्य होने पर तास् में नित्य अनिट् होते हुए अजन्त होने के कारण भारद्वाज नियम से इट् विकल्प से हुआ। इट् पक्ष में आतो लोप इटि च' इस सूत्र से आकार का लोप हुआ, इट् के अभाव में 'ममाथ' रूप बना।

मिम्ये–लिट् आ० प० प्र० ए. व. में द्वित्व और अभ्यासकार्य होने पर यण् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

अमासीत्–लङ् प्र० पु० ए. व. आत्व होने पर 'यमरमनमातां सक् च' इस सूत्र से इट् और सक् होने पर सिच् का लोप और दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–अमासिष्टाम्, अमासिषः। अमासीः, अमासिष्टम्, अमासिष्ट। अमासिषम्, अमासिष्व, अमासिष्म।

अमास्त–लुङ् आ० प० प्र० पु० ए. व. में अट्, च्लि और सिच् होने पर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–अमास्ताम्, अमासत। अमास्थाः, अमासाथाम्, अमाध्वम्। अमासि, अमास्वहि, अमास्महि।

षिञ् बन्धने 5

सिनाति, सिनीते। सिषाय, सिष्ये। सेता।

व्याख्याः अनिट्। षोपदेश। ञित् उभयपदी।

लुङ्–असैषीत्, असैष्टाम्, असैषुः। असैषीः, असैष्टम्, असैष्ट। असैषम्, असैष्व, असैष्म। आ०प०–असित, असिषताम्, असिषत, असिथाः, असिषाथाम्, असिढ्वम्। असिषि, असिष्वहि, असिष्महि।

स्कुञ् आप्लवने 6

व्याख्याः अनिट्। ञित् उभयपदी।

स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च 3. 1. 82

चात् श्ना। स्कुनोति, स्कुनाति। स्कुनुते, स्कुनीते। चुस्काव, चुस्कुवे। स्कोता। अस्कौषीत्। अस्कोष्ट। स्तन्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः। सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः।

व्याख्याः स्तुन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु और स्कुञ् धातुओं से श्नु विकरण होता है और श्ना भी।

इसलिए स्कुञ् के रूप स्वादि और क्र्यादि दोनों के समान होंगे।

स्तन्भ्वादय इति–स्तुन्भु आदि चार धातुएँ सौत्र हैं अर्थात् इनका उल्लेख सूत्र में ही हुआ है धातु–पाठ में नहीं।

सर्वे इति–ये सब चारों धातु 'रोकना' अर्थवाली और परस्मैपदी हैं।

हलः श्नः शानज्झौ 3.1. 83

हलः परस्य श्नः 'शानच्' आदेशः स्याद् हौ परे। स्तभान।

व्याख्याः हल् से पर श्ना को 'शानच्' आदेश हो रि परे रहते।

शानच् का 'आन' शेष रहता है।

स्तभान–स्तन्भु सौत्र धातु के लोट् म० पु० ए. व. में विकरण श्ना होने पर नकार का लोप 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' सूत्र से हुआ। क्योंकि 'श्ना' अपित् सार्वधातुक होने से ङिद्वत् है। तब 'हल श्नः शानज्झौ' सूत्र से 'श्ना' को 'शानच्' होने पर 'अतो हेः' से 'हि' का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

ज-स्तन्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्यश्च 3. 1. 58

च्लेरङ् वा स्यात्।

व्याख्याः ज, स्तन्भु, म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुचु और श्वि धातुओं से पर च्लि को अङ् आदेश विकल्प से हो।

स्तन्भेः 8. 3. 67

स्तम्भेः सौत्रस्य सस्य षः स्यात्। व्यष्टभत्, अस्तम्भीत्।

व्याख्याः उपसर्ग में स्थित निमित्त से पर सौत्र स्तन्भ् धातु के सकार को षकार हो।

व्यष्टभत–स्तम्भ्–धातु के लुङ् प्र० पु० ए. व. में 'च्लि' को 'जस्तन्भु–' सूत्र से अङ् आदेश हुआ। अङ् के ङित् होने

से उसके परे रहते धातु के नकार का लोप हो गया 'वि' उपसर्ग के योग में 'स्तन्भेः' सूत्र से सकार को मूर्धन्य षकार हुआ। तब ष्टुत्व होकर रूप बना।

अस्तभीत्—जब च्लि को अङ् नहीं हुआ तब सिच्, इट्, ईट्, और सिच् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

युञ् बन्धने 7

युनाति, युनीते। योता।

व्याख्याः अनिट्। ञित् उभयपदी।

लुङ्—अयौषीत्, अयौष्टाम्, अयोषुः इत्यादि।

क्नूञ् शब्दे 8

क्नूनाति, क्नूनीते। क्नविता।

व्याख्याः सेट्। ञित्, उभयपदी।

लिट्—चुक्राव। चुक्नुवे। लुङ्—अक्रावीत्, अक्रविष्ट।

दञ् हिसायाम् 9

दणाति, दणीते।

व्याख्याः अनिट्। ञित् उभयपदी।

लिट् ददार, ददरे। लुट्—दर्ता। लट्—दरिष्यति, दरिष्यते। लोट्—दृणातु, दृणीताम। लङ्—अदृणात्, अदृणीत। वि. लि. —दृणीयात्, दृणीत। आ. लि. द्रियात्, दृषीष्ट। लुङ्—अदार्षीत, अदृत।

द्रुञ् हिंसायाम् 10

द्रुणाति, द्रुणीते।

व्याख्याः सेट्। ञित् उभयपदी।

लिट्—दुद्राव, दुद्रु वे। लुट्=द्रविता। लट्—द्रविष्यति, द्रविष्यते। लुङ्—अद्रावीत्, अद्रविष्ट।

पूञ् पवने 11

व्याख्याः सेट्। ञित् उभयपदी।

प्वादीनां ह्रस्वः7. 3. 80

पूञ् लूञ् स्तञ् कञ् वञ् धूञ् ध प य भ म द ज झ ध न क ऋ ग ज्या री ली ब्ली प्लीनां चतुर्विं शतेः शिति ह्रस्वः। पुनाति, पुनीते। पविता।

व्याख्याः पूञ्, लूञ् (काटना), स्तञ् (ढकना), कञ् (हिंसा), वञ् (स्वीकार करना), धूञ् (कँपाना), श (हिंसा करना), प (पालन करना), भ (भरना), म (मरना), द (हिंसा करना), ज (जीर्ण होना), झ (जीर्ण होना), ध (धारण करना), न (नाश करना), क (हिंसा करना), ऋ (जाना), ग (निगलना), ज्या (बूढ़ा होना), री (हिंसा करना), ली (मिलना), ब्ली (स्वीकार) और प्ली (जाना) इन चौबीस धातुओं को ह्रस्व होता है, शित् प्रत्यय परे रहते।

पुनाति, पुनीते—लट् में श्ना के शित् होने से धातु के ऊकार को 'प्वादीनां ह्रस्वः' से ह्रस्व हुआ।

लुट्—पविता। लट्—पविष्यति। लङ्—अपुनात्, अपुनीत। वि० लि० पुनीयात्, पुनीत। आ० लि० पूयात्, पविषीष्ठ। लुङ्—आपावीत्, अपविष्ट।

लूञ् छेदने 12

लुनाति, लुनीते।

व्याख्याः सेट्। ञित् उभयपदी।

इसके रूप 'पूञ्' के समान ही बनते हैं।

स्तञ् आच्छादने 13

स्तणाति। शर्पूःर्वाः खयः-तस्तार, तस्तरतुः। तस्तरे। स्तरिता, स्तरीता। स्तणीयात्। स्तणीत। स्तीर्यात्।

व्याख्याः स्तञ् (ढक देना)। सेट्। ञित् उभयपदी।

तस्तार–लिट् के प्र० पु० ए० व० णल् में द्वित्व, बहु० अभ्यास–कार्य 'शर्पूर्वाः खयः' से अभ्यास में खर् तकार शेष रहता है सकार का लोप होता है। उत्तर खण्ड में 'ऋच्छत्यताम्' से गुणा और पुनः 'अत उपधायाः' से वद्धि हो कर रूप बनता है।

तस्तरतुः–अतुस् में द्वित्व, अभ्यासकर्ता होने पर 'ऋच्छत्यताम्' से अभ्यास के उत्तरखण्ड में गुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

स्तरीता, स्तरिता–लुट् के प्र० पु० ए. व. में गुण होने पर वतो वा से इञ् का विलल्प से दीर्घ

स्तीर्यातः – कित् यासुट् के परे होने पर 'ऋत इद्धातोः' इस सूत्र से 'इर्' आदेश 'हलि च' इस सूत्र से इकार को दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

लिङ्-सिचोरात्मनेपदेषु 7. 2. 42

वङ्-वभ्याम् ऋदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिङ् वा स्यात् तङि।

व्याख्याः तङ् प्रत्यय परे रहते वङ्, वञ् और ऋदन्त धातुओं से परे लिङ् और सिच् को विकल्प से इट् हो।

न लिङि 7. 2. 39

वत इटो लिङि न दीर्घः। स्तरिषीष्ट। 'उश्च १। २। १२' इत्यनेन कित्त्वम्। स्तीर्षीष्ट। सिचि च परमैम्पदेषु-अस्तारीत्, अस्तारिष्टाम्, अस्तारिषुः। अस्तरिष्ट-अस्तरीष्ट, अस्तीर्ष्ट।

व्याख्याः वङ, वञ् और ऋदन्त धातुओं से पर इट् को दीर्घ न हो।

स्तरिषीष्ट–आ० लि० प० प्र० पु० ए. व. में सीयुट्, सुट् 'लिङसिचोः सूत्र से इट् विकल्प, ऋकार को गुण और दोनों सकारों को मूर्धन्य षकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

स्तीर्षीष्ट–आ० लि० आ० प० प्र० ए० व० में इट् के अभावपक्ष में 'उश्च १। २। २२।।' सूत्र से सीयुट कित् हुआ। तब गुण का निषेध हो जाने से 'ऋत इद्धातोः' से ऋकार को 'इट्' आदेश और 'हलि च' से दीर्घ तथा षत्व होकर रूप बना।

अस्तारीत्–लुङ् परस्मै० प्र० पु० ए० व० में अट्, च्लि, सिच्, वद्धि, इट, ईट्, सिच्लोप होने पर 'वतो वा' सूत्र से इट् हो प्राप्त दीर्घ का 'सिचि च परस्मैपदेषु ७। २। ४०।।' से निषेध होकर रूप सिद्ध हुआ।

अस्तारिष्टाम्–लुङ् परस्मै० प्र० पु० द्वि० व० में पूर्ववत् सिद्धि होती है। 'वतो वा' से इट् को प्राप्त दीर्घ का 'सिचि च परस्मैपदेषु' से निषेध हो गया।

अस्तारिषुः–लुङ् परस्मै० प्र० पु० बहु० में पूर्ववत् सिद्धि होती है।

अस्तरीष्ट, अस्तरिष्ट, अस्तीर्ष्ट–लुङ् आ० प० प्र० पु० ए० व० में अट्, च्लि, सिच् होने पर 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' से इट् विकल्प से हुआ। तब ऋकार को अर् गुण तथा इट् को 'वतो वा' से दीर्घ विकल्प होकर पहले दो रूप बने। इट् के अभाव में 'उश्च' सूत्र से सिच् कित् हुआ। तब गुण का निषेध होने से 'ऋत इद्धातोः' से ऋकार को 'इर्' और 'हलि च' से दीर्घ होकर रूप बना। सिच् के सकार को मूर्धन्य षकार और तकार को ष्टुत्व टकार तीनों रूपों में होता है।

कञ् हिंसायाम् 14

कणाति, कणीते। चकार, चकरे।

व्याख्याः सेट्। ञित् उभयपदी। इसके रूप 'स्तञ्' के समान बनते हैं।

वञ् वरणे 15

वणाति वणीते। ववार, ववरे। वरीता, वरिता। 'उदोष्ठ्य-' इत्युत्वम्-वूर्यात्। वरिपीष्ट, वूर्षीष्ट। अवारीत्। अवारिष्टाम्। अवरीष्ट, अवरिष्ट, अवूर्ष्ट।

व्याख्याः सेट्। ञित् उभयपदी। इसके रूप भी प्रायः 'स्तञ्' के समान बनते हैं।

वूर्यात्–आ० लि० परस्मै० प्र० पु० ए० व० में यासुट् के कित् होने से 'उदोष्ठयापूर्वस्य' से ऋकार को उर् आदेश और 'हलि च' से उकार को दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

वूर्षीष्ट–आ० लि० प्र० पु० ए० व० में सीयुट् सुट् होने के अनन्तर 'उश्च' सूत्र से सीयुट् कित् हो जाता है। तब 'उदोष्ठयपूर्वस्य' से ऋकार को उर् आदेश और 'हलि च' से दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' सूत्र से इट् विकल्प से होता है। इट्पक्ष में 'वरिषीष्ट' रूप बनता है।

धूञ् कम्पने 16

धुनाति, धुनीते। धोता, धविता। अधावीत्, अधविष्ट, अधोष्ट।

व्याख्याः वेट्। 'स्वरतिसूतिसयतिधूञ्ऊदितो वा' सूत्र से इस धातु को इट् विकल्प से होता है। ञित्, उभयपदी।

धविता, धोता–लुट् प्र० पु० ए० व० में 'स्तुसुधूभ्यः परस्मैपदेषु' सूत्र से इट् नित्य होकर रूप बना।

ग्रह उपादाने 17

गृह्णाति, गृह्णीते। जग्राह, जगृहे।

व्याख्याः सेट्। स्वरितेत्, उभयपदी।

गृह्णाति–लट् परस्मै० प्र० पु० ए० व० में श्ना के अपित् सर्वधातुक होने से ङिद्वत् हो जाने के कारण 'ग्रहिज्या–' इत्यादि सूत्र से रेफ को ऋकार संप्रसारण होकर रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप–गृह्णीतः, गृह्णन्ति। गृह्णासि, गृह्णीथः, गृह्णीथ। गृह्णामि, गृह्णीवः, गृह्णीमः।

आ० प० गृह्णीते, गृह्णाते, गृह्णते। गृह्णीषे, गृह्णाथे, गृह्णीध्वे। गृह्णे, गृह्णीवहे, गृह्णीमहे।

लिट् परस्मै०–जग्राह, जगृहतुः, जगृहुः। आ० प०–जगृहे, जगृहाते, जगृहिरे।

ग्रहोलिटि दीर्घः 7. 2. 37

एकाचो ग्रहेर्विहितस्येटो दीर्घो न तु लिटि। ग्रहीता। गृह्णातु। हलः नः शानज्झौ-गृहाण। गृह्यात्। ग्रहीषीष्ट। ह्म्यन्तेति न वृद्धिः-अग्रहीत्। अग्रहीष्टाम्। अग्रहीष्ट, अग्रहीषाताम।

व्याख्याः एकाच् ग्रह धातु से विहित इट् को दीर्घ हो परन्तु लिट् परे रहते न हो।

ग्रहीता–लुट् प्र० पु० ए. व. में इट् को 'ग्रहोलिटि दीर्घः' सूत्र से दीर्घ होकर रूप बना।

लट्–ग्रहीष्यति, ग्रहीष्यते। लोट् परस्मै०–गृह्णातु, गृह्णीताम्, गृह्णन्तु। गृहाण, गृह्णीतम्, गृह्णीत। गृह्णानि, गृह्णाव, गृह्णाम। आ० प०–गृह्णीताम्, गृह्णाताम्, गृह्णताम्। गृह्णीष्व, गृह्णाथाम्, गृह्णीध्वम्। गृह्णै, गृह्णावहै, गृह्णामहै।

गृहाण–में 'हलः श्नः शानज्झौ' सूत्र से 'श्ना' को शानच् हुआ और तब अतो हेः' से हि का लुक्। णत्व होकर इस प्रकार रूप बना।

लङ्–अगृह्णात्, अगृह्णीत। वि० लि०–गृह्णीयात्, गृह्णीत।

गह्यात्–आ० लि० प्र० पु० ए. व. में यासुट् के कित् होने से 'ग्रहिज्या–' सूत्र से संप्रसारण होकर रूप बना।

ग्रहाषीष्ट–आ० लि० प्र० पु० ए. व. में सीयुट्, सुट् और इट् होने पर 'ग्रहोलिटि दीर्घः' से दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

अग्रहीत्–लुङ् परस्मै० प्र० पु० ए. व. अट्, च्लि, सिच्, इट् 'ग्रहोलिटि दीर्घः' से दीर्घ हुआ। तिप् के इकार का लोप, उसे ईट्, सिच् का 'इट् ईटि' से लोप और सवर्णदीर्घ होकर रूप बन गया।

यहाँ अकार को हलन्तलक्षणा वद्धि प्राप्त थी, उसका 'नेटि' सूत्र से निषेध हुआ। पुनः 'अता हलादेर्लधोः' से विकल्प से वद्धि प्राप्त हुई। उसका 'ह्मयन्तक्षण–' इत्यादि सूत्र से निषेध हो गया।

शेष रूप–अग्रहीष्टाम्, अग्रहीषुः। अग्रहीः, अग्रहीष्टम्, अग्रहीष्ट। अग्रहीषम्, अग्रहीष्व, अग्रहीष्म। आ० प०–अग्रहीष्ट, अग्रहीषाताम्, अग्रहषित। अग्रहीष्ठाः, अग्रहीषाथाम्, अग्रहीढ्वम्। अग्रहीषि, अग्रहीष्वहि, अग्रहीष्महि।

लुङ्–अग्रहीष्यत्, अग्रहीष्यत।

कुष निष्कर्षे 18

कुष्णाति। कोषिता।

व्याख्याः सेट्। परस्मैपदी।

अश् भोजने 19

अश्नाति। आश। अशिता। अशिष्यति। अश्नातु। अशान।

व्याख्याः सेट्। परस्मैपदी।

लट्–अश्नाति, अश्नीतः, अश्नन्ति। अश्नासि, अश्नीथः, अश्नीथ। अश्नामि, अश्नीवः, अश्नीमः। लिट्–आश, आशतुः, आशुः।

अशान–लोट् म० पु० ए. व. में श्ना विकरण को 'हलः श्नः शानज्झौ' सूत्र से शानच हुआ। तब 'अतो हेः' सूत्र से 'हि' को लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

लोट्–अश्नातु, अश्नीताम्, अश्नन्तु। अशान, अश्नीतम्, अश्नीत अश्नानि, अश्नाव, अश्नाम।

लङ्–आश्नात्, अश्नीताम्, आश्वन्। आश्नाः, आश्नीतम्, आश्नीत। आश्नम्, आश्नीव, आश्नीम।

वि० लि०–अश्नायात्, अश्नीयाताम्, अश्नीयुः। अश्नीयाः, अश्नीयातम्, अश्नीयात। अश्नीयाम्, अश्नीयाव, अश्नीयाम्। आ० लि०–अश्यात्। लुङ्–आशीत, आशिष्टाम्, आशिषुः–इत्यादि–लङ्–आशिष्यत्।

मुष स्तेये 20

मोषिता। मुषाण।

व्याख्याः लट्। परस्मैपदी।

लट्–मुष्णाति। लिट्–मुमोष। लुट्–मोषिता। लट–मीषिष्यति। लाट–मुष्णातु। लङ्–अमुष्णति्। वि लि०–मुष्णीयात्। आ० लि०–मुष्यात्। लुङ्–अमोषीत्। लङ–अमोषिष्यत।

ज्ञा अवबोधने 21

जज्ञौ।

व्याख्याः अनिट। उभयपदी।

लट–जानाति, जानीतः, जानन्ति। जानासि, जानीथः, जानीथ। जानामि, जानीवः, जानीमः। आ० प० जानीत, जानाते, जानते। जनीषे, जानाथे, जानीध्वे। जाने, जानीवहे, जानीमहे।

ज्ञा धातु के स्थान में सार्वधातुक लकारों में 'जा' आदेश '६४२ ज्ञा–जनोर् जा ७। २। ७९' सूत्र से हो जाता है।

जज्ञौ–लिट् प्र० पु० ए. व. द्वित्व, अभ्यासकर्ता, णल् को 'औ' आदेश और वद्धि होकर रूप बना।

लुट्–ज्ञाता। लट्–ज्ञास्यति, ज्ञास्यते। लोट्–जानातु, जानीताम्, जानन्तु। जानीहि, जानीतम्, जानीत। जानानि, जानाव, जानाम। आ० प०–जानीताम्, जानाताम्, जानताम्। जानीस्व, जानाथाम्, जानीध्वम्। जानै, जानावहै, जानामहै।

वि० लि० परस्मै०–जानीयात्, जानीयाताम्, जानीयुः। जानीयाः, जानीयाताम्, जानीयात। जानीयाम्, जानीयाव, जानीयाम। आ० प०–जानीत, जानीयाताम्, जानीरन्। जानीथाः, जानीयाथाम्, जानीध्वम्। जानीय, जानीवहि, जानीमहि।

आ० लि० परस्मै०–ज्ञेयात्, ज्ञायात्। आ० प०–ज्ञासीष्ट।

लुङ् परस्मै०–अज्ञासीत्, अज्ञासिष्टाम्, आज्ञासिषुः। अज्ञासीः, अज्ञासिस्टम्, अज्ञासिष्ट। अज्ञासिषम्। अज्ञासिष्व, अज्ञासिष्म। आ० प०–अज्ञास्त, अज्ञासाताम्, अज्ञासत। लङ्–अज्ञास्यत्, अज्ञास्यत।

वङ् संभक्तौ 22

वणीते। ववषे, ववढ्वे। वरीता, वरिता। अवरीष्ट, अवरिष्ट, अवत। इति क्रयादयः।

व्याख्याः सेट्। ङित् आत्मनेपदी।

लट्–वणीते, वणाते, वणते। वणीषे, वणाथे, वणीध्वे। वणे, वणीवहे, वणीमहे।

ववषे, ववढ्वे–लिट् म० प० ए. व. में और बहुवचन ध्वम् में वलादि आर्धधातुक का 'कृसभव–' सूत्र में विशेष रूप से 'व' का उल्लेख होने से इट् का निषेध हो गया।

इस वङ् धातु के रूप में 'वञ् वरणे' के आत्मनेपद के रूपों के समान ही बनते हैं।

अवरीष्ट, अवरिष्ट, अवत–लुङ् प्र० पु० ए. व. में सिच् को 'लिङ्–सिचोरात्मनेपदेषु' सूत्र से इट् विकल्प से हुआ। इट को दीर्घ 'वतो वा' से विकल्प से हुआ। इट् के अभाव में 'ह्रस्वादङ्गात्' सूत्र से सिच् का लोप हुआ। इस प्रकार ये तीन रूप बने।

(क्रयादिगण समाप्त)

अथ चुरादयः

चुर स्तेये 1

सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् 3. 1. 25

एभ्यो णिच् स्यात्।

चूर्णान्तेभ्यः 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहणं प्रपचार्थम्, चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे।

'पुगन्त-' इति गुणः, सनाद्यन्ता इति धातुत्वम्, तिप्-शबादि, गुणायादेशौ-चोरयति।

व्याख्याः सत्याप, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, त्वच्, वर्मन्, वर्ण और चूर्ण शब्दों से तथा चुर् आदि धातुओं से णिच् प्रत्यय हो।

णिच् का णकार और चकार इत् है। प्रत्यय केवल इकार बचता है। वह यथाप्राप्त गुण और वद्धि का निमित्त बनता है।

चूर्णान्तेभ्य इति–चूर्ण–पर्यन्त शब्दों से 'प्रातिपादिकाद् धात्वर्थे–' इत्यादि वार्तिक से जो सभी प्रातिपादिकों से ध ाातु के अर्थ में णिच् का विधान करता है–ही णिच् सिद्ध होते हुए भी इस सूत्र में उनका ग्रहण प्रपच अर्थात् विस्तार के लिये है। वास्तव में पूर्वोक्त वार्तिक से सिद्ध होने से वहाँ ग्रहण करना व्यर्थ है।

चुरादिभ्य इति–चुर् आदि धातुओं से णिच् स्वार्थ में होता है अर्थात् णिच् किसी विशेष अर्थ को नहीं प्रकट करता। अतः यह स्वार्थिक है। ण्यन्त प्रक्रिया में जिस णिच् का विधान होता है उसका अर्थ प्रेरणा है, अतएव वह प्रेरणार्थक कहा जाता है।

सनाद्यन्ताः इति–'सनाद्यन्ताः–' यहाँ से 'गुणायादेशौ' यहाँ तक जो मूलपाठ है, उस में 'चोरयति' की सिद्धि का प्रकार बताया गया है।

चोरयति–चुर धातु से णिच् होने पर 'चुर्+इ' इस दशा में णिच् आर्ध–धातुक परे रहते 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र से उपधा उकार को गुणा होकर 'चोर इ' बना। तब 'चोरि' की पुनः 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातु संज्ञा हुई। धातु संज्ञा होने पर तिप् शप् आदि और णिच् के इकार को गुण अय् आदेश होकर यह रूप लट् प्र० पु० ए. व. में सिद्ध होता है।

यही प्रक्रिया–'पुगन्त–' इति गुणः से बताई गई है।

णिचश्च 1. 3. 74

णिजन्ताद् आत्मनेपदं स्यात् कर्तगामिनि क्रियाफले।

चोरयते। चोरयामास। चोरयिता। चोर्यात्, योरयिषीष्ट।

णिश्रीति चङ्, णौ चङीति ह्रस्वः, चङीति द्वित्वम्, हलादिः शेषः दीर्घो लघोरित्यभ्यासस्य दीर्घः-अचूचुरत्, अचूचुरत।

व्याख्याः णिचश्चति– णिजन्त से आत्मनेपद हो क्रियाफल यदि कर्तगामी हो।

जब क्रियाफल कर्तगाामी हो तब आत्मनेपद और जब कर्तगामी न हो तब परस्मैपद होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ण्यन्त धातु उभयपदी होती है।

चोरयते–क्रियाफल के कर्तगामी होने से 'कास्प्रत्ययादाम् अमन्त्रे लिटि' से लिट् में आम् प्रत्यय आता है और आमन्त

होने से क, भू, अस् का अनुप्रयोग 'कचानुप्रयुज्यते लिटि' सूत्र से होता है।

चोरयामास–'चोरि' धातु से प्रत्ययान्त होने से आम् हुआ। तब इकार को गुण और अय् आदेश होने पर 'चोरयाम्' बन जाने पर लडन्त अस् का अनुप्रयोग होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार 'क' आदि के अनुप्रयोग में भी रूप बनेंगे।

णिजन्त धातु अनेकाच् बन जाती है। इसलिये ये सब सेट् हो जाती है। अतएव चुरादिगण में सभी धातु सेट् हैं, सबसे इट् होता है।

चोरयिता–चोरि धातु से लुट् प्र० पु० ए० व० में इट् होने पर णिच् इकार को गुण और अय् आदेश होकर रूप बन गया।

लट्–चोरयिष्यति। लोट्–चोरयतु। ल्–अचोरयत्। वि०लि०–चोरयेत्।

चोर्यात्–आ० लि० प्र० पु० १ में 'णेरनिटि' सूत्र से णिच् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

चोरयिषीष्ट–आ० लि० आ० प० प्र० पु० १ में सीयुट् और सुट् होने पर इट् हुआ। तब णिच् के इकार को गुण और अयादेश हुआ। फिर दोनों सकारों को मूर्धन्य षकार होने पर तकार को ष्टुत्व टकार होकर रूप बना।

णि श्रि इति चङ् इति–'णि श्रि–' यहाँ से लेकर '–अभ्यासस्य दीर्घः' यहाँ तक ण्यन्त धातु के लुङ् के रूपों की सिद्धि का प्रकार कहा गया है। यह प्रक्रिया प्रायः सभी ण्यन्त धातुओं के लुङ् के रूप सिद्ध करने में थोड़े–बहुत अन्तर से होगी।

अचूचुरत्–मूल में बताये गये प्रकार से लुङ् प्र० पु० १ में च्लि को 'णिश्रिद्रुश्रुभ्यः कर्तार चङ् सूत्र से चङ् हुआ। तब 'अ चोर् इ अ त्' इस स्थिति में 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' सूत्र से उपधा ओकार को ह्रस्व उकार हुआ। फिर 'चुर्' को 'चङि' सूत्र से द्वित्व हुआ। 'हलादिः शेषः' इस सूत्र से रेफ का लोप हुआ। तब 'अचुचुर् इ अत्' ऐसी स्थिति बनने पर 'सन्वल्लघुनि चङ्परेनग्लोपे' सूत्र से सन्वद्भाव होने पर 'दीर्घो लघोः' सूत्र से अभ्यास के उकार को दीर्घ हुआ। 'णेरनिटि' सूत्र से णि का लोप होकर उक्त रूप बना।

अचूचुरत–यह लुङ् आ० प० का रूप भी पूर्ववत् बनता है।

णिजन्त धातुओं के रूप लुङ् लकार में बनाने कठिन होते हैं। लुङ् में च्लि को चङ् होता है। चङ् होने के फलस्वरूप धातु को द्वित्व होता है। पुनः उपधा ह्रस्व देखना होता है, इसके साथ ही देखना चाहिए कि सन्वद्भाव होता है कि नहीं।

सन्वद्भाव के दो फल हैं एक अभ्यास के अकार को इकार होना और दूसरा अभ्यास के अच को दीर्घ होना। इकार वहीं होता है जहाँ अभ्यास में ह्रस्व अकार होता है। दीर्घ सभी अचों को हो जाता है यदि वह लघु हो। 'अचूचुरत्' में केवल दीर्घ हुआ है। अभ्यास में अकार न होने से इकार नहीं हुआ है। जहाँ अभ्यास में अकार होता है वहाँ इकार और दीर्घ दोनों कार्य होते हैं।

कथ वाक्यप्रबन्धे 2

अल्लोपः

व्याख्याः सेट्। उभयपदी। अग्लोपी। अग्लोपी होने का फल सन्वद्भाव का निषेध है। सन्वद्भाव न होने से लुङ् में अभ्यास के अकार को इकार और दीर्घ नहीं होते।

अल्लोप इति–कथ धातु से णिच् प्रत्यय आने पर 'अतो लोपः' सूत्र से अन्त्य आकार का लोप हुआ।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ 1. 1. 57

परिनिमत्तोजादेशः स्थानिवत् स्यात्; स्थानिभूताद् अचः पूर्वत्वेन दष्टस्य विधौ कर्तव्ये। इति स्थानिवत्त्वात् न उपधावद्धिः-कथयति। अग्लोपित्वाद् दीर्घ-सन्वद्भावौ न अचकथत्।

व्याख्याः परिनिमित अजादेश स्थानिवत् होता है स्थानिभूत अच से पूर्व जिसे देखा गया हो उसे कार्य करना हो तो।

इति स्थानिवत्त्वादिति–इस सूत्र से अकार लोप को स्थानिवद्भाव होने से 'अत उपधयाः' से उपधा अकार की वद्धि नहीं हुई।

कथयति–कथ धातु से णिच् होने पर 'अता लोपः' से अन्त्य अकार का लोप हुआ। तब कथ् इ' इस दशा में अत उपधयाः' सूत्र से वद्धि प्राप्त हुई। अकार लोप को 'अचः परस्मिन्–' सूत्र से स्थानिवद्भाव होने से पूर्व अकार उपधा न हुआ, इसलिये वद्धि नहीं हुई। तब तिप् शबादि और गुण अय् आदेश होकर रूप बना।

अग्लोपित्वाद् इति–अग्लोपी होने से 'कथ' धातु के लुङ् लकार में दीर्घ और सन्वद्भाव नहीं हुए।

अचकथत्–लुङ् प्र० प० १ में च्लि को चङ् आदेश, द्वित्व, अभ्यास–कार्य होने पर रूप सिद्ध हुआ। यहाँ अग्लोपी होने से दीर्घ और सन्वद्भाव नहीं हुए।

गण संख्याने 3

गणयति।

व्याख्याः सेट्। उभयपदी। अग्लोपी।

गणयति–गणु धातु से णिच् आने पर 'अतो लोपः' से अकार का लोप हुआ। उसको स्थानिवद्भाव होने से उपधा वद्धि न हुई। तब 'गणि' की सनाद्यन्त धातु संज्ञा होकर लट प्र० पु० १ में तप् शबादि और गुण, अय् आदेश होकर रूप बना।

ई च गणः 7. 3. 97

गणयतेरभ्यासस्य ईत् स्यात् चङ्परे णौ चादत्। अजीगणत्, अजगणत्।

व्याख्याः गण् धातु के अभ्यास को ईकार भी होता है चङ् परक णि परे रहते।

चाद् इति–चकार कहने से अकार भी रहता है अर्थात् ईकार विकल्प से होता है।

अजीगणत्, अजगणत्–लुङ् प्र० पु० १ में च्लि को चङ्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, 'ई च गणः' से अभ्यास के अकार को विकल्प से ईकार हुआ। तब 'णेरनिटि' से 'णि' का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

(इति चुरादिगणः)

अध्याय–11

अथ कृदन्तप्रकरणम्

सामान्य परिचय

कृत् प्रत्यय भी तिङ् प्रत्ययों के समान धातु के साथ जोड़े जाते हैं। तिङ् और कृत् प्रत्ययों में अन्तर यह है कि तिङ् प्रत्ययों से क्रिया रूप बनते हैं जबकि कृत् प्रत्ययों से संज्ञा, विशेषण और क्रिया विशेषण रूप बनते हैं। जैसे पच् धातु से तिङ् प्रत्यय तिप् जोड़ने से पचति रूप बनता है जिसका अर्थ है पकाता है। यह क्रिया रूप है। जबकि पच् धातु से कृत् घा् प्रत्यय जोड़ने से पाकः रूप बनता है जिसका अर्थ है पका हुआ अन्न। यह संज्ञा है। जो कार्य साध्य अवस्था में हो उसे क्रिया कहते हैं। साध्य अवस्था में कार्य की प्रक्रिया चलते रहने का भाव है। जब कार्य पूर्ण हो जाए उसे कार्य की सिद्ध अवस्था कहते हैं। पचति (पकाता है) में साध्यावस्था है और पाकः में सिद्ध अवस्था।

धातु के साथ कृत् प्रत्यय जोड़ने से जो रूप बनते हैं उन्हें कृदन्त कहते हैं। कृदन्त रूपों की 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है। प्रातिपदिक होने पर ङयाप् प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः तथा परश्च सूत्र सु आदि प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। और सुबन्त प्रकरण में बताई गई प्रक्रिया के अनुसार सभी विभक्तियों में रूप चलते हैं। इसलिए कृदन्त शब्द सुबन्त की श्रेणी में आते हैं क्योंकि सुप् प्रत्यय लगने पर ही उनकी पदसंज्ञा होती है। नीचे लघुकौमुदी में दिए गए सभी कृत प्रत्ययों का संबंधित सूत्रों सहित विवेचन किया जाएगा।

घातोः 3.1.91

आततीयाध्यायसमाप्त्यन्तं ये प्रत्ययाः, घातोः परे स्युः। 'कृदतिङ इति 'कृत्' संज्ञा।

व्याख्याः इस सूत्र से लेकर अष्टाध्यायी के ततीय अध्यायकी समाप्ति तक जो प्रत्यय कहे गये हैं वे धातु से परे हों।

कृदिति–'कृद् अतिङ्' इस सूत्र से तिङ्भिन्न होने के कारण इन प्रत्ययों की कृत् संज्ञा होती है।

वासरूपोस्त्रियाम् 3.1.94

अस्मिन्धात्वधिकारेसरूपोपवपादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वास्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना।

व्याख्याः धातु के इस अधिकार में वे प्रत्यय जिनका स्वरूप समान न हो उत्सर्ग अर्थात् सामान्य सूत्र का बाधक विकल्प से हो 'स्त्रियां क्तिन् ३.३.६४' इस सूत्र के 'स्त्रियाम्' अधिकार में बताए गए प्रत्ययों को छोड़कर। इसलिए अचोयत् ऋहलोर्ण्यत्, इत्यादि अपवादों के विषय में सामान्य तव्यत् आदि प्रत्यय भी होते हैं–कार्यम्, कर्तव्यम्, करणीयम्, वाच्यम्, वक्तव्यम्, वचनीयम् इत्यादि।

तव्यत् आदि सामान्य प्रत्ययों का ण्यत् आदि अपवाद असरूप है अर्थात् भिन्न रूप है, इसलिये यह सूत्र प्रवत्त होता है।

जहाँ अपवाद प्रत्यय सामान्य प्रत्यय के समान रूपवाला हो, वहां यह सूत्र नहीं लगेगा अर्थात् वहां नित्य बाध होगा। जैसे–अण् और क दोनों का अ शेष रहता है, इसलिये ये सरूप प्रत्यय हैं। अतः अपवाद क के द्वारा सामान्य अण् का नित्य बाध होगा। 'आतोनुपसर्गे' से क होकर 'गोदः' बनेगा। यहां 'कर्मण्यण्' का अण् प्रत्यय फिर नही होगा, यदि किया गया तो वह अशुद्ध समझा जाएगा।

'स्त्रियाम्' अधिकार में यह परिभाषा नहीं लगती। इसलिये स्त्रियां क्तिन्' ३.३.६४।। इस उत्सर्ग का अ प्रत्ययात्

३.३.१०२।।' यह अपवाद नित्यबोधक होता है। चिकिर्षा, जिहीर्षा—यहां अब क्तिन् नहीं होता।

कृत्याः 3.1.95

'७८७ ण्वुलतचौ ३.१.१३३।। इत्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञा स्युः

व्याख्याः 'ण्वुल्तचौ' से पहले के प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा होती है।

कर्तरि कृत् 3.4.67

'कृत्' प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते—

व्याख्याः कृत् प्रत्यय कर्ता अर्थ में हों।

इससे सभी प्रत्यय कर्ता में प्राप्त हुए।

तयोरेव कृत्य-क्त-खलार्थः 3.4.70

एते भावकर्मणोरेव स्युः।

व्याख्याः कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में ही हों अर्थात् कर्ता में नहीं हों।

खलर्थ प्रत्यय आगे आयेंगे। खल् प्रत्यय क्रिया को कठिनता से या सरलता से किये जाने अर्थ को प्रकट करता है। इस अर्थ के अन्य सभी प्रत्ययों का ग्रहण करने के लिये यहां खलर्थ प्रत्यय कहा है।

अतएव कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्ययों के योग में भाववाच्य और कर्मवाच्य के समान अनुक्त होने से कर्ता में ततीया विभक्ति आती है। जैसे—(**कृत्य-मया पठितव्यम्**—मुझे पढ़ना चाहिए। **क्त-मया पठितम्**—मैंने पढ़ा। **खलर्थ-मया सुकरम् इदं कार्यम्**—यह कार्य मैं सरलता से कर सकता हूं।)

तव्यत्-तव्यानीयरः 3.1.96

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः। एधितव्यम् एधनीयं त्वया। भावे-औत्सर्गिकम् एकवचनं क्लीबत्वं। चेतव्यः, चयनीयो वा धर्मस्त्व्या।

व्याख्याः तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय धातु से हों।

तव्य का तकार इत्संज्ञक है। तित् होने से यहां 'त्स्वरितम्' सूत्र से स्वरित होता है। तव्य से इसका यही भेद है। वैसे रूप दोनों में समान बनते हैं। इन प्रत्ययों का प्रयोग चाहिए अर्थ में होता है मुझे पढ़ना चाहिए—मया पठितव्यम्।

अनीयर् का रेफ भी इत्संज्ञक है।

एधितव्यम्, एधनीयम्—एध् धातु से भाव में तव्य और अनीयर् प्रत्यय हुये हैं। धातु से विहित होने से ये 'आध धातुकं शेषः' से आर्धधातुक हैं वलादि आर्धधातुक होने से तव्य को इट् आगम हुआ।

भाव में ये इसलिये हुए कि एध् धातु अकर्मक है। अकर्मक से भाव में वे प्रत्यय होंगे। कर्ता अनुक्त है—इस बात को दिखाने के लिये 'त्वया' यह ततीयान्त कर्ता दिया है।

भाव इति—भाव में सामान्य एकवचन और नपुंसकलिङ्ग हुआ।

कर्म में ये प्रत्यय सकर्मक धातुओं से आते हैं और कर्म के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं। अतः लिङ्ग वचन कर्म के अनुसार होते हैं।

चेतव्यः, चयनीयो या धर्मस्त्वया—चि धातु सकर्मक है। इसलिये यहां कर्म में तव्य और अनीयर् प्रत्यय हुए। चयन का कर्म धर्म है, वह पुंल्लिङ्ग और एकवचन में है, इसलिये इनसे भी पुंल्लिङ्ग और एकवचन हुआ। 'त्वया' यह कर्तपद है, इसमें अनुक्त होने से कर्ता में ततीया विभक्ति हुई है।

(वा) केलिमर उपसंख्यानम्। पचेलिमा माषाः, पक्तव्या इत्यर्थः। भिदेलिमाः सरलाः, भेत्तव्या इत्यर्थः। कर्मणि

प्रत्ययः।

व्याख्याः केलिमर् प्रत्यय का भी यहां उपसंख्यान करना चाहिये अर्थात् तव्यत् आदि के समान केलिमर प्रत्यय भी भाव और कर्म में होता है।

पचेलिमा माषाः—यहां पच् धातु से प्रकृत वार्तिक के द्वारा केलिमर् प्रत्यय होकर 'पचेलिमाः' सिद्ध हुआ।

पक्तव्या इति—तव्यत् के अर्थ में ही यह हआ है। इसीलिये 'पक्तव्याः' वह अर्थ किया गया है। कर्म के उक्त होने से 'माषाः' यहां प्रथमा हुई और इसी के अनुसार 'पचेलिमा" में पुंलिङ्ग और बहुवचन आये।

भिदेलिमाः सरला[१]**:**— (भेत्तव्या इत्यर्थः, सरल वक्ष काटने योग्य है)—यहां भिद् धातु से केलिमर! प्रत्यय हुआ है। कर्म से प्रथमा हुई और तदनुसार 'भिदेलिमाः' से पुंल्लिङ्ग और बहुवचन हुए।,

कर्मणीति—'पचेलिमाः' और 'भिदेलिमाः' में केलिमर् प्रत्यय कर्म में हुआ, क्योंकि ये धातु सकर्मक हैं।

कुछ आचार्य यहां कर्मकर्ता अर्थ में केलिमर् प्रत्यय हुआ बताते हैं।

कृत्य-ल्युटो बहुलम् 3.3.113

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव। विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति।।१।। 'स्नान्ति-अनेन' इति स्नानीयं चूर्णम्। दीयतेस्मै दानीयो विप्रः।

व्याख्याः कृत और ल्युट् प्रत्यय बहुलता से प्रयुक्त होते हैं जो नियम नित्य न हों परन्तु उनकी प्रवत्ति यथेष्ट या स्वेच्छा से हो उस बहुल कहते हैं। बहुल चार प्रकार का बताया गया है—

क्वचिदिति—कहीं (प्रयोग विशेष में) प्रवत्ति होना, कहीं (प्रयोग विशेष में) प्रवत्ति न होना, कहीं विकल्प से प्रवत्ति होना और कहीं अन्य ही प्रकार होना—(इस प्रकार) विधिका विधान अनेक प्रकार का विचारकर बाहुलक को चार प्रकार का कहते हैं।

स्नानीयम्-स्नान्त्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम्—जिस चूर्ण से स्नान किया जाय उसे स्नानीय कहते हैं, यहां 'कृत्यल्युटो बहुलम्' सूत्र से स्ना धातु से कारण अर्थ में बाहुलक अनीयर् कृत्य प्रत्यय हुआ। यहां बाहुलक का पहला प्रकार है अर्थात् अप्राप्त की प्रवत्ति हो जाना। कारण में अनीयर् प्राप्त नहीं बाहुलक से हो गया।

दानीयः—दीयतेस्मै दानीयो विप्रः—इसे दिया जाता है इस प्रकार दानीय हुआ, वह ब्राह्मण होता है। यहां बाहुलक से संप्रदान अर्थ में दा धातु से अनीयर् प्रत्यय हुआ। यह भी बाहुलक के पहले प्रकार का उदाहरण है।

अचो यत् 3.1.97

अजन्ताद् धातोर्यत् स्यात्। चेयम्।

व्याख्याः अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो।

चेयम्—चि (चयन, चुनना) धातु से अजन्त होने के कारण यत् प्रत्यय हुआ। तब यत् के आर्धधातुक होने से उसके परे रहते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण होने पर 'चेय' शब्द बना। उससे सामान्य तें नपुंसकलिङ्ग होने से स्वादि की उत्पत्ति हुई। प्रथमा के एकवचन में यह रूप बना।

ईद् यति 6.4.65

यति परे आत ईत् स्यात्। देयम्। ग्लेयम्।

व्याख्याः 'यत्' परे रहते आकार के स्थान में ईकार हो।

---

१. सरल देवदारु और उसकी जाति के चीड़ आदि वक्षों को कहते हैं। कविकुलगुरु कालिदास ने 'कुमार संभव' के प्रथम सर्ग में—'कपोल—कण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्' इस प्रकार सरल वक्षों का वर्णन किया है। (ये वक्ष सीधे होते हैं, इसलिये इनका 'सरल' नाम पढ़ा है।)

देयम्—'दान करने योग्य या दान करना चाहिये' इस अर्थ में कर्म में दा धातु से यत् प्रत्यय हुआ। आर्धधातुक यत् परे रहते प्रकृत सूत्र से धातु के आकार को ईकार होने पर उसे गुण हुआ। तब 'देय' से प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

ग्लेयम् (ग्लानि करनी चाहिये)—यहां ग्लै धातु से भाव में यत् प्रत्यय हुआ। उसके परे रहते **'आदेच उपेशेशिति'** से ऐकार को आकार हुआ। तब प्रकृत सूत्र 'ईद् यति' से आकार को ईकार हुआ और उसे गुण एकार होकर रूप बना।

पोरदुपधात् 3.1.98

पवर्गान्ताद् अदुपधाद् यत् स्यात्। ण्यतोपवादः। शप्यम्। लभ्यम्।

व्याख्याः जो धातु पवर्गान्त हो और उपधा में अत् हो उससे यत् हो।

ण्यत् इति—यह यत – ऋहलोर्ण्यत् ३.१.२४।।' से प्राप्त ण्यत् का बाधक है।

शप्यम्—(शपथ के योग्य; शाप देना चाहिये)—शप् धातु पवर्गान्त है, क्योंकि इसके अन्त में पकार है, इसकी उपधा में ह्रस्व अकार भी है। अतः इससे यद्यपि हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् प्राप्त हुआ। उसको बाधकर प्रकृत सूत्र से यत् ण्त्यय हुआ।

लभ्यम् (पाना चाहिये, पाने के योग्य) लभ् धातु से हलन्त होने के कारण ण्यत् प्राप्त है। उसे बाधकर पवर्गान्त अदुपध होने से यत् हुआ।

एति-स्तु-शास् व-द जुषः क्यप् 3.1.1०9

एभ्यः क्यप् स्यात्।

व्याख्याः इण, स्तु, शास्, व, द और जुष् धातु से क्यप् प्रत्यय हो।

यह क्यप् प्रत्यय यत् और ण्यत् का बाधक है। शास् और जुष् को हलन्त होने के कारण 'ऋहलोर्ण्यत्' से ण्यत् प्राप्त था और शेष को अजन्त होने से – अचोयत् ३.१.१२५' सूत्र से यत्।

'क्यप्' के ककार और पकार की इत्संज्ञा होती है शेष केवल 'य' रहता है। यत् से इसका अन्तर कित् और पित् होने का है। कित् होने से क्यप् में गुण नहीं होता और पित् होने से 'ह्रस्वस्य'– सूत्र से तुक् आगम होता है।

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् 6.1.71

इत्यः। स्तुत्यः। शासु-अनुशिष्टौ।

व्याख्याः ह्रस्व को तुक् आगम हो पित् कृत् परे रहते।

इत्यः—इण् धातु से पिछले सूत्र 'एति–स्त्–शास्–व–द–जुषः क्वप् ३.१.१०६' से क्यप् प्रत्यय हुआ। क्यप् का य शेष रहता है। पित् होने से उसके परे रहते ह्रस्व इकार को तुक् आगम होकर 'इत्य' रूप बना उससे प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

शासु—'शास्' धातु मूल में नहीं बताई गई, इसलिये यहां उसका परिचय देने के लिये ऐसा कहा गया है। यह धातु अदादिगण की है।

शास इद् अङ्–हलोः 6.4.34

शास उपधाया 'इत्' स्यादङि हलादौ क्ङिति। शिष्यः। वत्यः। आदत्यः। जुष्यः।

व्याख्याः शास् की उपधा को ह्रस्व इकार हो अङ् और हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते।

शिष्यः—शास् धातु से पूर्वोक्त 'एति–स्तु–शास–' इत्यादि सूत्र से क्यप् प्रत्यय हुआ, वह कित् है, उसके परे रहते प्रकृत सूत्र से उपधा आकार को इकार होने पर 'शासिवसिधसीनां च' से सकार को मूर्धन्य सकार होकर 'शिष्यः'

यह रूप सिद्ध हुआ। इस रूप में कित् होने का फल आकार को इक होना है।

वृत्यः— व धातु से 'एतिस्तु–शास्–व–' से क्यप् और 'ह्रस्वस्य पिति कृति तक्' से तुक् आगम होकर रूप बना। यहाँ 'क्यप्' होने का फल 'तुक्' आगम है।

आदत्यः— आङ्पूर्वक द धातु से क्यप् और तुक् होने पर पूर्ववत् रूप सिद्ध हुआ। यहां भी 'क्यप्' होने का फल 'तुक्' आगम है।

जुष्यः—जुष् धातु से क्यप् हुआ। क्यप् के कित् होने से उसके परे रहते लघुपध गुण का निषेध हो गया।

मजेर्विभाषा 3.1.113

मजेः क्यब् वा। मज्यः।

व्याख्याः मज् धातु से क्यप् विकल्प से हो।

मज् (साफ करना) धातु हलन्त है, अतः उसे 'ऋहलोर्ण्यत् ३.१. सूत्र से ण्यत् प्राप्त था, उसका यह सूत्र बाधक है।

मज्यः (साफ करने योग्य, साफ करना चाहिये)—मज् धातु से प्रकृत सूत्र से क्यप् हुआ। कित् होने से गुण का निषेध हो गया।

ऋहलोर्ण्यत् 3.1.124

ऋवर्णान्ताद् हलन्ताच धातोर्ण्यत्। कार्यम्। हार्यम्। धार्यम्।

व्याख्याः ऋवर्णान्त और हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय हो। ण्यत् का य शेष रहता है, णकार और तकार इत्संज्ञक हैं।

कार्यम्, हार्यम्, धार्यम्—कृ हृ और ध धातुओं से ऋकारान्त होने के कारण ण्यत् प्रत्यय प्रकृत सूत्र से हुआ। ण्यत् के णित् होने से उसके परे रहते 'अचो ञ्णिति' से ऋकार को वद्धि होने पर ये रूप बने।

च-जोः कु घिण्-ण्यतोः 7.3.52

चजो' कुत्वं स्यात् घिति ण्यति च परे।

व्याख्याः चकार और जकार को कुत्व होता है घित् और ण्यत् प्रत्यय परे रहते।

सूत्रस्थ 'घिण्' 'घित्' के तकार को 'यरोनुनासिकेनुनासिको वा' सूत्र से अनुनासिक णकार होने से बना है।

'मजेविंभाषा' सूत्र से जब क्यप् नहीं हुआ। उस पक्ष में हलन्त होने से ण्यत् प्रत्यय होता है। ण्यत् परे रहते यह सूत्र जकार को कवर्ग गकार करता है।

मजूर्वद्धि 7.2.114

मजेरिको वद्धिः सार्वधतुकार्धधातुकयोः। मार्ग्यः।

व्याख्याः मज् धातु के इक् को वद्धि हो सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते।

मार्ग्यः—क्यप् के अभावपक्ष में ण्यत् हुआ पिछले सूत्र से जकार को कवर्ग गकार हुआ। तब प्रकृत सूत्र से ऋकार को वद्धि आर होकर रूप बना।

भोज्यं भक्ष्ये 7.3.69

भोग्यमन्यत्। इति कृत्यप्रक्रिया।

व्याख्याः भक्ष्य–भक्षण करने योग्य–अर्थ में भोज्य बनता है अर्थात् ण्यत् परे रहते 'चजोः कु घिण्यतोः' से प्राप्त कुत्व नहीं होता।

यह सूत्र कुत्व के अभाव का निपातन करता है।

जब भक्षण करने योग्य अर्थ नहीं होगा तब कुत्व होकर भोग्यम् रूप बनेगा इसका अर्थ होगा 'उपभोग के योग्य'।

हलन्त होने से 'भुज्' धातु से ण्यत् प्रत्यय होता है।

कृत्य प्रक्रिया समाप्त।

ण्वुल-तचौ 3.1.133

धातोरेतौ स्तः। 'कर्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे।

व्याख्याः धातु से ण्वुल् और तच् प्रत्यय हों।

ण्वुल् का वु और तच् का त शेष रहता है, शेष भाग दोनों के इत्संज्ञक है।

कर्तरि कृदिति—ये प्रत्यय 'कर्तरि कृत्' सूत्र से कर्ता अर्थ में होते हैं।

यु-वोरनाकौ 7.1.1

'यु वु' एतयोः'अनाकौ स्तः। कारकः। कर्ता।

व्याख्याः यु और वु को क्रम से 'अन' और 'अक' आदेश हो।

कारकः (करने वाला)—कृ धातु से कर्ता अर्थ में —ण्वुल—तचौ ३.१.१३३' सूत्र से ण्वुल् होने पर प्रकृत सूत्र 'यु—वोः अनाकौ ७.१.१' से 'वु' के स्थान में 'अक' आदेश हुआ और णित् होने के कारण ण्वुल् परे रहते 'अचो णिति से वद्धि होकर 'कारक' शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

कर्ता (करनेवाला)—कृ धातु से कर्ता अर्थ में पूर्ववत् तच् प्रत्यय हुआ, तच् की आर्धधातुक संज्ञा हुई। उसके परे रहते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण अर् होकर रूप सिद्ध हुआ। 'कर्त'। उससे प्रथमा के एकवचन में रूप बन गया।

नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः 3.1.134

नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यदेर्णिनिः, पचादेरच् स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः, जनमर्दयतीति जनार्दनः, लवणः। ग्राही, स्थायी, मन्त्री,। पचादिराकृतिगणः।

व्याख्याः नन्द् आदि धातुओं से ल्यु, ग्रह् आदि से णिनि और पच् आदि से अच् प्रत्यय हो। ग्रह आदि में ग्रह स्था और मन् हैं।

ल्यु का यु, णिनि का इन् और अच् का अ शेष रहता है बाकी इत्संज्ञक हैं। णिनि णित् है उसके परे रहते वद्धि होती है। ल्यु के यु को 'युवोरनाकौ' से अन आदेश होता है।

ये तीनों प्रत्यय भी कर्ता अर्थ में यथापूर्व 'कर्तारि कृत्' सूत्र के अनुसार होते हैं।

नन्दनः (आनन्द देनेवाला)—टुनदि समद्धौ (भ्वा. प. से.) धातु से ल्यु प्रत्यय प्रकृत सूत्र से हुआ। तब 'यु' के स्थान में 'यु—वोः अनाकौ ७.१.१।।' सूत्र से 'अन' आदेश होने पर प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

लूलवणः (काटनेवाला या नमक)— (क्रया.उ. से.) धातु से नन्द्यादि होने के कारण ल्यु प्रत्यय हुआ। यु को अन आदेश और नन्द्यादिगण में निपातन से णत्व होकर 'लवण' शब्द बना। कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर स्वादि की उत्पत्ति हुई। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

ग्राही (ग्रहण करनेवाला) ग्रह् धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा णिनि प्रत्यय हुआ। णिनि के णित् होने से उसके परे रहते 'अत उपधायाः ७.२.११६।।' सूत्र से उपधा अकार की वद्धि हुई। तब 'ग्रहिन्' शब्द बना (कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर स्वाद्युत्पत्ति हुई। प्रथमा के एकवचन में हल्ङ्यादि लोप और उपधादीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।)

स्थायी (स्थिर रहनेवाला)—स्था धातु से ग्रह्यादि होने के कारण णिनि प्रत्यय हुआ। णिनि के णित् होने से उसके परे रहते आकारन्त स्था धातु को 'आतो युक् चिणकृतोः ७.३.३३।।' से युक् आगम होने पर 'स्थायिन्' शब्द बना।

उससे सु आदि की उत्पत्ति होकर प्र. ए. व. में रूप सिद्ध हुआ।

मन्त्री (सलाह देनेवाला, सचिव)–मन्त्री चुरादि धातु से णिनि प्रत्यय हुआ। णि का लोप हुआ। मन्त्रिन् की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सु आदि की उत्पत्ति होकर प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

चादिरिति–पच् आदि आकृतिगण है। इसलिये पचः, नदः, चोरः आदि शब्द अच् प्रत्यय से बनते हैं।

इगुपघ-ज्ञा-प्री-किरः कः 3.1.135

एभ्यः कः स्यात्। बुधः। कृशः। ज्ञः। प्रियः। किरः।

व्याख्याः इगुपध, ज्ञा, प्री और कृ धातुओं से क प्रत्यय हो।

'क' प्रत्यय का ककार इत्संज्ञक है, 'अ' शेष रहता है। कित् होने से इसके परे रहते गुण वद्धि का निषेध हो जाता है।

बुधः (जाननेवाला, पण्डित)–'बुध्' (दि. आ. अ) धातु इगुपध है। इस से प्रकृत सूत्र के द्वारा क प्रत्यय हुआ। 'बुध' की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर सु आदि की उत्पत्ति होकर प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

कृशः (कमजोर), **ज्ञः** (जाननेवाला), **प्रियः** (प्रसन्न करनेवाला, प्यारा), **किरः** (बिखेरनेवाला)–इनमें भी क प्रत्यय हुआ।

ज्ञः–यहां ज्ञा से क होने पर 'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप हुआ।

प्रियः–प्री में क होने पर ईकार को इयङ् आदेश हुआ।

किरः–कृ में क होने पर ऋत इद्धातोः से इर् आदेश हुआ।

आतश्चोपसर्गे3.1.136

प्र-ज्ञः। सु-ग्लः।

व्याख्याः उपसर्ग–सहित आदन्त धातु से क प्रत्यय हो।

प्रज्ञः (प्रकृष्ट जानने वाला, विद्वान)–प्र पूर्वक ज्ञा धातु से प्रकृत सूत्र से क प्रत्यय हुआ। 'आतो लोप इटि च ६. ४.६४।।' स आकार का लोप होकर 'प्रज्ञ' शब्द बना। प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

सुग्लः (अच्छी तरह ग्लानि करनेवाला)–सु पूर्वक ग्लै धातु से ऐकार को आकार होने पर प्रत्यय होकर आकार का लोप हुआ। सुग्ल की प्रातिपदिक संज्ञा हुई। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

गेहे कः 3.1.144

गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात्। गहम्।

व्याख्याः यदि गेह–घर–कर्ता अर्थ हो तो उस अर्थ में ग्रह् धातु से 'क' प्रत्यय हो।

ग्रहम् (घर)–ग्रह् धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा 'क' प्रत्यय हुआ। 'ग्रहि ज्या–६.१.१६' सूत्र से संप्रसारण होकर 'गह' शब्द बना।

यह अर्धर्चादिगण में होने से पुंल्लिङ्ग और नपुंसक दोनों है। पुंल्लिङ्ग में सदा बहुवचन में आता है। अमरकोष ने कहा है–''गहाः पुंसि च भूम्न्येव'।

कर्मण्यण् 3.2.1

कमेण्युपदे धातोः 'अण्' प्रत्ययः स्यात्। 'कुम्भं करोति' इति–कुम्भकारः।

व्याख्याः कर्म उपपद रहते धातु से अण् प्रत्यय हो।

अण् का णकार इत्संज्ञक है, केवल अकार बचता है। णित् होने से इसके परे रहते वद्धि हो जाती है।

कुम्भकारः (घड़ा बनानेवाला, मुम्हार)–कुम्भ कर्म उपपद रहते कृत धातु से 'कुम्भ अम् कृ' इस दशा में अण् प्रत्यय

हुआ। उसके परे रहते ऋकार के स्थान में 'अचो ञ्णिति ७.२.११५' सूत्र से अजन्त अङ्गनिमित्त २.१६।।' से समाप्त हुआ। समास का अवयव होने से 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २.४.७१।।' से सुप् अम् का लोप हुआ। इस प्रकार 'कुम्भकार' यह शब्द बना। इसकी कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। सु आदि की उत्पत्ति होने पर प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

आतोनुपसर्गे कः 3.2.3

आदन्तात् धातोर्नुपसर्गात् कर्मण्युपपदे कः स्यात्। अणोपवादः। आतो लोपः—गो-दः, कम्बल-दः, अनुपसर्गे किम्-गो-संदायः।

व्याख्याः उपसर्ग—रहित आदन्त धातु से कर्म उपपद रहते 'क' प्रत्यय हो।

अण इति—यह क प्रत्यय 'कर्मण्यण ३.२.१।।' का बाधक है।

गो-दः (गाय देनेवाला)—'गो अम् दा' इस दशा में प्रकृत सूत्र से 'क' प्रत्यय हआ। दा धातु आकारान्त है और इसके साथ उपसर्ग नहीं है। 'आतो लोप इटि च ६.४.६४।।' से अकार का लोप हुआ। पूर्ववत् उपपद समास होने पर सुप् का लोप हुआ। तब 'गोद' की कृदन्त होने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा हुई। सु आदि की उत्पत्ति होने पर प्रथमा के एकवचन में यह रूप बना।

धन-दः (धन देनेवाला, कुबेर) और **कम्बल-दः** (कम्बल देनेवाला)—इनकी सिद्धि 'गोदः' के समान ही होती है।

अनुपसर्गे इति—आकारान्त धातु के साथ उपसर्ग नहीं होना चाहिये ऐसा क्यों कहा? इसका प्रयोजन है—**गोसंदाय। गां संददाति**—गाय को देता है—इस अर्थ में 'गो अम् सं दा' यहां सम् उपसर्ग का योग होने से आकारान्त होने पर भी दा धातु से 'क' प्रत्यय नहीं हुआ। तब सामान्य सूत्र 'कर्मपयण् ३.२.१।।' से अण् प्रत्यय हुआ। 'आतो युक् चिणकृतोः ७.३.३३।।' से युक् आगम हुआ। उपपद समास होने पर सुप् अम् का लोप हुआ। तब 'गोसंदाय' की कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि की उत्पत्ति होने पर प्रथमा के एकवचन में यह रूप सिद्ध हुआ।

(वा) **मूल-विभुजादिभ्यः कः। मूलानि विभुजति मूलविभुजो रथः। आकृतिगणोयम्। मही-ध्रः, कु-ध्रः**

व्याख्याः मूलविभुज आदि शब्दों में क प्रत्यय हो।

यह वार्तिक भी पूर्वोक्त 'कर्मण्यण् ३.२.१।।' इस सूत्र का बाधक है।

मूल-विभुजः (मूलानि विभुजति—जड़ों को तोड़नेवाला, रथ)—मूल शस् वि भुज्— इस दशा में क प्रत्यय हुआ। उपपद समास होने पर सुप् का लोप हुआ। तब 'मूल—विभुज' की कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। सु आदि की उत्पत्ति होकर प्रथमा के एकवचन में रूपसिद्ध हुआ।

आकृतीति—मूल विभुज आदि आकृतिगण है। इसलिये—**मही-ध्रः** (महीं धरति—पथ्वी को धारण करनेवाला पहाड़), **कु-ध्रः** (कु[१] पथ्वी धरति—पथ्वी को धारनेवाला पहाड़) इनमें भी 'क' प्रत्यय हुआ। कित् होने से गुण का निषेध होने पर ऋकार को यण् होकर उक्त रूप बनते हैं।

चरेष्टः 3.2.16

अधिकरणे उपपदे। कुरु-चरः।

व्याख्याः अधिकरण उपपद रहते हुए चर् धातु से ट प्रत्यय हो।

ट प्रत्यय के टकार की इत्संज्ञा होती है। टित् होने का फल स्त्रीलिंङ्ग में 'टिड्ढाणा्—' ४.१.१५ से ङीप् प्रत्यय होता है।

कुरु-चरः (कुरु देश में विचरण करने वाला)—'कुरुषु चरति' इस विग्रह में 'कुरु सु चर्—' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से ट प्रत्यय हुआ। 'कुरुषु— यह उपपद सप्तम्यन्त है। उपपद समास होने पर सुप् सु का लोप हुआ। तब 'कुरु—चर' की कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। प्रथमा के एकवचन में यह रूप सिद्ध हुआ।

टित् होने से स्त्रीलिङ्ग में 'टित्—ढ—१५।।' ङीप् होने पर कुरुचरी बनता है।

---

१. 'गोत्रा—कु—पथ्वी—पथिवी—' इत्यमरः।

भिक्षा-सेनादायेषु च 3.2.17

भिक्षां चरः। सेना-चरः। अदायेति ल्यबन्तम् आदाय-चरः।

व्याख्याः भिक्षा, सेना और आदाय उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय हो।

भिक्षा-चर' (भिक्षा चरति, भिक्षा लानेवाला)–भिक्षा कर्म उपपद रहते हुए ट प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

सेना-चरः (सेना में रहनेवाला, सैनिक)–'सेनायां चरति' इस विग्रह में 'सेना ङि चर्' इससे ट प्रत्यय हुआ। उपपद–समास होने पर सुप् ङि का लोप हुआ। इस प्रकार 'सेनाचरः' रूप सिद्ध हुआ।

आदायेति–आदाय' यह ल्यप्–प्रत्ययान्त हैं। ल्यप् प्रत्यय उत्तरकृदन्त में 'समासेनापूर्वे क्त्वो ल्यप् ७.३.३७' इस सूत्र में आयेगा।

आदाय-चरः (लेकर चल देनेवाला)–'आदाय' उपपद रहते चर् धातु से 'ट' प्रत्यय हुआ। उपपद–समास होने पर कृदन्त होने के कारण 'आदायचर' की प्रातिपदिक संज्ञा हुई। तब प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

कृाे हेतु-ताच्छील्यानुलोम्येषु 3.2.20

एषु द्योत्येषु करोतेः 'टः' स्यात्।

व्याख्याः हेत, ताच्छील्य और आनुलोम्य अर्थों में धातु से 'ट' प्रत्यय हो।

ताच्छील्य 'स्वभाव' को और आनुलोम्य 'अनुकूलता' को कहते हैं।

अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य 8.3.46

आद् उत्तरस्याव्ययस्य विसर्गस्य समोस नित्यं सादेशः 'करोति' आदिषु परेषु। यशस्करी-विद्या। श्राद्ध-करः। वचन-करः।

व्याख्याः कृ धातु, कम् धातु, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्ण शब्द परे हों तो अकार से परे विसर्ग, जो विसर्ग अव्यय का न हो, के स्थान में नित्य सकार आदेश हो समास में।

यह सूत्र विसर्गों के स्थान में प्राप्त जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का बाधक है।

यशस्करी (यश का हेतु, विद्या आदि)–'यशः करोति' इस विग्रह में 'यशस् अम् कृ' से पूर्वोक्त प्रकृत सूत्र से हेतु अर्थ में ट प्रत्यय हुआ, तब उपपद समास होने पर सुप् अम् का लोप हुआ। ऋकार को अर् गुण होकर 'यशस्कर' बना। उससे टित् होने के कारण '१२५७ टिड्ढाण्–४.१.१५।।' सूत्र से ङीप प्रत्यय हुआ।

प्रकृत सूत्र से 'याः' में वर्तमान विसर्गों के स्थान में प्राप्त जिह्वामूलीय को बाधकर सकार आदेश हुआ।

श्राद्ध-करः (वचनं करोति–कहे हुए को करनेवाला, आज्ञापालक)– 'वचन अम् कृ' से ट प्रत्यय हुआ। उपपद समास होने पर सुम् अम् का लोप हुआ। ऋकार को अर् गुण हुआ।

एजेः खश् 3.2.28

ण्यन्ताद् एजेः खश् स्यात्।

व्याख्याः ण्यन्त एज् (कांपना) धातु से 'खश्' प्रत्यय हो। 'खश्' प्रत्यय के खकार और शकार इत्संज्ञक हैं, अकार ही शेष रहता है।

अरुर्द्विषद्-अजन्तस्य मुम् 6.3.67

अरुषो द्विषतोजन्तस्य च 'मुम्' आगमः स्यात् खिदन्ते परे नतु अव्ययस्य। शित्वात् शबादिः 'जनमेजयति' इति जनमेजयः।

व्याख्याः अरुष् (मर्म), द्विषत् (शत्रु) और अजन्त शब्दों को मुम् आगम हो खिदन्त परे रहते, परन्तु अव्यय को मुम् नहीं होता।

शित्वाद् इति–'खश्' के शित् होने से उसके परे रहते 'शप्' आदि होते हैं। शित् होने से 'तिङ्' शित्–सार्वधातुकम् ३.४.११३' सूत्र से 'खश्' की सार्वधातुक संज्ञा होती है। तब 'शप्' आदि प्रत्यय इसके परे रहते होते हैं।

जनमेजयः (जनमेजयति–लोगों को कंपाता है, परीक्षित के लड़के का नाम)–'जन अम् एजि' से 'एजेः खश्' से खश् प्रत्यय हुआ। शित होने से शप् हुआ। खश् के अकार के साथ उसका 'अतो गुणे' से पररूप हुआ। इकार को गुण और अय् आदेश हुआ। उपपद–समास होने पर सुप अम् का लोप हुआ। तब खिदन्त 'एजय' परे रहते अजन्त जन शब्द को मुम् आगम होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्रिय-वशे वदः खच् 3.2.38

प्रियं-वदः। वशं-वदः।

व्याख्याः प्रिय और वश कर्म उपपद रहते वद् धातु से खच् प्रत्यय हो।

खच् के खकार और चकार इत्संज्ञक हैं, केवल अ बच रहता है। खित् होने से इसके परे रहते भी मुम् आगम होता है।

प्रियंवदः (प्रियं वदति, प्रिय बोलनेवाला)–'प्रिय अम् वद्' से प्रकृत सूत्र के द्वारा खच् प्रत्यय हुआ। तब उपपद समास होने पर सुप अम् का लोप हुआ। 'अरुर्दिषद् अजन्तस्य मुम्' सूत्र से खिदन्त वद् परे रहते पूर्व अजन्त प्रिय शब्द को मुम् आगम हुआ। तब कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि की उत्पत्ति हुई। प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

वंशवद' (वशे वदति अधीन)–इसकी सिद्धि 'प्रियंवदः' के समान होती है।

अन्येभ्योपि दश्यन्ते 3.2.75

मनिन् क्वनिप् वनिप विच्-एते प्रत्यया धातोः स्युः।

व्याख्याः मनिन्, क्वनिप्, वनिप् और विच् प्रत्यय (आकारान्त धातुओं से) अन्य धातुओं से भी हों।

'आतो–मनिन्–क्वनिप् वनिपश्च' इस सूत्र से ये प्रत्यय आकारान्त धातुओं से किये गये हैं। इस सूत्र के बाद का यह प्रकृत सूत्र है। यह आकारान्त से भिन्न धातुओं से भी इन प्रत्ययों का विधान करता है।

मनिन् का इन्, क्वनिप का क्, इप्, वनिप् का इप् और विच् सम्पूर्ण इत्संज्ञक है। मनिन् का मन्, क्वनिप् और वनिप् का वन् शेष रहता है, क्वनिप् में कित् होने से गुण वद्धि नहीं होते। विच् का कुछ भी शेष नहीं रहता। क्वनिप् और वनिप् पित् हैं, इससे इनके परे रहते पूर्व ह्रस्व वर्ण को तुक आगम भी हो जाता है।

नेड् वशि कृति 7.2.8

वशादे कृत इण् न स्यात्। शॄ हिंसायाम्-सुशर्मा। प्रातरित्वा।

व्याख्याः वशादि कृत् प्रत्यय को इट् न हो।

सुशर्मा (शोभनं श्णाति अच्छी तरह हिंसा करता है)–सु–पूर्वक शॄ धातु से 'अन्येभ्योपि दश्यते' सूत्र से मनिन् प्रत्यय हुआ, मन् शेष रहा। आर्धघातुक होने से मन् के परे रहते ऋकार को अर् गुण हुआ। वलादि होने से प्राप्त इट् का 'नेड् वशि कृति' से निषेध हो गया। सुशर्मन् बना। तब प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

प्रातरित्वा (प्रातरेति, प्रातः जानेवाला)–प्रातर्–पूर्वक इण् धातु से क्वनिप् प्रत्यय हुआ। फिर तुक् आगम होने पर 'प्रातरित्वन्' शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

इन दोनों शब्दें के रूप यज्वन् के समान बनते हैं।

विड्–वनोरनुनासिकस्यात् 6.4.41

अनुनासिकस्यात्स्यात्। विजायत इति विजावा। ओण अपनयने अवावा। विच्रुष रिध् हिसायाम। रोट्, रेट्, सुगण्।

व्याख्याः विट् और वन् प्रत्यय परे रहते अनुनासिक वर्ण को आकार हो।

वन् से क्वनिप् और वनिप् दोनों लिये जाते हैं, क्योंकि इन दोनों का वन्, शेष रहता है।

विट् प्रत्यय वेद में होता है, वैदिक प्रक्रिया में उदाहरण मिलेगा।

विजावा (विजयते, अनेक रूप में होनेवाला)—विपूर्वक जन् धातु से 'अन्येभ्योपि दश्यन्ते ३.२.७५।।' से वनिप् प्रत्यय हुआ और तब प्रकृत सूत्र से अनुनासिक नकार को आकार और उसका पूर्व अकार के साथ सवर्णदीर्घ होकर 'विजावन्' शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

इसके रूप राजन् के समान बनते हैं।

अवावा (पाप से हटाने वाली, ब्राह्मणी)—'ओण' अपनयने धातु से वनिप् प्रत्यय हुआ। 'ओण् वन्' इसस्थिति में 'विड्वनोरनुनासिकस्यात' से णकार को आकार होने पर 'ओ आवन्' यह दशा हुई। यहां ओकार को अव् आदेश हुआ। तब 'अवावन्' शब्द बना। 'राजन्' के समान इसके रूप बनते हैं। यह प्रथमा के एकवचन का रूप है।

रोट्, रेट् (हिंसक)—रुष् और रिष् धातु से विच प्रत्यय हुआ। उसका सर्वापहार लोप होने पर लघूपध गुण होकर रोष् और रेष् शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में सु के सकार का लोप होने पर षकार को जश् डकार होकर रूप बने।

सुगण् (सुष्ठु गणयति, अच्छा गिननेवाला)—सु पूर्वक गण् धातु से विच् प्रत्यय हुआ। उसका सर्वापहार लोप होने पर 'सुगण्' शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

क्विप् च 3.2.76

अयमपि दश्यते। उखास्रत् पर्णध्वत्। वाहभ्रट्।

व्याख्या: क्विप् प्रत्यय भी धातु से हो कर्ता आदि में।

क्विप् का विच् के समान सर्वापहार लोप होता है। कित् होने से गुण वद्धि का निषेध और यदि धातु में नकार हो तो उसका लोप होता है। पित् होने से यदि धातुह्रस्वान्त हो तो तुक् आगम होता है।

उखास्रत् (उखायाः स्रंसते—हांडी से गिरनेवाला)—पचम्यन्त उखा पूर्वक स्रंस् धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा क्विप् प्रत्यय हुआ उसका सर्वापहार लोप हुआ। 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' से नकार का लोप हुआ। उपपद—समास और सुप् ङसि का लोप होने पर 'उखास्रस्' प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में 'वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहा दः' से सकार को दकार और उसे 'वावसाने' से वैकल्पिक चर् होकर रूप बना।

पर्ण-ध्वत् (पत्तों से गिरनेवाला)—पूर्ववत् क्विप् प्रत्यय और अनुनासिक लोप तथा सकार को दकार होकर रूप बना।

वाह-भ्रट् (वाहात् भ्रश्यति—घोड़े से गिरनेवाला)—वहां पूर्ववत् क्विप अनुनासिक लोप होने पर प्रथमा के एकवचन में शकार को 'व्रश्चभ्रस्ज—' से षकार और उसे जश् डकार तथा चर विकल्प होकर रूप बना।

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये 3.2.78

अज्ञातयर्थे सुपि धातार्णिनिः, ताच्छील्ये द्योत्ये। उष्ण-भोजी।

व्याख्या: जातिवाचक से भिन्न सुबन्त उपपद रहते धातु से णिनि प्रत्यय हो, ताच्छील्य अर्थ में।

ताच्छील्य का अर्थ स्वभाव (आदत) है।

उष्ण-भोजी (गरम भोजन करने की आदतवाला, उष्णं भुङ्क्ते तच्छीलः)—यहां उष्णम् सुबन्त जो कि जातिवाचक नहीं, गुणवाचक है, उपपद रहते भुज् धातु से ताच्छील्य अर्थ में प्रकृत सूत्र से णिनि प्रत्यय हुआ। उपपद समास और सुप् अम् का लोप तथा लधूपध गुण होने पर उष्णभोजिन् प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में उपधादीर्घ और नकार का लोप होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

मनः 3.2.82

सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात्। दर्शनीय-मानी।

व्याख्या: सुबन्त उपपद रहते मन् धातु से णिनि प्रत्यय हो।

दर्शनीय-मानी (सुन्दर समझनेवाला, दर्शनीयं मन्यते)—यहां दर्शनीयम् सुबन्त उपपद रहते मन् धातु से णिनि प्रत्यय हुआ। उपपद–समास, सुप् अम् का लोप और उपधा अकार को वद्धि होने पर 'दर्शनीयमानिन्' यह इन्नन्त शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में उपधावद्धि और नकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

आत्ममाने खश्च 3.2.83

स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात् चात् णिनिः। पण्डितम् अत्मानं मन्यते पण्डितं-मन्यः, पण्डित-मानी।

व्याख्याः स्वकर्मक मनन अर्थ में वर्तमान मन् धातु से सुबन्त उपपद रहते खश् प्रत्यय भी हो।

स्वकर्मक मनन का तात्पर्य है अपने को मानना। खश् के शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा होने पर श्यन् होता है। श्यन् के अकार का खश् के अकार के साथ 'अतो गुणे' से पररूप हो जाता है, खित् होने से पूर्व अजन्त शब्द को और अरुष्, द्विषत् को 'अरुर्द्विषद् अजन्तस्य मुम् ६.३.६७।।' सूत्र से मुम् आगम होता है।

चात् णिनिरिति—सूत्र में च (भी) होने से णिनि प्रत्यय भी होता है।

पण्डितं-मन्यः (पण्डितमात्मानं मन्यते अपने को पण्डित माननेवाला) यहां 'पण्डितम्' इस सुबन्त के उपपद रहते मन् धातु से खश् प्रत्यय हुआ। उपपद–समास, सुप अम् का लोप, धातु से विकरण श्यन् होने के साथ 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' से मुम् आगम हुआ। तब 'पण्डितं–मन्य' यह अकारान्त प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

पण्डित-मानी—खश् के अभावपक्ष में चकार के द्वारा णिनि प्रत्यय हुआ। पूर्ववत् समास, सुप् का लोप हुआ। उपधावद्धि होने पर इन्नन्तप्रातिपदिक बन कर प्रथमा के एकवचन में उपधादीर्घ और नकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

खित्यनव्ययस्य 6.3.66

खिद्न्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः, न-त्वव्ययस्य। ततो मुम्। कालिं-मन्या।

व्याख्याः खिदन्त परे रहते पूर्वपद को ह्रस्व हो, परन्तु अव्यय को न हो।

कालिंमन्या (आत्मानं कालीं मन्यते, अपने को जो काली समझती हो)—यहां कालीम् सुबन्त उपपद रहते मन् धातु से खश् प्रत्यय हुआ। उपपद–समास और अम् का लोप, श्यन, पूर्वपद काली के ईकार को प्रकृत सूत्र से ह्रस्व, मुम् आगम, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप होने पर 'कालिंमन्या' प्रातिपदिक बना। उसके प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

करणे यजः 3.2.85

करणे उपपदे भुतार्थवत्तेर्णिनिः कर्तरि। सोमेनेष्टवान् सोम-याजी। अग्निष्टोम-याजी

व्याख्याः करण उपपद रहते भूतकाल में यज् धातु से णिनि प्रत्यय हो कर्ता अर्थ में।

सोम-याजी (जिसने सोमयाग किया हो)—यहां 'सोम टा यज' से भूतकाल में कर्ता अर्थ में प्रकृत सूत्र से णिनि प्रत्यय हुआ। उपपद समास और सुप् टा का लोप होने पर 'अत उपधायाः' से उपधावद्धि होकर 'सोमयाजिन्' यह शब्द बना। इसके प्रथमा के एकवचन में उपधादीर्घ और न लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

अग्निष्टोम-याजी (जिसने अग्निष्टोम याग किया हो)—यहां भी करण उपपद रहते भूतकाल में कर्ता अर्थ में यज् धातु से णिनि प्रत्यय होकर पूर्ववत रूप सिद्ध हुआ।

दशेः क्वनिप् 3.2.94

कर्मणि भूते। पारं दष्टवान्-पार-दश्वा।

व्याख्याः कर्म उपपद रहते भूतकाल में वर्तमान दश् धातु से कर्ता में क्वनिप् प्रत्यय हो।

पार-दश्वा (जिसने पार देख लिया है पूर्ण)—यहां 'पार अम् दश्' से भूतकाल में कर्ता में प्रकृत सूत्र से क्वनिप् प्रत्यय हुआ। उपपद समास और सुप् अम् का लोप होने पर 'पारदश्वन्' यह नकारान्त प्रातिपदिक बन गया। प्रथमा के एकवचन में उपधादीर्घ और नकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

राजनि युधि कृञः 3.2.95

क्वनिप् स्यात्। युधिरन्तर्भावितण्यर्थः। राजानं योधितवान्-राजयुध्वा राज-कृत्वा

व्याख्याः राजन् कर्म यदि उपपद हो तो युध् और कृञ् धातु से क्वनिप् प्रत्यय हो।

युधीति—युध् धातु में णि का अर्थ इसके अन्दर छिपा होता है।

राज-युध्वा (जिसने राजा को लड़वाया हो)—यहां राजन् अम् युध् से प्रकृत सूत्र के द्वारा क्वनिप् प्रत्यय हुआ। उपपद—समास और सुप् अम् का लोप और नकार का लोप होने पर 'राजयुध्वन्' यह नान्त प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में उपधादीर्घ और नकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

राज-कृत्वा (राजानं कृतवान्, जिसने राजा बनाया हो)—यहां 'राजन् अम् कृ' से क्वनिप् हुआ। उपपद—समास, सुप् अम् का लोप, राजन् के नकार का लोप और 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् होकर 'राजकृत्वन्' प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में पूर्ववत् रूप सिद्ध हुआ।

सहे च 3.2.96

'कर्मणि' इति निवत्तम्। सह योधितवान्-सह-युध्वा। सह-कृत्वा।

व्याख्याः 'सह' उपपद रहते भी युध् और कृ धातु से क्वनिप् प्रत्यय हो।

कर्मणि इति—'कर्मणि' इसकी निवत्ति हो गई अर्थात् 'कर्मणीति विक्रियः ३.२.६५।।' सूत्र से 'राजनि युधि कृञः' इस सूत्र में जो 'कर्मणि' इस पद की अनुवत्ति आई वह इस सूत्र में नहीं आती।

सह-युध्वा (साथ जिसने लड़ाया हो)—यहां सह उपपद रहते युध धातु से क्वनिप् प्रत्यय होने पर 'सहयुध्वन्' प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

सह-कृत्वा—(सह कृतवान् साथ जिसने किया हो)—यहां सह उपपद रहते कृ धातु से क्वनिप् प्रत्यय हुआ। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् होने पर 'सहकृत्वन्' प्रातिपदिक बना। प्रथमा विभक्ति के एकवचन में पूर्ववत् रूप सिद्ध हुआ।

इन पारदश्वन् आदि क्वनिबन्त शब्दों के रूप यज्वन् के समान बनते हैं और स्त्रीलिङ्ग में 'वनो र च ४.१.७।। सूत्र से ङीप् प्रत्यय तथा रकार होकर 'पारदश्वरी' आदि रूप होते हैं।

सप्तम्यां जनेर्डः 3.2.97

व्याख्याः सप्तम्यन्त उपपद रहते जन् धातु से ड प्रत्यय हो।

ड प्रत्यय का डकार इत्संज्ञक है। डित् होने से इसके परे रहते टि का लोप होता है।

तत्पुरुषे कृति बहुलम् 6.3.14

ङेरलुक् सरसि-जम्, सरोजम्।

व्याख्याः तत्पुरुष समास में कृत् प्रत्यय परे रहते सप्तमी का लोप नहीं होता बहुल से।

'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २.४.७१।।' से प्राप्त सुप् लोप का यह निषेध करता है। बहुल कहने से कभी होता है कभी नहीं।

सरसिजम्, सरोजम् (तालाब में पैदा होनेवाला, कमल)—यहां 'सरस् ङि ज्' से 'सप्तम्यां जनेर्डः' से ड प्रत्यय हुआ। डित् होने से टि अन् का लोप हुआ। 'तुम्पुरुषे कृति बहुलम्' से सप्तमी का बहुल अलुक् हुआ।

जब लोप नहीं हुआ तब 'सरसिज' प्रातिपदिक बना और जब लोप हो गया तब सकार के रु और उसे 'हशि च' से उकार होने पर गुण होकर 'सरोज' बना। इन दोनों के नपुंसकलिङ्ग प्रथमा विभक्ति में उक्त रूप सिद्ध हुए।

उपसर्गे च संज्ञायाम् 3.2.99

प्रजा स्यात् सन्ततौ जने।

व्याख्याः उपसर्ग उपपद् रहते जन् धातु से ड प्रत्यय हो संज्ञा में।

प्रजा (सन्तति)–प्र उपसर्ग पूर्वक जन् धातु से संज्ञा में ड प्रत्यय हुआ। टि अन का लोप होने पर 'प्रज' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व–विवक्षा में टाप होकर 'प्रजा' शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में वह रूप सिद्ध हुआ।

प्रजा स्यादिति–इसका अर्थ है प्रजा शब्द सन्तति और जन। (प्रजाजन) अर्थ में है अर्थात् इनकी संज्ञा है।

क्त-क्तवतू निष्ठा 1.1.26

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः।

व्याख्याः क्त और क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है।

निष्ठा 3.2.1०2

भूतार्थवर्त्तर्धतोर्निष्ठा स्यात्। तत्र 'तयोरेव-३.४.७०।।' इति भावकर्मणोः क्तः, 'कर्तरि कृद् ३.४.६७।।' इति इध कर्तरि क्तवतुः। उवितौ स्नातं मया। स्तुतस्त्वया विष्णुः। विश्वं कृतवान् विष्णुः।

व्याख्याः भूतकाल में वर्तमान धातु से निष्ठा प्रत्यय हो।

तत्रेति–उसमें से 'तयोरेव–३.४.७०।।' सूत्र से क्त प्रत्यय भाव और कर्म में होता है और 'कर्तरि कृत् ३.४.७।।' से क्तवतु कर्ता में।

इसलिये क्त प्रत्ययान्त क्रिया के कर्ता से ततीया और क्तवत्वन्त क्रिया के कर्ता से प्रथमा तथा प्रत्ययान्त के कर्म से प्रथमा तथा क्तवत्वन्त के कर्म से द्वितीया आती है।

क्त कर्म और भाववाच्य में क्तवतु कर्तवाच्य में होता है।

उकाविताविति–उकार और ककार इत्संज्ञक है। उकार क्तवतु का और ककार दोनों का इत् है। इस प्रकार क्त का त और क्तवतु का तवत् शेष रहता है। क्त प्रत्यय से शब्द आकारान्त और क्तवतु से हल्न्त तकारान्त बनता है।

धातु से विहित होने से तथा तिङ् शित् से भिन्न होने के कारण 'आर्धधातुकंशेषः' से इनकी आर्धधातुक संज्ञा होती है।

ये दोनों प्रत्यय बलादि है। अतः सेट् धातु के आगे इनको इट् होता है।

स्नातं मया (मैंने स्नान कर लिया)–स्ना धातु से अकर्मक होने के कारण भाव में क्त प्रत्यय होकर 'स्नात' शब्द बना। कृदन्त होने से इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हुई। सामान्य में नपुंसकलिङ्ग और प्रथमा का एकवचन आया। इस प्रकार यह रूपसिद्ध हुआ।

'मया' यह ततीयान्त में कर्ता है क्योंकि यहां भाव में क्त प्रत्यय होने से 'स्नातम्' यह क्रिया भाववाच्य है। भाववाच्य में कर्ता के अनुक्त होने से ततीया हुई। यह धातु अकर्मक है, इसलिये भाव में निष्ठा प्रत्यय आया। यह दिखाने के लिए 'मया' साथ दिया है।

स्तुतस्त्वया विष्णुः (तुमने विष्णु की स्तुति की)–यहां स्तु (स्तुति) धातु से कर्म में निष्ठा प्रत्यय क्त के कित् होने से गुण और धातु के अनिट् होने से इट् नहीं हुआ। प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

स्तु धातु सकर्मक है, इसलिये उससे कर्म में निष्ठा प्रत्यय हुआ। यही दिखाने के लिये 'त्वया विष्णुः' ये साथ दिये

गये हैं। कर्म में प्रत्यय होने से कर्ता अनुक्त है, इसलिये 'त्वया' यहां कर्ता से ततीया विभक्ति और 'विष्णुः' यहां उक्त होने से कर्म से प्रथमा विभक्ति हुई।

विश्वं कृतवान् विष्णुः (विष्णु ने संसार को बनाया)–यहां कृ धातु से कर्ता में क्तवतु प्रत्यय होकर 'कृतवत्' प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में क्तवतु के उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेधातोः ७.१.७०।।' से नुम् हुआ और नान्त की उपधा को 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६.४.८।।' से दीर्घ तथा सकार का हल्ङ्यादिलोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

कर्ता में क्तवतु हुआ। इसलिये कर्ता के उक्त होने से 'विष्णुः' यहां प्रथमा विभक्ति और 'विश्वम्' यहां कर्म से अनुक्त होने के कारण द्वितीया विभक्ति हुई।

र-दाभ्यां निष्ठा-तो नः पूर्वस्य चदः 8.2.42

रदाभ्यां परस्य निष्ठा-तस्य नः स्यात् निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च। शृ हिंसायाम्, ऋत इत् रपरः णत्वम्-शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः।

व्याख्याः रेफ और दकार से परे निष्ठा तकार को नकार आदेश हो तथा निष्ठा से पूर्व धातु के दकार को भी।

शृ हिंसायाम् इति–'शीर्णः' (नष्ट हुआ)–शृ (हिंसा) धातु से कर्म में निष्ठा प्रत्यय क्त हुआ। 'ऋत इद् धातोः' से ऋकार की इर् आदेश और इकार को 'हलि च' से दीर्घ होने पर 'शीर् त' इस दशा में प्रकृत सूत्र से रेफ से पर होने के कारण निष्ठा के तकार को नकार हुआ। तब णत्व होने पर 'शीर्ण' प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप–सिद्ध हुआ।

भिन्नः, छिन्नः—भिद् (फाड़ना) और छिद् (काटना) धातुओं से कर्म में निष्ठा प्रत्यय क्त हुआ। दकार से पर होने के कारण निष्ठा के तकार की ओर निष्ठा से पूर्व धातु के दकार को भी नकार प्रकृत सूत्र से होने पर 'भिन्न' और 'छिन्न' प्रातिपदिक बने। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुए।

संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः 8.2.43

निष्ठा-तस्य न स्यात्। द्राणः। ग्लानः।

व्याख्याः जो संयोगादि, आकारान्त और यण्वाली धातु हो उससे निष्ठा तकार को नकार हो।

द्राणः—द्रा (कुत्सित गति, अदा. पर. अनिट्) धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त हुआ। द्रा धातु संयोगादि भी है, अकारान्त भी है और रकार होने से यण्वाली भी है। इसलिये प्रकृत सूत्र से निष्ठा के तकार को रेफ होने पर उसे णत्व हुआ।

ग्लानः—ग्लै (ग्लानि, भ्वा. पर. अ.) धातु से क्त प्रत्यय हुआ। यहां 'आदेच उपदेशेशिति' से ऐकार को आकार हुआ। तब यह आकारान्त हो गया, यह संयोगादि भी है, लकार के कारण यण्वाली भी है। इसलिये इससे पर निष्ठा के तकार को प्रकृत सूत्र से नकार हुआ।

ल्वादिभ्यः 8.2.44

एकविंशतेलूञादिभ्यः प्राग्वत्। लूनः। ज्या-धातुः, 'ग्रहिज्या–' इति संप्रसारणम्।

व्याख्याः क्र्यादिगण की लूञ् आदि इक्कीस धातुओं से पर निष्ठा के तकार को नकार हो।

लूनः—लूञ्, (काटना, क्र्या. उभ. से.) धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त हुआ। प्रकृत सूत्र से तकार को नकार हुआ।

हलः 6.4.2

अङ्गावयवाद् लः परं यत् संप्रसारणम् तदन्तस्य दीर्घः। जीनः।

व्याख्याः अङ्ग के अवयव हल् से पर जो संप्रसारण, तदन्त को दीर्घ हो।

जीनः—ज्या (जीर्ण होना, क्र्या. पर. अ.) धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त हुआ। लू आदियों में होने से निष्ठा के तकार

को नकार हुआ। 'ग्रहिज्या–' से यकार को संप्रसारण और 'संप्रसारणाच्च' से आकार का पूर्व रूप तथ प्रकृत सूत्र 'हलः ६.४.२।।' से इकार को दीर्घ होकर 'जीन' प्रातिपदिक बना, तब प्रथमा केएकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

ओदितश्च 8.2.45

भुजो-भुग्नः। टुओश्वि-उच्छूनः।

व्याख्याः ओदित् धातुओं से पर निष्ठा के तकार को नकार आदेश हुआ।

भुग्नः—भुजो (तोड़ना, रु. पर. अ.) धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त हुआ। धातु के ओदित् होने से प्रकृत सूत्र से निष्ठा तकार को नकार हुआ। तब 'चोः कुः' से चवर्ग को कवर्ग गकार होने पर 'भुग्न' प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

उच्छूनः (सूजा हुआ)—उद्—उपसर्ग पूर्वक टु—ओ—श्वि (भ्वा. उ. से.) धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त होने पर ओदित् होने के कारण उसके तकार को नकार हुआ और यजादि् होने से धातु के वकार को संप्रसारण उकार, इकार का 'संप्रसारणाच्च' से पूर्वरूप, 'हलः' से दीर्घ और 'श्वीदितो निष्ठायाम्' से इट् का निषेध होने पर 'उच्छून' प्रातिपदिक बनकर प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

शुषः कः 8.2.51

निष्ठा-तस्य कः। शुष्कः।

व्याख्याः शुप् धातु से पर निष्ठा तकार को ककार होता है।

शुष्कः (सूखा हुआ)—शुष् (दि. पर. अ.) धातु के क्त प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से उसके तकार को ककार हुआ।

पचो वः 8.2.52

पक्वः। क्षै हर्षक्षये।

व्याख्याः पच् धातु से पर निष्ठा तकार को वकार आदेश होता है।

पक्वः—पच् (पकाना, भ्वा. उ. अ.) धातु से निष्ठा क्त प्रत्यय होने पर उसके तकार को प्रकृत सूत्र से वकार होकर रूप बना।

क्षायो मः 8.2.53

क्षामः।

व्याख्याः क्षै धातु से पर निष्ठा के तकार को मकार आदेश हो।

क्षामः—क्षै (कृश होना, भ्वा. पर. अ.) धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त होने पर 'आदेच उपदेशेशिति' से ऐकार को आकार हुआ। तब प्रकृत सूत्र से निष्ठा तकार को मकार का रूप बना।

निष्ठायां सेटि 6.4.52

णेर्लोपः। भावितः, भावितवान् दह हिंसायाम्—

व्याख्याः सेट् निष्ठा परे रहते णि का लोप हो।

भावितः, भावितवान्—ण्यन्त भू धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त और क्तवतु हुए। दोनों वलादि अर्धधातुक हैं इसलिये उनको इट् आगम हुआ। तब 'निष्ठायां सेटि' से णि का लोप हुआ। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुए।

दढः स्थूल-वलयोः 7.2.20

स्थूले बलवति च निपात्यते।

व्याख्याः स्थूल और बलवान् अर्थ में 'दढ' शब्द का निपातन होता है।

दह् (हिंसा) धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त होने पर हकार को दकार 'झषस्त थोर्धोधः' से तकार को धकार और फिर ष्टुत्व ढकार हुआ। पूर्व ढकार का 'ढो ढे लोपः' से लोप होने पर 'दढ' प्रातिपदिक बना। प्रकृत सूत्र से पूर्वोक्त विशेष अर्थों में इसका निपातन होता है।

दधातेर्हिः 7.4.42

तादौ किति। हितम्।

व्याख्याः धा धातु को 'हि आदेश हो तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते।

हितम्—धा (धारण, पोषण, जुहो. उ. अ.) धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त होने पर प्रकृत सूत्र से धा को हि आदेश हुआ। 'हित' प्रातिपदिक से नपुंसकलिङ्ग प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

दो दद् घोः 7.4.46

घुसंज्ञकस्य 'दा' इत्यस्य 'दद्' स्यात् तादौ किति। चर्त्वम्—दत्तः।

व्याख्याः घु—संज्ञक दो धातु को दद् आदेश हो तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते।

दत्तः—दो धातु से निष्ठा प्रत्यय क्त होने पर प्रकृत सूत्र से दा को दद् आदेश हुआ, तब दकार को चर् तकार होने पर 'दत्त' प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन पुंल्लिंग में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

लिटः कानज् वा 3.2.1०6

व्याख्याः लिट् को कानच् विकल्प से हो।

कानच् के ककार और चकार इत्संज्ञक हैं। 'आन' शेष रहता है।

क्वसुश्च 3.2.1०7

लिटः कानज् क्वसुश्च वा स्तः। तङानावात्मेनपदम् चक्राणः।

व्याख्याः लिट् के स्था में क्वसु भी आदेश विकल्प से होता है।

क्वसु के ककार और उकार इत्संज्ञक हैं। 'वस्' शेष रहता है।

तङानाविति—कानच् की आत्मनेपद संज्ञा है। इसलिये आत्मनेपदी धातुओं से ही यह होता है।

चक्राणः—कृ धातु से लिट् के स्थान में कानच् हुआ। लिट् के स्थान में होने के कारण कानच् के परे रहते धातु को द्वित्व और अभ्यासकार्य हुआ। इस प्रकार 'चकृ आन' ऐसी स्थिति बन जाने पर यण् और णत्व होकर 'चक्राण' प्रातिपदिक बना, प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

म्वोश्च. 8.2.65

मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः। जगन्वान्

व्याख्याः मान्त धातु को नकार आदेश हो मकार और वकार परे रहते।

नकार अन्त्य मकार के स्थान में ही होता है।

जगन्वान्—गम् धातु से पर लिट् को क्वसु आदेश हुआ। द्वित्व और अभ्यासकार्य होने पर प्रकृत सूत्र से सकार को नकार आदेश हुआ तब 'जगन्वस्' प्रातिपदिक बना। क्वसु के उगित होने से 'उगिदचां सर्वनामस्थानेधातोः' से नुम् हुआ। 'सान्तमहतः संयोगस्य' से दीर्घ हुआ। सु के सकार का हल्ङ्यादि लोप और क्वसु के सकार का

संयोगान्त लोप होने पर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

शेष रूप औट् तक इसी प्रकार बनते हैं—जगन्वांसौ, जगन्वांसः,। जगन्वासम, जगन्वांसौ।

शस् में 'वसोः संप्रसारणम्' से वकार को संप्रसारण उकार होता है। तब मकार को नकार भी नहीं होता। अजादि कित् प्रत्यय परे मिल जाने से 'गमहनजन–' इत्यादि सूत्र से उपधा अकार का लोप होने पर 'जग्मुस् अस्' यह स्थिति बनी। यहां क्वसु के सकार को षकार और विभक्ति के सकार को रुत्व विसर्ग होकर जग्मुः रूप सिद्ध हुआ।

शस् के आगे अजादि विभक्ति में रूप शस् के समान ही बनते हैं। हलादि विभक्तियों में 'वसुस्रंसु–' आदि से सकार को दकार होता है। जैसे–**जग्मुषा, जगन्वद्भ्याम्, जगन्वद्भिः। जग्मुषे, जगन्वद्भ्याम्, जगन्वद्भ्यः। जग्मुषः, जगन्वद्भ्याम, जगन्वद्भ्यः। जग्मुषः, जग्मुषोः, जग्मुषाम्। जग्मुषि, जग्मुषोः, जग्न्वत्सु।**

लटः शत-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे 3.2.124

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः। शबादि। पचन्तं चैत्रं पश्य

व्याख्याः अप्रथमान्त अर्थात् प्रथमान्त से भिन्न से समानाधिकरण होने पर लट् के स्थान में शत और शानच् होते हैं।

प्रथमान्त से समानाधिकरण न होना चाहिये, तभी ये शत शानच् प्रत्यय होंगे। इसीलिये उदाहरण में 'पचन्तं चैवं पश्य' द्वितीयान्त को दिया गया है, प्रथमान्त को नहीं।

परन्तु अब प्रथमान्त के समानाधिकरण होने पर भी इसका यथेच्छ प्रयोग होता है, जैसा कि आगे 'लट इत्यनुवर्तमाने' इत्यादि वचन के द्वारा बताया जा रहा है।

शत के शकार और ऋकार इत्संज्ञक हैं। 'अत्' बचता है। इस से प्रातिपदिक तकारान्त हलन्त बनता है। ऋकार इत् होने से यह उगित् है और इसलिये स्त्रीलिङ्ग से ङीप् प्रत्यय होकर दीर्घ ईकारान्त शब्द बनते हैं। शत प्रत्यय परस्मैपदी धातुओं से होता है।

शानच् के शकार और चकार इत्सज्ञक है। 'आन' शेष रहता है, इससे प्रातिपदिक अकारान्त बनता है अतः स्त्रीलिंङ्ग में टाप् होकर आकारान्त हो जाता है। यह 'तङानावात्मनेपदम्' से आत्मनेपद है, अतः आत्मनेपदी धातुओं से ही होता है।

शबादि—शत और शानच् दानों शित् हैं, अतः धातु से विहित होने के कारण ये सार्वधातुक हैं। इसलिये इनके परे रहते यथा प्राप्त शप् आदि विकरण होते हैं।

पचन्तं चैत्रं पश्य (पकाते हुए चैत्र को देखो)—पच् धातु से लट् के स्थान में शत हुआ। शप् प्रत्यय होने पर उसके आकार का 'अतो गुणे' से पररूप होकर 'पचत्' प्रातिपदिक बना। द्वितीया के एकवचन में नुम् होकर रूप सिद्ध हुआ।

आने मुक् 7.2.82

अदन्ताङ्स्य 'मुग्' आगमः स्याद् आने परे। पचमानं चैत्रं पश्य। 'लट्' इत्युनवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमा सामाधिकरण्ये क्वचित् सन् द्विजः।

व्याख्याः अदन्त अङ्ग को मुक् आगम हो आन परे रहते।

मुक् का मकार शेष रहता है, उक् इत्संज्ञक है।

पचमान चैत्रं पश्य (पकाते हुए चैत्र को देखो)—यहां पच् धातु से पर लट् के स्थान में शानच् हुआ। शप् होने पर अदन्त अङ्ग से पर होने के कारण आन को मुक् आगम होकर 'पचमान' प्रातिपदिक बना। द्वितीया के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

स्वादि में शप्, दिवादि में श्यन्, तुदादि में श और चुरादि में शप् होने से अदन्त अङ्ग बन जाता है। अतः इनका

आन परे रहते आगम होता है। शेष गण का धातुओं को मुक् नहीं होता।

यहां 'लट्' इसकी 'वर्तमाने लट्' इस सूत्र से अनुवत्ति होने पर भी फिर जो 'लट्' का ग्रहण किया गया है—वह इस बात को सूचित करता है कि प्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य होने पर कहीं कहीं ये शत अैर शानच् प्रत्यय आते हैं।

सन् द्विजः (अच्छा ब्राह्मण)—यहां अस् धातु के प्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य होने पर भी लट् के स्थान में शत हुआ। तब 'श्नसोरल्लोपः' से अकार का लोप होने पर 'सत्' प्रातिपदिक बना। प्रथमा में एकवचन में नुम्, हल्ङ्यादि लोप, संयोगान्त लोप होने पर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

पहले उदाहरण द्वितीयान्त दिये गये हैं इस अभिप्राय से कि प्रथमान्त के साथ ये प्रत्यय नहीं होते। यद्यपि मूल में 'क्वचित्' कहने से प्रथमान्त से प्रथमान्त के साथ सामानाधिकरण्य होने पर कहीं—कहीं इनके प्रयोग की स्वीकृति दी गई है, परन्तु प्रथमान्त के सामानाधिकरण में इनका प्रयोग होता बहुत है। जैसे—ग्रामं गच्छन् तणं स्पशति—गांव जाते हुए तण को छूता है। आगच्छन् वैनतयोपि पदमेकं न गच्छति—न जाते हुए गरुड़ भी एक पैर नहीं जाता—इत्यादि।

विदेः शतुर्वसुः 7.1.66

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा। विदन्। विद्वान।

व्याख्याः विद् ज्ञान, अदा. पर. अ.) धातु से पर शत के स्थान में 'वसु' आदेश हो विकल्प में।

तौ सत् 3.2.127

तौ शत शानचौ सत्संज्ञौ स्तः।

व्याख्याः उन शत और शानच् की सत् संज्ञा हो।

वसु का उकार इत् है। उगित होने से नुम् होता है।

विद्वान, विदन्—विद् धातु से पर लट् के स्थान में शत हुआ और उसके स्थान में प्रकृत सूत्र से वसु आदेश विकल्प से। तब विद्वस् प्रातिपदिक के प्रथमा के एकवचन में उगिद् होने से नुम् सान्तसंयोग होने से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप और संयोगान्तलोप होने पर और अभावपक्ष में नुम्, हल्ङ्यादि लोप और संयोगान्त लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

विद्वस् के रूप षड्लिङ्ग में आ चुके हैं विदत् के रूप भी शत प्रत्ययान्तों के समान बनेंगे।

लटः सद् वः 3.3.14

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनाप्रथमासामाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः संबोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्। करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य।

व्याख्याः लट् के स्थान में सत् प्रत्यय विकल्प से हों।

व्यवस्थितेति—यह व्यवस्थित—विभाषा है अर्थात् यह कार्य किसी स्थान में होता है और किसी में नहीं, यही व्यवस्था है, इसलिये यह व्यवस्थित विभाषा है।

तेनेति—व्यवस्थित—विभाषा के कारण अप्रथमा—सामानाधिकरण्य में प्रत्यय और उत्तरपद परे रहते, संबोधन में और लक्षण तथा हेतु अर्थ में नित्य आदेश होते हैं।

संबोधन आदि में विधान करनेवाले सूत्र लघुकौमुदी में नहीं आते, उनका यहां उल्लेख उचित नहीं है।

करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य (आगे करने वाले को देख)—यहां कृ धातु से लट् को शत और शानच् आदेश हुआ। स्य और इट् होकर 'करिष्यत्' और 'करिष्यमाण' प्रातिपदिक बने। द्वितीया एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुए।

आ क्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु 3.2.134

क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः, तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः।

व्याख्याः क्विप् तक कहे जानेवाले प्रत्यय तच्छील, तद्धर्म और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में होते हैं—यह समझना चाहिये।

तृन् 3.2.135

कर्ता कटान्।

व्याख्याः धातु से तृन् प्रत्यय हो कर्ता अर्थ में।

कर्ता कटान् (चटाई बनाने के स्वभाव वाला, चटाई बनाना धर्मवाला, चटाई अच्छी बनानेवाला)—यहां कृ धातु से पूर्व सूत्र की सहायता से प्रकृत सूत्र से तृन् प्रत्यय हुआ। आर्धधातुक होने से तृन् के परे रहते गुण पर 'कर्तृ' प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप बना।

'कटान्' यह कर्म है। 'कर्तृकर्मणोः कृति' से षष्ठी प्राप्त थी। उसका 'नलोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतनाम्' से निषेध हुआ। तब कर्म में द्वितीया ही हुई।

जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः षाकन् 3.2.155.

व्याख्याः जल्प्, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट्, वृङ्, इन धातुओं से षाकन् प्रत्यय हो तच्छील आदि कर्ता अर्थ में।

षः प्रत्ययस्य. 1.3.6

प्रत्ययस्यादिः ष इत्संज्ञः स्याम् जल्पाकः। भिक्षाकः। कुट्टाकः। लुण्टाकः। वराकः, बराकी।

व्याख्याः प्रत्यय के आदि षकार की इत्संज्ञा हो।

जल्पाकः (बोलने के स्वभावाला)—जल्प् धातु से षाकन् प्रत्यय पूर्व सूत्र से हुआ, प्रकृत सूत्र से षकार की इत्संज्ञा हुई।

इसी प्रकार **भिक्षाकः** (भीख मांगने के स्वभाववाला, भिखारी) **कुट्टाकः** (कूटने के स्वभाववाला) **लुण्टाकः** (लूटने के स्वभावाला, लुटेरा) **वराकः** (बेचारा)—इन शब्दों की सिद्धि होती है।

वराकी—'वराक' शब्द से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ। पाकन् पित् है। पित् होने का फल है स्त्रीलिङ्ग में 'षिद् गौरादिभ्यश्च' से ङीप् प्रत्यय।

सनाशंस-भिक्ष उः. 3.2.168

चिकीर्षुः। आशंसुः। भिक्षुः।

व्याख्याः सन्प्रत्ययान्त धातुओं, आ शंस् और भिक्ष् धातुओं से उ प्रत्यय हो।

चिकीर्षुः—सन्नन्त चिकीर्षधातु से उ प्रत्यय हुआ। तब 'अतो लोपः' से अकार का लोप होने पर प्रातिपदिक संज्ञा हुई। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

आशंसुः (आशा करनेवाला)—यहां आङ् पूर्वक शंस् धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा उ प्रत्यय हुआ। तब प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

भिक्षुः (भिखारी)—भिक्ष् धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा उ प्रत्यय हुआ सब प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पृ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप् . 3.2.177

विभ्राट्। भाः।

व्याख्याः (विशेष चमकनेवाला)—वि पूर्वक भ्राज धातु से क्विप् प्रत्यय हो।

विभ्राट् (विशेष चमकनेवाला)–वि पूर्वक भ्राज् धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा क्विप् प्रत्यय हुआ, उसका सर्वापहार लोप होने पर 'विभ्राज' यह हलन्त जकारान्त प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में 'व्रश्चभ्रस्ज–' से जकार को षकार, उसे जश् डकार और उसे विकल्प से चर् टकार होने पर उक्त रूप बना।

भाः (चमक)–भास् धातु से क्विप् प्रत्यय हुआ। उसका लोप होने पर 'भास्' यह सकारान्त स्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में सु का हल्ङ्यादि लोप होने पर प्रातिपदिक के सकार को रु और उसे विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ।

रा (त्) ल् लोपः 6.4.21

रेफात्च्छ्वोःलोपः क्वौ झलादौ क्ङिति। धूः। विद्युत्। ऊर्क। पूः। दशिग्रहणस्यापकर्षाद् जवतेर्दीर्घः। जूः। ग्रावस्तुत्।

व्याख्याः रेफ से पर च्छ और व का लोप हो कि झलादि कित् ङित् परे रहते।

धूः (धुरा)–धुर्व् धातु से 'भ्राजभास–' इत्यादि सूत्र से क्विप् प्रत्यय हुआ। उसका लोप होने पर प्रकृत सूत्र से रेफ से परे होने के कारण वकार का लोप हुआ। तब 'धुर्' प्रातिपदिक से प्रथमा के एकवचन में सु का हल्ङ्यादि लोप 'वोंरुपधायाः–' से उपधा उकार को दीर्घ और रेफ को विसर्ग होने पर रूप सिद्ध हुआ।

विद्युत् (बिजली)–वि पूर्वक धातु से क्विप्, उसका लोप, प्रातिपदिक संज्ञा, सु का हल्ङ्यादि लोप होने पर रूप बना।

ऊर्क् (बली)–ऊर्ज्, क्विप्, उसका लोप होनेपर 'ऊर्ज्' प्रातिपदिक बना। तब प्रथमा के एकवचन में हल्ङ्यादि लोप होने पर 'चोःकुः' से चवर्ग जकार कुत्व गकार होकर रूप बना 'रात्सस्य' के नियम से जकार का लोप नहीं हुआ।

पूः (शहर)–प धातु से पूर्व सूत्र से क्विप् हुआ। उसका सर्वापहार लोप होने पर 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से ऋकार को उर् हआ। तब 'पुर्' प्रातिपदिक को प्रथमा के एकवचन में 'धूः' के समान रूप सिद्ध हुआ।

दशीति– 'अन्येभ्योपि दश्यते ३.२.१७८ इस सूत्र में दश्यते पद है, इस दश् के ग्रहण का फल है कि अन्य कार्य भी होते हैं, उसी का इस सूत्र में अपकर्ष होने से जु धातु को क्विप् प्रत्यय में दीर्घ भी हो जाता है, तब दीर्घ ऊकारान्त जू (रोगी) शब्द बनता है। इसके रूप 'जूः, जुवौ, जुवः' इत्यादि भू शब्द के मान बनते हैं।

ग्रावस्तुत् (मूर्तिपूजक, पत्थर के गुण गानेवाला)–ग्रावपूर्वक स्तु धातु से क्विप् और उसका लोप हुआ। 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् होने पर तकारान्त शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

(वा) क्वि (प्) वचि-प्रच्छचायत-स्तु-कटप्रु-जु-श्रीणां दीर्घोसम्त्रसारणं च। 'वक्ति' इति वाक्।

व्याख्याः वच्, पच्छ्, आयत पूर्वक स्तु, कट पूर्वक, प्रु, जु, और श्रि धातु के क्विप् हो, दीर्घ हो और संप्रसारण का अभाव हो।

दीर्घ सग में होता है, संप्रसारण का निषेध केवल प्रच्छ् में क्योंकि उसी को वह प्राप्त है।

वाक् (वाणी)–वक्तीति कहता है– इस विग्रह में वच् धातु से क्विप् और दीर्घ होने पर 'वाच्' प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में 'चोःकुः' से वकार को कुत्व ककार रूप सिद्ध हुआ।

च्छ्-वोः शूड् अनुनासिके च 6.4.19

सतुक्कस्य छम्य वस्य च क्रमात् 'श' 'ऊठ्' इत्यादेशौ स्तोनुमासिके क्वौ झलादी च क्ङिति। पच्छतीति-प्राट्। आयतं स्तौति-आयतस्तूः। प्रवते-कटप्रूः। जूः–उक्तः। श्रयति हरिम्-श्रीः।

व्याख्याः तुक् सहित छकार और वकार को क्रमशः और ऊठ् आदेश हों अनुनासिक, क्वि और झलादि कित् ङित् परे रहते।

प्राट् (पच्छति–प्रश्न करनेवाला)–प्रच्छ धातु से पूर्व वार्तिक से क्विप्, दीर्घ और संप्रसारण का निषेध, प्रकृत सूत्र से च्छ को श आदेश, 'व्रश्चभ्रस्ज–' से शकार को मूर्धन्य षकार, जशत्व दकार और चर् टकार होकर प्रथमा के

एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

आयत-स्तूः (आयत स्तौति, विस्तत गुण गानेवाला अर्थात् प्रशंसक)—आयत पूर्वक स्तु धातु से पूर्व वार्तिक के द्वारा क्विप् और दीर्घ होकर दीर्घ ऊकारान्त प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में सु को रुत्व विसर्ग होकर रूप बना।

इसके रूप—'आयत—स्तूः, आयत—स्तुबौ, आयत—स्तुवः' इत्यादि 'भू' के समान बनते हैं।

कट-प्रूः (कटं प्रवते, चटाई बुननेवाला)—कट पूर्व प्रु धातु से पूर्व वार्तिक से क्विप् और दीर्घ ऊकारान्त प्रातिपदिक बना।

आयत—स्तू के समान इसके भी रूप बनते हैं।

जूरुक्त इति—'जूः' पहले कहा जा चुका है।

श्रीः (लक्ष्मी, श्रयति हरिम्—विष्णु का आश्रय लेती है)—श्रि धातु से पूर्व वार्तिक द्वारा क्विप् और दीर्घ होने पर दीर्घ ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में ङ्यन्त न होने से सु का लोप नहीं हुआ। इसलिये रुत्व और विसर्ग होकर रूप बना।

श्री शब्द के रूप अजन्त स्त्रीलिङ्ग में दिये गये हैं।

दाम्नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे 3.182

दाबादेः ष्ट्रन स्यात्करणेर्थे। दात्यनेन दात्रम्। नेत्रम्।

व्याख्याः दाप् (काटना), नी (ले जाना), शस् (मारना), यु (मिलाना), युज् (जोड़ना) स्तु (स्तुति करना), तुद् (पीड़ा पहुंचाना), सि (बन्धन), सिच् (सींचना), मिह् (सींचना), पत् (गिरना), दश् (डसना) और नह् (बांधना) धातुओं से ष्ट्रन् प्रत्यय हो करण अर्थ में।

ष्ट्रन् के षकार और नकार इत्संज्ञक हैं। षकार के लोप होने पर टकार अपने पूर्वरूप तकार में बदल जाता है। व शेष रहता है।

दात्र (दाति अनेन, दाता, दरात)—दा धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा ष्ट्रन प्रत्यय हुआ। अकारान्त नपुंसकलिङ्ग दात्र प्रातिपदिक बना।

नेत्रम् (नयति अनेन, इससे विषय रूप के प्रति ले जाता है, आंख आदि)—नी धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा ष्ट्रन् प्रत्यय होने पर अकारान्त नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिक बनताहै।

ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च 7.2.9.

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानाम् इण् न। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम। स्तोत्रम्। तोत्त्रम्। सेत्रम्।। सेक्त्रम्। मेढ्रम्। पत्त्रम्। दंष्ट्रा। नद्ध्री।

व्याख्याः ति, तु, त्र, त, थ, सि, सू, सर, क, स—इन दस प्रत्ययों को इट् न हो।

ति—क्तिन् और क्तिच्, तु—तुमन् त्र—ष्ट्रन्, त—तन्, य—क्थन्, सि—क्सि, सु सर—सरन्, क—कन्, स—ये प्रत्ययों के असली रूप हैं। इनमें कुछ प्रत्यय उणादि हैं। ये सब वलादि आर्धधातुक हैं। इनको इट् प्राप्त है, उसका इस सूत्र से निषेध हो गया।

प्रकृत में ष्ट्रन् को इट् का निषेध करने को यह सूत्र यहां दिया गया है।

शस्—शस्त्रम्, शस्त्र। यु. युज्—योत्रत्, योक्त्रम्, जीतने को रस्सी, जोत। स्तु—स्तोत्रम्, स्तुति। तुद्—तोत्रम्, चाबुक। सि—सेत्रम् बन्धन रज्जु। सिच्—सेक्त्रम्, सींचने का पात्र। मिह्—मेढ्म्, लिङ्ग। पत्—पत्त्रम् सवारी, पत्ता आदि। दंश्—दंष्ट्रा, दाढ़। नह्—नध्री, चमड़े की रस्सी।

ऊपर दिखाये गये शब्द ष्ट्रन प्रत्यय से बने हैं। ष्ट्रन् प्रत्यय परे रहते ग्रुप भी यथाप्राप्त हुआ। चवर्ग को कवर्ग भी हुआ है मेढ् में ढत्व, धत्व, ष्टुत्व और ढलोप हुए हैं। दंष्ट्रा में षत्व, ष्टुत्व हुए हैं। नध्री में हकार को 'नहो धः'

से धकार हुआ है।

इन शब्दों का लिङ्ग अर्थानुसार है। दंष्ट्रा और न्रधो स्त्रीलिंग हैं। षित् होने से नघ्री में ङीप हुआ। षित कार्य, का अनित्य होने से दंष्ट्रा में ङीप् न होकर टाप् हुआ।

अर्ति'-लू-धू-खन-सह-चर इत्रः 3.2.184

अरित्रम्। लवित्रम्। धवित्रम्। सवित्रम्। खनित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

व्याख्याः ऋ (जाना), ल (काटना), धू (कांपना), सू (पैदा करना),, खन् (खनना), सह् (सहना), और चर् (चलना या खाना)—इन धातुओं से इत्र प्रत्यय हो।

इत्र प्रत्यय आर्धधातुक होता है। इसके परे रहते जहां प्राप्त है वहां गुण भी होता है। इससे बने प्रातिपदिक प्रायः नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

अरित्रम् (नाव चलाने का डंडा, चप्पू)—ऋ धातु के प्रकृत सूत्र के द्वारा इत्र प्रत्यय हुआ। ऋ को गुण होने पर 'अरित्र' अकारान्त प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

लू—लवित्रम् चाकू आदि। **धू-धवित्रम्,** पंखा। **खन्-खनित्रम्,** खनने का साधन, कुदाल। **सह्-सहित्रम्**, सहन करने का साधन, छाता आदि। **चर्-चरित्रम्,** चरित्र, वत्तान्त, आचरण—इन शब्दों की सिद्धि भी पूर्वोक्त प्रकार से होती है।

पुवः संज्ञायाम् 3.2.185

पवित्रम।

व्याख्याः पू धातु से संज्ञा में इत्र प्रत्यय हो।

पवित्रम्—(पवित्रा, कुश का बना हुआ)—पू धातु से इत्र प्रत्यय हुआ। गुण, अव् आदेश होने पर सिद्ध हुआ।

पूर्वकृदन्त समाप्त।

अथोणादयः

(ल) कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूभ्य उण्। करोतीति-कारुः। वातीति-वायुः। पायु-'गुदम्। जायुः-औषधम्। मायुः-पित्तम्। स्वादुः। परकार्यमिति साधुः। आशु-शीघ्रम।

व्याख्याः **कृवेति**—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् और अश् धातु से उण् प्रत्यय हो।

कारुः (शिल्पी—करोति)—कृ धातु से कर्ता में उण् प्रत्यय होने पर णित् होने से ऋकार को आर् वद्धि होकर 'कारु' यह उकारान्त प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

वायुः (हवा)—वा धातु से उण् प्रत्यय होने पर 'आतो युक् चिण्कृतोः' से युक् आगम हुआ।

पायुः (गुद)—या धातु से उण् प्रत्य होने पर युक् होकर रूप सद्ध हुआ।

जायुः (जयति अभिभवति रोगान्—जो रोगों को दूर करें अर्थात् औषध)—जि धातु से उण्, णित् होने से वद्धि, आय् आदेश होकर 'जायु' प्रातिपदिक बना।

मायुः (मिनोति प्रक्षिपति देहे ऊष्माणम्—जो शरीर में गरमी डालती है, पित्त)—मि (प्रक्षेपण) धातु से उण्, णित् होने से वद्धि, आय् आदेश होकर 'मायु' प्रातिपदिक बना।

स्वादुः (स्वाद में अच्छा)—स्वद् (आस्वादन) धातु से उण् प्रत्यय 'अत उपधायाः' से उपधादीर्घ होकर 'स्वादु' प्रातिपदिक बना।

साधुः (जो दूसरे के कार्य को सिद्ध करे, सज्जन)—साध् धातु से उण् प्रत्यय होकर 'साधु' प्रातिपदिक बना।

आशु (अश्नुते व्याप्नोति—शीघ्र या शीघ्र होनेवाला)—अश धातु से उण् प्रत्यय होने पर उपधादीर्घ होकर 'आशु'

प्रातिपदिक बना।

शीघ्रता अर्थ में आशु अव्यय है, शीघ्रता युक्त अर्थ में द्रव्यवाची होने से त्रिलिङ्ग होता है।

उणादयो बहुलम् 3.3.1

एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः। केचिद् अविहिता अप्यूह्याः। संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद् विद्याद् अनूबन्धम् एतच्छास्त्रम् उणादिषु।।

इत्युणादयः।

व्याख्याः उण् आदि प्रत्यय वर्तमानकाल में और संज्ञा में बहुल हों।

केचिदिति—यहां बहुल ग्रहण से कोई अविहित अर्थात् जिनका किसी सूत्र से विधान नहीं किया गया, उनकी भी कल्पना कर लेनी चाहिये

संज्ञास्विति—संज्ञा शब्दों में जिस धातु की संभावना होउसकी कल्पना कर लेनी चाहिये, धातु की कल्पना के अनन्तर शेष भाग प्रतयय का समझकर प्रत्यय—कल्पना करनी चाहिये। प्रत्ययों में अनुबन्धकार्य के अनुसार जोड़ना चाहिये—उणादियों में यही शास्त्र अर्थात् शासन—नियम— है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस संज्ञा शब्द को बनाना हो उसके पूर्व भाग को धातु का रूप समझना चाहिये, जहां तक बन सके शेष भाग को प्रत्यय मानकर उसके साथकार्य गुणनिषेध आदि के अनुसार अनुबन्ध की कल्पना करनी चाहिये। यही उणादि प्रत्ययों का प्रकार है।

जैसे—'दुषेरुलच्' इस उणादि सूत्र से उलच् प्रत्यय होता है 'शङ्कुला' शब्द मे ंपूर्व भाग शङ्क, धातु और उत्तर भाग उलच् प्रत्यय समझकर इसकी व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिये। 'ऋफिड' शब्द में ऋ धातु और फिड प्रत्यय हैं, गुण का प्रतिषेध यहां दीख रहा है, इसलिये प्रत्यय के साथ गुण निषेध करने वाला अनुबन्ध क आदि भी जोड़ना चाहिये।

ई प्रकार अन्य संज्ञा शब्दों में उणादिप्रत्ययों की कल्पना के साथ प्रकृति और अनुबन्ध की भी कल्पना कर लेनी चाहिये।

उणादि प्रत्यय पाणिनि की अष्टाध्यायी से बाहर हैं, परनतु 'उणादयो बहुलम्' इस पाणिनि सूत्र के द्वारा पाणिनि को सम्मत हैं।

उणादि समाप्त

अथोत्तरकृदन्तम्।

अब उत्तरकदन्त प्रकरण प्रारम्भ होता है।

पूर्वकृदन्त और उत्तरकृन्दत ये दो प्रकरण कृत् प्रत्ययों के किये गये हैं। पूर्व प्रकरण में बताये गये प्रत्यय प्रायः कारक अर्थों में होते हैं। उत्तर प्रकरण में बताये जानेवाले प्रत्यय प्रायः भाव में होते हैं। उनमें कुछ प्रत्ययों के द्वारा शब्द अव्यय पद बन जाता है।

तुमुन्-ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् 3.4.10

क्रियार्थायां क्रियायाम् उपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः। मान्तत्वादव्ययत्वम्। कृष्णं द्रष्टुं याति कृष्णं दर्शको याति।

व्याख्याः क्रियार्थ क्रिया उपपद रहते धातु से भविष्यत् अर्थ में तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय हो।

उपपद से 'समीप रहना' अर्थ लिखा जाता है चाहे वे आगे रहे या पीछे।

जिस क्रिया के लिये दूसरी क्रिया की जाती है उससे ये प्रत्यय होते हैं।

मान्तवत्वादिति—मान्त होने से तुमुन्नन्त पद अव्यय होता है।

अर्थात् तुमुन् का उन् इत्संज्ञक है, तुम् शेष रहता है, मकारान्त होने से 'कृन्मेजन्तः१.१.३६।।' सूत्र से अव्यय संज्ञा होती है। इस कारण 'अव्यय—कृतो भावे— इस वचन से तुमुन् भाव अर्थ में होता है।

परन्तु ण्वुल् प्रत्यय मान्त न होने से अव्यय नहीं और अत एव कर्ता अर्थ में ही होता है।

कृष्णं द्रष्टुं याति (कृष्ण को देखने के लिये जाता है)—यहां 'गमन' क्रिया 'दर्शन' क्रिया के लिये हो रही है। अतः क्रियार्थ 'गमन' क्रिया 'या' धातु के समीप रहते दश् धातु से तुमुन् प्रत्यय हुआ। तब 'सजिदशोर्झल्यमकिति' से ऋकार के आगे अम् आगम हुआ और ऋकार को यण् रेफ, शकार को व्रश्चभ्रस्ज—' से षकार, तकार को ष्टुत्व टकार होकर 'द्रष्टुम्' सिद्ध हुआ।

यहां 'याति' यह क्रियार्थ क्रिया उपपद है। 'कृष्णम्' यह कर्म है। 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतनाम्' से षष्टी का निषेध हुआ अतः 'कर्मणि द्वितीया' हुई।

कृष्णकर्मक भविष्त्कालिक दर्शनार्थ गमन—यह इस वाक्य का अर्थ है।

कृष्णं दर्शको याति (कृष्ण को देखनेवाला जाता है)—यहां भी पूर्ववत् 'याति' यह क्रियार्थ क्रिया उपपद है। अतः दश् धातु से ण्वुल् प्रत्यय हुआ। वु को 'युवोरनाकौ ७.१.१।।' से 'अक' आदेश और ऋकार को गुण् अर् होने पर 'दर्शक' प्रातिपदिक बना।

'कृष्णम् यहां कर्म में द्वितीया हुई। 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः २.३.७०।' से षष्ठी का निषेध हुआ।

काल-समय-वेलासु तुमुन् 3.3.167

व्याख्याः काल, समय और वेला—इन शब्दों के उपपद रहते धातु से तुमुन् प्रत्यय हो।

कालार्थेषूपदेषु तुमुन्। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्।

व्याख्याः काल आदि पर्याय हैं— इसका तात्पर्य यह है कि कालार्थक शब्द उपपद रहते धातु से तुमुन् होता है। इसी बाता को 'कालोर्थेषु' इस वत्ति के द्वारा प्रकट किया गया है।

कालः समयो वेला वा भोक्तुम (भोजन का समय है)—यहां काल आदि शब्द उपपद रहते भुज् धातु से तुमुन् प्रत्यय हुआ। तब आर्धधातुक तुमुन् परे रहते लघूपध गुण होने पर जकार को 'चोः कुः' से कवर्ग गकार और उसे चर् ककार होकर रूप सिद्ध हुआ।

भावे 3.3.18

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घा्। पाकः।

व्याख्याः सिद्ध अवस्था को प्राप्त धातु का अर्थ भाव अर्थात् व्यापार वाच्य हो तो धातु से घा् प्रत्यय हो।

घा् का केवल् अ शेष रहता है, धकार और ाकार इत्संज्ञक है।

धातु का अर्थ भाव दो प्रकार का होता है—साध्यावस्थापन्न और सिद्धावस्थापन्न। तिङन्त अवस्था में भाव साध्यावस्थापन्न होता है और घा् आदि कृत् प्रत्ययों के द्वारा सिद्धावस्थापन्न भाव की प्रतीति होती है। सिद्धावस्थापन्न होने से यहां भाव द्रव्य के समान प्रकाशित होता है। कहा भी है—**कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते।** द्रव्यवत होने से घन्त आदि से लिङ्ग वचन का योग हो जाता है।

घा्प्रत्ययान्त भाववाचक संज्ञायें पुंल्लिङ्ग होती हैं।

पाकः (पकाना, विक्लित्ति)—पच् धातु से भाव में घा् हुआ, ाित् होने से 'अत उपधायाः' के द्वारा उपधा को वद्धि आकार हुआ। घित् प्रत्यय परे होने से 'चेजोः कुः धिण्यतोः' सूत्र से चकार को ककार होने पर 'पाक' प्रातिपदिक

बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

अ'कर्तरि च कारके संज्ञायाम् 3.3.19

कर्तृभिन्ने कारके घा् स्यात्

व्याख्या: कर्ता से भिन्न कारक अर्थ में संज्ञा में धातु से घा् प्रत्यय हो।

'भावे' सूत्र से विहित भाव घा् है और इस सूत्र से विहित कारक घा्।

घाि च भाव-करणयोः 6.4.27

रजेर्नलोपः स्यात् रागः। अनयोः किम्-रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः।

व्याख्या: **रागः** (रंगना या रङ्ग जिससे रंगा जाता है)—यहां रज् धातु से भाव में 'भावे' सूत्र से 'रजनं रागः' इस अर्थ में अथवा 'रज्यतेनेन'रंगने का जो साधन हो' इस प्रकार करण अर्थ में 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' से घा् प्रत्यय हुआ। दोनों अर्थों में प्रकृत सूत्र से नकार का लोप हुआ। तब ाित् प्रत्यय परे होने से 'अत उपधायाः' से उपधा अकार को वद्धि आकार होकर रूप बना।

अनयोरिति—भाव और करण में हुए घा् परे रहते रजू के नकार का लोप होता है, ऐसा क्यों कहा? इसका उत्तर है। रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः—अर्थात् जिस में लोग रजित होते हैं। यहां रज् प्रत्यय हुआ है। इसीलिये नकार का लोप नहीं हुआ। रङ्ग नाटक खेलने को जगह अर्थात् रङ्गभूमि को कहते हैं। यहां घा् होने पर जकार को 'चजोः कुः घिण्ण्यतोः' से गकार हुआ और तब नकार को अनुस्वार और परसवर्ण सकार हुआ।)

निवास-चिति-शरीरोपसमाघानेष्वादेश्चकः 3.6.41.

एषु चिनोतेर्घा्, आदेश्च ककारः। उपसमाधानम्—राशीकरणम्। निकायः। कायः। गोमय-निकायः।

व्याख्या: निवास, चिति—यज्ञ में अग्नि का स्थल विशेष शरीर और उपसमाधान अर्थ में चि् धातु से घा् प्रत्यय हो और आदि वर्ण को ककार।

उपसमाधानमिति—उपसमाधान राशीकरण—ढेर लगाने को कहते हैं।

निकायः (निवास, घर)—यहां नि'पूर्वक चि् धातु से निवास अर्थ में घा् प्रत्यय हुआ और आदि चकार को ककार। तब ाित् परे होने से इकार को 'अचोणिति' से वद्ध होने पर रूप बना।

निपूर्वक चि धातु के घञन्त रूप का अर्थ ही निवास होता है।

कायः[१] (चीयतेस्थ्यादिकमत्र, इसमें हड्डी आदि एकत्र होती है, अर्थात् शरीर)— यहां शरीर अर्थ में चि् धातु से घा् प्रत्यय हुआ है।

गोमय-निकायः (गोबर का ढेर)—यहां निपूर्वक चि् धातु से राशीकरण—ढेर लगाना—अर्थ में घा् प्रत्यय हुआ। सिद्धि पूर्ववत् होती है।

यज्ञ में अग्नि के स्थल विशेष अर्थ का उदाहरण यहां नहीं दिया गया है।

एरच् 3.3.56

इवर्णान्ताद् अच्। अयः। चयः।।

व्याख्या: इवर्णान्त धातु से भाव अर्थ में अच् प्रत्यय हो।

यह घा् का बाधक है। दोनों का अकार ही यद्यपि शेष रहता है, तो भी घा् के ाित् होने से उसके परे रहते वद्धि होती है, अच् के परे रहते नहीं। अच्—प्रत्ययान्त शब्द भी पुंल्लिङ्ग होते हैं।

चयः (चुनना)—इवर्णान्त चि धातु से भाव अर्थ में अच् प्रत्यय हुआ। धातु के इकार को गुण और अय् आदेश होकर

---

१. 'कायो देहः क्लीयपुंसोः' इत्यमरः।

रूप सिद्ध हुआ।

जयः (जीतना)–इवर्णान्त जि धातु से भाव में अच् प्रत्यय होने पर धातु के इकार को गुण और अथ् होकर रूप बना।

ऋदोरप् 3.3.57

ऋदन्ताद् उवर्णान्ताद्अय् करः गरः। यवः। लवः। स्तवः। पवः।

(वा) घार्थे क–विधानम्। प्रस्थः। विघ्नः।

व्याख्याः दीर्घ ऋकारान्त और उवर्णान्त धातुओं से अप् प्रत्यय हो भाव में।

अप् प्रत्यय भी घा् का बाधक है। अप् प्रत्ययान्त शब्द भी पुंल्लिङ्ग होते हैं।

घा्, अच् और अप् का अकार शेष रहता है, पर अनुबन्ध कृत अन्तर स्वर भेद के लिये है। घञन्त ाित् होने से आद्युदात्त होता है, घान्त ञित् होने से आद्युदात्त और अजन्त चित् होने से अन्तोदात्त और अबन्त पित् होने से अनुदात्त।

करः (बिखरेना, हाथ), **गरः** (निगलना)–कृ और गृ इन दीर्घ ऋकारान्त धातुओं से अप् प्रत्यय होने पर ऋकार को गुण होकर रूप बना।

यु-युवः (मिलाना, जौ)। **लू-लवः** (काटना, लेश, भाग), **स्तु-स्तवः** (स्तुति करना, स्तोत्र)। **पू-पवः** (पवित्र करना)–इनकी सिद्धि भी पूर्ववत् होती है।

(वा) घार्थे इति– 'घा्' प्रत्यय के अर्थ में 'क' प्रत्यय हो।

क प्रत्यय का ककार इत् है, इसलिये कित् होने से इसके परे रहते गुण आदि का निषेध होता है।

प्रस्थ[१]ः (प्रतिष्ठन्ति धान्यान्यस्मिन् प्रतिष्ठन्ते जना अस्मिन्–परिमाण–विशेष और पर्वत का शिखर)–यहां प्रपूर्वक स्था धातु से अधिकरण अर्थ में क प्रत्यय हआ। कित् परे होने से 'आतो लोप इटि च' से धातु के आकार का लोप होकर अकारान्त प्रातिपदिक बना।

विघ्नः (विघ्नन्ति मनांसि यस्मिन्, विघ्न)–विपूर्वक हन् धातु से अधिकरण में प्रकृत वार्तिक से क प्रत्यय हुआ। 'गमहन–' इत्यादि सूत्र से उपधा अकार का लोप और 'हो हन्तेः–' से हकार को कुत्व घकार होकर अकारान्त प्रातिपदिक बना।

ड्वितः क्त्रिः 3.3.88

व्याख्याः जिस धातु का डु इत् हो, उससे क्त्रि प्रत्यय हो। क्त्रि को ककार इत्संज्ञक है। 'त्रि' शेष रहता है।

क्त्रेर्मम् नित्यम् 4.4.20

क्त्रि-प्रत्ययान्तात् मम् निर्वत्तेर्थे। पाकेन निर्वत्तं पक्त्रिमम्। डुवप्-उप्त्रिमम्।

व्याख्याः क्त्रि प्रत्यान्त से मम् प्रत्यय होता है निर्वत्त–सिद्ध–अर्थ में।

पक्त्रिमम्–पच् धातु का मूल रूप 'डुपचष्' है, इसका यह प्रत्यय तद्धित है। डु इत् है। इसलिये पूर्व सूत्र से क्त्रि प्रत्यय हुआ। धातु के चकार को 'चोः कुः' से कवर्ग ककार हुआ। प्रकृत सूत्र से क्त्रिप्रत्ययान्त 'पवित्र' शब्द से निर्वत्त अर्थ में मप् प्रत्यय होने से 'पक्त्रिम' प्रातिपदिक बना। विशेष्य के अनुसार इसका लिङ्ग होगा। यहां प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

'पक्त्रि' का अर्थ है 'पाक' और मप् प्रत्यय का सिद्ध अर्थ में होने से 'पक्त्रिमम्' का अर्थ है 'पाक से सिद्ध'।

---

१. टि. १–'कम्पो देहः क्लीबपुंसोः' इत्ययरः।

उप्त्रिमम्—(बोने से सिद्ध) डुवप् (उगाना) धातु से पूर्व सूत्र से क्त्रि प्रत्यय हुआ। कित् होने से 'वचिस्वपियजादीनां पिति' से संप्रारण होने पर प्रकृत सूत्र से मप् प्रत्यय होकर रूप बना।

ट्वितोथुच् 3.3.89

टुवेप कम्पने। वेपथुः।

व्याख्याः जिस धातु का टु इत् हो उससे अथुच् प्रत्यय हो भाव अर्थ में।

अथुच् का चकार इत्संज्ञक है। अथुच्—प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं।

वेपथुः (कांपना)—टुवेप् धातु से प्रकृत सूत्र से अथुच् प्रत्यय हुआ। उकारान्त प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार टुओश्वि—**श्वयथु** (शोभा सूजन)। **टुनदि-नन्दथ'** (आनन्द)। **टुओरफूर्जा-ग्फुर्जथुः** (वज्र का का शब्द)—ये शब्द भी सिद्ध होते हैं।

यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् 3.3.90

यज्ञः। याचा। यत्नः। विश्नः। प्रश्नः। रक्षणः।

व्याख्याः यज् याच्, विच्छ्, प्रच्छ और रक्ष् धातुओं से नङ् प्रत्यय हो भाव आदि अर्थों में।

नङ् का ङकार इत्संज्ञक है। नङ्प्रत्ययान्त शब्द 'याचाा' को छोड़कर पुंल्लिङ्ग होते हैं।

यज्ञः (हवन)—यज् धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा नङ् प्रत्यय हुआ। नकार को श्चुत्व अकार हाने पर ज् ा मिलकर ज्ञ बने, तब 'यज्ञ' प्रातिपदिक के प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

याच्ञा (मांगना)—याच् धातु से नङ् प्रत्यय होने पर श्चुत्व अकार नकार के स्थान में हुआ। स्त्रीत्वविवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप् ४.४.४।।' से टाप् प्रत्यय होने पर प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

यत्नः (कोशिश)—यत् धातु से नङ् प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुआ।

विश्नः (प्रताप)—विच्छ् धातु से नङ् होने पर 'च्छ्वोः शूडनुनासिके' से च्छकार को शकार होकर रूप बना।

प्रश्नः (जिज्ञासा, सगल)—प्रच्छ् धातु से नङ् प्रत्यय और च्छकार को पूर्ववत् शकार होकर रूप बना।

रक्षणः—रक्ष् धातु से नङ् प्रत्यय होने पर 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' से नकार को णकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

स्वपो नन् 3.3.92

स्वप्नः।

व्याख्याः स्वप् धातु से नन् प्रत्यय हो।

नन् का नकार इत्संज्ञक है। नित् का फल स्वरप्रकरण में आद्युदात्त होना बताया जायेगा। नङ् से नन् का ङित् से गुणनिषेध के अतिरिक्त स्वर में भी अन्तर है।

स्वप्नः (सोना, सपना)—स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होने पर रूप बना।

उपसर्गे घोः किः 3.3.93

प्र-धिः। उप-धिः।

व्याख्याः उपसर्गपूर्वक घुसंज्ञक धातुओं से कि प्रत्यय हो। कि प्रत्यय का ककार इत् है।

घुसंज्ञा 'दाधाध्वादाप्' से दा रूप और धा—रूप धातुओं की होती है।

कि—प्रत्ययान्त शब्द पुंल्लिङ्ग होते हैं।

प्रधिः (नेमि)—प्र—पूर्वक घुसंज्ञक धा धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा कित् प्रत्यय हुआ। कित् परे होने से 'आतो लोप

इटि च' से आकार का लोप होकर 'प्रधि' यह इकारान्त प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

उपधिः (दम्भ)–उप–पूर्वक धा धातु से पूर्ववत् सिद्ध होता है।

इसी प्रकार–उपाधि, व्याधि (शारीरिक रोग), आधि (मानसिक रोग), समाधि (एकाग्रता), जलधि (समुद्र), विधि (ब्रह्मा, भाग्य, प्रकार), सन्धि (मेल), निधि (खजाना), अभिसन्धि (अभिप्राय) इत्यादि शब्द बनते हैं।

इनमें उपाधि, व्याधि विधि और सन्धि आदि कुछ शब्द हिन्दी में स्त्रीलिंङ्ग हैं, उसी संस्कार में संस्कृत में इन्हें स्त्रीलिंङ्ग समझने का भ्रम बहुतों को हो जाता है। वस्तुतः कि–प्रत्ययान्त होने से ये शब्द पुंल्लिङ्ग ही हैं।

स्त्रियां क्तिन् 3.3.94

स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात्। घाापवादः। कृतिः। स्तुतिः।

(वा) ऋ-ल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठाववाच्यः। तेन नत्वम्-कीर्णिः। लूनिः। धूनिः। पूनिः।

(वा) संपदादिभ्यःक्विप्। संपत्। विपत्। आपत्। क्तिन्नपीष्यते-संपत्ति। विपत्तिः। आपत्तिः

व्याख्याः स्त्रीलिङ्ग भव में क्तिन् प्रत्यय हो।

क्तिन् के ककार और नकार इत्संज्ञक हैं। ति शेष रहता है। 'स्त्रियाम्' के अधिकार में होने से क्तिन् प्रत्यय से बने शब्द स्त्रीलिंङ्ग होते हैं यह घा् का बाधक है।

कृतिः (कार्य) कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर इकारान्त प्रातिपदिक बना। प्रथमा के एकवचन में रूप बना।

क्तिन्प्रत्ययान्त शब्दों के रूप 'मति' शब्द के समान बनते हैं।

स्तुतिः—स्तु धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुआ।

ऋकारान्त और लू आदि धातुओ से पर क्तिन् निष्ठा के समान हो।

निठावद्भाव का प्रयोजन तकार को नकार होता है।

कीर्णिः (बिखेरना)–कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर 'ऋत इद् धातोः' से ऋकार को इर् आदेश 'हलि च' से इकार को दीर्घ, निष्ठावद्भाव होने से 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' से तकार को नकार और उसे णकार होकर रूप बना।

इसी प्रकार—लू-लूनिः (काटना), **धू-धूनिः** (कांपना) और **पू-पूनिः** (विनाश)–इन क्तिन्–प्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धि निष्ठावद्भाव के कारण तकार को नकार होने पर होती है।

सम् आदि उपसर्ग पूर्वक पद् धातु से भाव में क्विप् प्रत्यय हो।

संपद्, विपद्, आपद्—यहा सम्, वि और आ–पूर्वक पद् धातु से क्विप् हुआ। उसका सर्वापहार लोप हुआ। दकारान्त प्रातिपदिक सिद्ध हुआ।

क्विप् प्रत्यय से बने हुए ये शब्द स्त्रीलिंङ्ग हैं।

क्तिल्नपीति—क्तिन् प्रत्यय भी इन उपसर्गों के पूर्व रहते पद् धातु से होता है।

संपत्तिः विपत्तिः, आपत्तिः—यहां पूर्वोक्त उपसर्गों के पूर्व रहते पद् धातु से क्विप् प्रत्यय हुआ। धातु के दकार को 'खरि च' से चर् तकार होने पर रूप सिद्ध हुए।

ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्तयश्च 3.3.97

एते निपात्यन्ते।

व्याख्याः ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्ति–ये क्तिन्नन्त निपातित होते हैं।

ऊति-अव् (रक्षा करना) धातु से बना है। उपर्धा वकार को ज्वर–त्वर–' इस अग्रिम सूत्र से ऊट् होकर

रूप बना।

यूति और **जूति** में यु और जु धातु से क्तिन् प्रत्यय होने पर दीर्घ निपातन हुआ है।

साति—षो (अन्तः कर्मणि) धातु को क्तिन् परे रहते 'द्यतिस्यति—७.४.४०' इसे इतव प्राप्त था, उसका अभाव निपातन से हुआ। तब 'आदेच उपदेशेशिति'६.१.४५।। से आकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

हेति (शस्त्र)—हन् धातु से क्तिन्, 'अनुदात्तोपदेश—६.४.३७।।' से मकारका लोप हुआ। अकार को एकार निपातन से होता है।

कीर्ति (यश)—कृत् धातु से'८७२ ण्यासश्रन्थ युच् ३.३.१०७।।' से यहां ण्यन्त होने से युच् प्राप्त था। निपातन से क्तिन् हुआ। 'उपधायाश्च ७.७.१०१।।' से इकार रपर, 'हलि च ८.२.७७।।' से दीर्घ होने पर प्रयोग बना।

ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि मवामुपधायाश्च 6.4.27

एषामुपधा-वकारयोरूठ् अनुनासिके, क्वौ, झलादौ क्ङिति च। अतः क्विप्। गूः। तूः। स्त्रसूः। ऊः। मूः।

व्याख्याः ज्वर्, त्वर, स्रिव्, अव् और मव् धातुओं के उपधा और वकार को ऊट् हो अनुनासिक क्वि और झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते।

अव् धातु से क्तिन् प्रत्यय के द्वारा सिद्ध 'ऊति' शब्द ऊपर दिखाया गया है। उसमें वकार को ऊठ् इस सूत्र से हुआ है। अकार का लोप निपातन से हुआ है।

अतः क्विबिति—इसलिये ही इन धातुओं से क्विप् प्रत्यय सिद्ध होता है अर्थात् जब क्विप् परे रहते इन धातुओं से ऊठ् का विधान इस सूत्र से किया गया है तो इनसे क्विप् होना सिद्ध होता है। सम्पद् आदिके आकृतिगण होने से 'सम्पदादिभ्यः क्विप्' इससे क्विप् प्रत्यय ऊपर लिखी धातुओं से हुआ।

जू (रोग)—ज्वर् धातु से पूर्वोक्त प्रकार से क्विप् और प्रकृत सूत्र से उपधा वकार को ऊठ होने पर 'जूर्' प्रातिपदिक बना। इसके रूप—जूः, जूरौ, जूर' इत्यादि बनते हैं।

तूः (शीधकारी)—त्वर् धातु से क्विप् और ऊठ् होने पर पूर्ववत् रूप बनते हैं।

स्रूः (चलने वाला)—स्रिव् तु से क्विप् और ऊठ् होने पर दीर्घ ऊकारान्त प्रातिपदिक बना। **स्रूः,स्रुवौ, स्रुवः** इत्यादि रूप बनते हैं।

ऊः (रक्षक)—अव् धातु से पूर्ववत् शब्द बनता है। ऊः, उवौ, उवः—इत्यादि रूप बनते हैं।

मूः (बांधनेवाला)—मव् धातु से पूर्ववत्—दीर्घ ऊकारान्त शब्द बनकर **मूः, मुवो, मुवः** इत्यादि रूप बनते हैं।

इच्छा 3.3.101

इषेर्निपातोयम्।

व्याख्याः इष (इच्छा) धातु सेश प्रत्यय का निपातन होता है।

इच्छा—इष् इच्छायाम् धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा श प्रत्यय का निपातन होने पर शकार अनुबन्ध का लोप हुआ। शित् होने से इसकी सार्वधातुक संज्ञा हुई और तब शप् विकरण तथा दोनों अकारों को पर रूप एकादेश हुआ। तब 'इषुगमियमा छः' से षकार को छ और छकार को तुक् आगम तकार को श्चुत्व चकार होने पर स्त्रीत्वंविवक्षा में टाप् प्रत्यय होकर दीर्घ आकारान्त शब्द बना।

अ प्रत्ययात् 3.3.102

प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियामकारः प्रत्ययःस्यात्। चिकीर्षा। पुत्रकाम्या।

व्याख्याः प्रत्ययान्त धातु से स्त्रीलिङ्ग में अकार प्रत्यय हो। सूत्रस्य 'अ' पद लुप्त प्रथमा के विधेय का वाचक है।

चिकीर्षा—सन्नन्त कृ धातु चिकीर्ष से प्रकृत सूत्र से अ प्रत्यय होने पर 'अतो लोपः' से अकार का लोप और स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् होकर दीर्घ आकारान्त शब्द बना।

पुत्रकाम्या–काम्यच्–प्रत्ययान्त पुत्रकाम्य धातु से अ प्रत्यय होने पर स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् होकर आकारान्त शब्द बना।

गुरोश्च हलः 3.3.103

गुरुमतो हलन्तात् स्त्रियाम् 'अ' प्रत्ययः स्यात्। ईहा।

व्याख्याः गुरुमान् हलन्त धातु से स्त्रीलिङ्ग में अ प्रत्यय हों।

ईहा (चेष्टा)–ईह् धातु ईकार के गुरु होने से गुरुमान् है और हलन्त है ही। अतः इससे अ प्रत्यय हुआ। स्त्रीलिंङ्ग में टाप् होने पर आकारान्त शब्द बना।

ण्यास-श्रन्थो युच् 3.3.107

अकारस्यापवादः। कारणा। हारणा।

व्याख्याः ण्यन्त, आस् और श्रन्थ् धातुओं से युच् प्रत्यय हो।

युच् का चकार इत्संज्ञक है। 'यु' की 'युवोरनकौ ७.१.१।।' से अन् आदेश होता है।

अकारस्येति–यह युच् प्रत्यय पूर्व अ प्रत्यय का बाधक है। ण्यन्त से प्रत्ययान्त होने के कारण 'अ प्रत्ययात् ३. ३.१०२' सूत्र के द्वारा और आस् तथा श्रन्थ् से गुरुमान् हलन्त होने के कारण पूर्व सूत्र 'गुरोश्च हलः ३.३.१०३।।' से अ प्रत्यय प्राप्त था।

कारणा[१] – (यातना)–ण्यन्त कृ धातु कारि से प्रकृत सूत्र से युच् प्रत्यय हुआ। 'यु' को 'अन' आदेश और णि का 'णेरनिटि' से लोप होने पर स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय होकर दीर्घ आकारान्त शब्द बना।

हारणा (हटाना)–ण्यन्त हृ धात् परि से पूर्ववत् रूप सिद्ध होता है। **आस-आसना**। **श्रन्थ-श्रन्थना**।

नपुंसके भावे क्तः 3.3.114

व्याख्याः नपुंसक भाव में धातु से क्त प्रत्यय हो।

इसके पूर्व भाव प्रत्यय पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिंङ्ग मे बताये गये हैं अब कुछ प्रत्यय नपुंसकलिङ्ग के बताये जाते हैं।

ल्युट् च 4.3.115

हसितम्। हसनम्।

व्याख्याः ल्युट् प्रत्यय भी नपुंसक भाव में हो।

हसितम्, हसनम् (हंसना)–हस् धातु से नपुंसक भाव में प्रकृत सूत्रों से क्त और ल्युट् प्रत्यय हुए। क्त को वलादि आर्धधातुक होने से इट् हुआ और ल्युट् के यु को अन आदेश होकर रूप सिद्ध हुए।

पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण 3.3.118

छादेर्धेद्वयुपसर्गस्य

व्याख्याः पुंल्लिंग संज्ञा में प्रायः घ प्रत्यय हो।

द्वि-प्रभत्युपसर्ग-हीनस्य छादेर्हस्वो घे परे। दन्ताश्छाद्यन्तेनेनेति दन्तच्छदः। आकुर्वन्त्यस्मिन्निति-आकरः।

व्याख्याः एकसे अधिक उपसर्ग रहित छकारादि धातु को ह्स्व हो घ प्रत्यय परे रहते।

दन्तच्छन्दः (ओठ, दांत ढके जाते हैं जिससे)–ण्यन्त छादि से दन्त उपपद रहते पूर्व सूत्र से छ प्रत्यय हुआ और

---

१. 'कारणा तु था तत्र तीववेदन्ना' इत्यमरः।

प्रकृतसूत्र से आकार को ह्रस्व। 'णेरनिटि' से णि का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

आकरः (खान, आ कुर्वन्ति अस्मिन्—जिसमें मिलकर लोग काम करते हैं)—आ पूर्वक कृ धातु से अधिकरण अर्थ में पूर्व सूत्र से घ प्रत्यय होने पर ऋकार को गुण होकर अकारान्त शब्द बना।

ये दोनों शब्द पुंल्लिङ्ग है, क्योंकि घ प्रत्यय का विधान पुंल्लिङ्ग मे ही किया गया है।

अवे तॄ-स्त्रोर्घा् 3.3.120

अवतारः कूपादेः। अवस्तारो जवनिका।

व्याख्याः अब उपसर्ग पूर्वक तॄ और स्तॄ धातुओं से घा प्रत्यय हो।

त और स्त धातुओं से ऋकारान्त होने के कारण 'ऋदोरप् ३.३.५७।।' सूत्र से अप् प्रत्यय प्राप्त था। उसको बाधकर यह सूत्र संज्ञा में अब उपसर्ग पूर्व रहते घा् प्रत्यय करता है।

अवतारः (घाट, अवतरन्ति अत्र—जिसमें उतरते हैं)—अव—पूर्वक त धातु से प्रकृत सूत्र से घा् प्रत्यय हुआ। ऋकार को वद्धि होकर अकारान्त शब्द बना।

अवस्तारः (जवनिका—पर्दा)—अव—पूर्वक स्त धातु से पूर्ववत् घा् होने पर शब्द सिद्ध होता है।

हलश्च 3.3.121

हलन्ताद् घा्। घापवादः। रमन्ते योगिनोस्मिन्नति-रामः। अपमज्यतेनेन व्याध्यादिरिति-अपामार्गः।

व्याख्याः हलन्त धातु से घा् प्रत्यय हो।

घापवादेति—यह सूत्र घ का बाधक है। 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' सूत्र से प्राप्त घ को बाधकर यह होता है।

रामः (परब्रह्म, जिसमें योगी रम जाते हैं)—रम् धातु से हलन्त होने के कारण अधिकरण में घा् प्रत्यय होने पर 'अत उपधायाः' से वद्धि होकर शब्द बना।

अपामार्गः (ओषधि—विशेष, सज्जी इति भाषा, जिससे शुद्धि होती है)—अप—पूर्वक मज धातु से हलन्त होने के कारण प्रकृत सूत्र के द्वारा घा् प्रत्यय करण में हुआ। 'चजोः कुः घिण्ण्यतोः' से जकार को कवर्ग गकार होता है। वद्धि होने पर 'उपसर्गस्य घयमनुष्ये बहुलम् ६.३.१२२।।' सूत्र से उपसर्ग अप के अन्त्य अकार को दीर्घ होने पर शब्द सिद्ध हुआ।

ईषद् दुस्सुषु कृच्छाकृच्छ्रार्थेषु खल् 3.3.126

करणाधिकरणयोरिति निवत्तम्। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। 'तयोरेव' इति भावे कर्मणि च कृच्छ-दुष्करः कटो भवता। अकृच्छेईषत्करः। सुकरः।

व्याख्याः ईषद् (अल्प), दुस् (कठिनता से) और सु (सरलता से)—इन दुःख सुखार्थ शब्दों के उपपद रहते धातुओं से खल् प्रत्यय हो।

खल् के खकार और लकार इत्संज्ञक है। कवेल अकार बचता है। व्याख्यान ऐसा ही क्यों किया गया है।

करणेति—'करणाधिकरणयोः' इसकी निवत्ति हो गई है।

तयोरेव इति—यह खल् प्रत्यय 'तयोरेव कृत्य—क्त—खलर्थाः ३.४.७०।।' इस सू से भाव और कर्म में होता है।

दुष्करः कटो भवता (आपके द्वारा चटाई बनाना मुश्किल है)—यहां दुसपूर्वक कृ धातु से कृच्छ कार्य अर्थ को प्रकट करने के लिये प्रकृत सूत्र से कर्म में खल् प्रत्यय हुआ। ऋकार को गुण होकर रूप सिद्ध हुआ।

करना क्रिया का कर्म कट है। प्रत्यय में कर्म के उक्त हो जाने के कारण कर्म कट से प्रथमा विभक्ति हुई।

'भवता' यह ततीयान्त कर्ता है। क्रिया कर्मवाच्य की होने से कर्ता अनुक्त हुआ, अतः उससे ततीया हुई।

'कर्तकर्मणोः २.३.६५।' से कर्ता से प्राप्त षष्ठी का 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतनाम् २.३.६५।।' से निषेध हो जाता है।

ईषत्करः, सुकरः (सुख से किया जानेवाला अर्थात् सरल)—ईषद् और सु पूर्व रहते कृ धातु से सरल अर्थ बताने के लिये प्रकृत सूत्र से खल् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

आतो युच् 4.3.128

खलोपवादः। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः।

व्याख्याः आकारान्त धातु से पूर्वोक्त दशा में युच् प्रत्यय हो।

युच् का चकार इत्संज्ञक है। 'यु' को 'अन' आदेश होता है।

खल इति—खल का यह युच् बाधक है।

ईषत्पानः सोमो भवता (आपके लिये सोम पीना सरल है)—यहां अकृच्छार्थ ईषत् उपपद रहते आकारान्त पा धातु से खल् को बाधकर युच् प्रत्यय हुआ।

दुष्पानः। सोमो भवता (दुःख से पिया जानेवाला), **सुपानः** (सरलता से पिय जानेवाला)—इन शब्दों की सिद्धि भी पूर्वोक्त प्रकार से ही होती है।

कर्म में प्रत्यय होने से उक्त हो जाने के कारण उससे प्रथमा होती है। भवता—यह ततीयान्त कर्ता है। कर्मवाच्य के कारण अनुक्त होने से कर्ता से ततीया हुई। 'कर्तकर्मणोः कृति, २.३.६५।' से प्राप्त कर्तरि षष्ठी को 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतनाम् २.३.६६' से निषेधहुआ।

अलं-खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा 3.4.18

प्रतिषेधार्थयोरल-खल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात्। प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्। 'अमैवाव्ययेन' इतिनियमात् नोपपदसमासः 'दोदद्घोः' अलं दत्त्वा। 'घु-मा-स्था-' इतीत्वम्-पीत्वा खलु। अलं-खल्वोः किम्-मा कार्षीत्। प्रतिषेधयोः किम'अलङ्कारः।

व्याख्याः प्रतिषेधार्थक अलं और खलु शब्द उपपद रहते धातु से क्त्वा प्रत्यय हो प्राचीन आचार्यों के मत से।

क्त्वा प्रत्यय का ककार इत्संज्ञक है। कित् होने से गुण वद्धि का निषेध, संप्रसारण आदि कार्य होते हैं। सेट् धातुओं से पर कत्वा को वलादि आर्धधातुक होने से इट् आगम भी होता है।

प्राचामिति—'प्राचाम्' का ग्रहण आदर के लिये किया गया है। उनके मत का उल्लेख करना आदर को ही सूचित करता है।

अमैवेति—'अव्यय के साथ यदि उपपद का समास हो तो अम् के साथ ही हो' इस नियम के कारण यहां उपपद समास नहीं होता। क्योंकि क्त्वा अव्यय है, पर अम् से भिन्न है।

अलं दत्त्वा (मत दो)—यहां प्रतिषेधार्थक अलम् उपपद् के पूर्व रहते दा धातु से क्त्वा प्रत्यय हुआ। 'दो दद् धोः' से दा को दद् आदेश होने पर चर् होकर रूप सिद्ध हुआ।

क्त्वाप्रत्ययान्त शब्द 'क्त्वा—तोसुन्'कसुनः' सूत्र से अव्यय होते हैं।

पीत्वा खलु (मत पियो)—यहां निषेधार्थक खलु शब्द उपपद रहते क्त्वा प्रत्यय हुआ। क्त्वा के कित् होने से 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से अकार का ईकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

अलं खल्वोरिति—प्रतिषेधार्थक अलं और खलु के पूर्व रहते क्यों कहा? इसका प्रयोजन है 'मा कार्षीत्' (मत करो) यहां न होना। क्योंकि यहां 'अलं' का 'खलु' नहीं, प्रतिषेधात्मक 'मा' पद है।

प्रतिषेधयोरिति—प्रतिषेधार्थक होने चाहिये—ऐसा क्यों कहा? इसका फल है **अलंकारः** (यहां क्त्वा नहीं हुआ)। यहां अलं पद तो है, पर निषेधार्थक नहीं, यहां भूषणार्थक है।

समान-कर्तकयोः पूर्वकाले 3.4.21

समान-कर्तकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात्। मुक्त्वा व्रजति। द्वित्वम् अतन्त्रम-भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

व्याख्याः समानकर्तक धात्वर्थों में पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा प्रत्यय हो अर्थात् जब एक साथ दो क्रियायें हो रही हों और उन का कर्ता एक हो तब जो क्रिया पहले हो उसे क्त्वा प्रत्यय हो।

पूर्वकाल में होने से इस, क्त्वा से बने क्रिया पद को पूर्वकालिक क्रिया कहते हैं। इसके लिये हिन्दी में धातु के साथ 'कर' पद जोड़ा जाता है जैसे–खाकर जाऊंगा। सोकर उठते ही काम में लग गया।

मुक्त्वा व्रजति (खाकर जाता है)–यहां भोजन और गमन क्रियाओं, का कर्ता एक है तथा भोजन क्रिया पूर्वकाल–पहले हो रही है इसलिये भोजन–क्रियार्थक भुज् धातु से क्त्वा प्रत्यय हुआ। धातु के जकार को कवर्ग गकार और उसे चर् ककार होकर रूप सिद्ध हुआ।

द्वित्वमिति–सूत्र में द्विवचन विवक्षित नहीं अर्थात् दो क्रियाएं ही होने पर पूर्व क्रिया से क्त्वा होता है–ऐसी बात नहीं अपितु दो से अधिक अनेक क्रियाएं भी बेशक हों, उनमें पूर्वकाल की क्रियाएं चाहे कितनी हों उन सब से क्त्वा प्रत्यय होगा।

मुक्त्वा पीत्वा व्रजति–(खा पी कर जाता है)–यहां खाना, पीना और जाना–ये तीन क्रियायें हैं। इनमें खाना और पीना क्रियाएं जाना क्रिया से पहले हो रही है। इसलिये खाना क्रिया की वाचक भुज् और पीना क्रिया की वाचक पा धातु से क्त्वा प्रत्यय हुआ।

न क्त्वा सेट्. 1.2.18

सेट् क्त्वा कित् न स्यात्। शयित्वा। सेट् किम्-कृत्वा।

व्याख्याः सेट् क्त्वा कित् न हो।

शयित्वा (सोकर)–शी धातु से पूर्व सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हुआ। वलादिलक्षण इट् होने पर क्त्वा के सेट् हो जाने के कारण प्रकृत सूत्र से कित् का निषेध हुआ। फिर 'क्ङिति च' से निषेध न होने के कारण धातु के ईकार को गुण और उसे 'अय्' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

सेड् इति–सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, ऐसा क्यों कहा। इसका फल है–**कृत्वा**–में निषेध नहीं हुआ, क्योंकि यहां **कृ** धातु के अनुदात्तोपदेश होने से इट् नहीं हुआ, इसलिये क्त्वा अनिट् है।

रलो व्युपधाद् हलादेः संश्च 1.2.26

इवर्णोवर्णोपधाद् हलादे रलन्तात् परौ क्त्वा-सनौ सेटौ वा कितौ स्तः। द्युतित्वा। द्योतित्वा। लिखित्वा, लेखित्वा। व्युप्धात् किम्-वर्तित्वा। रलः किम्-सेवित्वा। हलादेः किम्-एषित्वा। सेट् किम्-भुक्त्वा।

व्याख्याः इवर्ण और उवर्ण जिनकी उपधा हो ऐसे हलादि और रलन्त धातुओं से पर सेट् क्त्वा तथा सन् प्रत्यय कित् होते हैं विकल्प से।

कित्पक्ष में गुण आदि का निषेध और संप्रसारण होता है। और अभाव में गुण आदि हो जाते हैं तथा संप्रारण नहीं होता।

द्युतित्वा द्योतित्वा (चमक कर)–द्युत धातु के क्तवा प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक कित् हुआ क्योंकि यह धातु हलादि है, रल् तकार अन्त में होने से रलन्त है और इसकी उपधा में उकार है तथा क्त्वा सेट् भी है। कित्पक्ष में गुण का निषेध हो गया और अभावपक्ष में गुण।

इसी प्रकार–लिखित्वा, लेखित्वा (लिखकर) इनकी भी सिद्धि हाती है।

व्युपधादिति–उपधा इवर्ण या उवर्ण हो–ऐसा क्यों कहा? इसका फल है–वर्तित्वा–में कित् न होना, यहां वत् धातु है इसकी उपधा ऋकार है। इसलिए गुण होकर एक ही रूप बना।

रल इति—रलन्त हो ऐसा क्यों कहा? इलिये कि **'संवित्वा'** में सूत्र न लगे। यहां सेव् धातु है, इसके अन्त में वकार है यह रल् प्रत्याहार में नहीं आता।

हलादेरिति—हलादि धातु हो, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि एषित्वा में सूत्र न लगे। यहां इष् वात है, अजादि है, हलादि नहीं। इसलिये कि न होने के कारण गुण हो गया।

सेट् इति—क्त्वा सेट् हो, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि अनिट् क्त्वा ये सूत्र न लगे। जैसे—भुक्त्वा यहां क्त्वा अनिट् है। इसलिये कित् विकल्प न होने से एक ही रूप बना।

उदितो वा 7.2.56

उदितः परस्य क्त्व इड् वा। शमित्वा, शान्त्वा। देवित्वा, द्यत्वा दधातेहिः-हित्वा।

व्याख्याः उदित् धातुओं से पर क्तवा को इट् विकल्प से हो **शमित्वा, शान्त्वा** (शान्त होकर)—शमु (उपशमे, शान्त होना, दि. पर. से.) इरा उदित् धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से उसे इड् विकल्प से हुआ। इट्पक्ष में प्रथम रूप बना। अभावपक्ष में 'अनुनासिकस्यक्विझलोः—६.४.१५' इस सूत्र से उपधा अकार को दीर्घ हुआ। मकार को 'नश्चापदान्त्स्य झलि ८.३.२४।।' से अनुस्वार और उसे परसवर्ण नकार होकर दूसरा रूप सिद्ध हुआ।

देवित्वा, द्यूत्वा (खेलकर आदि)—उदित् दिव् घात से क्तवा प्रत्यय होने पर उसे प्रकृत सूत्र से इट् विकल्प हुआ। इट्पक्ष में लघुपध गुण होकर पहला रूप सिद्ध हुआ। अभाव पक्ष में च्छ वीः शूडननुनासिक ६.४.१६।।' से वकार को ऊठ् होने पर इकार को यण् होकर दूसरा रूप सिद्ध हुआ।

हित्वा (धारण कर)—धा धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर 'दधतेर्हिः ७.४.४२।।' से धा को 'हि आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

जहातेश्च क्त्वि 7.4.43

हित्वा। हाङस्तु-हात्वा।

व्याख्याः ओहाक् त्यागे धातु को भी 'हि' आदेश होता है क्त्वा प्रत्यय परे होते ।

हित्वा (छोड़कर)—ओहाक् धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से 'हा' को 'हि' आदेश होकर रूप बना।

हाङस्तु इति—ओहाङ् गतौ धातु का क्त्वा का रूप हात्वा (जाकर) बनेगा। यहां पूर्व सूत्र से 'हि' आदेश नहीं होता।

समासेना्पूर्वे क्त्वो ल्यप् 7.1.37

अव्यय-पूर्वपदेना् समासे क्त्वो 'ल्यप' आदेशः स्यात्। तुक्-प्रकृत्य अना् किम्-अकृत्वा।

व्याख्याः अवव्यय पूर्वपद समास में—पर ना् समास न हो—धातु से पर क्त्वा को ल्यप् आदेश हो।

ल्यप् के लकार और पकार इत्संज्ञक हैं और य शेष रहता है।

प्रकृत्य (करके)—क्त्वा प्रत्ययान्त कृत्वा का प्र उपसर्ग रूप अव्यय के साथ 'कुगति प्रादयः' २.२.१८।। से समान होने पर प्रकृत सूत्र से क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश हुआ। ल्यप् के पित् होने से उसके परे रहते 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् आगम होकर रूप सिद्ध हुआ।

अना् इति— ना् समास न हो, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि ना्समास में क्त्वा को ल्यप् आदेश न हो जाय। उसे—**अकृत्वा** (न करके बगैर किये)—यहां ना् समास से क्त्वा को ल्यप् आदेश नहीं हुआ।

आभीक्ष्ण्ये णमुल् च 3.4.22

आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये पूर्वविषये णमुल् स्यात् क्त्वा च।

व्याख्याः जहां आभीक्षण्य—निरन्तरता—बतानी हो वहां क्त्वा के विषय में णमुल् प्रत्यय भी होता है और क्त्वा भी।

णमुल् का अम् भाग शेष रहता है, बाकी भाग इत्संज्ञक होने से लोप को प्राप्त हो जाता है। णमुलन्त शब्द — 'कृन्मेजन्तः १.१.३६।।' से अव्यय होता है।

नित्य-वीप्सयोः 8.3.4

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात्। आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञकेषु कृदन्तेषु। स्मारं स्मारं नमति शिवम्। स्मत्वा स्म त्वा। पायं पायम्। भोजं भोजम्। श्रावं श्रावम्।

व्याख्याः अर्थात् क्विता निरन्तरता और वीप्सा अर्थात् वार वार होना—ये बातें जब क्रिया को बतानी हों तो पद को द्वित्व हो।

आभीक्ष्ण्यमिति—निरन्तरता अर्थात् लगातार होना तिङन्तों का अव्ययसंक्षक कृदन्तों की क्रिया का बताया जाता है।

स्मारं स्मारं नमति शिवम् (याद करके शिवजी को प्रणाम करता है)—यहां स्मरण क्रिया का लगातार होना बताने के लिए स्म धातु से णमुल् प्रत्यय हुआ। णित् होने से णमुल् परे रहते 'अची णिति ७.२.११५।।' से ऋकार को आर् वद्धि हुई। 'स्मारम्' बन जाने पर इसको प्रकृत सूत्र से द्वित्व हुआ।

स्मत्वा स्मत्वा— णमुल् के अभावपक्ष में क्त्वान्त को प्रकृत सूत्र से द्वित्व हुआ।

पायं पायम् (पी पी कर या रक्षा करके)—पा धातु से क्रिया की निरन्तरता को बताने के लिये पूर्व सूत्र से णमुल् प्रत्यय हुआ। 'आतो युक् चिण्कृतोः ७.३.३३।।' से युक् आगम होने पर 'पायम्' शब्द बना। इसका 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व हुआ।

भोजं भोजम् (निरन्तर खाकर)—यहां भुज् (रु. प. अ.) धातु से क्रिया का लगातार होना बताने के लिये णमुल् प्रत्यय हुआ। फिर लघूपध गुण होने पर 'भोजम्' शब्द बना। इसको प्रकृत सूत्र से द्वित्व हुआ।

श्रावं श्रावम् (सुन सुनकर)—यहां सुनना क्रिया का लगातार होना बताने के लिये श्रु धातु (भ्वा. पर. अ.) से पूर्व सूत्र से णमुल् प्रत्यय हुआ। णित् परे होने से धातु के उकार को 'अचो णिति ७.२.११५' से वद्धि औकार उसे आव् आदेश होने पर 'श्रावम्' शब्द बना। उसको प्रकृत सूत्र से द्वित्व हो गया।

पक्ष में इन सब स्थलों में क्त्वा प्रत्यय भी होता है।

अन्यथैवं-कथम्-इत्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत् 3.4.27

एषु कृो णमुल् स्यात् सिद्धोप्रयोगोस्य एव भूतश्चेत् कृा, व्यर्थ-त्वात्प्रयोगानर्ह इत्यर्थः।

अन्यथाकारम, एवंकारम्, इत्थंकारं भुङ्क्ते। सिद्धेति किम्-शिरोन्यथाकृत्वा।

इत्युत्तरकृन्दतम्।

इति कृदन्तप्रकरणम्।

व्याख्याः अन्यथा, एवम्, कथम् और इत्थम्—इन अव्ययों के पूर्व रहते कृा् धातु से णमुल् प्रत्यय हो यदि कृा् का उपयोग सिद्ध हो अर्थात् कृा् के प्रयोग की आवश्यकता न हो, बिना उसके प्रयोग के इष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाय।

व्यर्थत्वादिति—व्यर्थ होने के कारण कृा् का प्रयोग उचित न हो—यह अर्थ है 'सिद्धाप्रयाग इस सूत्रस्थ पद का।

अन्यथाकारम्, एवंकारम् इत्थंकार भुङक्ते (और प्रकार से, इस प्रकार से खाता है)—यहां अन्यथा, एवम् और इत्थम्—पूर्वक कृ धातु से प्रकृत सूत्र के द्वारा णमुल् प्रत्यय हुआ। फिर 'अचो णिति' से वद्धि होकर रूप बना। यहां कृ का प्रयोग व्यर्थ है क्योंकि इष्ट अर्थ अन्यथा आदि उपपदों से प्रतीत हो जाता है। अर्थात् 'अन्यथा, एवम्, इत्थम्, भुङक्ते, इस प्रकार कहने पर भी अभीष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाती है। इसलिये कृा् के सिद्धाप्रयोग होने से णमुल् प्रत्यय हुआ।

सिद्धेति—सिद्धाप्रयोग अर्थात् कृ का प्रयोग व्यर्थ हो—ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि **शिरोन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते**— शिर को अन्यथा करके खाता है—यहां णमुल् नहीं हो, क्योंकि यहां कृ का प्रयोग व्यर्थ नहीं है, किन्तु आवश्यक है, नहीं तो 'अन्यथा' का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा और 'शिरः' इस कर्म का अन्वय असम्भव हो जायेगा।

उत्तरकृदन्त समाप्त।

कृदन्त प्रकरण समाप्त।

अध्याय-12

अथ तद्धितप्रकरणम्

सामान्य परिचय

तद्धित प्रत्यय संज्ञा या विशेषण शब्दों से लगते हैं। तद्धित प्रत्यय संस्कृत भाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है तद्धित प्रत्ययों के द्वारा संज्ञा शब्दों से तत्संबंधी दूसरे संज्ञा शब्द या विशेषण शब्दों का निर्माण होता है। इस प्रकार बने हुए शब्द तद्धितान्त कहलाते हैं। उनकी 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक सज्ञा होती है। 'प्रातिपदिकात्', 'प्रत्ययः' तथा 'परश्च' सूत्रों के अधिकार में सु आदि विभक्तियों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार तद्धितान्त शब्दों के सभी विभक्तियों में रूप चलते हैं। सुप् प्रत्यय लगकर ही इन शब्दों की पद संज्ञा हाती है। इसलिए तद्धितान्त शब्दरूपों को सुबन्तों की कोटि में रखा गया है।

तद्धित प्रत्ययों में अर्थ की प्रधानता है। एक ही प्रकार का प्रत्यय अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। अतः तद्धित प्रकरण को अर्थ की दष्टि से अनेक खण्डों में विभाजित किया गया है। यहां इस पुस्तक में कवेल उन्हीं खण्डों को लिया गया है जो एम.ए. पूर्वाध के पाठ्यक्रम में निर्धारित है।

समर्थानां प्रथमाद् वा 4.1.82

इदं पद-त्रयम् अधिक्रियते। 'प्राग्दिशः-' इति यावत्।

व्याख्याः समार्थानाम्, प्रथमात् और वा–इन तीन पदों का अधिकार चलता है।

प्राग् दिश इति–'प्राग्दिशो विभक्तेः 5.3.1' इस सूत्र तक पूर्वोक्त तीन पदों का अधिकार है, क्योंकि यहां से स्वार्थिक प्रत्यय प्रारम्भ होते हैं, उनमें इस अधिकार की आवश्यकता नहीं।

अधिकार सूत्र होने से इन पदों का अपने स्थल में उपयोग नहीं, विधिसूत्रों में उपस्थित होकर इनकी चरितार्थता होती है।

पदविधि होने से 'समर्थः पद–विधिः 2.1.1' सूत्र से सामर्थ्य होने पर ही तद्धित प्रत्यय होते हैं।

'समर्थनाम्' पद से बोध्य सामर्थ्य भिन्न रूप है–प्रयोग की योग्यता को सामर्थ्य कहते हैं।

इस अधिकार का फल है कि–समर्थ–प्रयोग के योग्य–पदों में जो प्रथम पद हो अर्थात् तद्धित–वत्ति–विधायक सूत्रों में प्रथम उच्चारित पद से जिसका बोध हो–उससे प्रत्यय होता है।

जैसे–'तस्यापत्य् 4.1.92' इस तद्धित–प्रत्यय–विधायक सूत्र में प्रथम–उच्चरित पद 'तस्य' है, इससे 'उपगोः अपत्यम्' में 'उपगु' शब्द का बोध होता है, इसलिए इसी में तद्धित अण्प्रत्यय होता है, अपत्य शब्द से नहीं, क्योंकि यह प्रथमोच्चारित–पद–बोध्य नहीं।

अश्व-पत्यादिभ्यश्च 4.1.84

एभ्योण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु। अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम्। गाणपतम्।

व्याख्याः 'अश्व–पति' आदिशब्दों से अण् प्रत्यय हो प्राग्दीव्यतीय अर्थात् 'तेन दीव्यति खनिति जयति जितम् 4.4.2' सूत्र से पहले आने वाले अपत्य आदि अर्थों' में।

पूर्वोक्त सूत्र से पहले जिन अर्थो के प्रत्ययों का विधान किया गया है, उन्हें 'प्राग्दीव्यतीय' कहा जाता है। 'अपत्य' आदि अर्थ उन्हीं के अन्तर्गत हैं।

आश्वपतम्—'अश्वतेरपत्यादि–' यह लौकिक और 'अश्वपति ङस् अपत्यम्' यह अलौकिक विग्रह है। प्रकृत सूत्र से तद्धितवत्ति होने पर 'अश्वपति ङस् अण्' यह स्थिति बनी, तद्धितवत्ति–विधायक प्रकृत सूत्र में प्रथम उच्चरित पद से बोध्य होने के कारण अश्व शब्द से प्रत्यय हुआ। द्वितीय पद अर्थ का बोधक है, इसलिये अलौकिक विग्रह में उसके स्थान पर उसका बोधक प्रत्यय होता है। 'कृत–द्धितसमासाश्च 1.2.46' से प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'सुपो धातु प्रादिपदिकयोः 2.4.71' से प्रातिपदिक के अवयव सुप् ङस् का लोप हुआ। तब 'अश्वपति अ' इस दशा में 'तद्धितेष्वचाम्आदेः' से आदि अच् को वद्धि होने पर 'यस्येति च 6.4.148' से अन्त्य कार का लोप होकर 'आश्वपत' यह अकारान्त प्रातिपदिक बना। तब अपत्य अर्थ के अनुसार नपुंसकलिऽङ्ग प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

गाणपतम् (गणपतेरपत्यादि, गणपति की सन्तान आदि)—गणपति शब्द अश्वपति आदि गण में है, इसकी सिद्धि पूर्ववत् होती है।

बस यहां ध्यान रहे कि सूत्र में प्रथम उच्चारित पद से विग्रह–वाक्य में स्थित जिसका बोध हो–उससे तद्धित प्रत्यय होता है और उसके बाद आये हुए पद के अर्थ में प्रत्यय होता है। तद्धित–प्रकरण में अर्थ का विशेष ध्यान रहना चाहिये कि किस अर्थ में प्रत्यय हो रहा है।

दित्यदित्यादित्य-पत्युत्तरपदाद् ण्यः 4.1.85

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदात् च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यात्। अणोपवादः। दितेरपत्यं दैत्यः। अदितेरादित्यस्य वा (अपत्यम्)

व्याख्याः दिति (दैत्यों की माता), अदिति (देवताओं की माता), आदित्य और पति शब्द जिसमें उत्तरपद हों–उन षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्तों से प्राग्दीव्यती अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय हो।

ण्य प्रत्यय का णकार इत्संज्ञक है, 'य' शेष रहता है।

अणोपवाद इति— 'प्राग्दीव्यतोण 4.1.83' इस सामान्य प्राप्त अण् का और 'अश्वपत्यादिभ्यश्च' इस विशेष सूत्र से प्राप्त अण् का यह बाधक है।

दैत्यः (दितेरपत्यम्, दिति की सन्तान)—यहां षष्ठ्यन्त समर्थ 'दिति' शब्द से प्राग्दीव्यतीय अपत्य अर्थ में प्रकृत सूत्र से ण्य प्रत्यय हुआ। 'तद्धितेचाम् आदेः 7.2.117' से आदि अच् दकार से उत्तर इकर को वद्धि ऐकार हुआ और यकारादि प्रत्यय परे होने से पूर्व की भ–संज्ञा होने पर 'यस्येति च 6.4.148' इकार का लोप होकर 'दैत्य' यह अकारान्त शब्द बना, प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

अदितेरिति—अदिति और आदित्य–इन दोनों से प्रकृत सूत्र से ण्य प्रत्यय होने से 'आदित्य': यही रूप बनता है। क्योंकि अदिति से ण्य प्रत्यय होने पर पूर्ववत् आदि अच् को वद्धि और अन्त्य दकार का लोप होने पर रूप सिद्ध होता है।

आदित्य शब्द से ण्य होने पर 'आदित्य य' यह स्थिति बनी इसमें एक यकार का लोप होता है। यकार के लोप का विधायक सूत्र आगे दिया जा रहा है।

हलो यमां यमि लोपः 8.4.64

इति यलोपः। आदित्यः। प्राजापत्य। (वा) देवाद् या-औ। दैव्यम्। दैवम्। (वा) वहिषष्टि-लोपो य् च। वाह्यः। (वा) ईकक् च।

व्याख्याः **हल इति**—हल् से पर यम् का लोप हो हो यम् परे रहते।

'आदित्य य' यहां 'यस्येति च' से यकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होने पर हल् तकार से पर यम् यकार का यम्–प्रत्यय के यकार–के परे रहने के कारण प्रकृत सूत्र से लोप हुआ। तब एक ही यकार रहा **'आदित्य'** प्रातिपदिक बना।

प्राजापत्यः (प्रजापतेः अपत्यादि, प्रजापति का अपत्य आदि)–यहां पत्युत्तरपद प्रजापति शब्द से ण्य प्रत्यय होने पर पूर्ववत् सिद्धि होती है।

देव शब्द से पूर्वोक्त अर्थ में या् और आ् प्रत्यय हों।

या् और आ् का ाकार इत्संज्ञक है। या् और ण्य प्रत्यय का समान रूप शेष रहने पर भी स्वर में अन्तर होता है।

दैव्यम्, दैवम् (देवस्य अपत्यादि, देवता की सन्तान आदि)–यहां देव शब्द से अपत्यादि प्राग्–दीव्यतीय अर्थ में प्रकृत वार्तिक से या् और आ् प्रत्यय हुए। दोनों ाित हैं, इसलिये आदि अच् को वद्धि हुई और दोनों के परे रहते पूर्व की भसंज्ञा होने से 'यस्येत च' से अकार का लोप हुआ।

बहिस् शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में या् प्रत्यय हो और टि का लोप भी।

बाह्यः (बहिर्भवः, बाहर होनेवाला, बाहरी)–यहां प्राग्दीव्यतीय 'भवः' होनेवाला अर्थ में बहिस् शब्द से या् प्रत्यय और टि 'इस्' का लोप प्रकृत वार्तिक से होने पर आदि अच् बकारोत्तरवर्ती अकार के स्थान में आकर वद्धि आदेश होकर प्रयोग सिद्ध हुआ।

बहिस् शब्द से पूर्वोक्त अर्थ में 'ईकक्' प्रत्यय भी हो। और टि का लोप भी।

ईकक् का अन्त्य ककार इत्संज्ञक है।

किति च 7.2.118

किति तद्धिते चाचाम् आदेरचो वद्धिः स्यात्। बाहीकः। (वा) सर्वत्र गोः (र्) अच् (ज्) आदि प्रसङ्गे यत। गोरपत्यादि-गव्यम।

व्याख्याः कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते भी अचों में आदि अच् को वद्धि हो।

बाहीकः (बहिर्भवः, बाहरी)–यहां प्रकृत वार्तिक से बहिस् शब्द से ईकक् प्रत्यय और टि 'इस्' का लोप हुआ और प्रकृत सूत्र से कित् तद्धित प्रत्यय ईकक् परे रहते आदि अच अकार को वद्धि आकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

अपत्य और उससे भिन्न प्राग् दीव्यतीय अर्थों में गो शब्द से 'अच्' आदि प्रत्ययों के प्रसङ्ग में 'यत्' प्रत्यय हो।

वार्तिक में स्थित 'अजादि' पद का अर्थ अण् आदि प्रत्यय हैं, क्योंकि 'अच् आदिर्यस्य स अजादिः–अच् है आदि में जिसके'–इस प्रकार बहुब्रीहि से अण् आदि प्रत्यय ही लिये जाते हैं, क्योंकि ये अजादि हैं।

गव्यम् (गवि भवम्, गोः इदम्–इत्यादि, गौ में होनेवाला, गौ का इत्यादि)– प्रकृत वार्तिक से यहां भी गो शब्द से 'भव' आदि अर्थ में यत् प्रत्यय हुआ। यहां अण् प्राप्त था। 'गो य' इस स्थिति में 'वान्तो यि प्रत्यये' से अव् आदेश होने पर 'गव्य' वह अकारान्त शब्द बना।

उत्सादिभ्यो ा 4.1.86

औत्सः। इत्यपत्यादिविकारान्तार्थाः साधारण प्रत्ययाः।

व्याख्याः उत्स आदि शब्दों से अपत्यादि प्राग्–दीव्यतीय अर्थ में आ् प्रत्यय हो।

औत्सः (उत्सस्य अपत्यादि, उत्स की सन्तान आदि)–यहां अपत्य आदि अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ उत्स शब्द से प्रकृत सूत्र से आ् प्रत्यय हुआ। तब 'तद्धितेष्वचाम् आदेः 7.2.118।।' से आदि अच् उकार को वद्धि और यस्येति च 6. 4.148।।' से अन्त्य आकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

स्त्री-पुंसाभ्यां ना्-स्नाौ भवनात् 4.1.87

'धान्यानां भवने' प्रागर्थेषु स्त्री-पुंसाभ्यां क्रमात् ना्स्नाौ स्तः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

व्याख्याः स्त्री और पुंस शब्दों से क्रमशः ना् ओर स्ना् प्रत्यय हो 'घान्यानां भवने 5.2.1।।' इस सूत्र से पूर्व आये हुये अर्थों में।

ना् और स्ना् प्रत्ययों का ाकार इत्संज्ञक है, न और स्न शेष रहते हैं।

स्त्रैणः (स्त्रियां अपत्यं पुमान्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः–स्त्री की पुरुष सन्तान, स्त्री संबंधी, स्त्रियों का समूह)– यहां षष्ठ्यन्त या सप्तम्यन्त समर्थ स्त्री शब्द से अपत्य, भव या समूह अर्थ में प्रकृत सूत्र से ना् प्रत्यय होने पर आदि वद्धि हुई। तब नकार को णकार होकर 'स्त्रैण' यह प्रातिपदिक सिद्ध हुआ। प्रथमा के एकवचन में पूर्वोक्त रूप सिद्ध हुआ।

पौंस्नः (पुंसः अपत्यम्, पुंसु भवः, पुंसां समूहः—पुरुष का अपत्य पुरुष संबंधी, पुरुषों का समूह)—यहां पूर्ववत् पुंस् शब्द से स्ना् प्रत्यय हुआ, स्ना् के हलादि प्रत्यय होने से पूर्व की 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने 1.4.17' से पद संज्ञा हुई, तब 'संयोगान्तस्य लोपः 8.2.23।।' से पुंस् के सकार का लोप हुआं शेष कार्य 'स्त्रैणः' के समान होते हैं।

तस्यापत्यम् 4.1.92

षष्ठ्यन्तात् कृत-सन्धेः समर्थाद् अपत्येर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्ययः वा स्युः।

व्याख्याः षष्ठ्यन्त कृतसन्धि समर्थ पद से अपत्य अर्थ में पूर्वोक्त और आगे कहे जानेवाले प्रत्यय हों।

'तस्य' यह सर्वानाम सभी षष्ठ्यन्तों का परामर्शक है। समर्थानां प्रथमात्' के अधिकार से सामर्थ्य की यहां अपेक्षा है, सामर्थ्य का अर्थ है सन्धि किया हुआ—इसी बात को प्रकट करने के उद्देश्य से वत्ति में 'कृतसन्धि समर्थ' कहा गया है।

सामर्थ्य का अर्थ कृत—सन्धि करने से 'सूत्थितस्यापत्यम् सौत्थितिः'—यह प्रयोग सिद्ध हुआ। अन्यथा सन्धि किये बिना 'सु उत्थित' इससे प्रत्यय इ्र् आने पर आदि अच् को वद्धि औकार और उसे आव् आदेश होकर 'सावुत्थितिः' यह अनिष्ट रूप बनेगा।

ओर्गुणः 5.4.145

उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धितेः उपगोरपत्यम्-औवगवः। आश्वपतः। दैत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

व्याख्याः उवर्णान्त् भसंज्ञक को गुण हो तद्धित प्रत्यय परे रहते।

औपगवः (उपगोरपत्यम्, उपगु की सन्तान)–यहां षष्ठ्यन्त समर्थ उपगु पद से पूर्व सूत्र के द्वारा अपत्य अर्थ में अण्–प्रत्यय हुआ तद्धितान्त होने के कारण 'कृततद्धित–समासाश्च' से प्रादिपदिक संज्ञा हुई। तब 'सुपो धातु–प्रातिपदिकयो–' से सुप् ङस् का लोप हुआ। आदि अच् उकार को वद्धि औकार हुआ। भसंज्ञा होने के कारण अन्त्य उकार को प्रकृत सूत्र से गुण होने पर अव् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

आश्वपतः—इत्यादि की सिद्धि पहले आ चुकी है।

अपत्यं पौत्र-प्रभति गोत्रम् 4.1.162

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्र-संज्ञं स्यात्।

व्याख्याः उत्स जब पौत्र आदि तीसरी और उससे आगे की पीढ़ी को भी अपत्य कहना इष्ट हो तब उनकी गोत्र संज्ञा हो।

एको गोत्रे 4.1.93

गोत्रे एक एवापत्य-प्रत्ययः स्यात्। उपगोर्गोत्रापत्यम्-औपगवः।

व्याख्याः गोत्र अर्थ में एक ही अपत्य प्रत्यय हो।

औपगवः—उपगोगॅत्रापत्यम् औपगवः—उपगु का गोत्रापत्य 'औपगवः' कहा जायेगा। यहां अपत्य प्रत्यय अण् उपगु शब्द से ही होगा चाहे तीसरी या चौथी पीढ़ी वाले को कहना हो। उपगु की सन्तान **औपगवः** और औपगव की सन्तान–औपगवः–इस प्रकार तीसरी पीढ़ी वाले को बताने के लिये एक और प्रत्यय नहीं आएगा, एक अण् प्रत्यय से ही उसका भी बोध हो जायेगा। एक ही प्रत्यय से बोध कराने का नियम प्रकृत सूत्र से किया गया है।

चाहे सौंवी पीढ़ी में हुई सन्तान को कहना, हो तो भी एक ही प्रत्यय होगा। उसे भी 'गार्ग्य' ही कहा जायेगा सौ अपत्य प्रत्यय या् नहीं होंगे।

गर्गादिभ्यो या् 4.1.105

गोत्रापत्ये। गर्गस्य गोत्रापत्यम्-गार्ग्यः। वात्स्यः।

व्याख्याः गर्ग आदि षष्ठ्यन्त समर्थ पदों से गोत्रापत्य अर्थ में या् प्रत्यय हो।

गार्ग्यः (गर्गस्य गोत्रापत्यम् गर्ग का गोत्रापत्य)—यहां गर्ग पद से गोत्रापत्य अर्थ में य् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

वात्स्यः (वत्सस्य गोत्रावरपयम्, वत्स का गोत्रापत्य)—यहां वत्स से पूर्ववत् या् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध होता है।

या्-आोश्च 2.4.64

गोत्रे यद् यान्तम् अन्त च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात् तत्कृते बहुत्वे; न तु स्त्रियाम्। गर्गाः। वत्साः।

व्याख्याः गोत्र अर्थ में जो यान्त और आन्त पद उनके अवयव या् और आ् का लोप हो, यदि उन्हीं के अर्थ अर्थात् गोत्र का बहुत्व बताना हो, परन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता।

गर्गाः—यहां गोत्र प्रत्यय से सिद्ध गार्ग्य शब्द से प्रथमा के बहुवचन में या् का लोप प्रकृत सूत्र से हुआ, क्योंकि यहां गोत्र का बहुत्व ही इससे प्रतीत होता है।

वत्साः—इसी प्रकार वात्स्य शब्द के प्रथमा के बहुवचन में या् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

गार्ग्यः, गार्ग्यो, गर्गाः। गार्ग्यम्, गार्ग्यो, गर्गान्—इस प्रकार से रूप बनेंगे। बहुवचन में गोत्र प्रत्यय का लोप इसी प्रकार सर्वत्र होगा।

जीवति तू वंश्ये युवा 4.1.163

वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यद् अपत्यं चतुर्थादि तत् युवसंमेव स्यात्।

व्याख्याः वंश में हुए पिता, पितामह के जीवित रहते जो पौत्र आदि का अपत्य हो चौथी पीढ़ी आदि में उसकी युवसंज्ञा ही हो।

यदि पितामह और पिता जीवित हों तब पौत्र की सन्तान हो अर्थात् प्रपौत्र हो जाय तो उसको **युवापत्य** कहा जाता है।

गोत्राद् यूनि अःस्त्रियाम् 4.1.94

यूनि-अपत्ये गोत्र-प्रत्ययान्ताद् एव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युव-संज्ञा।

व्याख्याः युवापत्य अर्थ में गोत्र—प्रत्ययान्त से ही प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्ग में युवापत्य संज्ञा नहीं होती।

या् इाोश्च 4.1.101

गोत्रे यौ या्-इाौ, तदन्तात् फक् स्यात्।

व्याख्याः गोत्र अर्थ में जो या् और इ् प्रत्यय, तदन्त शब्द से फक् प्रत्यय हो।

फक् का ककार इत्संज्ञक है।

आयन्-एय्-ईन-ईय्-इयः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम्। 7.1.2

प्रत्ययादेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः। गर्गस्य युवापत्यं-गगार्ग्यायणः। दाक्षायणः।

व्याख्याः प्रत्यय के आदि फकार को आयन्, ढकार को एय्, खकार को ईन् छकार को ईय् और घकार को इय् आदेश हों।

गार्ग्यायणः—गर्गस्य युवापत्यम् गर्ग का युवापत्य अर्थ में 'गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्—' के नियम के अनुसार गोत्र—प्रत्ययान्त से ही प्रत्यय होगा। इसलिये पहले गोत्रापत्य अर्थ में 'गर्गादिभ्यो या्' प्रत्यय होकर 'गार्ग्य' बना। तब गोत्र या् प्रत्ययान्त गार्ग्य शब्द के युवापत्य अर्थ में 'या्—इञोश्च' इस सूत्र से फक् प्रत्यय हुआ। फक् क आदि फकार के स्थान में प्रकृत सूत्र से 'आयन्' आदेश होने पर 'गार्ग्य आयन् अ' यह स्थिति बनी। 'यस्येति च' से अन्त्य भसंज्ञक अवर्ण का लोप और आदिवद्धि होकर रूप बना।

'गार्ग्यायण' का अर्थ है 'गर्ग की चौथी पीढ़ी का बालक' इसी को युवापत्य कहा जायेगा। यहां गोत्र प्रत्यय से पुनः युवप्रत्यय हुआ है, इससे यह मालूम पड़ता है कि चौथी पीढ़ीवाले के पिता, पितामह और प्रपितामह जीवित हैं। यदि ये तीनों जीवित न होंगे या इनमें कोई जीवित न होगा तो चतुर्थ की युवापत्य संज्ञा न होगी साधारण गोत्र संज्ञा ही होगी, तब इसे 'गार्ग्य' कहा जाएगा।

दाक्षायणः (दक्षस्य युवापत्यम् दक्ष का युवापत्य)—यहां दक्ष से गोत्र प्रत्यय 'अत इञ् 4.1.95' इस अग्रिम सूत्र से इञ् हुआ। आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप होने पर 'दाक्षि' शब्द बना। तब इस गोत्रप्रत्ययान्त शब्द से पूर्वोक्त प्रकार से फक् प्रत्यय होकर उक्त रूप बना।

अत इञ् 4.1.05

अपत्येर्थे दाक्षिः।

व्याख्याः अदन्त षष्ठ्यन्त समर्थ से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय हो।

दाक्षिः (दक्षस्य अपत्यं पुमान्, दक्ष की सन्तान पुरुष)—दक्ष शब्द से अदन्त होने के कारण प्रकृत सूत्र से इञ् प्रत्यय हुआ। आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

बाह्वादिभ्यश्च 4.1.96

बाहविः। औडुलोमिः। (वा) लोम्नोपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः उडुलोमाः। आकृतिगणोयम्।

व्याख्याः बाहु आदि षष्ठयन्त समर्थ पदों से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय हो।

बाहु आदि शब्दों के अकारान्त न होने से पूर्व सूत्र के द्वारा अप्राप्त इञ् का इस सूत्र से विधान किया जाएगा।

यहां यह ध्यान रहे कि 'बाहु' आदि जिन शब्दों से अपत्य गोत्र या युवापत्य अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया जा रहा है, वे सब व्यक्ति—वाचक संज्ञा हैं, प्राचीन व्यक्तियों का नाम है।

बाहविः (बाहोरपत्यम् पुमान्)—बाहु शब्द से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होने पर पर्जन्यवल्लक्षणप्रवत्ति न्याय से आदिवद्धि और 'ओर्गुणः 2.4.146' से उकार को गुण ओकार और उसे अव् आदेश होने पर इकारान्त शब्द बनकर रूप सिद्ध हुआ।

औडुलोमिः (उडूनि नक्षत्राणीव लोमानि। यस्य स उडुलोमा, तस्य अपत्यम्—तारों के समान लोम वाला, ऋषिविशेष, उसकी सन्तान)—यहां बाहु आदि होने के कारण उडुलोमन् शब्द से इञ् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि तथा ' नस्तद्धिते 6.4.144' सेअन् का लोप होकर रूप बना।

लोमन् से अपत्य अर्थ के बहुवचन में अप्रत्यय हो।

यह पूर्वोक्त इञ् प्रत्यय का बाधक है, बहुवचन में यह अ प्रत्यय होता है।

उडुलोमाः (उडुलोम्नोपत्यानि)—यहां उडुलोमन् से अ प्रत्यय हुआ। 'नस्तद्धिते' से टि अन् का लोप होने पर अकारान्त 'उडुलोम' शब्द बना, तब प्रथमा के बहुवचन में यह रूप बना।

यहां आदिवद्धि नहीं होती, क्योंकि आदि वद्धि करनेवाले दो सूत्र हैं—'तद्धितेष्वचाम् आदेः 7.2.117' और 'किति च 7.2.118' इन दोनों सूत्रों से आदिवद्धि ञित्, णित् प्रत्यय परे रहते ही होती है। अ प्रत्यय न ञित् है और णित् है और न कित् ही है।

आकृतिगण इति—यह बाहु आदि गण आकृतिगण है, इसलिये जिन शब्दों से इञ् प्रत्यय हुआ मिलता है, और उसका विधान किसी सूत्र से नहीं हुआ मिलता, उन शब्दों को बाहु आदिगण में समझ लेना चाहिए।

अनष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योञ् 4.1.104

ये त्वत्रानषयः, तेभ्योपत्ये, अन्यत्र तु गोत्रे। बिदस्य गोत्रम्-बैदः, बैदो, बिदाः। पुत्रस्यापत्यम्-पौत्रः, पौत्री, पौत्राः। एवं दौहित्रादयः।

व्याख्याः बिद आदियों से गोत्र अर्थ में अञ् प्रत्यय हो, परन्तु इन बिद आदियों में जो ऋषि नहीं, उनसे अनन्तर अर्थात् अपत्य अर्थ में हो।

बैदः (बिदस्य गोत्रापत्यम्) —यहां ऋषि होने के कारण बिद शब्द से गोत्रापत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय हुआ। तब आदिवद्धि और अन्त्य अकारका लोप होकर रूप बना।

बिदः—बिद शब्द से गोत्र अपत्य अर्थ में आये यञ् प्रत्यय का बहुत्व विवक्षा में 'यञ् आोश्च 2.4.64' इस सूत्र से लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

पौत्रः (पुत्रस्यापत्यम्, पुत्र की सन्तान)—पुत्र ऋषि नहीं, इसलिये अनन्तर अर्थात् शुद्ध अपत्य अर्थ में प्रकृत सूत्र से अञ् प्रत्यय होने पर आदि वद्धि और अन्त्य अकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

पौत्राः पौत्र शब्द के बहुवचन का रूप है। यहां अपत्य अर्थ में प्रत्यय हुआ है, गोत्र अर्थ में नहीं, इसलिये अञ् का लोप नहीं हुआ।

एवमिति—इसी प्रकार दुहितुरपत्यम्—लड़की की सन्तान—**दौहित्रः** इत्यादि रूपों की सिद्धि होती है।

शिवादिभ्योण् 4.1.112

अपत्ये। शैवः। गाङ्गः।

व्याख्याः शिव आदि गण से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय हो।

शैवः (शिवस्यापत्यम्)—शिव शब्द से अपत्य अर्थ में प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

गाङ्गः (गङ्गाया अपत्यम्)—गङ्गा आकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

ऋष्यन्धक-वष्णि-कुरुभ्यश्च 4.1.114

ऋषिभ्यः—वासिष्ठः वैश्वामित्रः। अन्धकेभ्यः-श्वाफल्कः। वष्णिभ्यः वासुदेवः। कुरुभ्यः—नाकुलः, साहदेवः।

व्याख्याः ऋषि, अन्धक (यादव), वष्णि (अहीर) ओर कुरु—इन से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय हो।

ऋषि[1] वेद के मन्त्रों के द्रष्टाओं को कहते हैं। अन्धक, वष्णि, और कुरु—ये कुलों के नाम हैं। इन सब के व्यक्तियों के नामों से प्रत्यय होता है।

वासिष्ठः, विश्वामित्रः (वसिष्ठस्य विश्वामित्रस्य च ऋषिः अपत्यम्)—यहां ऋषिवाचक वसिष्ठ और विश्वामित्र शब्दों से प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होने से आदिवद्धि और अन्त्यलोप होकर रूप बने।

श्वाफल्कः (श्वफल्कस्यापत्यम्)—श्वफल्क 'अन्धक' कुल के व्यक्ति का नाम है। अतः प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ।

वासुदेवः (वसुदेवस्यापत्यम्—कृष्ण)—वसुदेव वष्णिवंश के हैं। इसलिये सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ।

---

1. 'सर्गादि—समये वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वम्, अनुज्ञाताः स्वयम्भुवा।।' इति पुराणेषु प्रसिद्धम्।

मातुरुत् संख्या-सं-भद्र-पूर्वायाः 4.1.115

संख्यादि-पूर्वस्य मातशब्दस्य 'उद्' आदेशः स्यात्, 'अण्' प्रत्ययश्च। द्वैमातुरः। षाण्मातुरः। सांमातुरः। भाद्रमातुरः।

व्याख्याः संख्या, सम् और भद्र–पूर्वक मात शब्द को उत् आदेश हो और अण् अपत्य अर्थ में।

उत् आदेश अलोन्त्य–परिभाषा से अन्त्य ऋकार के स्थान में होता है और 'उरण् रपरः' से रपर होकर 'उर्' होता है।

द्वैमातुरः (द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान् दो माताओं का पुरुष अपत्य)–यहां द्विमात शब्द में संख्या द्विपूर्वक मात शब्द है। प्रकृत सूत्र से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय और ऋकार को उर् आदेश आदिवद्धि होने पर 'द्वैमातुर' शब्द बनकर रूप सिद्ध हुआ।

षाण्मातुरः[1] (षण्णं मातणामपत्यं पुमान् छः माताओं का पुरुष अपत्य शिवजी का ज्येष्ठ पुत्र कुमार)–यहां षण्मात शब्द से अण् प्रत्यय तथा ऋकार को उर् हुआ। आदिवद्धि होकर 'षाण्मातुर' रूप बना।

सांमातुरः (संमातुरपत्यं पुमान्) और **भाद्रमातुरः** (भद्रमातुरपत्यं पुमान्–अच्छी माता की सन्तान)–इनकी सिद्धि भी इसी प्रकार होती है।

कन्यायाः कनीन च 4.1.116

चाद् अण्। कानीनः–व्यासः, कर्णश्च।

व्याख्याः कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में कानीन आदेश हो।

चाद् इति–सूत्र में 'च' होने से अण् प्रत्यय भी होता है।

कानीनः (कन्याया अपत्यं पुमान्–कन्या अविवाहिता की पुरुष सन्तान व्यास और कर्ण)–यहां कन्या शब्द को प्रकृत सूत्र से कानीन आदेश और अण् प्रत्यय होने पर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

स्त्रीभ्यो ढक् 4.1.120

स्त्रीप्रत्यान्तेभ्यो ढक् वैनतेयः।

व्याख्याः इति–स्त्री–प्रत्ययान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय हो।

ढक् का ककार इत्संज्ञक है।

वैनतेयः (विनताया अपत्यम् पुमान्, विनता की सन्तान अर्थात् गरुड़)–यहां स्त्रीप्रत्ययान्त विनता शब्द से ढक् प्रत्यय प्रकृत सूत्र से हुआं तब 'आयनेयी–7.1.2' इत्यादि सूत्र से प्रत्यय के आदि ढकार को ए् आदेश 'किति च 7.2.118' से आदिवद्धि और अन्त्यलोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

राज-श्वशुराद् यत् 4.1.137

(वा) राज्ञो जातावेव-इति वाच्यम्।

व्याख्याः राजन् और श्वसुर शब्द से यत् प्रत्यय हो अपत्य अर्थ में।

राजन् शब्द से जाति अर्थ में ही यत् प्रत्यय हो।

पूर्वोक्त प्रकार से अपत्य अर्थ में यत् प्राप्त था। प्रकृत वार्तिक ने राजन् शब्द से जाति में ही विधान किया।

ये चाभाव-कर्मणो 6.4.168।।

यादौ तद्धिते परेन् प्रकृत्या स्यात्, नतु भाव-कर्मणोः राजन्यः। श्वशुर्यः। जातावेव इति किम्–

व्याख्याः यकारादि तद्धित प्रत्यय परे रहते अन् को प्रकृतिभाव हो, परन्तु भाव और कर्म अर्थ में न हो।

---

1. 'षाण्मातुरः शक्तिधरः कुमारः क्रौचदारणः' इत्यमरः।

राजन्यः[1] (क्षत्रिय जाति)–यहां पूर्वोक्त वार्तिक के नियम के अनुसार राजन् शब्द से जाति अर्थ में यत् प्रत्यय हुआ। 'नस्तद्धिते 6.4.144'– से प्राप्त भसंज्ञक टि अन् के लोप का प्रकृत सूत्र से निषेध होने पर रूप सिद्ध हुआ।

श्वशुर्यः (श्वशुरस्यापत्यं पुमान् श्वशुर का पुरुष अपत्य अर्थात् साला)–यहां श्वशुर शब्द के अपत्य अर्थ में 'राजश्वशुराद् यत्' से यत् प्रत्यय होने पर अन्त्य लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

जाताविति–राजन् शब्द से जाति अर्थ में ही यत् प्रत्यय हो ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि जाति से भिन्न अर्थ में यत् प्रत्यय न हो।

अन् 6.4.167

अन्-प्रकृत्या स्याद् अणि। परे राजनः।

व्याख्याः अन् को प्रकृतिभाव हो अण् परे रहते।

राजनः (राज्ञोपत्यं पुमान्, शूद्रा आदि में उत्पन्न सन्तान, जो क्षत्रिय नहीं)–यहां जातिभिन्न अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय अर्थ में अण् प्रत्यय होने पर 'नस्तद्धिते 6.4.144' से प्राप्त अन् टि के लोप का प्रकृत सूत्र से निषेध होकर रूप सिद्ध हुआ।

क्षताद् घः 4.1.138

क्षत्त्रियः। जातौ-इत्येव। क्षात्त्रिः-अन्यत्र।

व्याख्याः क्षत्र शब्द से घ प्रत्यय हो।

जाताविति–राजन् शब्द के समान 'क्षत्त्र' शब्द से भी जाति अर्थ में ही यह प्रत्यय हो।

क्षत्रियः–'क्षत्र' शब्द से प्रकृत सूत्र से घ प्रत्यय जाति अर्थ में हुआ, 'घ' को 'आयन्–7.1.2' से इय् आदेश होने पर अन्त्य लोप होकर रूपसिद्ध हुआ।

क्षात्रिः-अन्यत्र इति–जातिभिन्न अर्थ में 'अत इञ्' सूत्र से इञ् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्यलोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

रेवत्यादिभ्यष्ठक् 4.1.146

व्याख्याः रेवती आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में ठक् प्रत्यय हो।

ठस्येकः 7.3.50

अङ्गात परम ठस्य 'इक' आदेशः स्यात्। रैवतिकः।

व्याख्याः अङ्ग से पर ठकार को इक् आदेश हो।

रैवतिकः–रेवती शब्द से अपत्य अर्थ में पूर्व सूत्र से ठक् प्रत्यय हुआ। प्रकृत सूत्र से प्रत्यय के ठकार के स्थान में 'इक्' आदेश होने पर आदिवद्धि और अन्त्य ईकार का'यस्येति च' से लोप होकर 'रैवतिक यह अकारान्त शब्द बन गया, तब प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

जनपद्-शब्दात् क्षत्त्रियाद् अञ् 4.1.168।।

जनपद-क्षत्त्रिय-वाचकात् शब्दाद् 'अञ्' स्याद् अपत्ये। पाचालः। (वा) क्षत्त्रिय-समान-शब्दाद् जनपदात् तस्य राजनि-अपत्यवत्। पचालानां राजा-पाचालः। (वा) पूरोर्ण वक्तव्यः। पौरवः। (वा) पाण्डोडर्यण् पाण्डयः।

व्याख्याः जनपद–वाचक शब्द से यदि वह क्षत्रिय का भी वाचक हो तो अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय हो।

---

1. 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यः बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः।

पाचालः— यहाँ जनपद—oाचक 'पचाल' शब्द से जो कि क्षत्रिय—वाचक भी है प्रकृत सूत्र से आ् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य लोप होकर रूप हुआ।

जनपद प्रात को कहते हैं। 'पाचाल' जनपद विशेष का नाम भी है औ एक क्षत्रिय जाति का भी।

समानेति—क्षत्रिय—जाति—वाचक शब्द के समान यदि जनपदवाचक शब्द भी हो तो उससे –राजा' अर्थ में अपत्यार्थ के समान प्रत्यय हो।

पाचालः (पचालानां देशविशेषाणां राजा, पचाल देश का राजा)—यहां पूर्ववत् रूप की सिद्धि होती है, क्योंकि राजा अर्थ में भी अपत्यार्थ के समान प्रत्यय होते है। अर्थ में अन्तर रहता है, परन्तु शब्द के रूप में नहीं। पचाल एक जनपद का भी नाम है और उसके निवासी क्षत्रिय जाति लोगों का भी। इसीलिये प्रकृत वार्तिक से राजा अर्थ में अपत्यार्थ के समान अण् प्रत्यय हुआ। तब आदि वद्धि और अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

पूरु शब्द को राजा अर्थ में अण् प्रत्यय हो।

'पूरु' शब्द जनपद का वाचक नहीं, अतः पूर्व वार्तिक की इसमें प्राप्ति नहीं थी।

पौरवः (पुरूणां राजा, पूरु क्षत्रियों का राजा)—यहां पूरु शब्द से राजा अर्थ में अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य उकार को 'ओर्गुणः 6.4.146' से गुण ओकार और उसे अव् आदेश होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

पाण्डु शब्द से राजा अर्थ में ड्यण् प्रत्यय हो। ड्यण् के डकार और णकार इत्संज्ञक हैं, केवल य शेष रहता है डित् होने से इसके परे रहते टि का लोप होता है।

'पाण्डु' शब्द से यहां न तो श्वेत गुण वाचक का और न युधिष्ठिर के पिता के वाचक का ही ग्रहण होता है, क्योंकि यहां 'जनपदशब्दात्' की आवत्ति होती है, जिससे 'पाण्डु' शब्द देश और क्षत्रिय का वाचक ही यहां लिया जाता है। उक्त दोनों अर्थों में 'पाण्डु' शब्द जनपद वाचक नहीं है।

पाण्ड्यः (पाण्डोरपत्यम्, पाण्डोर्देशस्य राजा, पाण्डु का अपत्य अथवा पाण्डु देश का राजा)—पाण्डु जनपद और उसके निवासी क्षत्रियों का वाचक है। अतः प्रकृत वार्तिक से ड्यण् प्रत्यय हुआ डित् होने के कारण प्रत्यय परे रहते टि उकार का लोप और पर्जन्यवल्लक्षण—प्रवत्ति के नियम से आदिवद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

कुरु-नादिभ्यो ण्यः 4.1.172

कौरव्यः। नैषध्यः।

व्याख्याः कुरु और नकारादि जनपद और उसके निवासी क्षत्रियों के वाचक शब्दों से राजा अर्थ में ण्य प्रत्यय हो।

कौरव्यः (कुरुणां जनपद—विशेषाणां क्षत्रिय—विशेषाणां च राजा, कुरु च नामक जनपद क्षत्रियों का राजा)— यहां कुरु शब्द से प्रकृत सूत्र से ण्य प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य उकार को 'ओर्गुणः 6.4.146' से गुण ओकार तथा उसे अव् आदेश होकर 'कौरव्य' शब्द बन जाने से प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

नैषध्यः (निषधानां देशविशेषाणां राजा, निषधनामक देश का राजा अर्थात् नल)—यहां निषध शब्द जनपदवाची और नकारादि है। अतः आदिवद्धि और अन्त्यलोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

'नैषध' शब्द का भी प्रयोग मिलता है, वह आगे आनेवाले शैषिक अण् प्रत्यय से सिद्ध होता है।

ते तद्-राजाः 4.1.174

आ् आदयः 'तद्-राज' संज्ञाःस्युः।

व्याख्याः 'जनपदश्ब्दात्—4.1.168' इस सूत्र से लेकर जनपदवाची शब्दों से विहित इन आ् आदि प्रत्ययों की तद्'राज संज्ञा होती है।

तद्-राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् 2.4.62

बहुष्वर्थेषु तद्-राजस्य लुक् तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। इक्ष्वाकवः पचालाः, इत्यादि।

व्याख्याः बहुत्व की विवक्ष में तद्–राज प्रत्य का लोप हो यदि बहुत्व तद'राज प्रत्यय के अर्थ का ही हो, रन्तु स्त्रीलिङ्ग में न हो।

इक्ष्वाकवः (इक्ष्वाकूणां जनपदविशेषाणां राजानः, इक्ष्वाकु जनपद विशेष के राजा)–यहां इक्ष्वाकु शब्द से 'जनपदशब्दात्–' सूत्र से आ् प्रत्यय हुआ। आदिवद्धि और अन्त्य उकारका अव् आदेश होने पर **'ऐक्ष्वाक'** यह शब्द बना बहुवचन में आ् तद्राज प्रत्यय का लोप प्रकृत सूत्र से हुआ अतः आदिवद्धि की भी निवत्ति हो गई। तब 'इक्ष्वाकु' शब्द से ही प्रथमा के बहुवचन में उक्त रूप बना। अर्थ इसका 'इक्ष्वाकुजनपद् के राजा' यही रहेगा।

पचालाः (पचालानां जनपद–विशेषणां राजानः, पचाल के राजा)–यहां भी पूर्ववत् बहुवचन में तद्–राज प्रत्यय का लोप हुआ।

कम्बोजात् (ल्) लुक् 4.1.175

अस्मात् तद-राजस्य लुक्। कम्बोजः। कम्बोजौ। (वा) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्। चोलः, शकः, केरलः, यवनः। इत्यपत्याधिकारः।

व्याख्याः कम्बोज शब्द से तद्राज प्रत्यय का लोप हो।

कम्बाज शब्द जनपद और क्षत्रिय का वाचक है। इससे 'जनपदशब्दात्–' इत्यादि से आ् तद'राज प्रत्यय होता है, उसका लोप यह सूत्र करता है।

कम्बोजः (कम्बोजानां देशविशेषाणां राजा, कम्बोज का राजा)–यहां जनपदवाची होने से कम्बोज शब्द से' जनपदशब्दात्–' से अच् प्रत्यय हुआ उसका प्रकृत सूत्र से लोप हो गया। तब शब्द यथावत् शेष रहा वही 'राजा' अर्थ का बोध करता है।

कम्बोज आदियों से तद्–राज प्रत्यय का लोप होता है, न केवल कम्बोज से।

चोलः, शकः (चोलानां शकानां च देशविशेषाणां, क्षत्रियविशेषाणां च राजा, चोल और शक देश का राजा)–चोल और शक शब्द देश विशेष और क्षत्रिय विशेष के वाचक हैं इन से द्व्यच् होने के कारण 'द्व्या् मगध– 4.1.170।।' सूत्र से अण् हुआ उसका प्रकृत सूत्र से लोप हुआ।

केरलः, यवनः—केरल और यवन शब्द भी देश विशेष और क्षत्रिय विशेष के वाचक हैं। इनसे 'जनपदशब्दात्–' से आ् होता है, उसका प्रकृत सूत्र से लोप हो जाता है।

यहां ध्यान रहना चाहिये कि—

1. पचाल आदि शब्दमूल रूप से जनपद अर्थात् देश विशेष आदि के वाचक हैं।
2. देश विशेष अर्थ में संस्कृत भाषा में ये शब्द बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं।
3. देश के निवासियों के भी प्रत्ययों के द्वारा वाचक बन जाते हैं।
4. देश के राजा के लिये भी इन शब्दों के साथ प्रत्यय जोड़कर प्रयोग होता है।
5. 'जनपद शब्दात् क्षत्रियाद् आ् 4.1.168' इस सूत्र से इस प्रकारण में यही सब बताया गया है।

उदाहरणः—

1. पचालाः—देशविशेषः

1. पाचालः—पचाल देश का निवासी।

3. पाचालाः—पचाल देश का राजा

अपत्याधिकार समाप्त।

अथ रक्ताद्यर्थकाः

इस प्रकरण का नाम रक्ताद्यर्थक है। इसमे रक्त–रंगा हुआ–इत्यादि अर्थों में तद्धित बताये गये हैं। उन अर्थों में वह अर्थ प्रथम है, इसलिये उसके साथ आदि शब्द जोड़कर प्रकरण का नाम रख दिया गया है।

तेन रक्तं रागात् 4.2.1

अण् स्यात्। रज्यतेनेनेति-रागः। कषायेण रक्तं वस्त्रम्-काषायम्

व्याख्याः उससे रंगा हुआ–इस अर्थ में ततीयान्त समर्थ रङ्ग (वर्ण) वाचक पद से अण् प्रत्यय हो।

रज्यते इति–राग शब्द की व्युत्पत्ति की गई। रज्यतेनेन–इससे रंगा जाता है, अर्थात् रंगने का साधन नील पीत आदि रङ्ग। रज् धातु से करण में 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् 3.3.19' से घा् प्रत्यय होने पर 'घाि च भावकरणयोः 6.4.27' से नकार का लोप हुआ तब '184 च–जोः कु घिण्यतोः 7.3.52' से जकार को कुत्व गकार तथ उपधावद्धि होने पर राग शब्द बना।

काषायम् (कषायेण रक्तं वस्त्रम्, गेरुए रङ्ग से रङ्गा हुआ कपड़ा भगवा कपड़ा)–यहां ततीयान्त समर्थ रङ्गवाचक कषाय शब्द से 'उससे रंगा हुआ' इस अर्थ में प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ। तब 'कषाय टा अण्' इस अवस्था में तद्धित होने से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। प्रातिपदिक के अवयव सुप् ट का 'सुपो धातु प्रादिपदिकयोः 2.4.71' से लोप तथा आदिवद्धि और अन्त्य अकार को लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

नक्षत्रेण युक्तः कालः 4.2.3

अण् स्यात्। (वा) तिष्य-पुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्। पुष्येण युक्त-पौषम् अहः।

व्याख्याः नक्षत्र से युक्त संबंध काल अर्थ में प्रथमोच्चारित नक्षत्रवाचक शब्द से अण् प्रत्यय हो।

नक्षत्र शब्द से यहां नक्षत्रयुक्त चन्द्रमा लिया जाता है।

नक्षत्र अण् अर्थात् पूर्वोक्त नक्षत्र से युक्त काल अर्थ में नक्षत्रवाचक शब्द से विहित अण् परे रहिते तिष्य और पुष्य शब्दों के यकार का लोप हो।

पौषम् अहः (पुष्यनामक–नक्षत्रयुक्त–चन्द्र–युक्त दिनम्, पुष्यनामक नक्षत्र से युक्त चन्द्रमा से युक्त दिन)–यहां ततीयान्त समर्थ नक्षत्र शब्द से तद्–युक्त काल में पूर्व सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ। तब प्रातिपदिक संज्ञा और उसके अवयव सुप् का लोप होने पर आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप हुआ। पुनः प्रकृत वार्तिक से यकार का लोप होने पर 'पौष' इस अकारान्त के बन जाने से नपुंसकलिङ्ग प्रथमा के एकवचन में उक्त रूप सिद्ध हुआ।

लुब् अविशेषे 4.2.4

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात्, षष्टि-दण्डात्मकस्य कालस्यावान्तर विशेषश्चेद् न गम्यते। अद्य पुष्यः।

व्याख्याः पूर्व सूत्र से विहित अण् का लोप हो यदि साठ घड़ी रूप काल का अवान्तर भेद अर्थात् दिन और रात रूपका ज्ञान न हो।

सूत्रस्य 'अविशेष' शब्द का अर्थ है विशेष अर्थ की यदि प्रतीति न हो अर्थात् यह पता न चले कि साठ धड़ी (चौबीस धण्टे) का अवान्तर विशेष दिन या रात है।

सूत्र में अविशेष शब्द का अर्थ है कि साठ घड़ी अर्थात् चौबीस घण्टे का दिन रात होता हे, उसमें यह पता न चले कि दिन है या रात।

अद्य पुष्यः (आज पुष्य नक्षत्र से युक्त चन्द्रमा युक्त काल है) यहां पूर्व सूत्र से अण् होता है। उसका प्रकृत सूत्र से लोप हो जाता है क्योंकि यहां यह पता नहीं चलता है कि दिन है या रात।

दष्टं साम 4.2.7

'तेन' इत्येव। वसिष्ठेन दष्टम्—वासिष्ठं साम।

व्याख्याः उसने साम को देखा अर्थात् ज्ञान रूप में प्राप्त किया इस अर्थ में ततीयान्त समर्थ से अण् प्रत्यय हो।

वासिष्ठं साम (वसिष्ठेन दष्टं साम, वसिष्ठ से देखा गया साम)—यहां 'देखा गया साम' इस अर्थ में ततीयान्त समर्थ वसिष्ठ पद से अण् प्रत्यय हुआ। फिर पूर्वोक्त प्रकर से सिद्धि हुई।

साम मन्त्र हैं, उसका जिसे ज्ञान हुआ, उसी के नाम से वे प्रसिद्ध हुए, प्रत्यय तद्धित का योग हुआ। जिन सामों का ज्ञान वसिष्ठ को हुआ, वे वसिष्ठ के नाम से ही तद्धित प्रत्यय के योग से 'वासिष्ठ' इस रूप में प्रसिद्ध हुए।

वामदेवाद् ड्यड्-ड्यौ 4.2.9

वामदेवेन दष्टं साम-वामदेव्यम्।

व्याख्याः 'साम देखा' अर्थ में ततीयान्त समर्थ वामदेव शब्द से ड्यत् और ड्य प्रत्यय हो।

ड्यत् और ड्य दोनों का केवल यकार शेष रहता है। दोनों के द्वारा रूप एक समान बनता है। स्वर में दोनों का अन्तर पड़ता है। ड्यत् के तित् होने से वह स्वरित होता है। और ड्य उदात्त।

वामदेव्यम् (वामदेवेन दष्टं साम, वामदेव से देखा गया साम)—यहां पूर्वोक्त अर्थ में वामदेव शब्द से ड्य प्रत्यय हुआ। डित् प्रत्यय परे होने से टि का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

परि-वतो रथः 4.1.10

अस्मिन्नर्थेणप्रत्ययो भवति। वस्त्रेण परिवतः—वास्त्रो रथः।

व्याख्याः 'उससे घिरा हुआ रथ' इस अर्थ में ततीयान्त समर्थ से अण् प्रत्यय हो।

वास्त्रो रथः (वस्त्रेण परिवतो रथः, कपड़े से घिरा हुआ रथ यहां 'घिरा—लिपटा—हुआ' अर्थ में ततीयान्त समर्थ वस्त्र पद से अण् प्रत्यय हुआ। फिर पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धि हुई।

यहां तक चार शब्दों में तद्धित प्रत्यय किया गया है, वे चार अर्थ ये हैं—1. रंगा हुआ। 2. नक्षत्र से युक्त काल। 3. देखा गया साम। 4. घिरा हुआ रथ। इन चारों अर्थों में ततीयान्त में प्रत्यय का विधान हुआ।

तत्रोद्धतम् अमत्रेभ्यः 4.2.14

शरावे उद्धतः-शाराव ओदनः।

व्याख्याः 'उसमें निकालकर रखा हुआ' इस अर्थ में समर्थ सप्तम्यन्त अमत्र—पात्र—वाचक शब्द से अण् प्रत्यय हो।

शाराव ओदनः (शरावे उद्धत ओदनः—थाली में रखा हुआ भात)—यहां 'उद्धत—निकाल कर रखा हुआ' अर्थ में सप्तम्यन्त पात्रवाचक शराव शब्द से प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ, पूर्वोक्त प्रकार से फिर रूप सिद्ध हुआ।

संस्कृतं भक्षाः 4.2.16

सप्तम्यन्ताद् अण् स्यात् संस्कृतेर्थे, यत् सस्कृतं भक्षाश्चेत् स्युः। भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः—भ्राष्ट्राः यवाः।

व्याख्याः सप्तम्यन्त समर्थ से संस्कृत अर्थ में अण् प्रत्यय हो, वह संस्कृत पदार्थ यदि खाने की वस्तु हो। संस्कृत का अर्थ है संस्कार किया हुआ।

भ्राष्ट्रा यवाः (भ्राष्ट्रेषु संस्कृता—भाड़ में संस्कृत—संस्कार किये हुए अर्थात् भुने हुए जौ)— यहां 'उसमें संस्कृत हुए' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ भ्राष्ट्र शब्द से प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ। पर्जन्यवल्लक्षण—प्रवत्ति सिद्धान्त से आदिवद्धि हुई और तब अन्त्य अकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

सास्य देवता 4.2.24

इन्द्रो देवता अस्य इति ऐन्द्रम्-हविः। पाशुपतम्। बार्हस्पतम्।

व्याख्याः प्रथमान्त समर्थ देवता वाचक पद से इसका अर्थ में अण् प्रत्यय हो।

ऐन्द्रम् (इन्द्रो देवतास्य, इन्द्र इसका देवता है)–यहां प्रथ्मान्त समर्थ देवतावाचक इन्द्र शब्द से 'इसका' अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ। तब आदिवद्धि और अन्त्य लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

पाशुपतम् (पशुपतिर्देवतास्य, पशुपति इसका देवता है वह हवि)–यहां पशुपति शब्द से 'अस्य' अर्थ में अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

बार्हस्पतम् (बहस्पतिर्देवतास्य–बहस्पति इसका देवता है वह हवि)–यहां बहस्पति शब्द से पूर्वोक्त प्रकार से रूप सिद्ध हुआ।

शुक्राद घन् 4.2.26

शुक्रियम्।

व्याख्याः शुक्र शब्द स 'सास्य देवता' अर्थ में घन् प्रत्यय हो।

शुक्रियम् (शुक्रो देवतास्य, शुक्र है देवता इसका)–यहां शुक्र शब्द से पूर्वोक्त अर्थ में प्रकृत सूत्र से घन् प्रत्यय हुआ। प्रत्यय के आदि अवयव षकार को 'आयन्–7.1.2' इत्यादि सूत्र से 'इय्' आदेश होने पर अन्त्य लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

सोमात् ट्यण् 4.2.30

सौम्यम्।

व्याख्याः सोम शब्द से 'सास्य देवता' अर्थ में ट्यण् प्रत्यय हो ट्यण् के टकार और णकार इत्संज्ञक है, केवल यकार शेष रहता है।

सौम्यम् (सोमो देवतास्य, सोम इसका देवता है, वह हवि)–यहां सोम शब्द से पूर्वोक्त अर्थ में ट्यण् प्रत्यय हुआ। आदिवद्धि और अन्त्याकार लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

वाय्वतु-पित्रुषसो यत् 4.2.31

वायव्यम्। ऋतव्यम्।

व्याख्याः वायु, ऋतु, पित और उषस् शब्द से 'सास्य देवता' अर्थ में 'यत्' प्रत्यय हो। **वायव्यम्**–वायुर्देवतास्य, जिसका देवता वायु है–यहां वायु शब्द से 'सास्य देवता' अर्थ में यत् प्रत्यय हुआ। 'ओर्गुणः' से उकार को गुण ओकार हुआ और ओकार को 'वान्तो यि प्रत्यये' से अव् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

ऋतव्यम् (ऋतुर्देवतास्य, ऋतु देवता है इसका)–यहां ऋतु शब्द से प्रकृत सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ। वायव्य के समान ऋतव्यम् रूप सिद्ध हुआ है।

रीङ् ऋतः 7.4.27

अ-कृद् अकारे अ-सार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य 'रीङ्' आदेशः। यस्येति च। पित्र्यम्। उषस्यम्।

व्याख्याः कृद्भिन्न यकार और असार्वधातुक यकार तथा च्वि प्रत्यय परे रहते ऋदन्त अङ्ग को रीङ् आदेश हो।

अनत्य ऋकार को रीङ आदेश होगा।

पित्र्यम् (पितरो देवतास्य हविः, पितर हैं देवता इस हवि के)–यहां 'सास्य देवता' अर्थ में पितशब्द से पूर्व सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ। तब प्रकृत सूत्र से कृद्भिन्न यकार परे होने से ऋदन्त अङ्ग पित के ऋकार को रीङ् आदेश

होने पर 'पित् री य' यह स्थिति बनी। यहां तद्धित प्रत्यय य परे होने से 'यस्येति च 6.4.148' से अन्त्य ईकार का लोप होने पर 'पिय' यह अकारान्त शब्द बन जाने से उक्त रूप सिद्ध हुआ।

उषस्यम् (उषाः देवतास्य हविषः, उषा है देवता इस हवि का)—यहां उषस् शब्द के पूर्वोक्त अर्थ में पूर्व सूत्र से यत् प्रत्यय होने पर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

पितव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः 4.2.36

एते निपात्यन्ते। पितुर्भ्राता-पितव्यः। मातुर्भ्राता-मातुलः। मातुः पिता-मातामहः। पितुः पिता-पितामहः।

व्याख्याः पितव्य (चाचा), मातुल (मामा), मातामह (नाना) और पितामह (दादा)—ये शब्द अर्थ—विशेष में निपातन से सिद्ध होते हैं।

पितव्यः (पितुर्भ्राता, चाचा, ताऊ)—यहां पित शब्द से भ्राता अर्थ में ण्यत् प्रत्यय निपातन से हुआ।

मातुलः (मातुर्भ्राता, मा का भाई, मामा)—यहां मात शब्द से भ्राता अर्थ में डुलच् प्रत्यय का निपातन हुआ। डुलच् का उल रहा और डित् होने से उससे परे रहते टि ऋकार का लोप हुआ।

मातामहः पितामहः (मातुः पिता—नाना, पितुः पिता—दादा)—यहां मात और पित शब्द से पिता अर्थ में डामहच् प्रत्यय का निपातन हुआ। प्रत्यय का आमह भाग शेष रहता है और डित् होने से उसके परे रहते टि ऋकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

पितव्य आदि शब्दों की सिद्धि भ्राता और पिता अर्थ में होती है, वे अर्थ भी यहां रक्ताद्यर्थ के अन्तर्गत हैं।

'देवता' अर्थ के प्रत्यय समाप्त हुए और अब 'समूह' अर्थ में जो प्रत्यय आते हैं, उन्हें बताया जाता है।

तस्य समूहः 4.2.37

काकानां समूहः—काकम्।

व्याख्याः समूह अर्थ में षष्ठयन्त अर्थ से अण् प्रत्यय हो।

काकम् (काकाना समूहः, कौवों का झुण्ड)—यहां समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त समर्थ काक शब्द से अण् प्रत्यय हुआ। तब आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप होने पर 'काक' यह अकारान्त शब्द बना। उसके प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

भिक्षादिभ्योण् 4.2.38

भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहः—गार्भिणम्। इह— (वा) भस्याढे तद्धिते। इति पुवंद्भावे कृते—

व्याख्याः भिक्षा आदि षष्ठयन्त समर्थ से समूह अर्थ में अण् प्रत्यय हो।

भिक्षा अचित्त—चित्तहीन है, उससे 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्, 4.2.47' से ठक् प्राप्त था। गर्भिणी शब्द ङीषन्त होने से अन्तोदात्त होने के कारण अनुदात्तादि है, इसलिये उससे 'अनुदात्तादेरा् 4.2.44।।' से आ् प्रत्यय प्राप्त था—इस सूत्र से उसका बाध होता है।

भैक्षम् (भिक्षाणां समूहः, भिक्षा का समूह)—यहां भिक्षा शब्द से समूह अर्थ में प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य आकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है।

गार्भिणम् (गर्भिणीनां समूहः, गर्भिणियों का समह)—यहां समूह अर्थ में गर्भिणी शब्द से प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर आदि वद्धि और पुंवद्भाव होकर रूप सिद्ध होता है।

ढ भिन्न तद्धित परे रहते भसंज्ञक अङ्ग को पुंवद्भाव हो।

इहेति—यहां 'गर्भिणी अण्' इस स्थिति में 'भस्याढे तद्धिते' से पुंवद्भाव करने पर 'गर्भिन् अण्' ऐसी स्थिति बनी। इसमें 'नस्तद्धिते 6.4.144' से टि का लोप प्राप्त होता है।

इन् अण्यनपत्ये 6.4.164

अनपत्यार्थेणि परे 'इन्' प्रकृत्या स्यात्। तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न। युवतीनां समूहः—यौवनम्।

व्याख्याः अपत्यार्थ से भिन्न अर्थ के अण् परे रहते 'इन्' को प्रकृतिभाव हो।

तेनेति—इस कारण 'नस्तद्धिते' से अन् टि का लोप नहीं हुआ। यहां अन् प्रत्यय अपत्यार्थ से भिन्न **'समूह'** अर्थ का है।

यौवनम् (युवतीनां समूहः, युवतियों का समूह)—यहां 'यूनस्ति' सूत्र से ति प्रत्यय होकर सिद्ध हुए युवति शब्द से समूह अर्थ में अण् प्रत्यय होने पर पूर्वोक्त वार्तिक से पुंवद्भाव होकर 'युवन—अण्' यह स्थिति बनी। यहां 'अन् 6.4.167' सूत्र से टि अन् को प्रकृतिभाव होने पर आदिवद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

शतप्रत्ययान्त से उगित् होने के कारण ङीप् प्रत्यय से सिद्ध युवती इस दीर्घान्त शब्द से समूह अर्थ में 'यौवनम्' रूप सिद्ध होता है। यहां पुंवद्भाव होने पर 'युवत्' रहेगा।

ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल् 4.2.43

तलन्तं स्त्रियाम्। ग्रामता, जनता, बन्धुता। (वा) गज सहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्। गजता। सहायता। (वा) अहः खः क्रतौ। अहीनः।

व्याख्याः ग्राम, जन और बन्धु शब्दों से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय हो।

तल् का लकार इत्संज्ञक है।

तलन्तमिति—तल्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं, स्त्रीत्व के बोध के लिये टाप् (आ) प्रत्यय होने पर शब्द अकारान्त बन जाता है।

ग्रामता (ग्रामाणां समूहः, ग्रामों का समूह)—यहां समूह अर्थ में ग्राम शब्द से तल् प्रत्यय प्रकृत सूत्र से हुआ। तब स्त्रीलिङ्ग होने से टाप् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

जनता (जनानां समूहः, लोगों का समूह), बन्धुता (बन्धूनां समूहः, बन्धुओं का समूह)—इन शब्दों की सिद्धि 'ग्रामता' के समान होती है।

जनता शब्द का प्रयोग आजकल हिन्दी में इसी अर्थ में बहुत होता है।

(वा)—गज (हाथी) और सहाय (सहायक)—इन शब्दों से भी समूह अर्थ में तल् प्रत्यय हो।

गजता (हाथयों का समूह), **सहायता** (सहायकों का समूह)—इनकी सिद्धि भी पूर्ववत् होती है।

(वा)—अहन् शब्द से समूह अर्थ में ख प्रत्यय हो यज्ञ यदि वाच्य हो।

अहीनः (अह्नां समूहेन साध्यः क्रतुविशेषः, अनेक दिन में किया जानेवाला यज्ञ)—यहां अहन् शब्द से प्रकृत सूत्र से ख प्रत्ययहुआ। तब उसको 'आयन—' इत्यादि से 'इन्' आदेश होने पर 'नस्तद्धिते' से टि अन् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

अचित्त अर्थात् चित्तरहित के वाचक हस्ती और धेनु शब्द से ठक् प्रत्यय हो समूह अर्थ में।

चित्त चेतन प्राणियों का ही होता है, इसलिये चित्त—रहित से अचेतन प्राणिभिन्न ही लिये जाते हैं।

इस्-उस्-उक्-तान्तात् कः 7.3.51

इस्-उस्'उक्-तान्तात् परस्य ठस्य कः। साक्तुकम्। हास्तिकम् धैनुकम्।

व्याख्याः इस्, उस्, उक् और तकार अन्त मे जिनके हो उन शब्दों से पर ठ को क आदेश हो।

यह इक् आदेश का बाधक है।

साक्तुकम् (सक्तूनां समूहः सत्तुओं का ढेर)–यहां सक्तु शब्द चित्त–रहित का वाचक उगन्त है। अतः इससे प्रकृत सूत्र से ठक् प्रत्यय होने पर उगन्त से पर होने के कारण उसको प्रकृत सूत्र से क आदेश हुआ। तब आदि वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

हास्तिकम् (हस्तिनां समूहः, हाथियों का समूह)–यहां हस्तिन् शब्द से समूह अर्थ में पूर्व सूत्र से ठक् प्रत्यय हुआ। प्रातिपदिक का अवयव होने से सुप् षष्ठी विभक्ति का लोप होने पर 'ठ' को 'ठस्येकः 7.3.50' सूत्र से 'इक्' आदेश हुआ और तब टि 'इन्' का लोप और आदिवद्धि होकर 'हास्तिक' शब्द बना। तब नपुंसकलिङ्ग प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

यहां इगन्त न होने से द को प्रकृत सूत्र से 'क' आदेश नहीं हुआ।

हस्तिनीनां समूह'–हथिनियों का समूह–इस विग्रह में भी 'भस्याढे तद्धिते से पुवंद्भाव होने के कारण पूर्वोक्त ही रूप बनता है।

धैनुकम् (धेनूनां समूहः, धेनुओं का समूह)–यहां पूर्वोक्त सूत्र से षष्ठयन्त समर्थ धेनु शब्द से ठक् प्रत्यय हुआ और 'ठ' को प्रकृत सूत्र के द्वारा उगन्त होने के काण 'क' आदेश हुआ। तब आदिवद्धि होकर प्रथमा के एक वचन में रूप बना।

इस प्रकार 'समूह अर्थ' का प्रकरण समाप्त हुआ। अब 'तत् अधीते तद्वेद' इस अर्थ के प्रत्ययों को बताते हैं।

तद् अधीते तद् वेद 4.2.59

व्याख्याः द्वितीयान्त समर्थ शब्द से 'उसको पढ़ता या जानता है–' इस अर्थ में अण् आदि प्रत्यय हों।

न य्-वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्याम् ऐच 7.3.3

पदान्ताभ्यां यकारवकारभ्यां परस्य न वद्धिः, किं तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमाद् ऐचावागमौ स्तः। व्यारकणम् अधीते वेद वा-वैयाकरणः।

व्याख्याः पदान्त यकार और वकार से पर अच् को वद्धि न हो, किन्तु उनसे पूर्व क्रमशः ऐच् आगम होते हैं, वकार से पूर्व 'ऐ' का और वकार से पूर्व 'औ' का आगम होता है।

वैयाकरणः (व्याकरणमधीते वेत्ति वा, व्याकरण को जो पढ़ता है वा जानता है)–यहां द्वितीयान्त व्याकरण शब्द से पूर्व सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ। तब आदि अच् को प्राप्त वद्धि का प्रकृत सूत्र से निषेध हुआ, क्योंकि यहां यकार पदान्त है, वह इ के इकार के स्थान में हुआ है; यह सुबन्त है, उससे पर आकार को वद्धि प्राप्त है, तथा वकार के पहले ऐ का आगम हुआ। फिर अन्त्य अकार का लोप होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

क्रमादिभ्यो वुन् 4.2.61

क्रमकः, पदकः, शिक्षकः, मीमांसकः।

इति रक्ताद्यर्थकाः।

व्याख्याः क्रम आदि द्वितीयान्त समर्थ पदों से 'पढ़ता है या जानता है' इस पूर्वोक्त अर्थ में 'वुन्' प्रत्यय हो।

वुन् का नकार इत्संज्ञक है, नित् का फल आद्युदात्त होना है। 'वु' को 'यु–वौरनाकौ 7.1.1' से 'अक' आदेश होता है।

क्रमकः (क्रममधीते वेत्ति वा, जो क्रम पाठ को पढ़ता या जानता हो)–यहां क्रम शब्द से प्रकृत सूत्र के द्वारा वुन् प्रत्यय हुआ। वु को अक आदेश और अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

पदकः (पदमधीते वेत्ति वा, जो पदपाठ को पढ़ता या जानता हो)–इसकी सिद्धि 'क्रमकः' के समान ही होती है।

क्रम पाठ के ग्रन्थों को 'क्रम' और पदपाठ के ग्रन्थों को 'पद' कहते हैं। वेद पाठ के आठ प्रकार हैं, उनमें क्रमपाठ और पदपाठ भी हैं।

शिक्षकः (शिक्षामधीते वेत्ति वा, शिक्षा शास्त्र को जो पढ़ता या जानता हो)—यहां शिक्षा शब्द से प्रकृत सूत्र से वुन् प्रत्यय होने पर उसको अक आदेश और अन्त्य आकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

मीमांसकः (मीमांसामधीते, वेत्ति वा, मीमांसा शास्त्र को जो पढ़ता या जानता हो)—इसकी सिद्धि 'शिक्षकः' के समान होती है।

रक्ताद्यर्थक समाप्त

अथ चातुरर्थिकाः

अथ चातुरर्थिका इति—यहां से चातुरर्थिक प्रकरण प्रारम्भ होता है। इस प्रकरण में चार अर्थों में होने वाले प्रत्यय बताये गये हैं। ये चार अर्थ हैं—1. इसमें है, 2. उसने बनाया, 3. उनका निवास और 4. उससे जो दूर नहीं है। ये चारों अर्थ देश के लिये ही आये हैं। पहले अर्थ में इस वस्तु के नाम से जो इस उस देश में है देश को कहा जाता है। दूसरे अर्थों में जिसने उस नगर को बसाया या बनवाया हो—उसके नाम से ही उसे कहा जाता है। तीसरे अर्थ में देश के निवासियों के नाम से देश को कहा जाता है और चौथे अर्थ में जिस शहर आदि से वह शहर दूर न हो उस शहर के नाम से भी दूसरे शहर को कहा जता है।

इन चार अर्थों के कारण इस प्रकरण का चातुरर्थिक नाम किया गया है। चतुर्णामर्थानां समाहारः—चतुरर्थी, तत्र भवाश्चातुरर्थिकाः अथवा—चतुर्णाम् सूत्राणाम् अर्थाः, चतुरर्थाः, तत्र भवाः।

तद् अस्मिन् अस्ति-इति देशे तन्नाम्नि 4.2.67

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे-औदुम्बरो देशः।

व्याख्याः 'वह वस्तु यहां है' इस सप्तम्यन्त के अर्थ में वस्तु वाचक प्रथमान्त समर्थ से प्रत्यय हों प्रत्ययान्त शब्द यदि देश का नाम हो।

औदुम्बरो देशः (उदुम्बराः सन्ति अस्मिन् देशे, उदुम्बर—गूलर—जिस देश में हों)—यहां प्रथमान्त समर्थ उदुम्बरशब्द से सप्तम्यन्त के अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ। तब आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

तेन निर्वत्तम् 4.2.68

कुशाम्बेन निर्वत्ता नगरी कौशाम्बी।

व्याख्याः ततीयान्त समर्थ से निर्वत्त (बसाया) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय हों।

कौशाम्बी (कुशाम्बेन निर्वत्ता नगरी, कुशाम्ब नाम के राजा के द्वारा बसाई गई नगरी)—यहां ततीयान्त समय कुशाम्ब शब्द से निर्वत्त अर्थ में अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्यअकार का लोप तथा स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् (ई) प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

तस्य निवासः 4.1.69

शिबीनां निवासो देशः-शैबः।

व्याख्याः षष्ठ्यन्त समर्थ से निवास अर्थ में अण् आदि प्रत्यय हों।

शैबः (शिबीनां निवासो देशः, शिबि नामक क्षत्रिय राजाओं का निवास देश)—यहां षष्ठ्यन्त शिबि शब्द से निवास अर्थ में प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य इकार का लोप होकर रूप बना।

अदूर-भवश्च 4.2.70

विदिशाया अदूरभवं नगरम्-वैदिशम्।

व्याख्याः पचम्यन्त समर्थ पद से अदूरभव अर्थात् जो दूर न हो—अर्थ में अण् आदि प्रत्यय हों।

वैदिशम् (विदिशाया अदूरभवं नगरम्, विदिशा नामक नगरी से दूर न होने वाला नगर)—यहां विदिशा शब्द से अदूरभव अर्थ में अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप होकर रूप बना।

जनपदे लुप् 4.2.81

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप्।

व्याख्याः जनपद के नाम से जनपद के अर्थ में हुए चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप्—लोप हो।

लुपि युक्त-वद् व्यक्ति-वचने 1.2.51

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः। पचालानां निवासो जनपदः-पचालाः। कुरवः। अङ्गः। वङ्ग। कलिङ्गाः।

व्याख्याः प्रत्यय का लोप होने पर प्रकृति के समान ही लिङ् और वचन होते हैं

सूत्र में स्थित युक्त शब्द का प्रकृति अर्थात् मूल शब्द और व्यक्ति का लिङ्ग तथा वचन का संख्या अर्थ है।

पचालाः (पचालानां निवासो जनपदः, पचाल लोगों का निवास जनपद)—यहां पचाल शब्द से निवास अर्थ में 'तस्य निवासः' सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ। यहां निवास जनपद है, इसलिये 'जनपद लुप्' से प्रत्यय का लोप हो गया। तब जनपद के कारण एकवचन प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से प्रकृतिवत् लिङ्ग वचन का विधान किया इसलिये, प्रकृत क्षत्रियवाचक पचाल शब्द के पुंल्लिङ्ग और बहुवचन होने से जनपद अर्थ में प्रत्यय लोप होने पर प्रयुक्त होने वाले शब्द से भी वही लिङ्ग और वचन होकर रूप सिद्ध हुआ।

कुरवः—कुरूणां निवासो जनपदः, कुरु लोग जिस जनपद में रहते हैं। अङ्गाः—अङ्गानां निवासो जनपदः, अङ्ग लोगों का निवास जनपद। वङ्गः—वङ्गानां निवासो जनपदः—जिस जनपद में वङ्ग लोग रहते हैं। कलिङ्गाः—कलिङ्गानां निवासो जनपदः—जिस जनपद में कलिङ्ग लोग रहते हैं—इन शब्दों की सिद्धि पचालाः के समान होती है।

वरणादिभ्यश्च 4.2.82

अ-जनपदार्थः—आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरम्-वरणाः।

व्याख्याः वरणा आदियों से परे चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप हो।

अ-जनपदार्थ इति—जनपद से भिन्न अर्थ में लोप करने के लिये यह सूत्र बनाया गया है, जनपद अर्थ में तो पूर्व सूत्र से ही लोप हो जाता है।

वरणाः (वरणानामदूरभवं नगरम्, वरणा के जो नगर दूर नहीं)—यहां वरणा शब्द से अदूरभव अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ। उसका प्रकृत सूत्र से लोप हो गया। फिर 'लुपि युक्त—वद व्यक्ति—वचने' से प्रकृति के समान लिङ्ग वचन होने से रूप सिद्ध हुआ।

कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुप् 4.2.87

कौरव्यः। नैषध्यः।

व्याख्याः कुमुद, नड और वेतस शब्दों से 'तद्' अस्मिन् अस्ति' इस प्रकार सप्तम्यन्त के अर्थ में ड्मतुप् प्रत्यय हो प्रत्ययान्त शब्द यदि देश का वाचक हो।

ड्मतुप् प्रत्यय का 'मत्' शेष रहता है, शेष भाग का लोप हो जाता है। डित् होने से टि का लोप होता है।

झयः 8.3.10

झयन्तान् मतोर्मस्य वः। कुमुद्वान्। नड्वान्।

व्याख्याः झयन्त से पर मतु के मकार को वकार आदेश हो।

कुमुद्वान् (कुमुदाः सन्ति अस्मिन् देशे, जिस देश में कुमुद अधिक होते हैं)—यहां कुमुद शब्द से पूर्व से ड्मतुप् प्रत्यय होने पर टि अकार को लोप हुआ। तब झय् वकार से पर मतुप् के मकार को प्रकृत सूत्र से वकार होने पर 'कुमुद्वत्' यह तकारान्त शब्द बना। उसके प्रथिमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

नड्वान् (नडाः सन्ति अस्मिन् देशे, जिस देश में नड़ अधिक होते हों)—यहां नड् शब्द से देश अर्थ में ड्मतुप् प्रत्यय होकर पूर्ववत् रूप सिद्ध हुआ।

माद् उपधयाश्च मतोर्वोयवादिभ्यः 8.2.9

मवर्णावर्णान्तान् मवर्णावर्णोपधाच यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः। वेतस्वान्।

व्याख्याः मवर्णान्त और अवर्णान्त तथा मवर्णोपध और अवर्णोपध से पर मतुप् के मकार को वकार हो, पर यवादि से पर को न हो।

वेतस्वान् (वेतसाः सअिन्त अस्मिन् देशे, बेंत जिस देश में अधिक हों)—यहां वेतस् शब्द से 'कुमुद—नड—बेतसेभ्यो ड्मतुप्' से ड्मतुप् प्रत्यय होने पर टि अकार का लोप हुआ। तब अवर्णोपध होने से उससे पर मतुप् के मकार को प्रकृत सूत्र से वकार होकर 'वेतस्वत्' यह तकारान्त शब्द बना। प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

इस सूत्र के उदाहरण ये हैंः

मवर्णान्त – किंवान्

अवर्णान्त – ज्ञानवान्, विद्यावान्।

मवर्णोपध – लक्ष्मीवान्

अवर्णोपध – वेतस्वान्, भास्वान्

नड-शादाड् ड्वलच 4.2.88

नड्-वलः। शाद्वलः।

व्याख्याः नड और शाद शब्द से सप्तम्यन्त के अर्थ में ड्वलच् प्रत्यय हो।

ड्वलच् के डकार और चकार इत्संज्ञक हैं। इस प्रत्यय के परे रहते ड्ति होने के कारण टि का लोप होता है।

नडवल्ः[1] (नडाः सन्ति यस्मिन् देशे जिस देश में नड़ अधिक हों)—नड शब्द से प्रकृत सूत्र से ड्वलच् प्रत्यय होने पर टि अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

शाद्वलः[2] (शादा— सन्ति अस्मिन् देशे, जिस देश या प्रदेश में हरा घास अधिक हो)—यहां शाद शब्द से प्रकृत सूत्र से ड्वलच् प्रत्यय होने पर टि का लोप होकर सिद्ध हुआ।

शिखाया वलच् 4.2.89

शिखा-वलः।

व्याख्याः शिखा शब्द से 'तद् अस्मिन् अस्ति' इस अर्थ में वलच् प्रत्यय हो।

शिखा-वलः (शिखाः सन्ति अस्मिन् देशे, जिस देश—प्रदेश—स्थान में शिखा अधिक हों)—यहां शिखा शब्द से प्रकृत सूत्र से वलच् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

---

1. '..........नडप्राये नड्वान् नड्वल इत्यपि। कुमुद्वान् कुमुद—प्राये वेतस्वान् वड्—वेतसे। शाद्वलः शाछ—हरिते—' इत्यमरः।
2. सूत्रस्य 'मात्' पद 'मकारश्च अकारश्चेति तयोः समाहारः—मः, तस्मात् मात्' इस प्रकार बना हे। अतएव—मकार और अवर्ण—यह अर्थ निकलता है।

अथ शैषिकाः।

शेषे 4.2.92

अपत्यादि-चतुरर्थ्यन्ताद्-अन्योर्थः शेषः तत्राणादयः स्युः। चक्षुषा गह्यते चाक्षषम्-रूपम्। श्रावणः-शब्दः। औपनिषद्ः पुरुष' दषदि पिष्टा दार्षदा-सक्तवः। चतुर्भिरुह्यते चातुरम्-शकटम्। चतुर्दश्यां दश्यते चातुर्दशम् रक्षः। 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः

व्याख्याः अपत्य अर्थ से लेकर चतुरर्थी तक के अर्थों से भिन्न अर्थ शेष हुआ, उस शेष अर्थ में अण् आदि प्रत्यय हों। शेष अर्थ में होने वाले प्रत्ययों को शैषिक प्रत्यय कहते हैं।

इस सूत्र के द्वारा ग्रहण आदि अर्थों में प्रत्यय किये जाते हैं और इससे अतिरिक्त यह अधिकार सूत्र भी है, अग्रिम सूत्रों में भी इसका अधिकार जाता है।

चाक्षुषम् (चक्षुषा गह्यते, चक्षु इन्द्रिय से जिसका ग्रहण हो वह अर्थात् रूप)–यहां ततीयान्त समर्थ चक्षुप शब्द से ग्रहण के कर्म अर्थ में अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

श्रावणः (श्रवणेन–कर्णेन गह्यते, कान से जिसका ग्रहण हो, शब्द)–यहां श्रवण शब्द से ग्रहण अर्थ में अण् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

औपनिषदः, पुरुषः (उपनिषदि्भः प्रतिपादितः पुरुषः, उपनिषदों के द्वारा बताया गया पुरुष आत्मा)–यहां उपनिषत् शब्द से 'प्रतिपादित' अर्थ में अण् प्रत्यय होकर आदिवद्धि होने पर रूप सिद्ध हुआ।

दार्षदाः सक्तवः (दषदि पिष्टाः पत्थर पर पीसे गये सत्तू)–यहां दषद् शब्द से पिष्ट–पीसे गये–अर्थ में प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर आदि ऋकार को 'आर्' वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

चातुरं शकटम् (चतुर्भिरुह्यते, चार से ले जाया जाने वाला चार घोड़ों की बग्घी या चार आदमी जिसे उठाते हैं पालकी)–यहां चतुर्शब्द से 'उह्यते– ले जाया जाने वाला अर्थ में अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

चातुर्दर्श रक्षः (चतुर्दश्यां दश्यते–चतुदर्शी में दिखाई देने वाला)–चतुर्दशी शब्द से 'दश्यते–दिखाई देने वाला' अर्थ में प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर आदिवद्धि और अन्त्य इकार को लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

तस्य विकार इति–शेष का अधिकार 'तस्य विकारः 4.3.134' इस सूत्र से पहले तक हैं।

राष्ट्रावार-पाराद् घ-खौ 4.2.93

आभ्यां क्रमाद घ-खौस्तः शेषे। राष्ट्रे जातादि-राष्ट्रियः। अवारपारीणः। (वा) अवारपाराद् विगहीतादपि विपरीतात् च-इति वक्तव्यम्। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृति-विशेषाद् घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोविशेषाः समर्थविभक्तयच वक्ष्यन्ते।

व्याख्याः राष्ट्र और अवारपार (वार और पार इन सप्तम्यन्त समर्थ) शब्दों में शेष अर्थ में क्रम से घ और ख प्रत्यय होते हैं।

राष्ट्रियः (राष्ट्रे जातः भवो वा–राष्ट्र में पैदा हुआ या होने वाला)–यहां राष्ट्र शब्द से जात आदि अर्थ में प्रकृत सूत्र से घ प्रत्यय हुआ। घ को 'आयन्–7.1.2' इत्यादि सूत्र से इम् आदेश और अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

अवारपारीणः (अवारपारं गत–वार पार जो चला गया हो अर्थात् पारङ्गत, तत्वज्ञ)–यहां अवारपार शब्दसे 'गत' अर्थ में प्रकृत सूत्र से 'ख' प्रत्यय हुआ। 'ख' को 'आयन्' इस सूत्र से 'ई' आदेश, अन्त्य अकार का लोप और णत्व होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ।

अवारपार शब्द से पथक् किये जाने पर भी अर्थात् अवार और पार से पथक् पथक् और विपरीत से अर्थात् पारावार शब्द से उक्त ख प्रत्यय होता है।

अवारीणः (अवारे जातः, बार जो हुआ हो)—यहां अवार शब्द से ख प्रत्यय, उसको ईन आदेश, अन्त्य अकार का लोप और णत्व होकर रूपसिद्ध हुआ।

पारीणः (पारे जातः, पार पहुंचा हुआ, पारङ्गत)—यहां सिद्धि पूर्ववत् होती है।

पारावारीणः (पारवारे जातः, पार और वार में हुआ, पारङ्गत)—इसकी सिद्धि भी पूर्ववत् होती है।

इहेति—यहां शैषिक प्रकरण में 'राष्ट्रावारपाराद् घखौ' इत्यादि सूत्रों से राष्ट्र आदि विशेष प्रकृतियों में घ आदि प्रत्ययों का विधान किया गया है, 'तत्र जातः' आदि सूत्रों से केवल अर्थ का ही निर्देश किया गया है, इन दोनों की एकवाक्यता होने से प्रकृति, प्रत्यय और अर्थ का योग हो गया। 'समर्थानां प्रथमाद्वा' के अधिकार से प्राप्त समर्थ विभक्ति सूत्रों में कही जाएगी। इसलिये यह आशङ्का नहीं करनी चाहिये। यहां कहीं केवल प्रकृति—प्रत्यय का निर्देश किया गया है अर्थ का नहीं और कहीं केवल अर्थ का प्रकृति—प्रत्यय का नहीं।

ग्रामाद् य-खञौ 4.2.94

ग्राम्यः। ग्रामीणः।

व्याख्याः सप्तम्यन्त समर्थ ग्राम शब्द से 'जातः' 'भवः' आदि अर्थों में य और खञ् प्रत्यय हों।

खञ् का ञकार इत्संज्ञक है, इसका फल आदि उदात्त है।

ग्राम्यः, ग्रामीणः (ग्रामे जातः, भवो वा, ग्राम में पैदा हुआ या होने वाला)—यहां ग्राम शब्द से उक्त अर्थों में य और खञ् प्रत्यय हुए। ये प्रत्यय होने पर अन्त्य अकार को लोप होकर पहला रूप सिद्ध और खञ् प्रत्यय होने पर 'ख' के स्थान में 'आयन्—7.1.2' इत्यादि सूत्र से 'ईन' आदेश, ञित् प्रत्यय परे होने से पर्जन्यवल्लक्षणप्रवत्या आदिवद्धि, अन्त्य अकार का लोप तथा नकार को णकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

नद्यादिभ्यो ढक् 4.2.18

नादेयम्। माहेयम्। वाराणसेयम्।

व्याख्याः नदी आदि शब्दों से ढक् प्रत्यय हो।

नादेयम् (नद्यां जातम् भवं वा)—यहां सप्तम्यन्त समर्थ नदी शब्द से जातः' या 'भवः' अर्थ में प्रकृत सूत्र से ढक् प्रत्यय होने पर ढकार को एय आदेश और कित् परे होने से आदि अच् को वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

माहेयम् (मह्यां जातं भवं वा, पथ्वी पर पैदा हुआ या होनेवाला) और **वाराणसेयम्** (वाराणस्यां जातः भवो वा, बनारस में हुआ या होने वाला)—यहां वाराणसी शब्द से प्रकृत सूत्र से ढक् प्रत्यय होने पर अन्त्य ईकार का लोप होता है। सिद्धि का प्रकार पूर्ववत् है।

नादेयं जलम्—नदी का जल। वाराणसेयः पण्डितः—बनारस का पण्डित—इस प्रकार विशेषण बनकर ये तद्धित—प्रत्ययान्त शब्द आते हैं।

दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक् 4.2.97।।

दाक्षिणात्यः। पाश्चात्त्यः। पौरस्त्यः।

व्याख्याः दक्षिणा,पश्चात् और पुरम् इन अव्ययपदों से 'जातः' और 'भव' आदि शैषिक अर्थों में त्यक् प्रत्यय हो।

त्यक का ककार इत्संज्ञक है।

दाक्षिणात्यः (दक्षिणास्यां जातः भवो वा, दक्षिण में पैदा हुआ या होने वाला)—यहां सप्तम्यन्त समर्थ दक्षिणा शब्दसे भवादि अर्थ में प्रकृत सूत्र से शैषिक त्यक् प्रत्यय हुआ। कित् परे रहने के कारण आदिवद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

पाश्चात्यः (पश्चाद् जातो, भवो या, पीछे—पश्चिम में पैदा हुआ या होने वाला) और **पौरस्त्यः** (पहले या पूर्व में होने वाला)—इनकी सिद्धि पूर्ववत् होती है।

द्यु-प्राग्-अपाग्-उदक्-प्रतीचो यत् 4.2.101

दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्।

व्याख्याः दिव्, प्राच, अपाच्, उदच् और प्रतीच्–इन सप्तम्यन्त समर्थ शब्दों से भवादि अर्थ में शैषिक यत् प्रत्यय हो।

दिव्यम् (दिवि भवं जातम्, स्वर्ग में होनेवाला)–यहां सप्तम्यन्त समर्थ दिव् शब्द से भवादि अर्थ में यत् प्रत्यय होकर रूप बना।

इसी प्रकार–**प्राच्यम्** (प्राच्यां भवं जातं वा पूर्व दिशा में पैदा हुआ, पूर्वी), **अपाच्यम्** (अपाच्यां भवं जातं वा, दक्षिण दिशा में पैदा हुआ), दक्षिणी, **उदीच्यम्** (उदीच्यां दिशि भवं जातं वा, उत्तर दिशा मे पैदा हुआ, उत्तरी) और **प्रतीच्यम्** (प्रतीच्यं दिशि भवं जातं वा पश्चिमी)–इन रूपों की सिद्धि भी होती है।

अव्ययात् त्यप् 4.2.104

(वा) अमेहक्व-तसि-त्रेभ्य-एव। अमात्यः। इह-त्य। क्व-त्यः। ततस्य। तत्र-स्य। (वा) त्यप नेर्ध्रुवे इति वक्तव्यम्। नि-त्यः।

व्याख्याः अव्यय से भवादि अर्थ में त्यप् प्रत्यय हो। त्यप् का पकार इत्संज्ञक है।

अमा (सह, साथ), इह (यहां), क्व (कहां) तसन्त (ततः अतः इत्यादि) और त्र–प्रत्ययान्त (अत्र–यहां, तत्र–कहां, इत्यादि) अव्ययों से ही त्यप् प्रत्यय हो।

अमात्यः (अमा स भवः, साथ होनेवाला अर्थात् मन्त्री क्योंकि वह मन्त्रणा के लिये राजा के साथ रहता है)–यहां अमा अव्यय से त्यप् प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार–इह से इहत्यः (यहां होनेवाला),क्व से **क्वत्यः** (कहां होने वाला), सन्त ततः से **ततस्यः** (वहां का) और त्र–प्रत्ययान्त तत्र से **तत्रत्यः** (वहां होनेवाला)–इन शब्दों की सिद्धि होती है।

क्वतयो भवान्–आप कहां के हैं?

अत्र-त्याः जनाः–शान्ति–प्रियाः–यहां के लोग शान्ति–प्रिय हैं।

तत्र-त्यम् इदं वत्तम्– वहां का समाचार है।

इस प्रकार इन शब्दों का प्रयोग होने से भाषा मुहावरेदार बन जाती है।

अत्र-त्यः, कुत्र-त्यः–ये प्रयोग भी त्र–प्रत्ययान्त अव्यय पदों से त्यप प्रत्यय के द्वारा बनते हैं।

(वा)–नि उपसर्ग से भी त्यप् प्रत्यय हो ध्रुव–स्थिर–अर्थ में।

नित्यः (स्थिर रहनेवाला)–यहां नि उपसर्ग से ध्रुव अर्थ में प्रकृत वार्तिक से त्यप् प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुआ।

वद्धिर्यस्याचाम् आदिः, तद् वद्धम् 1.1.73

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वद्धिः तद् वद्धसंज्ञं स्यात्।

व्याख्याः जिस समुदाय के अचों में आदि अच वद्धिसंज्ञक हो, उस समुदाय की 'वद्ध' संज्ञा हो।

त्यदादीनि च 1.1.47

वद्ध-संज्ञानि स्युः।

व्याख्याः त्यदादियों की भी 'वद्ध' संज्ञा हो।

वद्धाच्छः 4.2.114

शालीयः। मालीयः। तदीयः। (वा) वा नामधेयस्य वद्ध-संज्ञा वक्तव्या। देवदत्तीयः, दैवदत्तः।

व्याख्याः वद्धसंज्ञक शब्दों से शैषिक छ प्रत्यय हो।

शालीयः (शालायां भवो जातो वा, शाला में पैदा हुआ)–यहां शाला का आदि अच् शकारोत्तरवर्ती आकार वद्धिसंज्ञक है, अतः इस शाला शब्द को 'वद्धिर्यस्याचामादिः–' इस पूर्वोक्त सूत्र से वद्ध संज्ञा हुई। तब प्रकृत सूत्र से छ प्रत्यय और उसके छकार को 'आयन्–7.1.2' इत्यादि सूत्र से ईय् आदेश और अन्त्य आकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार–**मालीयः** (मालायां भवो जातो वा मालाया अयमिति वा, माला में होनेवाला, माला का)–इसकी सिद्धि भी होती है।

तदीयः (तस्य अयम् उसका)–यहां इत्यादि होने से तद् शब्द की 'त्यदादीनि च' से वद्ध संज्ञा हुई। तब प्रकृत सूत्र से छ प्रत्यय और उसके छकार को पूर्ववत् ईय् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार–**मदीयः, त्वदीयः, भवदीयः, अस्मदीयः, युष्मदीयः, एतदीयः यदीयः**–इत्यादि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं।

व्यक्तिवाचक पद की वद्ध–संज्ञा विकल्प से होती है।

देवदत्तीयः दैवदत्तः, (देवदत्तस्यायम् देवदत्त का)–यहां देवदत्त शब्द व्यक्तिवाचक है, अतः इसकी प्रकृत वार्तिक से वद्धसंज्ञा विकल्प से हुई। वद्धसंज्ञापक्ष में पूर्वोक्त 'वद्धात् छः' सूत्र से छ प्रत्यय होकर पहला रूप सिद्ध हुआ और अभावपक्ष में सामान्य अण् प्रत्यय से दूसरा रूप।

गहादिभ्यश्च 4.2.138

गहीयः।

व्याख्याः गह आदि शब्दों से भी छ प्रत्यय हो भवादि अर्थ में।

गहीयः (गहे देशविशेषे भवः, गह नाम के देश में होनेवाला)–यहां प्रकृत सूत्र से गेह शब्द से छ प्रत्यय और उसके छकार को ईय् आदेश होने पर रूप सिद्ध हुआ।

युष्मद्अस्मदोरन्यतरस्यां खा् च 4.3.1

चात्-छः, पक्षेण्। युवयोर्युष्माकं वायम्-युष्मदीयः। अस्मदीयः।

व्याख्याः युष्मद् और अस्मद् शब्द से खा् प्रत्यय भी हो विकल्प से।

चाद् इति–च (भी) कहने से छ प्रत्यय भी होता है।

पक्षेण इति– अभावपक्ष में सामान्य अण् प्रत्यय होता है।

इस प्रकार युष्मद् और अस्मद् शब्द से छ, अण् और खा्–ये तीन प्रत्यय होते हैं और तीन–तीन रूप बनते हैं।

त्यदादीनि च 1.1.47' से वद्धसंज्ञक होने के कारण इनसे नित्य छ प्रत्यय प्राप्त था, इस सूत्र से खा् और अण् का भी विधान हुआ।

उनमें पहले 'छ' प्रत्यय के रूप दिये जा रहे हैं।

युष्मदीयः (युवयोर्युष्माकं वा अयम्, तुम दो का, तुम सब का)—यहाँ युष्मद् शब्द को छ प्रत्यय और छकारको इय् होकर रूप बना।

अस्मदीयः (आवयोरस्माकं वा—हम दो या हम लोगों का) इसक सिद्धि पूर्ववत् होती है।

तस्मिन्-अणि च युष्माकास्माकौ 4.3.6

युष्मद्-अस्मदोरेतावादेशौ स्तः खा़ि अणि च। यौष्माकीणः। आस्माकीनः। यौष्माकः। आस्माकः।

व्याख्याः उस खा् प्रत्यय और अण् प्रत्यय परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रम से 'युष्माक' और 'अस्माक' आदेश होते हैं।

यौष्माकीणः (युवयोर्युष्माकं वायम् तुम दो का या तुम लोगों का)–यहां पूर्व सूत्र से खा् प्रत्यय होने पर सूत्र से युष्मद शब्द को युष्माक आदेश हुआ। तब ख प्रत्यय के खकार को ईन् आदेश, आदिवद्धि, अन्त्य आकार का लोप और नकार को णकार होने पर रूप सिद्ध हुआ।

आस्माकीनः (आवयोरस्माकं वायम् हम दो या हम लोगों का) इसकी सिद्धि पूर्ववत् होती है।

यौष्माकः, आस्माकः—यहां पूर्वोक्त अर्थ में खा् के अभाव पक्ष में सामान्य सूत्र से अण् प्रत्यय और प्रकृत सूत्र से युष्मद् अस्मद् को युष्माक अस्माक आदेश होने पर आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

तवक-ममकावेकवचने 4.3.3.

एकार्थवाचिनोर्युष्मादस्मदोस्वक-ममकौ स्तः, खि, अणि च। तावकीनः, तावकः। मामकीनः, मामकाः। छे तु—

व्याख्याः एकार्थ—वाचक युष्मद् और अस्मद् शब्दों का 'तवक' और 'ममक' आदेश हो खा् और अण् प्रत्यय परे रहते।

तावकीनः, तावकः, (तब अयम्, मेरा)—यहां एकार्थवाचक होने से युष्मद् शब्द को खा् और अण् प्रत्यय परे रहते प्रकृत सूत्र से तवक आदेश होने पर आदिवद्धि और अन्त्य अकार का लोप हुआ। ख प्रत्यय के खकार को ईन आदेश होकर पहला रूप और अण् पक्ष में दूसरा रूप बना।

मामकीनः, मामकः (मम अयम, मेरा) यहां अस्मद् शब्द को ममक आदेश होने पर पूर्ववत् सिद्धि होती है।

छे तु इति—छ प्रत्यय होने पर तो—अग्रिम सूत्र की प्रवत्ति होगी यह आशय है।

प्रत्ययोत्तरपदयो श्च 7.2.98

मपर्यन्तोयोरेकार्थवाचिनोः 'त्व-मौ' स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च परतः। त्वदीयः मदीयः। त्वत्पुत्रः। मत्पुत्रः।

व्याख्याः एकार्थ के वाचक अर्थात् एकवचन में युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त भाग को क्रम से त्व और म आदेश होते हैं प्रत्यय और उत्तरपद परे रहते।

त्वदीयः, मदीयः (तव अयम् मम अयम्, तेरा मेरा)—यहां त्यदादि होने के कारण युष्मद् अस्मद् शब्द को 'त्यदादीनि च 1.1.47' से वद्ध संज्ञा होने पर वद्धात् छः 4.2.14' से छ प्रत्यय हुआ। तब प्रकृत सूत्र से मपर्यन्त भाग को त्व और म आदेश तथा प्रत्यय के छकार को ईय् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्रकृत सूत्र प्रत्यय और उत्तरपद परे रहते त्व, म आदेश करता है। प्रत्यय का उदाहरण तद्धित प्रत्यय छ परे रहते ऊपर दिया गया है।

उत्तरपद का उदाहरण तद्धित में संभव नहीं, क्योंकि उत्तरपद समास के चरम अवयव में रूढ़ है यह पहले बताया गया है, पर प्रसङ्ग उपस्थित होने से उसका उदाहरण देना आवश्यक है।

त्वत्पुत्रः (तव पुत्रः, तेरा पुत्र) और **मत्पुत्रः** (मम पुत्रः, मेरा पुत्र)—ये उत्तरपद के उदाहरण दिये गये हैं यहां तव पुत्रः, तत्पुरुष समास होने पर उत्तरपद के परे होने पर प्रकृत सूत्र से युष्मद् अस्मद शब्दों के मपर्यन्त भाग को त्व और म आदेश हुआ।

मध्याद् मः 4.3.8

मध्य-मः।

व्याख्याः मध्य शब्द से भवादि अर्थ में म शैषिक प्रत्यय हो।

मध्यमः (मध्ये भवः, मध्य में होनेवाला)—यहां भवादि अर्थ में मध्य शब्द से म प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुआ।

कालात् ठा् 3.3.11

कालवाचिभ्यः 'ठा्' स्यात्। कालिकम्। मासिकम्। सांवत्सरिकम्। (वा) अव्ययानां भ-मात्रे टि-लोपः। सायंप्रातिकः पौनःपुनिकः।

व्याख्याः सप्तम्यन्त समर्थ काल शब्द से तथा काल विशेष के वाचक 'मास' आदि शब्दों से भवादि अर्थ में ठा् प्रत्यय हो।

इस सूत्र में 'काल' शब्द काल सामान्य और काल विशेष दोनों अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

कालिकम् (काले भवं जातं वा, समय पर होनेवाला)—यहां सप्तम्यन्त समर्थ काल शब्द से भवार्थ में ठा् प्रत्यय होने पर प्रत्यय के ठकार को ^ठस्येकः 7.3.50' से इक् आदेश और पर्जन्यवल्लक्षण प्रवत्ति से आदि वद्धि तथा अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

मासिकम् (मासे भवम्, महीने में होनेवाला)—यहां काल विशेष के वाचक मास शब्द से भवार्थ में प्रकृत सूत्र से ठा् प्रत्यय हुआ, सिद्धि पूर्ववत् हुई।

सांवत्सरिकम् (संवत्सरे भवम्, साल में होनेवाला)—यहां कालवाचक संवत्सर शब्द से भवार्थ में ठा् प्रत्यय होने पर पूर्ववत् रूप सिद्ध हुआ।

अव्ययों की टि का लोप भसंज्ञा होने पर सर्वत्र हो जाता है।

सायंप्रातिकः (सायंप्रातर्भवः, सांझ सबेरे होनेवाला)—यहां काल वाचक सायं—प्रातर् शब्द है प्रकृत सूत्र से ठा् प्रत्यय हुआ। पूर्ववत् ठा् के ठकार को इक् आदेश, पर्जन्यवल्लक्षण—प्रवत्ति से आदिवद्धि होने पर प्रकृत वार्तिक से टि अर् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

पौनःपुनिक (पुनः पुनर्भवः, बार बार होनेवाला)—यहां कालवाचक पुनः—पुनर् अव्यय से ठा् प्रत्यय होने पर प्रकृत वार्तिक से अर् टि का लोप होकर पूर्ववत् रूप बना।

इनमें भसंज्ञा ठा् प्रत्यय के अजादि होने के कारण होती है।

प्रावष एण्यः 4.3.17

प्रावषेण्यः।

व्याख्याः काल विशेष के वाचक प्रावष् (वर्षा ऋतु) शब्द से भवादि अर्थ में एण्य प्रत्यय हो। यह 'एण्य' प्रत्यय पूर्वसूत्र से प्राप्त 'ठा्' का बाधक है।

प्रावषेण्यः (प्रावषि भवः, वर्षा ऋतु में होनेवाला)—यहां कालवाचक प्रावष् शब्द से एण्य प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुआ।

साय-चिरं-प्राह्णे-प्रगे-व्ययेभ्यष्टयु-टयुलौ तुट् च 4.3.23

सायम्-इत्यादिभ्यश्चतुर्भ्योव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यः 'टयु-टयुलौ, स्तः, तयोस्तुट् च। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। 'प्राह्णे-प्रगे' अनयोरेदन्तवं निपात्यते-प्राह्णे-प्रगे-तनम्। दोषा-तनम्।

व्याख्याः सायम्, चिरम्, प्राह्णे और प्रगे तथा कालवाचक अव्यय पदों से भवार्थ में टयु और टयुल् प्रत्यय हों और उनको तुट् आगम हो।

टयु का टकार और टयुल् का उकार लकार दोनों इत्संज्ञक हैं। दोनों प्रत्ययों का यु' शेष रता है और उसे 'युवोरनाको 7.1.1' से अन् आदेश होने से 'अन' यह प्रत्यय का रूप बनता है। इन दोनों के स्वर में अन्तर होता है। लित् होने से टयुल् प्रत्यय के पूर्व को 'प्रत्ययात् पूर्वे लिति' से उदात्त होता है और ट्यु का 'आद्युदात्तश्च' सूत्र से आदि अकार।

तुट् आगम है। इसका उट् भाग इत्संज्ञक है। यह टयु और टयुल् प्रत्ययों को अर्थात् अन को होता है। टित् होने के कारण यह अन के आदि में होता है। तब 'तन' यह रूप इन प्रत्ययों और तुट् आगम का बनता है।

सायं और चिर शब्द से ये प्रत्यय होते हैं। निपातन से ये मान्त होते हैं। सायम् और चिरम्—जब अव्यय हैं तब अव्यय होने के कारण ही इनसे टयु टयुल् प्रत्यय हो जाते हैं। सुबन्त सायं आदि और अव्यय सायम् आदि का अर्थ समान ही है।

इसी प्रकार प्राह्ण और प्रग शब्द को एकारान्तता निपातन से होती है। जब ये अव्यय हैं, तब अव्यय होने के कारण ही इनसे ये प्रत्यय सिद्ध होते हैं।

सायन्तनम् (साये भवः, सायं काल में होनेवाला)–यहां घान्त साय शब्द से भवार्थ में ट्यु प्रत्यय और उसे अन् आदेश होने पर तुट् आगम तथा मान्तता निपातन होकर रूप सिद्ध हुआ।

चिरन्तनम् (चिरे भवः, देर में होनेवाला)–इसकी सिद्धि पूर्ववत् होती है।

प्राह्णे इति–प्राह्णे और प्रगे इनकी एदन्तता का इस सूत्र से निपातन होता है।

प्राह्णे-तनम् (प्राह्णः सोढोस्य, पूर्वाह्ण जिसको सहा गया है)–यहां प्रकृत सूत्र से एदन्तता का निपातन हुआ। 'तदस्य सोढम् 4.3.52।।' इस अर्थ में प्रत्यय हुआ है। जात अर्थ में 'घकालतनेषु–' सूत्र से सप्तमी का अलुक् होने से एदन्तता वैसे ही सिद्ध है।

प्रगे-तनम् (प्रगे भवः, प्रातःकाल में होनेवाला)–यहां सप्तम्यन्त समर्थ 'प्रगे' शब्द से ट्यु प्रत्यय, यु को अन आदेश और तुट् का आगम तथा एदन्तता का निपातन होकर रूप सिद्ध हुआ।

दोषा-तनम् (दोषा भवम्, रात को होनेवाला)–यहां कालविशेष वाचक दोषा अव्यय से प्रकृत सूत्र से ट्यु प्रत्यय यु को अन् आदेश और तुट् आगम होने पर रूप सिद्ध हुआ।

तत्र जातः 4.3.25

सप्तमी-समर्थात् 'जाते' इत्यर्थे 'अण्' आदयो 'घ' 'आदयश्च स्युः। स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः। उत्से जातःऔत्सः। राष्ट्रे जातः राष्ट्रियः। अवारपारेजात-अवारपारीणः-इत्यादि।

व्याख्याः सप्तम्यन्त समर्थ ञ(कृतसन्धि) से 'जातः–हुआ' इस अर्थ में अण् आदि सामान्य और विशेष विहित प्रत्यय हो।

इस शैषिक प्रकरण में इस सूत्र से पूर्व अर्थ का ही निर्हेश नहीं किया गया है। पूर्व सूत्रों में इन्हीं अर्थों का यथायोग्य संबंध कर लिया जाता है। इसीलिये अब तक भवः और जातः आदि अर्थ का पूर्व सूत्रों में उल्लेख किया गया है। इस बात को 'राष्ट्रावारपाराद् घ–खौ 4.2.93 इस सूत्र में मूल में 'इह प्रकृतिविशेषात्–' इत्यादि सन्दर्भ के द्वारा पहले ही बता दिया गया है।

स्रौघ्नः (स्रुघ्ने जातः स्रुघ्न देश में उत्पन्न हुआ)–यहां सप्तम्यन्त समर्थ स्रुघ्न शब्द से जातः उत्पन्न इस अर्थ में शैषिक अण् प्रत्यय हुआ। आदि वद्धि और अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

औत्सः (उत्से जातः, झरने में पैदा हुआ)–यहां उत्स पद से जात अर्थ में 'उत्सादिभ्यो।' इस पूर्व सूत्र से आ् प्रत्यय होने पर पूर्ववत् रूप सिद्ध हुआ।

राष्ट्रियः (राष्ट्रं जातः, राष्ट्र में उत्पन्न) और अवारपारीणः (अवारपारे जातः–वार पार में उत्पन्न)–इनकी सिद्धि पहले आ चुकी हे। यहां केवल अर्थ निर्देश किया गया है, प्रत्यय पूर्व सूत्र से ही होगा।

प्रावषष्ठप् 4.3.26

एण्यापवादः। प्रावषिकः।

व्याख्याः सप्तम्यन्त समर्थ प्रावष् शब्द से 'जात' अर्थ में ठप् प्रत्यय हो।

ठप् का पकार इत्संज्ञक हे और ठकार को 'ठस्येकः 7.3.50' से इक् आदेश होकर 'इक' यह रूप प्रत्यय का बन जाता है।

यह 'प्रावष एण्यः 4.3.17' से होनेवाले एण्य प्रत्यय का बाधक है।

प्राय-भवः 4.3.39

'तत्र' इत्येव स्रुघ्ने प्रायेण-बाहुल्येन भवति-स्रौघ्नः।

व्याख्याः सप्तम्यन्त समर्थ से प्राय–भव अर्थात् अधिकतर होनेवाला अर्थ में अण् और घ आदि प्रत्यय यथावत् होते हैं।

स्रौघ्नः (स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवति, स्रुघ्न देश में अधिकतया होनेवाला पदार्थ)—यहां सप्तम्यन्त समर्थ स्रुघ्न पद से शैषिक अण् प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुआ।

संभूते 4.3.42

स्रुघ्ने संभवति—स्रौघ्नः।

व्याख्याः सप्तम्यन्त समर्थ पद से संभूत अर्थात् संभावना अर्थ में यथायथ अण् आदि प्रत्यय हों।

स्रौघ्नः (स्रुघ्ने संभवति, स्रुघ्न में जिसकी संभावना हो)—यहां भी पूर्ववत् रूप सिद्धि होती है।

यहां इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि अर्थ का और विधायक सूत्र का भेद है, रूप समान ही बनता है।

कौशाद् ढा् 4.3.42

कौशेयम्-वस्त्रम्।

व्याख्याः सप्तम्यन्त समर्थ कोष शब्द से संभूत अर्थ में ढा् प्रत्यय हो।

कौशेयम् (कोशे संभवति, कोश में होनेवाला, रेशम)—यहां सप्तम्यन्त समर्थ कोश शब्द से संभूत अर्थ में ढा् प्रत्यय हुआ। ढकार को एय आदेश और आदिवद्धि होने से रूप सिद्ध हुआ।

कौशेय का अर्थ है—एक विशेष कीड़े कोष का विकार—यह अर्थ 'विकारे कोशाद् ढा्' इस वार्तिक से सिद्ध होता है वह रेशम ही है।

तत्र भवः 4.3.53

स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः।

व्याख्याः सप्तम्यन्त समर्थ पद से भव अर्थ में यथाविहित अण् आदि और घ आदि प्रत्यय हों।

स्रौघ्नः (स्रुघ्ने भवति, स्रुघ्न देश में होनेवाला)—यहां भव अर्थ में प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होकर यथापूर्व सिद्धि हुई।

दिगादिभ्यो यत् 4.3.54

दिश्यम्। वर्ग्यम्।

व्याख्याः 'दिश्' आदि सप्तम्यन्त समर्थ पदों से भव अर्थ में यत् प्रत्यय हो।

दिश्यम् (दिशि भवम् दिशा में होनेवाला)—यहां सप्तम्यन्त समर्थ दिश् शब्द से भवार्थ में यत् प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुआ।

वर्ग्यम् (वर्गे भवम्, समूह में होनेवाला)—यहां दिगादि 'वर्ग' शब्द से भवार्थ में प्रकृत सूत्र से यत् होने पर अन्त्य अकार का 'यस्येति च 6.4.148' से लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

शरीरावयात् च 4.3.55

दन्त्यम्। कण्ठ्यम्। (वा) अध्यात्मादेः 'ठा्' इष्यते। अध्यात्मं भवम्-आध्यात्मिकम्।

व्याख्याः शरीर के अवयवाचक सप्तम्यन्त समर्थ शब्द से भी यत् प्रत्यय हो भवार्थ में।

दन्त्यम् (दन्तेषु भवम्, दांतों में होनेवाला)—यहां सप्तम्यन्त समर्थ शरीर के अवयव के वाचक दन्त शब्द से यत् प्रत्यय हुआ। अन्त्य अकार का तद्धित परे होने के कारण पूर्वोक्त 'यस्येति च' सूत्र से लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

कण्ठ्यम् (कण्ठे भवम्, कण्ठ में होनेवाला)—इसकी सिद्धि 'दन्त्यं' शब्द के समान होती है।

अध्यात्म आदि सप्तम्यन्त समर्थ पदों से भवार्थ में ठा् प्रत्यय हो।

आध्यात्मिकम् (अध्यात्मक भवम्, आत्मा में होनेवाला)–यहां सप्तम्यन्त समर्थ अध्यात्म शब्द से भवार्थ में प्रकृत वार्तिक से ठा् प्रत्यय हुआ। ठा् के ठकार को इक् आदेश, आदिवद्धि और अन्त्य लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

अध्यात्म शब्द अव्ययीभाव समास में सिद्ध किया गया है। आत्मनि इति अध्यात्म्–विभक्ति के अर्थ में समास हुआ।

अनुशतिकादीनां च 7.3.20

एषाम् उभयपद-वद्धिर्गिति णिति किति च। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। ऐहलौकिकम। पारलौकिकम्। आकृतिगणोयम।

व्याख्याः 'अनुशतिक' आदि समस्त पदों के उभय (दोनों) पदों को वद्धि हो गित्, णित् और कित् प्रत्यय परे रहते।

आधिदैविकम् (अधिदेवं भवम्, देव में होनेवाला) –यहां सप्तम्यन्त समर्थ अध्यात्मादि अधिदेव शब्द से भवार्थ में पूर्व वार्तिक से ठा् प्रत्यय हुआ ठा् के गित् होने से 'तद्धितेष्वचामादेः 7.2.117' से आदि अ को वद्धि प्राप्त थी, उसको बाधकर अधिदेव शब्द का अनुशतिकादिगण में पाठ होने से प्रकृत सूत्र से उभयपद को अर्थात् अधि और देव दोनों पदों के आदि अच् को वद्धि हुई। तब अन्त्य अकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

आधिभौतिकम् (अधिभूतं, भवम्, भूतों–पथ्वी आकाश आदियों–में होनेवाला)–यहां भी अधिभूत शब्द से पूर्ववत् ठा् प्रत्यय और उभयपद वद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

अधिदेव और अधिभूत पद अध्यात्म शब्द के समान सप्तमी विभक्ति के अर्थ में, देवे इति–अधिदेवम्, भूते इति अधिभूतम्– इस प्रकार 'अव्ययम् 2.1.6' इस सूत्र के अव्ययीभाव समास से बने हैं।

ऐहलौकिकम् (इह लोके भवम्–इस लोक में होनेवाला) और **पारलौकिकम्** (परलोके भवम् परलोक में होनेवाला)–इन शब्दों की सिद्धि पूर्ववत् होती है।

आकृतिगण इति–यह अनुशतिकादिगण आकृतिण है अर्थात् जिन पदों में उभयपद वद्धि मिलती हो और उनके लिये कोई विशेष नियम न कहा गया हो उसको अनुशतिकादिगण में समझना चाहिये।

जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः 4.3.62

जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्।

व्याख्याः जिह्वामूल और अङ्गुलि– इन सप्तम्यन्त समर्थ पदों से भवार्थ में छ प्रत्यय हो।

शरीर के अवयव के वाचक होने से 'शरीरावयवात् च 4.3.55' से यहां यत् प्राप्त था, उसका यह बाधक है।

जिह्वामूलीयम् (जिह्वामूले भवम्–जिह्वामूल में होनेवाला) यहां सप्तम्यन्त समर्थ जिह्वामूल शब्द से भवार्थ में प्रकृत सूत्र से छ प्रत्यय हुआ और प्रत्यय के छकार को 'आयन्–7.1.2' इत्यादि सूत्र से 'ईय्' आदेश तथा अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

अङ्गुलीयम् (अङ्गुल्यां भवम्, अङ्गुलि में होनेवाला, मुद्रिका)–यहां भी पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से छ प्रत्यय और उसके स्थान में 'ईय्' आदेश होने पर अन्त्य इकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

वर्गान्ताच्च 4.3.63

कवर्गीयम।

व्याख्याः जिस पद के अन्त में वर्ग शब्द हो, उस सप्तम्यन्त समर्थ से भी भवार्थ में छ प्रत्यय हो।

कवर्गीयम् (कवर्गे भवम्–कवर्ग में होनेवाला)–यहां वर्गान्त सप्तम्यन्त समर्थ कवर्ग शब्द से भवार्थ में प्रकृत सूत्र से छ प्रत्यय और छकार को ईय् आदेश तथा अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

तत आगतः 4.3.74

स्रुघ्नाद् आगतः-स्रौघ्नः।

व्याख्याः 'आगतः—आया हुआ' इस अर्थ में पचम्यन्त समर्थ पद से यथाविहित अण् आदि प्रत्यय हों।

स्रौघ्नः (स्रुघ्नाद् आगतः, स्रुघ्न से आया हुआ)—यहां पचम्यन्त स्रुघ्न शब्द से 'आगतः—आया हुआ' अर्थ में अण् प्रत्यय शैषिक हुआ। रूपसिद्धि पूर्ववत् होती है।

ठग् आय-स्थानेभ्यः 4.3.75

शुल्क-शालाया आगतः-शौल्कशालिकः।

व्याख्याः 'तत आगतः—वहां से आया हुआ' इस पूर्वोक्त अर्थ में पचम्यन्त आय—स्थान (आमदनी के स्थान)—वाचक शब्द से ठक् प्रत्यय हों।

शौल्कशालिकः (शुल्कशालाया आगतः, शुल्कशाला—चुङ्गीखाने से आया हुआ)—यहां पचम्यन्त शुल्क—शाला पद से आयस्थानवाचक होने से प्रकृत सूत्र से ठक् प्रत्यय हुआ। तब ठक् के ठकार को इक् आदेश, आदिवद्धि और अन्त्य आकार का लोप होकर रूप बना।

विद्या-योनि-संबन्धेभ्यो वुा् 4.3.77

औपाध्यायकः पैतामहकः।

व्याख्याः विद्या और योनि—रक्त के संबंध के वाचक पचम्यन्त शब्दों से 'तत आगतः' अर्थ में वुा् प्रत्यय हो, विकल्प से।

औपध्यायकः (उपाध्यायाद् आगतः, उपाध्याय—गुरु—से आया हुआ)—यहां उपाध्याय विद्या—संबंध का वाचक है, पचम्यन्त इस पद से पूर्वोक्त अर्थ में वुा् प्रत्यय हुआ। आदिवद्धि, वु को अक आदेश और अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

पैतामहकः (पितामहाद् आगतः पितामह से आया हुआ)—यहां रक्त के संबंध का वाचक होने से पचम्यन्त पितामह शब्द से प्रकृत अर्थ में वुा प्रत्यय हुआ। पूर्ववत् सिद्धि हुई।

हेतु-मनुष्येभ्योन्यतरस्यां रूप्यः 4.3-81

समाद् आगतम-समरूप्यम्। पक्षे गहादित्वात् छः—समीयम्।, विषमीयम्। देवदत्त-रूप्यम् दैवदत्तम्।

व्याख्याः हेतु—वाचक और मनुष्य—वायक पम्यन्त शब्द से 'आया हुआ' इस प्रकृत अर्थ में रूप्य प्रत्यय विकल्प से हो।

सम-रूप्यम् (समाद् आगतम्, सम—हेतुभूत से आया हुआ)—यहां हेतुवाचक पचम्यन्त सम शब्द से रूप्य प्रत्यय होकर रूप बना।

विषम-रूप्यम् (विषमाद्, आगतम्, विषम—हेतुभूत—से आया हुआ) इसकी सिद्धि पूर्ववत् होती हैं

पक्षे इति—रूप्य के अभावपक्ष में सम और विषम दोनों शब्दों के गहादिगण में होने के कारण 'गहादिभ्यश्च 4.2.138' से छ प्रत्यय होकर 'समीयम्' और 'विषमीयम्' रूप बनते हैं।

देवदत्त-रूप्यम् (देवदत्ताद आगतम्—देवदत्त से आया हुआ)—यहां मनुष्यवाचक देवदत्त शब्द से 'आया हुआ' अर्थ में प्रकृत सूत्र से रूप्य प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुआ।

रूप्य के अभावपक्ष में व्यक्ति का नाम होने से 'वा नामधेयस्य वद्धसंज्ञा वाच्या' वार्तिक से देवदत्त शब्द की वैकल्पिक वद्ध संज्ञा होने के कारण 'वद्धात् छः 4.2.14' से छ प्रत्यय होकर **'देवदत्तीयम्'** ये दो रूप बनते हैं।

मयृट च 4.3.82।।

सम-मयम्। देवदत्त-मयम्।

व्याख्याः पूर्वोक्त हेतुवाचक और मनुष्यवाचक पम्यन्त पदों से 'आया हुआ' इस अर्थ में मयट् प्रत्यय भी हो।

मयट् का टकार इत्संज्ञक है।

सम-मयम्, देवदत्त-मयम्—यहां हेतु—वाचक सम और मनुष्य शब्दों से मयट् प्रत्यय होने पर रूप सिद्ध हुए।

प्रभवति 4.3.83

हिमवतः प्रभवति-हैमवती गङ्गा।

व्याख्याः 'प्रभवति—पहले प्रकट होता है अर्थात् निकलना' इस अर्थ में पचम्यन्त पद से यथाविहित अण् आदि प्रत्यय हों।

प्रभव कहते हैं पहले प्रकट होने को।

हैमवती (हिमवतः प्रभवति—हिमालय से निकलती है, गङ्गा—यहां पचम्यन्त हिमवत् शब्द से 'निकलने' अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ। आदिवद्धि होने पर 'हैमवत्' यह अकारान्त शब्द बना। स्त्रीत्व—विवक्षा में अण् प्रत्ययान्त होने से स्त्री—प्रत्यय—प्रकरण में आनेवाले 'टिड्ढाणा्— 4.1.15' इत्यादि सूत्र से ङीप् (ई) प्रत्यय होने पर 'यस्येति च 6. 4.148' से अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

तद्गच्छति पथि-दूतयोः 4.3.85

स्रुघ्नं गच्छति-स्रौघ्नः, पन्था दूतो वा

व्याख्याः द्वितीयान्त समर्थ से तद्गच्छति—'उस स्थान को जाता है' इस अर्थ में अण् आदि प्रत्यय हो मार्ग और दूत वाच्य हों तो अर्थात् जानेवाला मार्ग या दूत हो।

स्रौघ्नः (स्रुघ्नं गच्छति, पन्थाः दूतो वा, स्रुघ्न को जानेवाला मार्ग या दूत) यहां प्रकृत सूत्र से 'जाता है' अर्थ में अण् प्रत्यय हुआ।

अभिनिष्क्रामति द्वारम् 4.3.86

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति-स्रौघ्नम्-कान्यकुब्ज-द्वारम्।

व्याख्याः 'अभिनिष्क्रामति—उस ओर जाता है' इस अर्थ में द्वितीयान्त से अण् आदि प्रत्यय हों, यदि अभिनिष्क्रमण का कर्ता द्वार[1] हो।

स्रौघ्नम् (स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति—स्रुघ्न की ओर निकलने वाला कन्नौज शहर का दरवाजा)—यहां स्रुघ्न शब्द से 'अभिनिष्क्रामति' अर्थ में प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे 4.3.87।।

शारीरकम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः-शारीरकीयः।

व्याख्याः विषय के वाचक द्वितीयान्त समर्थ पद से 'अधिकृत्य कृते—' विषय को लेकर बनाया हुआ ग्रन्थ इस अर्थ में अण

---

1. प्राचीन बड़े नगर प्राकार से (चहारीदीवारी से) घिरे होते थे, बाहर निकलने के लिये दरवाजे होते थे—जो दरवाजा जिस ओर को निकलता था उसका नाम उसी ओर के नाम से प्रसिद्ध हो जाता था। अब भी लाहौर शहर के दरवाजों के नाम प्रायः उसी प्रकार हैं—दिल्ली दरवाजा अर्थात् जिस दरवाजे से दिल्ली की ओर जाते हैं। काश्मीरी दरवाजा—काश्मीर की ओर निकलने वाला दरवाजा। दिल्ली शहर के—अजमेरी दरवाजा आदि इसी प्रकार के नाम हैं। संस्कृत में भी यही बात है, उस अर्थ को प्रकट करने के लिये इस सूत्र ने प्रत्यय का विधान किया है।
2. शरीरमेव कुत्सितं शरीरकम्—कुत्सित अर्थ में शरीर शब्द के क प्रत्यय हुआ। तब शरीरक शब्द से 'शरीरकस्यायम्' इस अर्थ में 'तस्येदम् 4.3.12' से अण् प्रत्यय होकर शारीरक' शब्द बना। इसका अर्थ हुआ आत्मा। अथवा—शरीरस्यायम् शारीरम्—इस प्रकार पहले 'तस्येदम्' से अण् होने पर स्वार्थ में क प्रत्यय होकर शारीरक शब्द बना। अर्थ दोनों प्रकार का आत्मा ही है।

आदि प्रत्यय हों।

शारीरीयः (शारीरकम् आत्मानम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः, आत्मा के विषय को लेकर लिखा हुआ ग्रन्थ)—यहां विषयवाचक द्वितीयान्त शारीरक[2] शब्द से वृद्धसंज्ञक होने से 'वृद्धात् छः 4.2.114' सूत्र से छ प्रत्यय होने पर छकार को ईय आदेश तथा अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

सोऽस्य निवासः 4.3.89

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्न।

व्याख्याः स्थानवाचक प्रथमान्त पद से 'सोऽस्य निसासः'यह इसका निवास है' इस अर्थ में अण् आदि प्रत्यय हो।

स्रौघ्नः (स्रुघ्नो निवासोऽस्य, स्रुघ्न है निवास इसका)—यहां स्थानवाचक प्रथमान्त स्रुघ्न शब्द से 'निवास' अर्थ में प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

तेन प्रोक्तम् 4.3.101

पाणिनिना प्रोक्तम्-पाणिनीयम्।

व्याख्याः ततीयान्त पद से प्रोक्त प्र वचन किया हुआ अर्थ में यथाप्राप्त अण् आदि प्रत्यय हों।

पाणिनीयम् (पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनि से प्रवचन किया गया व्याकरण)—यहां ततीयान्त शब्द से प्रोक्त अर्थ में 'वृद्धात् छः 4.2.114' से छ प्रत्यय होने पर छकार को ईय् आदेश और अन्त्य इकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

तस्येदम् 4.3.120

उपगोरिदम्-औपगवम्। इति शैषिकाः।

व्याख्याः षष्ठ्यन्त समर्थ पद से 'तस्य इदम्—इसका यह' इस अर्थ में यथाविहित अण् आदि प्रत्यय हों।

औपगवम् (उपगोरिद्, उपगु का यह है अर्थात् उपगु—संबंधी)—उपगु इस षष्ठयन्त शब्द से 'तस्येदम्—उसका यह' इस अर्थ में यथा प्राप्त अण् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

इस प्रकार यहा शैषिक प्रकरण समाप्त हुआ।

अन्त में फिर निम्नलिखित दो बातों की ओर विशेष ध्यान दिलाया जाता है—

1. इस शैषिक प्रकरण में कुछ सूत्रों से प्रत्यय का ही विधान किया गया है, अर्थ का निर्देश उनमें नहीं और कुछ सूत्रों में अर्थ का ही निर्देश किया गया है, प्रत्यय का नहीं। दोनों प्रकार के सूत्रों की परस्पर एकवाक्यता करने से समन्वय हो जाता है।

   जैसे—'वृद्धात् छः' सूत्र छ प्रत्यय का विधान करता है। अर्थ का उसमें निर्देश नहीं और 'तेन प्रोक्तम्' सूत्र समर्थ विभक्त्यन्त का और अर्थ का निर्देश करता है—प्रत्यय का नहीं। दोनों सूत्रों की एकवाक्यता होने पर वृद्धसंज्ञक पाणिनि शब्द से प्रोक्त अर्थ में छ प्रत्यय हो जाता है। चन्द्रेण प्रोक्तं चान्द्र व्याकरणम—यहां अर्थ का निर्देश 'तेन प्रोक्तम्' सूत्र से और प्रत्यय अण् 'शेषे' इस सामान्य सूत्र से हुआ। इस प्रकार जिससे जो प्रत्यय प्राप्त हो, वही प्रत्यय होता है।

2. अनेक अर्थों में एक प्रत्यय भी होता है, शब्द का रूप ऐसे स्थल में बनता है समान ही—अर्थ भिन्न—भिन्न होता है। प्रसङ्गानुसार अर्थ समझना चाहिये और अर्थानुसार विग्रह करना चाहिये।

अथ मत्वर्थीयाः

तद् अस्यास्ति, अस्मिन्, इति मतुप् 5.2.94

गावः अस्य सन्ति-गोमान

व्याख्याः 'वह इसका है' और 'वह इसमें है' इन अर्थों में प्रथमान्त कर्ता से मतुप् प्रत्यय होता है। मतुप् कामत् शेष रहता है। जिन अर्थों में मतुद् प्रत्यय होता है उनका संग्रह इस प्रकार है—

भूम-निन्दा-प्रशंसु नित्यभोगेतिशायने।
संसर्गेस्ति विवक्षायां भविन्त मतुबादयः।।

1. भूमा—बहुत्व, अधिकता[1]। जैसे—गोमान्— गायवाला अर्थात् बहुत गायवाला। थोड़ी गायें जिसके पास हों उसे गोमान् नहीं कहा जाता।
2. निन्दा—ककुदावर्तिनी कन्या—ककुदावर्तवाली कन्या। इससे कन्या की निन्दा प्रतीत होती है।
3. प्रशंसा— रूपवान—रूपवाला। यहाँ रूप की प्रशंसा होती है अन्यथा रूप तो सब मूर्त पदार्थों का होता है।
4. नित्ययोग— नित्य सम्बन्ध। जैसे—क्षीरिणो वक्षाः— सदा दूधवाले वक्ष। यहाँ प्रत्यय से दूध का नित्य सम्बन्ध प्रकट होता है।
5. अतिशायन—अतिशय। जैसे—उदरिणी कन्या— अतिशयित अर्थात् बड़े पेटवाली। यहाँ मतुबर्थीय प्रत्यय से अतिशय अर्थ सूचित होता है।
6. संसर्ग—सम्बन्ध। जैसे—दण्डी—दण्डवाला। यहाँ मतुबर्थीय प्रत्यय से दण्ड का व्यक्ति से संयोग सम्बन्ध सूचित होता है।

इन विशेष विषयों को मतुबर्थीय प्रत्ययों के स्थल में ध्यान से समझना चाहिये।

गोमान् (गावोस्य सन्ति गौएं जिसकी हों)—यहाँ अस्ति समानाधिकरण प्रथमान्त गो पद से 'अस्य' अर्थ में प्रकृत से मतुप् प्रत्यय होने पर तकारान्त गोमत् शब्द बना। उसका प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ।

तसौ मत्वर्थे 2.4.19

तान्त-सान्तो भ-संज्ञौ स्तः मत्वर्थे प्रत्यये परे। गरुत्मान्। 'वसोः संप्रसारणम्'-विदुष्मान्।

व्याख्याः तकारान्त और सकारान्त शब्द मत्वर्थ प्रत्यय परे रहते भ—संज्ञक होते हैं।

भसंज्ञा होने से पदसंज्ञा नहीं होती और अतएव पदत्व प्रयुक्त कार्य नहीं होते—उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा।

गरुत्मान् (गरुतोस्य सन्ति, पक्ष जिसके हैं अर्थात् पक्षी यहाँ अस्ति समानाधिकरण प्रथमान्त गरुत् शब्द से 'अस्य' के अर्थ में मतुप् प्रत्यय हुआ। तकारान्त होने से मरुत् शब्द की प्रकृत सूत्र से भसंज्ञा हुई, अतः पदत्व न होने के कारण तकार को जश्त्व और 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वार्तिक से अनुनासिक नहीं हुआ।

विदुष्मान् (विद्वांसोस्य सन्ति, विद्वान् जिसके हों)—यहाँ अस्ति समानाधिकरण प्रथमान्त विद्वस् शब्द से 'अस्य' के अर्थ में मतुप् प्रत्यय हुआ सकारान्त होने से इसकी प्रकृत सूत्र से भसंज्ञा हुई। अतः 'वसोः संप्रसारणम् 6.4.131' से संप्रसारण होने पर अकार का 'संप्रसारणाच्च 6.1.108' से पूर्वरूप होकर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) गुण-वचनेभ्यो मतुपो लुग् इष्टः। शुल्को गुणोस्यास्तीतिशुक्लः पटः। कृष्ण।

व्याख्याः इति—गुणवाचक शब्दों से मतुप् का लोप हो।

यहाँ गुणवाचक वे ही शब्द लिये जाते हैं, जो गुण और गुणवान् दोनों अर्थों में प्रसिद्ध हैं, जैसे—शुक्ल आदि शब्द

---

1. अधिकता भी आपेखित है। जिसका जितना उचित है उतना ही बहुत्वबोधक बहु शब्द से प्रतीत होता है। साधारण व्यक्ति के पास पाँच छः गाय होने पर भी 'बहुत' है' कहा जा सकता है, परन्तु राजा के पास हजार गाय हों, तो भी उसके लिये थोड़ी हैं।

हैं। रूप आदि शब्द ऐसे नहीं हैं, इसलिये उनसे पर मतुप् का लोप नहीं होता। इसलिये शुक्लं वस्त्रम् के समान 'रूपं' वस्त्रम्' प्रयोग नहीं होता।

शुक्लः पटः (शुक्लो गुणोस्यास्ति, सफेद गुणवाला कपड़ा)—यहाँ गुणवाचक शुक्ल शब्द से मतुप् का लोप हो गया। तब शुद्ध शब्द ही तद्वान् अर्थ को प्रकट करता है, क्योंकि लोप होने पर शेष रहा हुआ लुप्यमान के अर्थ को प्रकट करता है, यः शिष्यते, स लुप्यमानार्थाभिधायी भवति।

प्राणिस्थाद् आतो लज् अन्यतरस्याम् 5.2.96

चूडालः-चूडावान्। प्राणि-स्थात् किम्-शिखावान् दीपः।

(वा) प्राण्यङ्गादू एव। नेह-मेधावान्।

व्याख्याः प्रथमान्त प्राणिस्थ अङ्गवाचक आकारान्त शब्द से मत्वर्थ में लच् प्रत्यय हो विकल्प से।

चूडालः(चूडा अस्य सनित, चूड़ा (कलंगी) जिसके हों, मोर, मुर्गा आदि)—यहाँ चूडा प्राणि—स्थ अङ्ग है और आकारान्त है। प्रथमान्त इससे मत्वर्थ में लच् प्रत्यय होकर रूप बना। लच् के अभावपक्ष में सामान्य मतुप् प्रत्यय होने पर उसके मकार को 'मादुपधायाश्च मतोर्वोयवादिभ्यः' से वकार होकर 'चूडावान्' रूप सिद्ध हुआ।

प्राणि—स्थादिति—'प्राणिस्थ हो' इस सूत्र में ऐसा कयों कहा? इसलिये कि शिखास्यास्तीति, शिखावान् दीपः—लौवाला दीप—यहाँ लच् न हो, यहाँ शिखा प्राणिस्थ नहीं अपि तु दीपस्थ है, इसलिये लच् न हुआ, सामान्य मतुप् प्रत्यय हुआ।

प्राण्यङ्गद् एवेति—प्राणी के अङ्ग से ही यह लच् प्रत्यय हो।

इसलिये भेधास्यास्तीति मेधावान्—धारणावती बुद्धिवाला—यहाँ लच् नहीं हुआ। क्योंकि मेधा आकारान्त तो है, प्राणी में रहती है पर प्राणी का अङ्ग नहीं, अङ्ग मूर्त हस्त पाद आदि होते हैं। तब सामान्य मतुप् हुआ।

इन दोनों उदाहरणों में मतुप् मकार को वकार हुआ है।

लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः 5.2.100

लोमादिभ्यः शः-लोम-शः, लोम-वान्। रोम-शः राम-वान्। पामादिभ्यो नः पाम-नः।
(गा. सू.) अङ्गात कल्याणे-अङ्ग। (ग0 सू0) लक्ष्म्या अत् च लक्ष्मणः।
पिच्छादिभ्य इलच्-पिच्छिलः = पिच्छ-वान्।

व्याख्याः लोमन् आदियों से श प्रत्यय पामन् आदियोंसे न और पिच्छ आदि से इलच् प्रत्यय मत्वर्थ में हों विकल्प से।

लोम—शः (लोमवाला लोमानि अस्य सन्ति)— यहाँ प्रथमान्त लोमन् शब्द से मत्वर्थ में श प्रत्यय प्रकृत सूत्र से हुआ। तब नकार का 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ।

पक्ष में मतुप् प्रत्यय होकर लोम—वान् रूप बनता है।

रोमशः, रोम—वान् (रोमाणि अस्य सन्ति रोमवाला—इनकी सिद्धि पूर्ववत् होती है।

पामन (पामास्यास्ति, खुजलीवाला)—यहाँ प्रथमान्त पामन् शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय होने पर प्रकृति के नकार का लोप होकर रूप बना। पक्ष में मतुप् होकर पाम—वान्—रूप बनता है।

(वा) अ्गादिति—कल्याणानि सुन्दराणि अ्गानि यस्याः—सुन्दर अङ्ग हैं जिसके वह स्त्री' इस विग्रह में कल्याण—विशेषणक अङ्ग शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय हो।

अङ्गना (सुन्दरी स्त्री)— यहाँ पूर्वोक्त प्रकार से अङ्ग शब्द से प्रकृत गण सूत्र द्वारा मत्वर्थ में न प्रत्यय होने पर

---

1. इन गुणवाचक शब्दों का इसीलिये गुण और गुणवान् दोनों अर्थों में प्रयोग होता है। अमरकोष भी कहा गया है—गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणि—लिङ्गास्तु तद्वति—अर्थात् शुक्लादि शब्द जब गुण को प्रकटकरते हैं तब ये पुँलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं और जब गुणवान अर्थ का बोध करते हैं तब गुणवान् के लिङ्ग के अनुसार इनका लिङ्ग होता है। जैसे—वस्त्राणां शुक्लो गुणः। शुक्लः पटः। शुक्ला शाटी। शुक्लं वस्त्रम्'।

स्त्रीलिङ्ग में आप् (आ) प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

(ग) लक्ष्म्या इति—प्रथमान्त लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय और अकार अन्तादेश हो।

लक्ष्मणः(लक्ष्मीरस्यास्ति, लक्ष्मीवाला)—यहाँ प्रथमान्त लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ में न प्रत्यय और अन्त्य ईकार को अकार आदेश होने पर रूप सिद्ध हुआ।

पिच्छिलः (पिच्छम्, अस्यास्ति, पिच्छवाला)—यहाँ प्रथमान्त पिच्छ शब्द से मत्यर्थ में इलच् प्रत्यय होने पर अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

पक्ष में सामान्य मतुप् होकर पिच्छवान् रूप बनता है।

दन्त उन्नत उरच् 5.2.106

उन्नता दन्ताः सन्ति अस्य-दन्तुरः।

व्याख्याः प्रथमान्त दन्त शब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय हो यदि दाँत ऊँचे हों तो।

दन्तुरः (उन्नता दन्ताः सन्ति अस्य—ऊचे दांत वाला, दन्तुराः)— यहाँ प्रथमान्त दन्त शब्द से मत्वर्थ में दांतों की ऊँचाई सूचित करने के लिये प्रकृत सूत्र से उरच् प्रत्यय हुआ। तब अन्त्य अकार का लोप होकर रूप बना।

केशाद् वोन्यतरस्याम् 5.2.109

केश-वाः, केशी, केशिकः, केश-वान्।

व्याख्याः प्रथमान्त केश शब्द से मत्वर्थ में व प्रत्यय विकल्प से हो।

'समर्थानां प्रथमाद् वा' के अधिकार से यहाँ विकल्प सिद्ध था, फिर इस 'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण 'इनि' और 'ठन्' प्रत्ययों के समावेश के लिये है। इस प्रकार शब्द से व, इनि, ठन् और मतुप्—ये चार प्रत्यय होते हैं और चार रूप बनते हैं।

केश—वः (केशा अस्य सन्ति, केशवाला)—यहाँ प्रथमान्त केश शब्द से मत्वर्थ में व प्रत्यय होने पर रूप बना।

पक्ष में—केशी—यहाँ अग्रिम सूत्र 'अत इनि—ठनौ' से इन् प्रत्यय होने पर अन्त्य अकार का लोप होकर इन्नन्त केशिन् शब्द बना।

केशिकः—यहाँ अग्रिम सूत्र से ठन् प्रत्यय होने पर ठकार को इक् आदेश और अन्त्य अकार का लोप होकर यह रूप बना।

केश—वान्—यहाँ सामान्य मतुप् प्रत्यय होने पर उसके पकार को वकर होकर रूप सिद्ध हुआ।

(वा) अन्येभ्योपि दश्यते। मणि-वः।

व्याख्याः केश शब्द से भिन्न शब्दों से भी मत्वर्थ में व प्रत्यय होता है।

मणि—वः (मणिरस्यास्ति, मणिवाला नागविशेष)—यहाँ प्रथमान्त मणि शब्द से प्रकृत वार्तिक से मत्वर्थ में व प्रत्यय होकर रूप बना।

(वा) अर्णसो लोपश्च। अर्ण-वः।

व्याख्याः प्रथमान्त अर्णस् शब्द से मत्वर्थ में व प्रत्यय हो और प्रकृति के अन्त्य सकार का लोप भी।

अर्णव—अर्णासि जलानि सन्ति अस्य, समुद्रद्ध —यहाँ प्रथमान्त अर्णस् शब्द से मत्वर्थ में व प्रत्यय और अन्त्य सकार का लोप होकर रूप बना।

अत इनि-ठनौ 5.2.115

दण्डी, दण्डिकः।

व्याख्याः प्रथमान्त अदन्त शब्द से मत्वर्थ में 'इनि' और 'ठन्' ये दो प्रत्यय हों।

यहाँ 'अन्यतरस्याम्' की अनुवत्ति होने से पक्ष में मतुप् भी होता है।

दण्ड, दण्डिकः (दण्डोस्यास्ति, दण्डवाला)—यहाँ प्रथमान्त आकरान्त दण्ड शब्द से मत्वर्थ में प्रकृत सूत्र से 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय हुए। इन् होने पर अन्त्य अकार का लोप होकर इन्नन्त 'दण्डिन्' शब्द बना और ठन् होने पर ठकार को इक् आदेश ओर अन्त्य अकार का लोप होकर अकारान्त 'दण्डिक'।

व्रीह्यादिभ्यश्च 5.2.116

व्रीही, व्रीहिकः।

व्याख्याः प्रथमान्त व्रीहि आदि शब्दों से भी मत्वर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय हो।

अदनत न होने से व्रीहि आदि को पूर्वसूत्र से इनि और ठन् प्रत्यय प्राप्त न थे।

व्रीही, व्रीहिकः (व्रीहयोस्य सन्ति—धानवाला)—यहाँ प्रथमान्त व्रीहि शब्द से मत्वर्थ में इन् और ठन् प्रत्यय हुए। इन् होने पर अन्त्य इकार का लोप होकर इन्नन्त व्रीहिन् और ठन् होने पर ठकार को इक् आदेश और अन्त्य इकार का लोप होकर अकारान्त व्रीहिक शब्द बने।

अस्-माया-मेघा-स्त्रजो विनिः 5.2.12

यशस्वी, यशस्वान्। माया-वा। मेधा-वी। स्त्रग्वी।

व्याख्याः प्रथमान्त अस्—अन्त तथा माया, मेधा और स्त्रज् इन शब्दों से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय हो विकल्प से।

यशस्विन, यशस्वान् (यशोस्यास्ति, यशवाला)—यहाँ प्रथमान्त असन्त यशस् शब्द से मत्वर्थ में प्रकृत सूत्र से विन् प्रत्यय होकर रूप बना। पक्ष में सामान्य मतुप् होकर दूसरा रूप बना।

इन दोनों रूपों से यशस् शब्द की सकारान्त होने से 'त—सौ मत्वर्थे से भसंज्ञा हुई। अतः पदत्व न होने से साकर का सत्व नहीं होता।

मायावी (माया अस्य अस्ति, छली) —यहाँ प्रथमान्त माया शब्द से मत्वर्थ में प्रकृत सूत्र से विन् प्रत्यय होकर रूप बना। पक्ष में मतुप् से—मायावान्।

मेधावी (मेधा अस्य अस्ति, धारणा शक्तिवाला)यहाँ प्रथमान्त मेधा से मत्वर्थ में विन् प्रत्यय होकर रूप बना। पक्ष में—मतुप् से —मेधावान्।

स्त्रग्वी (स्त्रग् अस्य अस्ति, मालावाला)—यहाँ प्रथमान्त स्त्रज् शब्द से मत्वर्थ में विन् प्रत्यय होने पर 'चोःकुः' से जकार को कुत्व गकार होकर रूप बना। पक्ष में—मतुप् होकर—स्त्रुग्वान्।

वाचो ग्मिनिः 5.2.124

व्याख्याः प्रथमान्त वाच् शब्द से मत्वर्थ में ग्मिन् प्रत्यय हो। 'लशक्वतिद्धते 1.3.8' में तद्धित का निषेध करने से ग्मिन् के गकार की इत्संज्ञा नहीं होती। यद्यपि प्रकृति के चकर को कुत्व होकर गकार हो सकता था, फिर भी प्रत्यय में गकार इसलिये किया गया है कि (वा) 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' से अनुनासिक न हो।

वाग्ग्मी (वाचोस्य सन्ति, अच्छा बोलनेवाला)—यहाँ प्रथमान्त वाच् शब्द से मत्वर्थ में प्रकृत सूत्र से ग्मिन् प्रतयय हुआ। तब प्रकृति के चकार को जश् जकार करने पर कुत्व गकार होकर इन्नन्त वाग्ग्मिन् शब्द बना।

इन शब्द में दो गकार[1] हैं— यह ध्यान रहना चाहिये।

प्रत्यय से प्रशंसा सूचित होती है, बोलते तो सभी हैं सभी की वाणी होती है, पर अच्छे वक्ता को ही वाग्मी कहा जात है।

---

1. वाग्मी—इस प्रकार एक गकार वाला प्रयोग चिन्तय है।

अर्शआदिभ्योच् 5.2.127

अर्शोस्य विद्यते-अर्शसः। आकृतिगणोयम्।

व्याख्याः प्रथमान्त अर्शस् आदि शब्दों से मत्वर्थ में अच् प्रत्यय हो।

अर्शसः (अर्शांसि सन्ति अस्य, बवासीर रोगवाला)—यहाँ प्रथमान्त अर्शस् शब्द से मत्वर्थ में अच् प्रत्यय होकर अकारान्त शब्द बना।

आकृतिगण इति—अर्श आदि आकृतिगण है अर्थात् जिन शब्दों से मत्वर्थ की प्रतीति हो और मत्वर्थीय प्रत्यय का विधान उनको किसी सूत्र से किया गया हो ऐसे शब्दों को इस गण में समझ लेना चाहिये। जैसे—पाप शब्द जब पापवाला अर्थ में प्रयुक्त मिले, तब उसे अर्श आदिगण में समझकर अच् प्रत्यय से सिद्ध कर लेना चाहिये। अच् होने पर रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अहं-शंभमोर्युस् 5.2.140

अहंयु-अहंकार-वान्, शुभंयुः-शुभान्वितः। इति मत्वर्थीयाः।

व्याख्याः अहम् और शुभम्—इन मकारान्त अव्ययों से मत्वर्थ में युस् प्रत्यय होता है।

युस् का सकार इत्संज्ञक हैं अतः सित् होने से उसके परे रहते 'सिचि च' इस वार्तिक से पूर्व की पदसंज्ञा होती है और तब इनके मकार को पदान्त होने से अनुस्वार सिद्ध होता है।

अहंयुः (अहम्—अहङ्कारोस्यास्ति, अहङ्कारी)—यहाँ अहम् इस मान्त अव्यय से युस् प्रत्यय होने पर पूर्व की भसंज्ञा होकर म् का अनुस्वार होकर रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार शुभंयुः सिद्धि होती है।

मत्वर्थीय प्रकरण समाप्त।

अथ प्राग्दिशीयाः

प्राग्दिशो विभक्तिः 5.3.1

दिक्-शब्देभ्य इत्यतः प्राग्वक्ष्यमा प्रत्यया विभक्ति-संज्ञाः स्युः।

व्याख्याः 'दिक शब्देभ्यः 5.3.27 इस सूत्र के पूर्व के 26 सूत्रों से किये जानेवाले प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा होती है।

विभक्ति संज्ञा 'का' फल 'न विभक्तौ तुस्—माः। 1.3.4' आदि विभक्ति को तथा विभक्ति परे रहते कार्य करनेवाले सूत्रों की प्रवत्ति।

किं सर्वनाम-बहुभ्योद्व्यादिभ्यः 5.3.2

'किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दात् च' इति प्राग्दिशोधिक्रियते।

व्याख्याः किम्, सर्वनाम और बहु इनसे द्वि आदि भिन्न शब्दों का 'दिक् शब्दीय" से पहले तक अधिकार है।

किम् शब्द का सर्वनाम होने पर भी 'द्वि—आदिभिन्न' कहने से निषेध होने से पथक् ग्रहण करना पड़ा, द्वि आदि में वह किम् शब्द है।

'समर्थानां प्रथमात्' की निवत्ति यहाँ होगई। 'वा' की अनुवत्ति तो होती है—यह पहले भी इस सूत्र पर कहा जा चुका है।

पचम्यास्तसिल् 5।3।7।।

पश्चम्यन्तेभ्यः किम्-आदिभ्यस्तसिल् वा स्याद्।

व्याख्याः पचम्यन्त किम आदि शब्दों से तसिल् प्रत्यय विकल्प से हो। तसिल् का इल् भी इत्संज्ञक है, प्रत्यय तस् शेष रहता है।

कु ति-होः 7.2.104

किमः कुः स्यात् तादौ हादौ च विभक्तौ परतः। कुतः -कस्मात्।

व्याख्याः किम् शब्द को कु आदेश हो तकारादि और हकारादि प्रत्यय परे रहते।

कुतः (कस्मात्, किससे)–यहाँ पचम्यन्त किम् शब्द से पूर्व सूत्र से तसिल् प्रत्यय हुआ। 'किम् ङसि तस्' इस स्थिति में 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः 2।4।71।।' से सुप् ङसि का लोप होने पर प्रकृत सूत्र से तकारादि प्रत्यय परे होने से 'किम्' शब्द के स्थान में 'कु' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

इदम इश् 5.3.3

प्राग्दिशीये परे। इतः।

व्याख्याः इदम् शब्द को इश् आदेश हो प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहने पर।

इश् का शकार का इत्संज्ञक है। अतः शित् होने से यह सम्पूर्ण इदम् के स्थान में आदेश होता है।

इतः (अस्मात्, इससे)–यहाँ पचम्यन्त इदम् शब्द से पचभ्यास्तसिल्' सूत्र से सर्वनाम होने के कारण तसिल् प्रत्यय हुआं तब प्रकृत सूत्र से इदम् शब्द को इस् आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

अन् 5.3.5

एतदः प्राग्दिशीये। अनेकालत्वात् सर्वादेशः। अतः, अमुतः। यतः बहुतः द्व्यादेस्तु -द्वाभ्याम्।

व्याख्याः एतद् शब्द के स्थान में अन् आदेश हो प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहरने पर।

यहाँ इस बात का ध्यान रहना चाहिये कि यह सूत्र 'एतदोन्' इस सम्पूर्ण सूत्र के योग–विभाग के द्वारा सिद्ध है। दो दो योगों में से यह एक योग है। इसका प्रथम योग 'एतदः' इस प्रकार आगे है। जिसमें 'एतेतौ र–थोः 5.2.4' इस पूर्ववर्ती सम्पूर्ण सूत्र की अनुवत्ति होती है, जैसा कि आगे कहा जायगा।

अनेकालिति–अनेकाल् होने से अन् आदेश सम्पूर्ण एतद् शब्द के स्थन में होता है। नकार का लोप 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से होता है। इस प्रकार अकार ही शेष रहता है।

अतः (एतस्मात्–इससे)–एतद् शब्द से तसिल ् प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से प्रकृति को अन् आदेश होकर इदम् शब्द के समान ही रूप बनता है।

अमुतः (अमुष्मात्, उससे)–यहाँ पचभ्यन्त अदस् शबद से सर्वनाम होने के कारण 'पचमयास्तसिल्' से तसिल् प्रत्यय हुआ। तब 'अदस् ङसि तसिल्' इस स्थिति से तद्धितयुक्त होने के कारण 'कृत्तद्धित–समासाश्च 1.2.43' से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। प्रातिपदिक का अवयव होने से सुप् ङसि का 'सुपो धातु –प्रातिपदिकयोः 2।4।71।।' से लोप होने पर 'अदस् तस' ऐसी स्थिति हुई। विभक्ति–संज्ञक होने से तस् परे रहते 'त्यदादीनाम् अः 7.2.109' से सकार को अकार आदेश होने पर 'अर्तो गुणै 6.1.97' से पूर्व अकार का पररूप होकर 'अद तस' ऐसी दशा बनी। यहाँ पुनः विभक्ति परे होने से 'अदसोसेर्दाद् उदो मः 8.2.80' से दकार से पर अकार के स्थान में उकारं और दकार के स्थान में मकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

यतः (यस्मात्, जिससे)–यहाँ पचम्यन्त यद् शब्द से पूर्वोक्त सूत्र से तसि प्रत्यय होने पर उसकी विभक्ति संज्ञा होने से उसके परे रहते 'त्यदादीनाम् अः 7.2.102' से दकार को अकार और पूर्व अकार का पररूप होकर रूप बना।

एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि प्राग्दिशीय प्रत्ययों से सिद्ध ये प्रयोग 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः 1.1.38' इस सूत्र से अव्यय हैं।

बहुतः (बहोः, बहुतों से)–यहाँ पचम्यन्त बहु शब्द से तसिल् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

द्व्यादेरिति–द्वि आदि सर्वनाम शब्दों से प्राग्दिशीय प्रत्यय का निषेध होने से 'द्वि शब्द से भी निषेध हुआ। तब –द्वाभ्याम्–ऐसा ही रूप रहेगा।

पर्यभिभ्यां च 5.3.9

आभ्या तसिल् स्यात्। परिः-सर्वत इत्यर्थः। अभितः-उभयतः इत्यर्थः।

व्याख्याः परि और अभि से तसिल् प्रत्यय हो।

परि और अभि सर्वनाम नहीं, इसीलिये पथक् विधि करनी पड़ी।

परितः–सर्वतः, सब ओर से। अभितः उभयतः, दोनों ओर से।

सप्तम्यास्त्रल् 5.3.10

कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र।

व्याख्याःसप्तम्यन्त किम् आदि से त्रल् प्रत्यय हो।

कुत्र (कस्मिन्, किस में, कहाँ)– यहाँ सप्तम्यन्त किम् शब्द से त्रल् प्रत्यय हुआ। 'किम् ङि त्रल्' इस स्थिति में तद्धितयुक्त होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च 1.2.46' से प्रातिपदिक संज्ञा हुई, फिर प्रातिपदिक का अवयव होने से सुप् ङि का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से लोप हुआ। तब तकारादि विभक्ति त्रल् परे रहते किम् शब्द को 'कु ति–होः 7.2.104' से कु आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

यत्र (यस्मिन्–जिसमें, जहाँ), तत्र (तस्मिन्–उसमें, वहाँ) और बहुत्र (बहुषु–बहुतों में)–इनकी सिद्धि भी पूर्ववत् होती है। यत्र, तत्र में त्रल् के विभक्ति संज्ञक होने से 'त्यदादीनाम् अः 7.2.102' से अकार होता है।

इदमो हः 5.3.11

त्रलोपवादः। इह।

व्याख्याः इति–सप्तम्यन्त इदम् शब्द से ह प्रत्यय हो।

त्रल इति–यह ह प्रत्यय त्रल् का बाधक है।

इह (**अस्मिन्**–इसमें, यहाँ)–यहाँ सप्तम्यन्त इदम् शब्द से प्रकृत सूत्र से ह प्रत्यय हुआ। तब 'इदम् इश् 5.3.3' से इदम् के स्थान में इश् सर्वादेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

अत्र–एतद् का रूप है, इदम् का नहीं–यह ध्यान रहना चाहिये। एतद् को त्रल् परे रहते 'अन् 5.3.5' सूत्र से अन् आदेश होकर 'अत्र' बनता है।

अतः प्रत्यय का तकार इत्संज्ञक है। 'तित् स्वरितम् 6.1.185' से स्वरित होना फल है।

कितोत् 5.3.12

वा-ग्रहणम् अपकृष्यते। सप्तम्यन्तात् किमः 'अत्' वा स्यात्, पक्षे त्रल।

व्याख्याः सप्तम्यन्त किम् शब्द से अत् प्रत्यय हो।

वाग्रहणमिति–'वा ह च छन्दसि' इस उत्तर सूत्र से 'वा' का अपकर्ष इस सूत्र में होता है। अतः विकल्प विधि होने से पक्ष में त्रल् भी होतो है।

क्वति 7.2.105

किमः 'क' आदेशः स्याद्अति। क; कुत्र।

व्याख्याः किम् शब्द को 'कु' आदेश हो अत् प्रत्यय परे रहते।

क्व; कुत्र (कस्मिन्, किस में, कहाँ)–यहाँ सप्तम्यन्त किम् शब्द से पूर्व सूत्र से अत् प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से किम् शब्द को क्व आदेश हुआ। तब 'अतो गुणे 6.1.87' से पररूप होकर रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में–त्रल् प्रत्यय होने पर 'कुति–होः' से किम् शब्द को 'कु' आदेश होने पर 'कुत्र' रूप बना।

---

1. यहाँ यह ध्यान रहना चाहिये कि तद्धित प्रत्यय होने परविभक्ति का लोप अवश्य करना चाहिये, पहले प्रातिपदिक संज्ञा और उसका अवयव होने से सुप् का लोप–जैसा कि कई प्रयोगों की साधनप्रक्रिया में किया गया है अवश्य दिखाया जाना चाहिये।

इतराभ्योपि दश्यन्ते 5.3.14

पश्चमीसप्तमीतर विमक्तयन्ताद् अपि तसिलदयो दश्यन्ते।

व्याख्या: पचमी और सप्तमी से भिन्न विभक्त्यन्त से परे भी तसिल् आदि प्रत्यय दिखाई देते हैं।

(वा) दशिग्रहणाद् भवद् आदियोग एव। स भवान्-ततो भवान्, तत्र भवान्। तत्रभवन्तम्-ततोभवन्तम्, तत्रभवन्तम्। एवं दीर्घायुः, देवानांप्रियः, आयुष्मान्।

व्याख्या: दषि के ग्रहण से भवत् आदि के योग में ही इतर विभक्त्यन्तों से ये प्रत्यय होते हैं अर्थात् 'दश्यते' कहने से यह आशय निकला कि जहाँ दिखाई देते हैं, वहीं ये होंगे–भवद् आदि के योग में अन्य विभक्तोयन्तो से ये प्रत्यय दीखते हैं, इसलिये इन्हीं के योग में ये प्रत्यय होते हैं– यह नियम निश्चित किया गया है।

'स भवान्' यह प्रथमान्त है, यह अर्थ दिखाने के लिये रखा गया है, यह पंचमी सप्तमी से भिन्न प्रथमाविभक्त्यन्त है, अतः यहाँ तसिल् और तल् प्रत्यय होते है। किस विभक्त्यन्त से ये किये गये हैं–यह भवत् आदि शब्द की विभक्ति से मालूम होगा। भवत् शब्द से जो विभक्ति होगी उसी विभक्त्यन्त से तसिल् त्रल् प्रत्यय हुए समझने चाहिये।

सर्वेकान्य किंन्यत्-तदः काले दा 5.3.15

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात्।

व्याख्या: ततो–भवान्, तत्र–भवान् (स भवान्–पूज्य)–यहाँ प्रथमाविभक्त्यन्त तद् शब्द से भवद् शब्द के योग में तसिल् और त्रल् होकर रूप सिद्ध हुए।

एवमिति–इसी प्रकार दीर्घायुः, देवानांप्रियः और आयुष्मान्–इन पदों के योग में भी–ततो दीर्घायुः; तत्र –दीर्घायुः इत्यादि प्रयोग बनते हैं।

सर्वस्य सोन्यतरस्यां दि 5.3.6

दा दौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सः वास्यात्। सर्वस्मिन् काले सदा। सर्वदा। एकदा। अन्यदा। कदा। यदा। तदा। काले किम्-सर्वत्र देशे।

व्याख्या: सप्तम्यन्त कालवाचक सर्व, एक, अन्य, किम्, यद्, और तद्–इन शब्दों से स्वार्थ में दो प्रत्यय हो।

दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते सर्व शब्द को व आदेश विकल्प से हो।

सदा, सर्वदा (सर्वम्मिन् काले, सब समय)–यहाँ सप्तम्यन्त कालवाचक सर्व शब्द से दा प्रत्यय स्वार्थ में पूर्वसूत्र से हुआ। तब 'सर्व ङि दा' इसस्थिति में प्रातिपदिक के अवयव सुप् ङि का लोप होने पर प्रकृत सूत्र से दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय दा परे रहने से सर्व शब्द को 'स' आदेश होकर पहला रूप बना। स आदेश के अभावपक्ष में सर्वदा' यही रूप बना।

एकदा (एकस्मिन् काले, एक समय) ओर **अन्यदा** (अन्यस्मिन् काले अन्य समय)–इनकी सिद्धि पूर्ववत् होती है।

कदा(कस्मिन् काले–कब, किस समय) यहाँ सप्तम्यन्त किम् शब्द से स्वार्थ में दा प्रत्यय होने पर उसके विभक्ति संस्क होने से उसके परे रहते 'किमः कः 72.103' से किम् शब्द को 'क' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

यदा (यस्मिन् काले, जिस समय, जब) और तदा (तस्मिन् काले–उस समय, तब)–इन शब्दों में दा प्रत्यय के विभक्ति संज्ञक होने से उनके परे रहते 'त्यदादीनाम् अः' से अकार और पररूप होकर रूप बने।

काले किमिति–काल अर्थ में ही दा प्रत्यय होता है–ऐसा क्यों कहा?

इसलिये कि –'सर्वत्र देशे' यहाँ न हो। यहाँ देश अर्थ होने से त्रल् प्रत्यय हुआ।

इदमो र्हिल् 5.3.16

सप्तम्यन्तात्। काले इत्येव।

व्याख्याः सप्तम्यन्त काल–अर्थ–वाचक इदम् शब्द से स्वार्थ में र्हिल् प्रत्यय हो।

र्हिल् प्रत्यय का लकार इत्संज्ञक है।

एतेतौ- रथोः 5.3.4

इदम्शब्दस्य एत इत् इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारदौ च प्रग्दिशीये परे। अस्मिन्काले-एतर्हि। काले किम्-इह देशे।

व्याख्याः इदम् शब्द को एत और इत् आदेश क्रम से हो रेफादि और तकारादि प्राग्दिशीय परे रहते।

क्रम से कहने के कारण रकारादि प्रत्यय परे रहते 'एत' और थकारादि परे रहते 'इत' आदेश होता है।

एतर्हि (अस्मिन् काले, इस समय, अब)–यहाँ सप्तम्यन्त कालर्थक इदम् शब्द से पूर्व सूत्र से र्हिल् प्रत्यय हुआ। तब प्रकृत सूत्र से इदम् शब्द को रकारादि प्रत्यय परे होने के कारण 'एत' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

इस अर्थ में अधुना और इदानीम्–शब्द भी इदम् शब्द से बनते हैं। सूत्र यहाँ नहीं दिये गये–'अधुना 5।3।17।' इदानी च 5.3.18'

'एतर्हि' प्रयोग की अपेक्षा अधुना और इदानीम् का प्रयोग अधिक होता है।

काले किम् इति–कालवाचक से र्हिल् है–ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'इह देशे' यहाँ न हो, देशवाचक होने से यहाँ 'ह' प्रत्यय हुआ।

अनद्यतने र्हिल् अन्यतरस्याम् 5.2.12

कर्हि, कदा। यर्हि, यदा। तर्हि, तदा।

व्याख्याः अनद्यतन कालवत्ति किम् आदि सप्तम्यन्त शब्दों से र्हिल् प्रत्यय हो विकल्प से।

पक्ष में दा प्रत्यय होता है, दा प्रत्यय के रूप पहले आ चुके हें।

कर्हि, कदा (कस्मिद् काले –किस समय, कब)–यहाँ किम् शब्द से र्हिल्' और 'दा' प्रत्ययों के द्वारा पूर्ववत् सिद्ध होते हैं।

तर्हि, तदा (तस्मिन् काले, उस समय तब)–ये दोनों प्रयोग 'तद' शब्द से पूर्ववत् सिद्ध होते हैं।

एतदः 5.3.5

'एत' 'इत्' एतौ स्तो रेफादौ थादौ च प्राग्दिशीये। एतस्मिन्काले-एतर्हि।

व्याख्याः इति–'एतद्' शब्द के स्थान में एत' और 'इत' ये दो आदेश होते हैं। प्राग्दिशीय रेफादि और यकारादि प्रत्यय परे होने पर यह   इस सूत्र को दोनों सर्वनाम से सिद्ध दो योगों में प्रथम योग हैं।

एतर्हि (एतस्मिन् काले–इस समय, अब)–यहाँ सप्तम्यन्त कालार्थक एतत् शब्द से पूर्वसूत्र से र्हिल् प्रत्यय हुआ। तब रेफादि प्रग्दिशीय प्रत्यय परे मिल जाने से प्रकृत सूत्र से एतद् शब्द को 'एत' आदेश होकर रूप बना।

प्रकार-वचने थाल् 5.3.23

प्रकारवत्तिभ्यः किमादिभ्यः 'थाल्' स्यात् स्वार्थे। तेन प्रकारेण-तथा यथा।

व्याख्याः प्रकारवत्ति किम् आदि शब्दों से थाल् प्रत्यय हो स्वार्थ में।

थाल् का लकार इत्संज्ञक है।

तथा (तेन प्रकारेण–उस प्रकार से)–यहाँ प्रकारवत्ति तद् शब्द से प्रकृत सूत्र से थाल् प्रत्यय हुआ। थाल् से विभक्ति–संज्ञक होने से उसके परे रहते 'त्यदादीनाम् अः 7.2.10' से दकार को अकार और पर रूप होकर रूप सिद्ध हुआ।

यथा (येन प्रकारेण–जिस प्रकार से)– इसकी सिद्धि तथा के समान होती है।

इदमस्थमुः 5.3.24

थालोपवादः।

व्याख्याः प्रकारवत्ति इदम् शब्द से थमु प्रत्यय हो स्वार्थ में । थमु का उकार इत्संज्ञक है और यह प्रत्यय थल् का बाधक है।

(वा) एतदोपि वाच्यः। अनने एतेन वा प्रकारेण-इत्थम्।

व्याख्याः प्रकारवत्ति एतद् शब्द से भी थमु प्रत्यय हो स्वार्थ में।

इत्थम् (अनेन एतेन वा प्रकारेण–इस प्रकार से)–यहाँ प्रकारवत्ति इदम् शब्द से प्रकृत सूत्र के द्वारा और एतद् शब्द से प्रकृत वार्तिक के द्वारा थमु प्रत्यय हुआ। तब थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने से दोनों शब्दों को इत्' आदेश हो कर समान रूप बना। इदम् शब्द को 'एतेतौ र–थोः 5.3.4 से और एतद् शब्द को 'एतदः 5.3.5' से 'इत्' आदेश होता है।

किमश्च 5.3.35

केन प्रकारेण-कथम्।

व्याख्याः किम् शब्द से भी प्रकार अर्थ में थमु प्रत्यय हो।

कथम् (केन प्रकारेण –किस प्रकार)–यहाँ प्रकार अर्थ में वर्तमान किम् शब्द से थमु प्रत्यय हुआ। उसकी विभक्ति संज्ञा होने के कारण उसके परे रहते 'किमः कः' शब्द को 'क' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्राग्दिशीय प्रत्यय समाप्त

अथ प्रागिवीयाः

अतिशायने तमब्-इष्ठनौ 5.3.55

अतिशयविशिष्टार्थवत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः। अयम्एषाम्अतिशयेनाढ्य आढ्य-तमः। लघु-तमः, लघिष्ठः।

व्याख्याः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त पद से स्वार्थ में तमप् और इष्ठन्–ये दो प्रत्यय हों।

तमप् का पकार और इष्ठन् का नकार इत्संज्ञक हैं।

अतिशय अर्थ प्रकृत्यर्थ का विशेषण रहता है, ये तमप् ओर इष्ठन् प्रत्यय उसके द्योतक होते हैं–इनके योग से ही प्रकृत्यर्थ में विशेषणरूप से वर्तमान अतिशय अर्थ की प्रतीति होती है।

दो में से एक का अतिशय करने के लिये 'द्विवचनविभज्योपपदे तरब्–ईयसुनौ 5.3.57' से तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं। तब शेष स्थान में अर्थात् बहुत में एक का निर्धारण करने में तमप् और इष्ठन् की प्रवत्ति होती है।

सुबन्त से ही ये तमप् आदि प्रत्यय होते हैं, सुप् का लोप 'सुपो धातु–प्रातिपदिकयोः 2.4.71 से हो जाता है।

आढ्य-तमः (अयम् एषाम् अतिशयेन आढ्यः–यह इनमें अधिक संपन्न है)–यहाँ उत्कर्ष विशिष्ट आढ्य अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त आढ्य शब्द से प्रकृत सूत्र से तमप् प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

यहाँ उत्कर्षविशिष्ट आढ्य अर्थ आढ्य प्रकृति का है, तमप् प्रत्यय उस अर्थ का द्योतक है।

तमप्–प्रत्ययान्त का प्रयोग बहुतों में एक उत्कर्ष बताने के लिये ही होता है, इसी प्रकार इष्ठन्नन्त का भी।

लघु-तमः, लघिष्ठः (अयम् एषाम्, अतिशयेन लघुः, यह इनमें अधिक हलका है)–यहाँ अतिशयविशिष्ट स्वार्थ में वर्तमान प्रथमान्त लघु शब्द से प्रकृत सूत्र से तमप् प्रत्य होकर पहला रूप सिद्ध हुआ। इष्ठन् प्रत्यय होने पर अजादि प्रत्यय परे हो जाने से पूर्व की भसंज्ञा हो जाती है, तब 'टेः 6.4.155' सूत्र से भसंज्ञक टि का लोप होकर दूसरा रूप सिद्ध होता है।

तिङश्च 5.3.56

तिङन्ताद् अतिशये द्योत्ये तमप् स्यात्।

व्याख्याः तिङन्त से भी अतिशय द्योतन के लिये तमप् प्रत्यय हो।

तरप्-तमपौ धः 1.1.22

एतौ घ-संज्ञौ स्तः।

व्याख्याः तरप् और तमप् की घ संज्ञा हो।

किम्-एत् तिङ्-अव्यय घाद् आम् अ-द्रव्यप्रकर्षे 5.4.11

किमः, एदन्तात्, तिङः, अव्ययात् च यो घः, तदन्ताद् आमु स्यात्, न तु द्रव्य-प्रकर्ष। किन्तमाम्। प्राह्णेतमाम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तमाम्। द्रव्य-प्रकर्षे तु-उच्चैस्तमः, उच्चैस्तरः।

व्याख्याः किम्, एकारान्त, तिङ् और अव्यय–इनसे जो घ प्रत्यय तदन्त से आम् प्रत्यय हो, परन्तु द्रव्य के प्रकर्ष में न हो। आमु प्रत्यय का उकार उच्चारणार्थ है।

किन्तमाम् (अतिशय प्रश्न)–यहाँ किम् शब्द से अतिशय द्योतन के लिये तमप् प्रतयय होने पर प्रकृत सूत्र से तदन्त से आम् प्रत्यय हुआ। तब अन्त्य अकार का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

प्राह्णतमाम् (अतिमध्याह्न)–यहाँ एदन्त से आम् हुआ।

पचतितमाम् (उत्कृष्ट पकाता है)–यहाँ तिङन्त से आम् हुआ।

उच्चैस्तमाम् (बहुत ऊँचे से)–यहाँ अव्यय से आम् हुआ।

द्रव्यप्रकर्षे इति–द्रव्य के प्रकर्ष में आम् नहीं होता। अतः वहाँ उच्चैस्तमः, उच्चैस्तरः ऊँचा वक्ष ऐसे ही रहेगा।

दो में एक के अतिशय–उत्कर्ष को बताने के लिये उत्कर्षविशिष्ट अर्थ में विद्यमान भेद बताने वाले धर्म के वाचक सुबन्त से स्वार्थ में तरप् और ईयसुन् प्रत्यय हों।

तरप् का पकार और ईयसुन् का उन् इत्संज्ञक हैं।

पूर्वयोरित–पूर्वोक्त तमप् और इष्ठन् का यह सूत्र बाधक है।

द्विवचने-विभज्योपपदे तरब्-ईयसुनौ 5.3.57

द्वयोरेकस्यातिशये, विभक्तव्ये चोपपदे सुप्ङिन्ताद् एतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयम् अनयोरतिशयेन लघुतरः लघीयान्। उदीच्या प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः।

व्याख्याः दो में जब एक को दूसरे की अपेक्षा उत्कृष्ट बताना होगा तब ये तरप् और ईयसुन प्रत्यय होंगे और अन्यत्र अर्थात् जब बहुतों में एक को उत्कृष्ट बताना हो तब पूर्वोक्त तमप् और इष्ठन्।

लघुतरः (अयम् अनयोरतिशयेन लघुः, यह इन दो में हलका छोटा है।) यहाँ दो में एक को दूसरे की अपेक्षा अतिशय हलका छोटा–अर्थ बताने के लिये अतिशयविशिष्ट स्वार्थ में वर्तमान और अन्तर के प्रयोजक धर्म के वाचक प्रथमान्त लघुशब्द से प्रकृत सूत्र से तरप् प्रत्यय हुआ।

लघीयान्–पूर्वोक्त अर्थ में लघु शब्द से ईयसुन् प्रत्यय हुआ। तब 'टेः 6.4.1555' सूत्र से टि उकार का लोप होकर 'लघीयस्' रूप बना उसके प्रथमा के एकवचन में नुम् और उपधादीर्घ होने पर रूप सिद्ध हुआ।

उदीच्याः प्राच्येभ्यः पतराः , पटीयांस (उत्तर के लोग दक्षिण के लोगों से अधिक चतुर होते हैं)–यहाँ उदीच्य और प्राच्य–इन दो में–प्राच्यों की अपेक्षा उदीच्यों में उत्कर्ष बताया जा रहा है, इसलिये अतिशयविशिष्ट स्वार्थ में वर्तमान अन्तर –प्रयोजक–धर्म के वाचक पटु शब्द से तरप् ओर इयसुन् प्रत्यय होकर उक्त दो रूप बने। ईयसुन् होने पर पूर्वोक्त 'टेः' से टि उकार का लोप हुआ।

प्रशस्यस्य श्रः 5.3.60

अस्य 'श्र' आदेशः स्याद् अजाद्योः परतः।

व्याख्याः प्रशस्य शब्द को श्र आदेश हो अजादि आतिशायनिक अर्थात् इष्ठन् और ईयसुन प्रत्यय परे रहते।

प्रकृत्यैकाच् 6.4.163

इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः, श्रेयान्।

व्याख्याः इष्ठन् आदि प्रत्यय परे रहते एकाच् शब्द को प्रकृति भाव हो।

यह सूत्र 'टेः 6.4.155' के द्वारा होनेवाले टि लोप का बाधक है।

श्रेष्ठः, श्रेयान् (अयमेषाम अतिशयेन प्रशस्यः, यह इनमें सबसे अधिक प्रशंसनीय, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः–यह इन दोनों में अधिक प्रशंसनीय)– यहाँ पूर्वोक्त विग्रहों में प्रशस्य शब्द से इष्ठन् और ईयसुन प्रत्यय हुए। तब पूर्वसूत्र से अजादि आतिशायनिक प्रत्यय परे होने से प्रशस्य शब्द को श्र आदेश हुआ और प्रकृत सूत्र से एकाच् श्र शब्द को प्रकृतिभाव। फिर गुण एकादेश होने पर रूप सिद्ध हुए।

ज्य च 5.3.62

प्रशस्यस्य 'ज्य आदेशः स्यात् इष्ठेयसोः। ज्येष्ठः।

व्याख्याः प्रशस्य शब्द को ज्य आदेश हो इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय परे रहते।

ज्येष्ठः (अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः, सब से अधिक प्रशंसनीय)—यहाँ पूर्वोक्त रीति से इष्ठन् प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से प्रशस्य शब्द को 'ज्य' आदेश हुआ। तब 'प्रकृत्यैकाच्' से प्रकृतिभाव होने पर गुण एकादेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

ज्याद् आद् ईयसः 6.4.160

आदेः परस्य। ज्यायान्।

व्याख्याः ज्य से पर ईयस् को आकार आदेश हो।

आदेः परस्येति–'आदेः परस्य 1.1.54' इस परिभाषा के अनुसार पचम्यन्त 'ज्यात्' पद का उच्चारण कर विधीयमान होने से यह अकार आदेश पर ईयस् के आदि ईकार को होता है।

जयायान् (अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः, दो में अधिक प्रशंसनीय)–यहाँ पूर्वोक्त प्रकार से प्रशस्य शब्द से ईयसुन् प्रत्यय होने पर ज्य च' से प्रशस्य शब्द को ज्य आदेश और 'प्रकृत्यैकाच्' से उसको प्रकृतिभाव हुआ। तब 'ज्य ईयस्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से 'आदेः परस्य' परिभाषा की सहायता से ईयस् के आदि ईकार को आकार हुआ, फिर 'ज्य आयस्' इस दशा में सवर्ण दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ।

बहोर्लोपो भू च बहोः 6.4.158

बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्यात् बहोश्च भूरादेशः भू-मा। भू-यान्।

व्याख्याः बहुशब्द से पर इमनिच् और ईयसुन प्रत्ययों का लोप बहु प्रकृति को भू आदेश हो।

'आदेः परस्य 1.1.54' इस परिभाषा के अनुसार इनके आदि इकार और ईकार का लोप होगा।

भूमा (बहोर्भावः बहुत्वः)–यहाँ षष्ठ्यन्त बहुशब्द से भाव अर्थ में 'पथ्वादिभ्य इमनिच् 5.1.122' से इमनिच् प्रत्यय हुआ तब प्रकृत सूत्र से इमनिच् के आदि इकार का लोप और बहुशब्द को भू आदेश होकर 'भूमन्' शब्द बना।

---

1. सूत्रस्थ–द्विवचनविभज्योपपदे का विग्रह है–द्विवचनं च विभज्यं च, द्विवचन और विभज्य–इस प्रकार द्वन्द्वसमास हुआ। फिर द्विवचनविभज्यच उपपदं च–इस प्रकार कर्मधारय समास हुआ। द्विवचन काअर्थ है–दोका बोधक और विभज्य का अर्थ है–जिसका विभाग करना है। उपपद का अर्थ है समीप में जिसका उच्चारण हुआ हो।

भू–यान् (अयमनयोरतिशयेन बहुः –दो में अधिक)–यहाँ पूर्वोक्त प्रकार से बहुशब्द से ईयसुन् प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से ईयसुन् के आदि ईकार का लोप और बहु को भू आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

इष्ठस्य यिट् च 6.4.159

बहोः परस्य इष्ठम्य लोपः स्याद् 'यिड् आगमश्च। भू-यिष्ठः।

व्याख्याः बहुशब्द से पर इष्ठन् का लोप और यिट् आगम तथा बहु को भू आदेश हो।

'आदेः परस्य' परिभाषा के बल से इष्ठन् के आदि इकार का लोप होता है और यिट् आगम का टकार इत्संज्ञक है, यि शेष रहता है वह इष्ठन् के अवशिष्ट भाग ष्ठ के आदि में होता है।

भूयिष्ठः (अयमेषां बहुः– सब से अधिक अर्थात् अत्यधिक)–यहाँ बहुशब्द से इष्ठन् परे रहते प्रकृत सूत्र से उसके इकार का लोप, यिट् आगम और बहुशब्द को भू आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

विन्मतोर्लुक् 5.3.65

विनो मतुपश्च लुक् स्याद् इष्ठेयसोः। अतिशयेन स्रग्वी- स्रजिष्ठः स्रजीयान्। अतिशयेन त्वग्वान्-त्वचिष्ठः, त्वचीयान्।

व्याख्याः विन् और मतुप् प्रत्यय का लोप हो इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय परे रहते।

स्रजिष्ठः (अतिशयेन स्रग्वी–सब से अधिक मालवाला)–यहाँ विन् प्रत्ययान्त स्रग्विन्[1] न रहने से कुत्व गकार रूप कार्य भी न रहा। इस प्रकार रूप सिद्ध हुआ।

स्रजीयान् (द्वयोः अशियेन स्रग्वी, इन दो में अधिक माला वाला)–यहाँ विन् प्रत्ययान्त स्रग्विन् शब्द से ईयसुन् प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से विन् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

त्वचिष्ठः, त्वचीयान् (अतिशयेन त्वग्वान्, उत्कृष्ट त्वचावाला)– यहाँ मतुप् प्रत्ययान्त त्वग्वत् शब्द से इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय होने पर दोनों स्थलों में प्रकृत सूत्र से मतुप् का लोप हुआ। फिर निमित्त न रहने से कार्य कुत्व भी हट गया।

ईषद् असमाप्तौ कल्पप् देश्य-देशीयरः 5.3.67

ईषदूनो विद्वान्-विद्वत्कल्पः। विद्वद्देश्यः। विद्वद्देशीयः। पचति कल्पम्।

व्याख्याः ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में विद्यमान सुबन्त और तिङन्त से स्वार्थ में कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय हों।

ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ है कुछ कमी। जब किसी पदार्थ में कुछ कमी बतानी हो तो ये प्रत्यय होते हैं।

विद्वत्कल्पः (ईषद् ऊनो विद्वान्–कुछ कम विद्वान अर्थात् लगभग विद्वान्)–यहाँ ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में विद्यमान प्रथमान्त विद्वस् शब्द से प्रकृत सूत्र से कल्पप् प्रत्यय हुआ। सुप् का लोप होने पर भी लुप्त विभक्ति को निमित्त मानकर 'वसु–स्रं सुध्वंस्वनडुहां दः 8.2.12' से सकार को दकार होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार–विद्वद्देश्यः और विद्वद्देशीयः रूप भी बनते हैं। अर्थ इन तीनों का समान है।

पचति–कल्पम् (ईषद् असम्पूर्ण पचति–कुद न्यून सा पका रहा है अर्थात् पका जैसा रहा है)–यहाँ ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में विद्यमान तिङन्त से कल्पप् होकर रूप सिद्ध हुआ।

विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात् तु 5.3.68

ईषदसमाप्तिविशिष्टेर्थे सुबन्ताद् बहुच् वा स्यात्, स च प्रागेव, न तु परतः। ईषदः। ईषद् ऊनः पटः-बहुपटुः, पटुकल्पः। सुपः किम्-यजति-कल्पम्।

व्याख्याः ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में विद्यमान सुबन्त से बहुत् विकल्प से हो और वह प्रकृति के पूर्व हो, पर नहीं।

बहुपट : (ईषदूनः पटुः, चतुर के जैसा)— यहाँ ईषसमाप्तिविशिष्ट अर्थ वर्तमान सुबन्त पटु के पूर्व बहुच् प्रत्यय होने पर रूप बना।

पटु—कल्पः—बहुच् के अभावपक्ष में पूर्वसूत्र से कल्पप् प्रत्यय हुआ।

सुप इति—सूत्र में ऐसा क्यों कहा गया कि सुबन्त से बहुच् प्रत्यय होता है? इसलिये कि यजति—कल्पम्—इत्यादि स्थलों में न हो, यहाँ यजति—तिङन्त है, सुबन्त नहीं, इसलिये बहुच् प्रत्यय नहीं हुआ, पूर्वसूत्र से कल्पप् प्रतयय होकर रूप सिद्ध हुआ।

विद्वत्कल्प का अर्थ है कि वह विद्वान है, पर पूरा नहीं, कुछ कमी है, इसलिये 'इसके जैसा' इस अर्थ को प्रकट करने के लिये ऐसे प्रयोग किये जाते हैं। यदि पूरा विद्वान् होगा तो उसके लिये विद्वान् शब्द का ही प्रयोग किया जायगा।

प्राग् इवात् कः 5.3.70

'इवे प्रतिकृतौ' इत्यतः प्राक् काधिकारः।

व्याख्या: 'इवे प्रतिकृतौ 5.3.96' इस से पूर्व तक 'क' प्रत्यय का अधिकार है अर्थात् उक्त सूत्रों से पूर्व के सूत्रों से उनमें बताये गये अर्थों को प्रकाशित करने के लिये क प्रत्यय हो।

अव्यय-सर्वनाम्नाम् अकच् प्राक् टेः 5.3.71

कापवादः। तिङश्चेत्यनुवर्तते।

व्याख्या: अव्यय और सर्वनामों से अकच् प्रत्यय हो और वह टि[1] के पहले हो।

अकच् का अच् भाग इत्संज्ञक है, शेष अक् रहता है।

कापवाद इति—यह सूत्र पूर्वोक्त अधिकार से प्राप्त क प्रत्यय का बाधक है।

तिङश्चेति—इस सूत्र में 'तिङश्च' इस पद की अनुवत्ति आती है।

(वा) ओकार-सकार-भकारदौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्राग् अकच, अन्यत्र तु सुबन्तस्य टेः प्राग् अकच्।

व्याख्या: ओकारादि, सकारादि और भकारादि सुप् परे रहने पर सर्वनाम की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय हो और अन्यत्र सुबन्त की टि से पूर्व।

इसके उदाहरण आगे दिये जा रहे हैं।

अग्रिम सूत्रों में केवल अर्थ का निर्देश किया गया है, इन पिछले दो सूत्रों से एकवाक्यता होने पर उन अर्थों में अव्यय, सर्वनाम ओर तिङन्त से अकच् प्रत्यय होगा और इन शब्दों से क प्रत्यय।

अज्ञाते 5.3.73

कस्यायमश्वः-अश्व-कः। उच्चकै। नीचकैः। सर्वकैः। युवकयोः, आवकयोः। युष्मकासु, अस्मकासु। युश्मकामिः, अस्मकामिः, । त्वयका, मयका।

व्याख्या: अज्ञात अर्थ में विद्यमान सुबन्त से क प्रत्यय हो और अव्यय सर्वनाम तथा तिङन्तों की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय हो।

अश्व—कः (अज्ञातोश्वः, अज्ञात घोड़ा अर्थात् जिसके स्वामी का पता न हो)—यहाँ अज्ञात अर्थ में वर्तमान प्रथमान्त अश्व पद से प्रकृत सूत्र से क प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

---

1. 'अस्—माया—मेधा—स्रजो विनीः 5.2.121' सूत्र से यहाँ मत्वर्थीय विनि प्रत्यय हुआ।
2. 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः'।
3. इसीकारण '117 कृत्—तद्धित समासाश्च 1.32.46' मेंतद्धित का अर्थ तिद्धतान्त न कर तद्धित—युक्त किया गया है। तद्धितान्त कहने से इस प्रत्यययुक्त शब्द की प्रातिपदिक संज्ञ न होगी—क्योंकि यह अन्त में नहीं।

कस्यायमश्वः (यह किसका घोड़ा है)— इस विग्रह के द्वारा घोड़े की अज्ञातता प्रकट की गई है। घोड़े आदि जानवरों की अज्ञातता यही हो सकती है कि उसके स्वामी का पता न हो। स्वरूप से यदि ज्ञात न हो तो उस शब्द का ही प्रयोग नहीं किया जा सकता। अश्वशब्द के प्रयोग से मालूम हो सकता है 'यह घोड़ा है' इस बात का तो ज्ञान है, यदि ज्ञान नहीं है तो उसके स्वामी का।

उच्चकैः (अज्ञातम् उच्चैः, अज्ञात ऊँचा)—यहाँ अज्ञानत्वविशिष्ट स्वार्थ में वर्तमान उच्चैस् अव्यय की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय हुआ। ऐसा यहाँ टि है उसके पहले अकच् का योग हुआ।

नीचकैः (अज्ञातम् नीचैः, अज्ञात नीचा)—इसकी सिद्धि उच्चकैः के समान ही होती है।

सर्वकैः (अज्ञाताः सर्वे—सब अज्ञात)— यहाँ अज्ञात विशिष्ट अर्थ में वर्तमान सर्वनाम सुबन्त सर्व पद टि के पर्व अकच् प्रत्यय होकर रूप बना।

यहाँ क और अकच् के द्वारा रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अब 'ओकार—' इत्यादि तक के उदाहरण दिये जाते हैंः—

युवकयोः, आवकयोः (अज्ञातयोः युवयोः, आवयोः वा, अज्ञात तुम, हम दो का)—यहाँ युष्मद् और अस्मद् सर्वनाम की टि से पूर्व पूर्वोक्त वार्तिक से ओकारादि प्रत्यय परे होने के कारण अकच् प्रत्यय हुआ।

यदि यहाँ सुबन्त की टि के पर्व अकच्' प्रत्यय होता तो ओस् के ओकार के पूर्व होता, जिससे अनिष्ट रूप बनता।

युष्मकासु, अस्मकासु—यहाँ भी पूर्वोक्त वार्तिक के विषय के अनुसार एकारादि प्रत्यय परे होने के कारण सर्वनाम की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय होकर रूप बने।

युष्मकाभिः अस्मकाभि आातैः युष्माभिः अस्माभिः, अज्ञात तुमने, हमने)— यहाँ अज्ञात विशिट अर्थ में वर्तमान सर्वनाम युष्मद् ओर अस्मद् शब्द से भकारादि प्रत्यय परे होने के कारण पूर्वोक्त वार्तिक के नियम के अनुसार सर्वनाम की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय हुआ।

यहाँ यदि सुबन्त की टि से पूर्व प्रत्यय होता तो यह भिस् के इकार के पूर्व होता, जिससे अनिष्ट रूप बनता।

अब सुबन्त की टि से पूर्व अकच् के उदाहरण दिये जाते हैं।

त्ययका, मयका (अज्ञातेन त्वया मया—अज्ञात तुमने हमने)—यहाँ ओकारादि से भिन्न प्रत्यय परे होने के कारण सुबन्त 'त्वया' और 'मया' की टि 'आ' से पूर्व अकच् हुआ।

कुत्सिते 5.3.74

अनयोः कतरो वैष्णवः। यतरः। ततरः।

व्याख्याः इति—कुत्साविशिष्ट स्वार्थ में विद्यमान सुबन्त से क प्रत्यय हो।

अश्व—कः (कुत्सितोश्वः, बुरा घोड़ा)—यहाँ कुत्साविशिष्ट स्वार्थ में वर्तमान प्रथमान्त अश्वपद से क प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ।

किं-यत्-तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् 5.3.92

अनयोः कतरो वैष्णवः। यतरः। ततरः।

व्याख्या— दो में जब एक का निर्धारण करना हो तो निर्धार्यमाण—जिसका निर्धारण किया जा रहा हो—के वाचक किम्, यद् और तद् शब्द से डतरच् प्रत्यय हो।

डतरच् के आदि डकार और अन्त्य चकार इत्संज्ञक हैं।

---

1. अकच् टि से पूर्व होता है, इसलिये अकच् प्रत्यय होने पर भी शब्द को तद्धितान्त नहीं कहा जाता। अकच् अनतमें नहीं, मध्य में आता है। बहुत् प्रत्यययुक्त केसमान अकच्प्रतययययुक्त की भीप्रातिपदिक संज्ञा करने के लिये 'कृत्तद्धितसमास्तश्च' में तद्धितानत अर्थ नहीं किया गया, अपितु इनके संग्रह के लिये 'तद्धितयुक्त' यह अर्थ किया गया है।

कतरः (अनयोः कः वैष्णवः, इन दो में वैष्णव कौन है)—यहाँ वैष्णवता गुण से 'किं शब्दार्थ' इदं शब्दार्थों से निर्धारित —पथक्—किया जा रहा है। अतः किम् शब्द से डतरच् हुआ और तब डित् होने के कारण उसके परे रहते किम् शब्द की टि इम् का लोप होकर उक्त रूप बना।

यतरः (अनयोर्यः, इन दो में ज) और ततरः[1] (अनयोः सः इन दो में वह) —इनकी सिद्धि भी पूर्ववत् होती है।

वा बहूनां जाति-परिप्रश्ने डतमच् 5.3.93

बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज् स्यात। 'जाति-परिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातम् अकारे। कतमो भवता कठः। यतमः। ततमः। वाग्रहणम् अकजर्थम्-यकः। सकः।

व्याख्याः बहुतों में जब एक का निर्धारण करना हो तब किम्, यद् और तद् शब्दों से डतमच् प्रत्यय हो।

डतमच् का आदि डकार और अन्त्य चकार इत्संज्ञक हैं।

जाति—परिप्रश्ने इति—सूत्र से स्थिति 'जाति—परिप्रश्ने' पद का भाष्य ने खण्डन किया है अर्थात् इस पद की आवश्यकता नहीं—इसका विषय थोड़ा रह जाता है—यह कह कर इसको व्यर्थ बताया है।

इसका तात्पर्य यह है कि यदि यह पद सूत्र में रहे तो तब जातिविषयक निर्धारण में ही प्रत्यय होगा—अन्यत्र नहीं। परन्तु प्रत्यय अन्यत्र भी मिलता है।

कतमो भवतां कठः (आप में कठ शाखा का कौन है)—यहाँ बहुतों में एक का निर्धारण किया जा रहा है और जाति का निर्धारण हो रहा है, कठ जाति है कठ शाखा के लोगों को कठ कहा जाता है। इसलिये यहाँ किम् शब्द से डतमच् प्रत्यय हुआ। डित् होने से उसके परे रहते किम् शब्द की टि इम् का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

यह उदाहरण जाति के विषय के निर्धारण का दिया गया है। इससे भिन्न स्थल में भी इसका प्रयोग होता है, कतमो भवतां लवपुरं यास्यति—आप में लाहौर कौन जायगा—यहाँ जातिविषय निर्धारण न होने पर भी डतमच् का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

यतमः, ततमः— इनकी सिद्धि भी पूर्ववत् होती है।

वा—ग्रहणम् इति— सूत्र में वा का ग्रहण अकच् प्रत्यय के लिये किया गया है, वा के ग्रहण से डतमच् विकल्प से होता है, तब पक्ष में अकच् हो जाता है।

यकः, सकः (एषां यः —इनमें जो, तेषां सः—इनमें वह)—यहाँ बहुतों में निर्धारण रूप पूर्वोक्त अर्थ में डतमच् के अभावपक्ष में यद् और तद् शब्दों की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय होकर 'यकद्' और 'तकद्' शब्द बने तब प्रथमा के एकवचन में त्यदाद्यत्व और पररूप होकर रूप बने। तद् शब्द के तकार को 'तदोः सः सावनन्त्ययोः 7.3.106' से सकार भी हुआ है।

यहाँ विभाषा से पक्ष में—कः, यः और सः —का भी प्रयोग होगा, परन्तु मुहावरेदार होने से डतमान्त प्रयोग ही अच्छे लगते हैं।

(तद्धित प्रकरण समाप्त)

1. महाविभाषा होने के कारण पक्ष में कः, यः, और सः, का भी प्रयोग होता हैं परन्तु उतर —प्रत्ययान्त प्रयोग मुहावरेदार होने से सुन्दर लगता है।

Unit-V

(सिद्धान्त कौमुदी)

अध्याय-13

अथ कारकप्रकरण्

'कारक' शब्द का अर्थ है क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला। कारक शब्द कृ धातु से ण्वुल् प्रत्यय लगकर बना है जिसका शाब्दिक अर्थ है करने वाला। क्रिया को सम्पन्न करने में जो साधन का कार्य करे उसे कारक कहते हैं। इसीलिए कारक को साधन भी कहते हैं। किसी वाक्य में जिस संज्ञा, सर्वनाम आदि का क्रिया से सम्बन्ध होता है, वही कारक कहलाता है। जिन शब्दों का क्रिया से सीधा सम्बन्ध नहीं, वे कारक नहीं कहलाते, जैसे—''देवदत्तः यज्ञदत्तस्य पुस्तकं पठति'' (देवदत्त यज्ञदत्त की पुस्तक पढ़ता है) यहाँ देवदत्त पठन क्रिया का करने वला है और पुस्तक पढ़ी जाती है अतः ये दोनों कारक हुए, किन्तु 'यज्ञदत्त' का पठन क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से, इसलिये 'यज्ञदत्त' का पठन क्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका सम्बन्ध है पुस्तक से, इसलिये 'यज्ञदत्त' यहाँ कारक नहीं। इस प्रकार सम्बन्ध को कारक नहीं कह सकते। संस्कृत व्याकरण के अनुसार केवल ६ कारक है—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण; जेसे कि कहा भी है—

कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।

अपादानाधिकरणे इत्याहः कारकाणि षट्।।

कारक के सम्बन्ध का अभिव्यक्त करने के लिए जो प्रत्यय प्रयुक्त हों इन्हें विभक्ति कहते हैं। सुप् प्रत्ययों में तीन–तीन (सु और जस्) आदि की विभक्ति संज्ञ है। ये विभक्तियाँ प्रथमा इत्यादि सात है किस विभक्ति का प्रयोग किस अर्थ का बोध कराने के लिये किया जाता है, इसका वर्णन यहाँ किया गया है।

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा। 2.3.46

नियतोपस्थितकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा। स्यात्। उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम् अनियतिलिङ्गास्तु लिङ्मात्राधिक्यस्य। तटः। तटी। तटम्। परिमाणमात्रे, द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्यययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्यययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहि विशेषणेमिति विवेकः। वचनं संख्या। एकः द्वो। बहवः। इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्।।

व्याख्याः प्रथमा विभक्ति शब्द से जिस अर्थ की नियमपूर्वक उपस्थिति होती है वह प्रातिपदिकार्थ है। सूत्र में 'मात्र' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है, अतः केवल प्रातिपादिकार्थ लिङ्गमात्र एवं परिमाणमात्र अधिक होने पर तथा संख्यामात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है।

इस प्रकार प्रथमा विभक्ति निम्न चार अर्थों में होती है—

(1) प्रातिपदिकार्थ मात्र, (2) लिङ्ग से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (3) परिमाणमात्र से युक्त प्रातिपदिकार्थ, (4) वचनमात्र।

प्रातिपदिकर्थमात्रे—सार्थक शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं। अंग्रेजी में जो शब्द की Crude form कहलाती है वही

प्रातिपदिक समझना चाहिये। जिस शब्द के बोलने पर जो अर्थ नियम से उपस्थित होता है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। शब्द के इस नियत अर्थ को प्रकट करने के लिये भी विभक्ति लगानी पड़ती है, क्योंकि संस्कृत में पद का ही प्रयोग किया जाता है (नापदं प्रयुजीत तथा न केवलप्रकृतिः प्रयोक्तव्या न केवलः प्रत्ययः) और सुबन्त या तिङन्त को ही पद कहते हैं (सुप्तिङन्तं पदम्)। प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। जो शब्द अलिङ्ग है अर्थात् किसी लिङ्ग का बोध नहीं कराते अथवा जो नियत लिङ्ग वाले हैं अर्थात् जिनके अर्थ के साथ–साथ लिङ्ग का बोध भी नियत रूप से हो जाता है, वे ही इसके उदाहरण है जैसे—उच्चैस, नीचैस् ये अलिङ्ग अव्यय शब्द हैं। इनमें प्रथमा विभक्ति होकर उच्चैस्+सु सु लोप (अव्ययों से सुप् का लोप हो जाता है) और पद हो जाने से स् को विसर्ग उच्चैः आदि रूप होते।[1] कृष्ण शब्द से पुंल्लिङ्ग की, 'श्री' शब्द से स्त्रीलिङ्ग की तथा 'ज्ञान' शब्द से नपुंसक लिङ्ग की नियम से प्रतीति होती है। अतः ये नियतलिङ्ग के उदाहरण हैं। इनसे प्रथमा विभक्ति होकर कृष्णः, श्रीः तथा ज्ञानम्, रूप होते हैं।

लिङ्गमात्राधिक्ये— प्रातिपदिकार्थ के बिना केवल लिङ्ग आदि की प्रतीति तो होती नहीं अतः लिङ्गमात्र का अधिक बोध कराने के लिये प्रथमा होती है, यह अर्थ समझना चाहिये। अनियत लिङ्ग वाले शब्द इस के उदाहरण हैं। जैसे—तटः, तटी, तटम् ये शब्द 'किनारा' अर्थ के साथ–साथ क्रमशः पुंल्लिङ्ग आदि का भी बोध कराते हैं, जो इनका नियत अर्थ नहीं। तट शब्द अनियत लिङ्ग वाला है, इसका नियत लिङ्ग एक नहीं। कभी पुंल्लिङ्ग कभी स्त्रीलिङ्ग हो जाता है। इस प्रकार 'तटः' आदि शब्द का नियत अर्थ तटत्व (किनारा) है। उससे अधिक पुंस्त्व आदि का ज्ञान भी यहाँ होता है। अतः ये लिङ्गमात्राधिकय के उदाहरण है। यहाँ प्रातिपदिकार्थ से लिङ्गमात्र अधिक होने पर प्रथमा विभक्ति होती है।

परिमाणामात्राधिक्ये— (उपर्युक्त रीति से) परिमाणमात्र अधिक होने पर प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे द्रोणो व्रीहिः—द्रोणरूप जो परिमाण उससे मापा गया व्रीहि, यह अर्थ है। 'द्रोण' एक परिमाण (माप) का नाम है। यदि यहाँ 'द्रोणः' शब्द में प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती तो 'द्रोण रूप जो परिमाण उससे अभिन्न व्रीहि' यह अर्थ प्रतीत होता। क्यों? यहाँ जो परिमाण है वह नाम (प्रातिपदिक का अर्थ होता; ओर नियम यह है कि समान विभक्ति वाले नाम पदों के अर्थो का अभेदान्वय हुआ करता है। (नामर्थयोरभेदान्वयः)। किन्तु यहाँ 'द्रोण परिमाण से मापा हुआ व्रीहि' यह अर्थ अभीष्ट है। अतः परिमाणमात्राधिक्य में प्रथमा विभक्ति का विधान किया गया है। फलतः— यहाँ द्रोण शब्द से होने वाली प्रथमा सामान्य परिमाण अर्थ को प्रकट करती है। द्रोण शब्द का अर्थ है—द्रोणनामक परिमाण विशेष। इसलिये द्रोण (प्रकृति) का अर्थ (परिमाण–विशेष) प्रथमा के अर्थ परिमाण सामान्य में अभेद सम्बन्ध से अन्वित हो जाता है और ''द्रोण रूप परिमाण'' यह अर्थ हो जाता है। अब परिमाण प्रत्यय का अर्थ है अतः इस अर्थ का परिच्छेद –परिछेदकभाव सम्बन्ध से व्रीहि के साथ अन्वय होता है और ''द्रोण रूप परिमाण से मापा हुआ व्रीहि'' यह अर्थ हो जाता है।

वचनमात्रे— वचन कहते हैं संख्या को। केवल संख्या को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे एकः, द्वौ, बहवः। यहाँ एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व आदि अर्थ शब्दों से ही प्रकट हैं। किच प्रथमा विभक्ति के जो प्रत्यय सु, औ, जस् हैं उनका भी क्रमशः एकत्व, द्वित्व, बहुत्व अर्थ होता है। अतः 'उक्तार्थानामप्रयोगः' (उक्त अर्थों का पुनः प्रयोग नहीं होता) इस न्याय से प्रथमा विभक्ति नहीं होनी चाहिये थी, इसीलिये सूत्र में 'वचन' ग्रहण किया गया है।

सम्बोधने च 2.3.47

इह प्रथमा स्यात्। हे राम।। इति प्रथमा।।

व्याख्याः सम्बोधन का बोध कराने के लिए भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। जैसे हे राम।

प्रथमा विभक्ति समाप्त

---

१. व्याकरण के अनुसार अव्यय शब्दों से भी प्रथमा विभक्ति (आती है किन्तु उसका लोप हो जाता है। विभक्ति लगने पर ही अव्यय शब्द पद (सुबन्त) कहलाते हैं और प्रयोग के योग्य होते हैं। अव्ययादाप्सुपः २।४।८२।।

द्वितीया विभक्ति

3. कारके 1.4.23

इत्यधिकृत्य।।

व्याख्याः द्वितीय विभक्ति इस सूत्र से कारक का अधिकार करके कर्म आदि कारकों की संज्ञा की गई है। यह अधिकार सूत्र है। इसके आगे जो कर्म आदि संज्ञाविधायक सूत्र है उन सब में 'कारक' पद का अन्वय होता है।

कर्तुः क्रियाया अप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्. कर्तुः किम्? माषेष्वश्वं बध्नाति. कर्मणा ईप्सिता माषा न तु कर्तुः। तमब्ग्रहणं किम्? पयसा ओदनं भुङ्क्ते। कर्मेत्यनुवतौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवत्त्यर्थम् अन्यथा ग्रहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात्.

व्याख्याः कर्त्ता अपनी क्रिया से जिन पदार्थ को प्राप्त करने की सर्वाधिक इच्छा रखता है वह कारक कर्मसज्ञक होता है।

कर्तुः किमति—जो कर्त्ता की क्रिया द्वारा उसे सबसे अधिक अभीष्ट होता है वह कर्मसंज्ञक होता है। ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि यदि कोई पदार्थ कर्त्ता को क्रिया के द्वारा मुख्य प्राप्य के रूप में अभीष्ट न हो तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे 'मावेष्वश्वं बध्नाति'— उड़दों में घोड़े को बाँधता है।' यहाँ उड़द कर्म (अश्व) को अभीष्ट हैं वही उन्हें खाना चाहता है। कर्त्ता को उड़द अभीष्ट नहीं, उसका अभीष्ट तो अश्व को बांधना ही है। इस हेतु अश्व की कर्म संज्ञा होगी माष की नहीं। 'माष' बन्धन क्रिया का अधिकरण है अतः माषेषु में सप्तमी विभक्ति है।

तमब् इति- ईप्सित शब्द से तमप् प्रत्यय क्यों लगाया? इसलिये कि जो वस्तु कर्त्ता को अपनी क्रिया द्वारा सबसे अधिक अभीष्ट हो, उसकी कर्म संज्ञा होनी चाहिये, अन्य की नहीं। जैसे — पयसा ओदनं भुङ्क्ते (दूध से भात खाता है)। यहाँ कर्त्ता को अपनी भोजन क्रिया से ओदन अभीष्टतम है। यद्यपि वह दूध भी प्राप्त करना चाहता है तथापि दूध भोजन क्रिया में साधन ही है, वह भोजन का उद्देश्य नहीं है। इससे ओदन की कर्म संज्ञा होती है पयः की नहीं। कर्म आदि का निर्णय करने के लिए क्रिया का अन्य कारकों से अन्वय मुख्य है। वाक्य में जो शब्द क्रिया के फल के रूप में सर्वाधिक अभीष्ट अभीष्ट के रूप में प्रयुक्त हो वही कर्मसंज्ञक होता है।

कर्म इति— यहाँ पाणिनि के सूत्रों का क्रम है—आधारोधिकरण् 1।4।45, अधिशीङ्स्थासां कर्म 1।4।43, अभिनिविशश्च 1।4।47, उपान्ध्याङ्वसः 1।4।48, कर्तुरीप्सिततमं कर्म 1।4।49। इस प्रकार 'अधिशीङ् स्थासां कर्म' 1।4।49, सूत्र से कर्म की अनुवत्ति आ रही थी फिर 'कर्म' का ग्रहण आधार—निवत्ति के लिये किया गया है। नहीं तो कर्म के साथ आधार भी चला आता तब 'गेहं प्रविशति' आदि में अभीष्टतम आधार 'ग्रह' की ही कर्म संज्ञा होती, 'हरिं भजति' आदि में हरि की नहीं। 'कर्म' ग्रहण करने पर तो वहाँ से किसी शब्द की भी अनुवत्ति नहीं होती और 'हरिं भजति' आदि में भी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

अनभिहिते . 2.3.1

इत्यधिकृत्य।।

व्याख्याः यह अधिकार सूत्र है। इसका अर्थ अग्रिम सूत्रों में चरितार्थ होगा। 'अनभिहित अर्थ में' इसका अधिकार करके। अनभिहित शब्द का अर्थ है—अनुक्त। जिस अर्थ का कथन क्रिया द्वारा हो वह अर्थ उक्त हो जाता है, जैसे—'सेव्यते' में कर्म में (तिङ्) प्रत्यय हुआ है, वहाँ कर्म उक्त हो जाता है। उक्त के अर्थ से भिन्न अनुक्त या अनभिहित होता है। यह अधिकार सूत्र है। आगे के द्वितीया आदि विभक्ति के विधायक सभी सूत्रों में 'अनभिहिते' पद का अन्वय होता है। कर्तवाच्य में कर्त्ता उक्त अर्थात् अभिहित होता है और शेष कारक अनभिहित होते हैं।

कर्मणि द्वितीया। 2.3.2

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि प्रातिपदिकार्थमात्र इति प्रथमेव। अभिधानं तु प्रायेण तिङकृत्तद्धितसमासैः। तिङ्, हरिः सेव्यते। कृत्, लक्ष्मया सेवितः। तद्धित, शतेन क्रीतः शत्यः।

---

१. जिससे कोई चीज नापी या तोली जाती है वह परिच्छेदक कहलाता है और जो चीज नापी या तोली जाती है वह परिछेद्य।

समासः, प्राप्त आनन्दो य स प्राप्तानन्दः। क्वचिनिपातेनाभिधानं यथा'विषवक्षोपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्। साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः।

व्याख्याः अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

हरिं भजति—(हरि को भजता है) इस वाक्य में कर्त्ता का ईप्सिततम हरि' है। हरि की कतुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र से कर्म संज्ञा हो जाती है। 'भजति' क्रिया कर्तवाच्य की है यहाँ लकार (ति) कर्त्ता में हुआ है? इसलिये कर्म अनुक्त है—किसी प्रत्यय आदि से कहा नहीं गया। अनुक्त कर्म होने से 'हरिम्' में प्रस्तुत सूत्र से द्वितीया विभक्ति होती है।

अभिहित इति— उक्त कर्म में तो प्रातिपदिकार्थ इत्यादि नियम से प्रथमा ही होती है।

संक्षेप में यह समझना चाहिये कि कर्तवाच्य के कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। कर्मवाच्य में लकार कर्म अभिधान करता है। अतः कर्म उक्त हो जाता है। वहाँ (उक्त) कर्म में प्रातिपदिकार्थ मात्र को प्रकट करने के लिये प्रथमा विभक्ति होती है, जैसे— 'हरिःसेव्यते' यहाँ हरिः' प्रथमा विभक्ति में है।

अभिधानमिति— प्रायः तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के द्वारा कर्म आदि कारक उक्त होते हैं।

हरिःसेव्यते— यहाँ कर्म तिङ् से उक्त है, क्योंकि यहाँ कर्म में लकार होता है, कर्मवाच्य की क्रिया है। अतः 'हरिः' में प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति है।

लक्ष्म्या सेवितः— में 'सेवित' शब्द 'सेव्' धातु से 'क्त' प्रत्यय (कृत्) होकर बना है। 'क्त' प्रत्यय कर्म में हुआ है[2] अतः कर्म कृतप्रत्यय 'क्त' से उक्त हो गया। इसी से 'लक्ष्म्या' सेवितः हरिः' यहाँ 'हरि' में द्वितीया विभक्ति नहीं हुई, अपितु कर्म उक्त होने से प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा होती है।

शत्यः— शतेन क्रीतः (सौ से खरीदा हुआ)। यहाँ शत शब्द से कर्म अर्थ में 'यत्' तद्धित प्रत्यय (शताच्च ठन्यताशते 5.1.21) होकर 'शत्य' शब्द बनता है। कर्म तद्धित से उक्त है अतः 'शत्यः' में द्वितीया विभक्ति न होकर प्रथमा ही होती है।

प्राप्तानन्दः— प्राप्तः आनन्दोयं सः (देवदत्तादिः) प्राप्तानन्दः। यहाँ प्राप्त और आनन्द दोनों शब्दों का द्वितीयार्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है। अन्य पदार्थ (देवत्तादि) कर्म बहुव्रीहि समास से उक्त हो जाता है। इसलिये 'प्राप्तानन्द' इस समस्त पद का जो अन्यार्थ है उसके वाचक पद से द्वितीया नहीं होती, अपितु प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा ही होती है —'प्राप्तानन्दो देवदत्तः' इति।

'अभिधानं तु प्रायेण' में प्रायेण शब्द रखने का तात्पर्य दिखलाते हैं। क्वचिन्निपातेनेति कहीं—कहीं निपात के द्वारा भी कर्म आदि उक्त हो जाते हैं। च, वा इत्यादि अव्ययों की निपात संज्ञा है। 'साम्प्रतम्' यह भी निपात है। 'साम्प्रतम्' का अर्थ है— उचित। असाम्प्रपम्—उचित नहीं (न युज्जते)। विषवक्षोपि आदि में विषवक्ष 'संवर्ध्य' तथा 'छेत्तुम्' का कर्म है। 'असाम्प्रतम्' निपात द्वारा विषवक्ष की कर्मता उक्त हो गई है, इसी हेतु विषवक्ष शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं होती, प्रथमा होती है। किन्हीं का मत है कि यह कर्म 'अपि' निपात द्वारा 'उक्त' हो गया है।

तथायुक्तं चानीप्सितम्। 1.4.50

ईप्सिततमवत्क्रियाया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छन् तणं स्पशति। ओदनं भुजानो विषं भुङ्क्ते।।

व्याख्याः जो पदार्थ कर्त्ता के अनीप्सित होते हुए भी ईप्सितम के समान क्रिया से युक्त होते हैं, उनकी भी कर्म संज्ञा होती है।

ग्राम गच्छंस्तणं स्पशति — (ग्राम को जाता हुआ तिनके को छूता है) यहाँ जाने वाले के लिये 'तण' उपेक्ष्य है किन्तु छूना क्रिया के फल से युक्त होने के कारण 'तण' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

---

१. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेयः। ३।४।६६।।

२. तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः। ३।४।७०।।

विषं भुङ्क्ते– (विष खाता है) विष खाना कर्त्ता को अभीष्ट नहीं किन्तु जिस प्रकार ओदन (भात) खाने में ओदन का भोजन क्रिया से सम्बन्ध होता है उसी प्रकार यहाँ विष पर भी भोजन क्रिया का फल पड़ता है, इसीलिये विष की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

अकथितं च। 1.4.52

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

दुह्याचापच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रू शासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्।।

दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभतीनां चतुर्णा कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः।

दां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं याचते। तण्डुलानोदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम् माणवकं पन्थानं पच्छति। वक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं धर्म ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति हरति कर्षति वहति वा।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा. बलिं भिक्षते वसुधाम्. माणवकं धर्मं भाषते वक्तीत्यादि. कारकं किम्? माणवकस्य पितरं पन्थानं पच्छति .

व्याख्याः अपादान आदि कारकों से अविविक्षत कारक कर्मसंज्ञक होता है।

कारक का प्रयोग कर्त्ता की विवक्षा पर निर्भर करता है। जहाँ अपादान आदि का अर्थ प्रकट होता है किन्तु वक्ता उसका प्रयोग नहीं करना चाहता। (अकथित= अविवक्षित) तथ कर्म की विवक्षा रखता है वहाँ उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। अकथितं च सूत्र से जो कर्म होता है उसे गौण या अप्रधान कर्म कहते हैं और 'कर्तुरीप्सिततम् कर्म' से जो कर्म होता है वह प्रधान कर्म कहा जाता है।

'अकथिंत च' यह नियम आगे बतलाई गई 'दुह' आदि धातुओं पर ही लागू होता है–

दुह, इति–1–दुह, (दुहना) 2–याच् (मांगना), 3–पच् (पकाना), 4–दण्ड् (दण्ड देना), 5–रुध्(रोकना), 6– प्रच्छ् (पूछना), 7–चि (चुनना), 8–ब्रू (कहना), 9–शास् (शासन करना), 10–जि (जीतना), 11–मन्थ् (मथना), 12–मुष् (चुराना), 13–नी (ले जाना), 14– हृ (हरना, ले जाना), 15 कृष् (खींचना), 16–वह (ले जाना, ढोना)–इन दुह् आदि 12 तथा नी आदि 4 कुल मिलाकर 16 धातुओं के कर्म से जिसका सम्बन्ध होता है (कर्मयुक्) और जिसमें अपादान आदि की विवक्षा नहीं होती, वही अकथित कर्म कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ भाष्य आदि में परिगणन किया गया है। दो कर्मों का प्रयोग होने के कारण ये धातुएँ द्विकर्मक कहलाती हैं।

1. गां दोग्धि पयः–(गाय से दूध दोहता है) यहाँ गाय सामान्यतः अपादान कारक है किन्तु यह अपादान कारक के रूप में विवक्षित नहीं, अपितु दूध रूप कर्म के निमित्त रूप में विवक्षित है अतः उपर्युक्त नियम (अकथितं च) से 'गो' की कर्म संज्ञा होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। इसका अर्थ होता है –गोसम्बन्धी पयः कर्मक दोहन। यदि अपादान की विवक्षा होगी तो पंचमी विभक्ति होगी, तथा 'गो दोग्धि पयः' यही प्रयोग होगा। यहाँ 'पयः' प्रधान कर्म है और 'गाम्' गौण कर्म।

2. बलिं याचते वसुधाम्–(बलि से पथ्वी माँगता है) यहाँ बलि अपादान है इसकी अविवक्षा होने पर बलि की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है। अतएव बलि गौण कर्म है। अपादान की विवक्षा में 'बलेर्याचते वसुधाम्' वह प्रयोग होगा।

3. अविनीतं विनयं याचते–(अविनीत से विनय के लिये प्रार्थना करता है) यहाँ 'याच्' धातु का अर्थ अनुनय या प्रर्थना है। 'अविनीत' इसका मुख्य कर्म है– 'अविनीतं' विनयाय अनुनयति' (अविनीत से विनय के लिये अनुनय करता है) यह अर्थ होता है। 'विनय' में सम्प्रदान की विवक्षा न होने पर 'अकथितं च' से कर्म संज्ञा होती है तथा द्वितीया विभक्ति होती है। अन्यों का मत है कि 'विनय' इसका मुख्य कर्म है। अविनीतकर्मक विनय की प्रार्थना करता है अतएव 'अविनीत' कर्ता है। उसमें कर्मत्व की विवक्षा में द्वितीया होती है। अन्य मत के अनुसार 'अविनीत से विनय' की प्रार्थना करता है' यह अर्थ है। अविनीत अपादान है। अपादानत्व की अविवक्षा में इसकी कर्मसंज्ञा

होती है।

4. तण्डुलान् ओदनं पचति— (चावलों से भात पकाता है) यहाँ ओदन मुख्य कर्म है। तण्डुल करण है। तण्डुल में भी कर्म की विवक्षा में द्वितीया विभक्ति होती है। तण्डुल गौण कर्म है।

4. गर्गान् शतं दण्डयति—(गर्गों से सौ रुपया जुर्माना लेता है) यहाँ 'शत' मुख्य कर्म है गर्गों से सौ रुपया दण्ड का लिया जाता है। गर्ग अपादान कारक है। गर्ग में कर्मत्व की विवक्षा होने से द्वितीया विभक्ति होती है।

5. व्रजमवरुणद्धि गाम्—(गाय को व्रज में रोकता है) यहाँ 'ग्राम्' अवरुणद्धि का मुख्य कर्म है। 'व्रज' (गोशाला) जो आधार या अधिकरण है, उसकी अविवक्षा होने पर अकथित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

6. माणवकं पन्थानं पच्दछति—(बालक से मार्ग पूछता है)—यहाँ पथ मुख्य कर्म है। माणवक अपादान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है। कुछ का मत है कि माणवक करण है।

7. वक्षमवचिनोति फलानि— (वक्ष से फलों को चुनता है)—यहाँ फल मुख्य कर्म है। वक्ष अपादान है। अपादान की अविवक्षा में कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

8, 9— माणवकं धर्मं ब्रू ते शास्ति वा—(माणवक के लिये धर्म का उपदेश करता है)—यहाँ धर्म मुख्य कर्म है। माणवक सम्प्रदान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया विभक्ति होती है।

10. शतं जयति देवदत्तम्—(देवदत्त से सौ रुपये जीतता है)—यहाँ 'शत' मुख्य कर्म है। देदत्त अपादान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है।

11.सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति—(सागर से अमत मथता है)—यहाँ 'सुधा' मुख्य कर्म है। 'क्षीरनिधि' अपादान है। उसमें कर्म की विवक्षा होने पर द्वितीया होती है। कुछ के मत में 'क्षीरनिधि' मथ् का मुख्य कर्म है। 'सुधा' के लिये क्षीर निधि को मथता है यह अर्थ है। सुधा सम्प्रदान है। उसमें कर्मत्व होकर द्वितीया हो जाती है।

12. देवदत्त शतं मुष्णाति—(देवदत्त से सौ रुपये हरता है)—यहाँ 'शत' प्रधान कर्म है। देवदत्त अपादान है। उसमें कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

13-16. ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा—(गाँव में बकरी को ले जाता है)— यहाँ 'अजा' मुख्य कर्म है। ग्राम अधिकरण है। उसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

अर्थनिबन्धेति—'अकथित च'ञसे जो कर्म संज्ञा होती है, वह अर्थाश्रित है अर्थात् दुह् आदि धातुओं के समान अर्थ वाली अन्य धातुओं के योग में भी अपादान आदि की अविवक्षा होने पर कर्म संज्ञा हो जाती है। इसीलिये 'याच्' धातु के अर्थ वाली 'भिक्ष्' धातु के योग में भी 'बलि' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है तथा 'ब्रू' धातु के अर्थ वाली 'भाष्' आदि धातु के योग में 'माणवक' में द्वितीया हो जाती है। इसी प्रकार अन्य परिगणित धातुओं की समानार्थक धातुओं के योग में भी यह कर्म संज्ञा हुआ करती है।

कारकं किमिति—सूत्र के अर्थ में 'कारक' शब्द रखने का क्या अभिप्राय है? यह कि अपादान आदि कारकों की अविवक्षा में उनकी ही यह कर्म संज्ञा होती है सम्बन्ध की नहीं। इसलिये 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पच्छति' यहाँ 'माणवक' में द्वितीया नहीं होती, अपितु सम्बन्ध में षष्ठी ही होती है। यहाँ माणवक कारक नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध क्रिया से नहीं, अपितु केवल पिता से है।

*** (वा) अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम् कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोहमास्ते। क्रोशमास्ते।**

व्याख्याः अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, भाव तथा गन्तव्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है। जैसे— कुरून् स्वपिति (कुरुदेश में सोता है)—यहाँ 'कुरु' देशवाची है। यहाँ देश का अर्थ है— ग्रामों का समूह कुरु, पाचाल आदि जनपद। कुरु आदि जनपदवाचक शब्दों का बहुवचन में ही, प्रयोग होता है। 'स्वप्' धातु अकर्मक है। यहाँ 'कुरु' की इस वार्तिक से कर्म संज्ञा होकर कर्मणि द्वितीया से द्वितीया होती है।

माममास्ते (मास भर रहता है)—मास कालवाची है। यहाँ काल शब्द से दिन—रात के समूहवाचक 'मास' आदि का ग्रहण होता है। 'आस्' धातु अकर्मक है।

गोदोहमास्ते (गो–दोहन की वेला तक ठहरता है) यहाँ 'गोदोह' शब्द का अर्थ है गोदोहन अर्थात् गोदोहन का समय। 'गोदोह' शब्द भाववाची' है। भाव का अभिप्राय है धातु का अर्थ।

क्रोशमास्ते (कोस भर में है)—यहाँ क्रोश गन्तव्य मार्ग वाची है। जिस मार्ग को पार करना होता है वह गन्तव्य मार्ग है। इसके द्वारा यहाँ मार्ग के परिमाण के वाचक क्रोश' आदि का ग्रहण होता है।

जहाँ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे से द्वितीया प्राप्त नहीं होती वहाँ इस वार्तिक से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है। कुरु आदि को जब अधिकरण रूप में कहना अभीष्ट होता है तो 'कुरुषु स्वपिति' आदि प्रयोग भी होते हैं। अकर्मक धातुओं का संग्रह इस प्रकार किया गया है–

लज्जा–सत्ता–स्थिति–जागरणं वद्धि–क्षय–भय–जीवित–मरणम्।
शयन–क्रीडा–रुचि दीप्त्यर्थं धातुगणान्तमकर्मकमाहुः।।

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्माकाणामणि कर्त्ता स णौ. 1.4.52

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्त्ता स णौ कर्म स्यात्। शत्रुनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्। आशयच्चामतं देवान्वेदमध्यापयद्विधिम्। आसयत्सलिले पथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः।। गतीत्यादि किम्? पाचयत्योदनं देवदत्तेन। अण्यन्तानां किम्? गमयति देवदत्तो यज्ञदतं तमपरः प्रयुङ्क्ते गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः।।

व्याख्याः गमन अर्थ वाली, ज्ञान (बुद्धि) अर्थ वाली, भक्षण (प्रत्यवसान) अर्थ वाली, शब्दकर्मक तथा अकर्मक धातुओं का अण्यन्त अथवा साधारण अवस्था में जो कर्ता होता है वह ण्यन्त अर्थात् प्रेरणार्थक दशा में कर्म हो जाता है।

जब कर्ता से कोई अन्य व्यक्ति कार्य कराता है अर्थात् उसे कार्य करने की प्रेरणा देता है तो उसे प्रेरणार्थक क्रिया द्वारा प्रकट किया जाता है। वहाँ धातु से णिच् (णि) प्रत्यय होकर उसका ण्यन्त या णिजन्त रूप बनता है। जैसे–

गम्+णिच्+अ+ति गम्+इ+अ+ति गम+ए+अ+ति = 'गमयति' जाने का प्रेरणा देता है।' प्रेरक को प्रयोजक कर्ता कहते हैं और जिसको प्रेरित किया जाता है उसे प्रयोज्य कर्ता। गति इत्यादि सूत्र से प्रयोज्य कर्ता की ण्यन्त दशा में कर्म संज्ञा होती है। जैसे–

(1) **शत्रून् आगमयत् स्वर्गम्**– यहाँ गति अर्थ वाली धातु 'गम् है। 'शत्रवः' स्वर्गम् अगच्छन्' यह साधारण दशा का रूप है। इन्हें हरि ने स्वयं जाने के लिये प्रेरित किया अतः हरि प्रयोजक कर्त्ता है। 'अगमयत्' यह णिजन्त दशा का प्रयोग है। इसीलिये अणिजन्त अवस्था का कर्ता :शत्रवः' अगमयत् (णिजन्त दशा) का कर्म हो जाता है। कर्म में द्वितीया होती है (शत्रून्)।

(2) वेदार्थ स्वान् अवेदयत्—यहाँ बुद्धि (ज्ञान) अर्थ वाली धातु 'विद्' है। 'स्वे वेदार्थम् अविदुः' यह साधारण दशा का रूप है। 'अवेदयत्' णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से अण्यन्त दशा का कर्त्ता णिजन्त की अवस्था में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है—(स्वान्)।

(3) आशयत् च अमतं देवान् —(देवताओं को अमत खिलाया)—'अश्' खाना अर्थ वाली धातु है। 'देवाः अमतं।' आश्नन्' (देवों ने अमत खाया) यह साधारण दशा का रूप है। 'आशयत्' णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से अण्यन्त अवस्था का कर्त्ता 'देवा' णिजन्त दशा में कर्म हो गया है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है—देवान्)।

(4) वदेमध्यापयद् विधिम्(ब्रह्मा को वेद पढ़ाया)—यहाँ 'इङ्' पढ़ना वाली धातु है। यह ऐसी धातु है, जिसका कर्म शब्द है (शब्दकर्मक)[१]। 'विधिः देवम् अध्यैत' (ब्रह्मा ने वेद पढ़ा)—'हरिः विधिं वेदमध्यापयत्'। 'अध्यापयत्' णिजन्त का प्रयोग है। यहाँ साधारण दशा के कर्ता 'विधि' की उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा हो जाती है।

(5) आसयत् सलिले पथ्वीम् (पथ्वी को जल पर स्थित किया)—यह अकर्मक का उदाहरण है। आस् (बैठना) धातु अकर्मक है। 'आस सलिले पथिवी' (पथिवी सलिल पर स्थिति हुई)। 'तां हरिः आसयत्'—उसे हरि ने स्थित किया। इस प्रकार साधारण दशा का 'कर्त्ता' पथिवी है। 'आसयत्' यह णिजन्त का प्रयोग है। उपर्युक्त नियम से साधारण दशा के कर्त्ता पथिवी को कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है।

---

१. 'शब्दः कर्मकारकं येषां ते शब्दकर्मकाः'—शब्द है कर्म कारक जिनका वे शब्दकर्मक कहलाती है।

श्लोक का अर्थ यह है—जिस श्री हरि ने शत्रुओं को वेद पढ़ाया और पथिवी को जल पर स्थिति किया वह हरि मेरी गति है।

गतीत्यादि किमिति—गति आदि अर्थ वाली धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता को ण्यन्त अवस्था में कर्म संज्ञा होती है, यह क्यों कहा? इसलिये कि इनसे भिन्न धातुओं में यह नियम नहीं लगता। अतएव 'पाचयति ओदनं देवदत्तेन' यहाँ देवदत्त की कर्म संज्ञा नहीं होती, अपितु धातु की साधारण दशा का कर्त्ता 'देवदत्त' (देवदत्तः ओदनं पचति) प्रेरणार्थक दशा में कर्त्ता ही (प्रयोज्य कर्ता) रहता है और उसमें ''कर्तकरणयोस्ततीया'' 2।3।18 से ततीया विभक्ति होती है।

अण्यन्तानां किम् इति—(सूत्र में) अणि अर्थात् अणिजन्त अवस्था के कर्त्ता को कर्म हो, यह क्यों कहा है? इसलिये कि यदि णिजन्त अवस्था के कर्त्ता को कोई अन्य प्रेरित करे तो उसकी कर्म संज्ञा नहीं होगी, जैसे—

(क) 'यज्ञदत्त गच्छति'— यहाँ साधारण दशा में 'यज्ञदत्त' कर्त्ता है।

(ख) 'गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तम्'— यहाँ अण्यन्त के कर्त्ता 'यज्ञदत्त' की ण्यन्त दशा में कर्म संज्ञा हो गई है।

(ग) 'देवदत्तम् अपरः (विष्णुमित्रंः) प्रयुङ्क्ते'— देवदत्त को भी विष्णुमित्र प्रेरित करता है—'गमयति देवदत्तन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः—यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होगी, क्योंकि वह णिजन्त का कर्ता है अणिजन्त का नहीं और, ऊपर के सूत्र से अण्यन्त (अणिजन्त) के कर्ता की ही कर्म संज्ञा होती है।

***(वा) वह्योर्न**

नाययति वाहयति वा भारं भत्येन।।

व्याख्याः 'नी' 'वह्' (ले जाना) णिजन्त धातुओं के प्रयोज्य कर्त्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती। जैसे —'भत्यो भारं नयति, वहति वा' यहाँ 'भत्य' साधारण दशा का कर्त्ता है अर्थात् प्रयोज्य कर्त्ता है। 'नाययति, वाहयति वा भारं भत्येन' यहाँ णिजन्त के प्रयोग में भत्य की कर्म संज्ञा नहीं होती अपितु वह कर्त्ता ही रहता है और कर्त्ता में ततीया होती है [नी—वह धातुओं का अर्थ है प्रापण (पहुँचाना—गति कराना) अतः यहाँ गत्यर्थक होने से ऊपर का नियम प्राप्त था]।

***(वा) नियन्तकर्तकस्य वहेरनिषेधः वाहयति रथं वाहान् सूतः।**

व्याख्याः जहाँ 'वह्' धातु का कर्ता 'नियन्त' (हाँकने वाला) होगा। वहां कर्म संज्ञा का निषेध नहीं होता। जैसे— 'वाहाः (आश्वाः) रथं वहन्ति' तान् नियन्ता (सारथि) प्रेरयति—

'वाहयति रथं वाहान् सूतः'—(सारथि अश्वों द्वारा रथ को ले जाता है)—यहाँ 'वाह' (प्रयोज्य कर्ता) की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति हो ही जाती है।

*** (वा) आदिखाद्योर्न आदयति खादयति वान्नं वटुना।**

व्याख्याः **आदिखाद्योर्न (वा)**— अण्यन्त अद् और खाद् धातु के कर्ता को उनके ण्यन्त प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती। अतएव प्रयोज्य कर्ता में ततीया होती है; जैसे—

आदयति, खादयति वा अन्नं वटुना (बालक को अन्न खिलाा है)—वटुः अन्नम् अत्ति (खादति वा) तम् अन्यः प्रेरयति—यहाँ अद् और खाद् धातु के भक्षणार्थक होने के कारण सूत्र (गतिबुद्धि0) से 'वटु' की कर्म संज्ञा प्राप्त थी। प्रस्तुत वार्तिक के अनुसार वह कर्म संज्ञा नहीं होती। अतएव 'वटु' कर्ता ही रहता है और उसमें ततीया विभक्ति होती है।

*** (वा) भक्षेरहिंसार्थस्य न**

भक्षयत्यन्नं वटुना। अहिंसार्थस्य किम्? भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्।

व्याख्याः **भक्षेरहिंसार्थस्य न (वा)**— जब भक्ष् धातु का भाव हिंसा (पीड़ा देना या हानि पहुँचाना) नहीं होता तो उसके साधारण दशा के कर्ता को णिजन्त के प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती। जैसे—

भक्षयति अन्नं वटुना—''वटुकः अन्नं भक्षयति'' (वटु अन्न खाता है) उसे दूसरा प्रेरित करता है—''भक्षयति अन्नं वटुना।'' यहाँ भी कर्म संज्ञा नहीं होती तथा कर्ता में ततीया विभक्ति ही होती है।

अहिंसार्थस्य किमिति— जहाँ 'भक्ष' धातु के भाव से हिंसा प्रकट होती है वहाँ इसके प्रयोज्य कर्ता की कर्म सां हो ही जाती है अतएव 'बलीवर्दान्' में द्वितीया होती है। अन्न की हानि ह्रदय को पीड़ा पहुँचाती है इसीलिये यहाँ हिंसा है।

*** (वा)जल्पतिप्रभतिनामुपसंख्यानम् जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः।।**

व्याख्याः **जल्पतीति (वा)**—जल्पति आदि का अण्यन्त अवस्था में जो कर्ता होता है उसकी णिजन्त दशा में कर्म संज्ञा हो जाती है, यह भी कहना चाहिये। जैसे—'पुत्रो धर्मं जल्पति भाषते वा'। पुत्र को देवदत्त प्रेरणा देता है तो प्रयोग होगा—'जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदंत्तः।' यहाँ इस वार्तिक के अनुसार पुत्र की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) दशेश्च**

दर्शयति हरिं भक्तान्। सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते। तेन स्मरतिजिघ्रतीत्यादीनां न। स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन।।

व्याख्याः दशेश्च (वा)— दश् (देखना) धातु का साधारण दशा का कर्ता प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्मसंज्ञक हो जाता है। जैसे—'भक्ताः हरिं पश्यन्ति।' उन्हें गुरु प्रेरित करता है—'दर्शयति हरिं भक्तान्'। यहाँ इस नियम से 'भक्त' की कर्म संज्ञा होती है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानाम् इति—(गतिबुद्धि आदि) सूत्र में बुद्धि शब्द से ज्ञानसामान्यवाची बुध्, ज्ञा आदि धातुओं का ही ग्रहण होता है, ज्ञानविशेष का वाचक स्मरति, जिघ्रति आदि का नहीं; यह 'दशेश्च' वार्त्तिक से (अनेन) पता चलता है। यदि ज्ञानविशेष की वाचक धातु भी बुद्धि शब्द से ली जाती तो इस वार्त्तिक की आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि नेत्रों से होने वाला ज्ञान ही दर्शन है। इस ज्ञापक का फल यह होता है (तेन) कि——'स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन्' यहाँ 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होती।

*** (वा) शब्दायतेर्न. शब्दाययति देवदत्तेन. धात्वर्थसंगहीतकर्मत्वेनाकर्मकत्वात्प्राप्तिः. येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न संभवति तेत्राकर्मकाः. न त्ववि क्षितकर्माणोपि . तेन मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवत्येव. देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु न।**

व्याख्याः शब्दायेतर्न (वा)— 'शब्दाय' धातु के कर्त्ता की प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्म संज्ञा नहीं होती। 'शब्दाय' यह नाम धातु है। शब्दं करोति इस अर्थ में शब्द+क्यङ् (शब्दवैर0 3.2.17) = शब्दाय। इससे णिच् होकर शब्दाययति बनता है।

शब्दाययति देवदत्तेन 'शब्दायते देवदत्तः' (देवदत्त शब्द करता है) उसको कोई प्रेरणा देता है 'शब्दाययति देवदत्तेन' यहाँ धातु के अर्थ में शब्द रूपी कर्म संगहीत हो गया है अतः यह धातु अकर्मक है और अकर्मक होने के कारण गति० आदि सूत्र से प्रेरणार्थक के प्रयोग में साधारण दशा के कर्त्ता को कर्म संज्ञा प्राप्त होती है। इस वार्त्तिक से उस कर्म संज्ञा का निषेध हो जाता है तथा 'देवदत्तेन' में कर्त्ता में ततीया विभक्ति होती है।

येषामिति-(क) इस सूत्र में अकर्मक धातु वे मानी गई हैं, जिनका देश काल आदि से भिन्न कर्म सम्भव नही।।

(ख) जो धातुएँ कर्म की अविवक्षा होने के कारण अकर्मक हो जाती हैं, वे यहाँ अकर्मक नहीं मानी गई। इसका फल यह होता है—

(1) मासमासयति देवदत्तम्—'मासमास्ते देवदत्तः' उसको दूसरा कोई प्रेरणा देता है—'मासमासयति देवदत्तम्'—यहाँ 'आस्' धातु का यद्यपि 'मास' (काल) कर्म है तथापि वह अकर्मक मानी गई है; कयोंकि 'आस्' धातु का देश काल आदि से भिन्न कर्म नहीं हो सकता। इसलिये इसका साधारण दशा का कर्त्ता 'देवदत्त' प्रेरणार्थक के प्रयोग में कर्मसंज्ञाक हो जाता है और उसमें द्वितीया होती है।

(2) देवदत्तेन पाचयति—'देवदत्तः पचति' यहाँ कर्म अविवक्षित है तथापि पच् धातु अकर्मक नहीं मानी जाती, अतएव 'देवदत्तेन पाचयति' में 'देवदत्त' की कर्म संज्ञा नहीं होती और कर्त्ता में ततीया हो जाती है।

टिप्पणी— व्याकरण शास्त्र की दष्टि से क्रियायें चार प्रकार से अकर्मक होती हैं— 1. धातु का अन्य अर्थ में प्रयोग होने से, जैसे—'वहति भारम्' यहाँ 'वहति' 'प्रापण' (ले जाना) अर्थ में सकर्मक है किंतु 'नदी वहति', यहाँ अर्थ

(स्यन्दन, बहना) में अकर्मक हो जाती है। 2. कर्म के प्रसिद्ध होने से, जैसे—'मेघो वर्षति' यहाँ बरसने का कर्म (जल) प्रसिद्ध ही है। 4. कर्म को न कहने की इच्छा (अविवक्षा) से; जैसे— ''हितान्न संश्रणुते सः किं प्रभुः'' यहाँ 'संश्रणुते' अकर्मक है क्योंकि इसका कर्म अविवक्षित है। कहा भी है—

धातोरथान्तरे वत्तेधात्वर्थेनोपसंग्रहात्।
प्रसिद्धेरविवक्षात कर्मणोकर्मिका क्रिया।।

ह्रक्रोरन्यतरस्याम् 1.4.53

ह्रक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात्। हारयति कारयति वा भत्यं भ त्येन वा कटम्।

व्याख्याः ह्रकोरन्यतरस्याम् इति—ह्र (ले जाना), कृ (करना) धातुओं का साधारण दशा का जो कर्ता है वह णिजन्त (प्रेरणार्थक) के प्रयोग में विकल्प से कर्मसंज्ञक होता है।

टिप्पणी— ह्र तथा कृ धातु का गति आदि अर्थ वाली धातुओं में अन्तर्भाव नहीं होता अतः यह अप्राप्त—विभाषा है। ह्र धातु जहाँ भोजन अर्थ में होती है (= अभ्यवहरति) तथा कृ धातु अकर्मक (विकुरुते), वहाँ यह प्राप्त—विभाषा है। इस प्रकार यहा प्राप्ताप्राप्त = उभयत्र विभाषा है।

कारयति भत्यं भत्येन वा कटम्—(भत्य से चटाई बनवाता है)—'भत्यः कटं करोति' (भत्य चटाई बनात है) उसे स्वामी प्रेरणा देता है— ''कारयति भत्यं, भत्येन वा कटम्'' (वह नौकर से चटाई बनवाता है)—जब कर्म संज्ञा नहीं होती तो कर्त्ता में ततीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'हारयतिं भत्यं भत्येन वा कटम्, (नौकर से चटाई ढुलवाता है)।

*** (वा) अभिवादिदशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्**

अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तेन वा।।

व्याख्याः अभिवादिदशोति (वा)— अभिपू र्वक वद् धातु तथा दश् धातु का साधारण दशा का कर्त्ता, णिजन्त के आत्मनेपद के प्रयोग में विकल्प से कर्म हो जाता है।

अभिवादयते देवं भक्तः' (देव भक्त को प्रणाम करता है) उसे कोई प्रेरित करता है—'अभिवादयते देवं भक्तम् भक्तेन वा'— यहाँ कर्म संज्ञा प्राप्त नहीं होती है। पक्ष में कर्ता में ततीया होती है। इसी प्रकार ''पश्यति देवं भक्तः' दर्शयते भक्तं देवं भक्तेन वा'' यह 'दशेश्च' वार्तिक से नित्य कर्म संज्ञा प्राप्त थी। इस वार्तिक से विकल्प से कर्म संज्ञा दिखलाई गई है।

टिप्पणी—अभिवादयते, दर्शयते—यहाँ णिचश्च 1.3.14 से विकल्प से आत्मनेपद होता है। जब आत्मनेपद नहीं होता तब 'अभिवादयति देव भक्तेन' यहाँ कर्ता में ततीया होती है तथा दर्शयति देवं भक्तम्' यहाँ 'दशेश्च' से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

अधिशीङ्स्थासां. 1.4.46

अधिपूर्वाणामेषाधारः कर्म स्यात्। अधिशेते अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः।।

व्याख्याः अधिशीङ् इति— अधि उपसर्गपूर्वक शीङ् (सोना), स्था (ठहरना), आस् (बैठना) धातुओं के आधार की कर्म संज्ञा होती है। यहाँ 'आधारोधिकरणम् 1.4.45 से 'आधार' शब्द की अनुवत्ति होती है। इसी प्रकार आगे के दो सूत्रों में भी।

अधिशेते वैकुण्ठं हरिः—यहाँ वैकुण्ठ अधिशयन का आधार है। इसकी उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा हो जाती है तथा कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः, 'अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिः'।

अभिनिविशश्च. 1.4.47

अभिनीत्येतत्संघातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात्। अभिनिविशते सन्मार्गम्। परिक्रयणे संप्रदानम्-।1।4।44 इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्यान्यतरस्यांग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभषाश्रयणात् क्वचिन्न। पापेभिनिवेशः।।

व्याख्याः अभिनिविशश्च—अभि तथा नि उपसर्ग जब दोनों एक साथ इसी क्रम से (संघातरूप) विश् धातु में लगते हैं तब विश् धातु का आधार कर्म–संज्ञक हो जाता है।

अभिनिविशते सन्मार्गम्— (सन्मार्ग में लगता है) यहाँ 'सन्मार्ग' की उपर्युक्त नियम से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो जाती है।

पापेभिनिवेशः—यहाँ 'पाप' अभि नि पूर्वक विश् धातु का आधार है अतः ''अभिनिविशश्च'' नियम के अनुसार 'पाप' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होनी चाहिये, किन्तु 'परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् (1।4।44) सूत्र से मण्डूकप्लुति (मेढक के समान कूदकर अर्थात् बीच के सूत्रों में जाकर) से 'अन्यतरस्याम्' (वा, विकल्प से) इस सूत्र में ले लिया जाता है और उस विकल्प (विभाषा) को व्यवस्थिति विभाषा (अर्थात् कहीं होना, कहीं नहीं) मानकर कहीं यह नियम (अभिनिविशश्च) नहीं भी लगता। इसी से 'पापेभिनिवेशः'' में पाप की कर्म संज्ञा तथा द्वितीया नहीं होती अपितु आधार में सप्तमी होती है।

उपान्वध्याङ्वसः 1.4.48

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात्। उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः।।

व्याख्याः उपान्वध्याङ् वसः— उप, अनु, अधि, आ उपसर्गपूर्वक वस्–धातु का आधार कर्म हो जाता है।

उपवसति वैकुण्ठं हरि—(हरि वैकुण्ठ में बसते हैं)—यहाँ वैकुण्ठ उपपूर्वक 'वस्' धातु का आधार है। उपर्युक्त नियम से 'वैकुण्ठ' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'अनुवसति वैकुण्ठं हरिः' 'अधिवसति वैकुण्ठं हरिः', आवसति वैकुण्ठं हरिः'।

(वा) अभुक्त्यर्थस्य न वने उपवसति।।

व्याख्याः अभुक्त्यर्थस्य न (वा)—जब उपपूर्वक 'वस्' धातु का अर्थ 'उपवास करना' (न खाना) होता है तो उसके आधार की कर्म संज्ञा नहीं होती।

वने उपवसति—(वन में उपवास करता है)— यहाँ उपपूर्वक 'वस्' धातु का प्रयोग है। 'वन' उसका आधार है। 'उपान्वध्याङ् वसः' सूत्र के अनुसार यहाँ कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति प्राप्त थी किंतु इस वार्त्तिक के अनुसार उपवास अर्थ होने के कारण 'वन' की कर्म संज्ञा नहीं होती तथा अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है।

उपपद द्वितीया विभक्ति-ऊपर जो द्वितीया विभक्ति दिखलाई गई है, वहाँ 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' आदि सूत्रों से कर्म संज्ञा होकर 'कर्मणि द्वितीया' 2.3.2 से कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है। अतः वह 'कारक' विभक्ति है।

कभी–कभी उपपद (= पास में उच्चारण किये गये पद) के निमित्त से भी द्वितीया आदि विभक्तियाँ हुआ करती हैं। वे 'उपपद विभक्ति' कही जाती है। उपपद विभक्ति षष्ठी का अपवाद होती है। जैसे–

(वा) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिशुं त्रिषु। द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोन्यत्रापि दश्यते उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपर्युपरि लोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोधो लोकम्।।

व्याख्याः उभसर्वतसोरिति (वा)— वार्त्तिक में चार वाक्यांश है। उनके अर्थ इस प्रकार हैं–1. उभसर्वतसोः द्वितीया कार्या–जब उमी और सर्व शब्द से परे 'तस्' प्रत्यय होता है तो उसके योग में द्वितीया विभक्ति करनी चाहिये। 2. धिक् शब्दस्य द्वितीया कार्या–धिक् शब्द के योग में द्वितीया, 3. उपर्यादिषु आम्रेडितान्तेषु द्वितीया कार्या–'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' 8.1.7 में कहे हुए तीन शब्द उपरि, अधि तथा अधः है। जहाँ द्विरुक्ति होती है वहाँ दूसरे को 'आम्रेडित' कहते हैं। उपर्यध्यधसः0 सूत्र से सामीप्य अर्थ में उपरि आदि के स्थान में 'उपरि–उपरि' आदि द्विरुक्त प्रयोग का विधान किया गया है। प्रस्तुत नियम से उनके साथ द्वितीया विभक्ति होनी चाहिये, 4. ततोन्यत्रापि दश्यते–इनसे अन्य स्थलों पर भी द्वितीया देखी जाती है। क्रमशः उदाहरण ये हैं–

(1) उभयतः कृष्णं गोपाः (कृष्ण के दोनों ओर गोपाल हैं)—यहाँ उभयतः के योग में उपर्युक्त नियम से 'कृष्ण' शब्द से द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'सर्वतः कृष्णम्।'

(2) धिक् कृष्णाभक्तम् (कृष्ण के अभक्त को धिक्कार है)—यहाँ धिक् शब्द के योग में 'कृष्णाभक्तम्' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

टिप्पणी—धिक् के योग में प्रथमा का भी कभी—कभी प्रयोग होता है, जैसे—धिगियं दरिद्रता।

(3) उपर्युपरि लोकं हरिः— {हरि लोक के ठीक (समीप) ऊपर हैं,} यहाँ उपर्युक्त नियम से 'लोक' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'अध्यधि लोकम्'— (संसार के समीप देश में) तथा 'अधोधो लोकम्' (संसार के ठीक नीचे) में 'लोक' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

(वा) अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेपि। अभितः कृष्णम। परितती कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। 'तस्य शोच्यते' इत्यर्थः। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किचिंत्।।

व्याख्याः 'अभितः इति (वा)— अभितः (दोनों ओर, सब ओर) परितः (चारों ओर, सब ओर) समया, निकषा (समीप), हा (हाय), प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है (अन्यत्रापि दश्यते की व्याख्या मात्र ही यह वार्त्तिक है)।

अभितः कृषणम (कृष्ण के दोनों ओर—यहाँ अभितः के योग में कृष्ण शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'परितः कृष्णम्, (कृष्ण के चारों ओर या सब ओर) 'ग्रामं समया' (ग्रम के समीप), 'निकषा लङ्काम', (लङ्का के निकट), 'हा कृष्णाभक्तम्' हाय कृष्ण का अभक्त) वह शोचनीय है, यह अर्थ है। ''बुभुक्षितं न प्रतिभाति किचिंत्'' (भूखे को कुछ भी नहीं सूझता) इन सभी के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

अन्तरान्तरेण युक्ते. 2.3.5

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्। अन्तरा त्वां मां हरिः। अन्तरेण हरिं न सुखम्।।

व्याख्याः अन्तरान्तरेण युक्ते—(अन्तरा का अर्थ है—'बीच में 'मध्य में') अन्तरेण का अर्थ है—'मध्य में 'विषय में' विना।' अन्तरा तथा अन्तरेण के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

अन्तरा त्वां मां हरिः (तेरे और मेरे मध्य में हरि है)—यहाँ अन्तरा के योग में 'त्वाम्' और 'माम्' शब्दों में द्वितीया विभक्ति होती है।

अन्तरेण हरिं न सुखम् (हरि के विना सुख नहीं।—यहाँ 'अन्तरेण' के योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति होती है।

कर्मप्रवचनीयाः. 1.4.53

इत्यधिकृत्य।।

व्याख्याः कर्मप्रवचनीयाः इति— इसका अधिकार करके —कर्मप्रवचनीयाः, यह अधिकार सूत्र है। आगे 'विभाषा कृञि 1.4.98 तक के सूत्रों में इस पद का सम्बन्ध होता है।

पाणिनि व्याकरण में कुछ उपसर्गों की विशेष स्थलों पर कर्मप्रचवनीय संज्ञा की गई है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। जो पहले क्रिया को कह चुके हैं 'कर्म क्रियां प्रोक्तवन्तः' वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हें। उपसर्ग अवस्था में ये क्रिया के अर्थ के द्योतक होते थे। क्रिया के पहले ही इनका प्रयोग होता था किंतु अब क्रिया से पथक् स्वतन्त्र रूप में इनका प्रयोग हुआ करता है ये क्रिया के द्योतक नहीं होते, न सम्बन्ध के वाचक होते हैं, न किसी क्रिया पद का आक्षेप ही कराते हैं किंतु (वाक्यस्थ पदों के) सम्बन्ध में भेद कराने वाले होते हैं[१]। अर्थात् विभक्ति—विधान के निमित्त होते हैं।

अनुर्लक्षणे. 1.4.84

लक्षणे द्योत्येनुरुक्तसंज्ञः स्यात्। गत्युपसर्गसंज्ञापवादः।

---

१. क्रियाया द्योतको नायं, सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रिया पदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः।। (वाक्यपदीय)

व्याख्याः अनुर्लक्षणे—किसी लक्षण को द्योतित करने में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जिससे कोई बात जानी जाती है, उसे लक्षण (सूचक) कहते हैं—'लक्ष्यते ज्ञायतेनेनति' लक्षणम्। यहाँ हेतु के रूप में होने वाला लक्षण विवक्षित है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है अर्थात् लक्षण अर्थ में अनु की गति और उपसर्ग संज्ञा न होकर कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया। 2.3.8

एतेन योगे द्वितीया स्यात्। पर्जन्यो जपमनु प्रावर्षत्। हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः। परापि हेताविति ततीयानेन बाध्यते। लक्षणेत्थंभूत- इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात्।

व्याख्याः कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया—कर्मप्रवचनीय के योग में द्वितीया विभक्ति होती है।

पर्जन्यो जपमनुप्रावर्षत्—इसका अर्थ है—हेतु रूप जप से उपलक्षित वर्षा, अर्थात् जप करने से उसके पश्चात् वर्षा हुई। यहाँ हेतु और ज्ञापकता (लक्षण) दोनों द्वितीया के अर्थ हैं, ये दोनों 'अनु' द्वारा प्रकट होते हैं। उपर्युक्त नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'जप' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है।

परापि हेतौ ततीयेति—यद्यपि हेतौ—सूत्र से होने वाली ततीया इससे परे है और पाणिनि व्याकरण में दो तुल्य कार्यों का विरोध होने पर परे वाला कार्य होता है[२]। तथापि उसे बाध कर 'जपमनु' में द्वितीया ही होती है, क्योंकि 'लक्षणेत्थं' 1.4.90 से अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ही जाती फिर 'अनुर्लक्षणें 1.4.84' से लक्षण अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा कहने की क्या आवश्यकता थी। यह संज्ञा इसलिये की गई है क लक्षण द्योतित करने में द्वितीया ही होनी चाहिये, ततीया नहीं।

ततीयार्थे . 1.4.85

अस्मिन् द्योत्येनुरुक्तसंज्ञः स्यात। नदीमन्ववसिता सेना। नद्या सह संबद्धेत्यर्थः।। षि् बन्धे क्तः।।

व्याख्याः ततीयार्थे—जब 'अनु' ततीया के अर्थ अर्थात् सहभाव को प्रकट करता है तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

नवीमन्ववसिता सेना—इसका अर्थ है—''सेना नदी के साथ सम्बद्ध है।' 'नदीम् अनु अवसिता' में 'अवसित' शब्द अव उपसर्ग पूर्वक षि् बन्धने धातु से 'क्त' प्रत्यय होकर बना है अतः 'सम्बद्ध' अर्थ होता है। यहाँ ऊपर के नियम से 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में 'नदीम्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

हीने 1.4.86

हीने द्योत्येनुः प्राग्वत्। अनु हरिं सुराः हरेर्हीना इत्यर्थः।।

व्याख्याः हीने—हीनता को द्योतित करने में अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

अनु हरिं सुराः—इसका अर्थ है देवलोग हरि से हीन हैं घटकर हैं। यहाँ अनु हीन अर्थ को द्योतित करता है अतः इसकी कर्मप्रवचीनय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। जिस शब्द में द्वितीया होती है उससे भिन्न पदार्थ की हीनता प्रकट हुआ करती है। यहाँ हरि की अपेक्षा देवों की हीनता प्रकट हो रही है।

उपोधिके च 1.4.87

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात्। अधिके सप्तमी वक्ष्यते। हीने, उप हरिं सुराः।।

व्याख्याः उपोधिके च —अधिक या हीन का अर्थ द्योतित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। जब वह 'अधिक' अर्थ को द्योतित करता है तो सप्तमी होती है, यह आगे कहा जायेगा।

उप हरिं सुराः—(देवता हरि से कम है)—यहाँ हीन अर्थ को द्योतित करने में 'उप' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा इसके योग में 'हरि' से द्वितीया विभक्ति होती है।

---

२. विप्रतिषेये परं कार्यम् १।४।२।।

लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः1.4.9

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे, वक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थंभूताख्याने, भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा। भागे, लक्ष्मीर्हरिं प्रति पर्युनु वा। हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्, वक्षं वक्षं प्रति पर्यनु वा सिचति। अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम्? परिषिचति।।

व्याख्याः लक्षणेत्थम् इति–लक्षण, इत्थभूताख्यान, भाग और वीप्सा आदि अर्थों में प्रति, परि तथा अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

(1) वक्ष प्रति विद्योतते विद्युत्–(वक्ष की ओर बिजली चमकती है)–यहाँ वक्ष बिजली चमकने को लक्षित करता हैं यह लक्षण (ज्ञापक) हैं 'प्रति' लक्षण को प्रकट करता है अतः प्रति की उपर्युक्त नियम से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'वक्ष' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'वक्षं परि, वक्षम् अनु विद्योतते विद्युत्'।

भक्तो विष्णुं प्रति (विष्णु के प्रति भक्त है)–यह इत्थंभूताख्यान का उदाहरण है। 'इत्थं' का अर्थ है–इस प्रकार। इत्थंभूः–इस प्रकार का हुआ। जहाँ 'यह इस प्रकार का है' इसका आख्यान (कथन) किया जाता है वहाँ 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'भक्तो विष्णुं परि', भक्तो विष्णुम् अनु'।

लक्ष्मीर्हरिं प्रति–इसका अर्थ है–लक्ष्मी हरि का भाग रहा अर्थात् लक्ष्मी हरि की प्राप्त हो। यहाँ लक्ष्मी के प्रति हरिं का स्वामित्व 'प्रति' आदि से द्योतित होता है अतः 'भाग' अर्थ में उपर्युक्त नियम से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और उसके योग में 'हरि' शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'लक्ष्मीः हरिं परि' 'लक्ष्मीः हरिम् अनु'।

वक्षं वक्षं प्रति सिचति (प्रत्येक वक्ष को सींचता है)–यह वीप्सा का उदाहरण है। वीप्सा का अर्थ है–'व्याप्तुमिच्छा' अर्थात् किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध करने की इच्छा। किसी वस्तु को दो बार कहा जाए उसे वीप्सा कहते हैं। यहाँ वीप्सा अर्थ में 'प्रति' आदि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है।अतएव उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती। उपसर्ग संज्ञा का अभाव होने से 'प्रति सिचति' यहाँ 'स्' को 'ष्' नहीं होता। उपसर्ग से परे होने पर ही ''उपसर्गत् सुनोति0 8।3।35। सूत्र से षत्व होता है। यहाँ वक्षं में द्वितीया विभक्ति कर्म में ही होती है। इसी प्रकार 'वक्षं वक्षं परि–सिचति' वक्षं वक्षम् अनुसिचति।'

एषु किमिति–'लक्षण' आदि चार अर्थो के विषय में ही प्रति आदि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि इनसे भिन्न अर्थ में नहीं होती, अतएव 'परिषिचति' में लक्षण आदि अर्थ न होने के कारण 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। उसकी उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'स्' को 'ष्' हो जाता है।

अभिरभागे. 1.4.91

भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिंमभि वर्तते। भक्तो हरिमभि। देवं देवमभिसिचति। अभागे किम्? यदत्र ममाभिष्यात्तद्दीयताम्।।

व्याख्याः अभिरभागे–भाग को छोड़कर ऊपर कहे हुए शेष तीन अर्थों के विषय में अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

(1) हरिमभि वर्तते–(लक्षण) (2) भक्तो हरिमभि (इत्थंभूताख्यान) यहाँ 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उसके योग में द्वितीया होती है।

(3) देवं देवमभिसिचति (वीप्सा)। यहाँ 'स्' को ष् नहीं होता।

अभागे किमिति–भाग अर्थ के विषय में 'अभि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि 'यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम्' (जो यहाँ मेरा भाग हो वह दीजिये) यहाँ 'अभि' की उपसर्ग संज्ञा ही रहती है और 'स्यात्' में स् को ष् हो जाता है (उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः 8.3.47

अधिपरी अनर्थकौ.1.4.93

उक्तसंज्ञौ स्तः कुतोध्यागच्छति। कुतः पर्यागच्छति। गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ 8.1.70 इति निधातो न।।

व्याख्याः अधिपरी अनर्थकौ—अनर्थक अधि और परि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है।

कुतोयमागच्छति- (वह कहाँ से आता है?) —यहाँ 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से 'गति' संज्ञा नहीं होती। गति संज्ञा के न होने से (गतिसंज्ञाबाधात्) गतिर्गतौ 8.1.70 इस सूत्र से 'अधि' को आ (आ.आ+गच्छति) परे हाने पर सर्वानुदात्त (निघात) नहीं होता। आगच्छति में 'आ' गतिसंज्ञक है।

टिप्पणीः 'निधात' शब्द का अर्थ है—सर्वानुदात्त (अर्थात् किसी शब्द के सभी स्वरों का अनुदात्त स्वर हो जाना)।

सुः पूजायाम. 1.4.94

सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुपसर्गत्त्वान्न षः। पूजायां किम्? सुषिक्तं किं तवात्र। क्षेपोयम्।।

व्याख्याः सुः पूजायाम्—पूजा अर्थ में सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

सुसिक्तम्—'भली भाँति सींचा गया' पूजा का अर्थ यहाँ प्रशंसा है। यहाँ सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से इसकी उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती तथा उपसर्ग संज्ञा के अभाव में स् को ष् नहीं होता। इसी प्रकार 'सुस्तुतम्'।

पूजायां किमिति—पूजा अर्थ में ही सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। ऐसा क्यों? इसलिये कि ''सुषिक्तं किं स्यात् तवात्र'' अर्थात् वह क्या है जिसे तुमने अच्छी तरह सींचा है। यहाँ क्षेप (निन्दा) का भाव निकलता है अतः 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती तथा उपसर्ग संज्ञा हो जाती है। उपसर्ग संज्ञा हो जाने से 'सुषित्त' में 'स्' को 'ष्' हो जाता है।[1]

अतिरति क्रमणे च. 1.4.95

अतिक्रमणे पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्। अति देवान् कृष्णः।।

व्याख्याः अतिक्रमण तथा पूजा अर्थ में 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अतिक्रमण का अर्थ है— बढ़कर होना अथवा सीमा का लाँघना।

अति देवान् कृष्णः—(कृष्ण देवों से बढ़कर हैं या कृष्ण देवों के पूज्य हैं)। उपर्युक्त नियम से 'अति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर, उसके योग में 'देवान्' में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

अपिः पदार्थसंभावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु. 1.4.96

एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात्। सर्पिषोपि स्यात्। अनुपसर्गत्वान्न षः। संभावनायां लिङ्। तस्या एव विषयभूते भवने कर्तदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन संबध्यते। सर्पिष इति षष्ठी तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसंबन्धे। इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम। द्वितीया तु नेह प्रवर्तते। सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात्। अपि स्तुयाद्विष्णुम; संभावनं शक्तयुत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः अपि स्तुहि, अन्वसर्गः कामचारानुज्ञा। धिग्देवदत्तम्, अपि स्तुयाद् वषलम्, गर्हा। अपि सिच अपि स्तुहि; समुच्चये।।

व्याख्याः अपिः पदार्थ इति—पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा तथा समुच्चय इन अर्थों को द्योतित करने में 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अपि अप्रयुक्त पद के अर्थ को द्योतित करता है। सर्पिषोपि स्यात्' का अर्थ है—''सर्पिर्बिन्दुः स्यात्''। अपि बिन्दु का द्योतक है। इसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से उपसर्ग संज्ञा नहीं होती तथा 'स्यात्' के स् को ष् नहीं होता, क्योंकि वह उपसर्ग से परे ही हो सकता है।

सम्भावनायां लिङ् इति-सर्षिषोपि स्यात् में स्यात् शब्द अस् धातु से लिङ् लकार में बना है। यहाँ सम्भावना अर्थ में लिङ् लकार है। 'किस की संभावना'? संभवतः घी भी हो इस आकांक्षा में अस् धातु का अर्थ होना' (भवन या सत्ता) अस् (भुवि, भू सत्तायाम्) उस संभावना का विषय हो जाता है अर्थात् होने की संभावना है। तब होना (भवन) के कर्ता (बिन्दु) को ए०'अपि' द्योतित करता है और कर्ता की दुर्लभता के कारण 'होना' क्रिया की दुर्लभता को भी द्योतित करता है तथा उस (अपि) का अन्वय 'स्यात्' से हो जाता है। यहाँ 'अपि से बिन्दु अर्थ गम्यमान है।

सर्पिस् (घत) से बिन्दु का ''अवयवावयविभाव'' सम्बन्ध है अर्थात् सर्पिस् अवयवी है और बिन्दु अवयव है, इसी हेतु 'सर्पिषः' में षष्ठी विभक्ति है। यही अपि की पदार्थ –द्योतकता है। यहाँ अपि (कर्मप्रवचनीय) के योग में 'सर्पिस्' शब्द से द्वितीया विभक्ति नहीं होती, क्योंकि 'सर्पिस्' का बिन्दु से सम्बन्ध है 'अपि' से नहीं, यह कहा जा चुका है।

अपि स्तुयाद्विष्णुम् (क्या विष्णु की स्तुति कर सकेगा?)—यह सम्भावना का उदाहरण है। सम्भावना का अर्थ है—शक्ति के उत्कर्ष को प्रकट करने के लिये अत्युक्ति करना। यहाँ भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती और 'स्तुयात्' के 'स्' को 'ष्' (उपसर्गात् 8.3.65) नहीं होता।

अपि स्तुहि (अच्छा स्तुति करो अथवा नहीं)—यह अन्ववसर्ग का उदाहरण है। अन्ववसर्ग का अर्थ है—यथेष्ट कार्य करने की अनुमति देना। यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है—उपसर्ग संज्ञा का बाध हो जाना तथा स् को ष् न हो।

धिग्वेदत्तम् अपि स्तुयाद् वषलम् (देवदत्त को धिक्कार है, वह शूद्र की स्तुति करता है)—यहाँ गर्हा अर्थ 'अपि' द्वारा द्योतित किया गया है। गर्हा का अर्थ है—निन्दा। कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाने से (उपसर्गात् 8.5.65) षत्व नहीं होता।

अपि सिच, अपि स्तुहि (सींचो भी स्तुति भी करो) —यहाँ अपि द्वारा समुच्चय द्योतित किया गया है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा के कारण 'स्' को 'ष्' (उपसर्गात्0 8.3.65) नहीं होता।

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे. 2.3.5

इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी। मासमधीते। मासं गुडधानाः। क्रोशं कुटिला नदी। क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः। अत्यन्तसंयोगे किम्? मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः।। इति द्वितीया।

व्याख्याः काला ध्वनोरत्यन्तसंगोगे—अत्यन्त संयोग में समयवाची तथा मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है। अत्यन्तसंयोग का अर्थ है—निरन्तर संयोग। किसी गुण, क्रिया या द्रव्य का किसी काल या मार्ग में पूर्ण रूप से रहना।

मास कल्याणी (पूरे मास कल्याणकारिणी) यहाँ कल्याण (गुण) मास भर में लगातार रहता है—अतः उपर्युक्त नियम से मास (कालवाचक) में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार—

क्रोशं कुटिला नदी—(पूरे कोस तक नदी टेढ़ी है) यहाँ मार्गवाची 'क्रोश' से भी द्वितीया होती है।

मासमधीते—(पूरे मास पढ़ता है)—यहाँ अध्ययन क्रिया मास भर लगातार चलती है अतः मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार मार्गवाचक क्रोश शब्द से भी 'क्रोशमधीते' में द्वितीया होती है।

मासं गुडधानाः (पूरे मास गुड़धान हैं)—यहाँ गुड़धान (द्रव्य) पूरे मास लगातार चलते हैं अतः अत्यन्तसंयोग में मास शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'क्रोशं गिरिः' में भी।

अत्यन्तसंयोगे किम्—यदि गुण क्रिया और द्रव्य का कालवाचक या मार्गवाचक से निरंतर सम्बन्ध (अत्यन्तसंयोग) होता है तो कालवाची या मार्गवाची से द्वितीया विभक्ति होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि यदि कालवाची या मार्गवाची के एक अंश से गुण आदि का सम्बन्ध होगा तो द्वितीया विभक्ति न होगी। जैसे —मासस्य द्विरधीते (महीने में दो बार पढ़ता है) यहाँ अध्ययन क्रिया का मास से लगातार सम्बन्ध नहीं अतः मास से द्वितीया विभक्ति नहीं होती अपितु सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति ही होती है। इसी प्रकार 'क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः' में भी।।

द्वितीया विभक्ति समाप्त

ततीया विभक्ति

स्वतन्त्रः कर्त्ता 1.4.54

कियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोर्थः कर्ता स्यात्।

व्याख्याः क्रिया में स्वतंत्रता से विवक्षित पदार्थ कर्ता कहलाता है।

---

१. उपसर्गात् सुनाति० ८।३।३५।।

कारक विवक्षा के अधीन हैं, नियत नहीं–'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति', अतः क्रिया का जो आश्रय है उसे ही कर्ता कहते हैं, चाहे वह जड़ हो या चेतन। जैसे–'देवदत्तस्तिष्ठति, वक्षस्तिष्ठति'।

साधकतमं करणम्. 1.4.42

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणंसंज्ञं स्यात्। तमब्ग्रहण किम्? गङ्गायां घोषः।।

व्याख्याः क्रिया की सिद्धि में जो कारक सबसे अधिक प्रबल होता है उसकी करण संज्ञा होती है।

साधकतम शब्द का अर्थ है–प्रकष्ट उपकारक अर्थात् सबसे अधिक सहायक। जिस पदार्थ के द्वारा क्रिया की सिद्धि हो जाती है, वही प्रकृष्ट उपकारक है उसकी करण संज्ञा होती है।

तमब्ग्रहणं किमिति''साधकं करणम्', ऐसा ही कह देते, कारक का प्रकरण है ही और कारक और साधक पर्याय हैं अतः पुनः साधक ग्रहण से प्रकृष्ट साधक, यह समझ लिया जाता–फिर प्रकष्ट अर्थ को प्रकट करने के लिये तमप् प्रत्यय क्यों लगाया? इसलिये–क्रिया की सिद्धि में अनेक कारक प्रयुक्त होते हैं। उनमें जो सर्वाधिक समर्थ हो उसे करण कहते हैं। मप् ग्रहण करने से यह विदित होता है कि इस कारक प्रकरण में अन्वर्थ संज्ञा के बल से प्राप्त हुआ विशेष अर्थ नहीं लिया जाता। इस ज्ञापन का फल यह होता है कि 'आधारोधिकरणम्' से आधार मात्र की अधिकरण संज्ञा हो जाती है। केवल विशेष आधार की ही नहीं। अतः 'गङ्गायां घोषंः'–(गङ्गा के तट पर घोसी रहते हैं।) यहाँ भी अधिकरण संज्ञा होकर सप्तमी हो जाती है। अन्यथा 'तिलेषु तैलम् आदि में जहाँ पूर्णतया व्यापक आधार है वहीं सप्तमी होती।

कर्तकरणयोरततीया . 2.3.18

अनभिहिते कर्तरि करणे च ततीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो वाली।

व्याख्याः कर्त करणयोरिति–अनुक्त कर्ता और करण में ततीया विभक्ति होती है। जहाँ कर्मवाच्य और भाववाच्य का प्रयोग होता है वहाँ कर्ता अनुक्त होता है; जैसे –''लक्षम्या सेव्यते''। अतः यहाँ 'लक्षम्या' में ततीया विभक्ति है।

रामेण बाणेन हतो वाली– यहाँ 'हतः' में कर्मवाच्य में 'क्त' प्रत्यय हुआ है, राम का कर्तापन अनुक्त है; अतः राम से उपर्युक्त नियम से ततीया हो जाती है। अभिधान क्रिया के द्वारा होता है। यहाँ क्रिया कर्म वाली का अभिधान कर रही है, राम का नहीं। अतः राम अनमिहित है। मारने का प्रकृष्ट साधन बाण' है इसकी 'साधकतमं करणम्' से करण संज्ञा होकर इसमें भी ततीया विभक्ति होती है।

***(वा) प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्**

प्रकृत्या चारुः। प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः। समेनति। विषमेणैति। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति। सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि।।

व्याख्याः प्रकृत्यादिभ्य इति (वा)–प्रकृति आदि शब्दों से ततीया विभक्ति होती है।

प्रकृत्या चारुः (स्वभाव से सुन्दर)–यहाँ प्रकृति शब्द से ततीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार प्रायेण याज्ञिकः (प्रयः याज्ञिक है) गोत्रेण गार्ग्यः (गोत्र से गार्ग्य है), समेनेति (समगति से चलता है), विषमेणेति (विषम चलता है) आदि में भी ततीया विभक्ति होती है। ये शब्द प्रायः क्रियाविशेषण हैं। इन विशेष शब्दों के साथ ततीया भिक्ति नियत है। कहीं–कहीं ये करण के अर्थ को भी प्रकट करते हैं। जहाँ ये करण होते हैं वहाँ तो करण में ततीया हो जाती है।

द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति (दो द्रोण सम्बन्धी अन्न खरीदता है)–यहाँ ''दो द्रोण सम्बन्धी धान्य'' इस अर्थ में षष्ठी प्राप्त थी, उपर्युक्त नियम से ततीया विभक्ति होती है।

सूखेनदुःखेन वा याति (सुखपूर्वक या दुःखपूर्वक जाता है)–यहाँ 'सुख' आदि शब्द क्रियाविशेषण हैं क्रियाविशेषण में द्वितीया विभक्ति हुआ करती है उसके स्थान पर उपर्युक्त (प्रकृत्यादिभ्यः) नियम से ततीया विभक्ति हो जाती है।

टिप्पणीः 'प्रकृति' आदि गण आकृति गण है अर्थात् इस प्रकार की ततीया गणपाठ में अपठित शब्दों में भी देखी जाती है, इसलिय ''नाम्ना सुतीक्ष्ण'' ''चरितेन दानतः'' यहाँ भी ततीया होती है।

दिवः कर्म च. 1.4.43

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसंज्ञम्। अक्षैरक्षान्वा दीव्यति।।

व्याख्याः दिव् (जुआ खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है और करण संज्ञ भी।

अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति–(पासों से खेलता है)—यहाँ अक्ष (पासे) जुआ खेलने के साधन हैं, अतः करण संज्ञा होकर ततीया ही होनी चाहिये थी। इस नियम से विकल्प से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी होती है।

अपवर्गे ततीया . 2.3.6

अपवर्ग फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ततीया स्यात्। अह्ना क्रोशेन वानुवाकोधीतः। अपवर्गे किम्? मासमधीतो नायातः।।

व्याख्याः अपवर्ग का अर्थ है–फल–प्राप्ति। फल–प्राप्ति या कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से अत्यन्त–संयोग में ततीया विभक्ति होती है।

टिप्पणीः इस सूत्र के अर्थ में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'। 2.3.5 सूत्र का संबंध किया जाता है तभी यह अर्थ होता है। यह ततीया विभक्ति द्वितीया का बाधक है।

अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोधीतः—(दिन भर या कोस भर निरन्तर कार्य करके अनुवाक पढ़ लिया)—जितने समय या मार्ग में कार्य पूरा हो जाता है उस कालवाची या मार्गवाची शब्द से ततीया विभक्ति होती है। यदि दिन भर में अनुवाक नाम का वेद का अंश पूरा पढ़ लिया तो कालवाची अहन् (दिन) शब्द से ततीया विभक्ति होगी तथा मार्गवाची 'क्रोश' शब्द से भी। इसी प्रकार 'द्वादशवर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' आदि प्रयोग समझने चाहियें।

अपवर्गे किमिति–'फल प्राप्ति होने पर' ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि निरन्तर कार्य करते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं होती तो कालवाची या मार्गवाची से ततीया नहीं होती अपितु पहले नियम के अनुसार (कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे) द्वितीया ही होती है। जैसे–मासमधीतो नायातः–'मास भर निरन्तर पढ़ा किन्तु आया नही।' यहाँ मास' में द्वितीया ही होती है।

सहयुक्तेप्रधाने च .2.3.19

सहार्थेन युक्ते अप्रधाने ततीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकं-सार्धं-समंयोगेपि'। विनापि तद्योगं ततीया। 'वद्धो यूना। 1.2.65 इत्यादिनिर्देशात्।।

व्याख्याः साथ (सह) के अर्थ के योग में अप्रधान (अर्थात् वाक्य के प्रधान कर्ता का साथ देने वाले) के वाचक शब्द में ततीया विभक्ति होती है।

पुत्रेण सहागतः पिता (पुत्र के सहित पिता आया)– यहाँ आगमन क्रिया का मुख्य संबंध पिता से है अतः पिता प्रधान कर्ता है, पुत्र अप्रधान है, इसलिये पुत्र शब्द से ततीया होती है। इसी प्रकार साकम्, सार्धम्, समम् के योगमें भी ततीया होती है। जैसे –आस्स्व साकं मया साधे (भट्टि 0 8।70), वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः (रघु0 14,63), आहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः (शाकु0 1, 27)।

विनापीति–यदि सह आदि शब्दों का प्रयोग न हो और इनका अर्थ प्रकट होता हो तो भी ततीया विभक्ति होती है। स्वयं आचार्य पाणिनि ने ''वद्धो'' यूना (1।2।65) इत्यादि सूत्र में युवन् शब्द से ततीया का प्रयोग किया है इसी प्रकयोग से यह ज्ञात होता है।

योनाङ्गविकारः. 2.3.20

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्ततीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षिसंबन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। अङ्विकारः किम्? अक्षि काणमस्य।।

व्याख्याः येनाङ्गविकारः— जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी का विकार लक्षित होता है उस अङ्वाची शब्द से ततीया विभक्ति होती है।

अक्ष्णा काणः—(आँख से काना) यहाँ आँख के विकृत होने से व्यक्ति (अङ्गी) का कानापन लक्षित होता है, अतः आँखवाची 'अक्षि' शब्द से ततीया विभक्ति होती है। व्यक्ति की आँख में कानापन है यह अर्थ होता है। इसी प्रकार 'पादेन खजः' 'शिरसा खल्वाटः' कर्णेन बधिरः' आदि।

अङ्गविकारः किमिति—सूत्र में अङ्गविकार शब्द का क्या तात्पर्य है? यहाँ 'अङ्ग' शब्द अङ्गी के अर्थ में है (अङ्गमस्यास्ति इति अङ्गः——अर्श आदिभ्योच् अतएव जहाँ अङ्ग के विकार से अङ्गी का विकार लक्षित होता है वहीं अङ्गवाची से ततीया होती है। 'अक्षि काणमस्य' से आँख का कानापन ही कहा गया है। इससे किसी व्यक्ति का कानापन लक्षित नहीं होता अतः यहाँ अक्षि शब्द से ततीया विभक्ति नहीं होती।

इत्थंभूतलक्षणे. 2.3.21

कचित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे ततीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः।।

व्याख्याः इत्थंभूलक्षणे—इत्थंभूत शब्द का अर्थ है—इस प्रकार का है, किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ। किसी विशेष दशा की प्राप्ति का बोध कराने वाले चिह्न में ततीया विभक्ति होती है।

जटाभिस्तापसः (जटाओं से तपस्वी) जिस व्यक्ति का तपस्वी होना जटाओं से लक्षित होता है उसके लिये यह प्रयोग है। यहाँ जटा तपस्वीपन का ज्ञापक (लक्षण) है। इससे उपर्युक्त नियमानुसार ततीया विभक्ति होती है। जटाओं से लक्षित तपस्वीपन। जटाओं को देखकर यह अनुमान हो जाता है कि अमुक व्यक्ति तपस्वी है।

संज्ञोन्यतरस्यां कर्मणि .2.3.22

संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि ततीया वा स्यात्। पित्रा पितरं वा संजानीते।।

व्याख्याः सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु के कर्म में विकल्प से ततीया विभक्ति होती है। पक्ष में द्वितीया होती है।

पित्रा पितरं वा संजानीते (पिता को सम्यक् जानता है)—यहाँ कर्म होने से केवल द्वितीया प्राप्त थी। उपर्युक्त नियम से विकल्प से ततीया होकर 'पित्रा' प्रयोग भी होता है।

हेतौ. 2.3.23

हेत्वर्थे ततीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्त्यापारसाधरणं च हेतुत्वम् करणत्वं तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च । दण्डेन घटः। पुण्येन दष्टो हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका। अलं श्रमेण। श्रमेण। साध्यं नास्तीत्यर्थः। साधनक्रियां प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान्पाययति पयः। शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः।।

व्याख्याः हेर्त—हेतु अर्थ में शब्द से ततीया विभक्ति होती है। करण और हेतु में भेद है; अतः इस सूत्र से हेतु में ततीया कही गई है 'कर्तकरणयोस्ततीया' से करण में। हेतु और करण में भेद यह है कि हेतु साधारणतया द्रव्य, गुण, प्रयोजन आदि का बोधक होता है। जबकि करण क्रिया का ही निमित्त होता है और उसमें नियत रूप से क्रिया का साध ाक व्यापार रहता है। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। बाणेन हतः वाली' इस उदाहरण में बाण करण है। इसमें 'हनन' क्रिया का साधक व्यापार विद्यमान है।

दूसरी ओर— दण्डेन घटः (दण्ड से घड़ा)—यहाँ दण्ड में व्यापार तो है किंतु यह घट (द्रव्य) का हेतु है क्रिया का जनक नहीं अतः करण नहीं।

पुण्येन दष्टो हरिः (पुण्य के कारण हरि का दर्शन हुआ)— यहाँ पुण्य हरिदर्शन (क्रिया) का हेतु है किन्तु इसमें व्यापार नहीं अतः यह करण नहीं है। यहाँ हेतु में ततीया विभक्ति होती है।

'फलमपीह' इति-यहाँ फल या प्रयोजन का भी हेतु शब्द से ग्रहण किया जाता है। इसलिये 'अध्ययनेन वसति' (अध्ययन करने के प्रयोजन में रहता है) यहाँ अध्ययन शब्द से हेतु में ततीया विभक्ति होती है।

गम्यमाना इति-यदि क्रिया का वाक्य में प्रयोग न हो और वह गम्यमान हो अर्थात् उसका अर्थ निकलता हो तो भी वह कारक विभक्ति में प्रयोजिका होती है। जैसे–अलं श्रमेण –(श्रम से बस करो) इसका अर्थ है–'श्रमेण साध्यं नास्ति।' 'श्रम' यहाँ साधन क्रिया के प्रति करण है। साधन क्रिया वाक्य में प्रयुक्त नहीं अपितु अध्याहार से जानी जाती है अर्थात् गम्यमान है। अतः 'श्रम से ततीया विभक्ति होती है।

टिप्पणी: यह भी कहा जा सकता है कि निषेधार्थक अलम्, कृतम् आदि के योग में ततीया विभक्ति होती है–अलं कृतं वा श्रमेण।

शतेन शतेन वत्सान् पाययति–इसका अर्थ है शतेन परिच्छिद्य, सौ–सौ करके बछड़ों को (दूध) पिलाता है। यहाँ भी परिच्छिद्य क्रिया गम्यमान है। इसके प्रति 'शत' करण है। अतएव 'शतेन' में ततीया विभक्ति होती है।

*** (वा) अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे ततीया दास्या संयच्छते कामुकः . धर्म्ये तु भार्यायै संयच्छति इति ततीया।**

व्याख्या: अशिष्टव्यवहार इति वा–अशिष्ट व्यवहार में दाण् (देना) धातु के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में ततीया विभक्ति होती है।

दास्या संयच्छते कामुकः–(कामुक दासी को देता है)—यहाँ 'दास्या' में उपर्युक्त नियम से ततीया विभक्ति हो जाती है। चतुर्थी प्राप्त थी। कामुकता के भाव से दासी को कुछ देना अशिष्ट व्यवहार है। संयच्छते में दाण् धातु को यच्छ् आदेश हुआ है।

भर्यायै संयच्छति–पत्नी के लिए देता है। यहाँ निन्द्य व्यवहार नहीं है। अतएव 'भर्यायै' में चतुर्थी होती है।।

इति ततीया

चतुर्थी विभक्ति।

कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्. 1.4.32

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः स्यात्।

व्याख्या: दान के कर्म द्वारा कर्ता जिसे उपकृत करना चाहता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

सम्प्रदान अन्वर्थ संज्ञा है–'सम्प्रदीयते यस्मै तत् सम्प्रदानम्–जिसे कुछ वस्तु दी जाती है वह सम्प्रदान कहलाता है।

चतुर्थी संप्रदाने.2.3.13

विप्राय गां ददाति। अनभिहित इत्येव। दानीयो विप्रः।। (वा) क्रियया यमभिप्रैति सोपि सम्प्रदानम्। पत्ये शेते।। (वा) यजेः कर्मणः करणसंज्ञा संप्रदानस्य च कर्मसंज्ञा।। पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः।।

व्याख्या: चतुर्थी सम्प्रदाने–सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है।

विप्राय गां ददाति–(ब्राह्मण को गाय देता है)—यहाँ दान क्रिया का फल विप्र के लिए उद्दिष्ट अतः विप्र की सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और 'विप्र' से चतुर्थी विभक्ति होती है।

अनभिहित इति-यहाँ भी 'अनभिहिते' 2.3.1 सूत्र का प्रकरण है अत एव जहाँ सम्प्रदान अनुक्त होगा वहीं चतुर्थी विभक्ति होगी। 'दानीयो विप्रः' (दान योग्य विप्र है) यहाँ 'दा' धातु में सम्प्रदान (दीयतेस्मै) में अनीयर् प्रत्यय होकर 'दानीयः' शब्द बनता है। अत एव सम्प्रदान उक्त गया, अनुक्त नहीं रहा। इसी से यहाँ 'विप्र' में चतुर्थी विभक्ति नहीं होती, अपितु प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमा होती है।

क्रियया इति (वा)–किसी क्रिया द्वारा कर्ता को जो अभिप्रेत होता है उसकी भी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

पत्ये शेते–यहाँ शयन क्रिया का अभिप्रेत पति है। अतः उपर्युक्त नियम से पति की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति होती है।

यजेः कर्मण इति (वा)—(यदि कर्म और सम्प्रदान एक वाक्य में हों) यज् धतु के कर्म की करण संज्ञा तथा सम्प्रदान की कर्म संज्ञा हो जाती है।

पशुना रुद्रं यजते—इसका अर्थ है—पशुं रुद्राय ददाति। यहाँ 'पशु' कर्म है और 'रुद्र' सम्प्रदान है। उपर्युक्त नियम से कर्म (पशु) की करण संज्ञा होकर उसमें ततीया विभक्ति हो जाती है तथा सम्प्रदान (रुद्र) की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति होती है।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः.1.4.33

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः। अन्यकर्तकोभिलाषो रुचिः। हरिनिष्ठप्रीतिर्भक्तिः कर्त्री। प्रीयमाणः किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथिः।।

व्याख्याः रुचि अर्थ वाली धातुओं के योग में प्रसन्न होने वाला (प्रीयमाण) अर्थात् रुचि रखने वाला सम्प्रदान संज्ञक होता है। 'रुच्' धातु के दो अर्थ है– दीप्ति और अभिप्रीति। यहाँ प्रीयमाण शब्द के साहचर्य से अभिप्रीति, अर्थ लिया जाता है।

हरये रोचते भक्तिः (हरि को भक्ति अच्छी लगती है)—यहाँ प्रसन्न होने वाला 'हरि' है। उपर्युक्त नियम से 'हरि' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है।

अन्यकर्तकइति— अन्य के द्वारा उत्पन्न की हुई अभिलाषा को रुचि कहते हैं। अर्थात् रुच् धातु का कर्त्ता अभिलाषा करने वाले से भिन्न होता है। उपर्युक्त उदाहरण में हरि में रहने वाली रुचि (प्रीति) को उत्पन्न करने वाली 'भक्ति' है। यहाँ रोचते का कर्ता भक्ति है। रुचि के इस विशेष अर्थ के कारण 'हरि भक्तिमभिलषति' आदि में सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती।

प्रीयमाणः किमिति—जो प्रीयमाण अर्थात् प्रसन्न होने वाला है उसी की सम्प्रदान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि यहाँ प्रीयमाण (प्रसन्न होने वाले) की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है अन्य की नहीं, अतएव 'देवदत्ताय रोचते मोदक' संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह प्रीयमाण नहीं है।

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः.1.4.34

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात्कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा। ज्ञीप्स्यमानः किम्? देवदत्ताय श्लाघते पथि।

व्याख्याः श्लाघ् (स्तुति करना) ह्नुङ् (छिपना, दूर करना), स्था (ठहरना), शप् (उलाहना देना) इन धातुओं के प्रयोग में, जिस कर्ता अपने भाव का बोध कराना चाहता है (ज्ञीप्स्यमानः—बोधयितुमिष्टः) उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लोघते ह्नुते तिष्ठते, शपते वा—(गोपी) कामपीड़ा से आत्मप्रशंसा द्वारा कृष्ण पर विरह–वेदना प्रकट करती है (श्लाघते), (ह्नुते), जाना चाहिये यहकहने पर भी ठहरते हुए अपना भाव कृष्ण पर प्रकट करती है (तिष्ठते), उपालम्भ द्वारा कृष्ण पर अपना भाव प्रकट करती है (शपते)। यहाँ सर्वत्र 'कृष्ण' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

ज्ञीप्स्यमानः किमिति—सूत्र में 'ज्ञीप्स्यमान' शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि जिस पर कर्ता अपना भाव प्रकट करना नहीं चाहता उसकी सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती। जैसे—'देवदत्ताय श्लाघते पथि' यहाँ 'पथ' की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती।

धारेरुत्तमर्णः 1.4.36

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम्? देवदत्राय शत' धारयति ग्रामे।।

व्याख्याः धारि (णिजन्त ध = ऋणी होना) धातु के योग में ऋणदाता (उत्तमर्ण) की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः (भगवान् भक्त के मोक्ष का ऋणी है)—यहाँ 'हरि' अधमर्ण (ऋण लेने वाला) है उस पर

भक्त का भक्ति रूपी ऋण है जिसका निष्क्रय मोक्ष द्वारा संभव है। भक्त उत्तमर्ण है। उपर्युक्त नियम से भक्त की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

उत्तमर्णः किमिति– यह सम्प्रदान संज्ञा उत्तमर्ण (ऋणदाता) की ही होती है अतः 'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे' यहाँ देवदत्त की सम्प्रदान संज्ञा होती है 'ग्राम की नहीं।

स्पहेरीप्सितः . 1.4.36

स्पहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पहयति। ईप्सितः किम्? पुष्पेभ्यो वने स्पहयति। ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा। प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्मसंज्ञा। पुष्पाणि स्पहयति।।

व्याख्याः स्पहेरीप्सितः–स्पह (चाहना) धातु के योग में चाहा हुआ (ईप्सित) पदार्थ सम्प्रदान –संज्ञक होता है।

पुष्पेभ्यः स्पहयति–(फूलों की चाह करता है)—यहाँ 'पुष्प' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है।

ईप्सितः किमिति– ईप्सित शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि–स्पह धातु के योग में भी चाहे हुए पदार्थ से अन्य की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती। 'पुष्पेभ्यो वने स्पहयति' अर्थात् 'वन में फूल चाहता है' में वन की सम्प्रदान संज्ञा नहीं।

ईप्सितमात्र इति–'स्पहेरप्सितः' 1.5.36 सूत्र से केवल चाहे हुए (ईप्सित मात्र) की सम्प्रदान संज्ञा होती है। जहाँ चाह का आधिक्य विवक्षित होता है अर्थात् अत्यधिक चाहा हुआ (ईप्सिततम) कहना होता है वहाँ परे होने से (परत्वात्) कर्तुरिप्सिततमं कर्म 1.4.49 से कर्म संज्ञा ही होती है। 'पुष्पाणि स्पहयति' में पुष्प में ईप्सिततम की विवक्षा है। अतः इसकी कर्म संज्ञा होकर द्वितीया होती है।

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः.1.4.37

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात्। हरये क्रुयुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा। यं प्रति कोपः किम्? भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योद्राक्षीदिति। क्रोधेमर्षः द्रोहोपकारः। ईर्ष्याक्षमा। असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रु हादयोपि कोपप्रभवा एव गह्यन्ते। अतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति कोप इति।

व्याख्याः क्रुध (क्रोध करना), दुह (वैर करना), ईर्ष्य (ईर्ष्या करना), असूय (गुणों में दोष देखना)–इन धातुओं तथा इनके समान अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में, जिसके ऊपर क्रोध आदि किया जाता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है।

हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति असूयति वा (हरि पर क्रोध करता है, द्रोह करता है ईर्ष्या करता है या उसके दोष निकलाता है) यहाँ हरि की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा उससे चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

यं प्रति कोपः किमिति– जिसके प्रति कोप होता है उसकी ही सम्प्रदान संज्ञा होती है ऐसा क्यों कहा? 'भार्यामीर्ष्यति मैनामन्योद्राक्षीदिति' अर्थात् पत्नी को दूसरा देखे यह सहन नहीं करता। यहाँ भार्या के प्रति कोप नहीं, किन्तु उसका दूसरों के द्वारा देखा जाना असह्य है, अतः भार्या की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती किन्तु कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होती है।

यद्यपि क्रोध, द्रोह आदि के अर्थ भिन्न–भिन्न हैं, क्रोध का अर्थ है–अमर्ष, द्रोह का अर्थ है–अपकार करना, ईर्ष्या का अर्थ है–सहन न करना तथा गुणों में दोष निकालना असूया है। तथापि 'यं प्रति कोपः' (जिसके प्रति कोप हो) यह सामान्य रूप से सभी का विशेषण है; क्योंकि कोप से पैदा होने वाले (कोपप्रभवाः) द्रोह आदि ही यहाँ लिये जाते हैं। उन्हीं के योग में सम्प्रदान संज्ञा होती है जैसा कि ''भार्यामीर्ष्यति'' आदि उदाहरण से स्पष्ट है।

क्रुधद्रुहोरुपसष्टयोः कर्म . 1.4.38

सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। क्रूरमभिक्रूध्यति। अभिद्रुह्यति।।

---

१. बालमनोरमा

व्याख्याः उपसर्ग पूर्वक (उपसष्ट) क्रुध् तथा द्रुह् धातु के योग में,जिनके प्रति कोप होता है उसकी कर्म संज्ञा होती है। यह नियम पहले नियम का अपवाद है।

क्रूरमभिक्रुध्यति, अभिद्रुह्यति (क्रूर के प्रति क्रोध करता है, द्रोह करता है)— यहाँ पूर्व सूत्र से 'क्रूर की सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, उसे बाध कर उपर्युक्त नियम से 'क्रूर' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः 1.4.39

एतयोः कारकं सम्प्रदानं स्यात्। यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा। पष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः।।

व्याख्याः (राध् धातु आराधना या साधना अर्थ में है और ईक्ष् देखने अर्थ में, किन्तु यहाँ इनका शुभाशुभ कथन अर्थ है) इन धातुओं के योग में जिसका विविध प्रश्न होता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा—इसका अर्थ है—पूछे जाने पर (गर्ग नाम का ज्योतिषी) कृष्ण के शुभाशुभ का विचार करता है। यहाँ कृष्ण की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है और उससे चतुर्थी विभक्ति होती है।

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता. 1.4.40

आभ्यां परस्य श्रणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनरूपव्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं स्यात्। विप्राय गां प्रतिश्रणोति आश्रणोति वा। विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रतिजानीत इत्यर्थः।।

व्याख्याः प्रति और आ (आङ्) पूर्वक श्रु (सुनना) धातु के योग में पहले (प्रेरणा रूप) व्यापार के कर्ता अर्थात् प्रेरित करने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

विप्राय मां प्रतिश्रणोति— (आश्रणोति वा)—इसका अर्थ है कि ब्राह्मण ने— ''मुझे गाय दे दो'' ऐसा कह कर किसी को प्रेरणा दी, तब उस व्यक्ति ने ब्राह्मण को गाय देने का वचन दिया (प्रति और आ पूर्वक श्रु धातु का अर्थ है—प्रतिज्ञा करना, वचन देना)। इस प्रकार यहाँ प्रेरणा रूप पूर्व व्यापार के कर्ता 'विप्र' की उपर्युक्त नियम से सम्प्रदान संज्ञा हो गई तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति है।

अनुप्रतिगणश्च .1.4.42

आभ्यां गणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तभूतमुक्तसंज्ञं स्यात्। होत्रेनुगणाति प्रतिगणाति। होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः।।

व्याख्याः अनु और प्रति पूर्वक ग (शब्द) के पूर्व व्यापार का कर्ता सम्प्रदान संज्ञक होता है।

होत्रेनुगणाति (प्रतिगणाति वा)—इसका अर्थ है—होता (चार यज्ञकर्ता या ऋत्विजों में से एक) पहले बोलता है उसे अध्वर्यु (अन्य यज्ञकर्ता) प्रोत्साहन देता है। यहाँ 'होत' बोलना (शंसति) रूप पूर्व व्यापार का कर्ता है अतः उपर्युक्त नियम से 'होत' की सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हो जाती है—

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्. 1.4.44

नियतकालं भत्या स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात्। शतेन शताय वा परिक्रीतः।।

व्याख्याः परिक्रयणे इति— परिक्रमण का अर्थ है—नियत काल के लिये किसी को वेतन पर रखना। परिक्रयण में साधकतम कारक अर्थात् करण की विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है।

शतेन शताय वा परिक्रीत :—(सौ रुपये 'वेतन' से रक्खा हुआ)—यहाँ 'शत' परिक्रयण का साधन है उसकी उपर्युक्त नियम से विकल्प से सम्प्रदान संज्ञा हो जाती है तथा सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। जब सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती तब करण में ततीया विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या मुक्तये। हरिं भजति।**

व्याख्याः तादर्थ्य का अभिप्राय है–उसके लिये अर्थात् प्रयोजन। जिस (प्रयोजन) के लिये कोई कार्य या वस्तु होती है उसे (प्रयोजन)। वाची शब्दसे चतुर्थी विभक्ति होती है, जैसे–मुक्तये हरिं भजति–(मुक्ति के लिये हरिं को भजता है)–यहाँ हरि के भजन का प्रयोजन मुक्ति है अतः उपर्युक्त नियम से 'मुक्ति' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार ''कुण्डलाय हिरण्यम्'' (कुण्डल बनाने के लिये सोना है) ''काव्यं यशसे'' (काव्य कीर्ति के लिये है) इत्यादि में कुण्डल तथा यशस् से चतुथ्री विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) क्लपि संपद्यमाने च। भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते, इत्यादि।।**

व्याख्याः (समर्थ होना, पैदा होना) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जो होने वाला कार्य है तद्वाची शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है।

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते (सम्पद्यते, जायते इत्यादि)–'भक्ति ज्ञान के लिये समर्थ होती है', यहाँ ज्ञान सम्पद्यमान अर्थात् होने वाली वस्तु है। उपर्युक्त नियम से ज्ञान में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) उत्पातेन ज्ञापिते च। वाताय कपिला विद्युत।**

व्याख्याः उत्पात का अर्थ है–अशुभसूचक अकस्मात् होने प्राकृतिक विपत्ति। उत्पात से सूचित अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है।

वाताय कपिला विद्युत् (कपिल वर्ण की बिजली आँधी की सूचक होती है)–यहाँ उपर्युक्त नियम से 'वाताय' में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) हितयोगे च। ब्राह्मणाय हितम्।।**

व्याख्याः हित के योग में, चतुर्थी विभक्ति होती है। जेसे ''ब्राह्मणाय हितम्'' ब्राह्मण के लिये हितकर। इसी प्रकार 'ब्राह्मणाय सुखम्' आदि।

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः. 2.3.14

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोप्रयुजयमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात्. फलेभ्यो याति. फलान्याहर्तु यातीत्यर्थः नस्कुर्मो नसिंहाय नसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः. एवं स्वयंभुवे नमस्कृत्येत्यादावपि।

व्याख्याः क्रियार्थ' इति–क्रियार्थोपपदस्य शब्द का अर्थ है– क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य' किसी क्रिया के लिये होने वाली दूसरी क्रिया प्रयुक्त होती है अर्थात् जिस अर्थ में 'तुमुन्' प्रत्यय लक्षित होता है, क्योंकि क्रियार्था क्रिया के साथ होने पर तुमुन् का विधन किया गया है–तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् 3.3.10। 'स्थानिनः, का अर्थ है जिसका स्थान हो किन्तु प्रयोग न किया गया हो (अप्रयुज्यमानस्य)। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है–क्रिया के लिए क्रिया उपपद में हो लिए तो अप्रयुज्यमान क्रिया के अर्थ में तुमुन् के स्थान पर चतुर्थ का प्रयोग होता है।

फलेभ्यो याति–इसका अर्थ है 'फलानि आहर्तु याति' (फल लेने के लिये जाता है)–यहाँ क्रियार्था क्रिया है–'याति' (क्योंकि जाना उसका प्रयोग नहीं किया गया। उसका 'कर्म' है–फल। उपर्युक्त नियम से 'फल' शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

नमस्कुर्मो नसिंहाय–इसका अर्थ है 'नसिंहम् अनुकूलयितुं नमस्कुर्मः (ऩसिंह को अनुकूल करने के लिये हम नमस्कार करते हैं)। यहाँ तुमुन् प्रत्ययान्त 'अनुकूलयितुम्' का भाव प्रकट होता है। 'अनुकूलयितुम्' का कर्म नसिंह है। इसलिये 'नसिंह' शब्द से उपर्युक्त नियमानुसार चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' (स्वयम्भुवं प्रीणयितुं नमस्कृत्य ='ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिये नमस्कार करके) आदि में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

तुमर्थाच्च भाववचनात्.2.3.15

भाववचनाच्च 3.3.11 इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात्। यागाय याति। यष्टुं यातीत्यर्थः।।

व्याख्याः तुमर्थाच्चेति–भाववचनाश्च 3.3.11 इस सूत्र में कहा गया है कि भाववाची घा् आदि प्रत्यय तुमुन् के अर्थ में भी होते हैं। उन घा् प्रत्ययान्त आदि शब्दों में चतुर्थी विभक्ति होती है।

यागाय याति–इसका अर्थ है–'यष्टुं याति' अर्थात् यज्ञ करने के लिये जाता हे। यहाँ 'याग' तुमुन् के अर्थ में भाववाची घा् प्रत्ययान्त (या्+घा्) शब्द है। उपर्युक्त नियम के अनुसार 'याग' से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च . 2.3.16

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्। हरये नमः। (प) उपपद्विभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी।। नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितभ्यः स्वधा। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्। तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि। प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः। तस्मै प्रभवति 5.1.101 स एषां ग्रामणीः 5.2.78 इति निर्देशात। तेन प्रभुर्बुभूषर्भुवनत्रयस्येति सिद्धम्। वषडिन्द्राय। चकारः पुनर्विधानार्थः। तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषी' ति 2.3.73 षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति।। स्वस्ति गोभ्यो भूयात्।

व्याख्या: नमः स्वस्ति इति–नमः स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं तथा वषट् शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे–'हरये नमः' (हरि के लिये नमस्कार) यहाँ 'नमः' शब्द के योग में 'हरये' में चतुर्थी विभक्ति है।

उपपदविभक्तेरिति–उपपद विभिक्त से कारक विभक्ति बलवती होती है अर्थात् उपपद विभक्ति को बाधकर कारक विभक्ति हो जाती है। दो निमित्तों से विभक्ति का विधान किया गया है एक तो क्रिया के संबंध से, जिसे कारक विभक्ति कहते हैं। वह कर्म आदि संज्ञा करके द्वितीया विभक्ति आदि के रूप में कही गई है। दूसरी है–उपपद विभक्ति, उपपद–समपी में स्थित पद। क्रिया से भिन्न अन्य शब्द (पद) के निमित्त से होने वाली विभक्ति उपपद विभक्ति कहलाती है। उपपद के संबंध से होने वाली विभक्ति, उपपद विभक्ति कहलाती है। उपपद के संबंध से होने वाली विभक्ति की अपेक्षा क्रिया के संबंध से हाने वाली विभक्ति बलवती होती है, जैसे–'नमस्करोति देवान्' (देवों को नमस्कार करता है) यहाँ 'नमः' के योग में 'देव' शब्द से चतुर्थी विभक्ति प्राप्त होती है यह उपपद विभक्ति है। किन्तु 'नमस्कारोति' यह क्रियापद हो जाने पर इसके संबंध में 'देव' कर्म हो जाता है और द्वितीया विभक्ति प्राप्त होती है। यहाँ द्वितीया कारक विभक्ति है। अतएव चतुर्थी (उपपद विभक्ति) को बाध कर द्वितीया विभक्ति होती है–(देवान्)।

प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो)–'नमः स्वस्ति' आदि नियम से 'स्वस्ति' के योग में 'प्रजा' शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार–

अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिये स्वाहा)। पितभ्यः स्वधा (तिपरों के लिये अन्नादि) में भी चतुर्थी विभक्ति होती है।

अलमिति–सूत्र में 'अलम्' शब्द से पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले शब्द का ग्रहण किया जाता है। इसके दो फल होते है–1. निषेध अर्थ में जो 'अलम्' शब्द है, उसके योग में चतुर्थी नहीं होती, जैसे–'अलं विवादेन' 2. पर्याप्त (समर्थ) अर्थ वाले 'प्रभु' आदि शब्दों के योग में भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। जैसे–दैत्येभ्यो हरिःप्रभुःसमर्थः, शक्तः।

दैत्येभ्यो हरिरलम्– यहाँ पर्याप्त अर्थ वाले 'अलम्' शब्द के योग में 'दैत्येभ्यः' में चतुर्थी होती है।

प्रभ्वादियोगत इति–प्रभु आदि शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी शुद्ध है। यद्यपि किसी सूत्र या वार्त्तिक से षष्ठी का विधान नहीं गया तथापि आचार्य पाणिनि के 'तस्मै प्रभवति' 5.1.101 प्रयोग से विदित होता है कि प्रभु आदि के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार उनके 'स एषां ग्रामणीः' 5.2.78 प्रयोग से ज्ञात होता है कि प्रभु आदि के योग में षष्ठी भी होती है। अत एव–प्रभुर्बु भूषुर्भूवनत्रयस्य' (1, 49) माघ कवि की इस उक्ति में 'भुवनत्रयस्य' में षष्ठी का प्रयोग भी व्याकरण–सम्मत ही है।

वषट्+ इन्द्राय (इन्द्र के लिए हविःदान)–यहाँ 'नमः स्वस्ति' आदि नियम से 'वषट्' के योग में इन्द्र' शब्द से चतुर्थी। विभक्ति होती है।

चकार इति–सूत्र में च (योगात्+च) फिर से चतुर्थी कहने के लिये है।–

स्वस्ति गोभ्यो भूयात्–(गायों का कल्याण हो)–यहाँ नमः स्वस्ति0 2.3.16 आदि नियम से चतुर्थी प्राप्त होती है। चतुर्थी चाशिषि. 1.3.83 इस नियम से चतुर्थी और षष्ठी दोनों विकल्प से प्राप्त होती है। अष्टाध्यायी में चतुर्थी चाशिषि0 'नमः स्वस्ति0' से परे (आगे) है और दो तुल्य नियमों के विरोध में परे वाला कार्य ही हुआ करता है।(विप्रतिषेधे परं कार्यम्) अतः चतुर्थी और षष्ठी विकल्प से होनी चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' प्रयोग में नित्य चतुर्थी विभक्ति ही होती है। इसका कारण यह है कि 'नमः स्वस्ति0' सूत्र में 'च' शब्द का

ग्रहण किया गया है। यह बलपूर्वक पुनः चतुर्थी का विधान करता है इसलिये आशीर्वाद की विवक्षा में 'चतुर्थी चाशिषि0' इस षष्ठी को बाधकर 'नमः स्वस्ति' से होने वाली चतुर्थी विभक्ति ही होती है।

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाप्राणिषु . 2.3.17

प्राणिवर्जं मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे। न त्वां तणं मन्ये तणाय वा। श्यना निर्देशात्तानादिकयोगे न। त्वां तणं मन्वेहम्। अप्राणिष्वित्यपनीय।।

व्याख्याः मन्यकर्मणि इति–अनादर प्रकट करने में मन् (मानना द्विवादि) धातु के कर्म में, यदि वह प्राणी न हो तो, विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है, पक्ष में द्वितीया ही होती है। जैसे–न त्वां तणं मन्ये तणाय वा। मैं तुम्हें तिनका भी नहीं समझता। यहां अनादर का भाव है।

(वा) नौकाकान्नशुकश्रगालवर्ज्येष्विति वाच्यम्

तेन न त्वां नावमन्नं वा मन्ये, इत्यत्राप्राणित्वेपि चतुर्थी न। न त्वां शुने मन्ये इत्यत्र प्राणित्वेपि भवत्येव।।

व्याख्याः न त्वां तणं मन्ये तणाय वा (मैं तुम्हें तिनके के तुल्य भी नहीं समझता–यहाँ उपर्युक्त नियम से 'तण' से विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है। पक्ष में कर्म में द्वितीया ही होती है।

श्यनेति–श्यन् से निर्देश करने के कारण यहाँ दिवादि गण की मन् (मन्यते) धातु ली जाती है, अतः तनादि गण को 'मन्' धातु के योग में यह चतुर्थी नहीं होती, 'न त्वां तणं मन्वेहम्'।

अप्राणिषु. इति वा–वार्तिककार का कथन है कि सूत्र में से 'अप्राणिषु' शब्द को हटाकर उसके स्थान में–नौ (नाव), काक (कौआ), अन्न, शुक (तोता) श्रगाल (सियार) को छोड़कर ऐसा कहना चहिये। इसका फल होता है कि–

1. न त्वां नावं मन्ये (तुझे नाव नहीं समझता)–यहाँ अप्राणी (नाव) होने के कारण सूत्र के अनुसार 'नौ' से चतुर्थी प्राप्त होती है किन्तु इष्ट नहीं है। वार्तिक में 'नौ' को वर्जित करने से चतुर्थी नहीं होती।

2. न त्वां शुने मन्ये (तुझे कुत्ता भी नहीं समझता)–यहाँ श्वन् (कुत्ता) प्राणी है अतएव सूत्र के अनुसार चतुर्थी प्राप्त नहीं (अप्राणिषु; किन्तु चतुर्थी इष्ट है। वार्तिक में 'श्वन्') को वर्जित नहीं किया गया अतः वार्तिक के अनुसार 'शुने' में प्राणी होते हुए भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि 2.3.12

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एते स्तश्चेष्टायाम्। ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति। चेष्टायां किम्? मनसा हरिं व्रजति। अनध्वनीति किम्? पन्थानं गच्छति।

गन्त्राधिष्ठितेध्वन्येवायं निषेधः। यदा तूत्पथात्पन्था एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव। उत्पथेन पथे गच्छति।। इति चतुर्थी।।

व्याख्याः 'गात्यर्थकर्मणि इति'– यदि वह (कर्म) मार्ग न हो और शरीर की गति (चेष्टा) कही गई हो, तो गति अर्थ वाली धातुओं के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति होती है।

ग्रामं ग्रामय वा गच्छति (गाँव को जाता है)–यहाँ 'ग्राम' मार्ग नहीं है और गाँव जाने में शरीर की चेष्टा करनी पड़ती है अतः उपर्युक्त नियम से 'ग्राम' या 'ग्रामाय' में विकल्प से द्वितीया अथवा चतुर्थी विभक्ति होती हे।

चेष्टायां किमिति–'चेष्टा' में यह क्यों कहा? इसलिये कि जहाँ शारीरिक व्यापार नहीं करना पड़ना वहाँ केवल द्वितीया विभक्ति ही होती है, जैसे–'मनसा हरिं व्रजति' (मन से हरि के पास जाता है)। इसी प्रकार नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके' इत्यादि।

अनध्वनीति–यदि गति अर्थ वाली धातु का कर्म अध्वन् (मार्ग) होता है तो कर्म में केवल द्वितीया ही होती है, चतुर्थी 'पन्थानं गच्छति' (मार्ग को जाता है)।

गन्त्राधिष्ठित इति–यदि आने वाले (गन्त) के द्वारा मार्ग अधिष्ठित (प्राप्त) होता है अर्थात् वह इष्ट मार्ग पर स्थित होता है तभी यह चतुर्थी विभक्ति नहीं होती; किन्तु जब उत्पथ (अनिष्ट मार्ग) से जाने में असमर्थ होकर वह उसे

छोड़कर इष्ट मार्ग की ओर जाता है तब मार्गवाची में भी चतुर्थी विभक्ति होती ही है। जैसे– 'उत्पथेन पथे गच्छति' (उत्पथ से पथ को जाता है) भाव यह है कि –यदि कोई गन्तव्य स्थान का मार्ग भूलकर; भ्रम से मार्ग छोड़कर अन्य मार्ग पर हो लिया, वही अन्य मार्ग उत्पथ कहलायेगा। उस मार्ग से जब अपने इष्ट के मार्ग को प्राप्त करने के लिये चलेगा तो 'उत्पथेन पथे गच्छति' यह प्रयोग होगा। यहाँ 'पथे' में चतुर्थी विभक्ति होती है।। इति चतुर्थी।।

ध्रुवमपायेपादानम् 1.4.24

अपायो विश्लेषस्तस्मिन्साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्।।

व्याख्या: पंचमी विभक्ति। ध्रुवम पायेपादाम्–अपाय का अर्थ है विश्लेषज्ञ, अलग होना। किसी वस्तु या व्यक्ति के अलग होने में जो कारक ध्रुव अर्थात् अवधि (सीमा रूप है वह अपादान कहलाता है)।

अपादाने पंचमी 2.3.28

ग्रामादायाति। धावतोश्वात्पतति। कारकं किम्? वक्षस्य पर्णं पतति।

व्याख्या: अपादान कारक में पंचमी विभक्ति होती है।

ग्रामाद् आयाति–(ग्राम से आता है)–कहाँ से आता है? ग्राम से। यहाँ ग्राम् अवधिरूप है अतः इसकी अपदान संज्ञा होकर इससे पंचमी विभक्ति हो जाती है।

धावतोश्वात्पतति {दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है}–यहाँ यद्यपि घोड़ा स्थिर नहीं, दौड़ता है तथापि वह पतन क्रिया के प्रति अवधि है ही अतएव 'अश्व' की अपादान संज्ञा होकर पंचमी विभक्ति होती है।

कारकं किमिति–कारक अपादानसंज्ञक होता है ऐसा क्यों कहा गया? इसलिये कि जो कारक नहीं होता, अर्थात् जिसका क्रिया से संबंध नहीं होता, उसकी अपादान संज्ञा नहीं होती, जैसे 'वक्षस्य पर्ण 'पतति' में 'वक्ष' का पतन क्रिया से संबंध विवक्षित नहीं, अपितु 'पर्ण' से संबंध है। अतएव यहाँ वक्ष की अपादान संज्ञा नहीं होती।

टिप्पणी: 'धावतोश्वात् पतति' आदि प्रयोगों में अश्व आदि की अपादान संज्ञा होनी चाहिये इसलिये सूत्र के 'ध्रुव' शब्द का अर्थ 'स्थिर' नहीं अपितु 'अविधभूत' माना जाता है।

*** (वा) जुगुप्सविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्। पापाज्जुगुप्सते। विरमति। धर्मात्प्रमाद्यति।।**

व्याख्या: जुगुप्सेति (वा) –जुगुप्सा (घणा) विराम (हटना, अलग होना) प्रमाद (असावधानी करना) अर्थ वाली धातुओं के योग में जुगुप्सा आदि के विषय की अपादान संज्ञा होती है।

पापात् जुगुप्सते (पाप से घणा करता है)–यहाँ पाप जुगुप्सा का विषय है अतः उपर्युक्त नियम से इसकी अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पंचमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार पापात् विरमति (पाप से बचता है) धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म से प्रमाद करता है) आदि।

टिप्पणी: प्रमादार्थक के साथ सप्तमी भी आती है। जैसे–'न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः'

भीत्रार्थानां भयहेतुः. 1.4.25

भयार्थानां त्राणर्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादनं स्यात्। चौराद् बिभेति। चौरात् त्रायते। भर्यहेतुः किम्? अरण्ये बिभेति त्रायते इति वा।।

व्याख्या: भीत्रार्थानां भयहेतुः–'भय' अर्थ वाली तथा 'रक्षा' (त्राण) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में भय का हेतु अपादान कहलाता है।

चौराद् बिभेति (चोर से डरता है)–यहाँ चोर भय का हेतु है। उसकी उपर्युक्त नियम से अपादान संज्ञा होकर अपादान में पंचमी विभक्ति हो जाती हे। इसी प्रकार 'चौरात् त्रायते' (चोर से रक्षा करता है)।

भयहेतुः किमिति–भय के कारण की ही अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों कहा इसलिये कि 'अरण्ये बिभेति' में

अरण्य (वन) की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि अरण्य भय का हेतु नहीं। यदि अरण्य को भय का हेतु माना जाये तो अरण्य से भी पंचमी विभक्ति हो ही सकती है।

पराजेरसोढः. 1.4.26

पराजेः प्रयोगेसह्योर्थोपादानं स्यात्। अध्ययनात्पराजयते। गलायतीत्यर्थः। असोढ़ः किम्? शत्रून्पराजयते। अभिभवतीत्यर्थः।।

व्याख्याः पराजेरसोढ़ः—परा (उपसर्ग) पूर्वक जि धातु के योग में असह्य वस्तु की अपादान संज्ञा होती है।

अध्ययनात् पराजयते (अध्ययन से हार मान रहा है)—जब किसी के लिये अध्ययन असह्य या कष्टकर हो गया है तो उपर्युक्त नियम से पराजयते के योग में अध्ययन की अपादान संज्ञा होती है और उसमें पंचमी विभक्ति हो जाती है। इसका भाव है—अध्ययन से थक गया है।

असोढ़ः किमिति—असह्य वस्तु की ही अपादान संज्ञा होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'शत्रून् पराजयते'—शत्रुओं को हराता है (अभिभवति = पराजित करता है) यहाँ शत्रु की अपादान संज्ञा नहीं होती, क्योंकि वह असह्य नहीं। 'शनून्' में कर्म में द्वितीया हुई है।

वारणार्थानामीप्सितः. 1.4.27

प्रवत्तिविघातो वारणम्। वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोपादानं स्यात्। वेभ्यो गां वारयति। ईप्सितः किम्? यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे।।

व्याख्याः वारणार्थनामीप्तिः— वारण का अर्थ है —प्रवत्ति का विघात, किसी कार्य में लगे हुए को रोकना। वारण अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में ईप्सित वस्तु (जिससे हटाने की चाह होती है) अपादान संज्ञक होती है।

वेभ्यो गां वारयति (यवों से गाय को हटाता है)—'यव' से गाय को हटाना चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'यव' की अपादान संज्ञा होती है और अपादान में पंचमी विभक्ति होती है।

ईप्सितः किम्—जिससे किसी को दूर करना अभीष्ट होता है। वही अपादान होता है ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे' में 'क्षेत्र' अभीष्ट नहीं बल्कि यव हैं। अतः क्षेत्र की अपादान संज्ञा नहीं होती।

अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति.128

व्यवधाने सति यत्कर्तकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात्। मातुर्निलीयते कृष्णः। अन्तर्धौ किम्? चौरान्न दिदक्षते। इच्छतिग्रहणं किम् अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात्।।

व्याख्याः अन्तर्धि का अर्थ है, व्यवधान (ओट)। व्यवधान होने पर जिससे अपना अदर्शन चाहता है अर्थात् जिससे अपने आपको छिपाना चाहता है, उसकी अपादान संज्ञा होती है।

मातुर्निलीयते कृष्णः— (कृष्ण माता से छिपता है)—कृष्ण दीवार आदि का व्यवधान करके माता से छिपना चाहता है अतः उपर्युक्त नियम से 'मात' की अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पंचमी विभक्ति होती है।

अन्तर्धौ किमिति—अन्तर्धि शब्द रखने का क्या प्रयोजन है? यह कि जहाँ व्यवधान होने पर कोई अपने आप को छिपाना चाहता है वहीं यह अपादान संज्ञा होती है अतएव ''चौराद् न दिदक्षते'' (चोर मुझे न देख ले इस विचार से चोरों को देखना नहीं चाहता) यहाँ 'चोर' की अपादान संज्ञा नहीं होती; क्योंकि यहाँ व्यवधान निमित्तक छिपने का भाव नहीं है।

इच्छतिग्रहणं किमिति— —सूत्र में 'इच्छति' (चाहता है) का ग्रहण क्यों किया? इसलिये कि यदि किसी के छिपने की इच्छा है तो उसे देख लिया जानेपर भी अपादान संज्ञा हो ही जाती है। जैसे 'देवदत्तात् यज्ञदत्तो निलीयते।' —देवदत्त से यज्ञदत्त छिपता है।

आख्यातोपयोगे 1.4.29

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यादधीते। उपयोगे किम्। नटस्य गाथां श्णति।

व्याख्याः आख्यातोपयोगे–यहाँ उपयोग शब्द का (रूढ़) अर्थ है–नियमपूर्वक विद्याग्रहण करना। नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करने में अध्यापक या शिक्षक (आख्याता वक्ता) की अपादान संज्ञा होती है।

उपाध्यायाद् अधीते (उपाध्याय से पढ़ता है)–उपर्युक्त नियम से उपाध्याय की अपादान संज्ञा होकर उसमें पंचमी विभक्ति हो जाती है।

उपयोगे किमिति– जहाँ नियमपूर्वक शिक्षा–ग्रहण की जाती है वहीं वक्ता की अपादान संज्ञा होती है, यह क्यों ? इसलिये कि'नटस्य गाथां श्रणोति' नट की गाथा सुनता है। यहाँ 'नटस्य' में पंचमी विभक्ति नहीं होती, क्योंकि यहाँ नियमपूर्वक शिक्षा–प्राप्ति नहीं हैं।

जनिकर्तुः प्रकृतिः. 1.4.30

जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात्। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते।।

व्याख्याः जनिकर्तुः प्रकृतिः–जनि का अर्थ है–जन्म उत्पत्ति–यहाँ प्रजायन्ते का कर्ता {उत्पन्न होने वाला} प्रजा है। इसका हेतु 'ब्रह्म' है; अतः उपर्युक्त नियम से ब्रह्म की अपादान संज्ञा होकर उससे पंचमी विभक्ति हो जाती है।

भुवः प्रभवः 1.4.32

भवनं भूः। भूकर्तुः प्रभवस्तथा। हिमवतो गङ्गा प्रभवति। तत्र प्रकाशत इत्यर्थः।

व्याख्याः भुवः प्रभवः–'भू' शब्द का अर्थ है होना (भू का षष्ठी, एक0 भुवः) 'प्रभव' का अर्थ है–स्थान। यहाँ पूर्व सूत्र से 'कर्तुः' पद की अनुवत्ति होती है। भू के कर्ता के उत्पत्ति –स्थान की अपादान संज्ञा होती है।

हिमवतो गङ्गा प्रभवति–इसका अर्थ है–हिमालय से गङ्गा निकलती है अथवा वहाँ प्रथम दिखलाई देती है। यहाँ उपर्युक्त नियम से 'हिमवत्' की अपादान संज्ञा हो जाती है और अपादान में पंचमी विभक्ति होती है।

*** (वा) ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च प्रासादात् प्रेक्षते। आसनात्प्रेक्षते। प्रासादमारुह्य, आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः। श्वशुराज्जिहेति श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः। गम्यमानापि क्रिया कारक-विभक्तीनां निमित्तम्। कस्मात्त्वं नद्याः।।**

व्याख्याः ल्यब्लोप इति (वा)–ल्यप् प्रत्यया के लोप होने पर उसके कर्म तथा आधार में पंचमी विभक्ति होती है।

प्रासादात् प्रेक्षते–इसका अर्थ है–'प्रासादमारुह्य प्रेक्षते' (महल पर चढ़कर देखता है)। यहाँ 'आरुह्य' ल्यप् प्रत्ययान्त है परन्तु उसका प्रयोग नहीं, उसका कर्म है–'प्रासाद'। उपर्युक्त नियम से 'प्रासाद' में पंचमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार–

आसनात् प्रेक्षते अर्थात् 'आसनं उपविश्य प्रेक्षते' (आसन पर बैठकर देखता है) यहाँ आसन 'उपविश्य' का आधार है। इसमें पंचमी विभक्ति होती है।

श्वशुराज्जिहेति–(श्वशुर से लज्जा करती है) अर्थात् श्वशुर को देखकर लज्जित होती है यहाँ 'श्वशुर' लयप् प्रत्ययान्त (वीक्ष्य) का कर्म है।

गम्यमाना इति–जिस क्रिया का वाक्य में प्रयोग नहीं होता अति तु प्रकरण आदि से जान ली जाती है, उसे 'गम्यमाना क्रिया' कहा गया है। ऐसी क्रिया भी कारक–विभक्ति का निमित्त होती है। जैसे–'कस्मात् = त्वम्?' (तुम कहाँ से आये?) 'नद्याः' (नदी से) यहाँ प्रकरण आदि से आना (आगमन) क्रिया का बोध होता है। उसके निमित्त से 'कस्मात्' और 'नद्याः' में पंचमी विभक्ति होती है।

*** (वा) यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पंचमी *तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ कालात्सप्तमी च वक्तव्वा वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा। कार्तिक्या आग्रहायणी मासे।**

व्याख्याः यतश्चेति (वा)–जिससे (आरम्भ करके) मार्ग या समय की गणना (माप) की जाती है उस स्थान या समय–वाची से पंचमी विभक्ति होती है। यहाँ निर्माण का अर्थ है–निमान, माप।

तद्युक्तादिति (वा)–उस पंचम्यन्त से अन्वित दूरी या मार्गवाची शब्द में प्रथमा अथवा सप्तमी विभक्ति होती है।

कालादिति (वा)– पंचम्यन्त से अन्वित कालावाची शब्द में सप्तमी विभक्ति होती है।

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा (वन से ग्राम एक योजन है)–यहाँ वन' से ग्राम की दूरी दिखाई गई है। 'यतश्च0' इत्यादि नियम के अनुसार 'योजन' में प्रथमा या सप्तमी विभक्ति है।

कार्तिक्या आग्रहायणी मासे–(कार्तिक की पूर्णिमा से अगहन की पूर्णिमा एक महीने में होती है)–यहाँ 'कार्त्तिकी' से 'आग्रहायणी' का अन्तर दिखाया गया है अतः कार्त्तिकी में पंचमी विभक्ति है और मास भर का अन्तर दिखलाया है अतः 'मास' से सप्तमी विभक्ति होती है।

अन्यारादितर्ते दिक्शब्दाचूत्तरपदाजाहियुक्ते 2.3.29

एतैर्योगे पंचमी स्यात्। अन्य इत्यर्थग्रहणम्। इतरग्रहणं प्रपचार्थम्। अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद्वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दष्टः शब्दो दिक्शब्दः। तेन सम्प्रति देशकालवत्तिना योगेपि भवति। चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः। अवयववाचियोगे तु न। तस्य परमाम्रेडितम्। 8.1.2 इति निर्देशात्। पूर्वं कायस्य। अचूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेपि षष्ठ्यतसर्थ 2.3.30 इति षष्ठी बाधितुं पथग्ग्रहणम्। प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात्। आच् दक्षिणा ग्रामत्। आहि दक्षिणाहि ग्रामात्।। अपादाने पचमी 2.3.28 इति सूत्रे कार्तिक्या प्रभतीति भाष्यप्रयोगात् प्रभत्यर्थयोगे पचमी। भवात्प्रभति आरभ्य वा सेव्यो हरिः। 'अपपरिबहिः- 2.1.12, इति समासविधानाज्ज्ञापकाद् बहिर्योगे पचमी। ग्रामाद् बहिः।।

व्याख्याः अन्यारात् इति–अन्य आरात् (दूर या समीप) इतर (अन्य), ऋते (विना), दिशावाची शब्द, 'अचु, धातु से बना हुआ है उत्तरपद जिनमें ऐसे प्राक् प्रत्यक् आदि शब्द; आच् (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणा' आदि शब्द तथा 'आहि' (तद्धित) प्रत्ययान्त 'दक्षिणाहि' आदि शब्द इनके योग में पचमी विभक्ति होती है।

अन्येति–सूत्र में 'अन्य' शब्द से 'भिन्न' अर्थ वाले सभी शब्दों (भिन्न, पर, इतर आदि) का ग्रहण होता है। 'इतर' शब्द भी अन्यार्थक है, इसका पथक् ग्रहण दिग्दर्शन मात्र के लिये किया गया है। (अथवा अनावश्यक है)।

अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् (कृष्ण से भिन्न)–यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार 'कृष्ण' शब्द से पंचमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'आराद् वानात्' (वन के समीप अथवा वन से दूर)। ऋते 'कृष्णात्' (कृष्ण के विना) 'पूर्वो ग्रामात् (ग्राम से पूर्व)।

1. दिशि दष्ट इति– सूत्र में दिक् शब्द का अर्थ है दिशा में देखा गया शब्द, इसलिये जो शब्द दिशा के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु इस समय देश या काल में उसका प्रयोग किया गया है उसके साथ भी पंचमी विभक्ति हो जाती है। जैसे–

चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः– में पूर्व शब्द का अर्थ है–पहले, अतः यह काल का वाचक है। पर यह दिशा में देखा गया शब्द है इसलिये इसके साथ भी 'चैत्रात्' में पंचमी विभक्ति होती है।

2. अवयवेति–अवयववाची पूर्व, पर आदि शब्दों के योग में पंचमी नहीं होती। आचार्य पाणिनि का तस्य परमाम्रेडितम् 8।1।2। प्रयोग ही इसमें प्रमाण है। यहाँ 'तस्य परम्' में 'पर' के योग में पंचमी नहीं। फलतः 'पूर्वं कायस्य' (शरीर का पूर्व भाग) में पंचमी विभक्ति नहीं होती अपि तु संबंध में षष्ठी विभक्ति होती है।

3. अचूत्तरपदस्येति–यद्यपि अचूत्तरपद 'प्राक्' 'प्रत्यक्' आदि शब्द दिक् शब्द ही है, अतः दिक् शब्द से अचूत्तरपद का भी ग्रहण हो जाता है तथापि सूत्र में उनका पथक् ग्रहण षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन 2।3।30 सूत्र से प्राप्त होने वाली षष्ठी का बाध करने के लिये किया गया है। इसका फल यह होता है कि प्राक्, प्रत्यक् आदि के योग में पंचमी विभक्ति ही होती है षष्ठी नहीं, जैसे–प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात्।

प्राक्, प्रत्यक् आदि शब्दों से स्वार्थ में अस्ताति प्रत्यय (5.3.27) होता है और उसका लुक् (अचेर्लुक् 5.3.30) हो जाता है। 'असताति' प्रत्यय अतसर्थक है।

दक्षिणा ग्रामात् (ग्राम से दक्षिण दिशा में)–यह आच् प्रत्यय का उदाहरण है। दक्षिण शब्द से आच् प्रत्यय होकर दक्षिण आ –दक्षिणा अव्यय शब्द है। इसके योग में ग्रामात् में पंचमी विभक्ति होती है।

दक्षिणाहि ग्रामात् (ग्राम से दूर दक्षिण दिशा में)–यह 'आहि' प्रत्यय का उदाहरण है। दक्षिण शब्द से 'आहि' (आहि च दूरे) प्रत्यय होकर 'दक्षिणाहि' शब्द बनता है। इसके योग में ग्रामात् में पंचमी विभक्ति होती है।

अपादान इति–अपादाने पंचमी विभक्ति होती है।

अपादान इति–अपादाने पंचमी 2.3.28 इस सूत्र पर 'कार्तिक्याः प्रभति' इस भाष्य के प्रयोग से सूचित होता है कि प्रभति अर्थ वाले शब्दों के योग में पंचमी विभक्ति होती है।

भवात् प्रभति आरभ्य वा सेव्यो हरिः {जन्म से लेकर (आमरण) हरि की भक्ति करनी चाहिये}–यहाँ प्रभति के योग में पंचमी विभक्ति होती है। यद्यपि किसी नियम से यह कही नहीं गई किन्तु 'अपादाने पंचमी 2।3।28' इस सूत्र के भाष्य में 'कार्तिक्याः प्रभति' यह प्रयोग किया गया है, इससे यह बात सूचित होती है कि प्रभत्यर्थक शब्दों के योग में पंचमी होती है।

अपपरीति–अपपरिति 2.1.12 इस सूत्र के द्वारा 'बहिः' का पंचम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है, इस ज्ञापन से बहिर् के योग में पंचमी होती है।

ग्प्रमाद बहिः (ग्राम के बाहर)–यहाँ 'बहिः' शब्द के योग में 'ग्राम' शब्द से पंचमी विभक्ति हो जाती है। यद्यपि किसी सूत्र आदि से 'बहिः' शब्द के साथ पंचमी विभक्ति का विधान नहीं किया गया तथापि अपपरिबहिरचवः पयम्या 2।1।12 इस सूत्र में 'बहिः' शब्द का पचम्यन्त के साथ समास विधान किया गया है। उससे ज्ञात होता है कि 'बहिः' के योग में पचमी विभक्ति होती है। यदि इसके साथ पंचमी विभक्ति न होगी तो पंचम्यन्त से समास कैसे होगा।

अपपरी वर्जने. 1.4.88

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः।

व्याख्याः वर्जने अर्थ को द्योतित करने में 'अप' और 'परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

आङ् मर्यादावचने. 1.4.89

आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात्। वचनग्रहणादभिविधावपि।

व्याख्याः आङ्मर्यादावचने–मर्यादा अर्थ में 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। 'आङ्मर्यादायाम्' ऐसा कहने से ही ऊपर लिखा अर्थ निकल आता फिर 'वचन' शब्द अधिक दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'अभिविधि' में भी 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा इष्ट है। मर्यादा का अर्थ है–उसके बिना (तेन विनेति मर्यादा)। अभिविधि का अर्थ है उसके सहित (तेन सहेत्यभिविधिः)।

पचम्यपाङ्परिभिः . 2.3.10

एतैः कर्मप्रवचनीयैर्योगे पंचमी स्यात्। अप हरेः, परि हरेः संसारः। परिरत्र वर्जने। लक्षणादौ तु हरिं परि। आमुक्तेः संसारः। आ सकलाद् ब्रह्म।

व्याख्याः अप, आङ् परि इन कर्मप्रवचनीय संज्ञकों के योग में पंचमी विभक्ति होती है।

अप हरेः, परि हरेः संसारः– विष्णु से दूर रहने पर ही जन्म मरण रूप संसार है) यहाँ 'अप' तथा 'परि' वर्जन अर्थ में है अतः इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है तथा उपर्युक्त नियम से इनके योग में 'हरेः' में पंचमी विभक्ति होती है।

लक्षणादाविति–जहाँ 'परि' शब्द लक्षण, इत्थंभूताख्यान आदि अर्थ में होगा वहाँ तो इसकी 'लक्षणेत्थंभूताख्यान आदि सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इससे द्वितीया ही होगी। जैसे–हरिं परि।

आमुक्तेः संसारः–(मुक्ति तक संसार है) यहाँ आ' मर्यादा अर्थ में है। मुक्ति होने पर जन्ममरण रूपी संसार नहीं रहता अतः मुक्ति मर्यादा है। इस 'आङ्' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में 'मुक्ति' शब्द से पंचमी विभक्ति हो जाती है।

आ सकलाद् ब्रह्म– (सभी तक ब्रह्म है)–यहाँ आङ् अभिविधि अर्थ में है क्योंकि सभी वस्तुओं में ही ब्रह्म है।

इस आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर इसके योग में उपर्युक्त नियम से 'सकलाद्' में पंचमी विभक्ति होती है।

प्रतिःप्रतिनिधिप्रतिदानयोः. 2.4.92

एतयोरर्थयो प्रतिरुवतसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः प्रतिनिधि तथा प्रतिदान अर्थ में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्. 2.3.11

अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पंचमी स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति। तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्।

व्याख्याः प्रतिनिधीति–जिसका कोई प्रतिनिधि अर्थात् प्रतिरूप होता है अथवा जिससे कोई वस्तु बदली जाती है उससे कर्मप्रवचनीय के योग में पंचमी विभक्ति होती है।

प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति– (प्रद्युमन कृष्ण के प्रतिनिधि हैं)–यहाँ 'प्रतिनिधि. आदि नियम से इसके योग में पंचमी विभक्ति होती है।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् (तिलों से उड़दो को बदलता है)–यहाँ तिलों से उड़त बदले जाते हैं इस प्रतिदान को प्रति शब्द द्योतित करता है अतः प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और इसके योग में 'तिलेभ्यः' शब्द में पंचमी विभक्ति होती है।

अकतर्यणे पंचमी .2.3.24

कर्तवर्जितं यदणं हेतुभूतं ततः पंचमी स्यात्। शताद् बद्धः अकर्तरि किम्? शतेन बन्धितः।।

व्याख्याः अकर्तयणे, इति–कर्ता से भिन्न जो ऋण (किसी का) हेतु हो, उससे पंचमी विभक्ति होती हैं

शताद् बद्धः–इसका अर्थ है–सौ (रुपये आदि) का ऋण न लौटाने के कारण बंध गया। यहाँ 'शत (ऋण) बन्धन का हेतु है अतः उपर्युक्त नियम से इससे पंचमी विभक्ति हो जाती है।

अकर्त्तरि किमिति–अकर्तरि शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि ऋण अर्थ में विद्यमान जिस शब्द की 'कर्ता' संज्ञा हो जाती है चाहे वह हेतु भी हो तो भी उसके योग में पंचमी विभक्ति नहीं होती। जैसे–'शतेन बन्धितः'; इसका अर्थ है–''सौ रुपये ने ऋणदाता से कर्जदार को बँधवा दिया'' शतेन बन्धितः अधमर्णः उत्तमर्णेन इत्यर्थः। 'बन्धितः' शब्द णिजन्त (प्रेरणार्थक) बन्ध् धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय होकर बना है 'अधमर्ण उत्तमर्णेन बद्धः' ''कर्जदार को ऋणदाता ने बाँधा'' यह साधारण दशा (अणिजन्त) का रूप होगा। 'शत' बाँधने की प्रेरणादेता है। यह प्रयोजन कर्ता है और हेतु भी (तत्प्रयोजको हेतुश्च)। यह शत की कर्तसंज्ञा हो जाने के कारण इससे पंचमी विभक्ति नहीं होती।

विभाषा गुणेस्त्रियाम् . 2.3.25

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पंचमी वा स्यात्। जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः। गुणे किम्? धनेन कुलम्। अस्त्रियां किम्? बुद्धया मुक्तः। विभाषेति योगविभागाद् गुणे स्त्रियां च क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति घटोनुपलब्धेः।।

व्याख्याः जो गुणवाचक शब्द हेतु को प्रकट करता है और स्त्रीलिङ्ग नहीं है उससे विकल्प से पंचमी विभक्ति होती है। पक्ष में ततीया विभक्ति होती है।

जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः (जड़ता के कारण बंध गया)–यहाँ 'जाड्य' बन्धन का हेतु है। यह गुणवाचक शब्द है और स्त्रीलिङ्ग में भी नहीं। अतएव इससे पंचमी तथा ततीया विभक्ति होती है।

गुणे किमिति–गुणवाचक शब्द से पंचमी होती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि जो शब्द गुणवाचक नहीं उसमें पंचमी विभक्ति नहीं होती अपितु हेतु में ततीया विभक्ति ही होती है, जैसे–धनेन कुलम् (धन के कारण कुल)।

अस्त्रियां किमिति–सूत्र में 'अस्त्रियाम्' शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि जो शब्द गुणवाचक हो किन्तु स्त्रीलिङ्ग

हो उससे पंचमी विभक्ति न होगी; अपितु हेतु में ततीया विभक्ति ही होती है जेसे—बुद्धया मुक्तः (बुद्धि के कारण मुक्त हो गया) यहाँ 'बुद्धि' से ततीया विभक्ति होती है।

विभाषा इति योगविभागाद् इति—'विभाषा गुणेस्त्रियाम्'' इस सूत्र में विभाग करके 'विभाषा' एक सूत्र मान लेते है। उसमें ऊपर से 'हेतौ' ओर 'पंचमी'; शब्द की अनुवत्ति हो जाती है तथा उसका अर्थ होता है—हेतु में विकल्प से पंचमी विभक्ति होती है। इसका फल यह होता है—

1. कहीं—कहीं गुणवाचक शब्द न होने पर भी पंचमी विभक्ति हो जाती है जैसे—'धूमाद् अग्निमान्'— (धुआँ होने से अग्नि वाला है)—यहाँ 'घूम' गुणवाचक नहीं तथापि पंचमी विभक्ति होती है।

2. कहीं स्त्रीलिङ्ग शब्दों से भी हेतु में पंमची विभक्ति हो जाती है, जैसे—''नास्ति घटोनुपलब्धेः'' (उपलब्धि न होने से घट नहीं है)—यहाँ ''अनुपलब्धि'' शबद स्त्रीलिङ्ग है तथापि पंचमी विभक्ति हो जाती है।

पथग्विनानानाभिस्ततीयान्यतरस्याम् . 2.3.32

एभिर्योगे ततीयास्यात्पचमीद्वितीये च। अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चयार्थम् पचमीद्वितीये चानुवर्तेते। पथग् रामेण रामात् रामं वा। एवं विना नाना।

व्याख्याः पथग्विनेति—पथक्, विना, नाना के योग में विकल्प से ततीया विभक्ति होती है और (पक्ष में) पंचमी तथा द्वितीया विभक्ति भी होती है।

अन्यतरस्यामिति—सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' शब्द (जिसका अर्थ वा या 'विकल्प से' है)—पंचमी और द्वितीया विभक्ति के समावेश के लिये है। पंचमी और द्वितीया दोनों की अनुवत्ति आ रही है; पंचमी की मण्डूकप्लुति द्वारा अपादाने पंचमी 2.3.28 से ओर द्वितीया की पहले सूत्र 'एनपा द्वितीया 2.3.31' से।

पथग् रामेण रामात् रामं वा (राम से अलग) —यहाँ पथक् शब्द के योग में 'राम' शब्द से ततीया अथवा पंचमी द्वितीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार—

रामात् रामेण, रामं वा विना जीवितुं नोत्सहे (राम के विना में जी नहीं सकता) 'नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा' (नारी के विना जीवन निष्फल है) आदि प्रयोगों में विना तथा नाना के योग में ततीया, पंचमी अथवा द्वितीया विभक्ति होती है।

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य. 2.3.33

एभ्योद्रव्यवचनेभ्यः करणे ततीयापंचम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकाद्वा मुक्तः। द्रये तु-स्तोकेन विषेण हतः।

व्याख्याः स्तोक (थोड़ा), अल्प (थोड़ा), कृच्छ्र (कष्ट), कतिपय (कुछ) इन शब्दों का जब द्रव्य के लिये प्रयोग नहीं होता तो इनसे करण में ततीया अथवा पंचमी विभक्ति (विकल्प से) होती है। असत्त्ववचनस्य का अर्थ है—'अद्रव्यवाची का' अर्थात् जब इनका प्रयोग द्रव्य के समानाधिकरण रूप में नहीं होता।

स्तीकेन स्तोकाद्वा मुक्त— इसका अर्थ है—थोड़े से (प्रयास) से ही मुक्त हो गया। यहाँ 'स्तोक' शब्द किसी द्रव्य का विशेषण नहीं, अतः उपर्युक्त नियम से इसमें ततीया तथा पंचमी विभक्ति विकल्प से हो जाती है। इसी प्रकार 'अल्पेन अल्पाद् वा मुक्तः, 'कृच्छ्राद् वा मुक्तः', 'कतिपयेन कतिपयाद् वा मुक्तः' आदि प्रयोग होते हैं।

द्रव्ये स्थिति—जहाँ 'स्तोक' आदि शब्दों का द्रव्य के लिये प्रयोग किया जाता है अर्थात् ये किसी द्रव्यवाची शब्द के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं वहाँ इनमें केवल ततीया विभक्ति ही होती है, पंचमी नहीं, जैसे— 'स्तोकेन विषेण हतः' (थोड़े से विष से मारा गया) यहाँ 'स्तोक' शब्द 'विष' का विशेषण है। 'विष' द्रव्य वा ची है।

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च. 2.3.35

एभ्यो द्वितीया स्याच्चात्पचमीततीये। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम् ग्रामस्य दूरं-दूरात्-दूरेण वा। अन्तिकम् अन्तिकात्-अन्तिकेन वा। असत्त्ववचनस्येत्यनुवत्ररिह। अदूरः पन्थाः।। इति पंचमी।।

व्याख्याः दूरान्तिकेति —दूर तथा समीप (अन्तिक) अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया होती है और पंचमी तथा ततीया विभक्ति भी।

ये विभक्तियाँ केवल प्रातिपदिकार्थ में होती हैं। इनका अन्य कोई अर्थ नहीं होता। यह नियम प्रथमा विभक्ति का अपवाद है।

ग्रामस्य दूरम्, दूरात् दूरेण वा – (ग्राम से दूर)–यहाँ उपर्युक्त नियम के अनुसार 'दूर, शब्द से द्वितीया, पंचमी तथा ततीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार–''ग्रामस्य अन्तिकम्, अन्तिकेन वा' {ग्राम के निकट} में भी।

असत्त्वेति–'दूरान्तिकार्थेभ्य.' सूत्र में भी असत्त्वचनस्य {अद्रव्यवाची} की अनुवत्ति है जो दूर और अन्तिक अर्थ वाले शब्द व्य' के विशेषण नहीं उनमें ही ऊपर का नियम लागू होता है। अतः ''दूरः पन्थाः'' में दूर पथ का विशेषण है और ''पन्थाः'' द्रव्यवाची शब्द है। अतः प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इति पंचमी।।

षष्ठी विभक्ति।

षष्ठी शेषेः 2.3.50

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसंबंधः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात्–राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि संबंधमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव, सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः। फलानां तप्तः।।

व्याख्याः षष्ठी शेषे–शेष का अर्थ है–जो कहा जा चुका है उससे बचा हुआ {उक्तादन्यः शेषः}। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण कारक और प्रातिपदिकार्थ का इससे पूर्व अष्टाध्यायी में वर्णन किया जा चुका है, अतएव उनसे बचा हुआ, जो स्व {अपनी वस्तु धन या व्यक्ति} तथा स्वामी आदि का सम्बन्ध है, वह शेष है। उस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है।

टिप्पणीः षष्ठी विभक्ति प्रायेण संज्ञा और सर्वनामों के पारस्परिक संबंध को प्रकट करती है और यह 'संबंध' संस्कृत में 'कारक' नहीं माना जाता, यह पहले कहा जा चुका है। किन्तु जब षष्ठी विभक्ति कर्म आदि में होती है तो यह कारक विभक्ति भी हुआ करती है।

राज्ञ पुरुषः (राजा का पुरुष)–यहाँ राजा स्वामी है। उसका स्वामित्व पुरुष पर दिखलाया गया है, अतः पुरुष 'स्व' है। स्व तथा स्वामी को संबंध दिखलाने में जिसका (किसी पर) स्वामित्व दिखाया जाता है उससे षष्ठी विभक्ति हो जाती है, इसलिये 'राज्ञः' में षष्ठी विभक्ति है।

कर्मादीनामपि, इति–जब कर्म आदि कारकों में केवल संबंध बतलाने की इच्छा होती है (कर्तत्वादि की विवक्षा नहीं होती) तो वहाँ (शेषे) षष्ठी विभक्ति ही होती है। जैसे– 'सतां गतम्, –यहाँ भाव में क्त प्रत्यय है। ''सत्पुरुषों का गमन'' यह अर्थ होता है अतः संबंध मात्र की विवक्षा में कर्ता सत् शब्द से षष्ठी विभक्ति होकर 'सताम्' शब्द बनता है। इसी प्रकार–

सर्पिषो जानीते–इसका अर्थ है–''सर्पिषा उपायेन प्रवर्तते'' अर्थात् 'घत के द्वारा प्रवत्त होता है।' यहाँ सर्पिस्' (घत) प्रवत्ति का करण है। उसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

मातुः स्मरति–(माता को स्मरण करता है)–यहाँ 'माता' स्मरण का कर्म है। कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

एधोदकस्य उपस्कुरुते (काष्ठ जल को परिष्कृत करता है अथवा काष्ठ और जल को परिष्कृत करता है)–''एधः'' शब्द अकारान्त पुं0 है। अथवा 'एधस्' सकारान्त नपुं0। इसका अर्थ है काष्ठ। पहिले अर्थ में 'एधः' पथक् शब्द है। यह कर्ता है। उदक शब्द का अर्थ है–जल (उदक) यह कर्म है। कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है। दूसरे अर्थ में 'एधाश्च उदकं चैषां समाहारः एधोदकम्' यहाँ एध शब्द अकारान्त है। 'एधोदक' समस्त पद कर्म है। उसमें संबंध की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति होती है।

भजे शम्भोश्चरणयोः (शम्भु के चरणों का भजन करता हूँ) यहाँ 'चरण' कर्म है। इसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

फलानां तप्तः (फलों से तप्त हुआ)–यहाँ फल करण है। इसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

षष्ठी हेतुप्रयोगे. 2.3.26

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतोर्वसति।

व्याख्याः यदि हेतु शब्द का प्रयोग हो तथा कारणता प्रकट करनी हो तो (हेतु शब्द तथा कारणबोधक शब्द दोनों में) षष्ठी विभक्ति होती है।

जैसे– अन्नस्य हेतोर्वसति (अन्न के लिये बसता है)–यहाँ रहने का प्रयोजन अन्न है। हेतु शब्द का प्रयोग भी किया गया है। इसलिये 'अन्न' शब्द तथा हेतु शब्द दोनों से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

सर्वनाम्नस्ततीया च . 2.3.27

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये ततीया स्यात् षष्ठी च। केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः।

व्याख्याः सर्वनाम्नस्ततीया चेति–सर्वनाम के साथ हेतु शब्द का प्रयोग होने पर हेतु प्रकट करने के लिये (सर्वनाम और हेतु शब्द दोनों में) ततीया तथा षष्ठी विभक्ति होती है।

केन हेतुना वसति–(किस लिये रहता है?) यहाँ हेतु शब्द का सर्वनाम के साथ प्रयोग किया गया है तथा हेतु प्रकट करना है, अतएव उपर्युक्त नियम से 'केन तथा हेतुना' दोनों में ततीया विभक्ति होती है। पक्ष में षष्ठी विभक्ति होती है– 'कस्य हेतोः'।

(वा) निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्

किं निमित्तं वसति। केन निमित्तेन। कस्मै निमित्तायेत्यादि। एवं किं कारणम्, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि। प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्य। ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि।।

व्याख्याः निमित्तेति (वा)–निमित्त शब्द के पर्यायवाची (कारण, प्रयोजन आदि) शब्दों का प्रयोग होने पर प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं । जैसे–

किं निमित्तं वसति (किस लिये रहता है)–यहाँ प्रथमा या द्वितीया विभक्ति है।

केन निमित्तेन (ततीया) कस्मै निमित्ताय (चतुर्थी)। इसी प्रकार–कस्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते इत्यादि तथा निमित्त के पर्यायवाची के प्रयोग में ''किं कारणम्'' इत्यादि होते हैं।

प्रायग्रहणाद् इति–वार्तिक में प्राय शब्द का ग्रहण किया है। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं होता (असर्वनाम्नः) वहाँ प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति नहीं होती, अन्य सब विभक्तियाँ होती हैं। जैसे–

ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः {ज्ञान के लिये हरि की सेवा करनी चाहिये}–यहाँ 'ज्ञान' तथा 'निमित्त' दोनों शब्दों से उपर्युक्त नियम के अनुसार ततीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'ज्ञानाय निमित्ताय' आदि में चतुर्थी इत्यादि हो जाती है। किन्तु 'ज्ञान' शब्द सर्वनाम नहीं है अतः यहाँ प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति नहीं होती।

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन 2.3.30

एतद्योगे षष्ठी स्यात्। 'दिक्शब्द-' इति पंचम्या अपवादः। ग्रामस्य दक्षिणतः। पुरः पुरस्तात्। उपरि उपरिष्टात्।

व्याख्याः षष्ठ्यतसर्थ इति–अतस् (अतसुच्) प्रत्यय तथा उसके अर्थ वाले प्रत्यय लगाकर बने हुए (दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात् इत्यादि) शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

'अन्यारात्0 2.3.29।। सूत्र में दिक् शब्द का ग्रहण करने से दक्षिणतः आदि के योग में पंचमी प्राप्त थी उसकी यह सूत्र अपवाद है, अर्थात् उस पंचमी को बाधकर षष्ठी का विधान करता है।

ग्रामस्य दक्षिणतः–(ग्राम के दक्षिण की ओर)–यहाँ दक्षिणतः में अतसुच्, (दक्षिणोत्तराभ्यामतुसुच् 5।3।28) प्रत्यय है। यह प्रत्यय दिग्देशकालवाची शब्दों से स्वार्थ में कहा गया है। उपर्युक्त नियम के अनुसार दक्षिणतः के योग में 'ग्राम' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

इसी प्रकार–ग्रामस्य पुरः, यहाँ शब्द पूर्व शब्द से 'असि' प्रत्यय होकर बना है। पूर्व को पुर् आदेश होकर पुर + अस् पुर+ हो जाता है। (पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् 5.3.39)। असि प्रत्यय भी अतसुच् अर्थ में ही है। पुरस्तात पूर्व+अस्तति पुरः अस्तात् पुरस्तात्। उपरि तथा उपरिष्टात् दोनों शब्द अतसर्थ प्रत्यय के प्रकरण में ऊर्ध्व शब्द से रिल् तथा रिष्टाति प्रत्यय और ऊर्ध्व को 'उप आदेश निपातन द्वारा बनाये गये हैं। इनके योग में षष्ठी विभक्ति होती है–''ग्रामस्य'' उपरिष्टात्'' इत्यादि।

एनप द्वितीया 2.3.31

एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात्। एनपेति। योगविभागात्षष्ठ्यपि। दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा। एवमुत्तरेण।

व्याख्या: एनपेति–एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। यहाँ 'एनपा' इतना सूत्र अलग मानकर उसमें षष्ठ्यसर्थ0 2.3.30 षष्ठी की अनुवत्ति लाते हें इस प्रकार 'एनप्' प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है।

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा {ग्राम के दक्षिण}–दक्षिणेन शब्द से एनप् प्रत्यय {एनबन्यतरस्यामदूरेपचम्याः 5.3.35} होकर बना है। इसके योग में उपर्युक्त नियम के अनुसार ''ग्राम'' वा ''ग्रामस्य'' में द्वितीया, या षष्ठी विभक्ति होती है।

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्. 2.3.34

एतैर्योगे षष्ठी पंचमी च। दूरं निकटं। ग्रामस्य ग्रामाद्वा।

व्याख्या: दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों के योग में षष्ठी तथा पंचमी विभक्ति होती है। जैसे–दूरं निकटं ग्रामस्य, ग्रामाद् वा (ग्राम से दूर या समीप)।

ज्ञोविदर्थस्य करणे . 2.3.51

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विविक्षते षष्ठी स्यत्। सर्पिषो ज्ञानम्।

व्याख्या: ज्ञोविदर्थस्येति–अविदर्थस्य का अर्थ है–ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली। ज्ञान से भिन्न अर्थ वाली जानाति (ज्ञा) के करण में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

ज्ञानम्–इसका अर्थ है–घत संबंधी (घत द्वारा होने वाली) प्रवत्ति। यहाँ ज्ञा धातु ज्ञानपूर्वक प्रवत्ति अर्थ में है। 'सर्पिस्' (घत) करण है। इसमें संबंध की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

ज्ञोविर्थस्य करणे 2.3.51 से लेकर व्यवहृपणोः समर्थयोः 2.3.57 तक से सूत्रों में तथा कृत्वोर्थप्रयोगे 2.3.64 इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवत्ति आती है अतः 'पष्ठी शेषे' सूत्र से ही इनके विषय में षष्ठी विभक्ति सिद्ध है। इन सूत्रों से फिर षष्ठी का विधान इसलिए किया गया है कि ''सर्पिषो ज्ञानात्'' आदि में षष्ठी समास न हो, जैसा कि कहा है–''प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते''।

अधीगर्थदयेशां कर्मणि. 2.3.2

एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। मातुः स्मरणम्। सर्पिषो दयनम् ईशनं वा।।

व्याख्या: अधीगर्थ इति–{अधि पूर्वक इ धातु (इक् स्मरणे)= अधीक्, अधीगर्थ का अर्थ है–स्मरणार्थक}। स्मरणार्थक धातुएँ तथा दय् (दानगतिरक्षणेषु) ईश् (ऐश्वर्ये) इनके कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी न समस्यते''

मातुः स्मरणम्– {माता को याद करना}, सर्पिषो दयनम् {घत का दान देना,} सर्पिषो ईशनं {घत का यथेष्ट प्रयोग} इनमें 'मातुः' तथा सर्पिषः में षष्ठी विभक्ति हो जाती है तथा यहाँ षष्ठी समास नहीं होता।

कृाः प्रतियत्ने . 2.3.53

कृाः कर्मणि शेषे षष्ठी स्याद् गुणाधाने। एधोदकस्योपस्करणम्।।

व्याख्या: कृा् प्रतियत्न इति {प्रतियत्न का अर्थ है–गुणाधान अर्थात् किसी वस्तु में अन्य गुणों की स्थापना करना,जैसे–जल

में उष्णता पैदा करना}। कृ धातु के कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर गुणाधान अर्थ में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे—''एधोदकस्य उपस्करणम्''।

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरः. 2.3.54

भावकर्तकाणां ज्वरवर्जितानां रुजाथार्नां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। चौरस्य रोगस्य रुजा।।

व्याख्याः रुजार्थानाम् इति—ज्वरि धातु को छोड़कर अन्य रोगार्थक धातुओं के कर्म से संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है जबकि उनका कर्ता भाववाचक शब्द हो।

चौरस्य रोगस्य रुजा (रोग द्वारा की हुई चोर की पीड़ा)—यहाँ भाववाचक 'रोग' शब्द रुजा अर्थात् पीड़ा का कर्त्ता है, चौर पीड़ा का कर्म है। उससे संबंध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

(वा) अज्वरिसंताप्योरिति वाच्यम् रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा। रोगकर्तकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः।।

व्याख्याः अज्वरि —इति (वा)—सूत्र में 'अज्वरेः' के स्थान पर ''अज्वरिसन्ताप्योः'' यह कहना चाहिये अर्थात् ज्वरि और सन्तापि धातु को छोड़कर। इसलिये—'रोगस्य चौरज्वरः' अथवा 'चौरसन्तापः' यहाँ चौरस्य ज्वरः (चौरज्वरः) में इस नियम से षष्ठी नहीं हुई, अपितु 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति हुई तथा 'चौरज्वरः' में षष्ठी समास हो गया। इस सूत्र से षष्ठी होने पर तो समास न होता। यहाँ भी अर्थ उसी प्रकार होता है—'रोग द्वारा किया हुआ चौर संबंध ाी ज्वार आदि।'

आशिषि नाथः 2.3.55

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। सर्पिषो नाथनम्। आशिषीति किम्? माणवकनाथनम् तत्सम्बन्धिनी याचेत्यर्थः।।

व्याख्याः आशिषीति—आशीः अर्थ वाली नाथ् धातु के कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है। 'आशीः' का अर्थ है अभिलाषा।

सर्पिषो नाथनम् (कर्मरूप घत संबंधी अभिलाषा)—यहाँ 'मेरे घत होवे' यह इच्छा है। 'सर्पिस्' नाथ् धातु का कर्म है। इसमें संबंध मात्र की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। यहाँ भी समास नहीं होता।

आशिषि किमिति— सूत्र में 'आशिषि' शब्द का क्या प्रयोजन है? यह कि जब नाथ् धातु ''आशीः'' अर्थ में होती है तभी उपर्युक्त नियम से षष्ठी होती है, अन्यथा नहीं। जैसे—माणवकनाथनम् यहाँ पर यह षष्ठी नहीं होती। इसका अर्थ है—माणवक संबंधी याचना। यहाँ माणवक से कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा में (षष्ठी शेषे) षष्ठी विभक्ति होती है और षष्ठी समास हो ही जाता ळै।

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्. 2.3.56

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। चौरस्योज्जासनम्। निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा। चौरस्य निप्रहणनम्। प्रणिहननम्। निहननम्। प्रहणनं वा। नट अवस्यन्दने चुरादिः। चौरस्योन्नाटनम्। चौरस्य क्राथनम्। वषलस्य पेषणम्। हिंसाया किम्। धानापेषणम्।।

व्याख्याः जसीति—हिंसार्थक जासि (णिजन्त 'जसु ताडने' तथा ''जसु हिंसायाम्'') नि तथा प्र पूर्वक हन्, नाट् (णिजन्त नट्) क्राथ (णिजन्त क्रथ्) पिस् इन धातुओं के कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

चौरस्य उज्जासनम् (चौरी संबंधी हिंसा)—यहाँ चौर उज्जासन का कर्म है। इसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने पर उपर्युक्त नियमानुसार षष्ठी विभक्ति होती है।

निप्रौ, इति—नि और प्र उपसर्ग इसी क्रम से मिले हुए (निप्र) विपरीत क्रम से मिले हुए (विपर्यस्तौ—प्रति इति) तथा पथक्– 2 रूप में (व्यस्तौ) लिये जाते हैं; अत एव ''चौरस्य निप्रहणनम्'', ''चौरस्य प्रणिहननम्' ''चौरस्य निहननम्'', ''चौरस्य प्रहणनम्'' षष्ठी में विभक्ति होती है।

चौरस्य उन्नाटनम्–यहाँ ''नट अवस्कन्दने'' चुरादिगण की धातु ली जाती है। अवस्कन्दन का अर्थ नाट्य है किन्तु उपसर्ग लगने से इसका अर्थ हिंसन हो जाता है। इसी प्रकार चौरस्य क्राथनम्, वषलस्य पेषणम् में भी षष्ठी होती है।

हिंसायां किमिति–हिंसा अर्थ में ही यह षष्ठी होती है ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि– 'धनापेषणम्' (धानानां पेषणम्) यहाँ कृदन्त के योग में ही (कर्तकर्मणोः कृति अथवा षष्ठी शेषे से) षष्ठी होती है तथा यहाँ षष्ठी समास हो जाता है। जासि0 86, इत्यादि सूत्र से जहाँ षष्ठी होती है वहाँ षष्ठी समास नहीं होता यह कहा जा चुका है।

व्यवहृपणोः समर्थयोः 2.3.57

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात्। द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता। शतस्य व्यवहरणं पणनं वा समर्थयोः किम्? शलाकावयहारः। गणनेत्यर्थः। ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः।

व्याख्याः समान अर्थ वाली (वि+ अव पूर्वक हृ हरणे तथा पण व्यवहारे स्तुति च) धातु के कर्म में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

द्यूत इति–जुआ खेलना ओर क्रय–विक्रय करना इन दो अर्थों में व्यवहृ तथा पण धातु समान अर्थ वाली है।

शतस्य व्यवहरणं पणनं वा– {सौ का क्रय विक्रय या जुआ}–यहाँ 'शतस्य व्यवहरति' इस अर्थ में 'शत' कर्म है इसमें संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

समर्थयोः किमिति–सूत्र में समान अर्थ वाली {समर्थयोः} क्यों कहा? इसलिये कि द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार से भिन्न अर्थ में इन धातुओं के कर्म में, इस नियम से, षष्ठी नहीं होती। जैसे–शलाकाव्यवहारः यहाँ 'व्यवहार' का अर्थ गणना है। यहाँ 'षष्ठी शेषे' से षष्ठी विभक्ति होकर षष्ठी समास हो जाता है। इस प्रकार 'ब्राह्मणपणनम्' अर्थात् 'ब्राह्मण की स्तुति' यहाँ भी।

दिवस्तदर्थस्य. 2.3.58

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात्। शतस्य दीव्यति। तदर्थस्य किम्? ब्राह्मणं दीव्यति। स्तौतीत्यर्थः।।

व्याख्याः दिव इति– {सौ को दाँव पर या व्यवहार में लगाता है}–यहाँ 'शत' दीव्यति का कर्म है। इसमें उपर्युक्त नियम से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

टिप्पणीः इस सूत्र में 'शेषे' की अनुवत्ति नहीं आती, अतः यह षष्ठीविधान समास की निवत्ति के लये नहीं है, इसी से 'दीव्यति' यह तिङन्त का प्रयोग दिया है पहले सूत्रों के समान कृदन्त का नहीं।

तदर्थस्य किम् इति–द्यूत तथा क्रय विक्रय व्यवहार इन अर्थों में प्रयुक्त 'दिव्' धातु के कर्म में षष्ठी होती है जहाँ इन दोनों अर्थों से भिन्न अर्थ में दिव् धातु का प्रयोग होता है वहाँ कर्म में षष्ठी नहीं होती, अतएव 'ब्राह्मणं दीव्यति' में कर्म में द्वितीया ही होती है। यहाँ दीव्यति का अर्थ है–स्तुति करता है।

विभाषोपसर्गे. 2.3. 59

पूर्वयोगापवादः शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति

व्याख्याः उपसर्ग पूर्वक दिव् धातु के कर्म में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। यह पहले नियम का अपवाद है। जैसे–शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति–यहाँ षष्ठी तथा द्वितीया विभक्ति विकल्प से होती है।

प्रष्यब्रुवोर्हविषो देवतासंप्रदाने. 2.3.61.

देवता संप्रदानेर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रु वोः कर्मणोः हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात्षष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपासा मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा।

व्याख्याः प्रेष्यब्रु वोरिति–{देवतासम्प्रदाने शब्दे का अर्थ है–'देवता सम्प्रदानं यस्य तस्मिन् अर्थात् जहाँ देवता का उद्देश्य करके

कुछ दिया जाता है। प्रेष्य शप्द प्र पूर्वक इष् धातु (दिवादि) का लोट् लकार मध्यम पुरुष का एकवचन है। इसके साहचर्य से 'ब्रा' धातु का भी लोट् मध्यमपुरुष का एकवचन ही लिया जाता है}—देवतासम्प्रदान अर्थ में विद्यमान प्रेष्य तथा (ब्रूहि) के कर्म हविः वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

आग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रू हि वा— यहाँ हविः विशेषवाचक वपा तथा मेदस् शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है और हविस् शब्द से भी।

कृत्वोर्थप्रयोगे कालेधिकरणे . 2.3.64

कृत्वोर्थानां प्रयोगे कलावाचिन्यधिकरणे शेष षष्ठी स्यात्। पंचकृत्वोहो भोजनम्। द्विरह्नो भोजनम्। शेषे किम्? द्विरहन्यध्ययनम्।।

व्याख्याः कृत्व वाले प्रत्ययों के प्रयोग में कालवाचक अधिकरण में संबंध मात्र की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है।

क्रिया की आवत्ति को प्रकट करने के लिये संख्या से कृत्वसुच् प्रत्यय होता है—'संख्यायाः क्रियाभ्यावत्तिगणने कृत्वसुच्'। 5.4.17।

पचकृत्वोहो भोजनम् {दिन में पाँच बार भोजन}—यहाँ कालवाचक 'अहन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति {अह्नः} हो गई है।

द्विरह्नो भोजनम् {दिन में दो बार भोजन}—यहाँ द्वि शब्द से कृत्सुच् प्रत्यय के अर्थ में सुच् प्रत्यय हुआ है।[1] इसके योग में 'अहन्' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

शेषे किम् इति—संबंध मात्र की विवक्षा में ही षष्ठी, विभक्ति होती है, अतएव 'द्विः अहनि अध्ययनम्' यहाँ अहनि में सप्तमी विभक्ति हुई है क्योंकि यहाँ अधिकरण की विवक्षा है।

कर्तकर्मणोः कृति . 2.3.65

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात्। कृष्णस्य कृतिः । जगतःकर्ता कृष्णः।।

व्याख्याः कर्तकर्मणोः कृति—कृदन्त के योग में कर्ता तथा कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है।

कृष्णस्य कृति—{कृष्ण का कार्य}—यहाँ पर 'कृति' शब्द कृदन्त है। यह कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय जोड़ने से बना है। इसका कर्त्ता कृष्ण है। अतः कृदन्त शब्द {कृति} के योग में कर्त्ता 'कृष्ण' शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

जगतः कर्त्ता कृष्णः {जगत् का कर्त्ता कृष्ण}—यहाँ पर कर्त्ता शब्द कृदन्त है। यह 'कृ' धातु से तच् प्रत्यय होकर बना है। इसका कर्म 'जगत्' है। उपर्युक्त नियम के अनुसार जगत् शब्द से कृत्प्रत्ययान्त {कर्त} के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

(वा) गुणकर्मणि वेष्यते।

नेताश्वस्यस्रु ध्नस्य स्रु ध्नं वा। कृति किम्? तद्धिते मा भूत्। कृत-पूर्वी कटम्।।

व्याख्याः गुणकर्मणीति {वा} —कृत्प्रत्ययान्त द्विकर्मक धातु के योग में गौण कर्म में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है। मुख्य कर्म में नित्य षष्ठी होती है; जैसे— नेता अश्वस्य स्रुध्नस्य स्रुघ्नं वा {स्रुध्न नामक स्थान को घोड़ा ले जाने वाला}—नी धातु द्विकर्मक है। इसका मुख्य कर्म अश्व' है और गौण कर्म {'अकथितं च' के अनुसार} स्रुध्न है। उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार स्रुध्नस्य स्रुध्नं वा।

कृति किम् इति—सूत्र में 'कृति' शब्द का ग्रहण क्यों किया? इसलिये कि कृदन्त के प्रयोग में ही कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है, तद्धितान्त के प्रयोग में नहीं। इसका फल यह होता है कि ''कृतपूर्वी कटम्'' यहाँ कट शब्द से षष्ठी विभक्ति नहीं होती। 'पूर्वं कृतमनेन' इस अर्थ में 'कृत+पूर्व' शब्द से तद्धित इनि {पूर्वादिनिः 5 |2 |86। सपूर्वाच्च 5 |2 |87।} प्रत्यय होकर कृतपूर्वी शब्द बनता है। फिर कर्म की अपेक्षा होने पर 'कट' शब्द का कर्म रूप में अन्वय होता है। 'कट' शब्द 'कृत' शब्द का कर्म है अतः षष्ठी प्राप्त होती है किन्तु 'कृति' ग्रहण से तद्धितमात्र भी अधिक हो जाने पर षष्ठी विभक्ति नहीं हो पाती।

उभयप्राप्तौ कर्मणि. 2.3.66

उभ्योः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात्। आश्चर्यो गवां दोहोगोपेन।।

व्याख्याः जहाँ कृदन्त के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी प्राप्त होती है वहाँ कर्म में होती है कर्त्ता में नहीं।

आश्चर्यो गवां दोहोगोपेन (गोपाल से भिन्न व्यक्ति के द्वारा गोदोहन आश्चर्य की बात है)– यहाँ 'दोहः' कृदन्त है (दुह+घा्) इसके योग में अगोप कर्त्ता में तथा 'गो कर्म में षष्ठी प्राप्त है। उपर्युक्त नियम से कर्म में ही षष्ठी होती है। कर्त्ता (अगोपेन) में नहीं।

(वा) स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः।।

व्याख्याः स्त्रीलिङ्ग में होने वाले कृत् प्रत्यय 'अक' (ण्वुल् आदि) तथा 'अ' में यह नियम (उभयप्राप्तौ कर्मणि) नहीं लगता अर्थात् वहाँ कर्त्ता में भी षष्ठी विभक्ति हो जाती है और साथ ही कर्म में भी।

भेदिका विभित्सा वा रुद्रस्य जगतः–'यहाँ भेदिका' शब्द भिद् धातु से ण्वुल् प्रत्यय होकर (ण्वुल् व = अक) तथा स्त्रीलङ्ग में टाप् प्रत्यय होकर बना है। विभित्सा सन्नन्त भिद् धातु (बि+भिद्+स) से 'अ' 'प्रत्यय +टाप् प्रत्यय होकर बना है। इन दोनों के योग में उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार कर्त्ता (रुद्रस्य) तथा कर्म (जगतः) दोनों में ही षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) शेषे विभाषा स्त्रीप्रत्यय। इत्येके। विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा। केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा।।**

व्याख्याः शेषे विभाषति (वा)– 'अक्' 'अ प्रत्यय से भिन्न स्त्रीलिङ्ग कृत् प्रत्ययों के प्रयोग में कर्म में नित्य षष्ठी तथा कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है ऐसा कुछ आचार्यों का मत है, जैसे विचित्रा जगतः कृतिर्हरेः (हरिणा वा)। यहाँ हरि कर्त्ता है। इससे कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है तथा पक्ष में ततीया होती है।

केचिद् इति–कुछ आचार्यों का मत है कि 'शेषे विभाषा' यह विकल्प अक्, अ से भिन्न स्त्री प्रत्ययों में ही नहीं होता अपितु सामान्य रूप से (अविशेषेण) सभी प्रत्ययों के प्रयोग में होता है, अतएव 'शब्दानामुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा' यहाँ अनुशासन (ल्युट् प्रत्यय ,नपुं0) के योग में भी आचार्य शब्द से विकल्प से षष्ठी विभक्ति हो जाती है। 'अनुशासन' शब्दनपुंसक लिङ्ग है।

क्तस्य चवर्तमाने.2.3.67

वर्तमानर्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। न लोका 2.3.69 इति निषेधस्यापवादः। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा।।

व्याख्याः क्तस्य चेति–वर्तमान अर्थ में कहे 'क्त' प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती होती है।

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च 3.2.188 से वर्तमान अर्थ से 'क्त'प्रत्यय कहा गया है, उसी का यहाँ ग्रहण है। 'न द्वलोका0। 2.3.69। क्त (निष्ठा) प्रत्यय के योग में षष्ठी का निषेध किया जायेगा। उसका यह अपवाद है।

राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा (राजाओं द्वारा माना जाता है, जाना जाता है और पूजा जाता है)–यहाँ मतः (मन्+क्त) बुद्धः (बुधः+ क्त) और पूजितः (पूज्+ क्त) तीनों शब्द वर्तमान में क्त प्रत्यय होकर बने हैं। इनके योग में उपर्युक्त विभक्ति होती है।

अधिकरणवाचिनश्च. 2.3.68

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। इदमेषामासितं शयितं भुक्तं वा।।

व्याख्याः अधिकरणेति–अधिकरणवाची क्त प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

'क्तोकरणेति च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्यः' 3।4।76।। इस सूत्र के अधिकरण से क्त प्रत्यय का विधान किया गया है उसी का यहाँ ग्रहण है। यह भी 'न लोका0 इस निषेध का अपवाद है।

इदमेषामासतिं। शयितं गतं भुक्तं वा –यहाँ 'आसित' इत्यादि में क्त प्रत्यय अधिकरण में हुआ है आस्यते अस्मिन्

इति आसितम, शेते अस्मिन् इति शयितम्। इनके योग में 'एषाम्' में षष्ठी विभक्ति होती है। यह कर्त्ता में षष्ठी है।

न लोकव्ययनिष्ठाखलर्थतनाम् . 2.3.69

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात। लादेशः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सष्टिं हरिः। उःहरिं दिदक्षुः अलङ्करिष्णुर्वा। उक-दैत्यान् घातुको हरिः।।

व्याख्याः ल+उ+उक यह पदच्छेद है। ल (ल के आदेश शत, शानच् आदि),उ, उक, कृदन्त अव्यय (क्त्वा आदि), निष्ठा {क्त, क्तवतु} खल् प्रत्यय के अर्थ वाले प्रत्यय तथा तन्—इनके प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती। {यह नियम 'कर्तकर्मणोः कृति' से प्राप्त षष्ठी का निषेध करता है}।

कुर्वन् कुर्वाणो वा सष्टिं हरिः {सष्टि करता हुआ हरि}—यहाँ कुर्वन् शब्द शत प्रत्ययान्त है {कृ+ शत कुर्वन्} तथा 'कुर्वाणः' शानच् प्रत्ययान्त हैं {कृ+शानच कुर्वाण}। शत और शानच् लट् लकार {ल} के आदेश है। ये कृतसंज्ञक भी है। इनके योग में 'कर्तकर्मणोः कृति' से षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है। उपर्युक्त नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

हरिं दिदक्षुः {हरिदर्शन का इच्छुक}—यहाँ दिदक्षु सन्नन्त दश् धातु से 'उ' प्रत्यय होकर बना है। {दि+दश्+स+उ}, इसके योग में हरि में षष्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया ही होती है।

हरिस् अलङ्करिष्णुः—यहाँ अलं पूर्वक कृ् धातु से इष्णुच् प्रत्यय {3 ।2 ।36} हुआ है। {अलं +कृ इष्णु}। सूत्र में 'उ' से उकारान्त कृदन्त लिया जाता है इसलिये यहाँ भी षष्ठी विभक्ति का निषेध होता है।

दैत्यान् घातुको हरिः {दैत्यों के घातक हरि}—'घातुक' शब्द 'हन्' धातु से 'उक्' प्रत्यय होकर बना है। यह कृत्प्रत्यय है। इसके योग में षष्ठी प्राप्त थी। इस नियम से षष्ठी का निषेध हो जाता है और कर्म में द्वितीया होती है।

वा. कमेरनिषेधः

लक्ष्म्याः कामुको हरिः। अव्ययम्-जगत् सष्ट्वा। सुखं कर्तुम्। निष्ठा-विष्णुना हता दैत्याः। दैत्यान् हतवान् विष्णुः। खलर्थः-ईषत्करः प्रपचो हरिणा। तन्निति प्रत्याहारः शतशानचाविति तशब्दादारभ्यातनो नकारात्।

शानच्-सोमं पवमानः। चानश्-आत्मानं मण्डयमानः। शत-वेदम- धीयन्। तन्-कर्त्ता लोकान्।

व्याख्याः कमेरिति {वा}—'उक' प्रत्ययान्त 'कम' धातु के योग में षष्ठी का निषेध नहीं होता अतएव 'लक्ष्म्याः कामुको हरिः' यहाँ 'कामुक' {कृदन्त} के योग में लक्ष्मी शब्द से षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

जगत्सष्ट्वा {जगत् को रचकर} यहाँ सष्ट्वा शब्द—सज् धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर बना है और क्त्वा प्रत्ययान्त अव्यय होते हैं। न लोकाव्यय सूत्र से कृदन्त अव्यय के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध किया गया है, अतएव यहां षष्ठी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'सुखं कर्तुम्'। कर्तुम् = कृ+तुमुन् और तुमुन् अव्यय होते हैं। प्रत्ययान्त् विष्णुना हता दैत्या :{विष्णु के द्वारा दैत्य मारे गये} तथा दैत्यान् हतवान् विष्णु {विष्णु ने दैत्यों को मारा}—यहाँ 'हत' शब्द हन् धातु से क्त {हन् +क्त} प्रत्यय होकर बना है और 'हतवान' हन् धातु से क्तवतु {हन्+क्तवतु}। क्त क्तवतु की पाणिनिव्याकरण में निष्ठा संज्ञा है। उपर्युक्त नियम से निष्ठा के योग में षष्ठी का निषेध किया गया है। 'विष्णुना हताः दैत्याः' यहाँ क्त कर्म में हुआ है अतः कर्ता अनुक्त है उसमें षष्ठी नहीं होती अपितु ततीया विभक्ति होती है। 'दैत्यान् हतवान् विष्णुः' यहाँ क्तवतु कर्ता में हुआ है। कर्म अनुक्त है। उस कर्म {दैत्य} में षष्ठी नहीं होती अपितु द्वितीया विभक्ति होती है।

ईषत्करः प्रपचो हरिणा {हरि के लिये संसार –प्रपच सरल कार्य है}—यहाँ ईषत्कर = ईषत्+कृ+खल्। खल प्रत्यय कर्म में हुआ है। इसके योग में कर्ता {हरि} में षष्ठी प्राप्त होती थी उसका 'न लोकाव्यय0 ' नियम से निषेध किया गया है अतः कर्ता {हरिणा} में ततीया विभक्ति होती है।

तन् इति–सूत्र में तन् शब्द प्रत्याहार है। इसमें 'शतशानचौ' 3.2.34 के 'त' अक्षर से लेकर 'तन' 3.2.135 के नकार तक के प्रत्यय लिये जाते हैं इसके अन्तर्गत शानच्, चानश्, शत तथा तन, प्रत्यय आते हैं। इन प्रत्ययों के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती, जैसे–सोमं पवमानः–सोम को पवित्र करता हुआ, (पवमानः = पू+शानच्), आत्मानं मण्डयमानः–अपने आप को भूषित करता हुआ (मण्डि+चानश्), वेदमधीयन्–वेद को पढ़ता हुआ (अधिः इ+शत), कर्त्त लोकान्–संसार को बनाने वाला (कृ+तन्) यहाँ 'सोमम्', 'आत्मानम्', 'वेदम्' तथा 'लोकान्' सर्वत्र षष्ठी न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

तन् प्रत्ययाहार के अन्तर्गत 'लट्' के स्थान में होने वाले शत शनच् नहीं लिये जाते 'अधीयन्' में दूसरा ही 'शत' [1] प्रत्यय है।

द्विषः शतुर्वा

मुरस्य मुरं वा द्विषन्।। सर्वोयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः।। शेष षष्ठी तु स्यादेव। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। नरकस्य जिष्णुः।।

व्याख्याः द्विषः इतिः (वा)–शत प्रत्ययान्त द्विष् धातु के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध विकल्प से होता है, अतएव मुरस्य मुरं वा द्विषन् (मुर नामक राक्षस का शत्रु)–यहाँ द्विषन् शब्द शत प्रत्ययान्त है। 'मुर' शब्द से विकल्प से षष्ठी तथा द्वितीया विभक्ति होती है।

सर्वोयम् इति– न लोकाव्यय 0। इस सूत्र से कारक षष्ठी (कर्तकर्मणोः कृति आदि से प्राप्त) का ही निषेध होता है। शेषे षष्ठी (अर्थात् किसी कारक में, संबंध मात्र की विवक्षा हो जाने पर) तो हो ही जाती है अतएव 'ब्राह्मणस्य कुर्वन्' 'नरकस्य जिष्णुः' में षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

यह प्राचीनों का मत है। उनके मत में यहाँ 'कारक षष्ठी' न होने और शेषे षष्ठी हो जाने में शब्द–बोध का अन्तर है। नवीनों (नागेश भट्ट आदि) के मत में तो यहाँ शेषे षष्ठी भी नहीं होती।

अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः. 2.3.70

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात्। सतः पालकोवतरति। व्रजं गामी। शतं दायी।।

व्याख्याः अकेनोरिति–भविष्यत् अर्थ में कहे हुए 'अक' प्रत्यय तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य {अधमर्ण (कर्जदार) का भाव आधमर्ण्य} अर्थ में, उक्त 'इन' प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती। 'कर्तकर्मणाोः कृति' का अपवाद है।

सतः पालकोवतरति (जो सज्जनों का पालन करेगा वह अवतरित होता है,– यहाँ पालक शब्द भविष्यत् अर्थ में ण्वुल् (अक्) प्रतयय होकर बना है। इसके योग में सत् शब्द से षष्ठी न होकर द्वितीया (सतः) ही होती है।

व्रजं गामी (भविष्य में ब्रज को जाने वाला)–'गामी' शब्द गम् धातु से भविष्यत् काल में णिनि प्रत्यय (गम्ः इन्) होकर बना है। इसके योग में षष्ठी विभक्ति न होकर व्रज' से द्वितीया विभक्ति ही होती है।

शतं दायी (सौ–रुपये–का देनदार)–'दायी' शब्द 'दा' धातु से आधमर्ण्य अर्थ में 'णिनि' प्रत्यय होकर बना है (दा+इन्)। इसके योग में 'शत' शब्द से षष्ठी विभक्ति न होकर कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

कृत्यानां कर्तरि वा .2.3.71

षष्ठी वा स्यात्।

मयो मम वा सेव्यो हरिः.

कर्तरीति किम्? गेयो माणवकः साम्नाम्। 'भव्य-गेय0 3.4.68' इति कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म। अत्र योगो विभज्यते।। कृत्यानाम्।। उभय प्राप्ताविति नेति चानुवर्तते। तेन नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेनं ततः कर्तरि वा उक्तोर्थः।।

व्याख्याः कृत्यानाम् इति–कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है।

कृत् प्रत्ययों के अन्तर्गत कुछ प्रत्ययों की 'कृत्य' संज्ञा है। उनके योग में 'कर्तकर्मणोः कृति से नित्य षष्ठी प्राप्त थी। यह सूत्र विकल्प से षष्ठी करता है।

मया मम वा सेव्यो हरिः (मेरे द्वारा हरि सेवनीय है)–यहाँ 'सेव्य' शब्द सेव् (षेव सेवायाम्) धातु से कर्म में ण्यत् (कृत्य) प्रत्यय होकर बना है। कर्त्ता अनुक्त है। कर्त्ता में उपर्युक्त नियम से विकल्प से षष्ठी (मम) तथा पक्ष में ततीया विभक्ति होती है।

कर्तरीति किम् इति–सूत्र में 'कर्तरि' (कर्त्ता में) शब्द का क्या प्रयोजन है? कर्त्ता में प्राप्त होने वाली षष्ठी का ही विकल्प होता है अतएव जहाँ 'कृत्य' के योग में कर्म में षष्ठी प्राप्त है वहाँ इस नियम से विकल्प नहीं होता; जैसे– 'गेयो माणवकः साम्नाम्'– (माणवक साम का गायक है)– यहाँ 'गेय, शब्द 'गा' धातु से भव्यगेय0 आदि सूत्र से कर्त्ता से 'यत्' प्रत्यय (कृत्य) होकर बना है कर्म (सामन्) अनभिहित है अतः 'साम्नाम्' (सामन् ष0 बहु0) में नित्य ही षष्ठी विभक्ति होती है।

अत्रेति–कृत्यानां कर्तरि वा' सूत्र में योग –विभाग किया गया है। अर्थात् 'कृत्यानाम्' यह एक सूत्र माना जाता है जिसमें 'उभयप्राप्तौ' और 'न' की अनुवत्ति आती है तथा यह अर्थ होता है–'कृत्यों के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में प्राप्त होने वाली षष्ठी नहीं होती' जैसे–

'नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन' – (कृष्ण को गाय व्रज में ले जानी है)–यहाँ 'गावः' प्रधान कर्म है। 'तव्य' प्रत्यय प्रधान कर्म में ही हुआ है (प्रधाने नीह्रकृष्वहाम्)। 'व्रज' गौण कर्म तथा कृष्ण कर्ता है। ये दोनों अनुक्त है। अतः दोनों में षष्ठी है। किन्तु इस नियम से 'व्रज' (कर्म) तथा 'कृष्णेन' (कर्ता) में षष्ठी विभक्ति नहीं होती अपितु क्रमशः द्वितीया और ततीया विभक्तियाँ होती है।

'कर्तरि वा' यह दूसरा सूत्र मानना चाहिये। इसमें 'कृत्यानां की अनुवत्ति करके सूत्र, का ऊपर कहा हुआ अर्थ होता।

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां ततीयान्यतरस्याम् .2.3.72

तुल्यार्थैर्योगे ततीया वा स्यात्पक्षे षष्ठी। तुल्यः सदशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा। अतुलोपमाभ्यां किम्? तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति।

व्याख्याः तुल्यार्थैरिति–तुला और 'उपमा' दो शब्दों को छोड़ कर शेष तुल्य अर्थ वाले शब्दों के योग में विकल्प से ततीया विभक्ति होती है पक्ष में षष्ठी होती है।

तुल्यः कृष्णस्य कृष्णेन वा (वा)– कृष्ण के समान– यहाँ 'तुल्य' शब्द के साथ 'कृष्ण' शब्द से षष्ठी अथवा ततीया विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'सदशः कृष्णस्य कृष्णेन वा' 'समः कृष्णस्य कृष्णेन वा'।

अतुलोपमाभ्यां किम इति– तुला और उपमा के योग में केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है' जैसे 'तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति।'

संस्कृत के उच्चकोटि के कवियों में तुला और उपमा के साथ भी ततीया का प्रयोग किया है, जैसे–नभसा तुला समारुरोह (रघु0 8–15), :स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना (शिशु0 1–4)। (आप्टे 117)

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः. 2.3.73

एतदर्थैघोगे चतुर्थी वा स्यात्पक्षे षष्ठी आशिषि। आयुष्यं चिरं जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। एवं मद्रं भद्रं कुशलम् निरामयं सुखं शं अर्थः प्रयोजन हितं पथ्यं वा भूयात।

आशिषि किम्? देवदत्तस्यायुष्यमस्ति। व्याख्यानात् सर्वत्रार्थग्रहणम्। मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः। इति षष्ठी।।

व्याख्याः चतुर्थीति–आशीर्वाद में–आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ और हित इन अर्थ वाले शब्दों के साथ विकल्प से

चतुर्थी विभक्ति होती है। इसी प्रकार–'चिरजीवितं कृष्णाय कृष्णास्य वा भूयात्' तथा ''मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा कृष्णाय वा भूयात्।''

आशिषि किम् इति–आशीर्वाद में चतुर्थी अथवा षष्ठी विभक्ति हो जाती है, ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि तथ्य–कथन में केवल षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे–देवदत्तस्य आयुष्यमस्ति (देवदत्त की दीर्घायु है)।

व्याख्यानात् इति–यद्यपि व्याकरण में शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण किया जाता है (स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा) तथापि आचार्यों के व्याख्यान से यहाँ इन शब्दों के अर्थ वाले शब्द लिये जाते हैं। 'मद्र' और 'भद्र' (कलयाणवाची) शब्द समानार्थक हैं अतः इनमें से एक को सूत्र में न पढ़ना चाहिये अर्थात् एक निष्प्रयोजन है। इति षष्ठी विभक्ति।

सप्तमी विभक्ति–

आधारोधिकरणम् . 2.4.45

कर्तकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात्।।

व्याख्याः आधार इति–कर्ता और कर्म के द्वारा उनमें स्थित क्रिया का आधार अधिकरण कहलाता है।

टिप्पणीः अधिकरण क्रिया का साक्षात् आधार नहीं होता किन्तु कर्ता और कर्म के द्वारा अर्थात् वह कर्ता और कर्म का आधार होता है और क्रिया कर्ता या कर्म में रहती है।

सप्तम्यधिकरणे च. 2.3.36

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छास्ति। सर्वस्मिन्नात्मास्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा। 'दूरान्तिकार्थेभ्यः इति विभक्तित्रयेण सह चतस्त्रोत्र विभक्तयः फलिताः।।

व्याख्याः सप्तमी इति– अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है।

चकाराद् इति–सूत्र के 'च' शब्द से पहले सूत्र (दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च 2.3.25) से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' शब्द की अनुवत्ति आती है तथा दूर और समीप (अन्तिक) अर्थ वाले शब्दों में भी सप्तमी विभक्ति होती है।

औपश्लेषिक इति–आधार तीन प्रकार का होता है–

1. औपश्लेषिक
2. वैषयिक तथा
3. अभिव्यापक।

1. औपश्लेषिक–उपश्लेष का अर्थ है संयोगादि संबंध। जहाँ कर्ता अथवा कर्म आधार में संयोग आदि संबंध में रहते हैं, वह आधार औपश्लेषिक है, जैसे– कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है)–यहाँ बैठने वाले कर्ता का आधार (कट) के साथ संयोग संबंध है। 'कट' औपश्लेषिक आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

स्थाल्यां पचति–(देगची में पकाता है)–यहाँ 'स्थाली' पाकक्रिया के कर्म (तण्डुल आदि) का संयोग संबंध से आधार है। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

2. वैषयिक आधार–विषयता संबंध से होने वाला आधार वैषयिक आधार कहलाता है अर्थात् उसके साथ कर्ता का बौद्धिक संबंध होता है; जैसेः–

मोक्ष इच्छास्ति (मोक्ष में इच्छा है)–यहाँ कर्ता की मोक्ष के विषय में इच्छा है। मोक्ष इच्छा का विषय है अतः यह वैषयिक आधार हैं। इसकी अधिकरण संज्ञा होकर उसमें सप्तमी विभक्ति होती है।

3. अभिव्यापक–वह आधार है, जिसमें कोई वस्तु समस्त अवयवों में व्याप्त होकर रहती हो; जैसे–

सर्वस्मिन् आत्मास्ति (सब में आत्मा है)–आत्मा सब में व्यापक है अतः 'सर्व' अभिव्यापक आधार है। इसकी

अधिकरण संज्ञा होकर इसमें सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार ''तिलेषु तैलम्'' इत्यादि।

वनस्य दूरे अन्तिके वा (वन से दूर या निकट)—यहाँ दूर और अन्तिक में सप्तमी विभक्ति होती है। इस प्रकार दूरान्तिकार्थेभ्यः इस सूत्र से होने वाली तीन विभक्तियों (द्वितीया, पंचमी, तथा ततीया) सहित दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों में चार विभक्तियाँ (द्वितीया, ततीया, पंचमी तथा सप्तमी) होती हैं।

*** (वा) क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् अधीती व्याकरणे, अधीतमनेनेति विग्रह इष्टादिभ्यश्च 5.2.88।।**

व्याख्याः क्तस्येति (वा)—क्त प्रत्ययान्त शब्दों से इन् प्रत्यय होकर बने हुए शब्दों के कर्म में सप्तमी विभक्ति कहनी चाहिये।

अधीती व्याकरणे (व्याकरण पढ़ा हुआ)—यहाँ 'अधीती' शब्द 'अधीत' (अधि = इङ्+क्त) से कर्ता में 'इनि' प्रत्यय होकर बना है (अधीत+इन्—अधीतिन् = अधीति प्र0 एक0)।' व्याकरणम् अधीतवान्' यह अर्थ होता है । यहाँ व्याकरण कर्म है और उपर्युक्त वार्तिक के अनुसार कर्म में सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

*** (वा) साध्वसाधुप्रयोगे च साधुः कृष्णो मातरि। असाधुर्मातुले।**

व्याख्याः साधु इति (वा)—साधु और असाधु शब्द के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति होती है।

साधुः कृष्णो मातरि (कृष्ण माता के प्रति अच्छा है)—यहाँ साधु के योग में 'मात' शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'असाधुः मातुले' (वह मामा के प्रति बुरा है)—यहाँ —मातुले' में भी सप्तमी है।

'साधुनिपुणाभ्याम् अचार्यायाम्' 2.3.43 से पूजार्थ में ही साधु शब्द के साथ सप्तमी होती है, अतः श्रेष्ठ, हितकारी आदि अर्थों में इस सूत्र से सप्तमी कही गई है।

*** (वा) निमित्तात्कर्मयोगे। निमित्तमिह फलम्। योगः संयोगसमवायात्मकः।।**

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुजरम्। केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः।। 1।।

(इति भाष्यम)

हेतो ततीयात्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम्। सीमाण्डकोशः। पुष्कलको गन्धमगः। योगविशेषे किम्। वेतनेन धान्यं लुनाति।

व्याख्याः निमित्ताद् इति (वा)— इस वार्तिक में निमित्त, का अर्थ है—फल। योग कहते हैं संबंध को, वह यहाँ संयोग या समवाय लिया जाता है। निमित्त अर्थात् फलवाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति होती है यदि उस फलवाचक शब्द का कर्म के साथ संयोग या समवाय संबंध हो।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति (चर्म के लिये व्याघ्र को मारता है)——यहाँ 'चर्म' फल के लिये व्याघ्र की हत्या की जाती है। चर्म द्वीपी व्याघ्र रूप कर्म में समवेत है अर्थात् समवाय संबंध में रहता है। अतः उपर्युक्त नियम के अनुसार 'चर्मणि' में सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार —'दन्त्योः हन्ति कुजरम्' दाँतो के लिये हाथी को मारता है—यहाँ 'दन्त्योः' में, केशेषु चमरीं हन्ति' केशों के लिये चमरी नामक मगविशेष को मारता है—यहाँ केशेषु' में तथा 'सीम्नि पुष्कलको हतः' सीमा = अण्डकोष कस्तूरी को कहते हैं। पुष्कलक नाम का एक मगविशेष है जिसे गन्धमग भी कहते हैं। यहाँ 'सीम्नि' में सप्तमी विभक्ति होती है। यहाँ भी दन्त, केश तथा सीम का कर्म हस्ती, चमरी, पुष्कलक के साथ समवाय संबंध है।

हेताविति—यहाँ सभी प्रयोगों में 'हेतो' इस सूत्र से हेतु में ततीया विभक्ति प्राप्त हुई थी। उसके स्थान पर इस वार्तिक से सप्तमी कही गई है।

योगविशेषे किमति— जहाँ 'फल' का कर्म के साथ संयोग या समवाय संबंध होता है वहीं उपर्युक्त नियम से फलवाचक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'वेतनेन धान्यं लुनाति' वेतन के लिये धान्य काटता है।— यहाँ 'वेतन' शब्द का 'धान्य' से संयोग अथवा समवाय संबंध नहीं अतः यहाँ सप्तमी नहीं होती,

अपितु 'हेतु' में ततीया विभक्ति होती है।

यस्य भावेन भावलक्षणम्. 2.3.37

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। गोषु दुह्यमानासु गतः।।

व्याख्याः यस्य चेति– जिसकी क्रिया से कोई दूसरी क्रिया लक्षित होती है, उससे सप्तमी विभक्ति होती है। क्रिया किसी कर्त्ता या कर्म में रहती है अतः जिस कर्ता या कर्म में स्थित प्रसिद्ध क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित होती है उस कर्ता या कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है।

टिप्पणीः इस नियम से होने वाली सप्तमी को 'सति सप्तमी' या भावे सप्तमी' कहते हैं।

गोषु दुह्यमानासु गतः (जब गाएँ दुही जा रही थी तब वह गया)। यहाँ 'गायों' की दोहन क्रिया से किसी की गमन क्रिया लक्षित होती है अतः उपर्युक्तनियम के अनुसार 'गोषु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। यहाँ क्रिया कर्मस्थ है। कर्तस्थ क्रिया का उदाहरण है–ब्राह्मणेषु अधीयानेषु गतः।

*** (वा) अर्हाणां कर्तत्वेनर्हाणामकर्तत्वे तद्वैपरीत्ये च सत्सु तरत्सु असन्त आसते। असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति। सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति। असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति।।**

व्याख्याः **अर्हाणाम् इति**–जिस कार्य के लिये जो योग्य या उपयुक्त हैं, वे 'अर्ह' कहे जाते हैं तथा जो अयोग्य या अनुपयुक्त हैं वे 'अनर्ह'। योग्यों का कर्तत्य प्रकट करने में तथा अयोग्यों का अकर्तत्व प्रकट करने में और इसकी विपरीतता में सप्तमी विभक्ति होती है। इस वार्तिक के चार भाग है।

1. अर्हाणाम् कर्तत्वे–क्रिया में उचित व्यक्तियों के कर्तत्य की विवक्षा होने पर उनमें सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे–'सत्सु तरत्सु असन्त आस्ते' (सज्जन तरते हैं और असज्जन बैठे हैं) यहाँ सत्पुरुषों का तरना उचित है, वे तरण क्रिया के कर्ता है अतः 'सत्सु' में उपर्युक्त नियम के अनुसार सप्तमी विभक्ति होती है तथा 'सत्सु' के समान इसके विशेषण 'तरत्सु' में भी सप्तमी हो जाती है।

2. अनर्हाणाम् अकर्तत्वे–जिस क्रिया में जिनका कर्तत्व अनुचित है उनके अकर्तत्व को बतलाने के लिये उनसे सप्तमी विभक्ति होती है, जैसे–'असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति' असज्जनों का तरना अनुचित है तथा 'तिष्ठत्सु' से तरण क्रिया में अकर्तत्व का बोध होता है अतः 'असत्सु' में सप्तमी विभक्ति हो जाती है ओर उसके विशेषण 'तिष्ठत्सु' में भी।

तद्वैपरीत्ये च–और उसकी विपरीत दशा में; में जैसे–

3. जिनका करना उचित है उनके अकर्तत्व को प्रकट करने में उनसे सप्तमी विभक्ति होती है; जैसे–'सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति–सज्जनों का तरण उचित है किन्तु उनका तरना 'तरत्सु' से प्रकट हो रहा है। अतः असत्सु तथा उसके विशेषण तरत्सु में सप्तमी विभक्ति होती है।

कुछ आचार्यों का मत है कि इस वार्तिक के उदाहरणों में 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से ही सप्तमी सिद्ध हो जाती है अतएव इसकी आवश्यकता नहीं। किन्तु दूसरों का कथन है कि यहाँ एक की क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित नहीं होती; 'यदा सन्तस्तरन्ति तदा असन्त आसते' इस प्रकार का अर्थ उपर्युक्त उदाहरणों का नहीं होता अपितु 'सनतस्तरन्ति, असन्त आसते इत्यादि अर्थ ही होता है (दे0 शारदारजन, मि 0 प0 203)

षष्ठी चानादरे2.3.38

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रादिकमनादत्य संन्यस्वानित्यर्थः।।

व्याख्याः षष्ठीति– यदि अनादर भी प्रकट हो तो जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित होती है उसमें षष्ठी या सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

रुदति रुदतो वा प्राव्रजीत्–इसका अर्थ है–'रोते हुए पुत्र आदि की उपेक्षा करके संन्यास ग्रहण कर लिया'। यहाँ

रुदन' क्रिया से प्रव्रजन क्रिया लक्षित होती है। साथ ही 'रुदन' का तिरस्कार या उपेक्षा भी प्रकट हो रही है, अतएव रुदति' या रुदतः' में सप्तमी तथा षष्ठी विभक्ति होती है।

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च.2.3.69

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम्। गवां गोषु वा स्वामी। गवां गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः।।

व्याख्याः स्वामीति—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू तथा प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। संबंध में केवल षष्ठी प्राप्त थी, पक्ष में सप्तमी के लिये यह सूत्र कहा गया है।

गवां गोषु वा स्वामी (गायों का स्वामी) यहाँ उपर्युक्त नियम से 'स्वामी' शब्द के योग में 'गवाम्' तथा 'गोषु' में विकल्प से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है।

गवां गोषु वा प्रसूतः—(गायों में उत्पन्न हुआ है)—इसका भाव है—गायों को प्राप्त करने के लिये ही उत्पन्न हुआ है। यहाँ भी षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार पथिव्याः पथिव्यां वा ईश्वरः, 'ग्रामाणां ग्रामेषु वा अधिपतिः' पित्रंशस्य पित्रंशे वा दायादः' व्यवहारस्य व्यवहारे वा साक्षी' दर्शनस्य दर्शने वा प्रतिभूः'।

अयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम्.2.3.40

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येर्थे। आयुक्तो व्यापारितः। कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा। आसेवायां किम्? आयुक्तो गौः शकटे। ईषद् युक्त इत्यर्थः।।

व्याख्याः आयुक्तेति—तत्परता अर्थ में आयुक्त और कुशल शब्द के योग में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—'आयुक्तः हरिपूजने हरिपूजनस्य वा' आयुक्त का अर्थ है—लगाया हुआ इसी प्रकार कुशलः हरिपूजने हरिपूजनस्य वा'।

आसेवायां किम् इति— जहाँ तत्पर अर्थ है वहीं आप्युक्त, कुशल् के योग में षष्ठी, सप्तमी होती है, यह क्यों कहा? इसलिये कि अन्य अर्थ में केवल सप्तमी होती है; आयुक्तो गौ शकटे'— इसका अर्थ है—गाड़ी में बैल जोड़ा गया। यहाँ तत्परता का बोध नहीं होता।

यतश्च निर्धारणम्. 2.3.41

जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नणां नषु ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः।।

व्याख्याः यतश्चेति—निर्धारण का अर्थ है—जाति, गुण क्रिया तथा संज्ञा आदि की विशेषता के कारण किसी वस्तु को अपने समुदाय से पथक् करना जिसमें से निर्धारण किया जाता है उससे षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है।

नणां, नषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं)—यहाँ मनुष्य समुदाय से जाति की विशेषता के कारण ब्राह्मण को विशिष्ट दिखाया गया है, वह मनुष्य—समुदाय का ही एक अङ्ग है। यही निर्धारण है, अतः समुदाय रूप 'न' शब्द से षष्ठी अथवा सप्तमी विभक्ति होती है।

इसी प्रकार—गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा (गायों में कृष्णा बहुत दूध वाली होती है)—यहाँ गुण के द्वारा पथक्करण है। 'गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः' (जाने वालों में दौड़ता हुआ शीर्घ जाता है)—यहाँ क्रिया के द्वारा पथक्करण है 'छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः' (छात्रों में मैत्र चतुर है)—यहाँ संज्ञा (मैत्र) के द्वारा पथक्करण है। इन सभी उदाहरणों में अपने समुदाय में से एक भाग को विशिष्ट दिखलाया गया है।

पचमी विभक्ते .2.3.42

विभागो विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पंचमी स्यात्। माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः।।

व्याख्याः पचमी इति— विभक्त का अर्थ है–विभाग या भेद। जहाँ विशिष्ट रूप में दिखलाई हुई वस्तु (निर्धार्यमाण) वस्तुतः भिन्न ही होती है वहाँ (जिससे भेद दिखलाया जाता है उसमें) पचमी विभक्ति होती है।

माथुरा पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः (मथुरा –निवासी पाटलिपुत्र के लोगों से सम्पन्न है)—यहाँ माथुर (मथुरा में रहने वाले) पाटलिपुत्र को (पटना के रहने वालों) से भिन्न हैं। माथुरों में दूसरों की अपेक्षा सम्पन्नता दिखाई गई है। अतः 'पाटलिपुत्रक' से पचमी विभक्ति होती है।

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः.2.3.43

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादचार्याया न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम्? निपुणो राज्ञो भत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्यम्।

व्याख्याः साधु इति–साधु और निपुण के योग में सप्तमी होती है, पूजा अर्थ में, किन्तु 'प्रति' शब्द के प्रयोग में नहीं होती।

मातरि साधुर्निपुणो वा–यहाँ 'साधु' और निपुण शब्द के योग में 'मातरि' में सप्तमी विभक्ति होती है।

अर्चायां, किम् इति– जहाँ पूजा या आदर का भाव नहीं होता वहाँ संबंध में षष्ठी विभक्ति ही होती है, जैसे–'निपुणो राज्ञो भत्यः' (राजा का सेवक कुशल है)।

टिप्पणीः अर्चा से भिन्न अर्थ में भी साधु शब्द के साथ 'साध्वसाधुप्रयोगे च' (वा) से सप्तमी विभक्ति हो ही जाती है। यहाँ 'साधु' शब्द के ग्रहण का फल यह है कि 'अर्चा अर्थ में प्रति' आदि के योग में साधु शब्द के साथ सप्तमी विभक्ति नहीं होती।

*** (वा) अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम्। साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा।।**

व्याख्याः अप्रत्यादीति (वा) सूत्र में 'अप्रतेः' के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः कहना चाहिये अतः 'प्रति' 'परि' अनु' के प्रयोग में साधु और निपुण शब्द के साथ अर्चा अर्थ में भी सप्तमी विभक्ति नहीं होती अपितु द्वितीया होती है (कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया); जैसे–'साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति परि अनु वा'।

प्रसितोत्सुकाभ्यां ततीया च . 2.3.44

आभ्यां योगे ततीया स्याच्चात्सप्तमी। प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा।।

व्याख्याः प्रसितेति–प्रसित और उत्सुक शब्द के योग में ततीया विभक्ति होती है और सप्तमी भी।

प्रसितो हरिणा हरौ वा (हरि में लीन)–यहाँ 'प्रसित' शब्द के योग में 'हरिणा' में ततीया तथा 'हरौ' में सप्तमी विभक्ति होती है। इसी प्रकार ''उत्सुको हरिणा हरौ वा।''

नक्षत्रे च लुपि. 2.3.45

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात्ततीयासप्तम्यौ स्तोधिकरणे। मूलेनावाहयेद्देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्। मूले श्रवणे इति वा। लुपि किम्? पुष्ये शनिः।।

व्याख्याः नक्षत्रे चेति–जहाँ नक्षत्रवाची शब्द लुप् संज्ञा से लुप्त प्रत्यय होता है और प्रत्यय का अर्थ वर्तमान होता है; अर्थात् जहाँ नक्षत्र वाची शब्द काल–विशेष को प्रकट करता है वहाँ उससे अधिकरण में ततीया तथा सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं।

'मूलेने आवाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् (मूले श्रवणे इति वा)'–यहाँ 'मूल' शब्द मूलनक्षत्र से युक्त काल का बोधक है। नक्षत्रवाची मूल शब्द से 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' 4.2.3 इससे 'अण्' प्रत्यय हुआ और 'जलुबविशेषे 4.2.4' से उसका लुप् हो गया है। इसी प्रकार 'श्रवण' शब्द है। ऊपर के नियम से इन दोनों में ततीया और सप्तमी विभक्ति होती है।

लुपि किम् इति–जहाँ अण् प्रत्यय होकर उसका लुप् नहीं होता अर्थात् नक्षत्र वाची शब्द कालविशेष के लिये नहीं

---

१. सि० कौ० तत्त्ववोधिनी।

आता, अपने (नक्षत्र) अर्थ में ही रहता है वहाँ अधिकरण में सप्तमी विभक्ति ही होती है ततीया नहीं, जैसे 'पुष्ये शनिः' (पुष्यनक्षत्र में शनि है)।

सप्तमीपचम्यौ कारकमध्ये 2.3.7

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः। अद्य भुक्त्वायं द्व्यहे द्व्यहाद्वा भोक्ता। कर्तशक्तयोर्मध्येयं कालः। इहस्थोयं क्रोशे क्रोशाद्वा लक्ष्यं विध्येत्। कर्तकर्मशक्त्योर्मध्येयं। देशः। अधिकशब्देन योगे सप्तमीपचम्याविष्येते। तदस्मिन्नधिकम् 5।2।45' इति 'यस्मादधिकम् 2।3।9। इति च सूत्र निर्देशात्। लोके लोकाद्वाधिको हरिः'।।

व्याख्याः दो कारक शक्तियों के बीच में जो काल और मार्ग हों उनके वाचक शब्दों से सप्तमी या पंचमी विभक्ति होती है।

अद्य भुक्त्वायं द्वथहे द्व्यहाद् वा भोक्ता–(आज खाकर यह दो दिन में खायेगा)–यहाँ काल द्व्यह) दो कर्त शक्तियों के बीच में है एक कर्त शक्ति का आज (अद्य) के भोजन से संबंध है और दूसरी का दो दिन पश्चात् के भोजन से। इसलिये कालवाची शब्द 'द्व्यह' से सप्तमी या पंचमी विभक्ति होती है।

इहस्थोयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् (यहाँ स्थित होकर यह एक कोश पर स्थित लक्ष्य को बेध देगा)–यहाँ कर्ता और कर्म कारक की दो शक्तियों ('अयं तथा लक्ष्य') के बीच में मार्ग (क्रोश) है अतः क्रोश से सप्तमी या पंचमी विभक्ति होती है।

अधिकशब्दनेति–आचार्य पाणिनि ने ''तदस्मिन् अधिकम्0'' 5।2।45 इस सूत्र में अधिक' के साथ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग किया है ओर ''यस्माद् अधिकम0'' 2।3।9 इस सूत्र में अधिक' के साथ पंचमी का प्रयोग किया है। इस निर्देश से ज्ञात होता है कि अधिक शब्द के योग में सप्तमी और पंचमी दोनों विभक्तियाँ इष्ट हैं। अतएव 'लोकाद् वा अधिको हरिः' हरि लोक की अपेक्षा श्रेष्ठ है)–यहाँ 'लोके' 'लोकाद्' में सप्तमी और पंचमी विभक्ति हैं।

अधिरीश्वरे .1.4.97

स्वस्वामिभावसम्बन्धेधि कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्।

व्याख्याः अधिरीश्वर इति– स्व और स्वामी के संबंध को प्रकट करने में 'अधि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है।

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी.2.4.9

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात्। उप परार्धे हरेर्गुणाः। परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधि भुवि रामः। अधि रामे भूः। सप्तमी शौण्डैरिति समासपक्षे तु रामाधीना। 'अषडक्ष-5.4.7' इत्यादिना खः।।

व्याख्याः यस्माद् इति–जिससे अधिक हो और जिसका स्वामित्व कहा जाये उसमें कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

उप परार्धे हरेर्गुणाः–इसका अर्थ है–परार्ध से अधिक अर्थात् संख्यातीत (असंख्य)। परार्ध सबसे बड़ी संख्या को कहते हैं। यहाँ 'उप' कर्मप्रवचीनयसंज्ञक है (उपोधिके च 1।4।87)। 'परार्ध' से अधिक हरि के गुणों का कथन किया गया है अतः 'उप' के योग में 'परार्धे' में सप्तमी विभक्ति होती है।

ऐश्वर्वे त्विति–स्वामित्व को प्रकट करने के लिये तो स्व और स्वामी शब्दों में पर्याय से सप्तमी होती है। जैसे–

अधि भुवि रामः–(राम भूमि के स्वामी है)–यहाँ 'स्व' वाची भूमि शब्द से अधि कर्मप्रवचनीय के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

अधि रामे भूः (भूमि राम की है)–यहाँ स्वामी वाचक 'राम' शब्द से कर्मप्रवचनीय 'अधि' के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

सप्तमीति–'अधि रामे' इस विग्रह में ''सप्तमी शौण्डैः'' 2.1.40 इस सूत्र से समास होकर राम+ अधि रामाधि से

'ख' प्रत्यय हो जाता है। 'ख' को 'ईन' होकर रामधि + ईन = रामधीन। स्त्रीलिङ्ग में 'टाप्' होकर ''रामाधीना
5 भूः'' यह प्रयोग होता है।

विभाषा कृञि . 2.4.98

अधिः करोतौ प्रक्संज्ञो वा स्यादीश्वरेर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति। विनियोक्ष्यत इत्यर्थः। इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् 'तिङ्विोदात्तवति-8।1।71' इति निघातो न।। इति सप्तमी।।

व्याख्याः कृ्् धातु परे होने पर 'अधि' की स्व–स्वामिभाव संबंध में विकल्प से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

यदत्र मामधिकरिष्यति (जो यहाँ मुझे नियुक्त करेगा)–यहाँ 'अधिकरिष्यति' का अर्थ है–विनियोक्ष्यते (नियुक्त करेगा)। यहाँ विनियोक्ता का स्वामित्व प्रकट होता है। इसी से 'अधि' को कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जाती है और कर्म प्रवचनीययुक्ते द्वितीया से द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हो गया। कर्मद्रव चनीय संज्ञा होने से 'गति' संज्ञा का बाध हो जाता है। गति संज्ञा न होने से ''तिङि् चोदात्तवति'' 8.1.7 इस सूत्र से 'अधि' को निघात (सर्वानुदात्त) नहीं होता। 'माम् में द्वितीया तो कर्म होने से ही सिद्ध है।

(इति कारकप्रकरणम्)